संक्षेपशारीरकम्

श्रीमन्मधुसूदनसरस्वतीकृत
सारसंग्रह टीका
का
हिन्दी अनुवाद

अहं ब्रह्मास्मि

तत्त्वमसि

ब्रह्म

महेश्वर

ॐ

ब्रह्मा

विष्णु

प्रज्ञानं ब्रह्म

अयमात्मा ब्रह्म

महामण्डलेश्वर स्वामी दिव्यानन्द गिरि



परिचय

3 महामण्डलेश्वर विद्यावाचस्पति
गिरि जी महाराज, आप न्याय तथा
एवं अंग्रेजी के एम.ए. पास हैं। आप
में से एक हैं। काशी में शास्त्रार्थ में
आपने 5 वर्ष तक गुरुनानक संस्कृत
श्वर गंज, वाराणसी में प्रधानाचार्य
या तथा 5 वर्ष तक वाराणसेय संस्कृत
सम्बन्धित संन्यासी संस्कृत कॉलेज
ने दर्शन-विभागाध्यक्ष (Head of
hilosophy) का कार्यभार सम्भाला।

वेदान्त, न्याय आदि दर्शन के अच्छे
हैं तथा गुजराती, पंजाबी, हिन्दी,
जी आदि अनेक भाषाओं के जानकार
क्षेत्र के अत्यन्त प्रसिद्ध व ओजस्वी
अखिल भारतीय विद्वत् परिषद् द्वारा
उपाधि से अलंकृत हैं। आपने श्रीमद्
कप्रिय बनाने के लिए 11 ऑडियो
ता संगीतमय, अर्थमय तथा भावमय
शिवमहिम्न स्तोत्र, चर्पटपञ्जरीका
त संगीत के माध्यम से 2 ऑडियो
।

जीवन बाल्यकाल से ही है। समाज में
है। वाराणसी (काशी) में आपकी
स्त्री के नाम से हैं। 1964 में आपने
नी श्री पूर्णानन्दगिरि जी महाराज से
ली। आप पञ्चायती अखाडा
प्रदत्त महामण्डलेश्वर, उपाधि से

रि

म, संन्यास रोड,

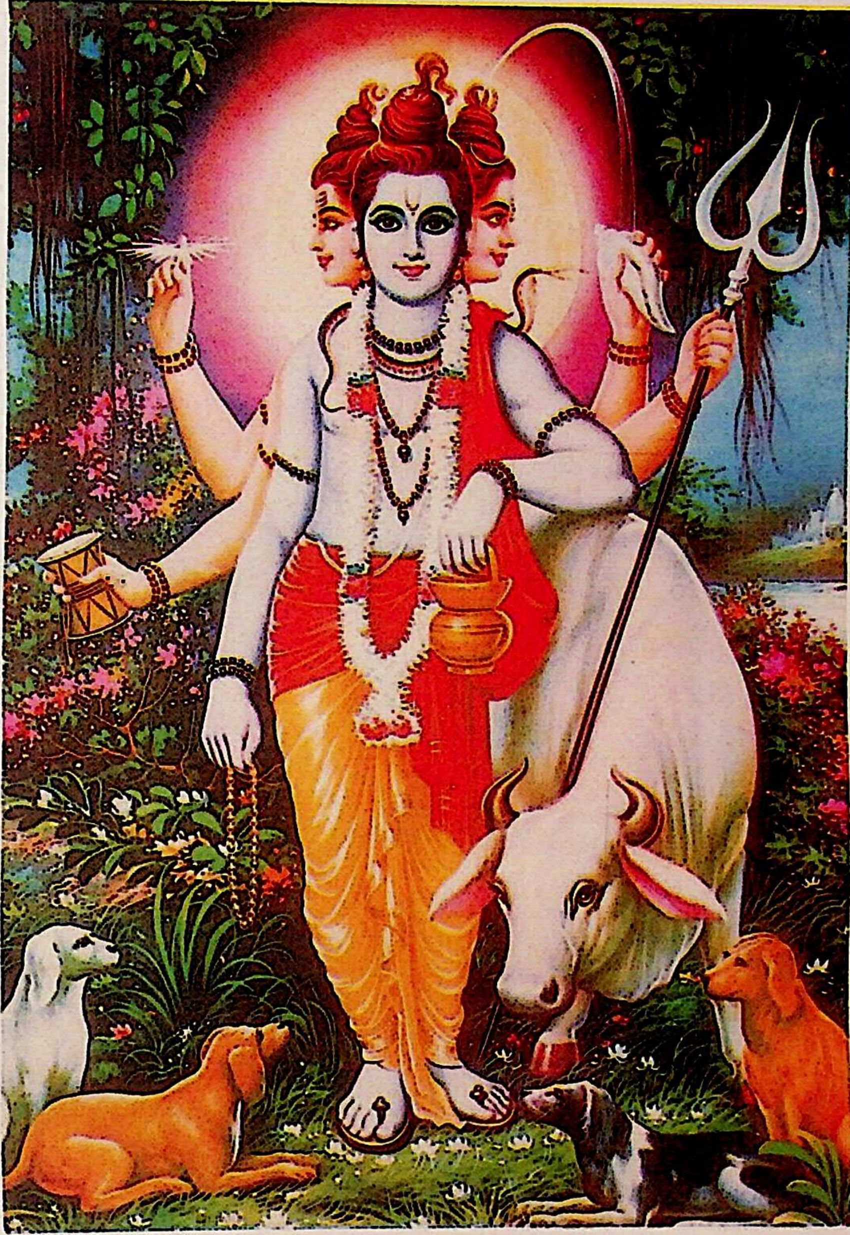
यह ग्रन्थ पूज्य स्वामी शारदानन्दगीरीजी
महाराजजी सादर समर्पित करता हूँ ।।

[illegible signature]

Date 20/1/07 ।।



"श्रीगुरूदत्तात्रेयाय नमः"



काषायवाससमजं कमलाक्षमेकम्।
मालाकमण्डलुधरं रमणीय लीलम्।।
गोश्वानक्रीडनपरं निगमान्तकेली।
देवत्रयात्मकमहं सततं नतोऽस्मि।।

श्रीमत्सर्वज्ञमुनिविरचितम्

संक्षेपशारीरकम्

श्रीमन्मधुसूदनसरस्वतीकृत

सारसंग्रह टीका

का

टिप्पणी सहित हिन्दी अनुवाद

(प्रथम भाग)

अनुवादक : श्री १००८, महामण्डलेश्वर न्यायवेदान्ताचार्य,
काशीस्थ अखिल भारतीय पण्डित परिषद् द्वारा
विद्यावाचस्पति उपाधि से अलंकृत भारत सरकार से सम्मानित

स्वामी दिव्यानन्द गिरि एम० ए०

श्रीकृष्ण निवास आश्रम, संन्यास रोड, कनखल, हरिद्वार, (उ०प्र०)

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित

प्रथम संस्करण : **1999**

सम्पूर्ण ग्रंथ दो भागों में
मूल्य : **467.00** रूपये (दो भाग)

प्रकाशक एवं वितरक : महामण्डलेश्वर स्वामी दिव्यानन्दगिरि
श्रीकृष्ण निवास आश्रम,
संन्यास रोड, कनखल, हरिद्वार, (उ०प्र०)
टेलीफोन : **427174**

प्रोसेसिंग व मुद्रण :
रेव स्कैन, ए-27, नारायणा, फेस-2,
नई दिल्ली - 110 028.

कृतज्ञता प्रकाशन

दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ दर्शन-वेदान्त दर्शन-उसमें संक्षेपशारीरकम्-उसमें भी मधुसूदन सरस्वती कृत सारसंग्रह टीका अति उत्तम है, जिसका अभी तक अनुवाद उपलब्ध नहीं था। और मूल ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं था। इस दुरूह ग्रंथ को समझना और लिखना ये दोनों कार्य भगवान् दत्तात्रेय जी की कृपा से सम्पन्न हुये। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के डायरेक्टर डा. के. के. मिश्रा तथा इस संस्थान की विद्वत् परिषद् ने इस विशालकाय ग्रंथ के प्रकाशन में पूर्ण सहयोग दिया। इन सबका धन्यवाद प्रकाशन किये बिना नहीं रहा जा सकता। मैं विद्वानों से तथा वेदान्त के जिज्ञासुओं से प्रार्थना करता हूँ कि मेरे इस प्रयत्न को आप लोगों ने ही सफल बनाना है। इस ग्रन्थ की सफलता के बाद ही मैं और भी कृतियाँ प्रकाशित करूँगा। अपनी ओर से संपूर्ण सावधानी रखी गई है तथापि कुछ त्रुटियाँ रह सकती हैं, जिसके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

विनीत :

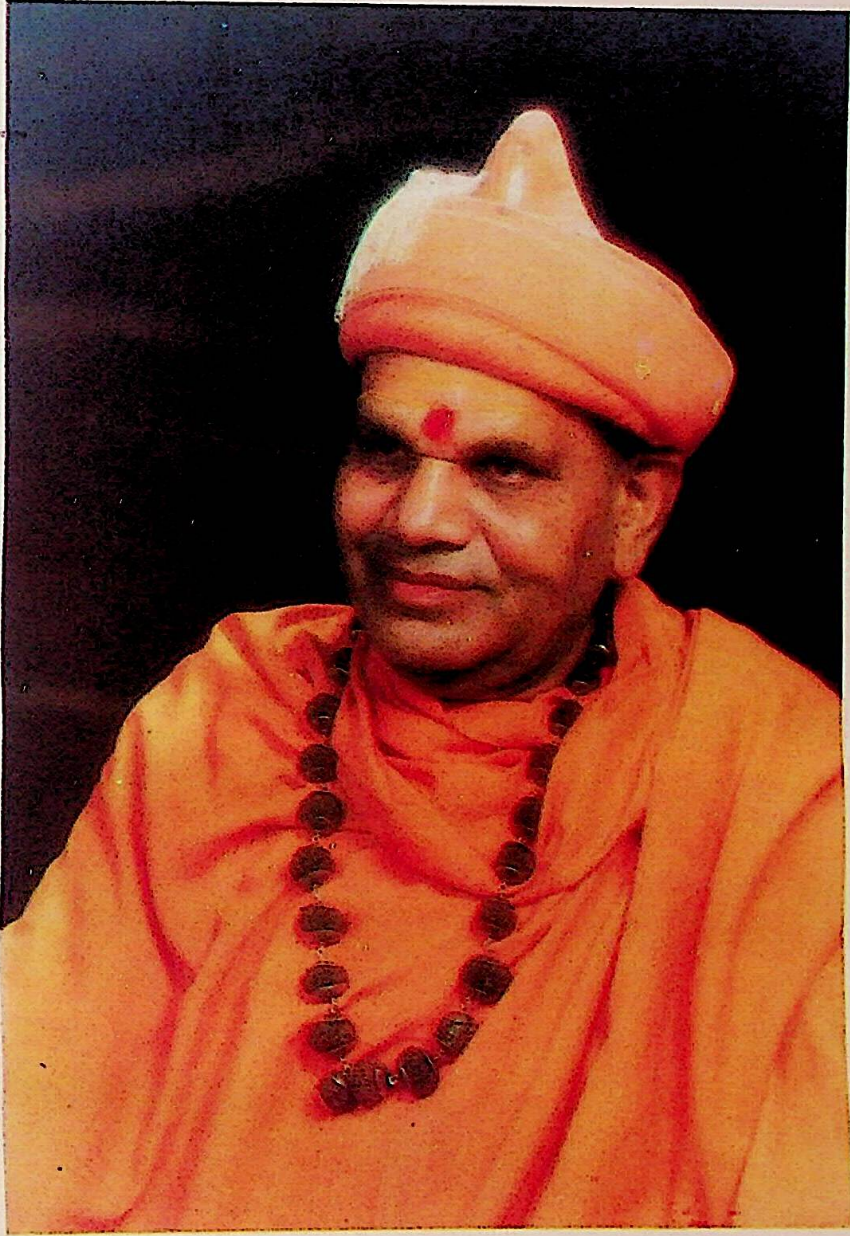
महामण्डलेश्वर स्वामी दिव्यानन्दगिरि

श्रीकृष्ण निवास आश्रम, संन्यास रोड,

कनखल, हरिद्वार, ; उत्तर प्रदेश



स्वामी दिव्यानन्द गिरि एम०ए०



श्री 1008 महामण्डेलश्वर न्यायवेदान्ताचार्य,
काशीस्थ अखिल भारतीय पण्डित परिषद् द्वारा
सर्वप्रथम विद्यावाचस्पति, उपाधि से अलंकृत
भारत सरकार से सम्मानित

श्रीकृष्ण निवास आश्रम, संन्यास रोड़ कनखल, हरिद्वार



"श्रीगुरूदत्तात्रेयाय नमः"

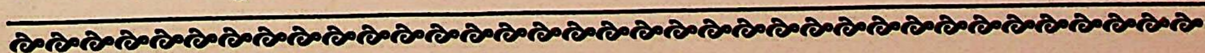
मधुसूदन सरस्वतीकृत
सारसंग्रह टीका सहित संक्षेपशारीरक ग्रन्थ की
भूमिका

मानव मात्र की एक ही इच्छा है कि आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति पूर्वक परमानन्द की प्राप्ति मुझे हो अर्थात् दुःख की कारण सहित निवृत्ति हो तथा अतुलनीय आनन्द की प्राप्ति हो। इसका एक ही उपाय है "तरति शोकमात्मवित्" आत्मवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता ही इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इसी ब्रह्मविद्या को वेदान्त विद्या के नाम से पुकारा जाता है। वेदान्त विद्या उपनिषदों को प्रमाण मान कर चलती है। "वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम्" उपनिषद् जिस विद्या में प्रमाणरूप से है उसे वेदान्त विद्या या ब्रह्मविद्या कहते हैं। वेद अनादिकालीन, तदन्तःपाती उपनिषद् भी अनादि कालीन, उपनिषदों से प्रमाणित वेदान्त विद्या भी अनादिकालीन है। उपनिषद् में उप+नि= दो उपसर्ग है दोनों का अर्थ है, अत्यन्त समीप (नजदीक) अर्थात् अभेद। अर्थात् जीव ब्रह्म से अभिन्न है, यही वेदान्त विद्या अथवा ब्रह्मविद्या है, जो उपनिषदों को आधार बनाकर स्थित है।

ब्रह्मविद्या प्रतिपादक इन उपनिषदों के मन्त्रों को सही रूप से समझाने के लिये नारायण के अवतार स्वरूप व्यासजी महाराज जी ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। सूत्र उसे कहते हैं– "अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम्" जिसमें अक्षर थोड़े तथा सन्देहरहित हो और अर्थ की दृष्टि से उन अक्षरों को देखा जाय तो विश्व के समान महान् विशाल मुखवाले हो। इस ब्रह्मसूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये, "आचार्य शंकर" जो ईसापूर्व ५२५ वर्ष अवतीर्ण हुये जो कि भूतभावन भगवान् शंकर जी का अवतार कहे जाते हैं और व्यास जी तो नारायण का अवतार कहे जाते हैं।

शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम्।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।।

आचार्य शंकरजी ने ब्रह्मसूत्र पर जो भाष्य किया उसे शारीरक भाष्य कहते हैं। इसके चार अध्याय है– तथा प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं। पहिला अध्याय इसमें शुद्ध ब्रह्म में ही वेदान्त का समन्वय है, इसे समन्वय अध्याय कहते



हैं। दूसरे अध्याय में मतमतान्तरों का निराकरण करके अद्वैत तत्त्व का परिपोषण किया है। इसे विरोध परिहार अध्याय के नाम से पुकारा जाता है। तृतीय अध्याय में साधनविषयक विचार प्रस्तुत किया है। इस अध्याय को साधन अध्याय के नाम से पुकारा जाता है। चतुर्थ अध्याय फल अध्याय जिसमें मुक्ति का विचार किया है। इसे फल अध्याय के नाम से पुकारा जाता है।

भगवत्पाद आचार्य शंकरजी ने भाष्य के द्वारा अर्थ स्पष्ट किया तथापि ब्रह्मसूत्र का अर्थ भाष्य द्वारा स्पष्ट नहीं हो सका। क्योंकि आचार्यजी का भाष्य "प्रसन्न गंभीर" है। अर्थात् साधारण दृष्टि से सरल सा प्रतीत होता है, लेकिन विशेष दृष्टि से अर्थात् अर्थ दृष्टि से देखने पर यही भाष्य समुद्र के समान अतिगंभीर प्रतीत होता है। इस भाष्य की गंभीरता को समझाने के लिये पूज्यपाद शंकराचार्यजी के शिष्य पद्मपादाचार्य जी जिन्होंने पञ्चपादिका ग्रन्थ लिखा जो कि चतुःसूत्री में समाविष्ट हो जाता है। ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भ के जो चार सूत्र है। यही चतुःसूत्री है– १) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा २) जन्माद्यस्य यतः ३) शास्त्रयोनित्वात् ४) तत्तुसमन्वयात् तो पद्मपादाचार्यजी ने पञ्चपादिका लिखी उसमें यह उपर्युक्त चतुःसूत्री पर आचार्य शंकर जी का भाष्य स्पष्ट हुआ। लेकिन यह जो कृति हुई वह गद्यात्मक हुई। मानो इससे कुछ अप्रसन्न से होकर तथा चतुःसूत्री के भाष्य के भावों को स्पष्ट कराने के लिये पद्यात्मक शैली का सहारा लेकर भगवत् पाद शंकराचार्यजी के शिष्य सुरेश्वराचार्य उनके शिष्य नित्यबोधाचार्य जी (सर्वज्ञात्म मुनि), जिन्होंने संक्षेप शारीरक ग्रन्थ की रचना की। प्रथम अध्याय में ५६३ श्लोक है, द्वितीय अध्याय में २४८ श्लोक है, तृतीय अध्याय में ३६६ श्लोक है, चतुर्थ अध्याय में ६३ श्लोक हैं। इस प्रकार कुल १२४० श्लोक हैं। अतः यह संक्षेप शारीरक ग्रन्थ पद्यात्मक होने से गेय भी हो गया है। जिसे बड़े ही मस्ती के साथ गाया जा सकता है। यह ब्रह्मसूत्र उसका भाष्य तथा उसकी गंभीरता सब की सब गाने योग्य होने से अर्थ को समझाने के दृष्टि से भी यह सरल, सरस, मधुर, कर्णप्रिय, सहज तथा सुगमातिसुगम ऐसा यह संक्षेपशारीरक ग्रन्थ हो गया है। जैसे कि होम्योपैथिक दवा खाने में मधुर तथा व्याधि को हटाने में सक्षम होती है इसीप्रकार से यह ग्रन्थ भी समझें। जो कि जन्म–मरण रूप व्याधि को हटाकर मोक्ष का स्वाद जीव को दिलाने में समर्थ है।

यद्यपि सर्वज्ञात्ममुनिजी महाराज जी ने इस चतुःसूत्री भाष्य को स्पष्ट करने के लिये अगाध परिश्रम किया, तो भी श्लोकों के माध्यम से अर्थ सुस्पष्ट नहीं हो रहा था। श्लोकों में अनेक शब्द बड़े क्लिष्ट हैं, श्लोकों के नाना प्रकार के छन्द भी हैं। अनेक शब्द द्व्यर्थक भी है अतः इन श्लोकार्थों को स्पष्ट करने के लिए रामतीर्थस्वामीकृत अन्वयार्थ प्रकाशिका टीका, नृसिंह आश्रम की तत्त्व बोधिनी टीका, श्री अग्निचित पुरूषोत्तम की सुबोधिनी टीका है। लेकिन इनमें सबसे पांडित्यपूर्ण

एवं खोजपूर्ण यदि कोई टीका है तो वह है मधुसूदन सरस्वतीकृत सारसंग्रह टीका। जो वास्तविक रूप से तथा सुन्दर रूप से ग्रन्थ को लगाती है। मधुसूदन सरस्वतीजी ने भगवद्गीता पर टीका लिखी, जो गूढार्थ दीपिका नाम से प्रसिद्ध है, इसी प्रकार से आपने सिद्धान्तबिन्दु, अद्वैत सिद्धि, अद्वैतरत्नरक्षण, वेदान्तकल्पलतिका, प्रस्थान भेद, शिवमहिम्न स्तोत्र पर व्याख्या, भक्ति रसायन तथा हरिलीलामृत पर व्याख्या भी की है।

संक्षेप शारीरक पर अनेक टीकाओं के अवलोकन करने के बाद मधुसूदन सरस्वती कृत सारसंग्रह टीका मुझे बहुत अच्छी लगी क्योंकि यह वेदान्त के अनेक प्रमेयों को ऐसी समझाती है, जिसका अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। मधुसूदन सरस्वती जी भारत के महान् दार्शनिकों में से एक है। आप वेदान्ती तो है ही साथ में महान नैय्यायिक, मीमांसक भी है, साथ में बौद्ध दर्शन का भी खूब सूक्ष्मता से अवलोकन आपने किया है। ये सब बातें हमको इस सारसंग्रह टीका में देखने को मिलती है।

संक्षेप शारीरक ग्रन्थ वेदान्त विषय के परीक्षा में नियुक्त है। ऐसे ग्रन्थ को सही माने में समझने के लिये मधुसूदन सरस्वती कृत सारसंग्रह टीका से बढकर और कोई टीका नहीं हो सकती। यह निष्कर्ष वेदान्त के सभी तत्त्ववेत्ता तथा विद्वत् समाज भली भाँति जानता है। मैंने मूल ग्रन्थ तथा मधुसूदन सरस्वती कृत सारसंग्रह टीका दोनों की अनुवादात्मक हिन्दी की है। स्थान-स्थान पर टिप्पणी भी की है, जो सारसंग्रह टीका तथा मूल ग्रन्थ के अर्थ को स्पष्ट करती है।

संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनिजी महाराज एक धुरन्धर वेदान्त के महान् विद्वान होते हुए भी विद्वत्ता का तिलमात्र भी अभिमान धारण नहीं करते— देखिये स० शा०

गुरूचरणसरोजसन्निधानाद-
पि वयमस्य गुणैकलेशभाजः।
अपि महति जलार्णवे निमग्नाः।
सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः।। ।१।६।।

गुरूवर सद्गुरू आचार्य श्री सुरेश्वर जी के चरणकमल के सम्पर्क से हमारे जैसे (सर्वज्ञात्ममुनि जैसे) शिष्य गुरूवर के गुणों का किञ्चित् लेशमात्र ही पा सके

हैं क्योंकि महासागर में रहने वाली मछलियाँ बहुत थोडा ही जल पिया करती हैं बाकी जल तो अवशिष्ट ही रह जाता है।

सार संग्रह टीका समेत संक्षेप शारीरक ग्रन्थ की कुछ विशेषतायें-

१) ब्रह्म असंसारी है और जीव संसारी (जन्ममरणयुक्त) है अतः दोनों की एकता "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य से नहीं हो सकती ऐसी असम्भावना तथा ब्रह्म व्यापक और जीव परिच्छिन्न होने से मैं ब्रह्म नहीं हूँ किन्तु जीव हूँ। इस प्रकार की विपरीत भावना दोनों ही प्रमाता (जीव निष्ठ) है न कि वस्तु निष्ठ अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ ये दोनों दोष नहीं है। अतः इन दोनों दोषों को हटाने के लिये वेदान्तादिशास्त्र सफल हैं। वेदान्तविचार के पहिले भी शुद्ध ब्रह्म था और बाद में भी है बीच में प्रमातागत दोषों को हटाने के लिये वेदान्त शास्त्र आवश्यक है– देखिये–

पुरुषापराधमलिना धिषणा,
निरवद्यचक्षुरुदयाऽपि यथा।
न फलाय भच्र्छुविषया भवति,
श्रुतिसम्भवाऽपि तु तथाऽऽत्मनि धीः।।१।१४।।

भ्रम होने के लिये दोष प्रमेय शुद्ध ब्रह्मनिष्ठ नहीं है और नहीं चक्षुरादि प्रमाण में भी दोष है। क्योंकि शुद्ध ब्रह्म तो प्रमेंय ही नहीं बन सकता और नेत्रादि इन्द्रियों की वहां गति ही नहीं है। अतः भ्रमादि दोष प्रमातानिष्ठ है।

ग्रन्थकार के समय कोई राजा था, जिसका मंत्री भच्र्छु नामक ब्राह्मण था। उससे दूसरे व्यक्ति ईर्ष्या करते थे। इन ईर्ष्यालुओं ने भच्र्छु की आंखों पर पट्टी बांध कर जंगल में छोड़ दिया। वह भच्र्छु किसी प्रकार नगर के पास पहुंचा तो ईर्ष्यालुओं ने राजा को समझाया कि भच्र्छु मरकर ब्रह्मराक्षस हो चुका है। फिर क्या था राजा उसे देखकर भी पहिचान नहीं सका। भच्र्छु को भच्र्छु न कहकर ब्रह्मराक्षस कहने लगा। यही असंभावना तथा विपरीत भावना है। इसकी निवृति फिर तो कोई प्रामाणिक व्यक्ति ही कर पायेगा जिस पर राजा विश्वास करें। इसी प्रकार से वेदान्तविचार ही प्रमातागत दोषों की निवृत्ति कर सकता है अन्य नहीं।

२) आत्मा अज्ञान से आवृत्त होने पर प्रकाश का भान न होने से, अज्ञान

तथा अन्तःकरणादिक का भान न होने से, अध्यास उपपन्न नहीं हो सकता ऐसी बात नहीं, आत्मा का स्वरूपतः भान हो ही जाता है।

प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयता बलेन।
प्रत्यक्स्वरूपमपिधाय पराग्विवर्तैः।
प्रत्यञ्चमद्वयमशेषविशेषहीनं।
विक्षिप्य तिष्ठति तदग्रहणं मृषैव।।१।।२१।।

अज्ञान चैतन्यांश के सामान्य भाग का आच्छादन नहीं कर के, विशेष अंश का ही आच्छादन करता है। निरंश चैतन्य में अध्यास प्रक्रिया समझाने के लिये सामान्य तथा विशेषांश की कल्पना की गई है। चैतन्याश्रित रहने वाला अज्ञान चैतन्य को ही विषय बनाता है जैसे अन्धःकार घर के आश्रित रहकर घर को ही विषय बनाता है। (अर्थात् घर को ही आच्छादित करता है) इसी प्रकार चैतन्यांश आच्छादित नहीं है लेकिन आनन्दादि आच्छादित है— यह एक ही प्रक्रिया निरंश चैतन्य में उपपन्न हो जाती है। इसका विशेष विवेचन १।३१६ श्लोक में देख लेना।

जो भी सुखसामग्री है, वह आत्मा के लिये है, लेकिन आत्मा अन्य किसी के लिये नहीं होने से केवल आत्मा, ही एक सुख स्वरूप है। और वह सुख स्वरूपत्व "इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं सुखत्वम्" इतर इच्छाओं के अधीन न होते हुये आत्मविषयक इच्छाविषयत्व जिसमें है, वही वास्तविक सुख है, ऐसा सुखस्वरूप केवल आत्मा ही है

सर्वं यदर्थमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित्।
पारार्थ्यमुज्झति च यन्निजसत्तयैव।
तद्वर्णयन्ति हि सुखं सुखलक्षणज्ञा।
स्तत्प्रत्यगात्मनि समं सुखताऽस्य तस्मात्।१।२४।

(वसन्ततिलका छन्द)

इस संसार में जो भी कुछ वस्तु है, वह जिसके लिये है और जो अपनी सत्तामात्र से परार्थता का त्याग करता है, उसे "सर्वशेषित्वे सति अनन्यशेषि" सुख को सुखलक्षण के विद्वान् सुख कहते हैं। यह लक्षण प्रत्यगात्मा में समन्वित होने से आत्मा ही सुखस्वरूप है। क्योंकि आत्मा सबका शेषि है लेकिन आत्मा अपने से भिन्न का शेष नहीं होता है।

४) आत्मा का बोध होने पर भी वास्तविक बोध न होने के कारण अध्यास हो जात है।

अध्यस्तमल्पवपुरस्य न वास्तवं तत्।
प्रत्यक्परागद्वयमिदं हि परस्परस्मिन्।
अध्यस्ततां प्रति समर्थमबोधमात्र-
मन्योऽन्यरूपमिथुनीकरणे निमित्तम्।।१।२७

(व०ति०छ०)

यह आत्मा में अहङ्कारादि परिच्छिन्न दुःखरूपता है, यह अध्यस्त होने से वास्तविक नहीं है। तो आत्मा और अनात्मा दोनों का परस्पर अध्यास है अर्थात् दोनों परस्पर में अध्यस्त है। इसका कारण है अज्ञान। जो दोन्नों का अध्यास कराने में समर्थ है। इस पर मधुसूदनी देखने योग्य है।

५) अधिष्ठान और आधार इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं।

अधिष्ठानाधारमात्रं यदि स्यात्।
प्रसज्येत सत्यं तदा चोद्यमेतत्।
न चैतत् सकार्यस्य मोहस्य वस्तु-
न्यधिष्ठानगीर्गोचरे लोकसिद्धा।।१।३२।।

जिसमें मिथ्या रजतादि भासित होते हैं, ऐसे अधिष्ठान के सामान्यांश को आधार कहते हैं और कार्य सहित अज्ञान आत्मा के विशेष अज्ञान में अध्यस्त होने के कारण उसे अधिष्ठान कहते हैं। और उस विशेष ज्ञान से भ्रम निवृत होता है। अर्थात् यन्निष्ठतया यत् प्रतीयते स तस्याधार एवं यद्विषयाज्ञानात् यत्प्रतीयते तत् तस्याधिष्ठानम्'' अर्थात् केवल विषय आधार है और तद्विषयकअज्ञान अधिष्ठान है। केवल इदं भाग आधार है तो इंदविषयक अज्ञान अधिष्ठान है। जिसके ज्ञान होने से भ्रम की अध्यास की निवृत्ति होती है। देखिये सारसंग्रह टीका (अर्थात् इदं का रजत में केवल संसर्गाध्यास होंने से रजत आधार है। लेकिन इदं में रजत के स्वरूप तथा संसर्ग का अध्यास होने से वह इदं अधिष्ठान है।।) १।३२।।

६) अपरोक्ष अध्यास में अपरोक्ष अधिष्ठान की आवश्यकता होती है। न कि सादृश्यज्ञानादिक की आवश्यकता है। क्योंकि अध्यस्तपदार्थ तथा अधिष्ठान दोनों के एकेन्द्रियग्राह्यता का तथा सादृश्यादिक का आत्मा को लेकर व्यभिचार होगा- क्योंकि आत्मा में किसी भी इन्द्रिय की प्रवृत्ति नहीं है और न उसमें सादृश्यादि भी है। (सारसंग्रह टीका ।१।४१) व्यभिचारादित्यर्थः।।

अपरोक्षरूपविषयभ्रमधी।
रपरोक्षमास्दमेक्ष्य भवेत्।
मनसः स्वतो नयनतो यदि वा।
स्वपनभ्रमादिषु तथा प्रतीतेः।।१।४१।।

(प्रमिताक्षरा छन्दः)

अपरोक्ष विषयक भ्रमज्ञान, मन से स्वतः वा नेत्र से प्रत्यक्ष भूत अधिष्ठान की अपेक्षा करता है क्योंकि स्वप्नादि पदार्थों में वैसा ही देखा जाता है।

७) निवृत्ति दो प्रकार की, एक बाह्य निवृति तथा दूसरी आभ्यन्तर निवृति। इसमें बाह्यनिवृति में हिंसा, सुरापानादि है तथा आभ्यन्तर निवृति में प्रपञ्चोपशम रूपा है। इसमें पहली निवृति "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि सुरापानं न कुर्यात्" इत्यादि विधिशास्त्र से प्राप्त है, लेकिन सर्वप्रपञ्चोपशम स्वरूप आत्स्वरूप निवृति विधिशास्त्र से बाहर है क्योंकि "तस्या यत्नासाध्यत्वे चितिस्वरूपेति हेतुगर्भं विशेषणम्" आत्मस्वरूप में कोई प्रयत्न चल ही नहीं पाता है। अतः वहाँ आत्म स्वरूप में प्रयत्नसाध्यत्व न होने से वह चितिस्वरूप है।

तयोस्तु बाह्या विधिशास्त्रलभ्या।
प्रयत्ननिर्वर्त्यतया प्रतीतेः।
विधानशास्त्रं विरहय्य लभ्याः।
चितिस्वरूपा त्वितरा निवृतिः।।१।८७।।

(उपेन्द्रवज्रा छन्दः)

इन दोनों निवृत्तियों में बाह्यनिवृत्ति लौकिक होने से विधिशास्त्रगम्य है क्योंकि बाह्य निवृति प्रयत्नजन्य है, लेकिन दूसरी चितिस्वरूपा निवृत्ति अभाव स्वरूप होने के कारण, प्रयत्नजन्य न होने से वह आभ्यन्तर निवृति, विधिशास्त्र से बाहर है।

८) बाह्य निवृत्ति मायामयी है, मिथ्या है, आभ्यन्तर निवृत्ति चितिस्वरूपा होने के कारण (वास्तविक सत्य है) परमार्थ सत्य है। बाह्य निवृति साध्य है तो आभ्यन्तर निवृत्ति असाध्य है। मायामयी बाह्यनिवृत्ति उसका पहिले, अर्थात् उत्पन्न होने के पहिले प्रागभाव नहीं था। क्योंकि "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" इस निवृत्ति वाक्य से हिंसात्मक प्रवृत्ति का प्रतिरोध होता है इसीसे इस निवृति में प्रयत्न साध्यता है। लेकिन चितिस्वरूपा निवृति में प्रपञ्चोपशम रूपत्व पहिले भी प्रागभाव था, और आत्मस्वरूप में स्थित होने पर प्रपञ्चोपशम अभावस्वरूप है। अतः वह प्रयत्न साध्य न होने से, उसमें साध्यत्व नहीं आता, अतः वह विधिशास्त्र गम्य नहीं है। अर्थात् प्रपञ्चोपशम

अभाव स्वरूप होने से और अभाव अधिष्ठान आत्मस्वरूप होने से, उसमें प्रयत्न साध्यता नहीं आ सकती।

मायामयी बाह्यनिवृत्तिरिष्टा।
चितिस्वरूपा परमार्थसत्या।।
तयोर्निवृत्त्योश्च निवृतिशास्त्रं।
विधायकं बाह्यनिवृत्त्यपेक्षम्।।१।८८।।

बाह्यनिवृति मायामयी है तो आभ्यन्तर निवृति परमार्थ सत्य है। इन दोनों निवृतियों में बाह्य निवृत्ति की पूर्ति करने के लिए विधेयशास्त्र सुसंगत है।

"बाह्याया एव कृतिसाध्यत्व.....................विधते।। सारसंग्रह टीका ।१।८८।।

६) जहदजहत् लक्षणा से अखण्डार्थ बोध तो होता ही है– अर्थात जीव और ब्रह्म की एकता संपादित होती है। जहदजहल्लक्षणा को ही भागत्यागलक्षणा भी कहते हैं, विशेषण भाग का त्याग तथा विशेष्यांश का ग्रहण स्वरूपा यह ऐसी जहदजहल्लक्षणा है।

तच्छब्दवाच्यगतमद्वयभागमेकं।
प्रत्यक्त्वमात्रमविरोधमपेक्षमाणः।
त्वं शब्दवाच्यशबलस्थमुपाददानो।
वाक्यादखण्डमथ तत्त्वमसीति विद्यात्।।१।९६०।।

तत् और त्वं के विशेषण भाग का मायाविशिष्ट चेतन में तथा अविद्या विशिष्ट चेतन में माया तथा अविद्या दोनों विशेषण हैं इनका परित्याग करके, विशेष्य शुद्ध चेतन भाग का ग्रहण करने से, अखण्डार्थ बोध हो जाता है। यह समन्वय तत्त्वमसि महावाक्य में है।

इसी प्रकार से कहीं कहीं ब्रह्मशब्द अज्ञानवाची भी है। जैसे "मम योनिर्महद्ब्रह्म" भ० गी० १४।३।। हे अर्जुन! मेरे सगुणस्वरूप का कारण महद्ब्रह्म, अज्ञान ही है। अर्थात् ब्रह्म शब्द कहीं–कही अज्ञान वाची प्राप्त होता है, इसी प्रकार से अहं शब्द भी व्यवहार बल से केवल अहंकारवाची भी है। तो "गंगायां घोषः" इसमें जहल्लक्षणा का सहारा लेकर सम्पूर्ण वाच्यार्थ का परित्याग करके वाच्यार्थ सम्बन्धी तीर का ग्रहण करते हैं इसी प्रकार से "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य से भी अहं वाच्य अहंकार तथा ब्रह्म वाच्य अज्ञान इन दोनों का जहल्लक्षणा का सहारा लेकर केवल अहंकार तथा अज्ञान दोनों का सम्बन्धी चेतन का ग्रहण होकर अखण्डार्थ बोध हो

जाता है। इसे स्पष्ट कर रहे हैं –

साभासाज्ञानवाची यदिभवति।
पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाऽहम्।
शब्दोऽहंकारवाची भवति तु।.
जहती लक्षणा तत्रपक्षे।।
नौरेषारौति लोहं दहति।
विषधरो रज्जुरग्रे तवासा।
वित्यत्रेवात्मवस्तुन्यपि भवत्रे।
जहल्लक्षणा को विराधः।१।१६६।

यदि ब्रह्म शब्द साभास अज्ञान वाची तथा अहं शब्द अहंकारवाची माना जाय तो वहां जहल्लक्षणा से अखण्डार्थ बोध होगा। "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य में जहल्लक्षणा होगी, जैसे यह नौका रोती है। लोहपिण्ड, जलाता है, आपके सामने यह सर्प रज्जु है, इत्यादि स्थानों के समान आत्मवस्तु गं भी जहल्लक्षणा होकर अखण्डार्थ बोध होगा।

१०) गौणी वृति तथा लक्षणावृति दोनों में भेद है।

अभिधेयाऽविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणतेति सारसंग्रह टीका
।१।१७२।।

अभिधेय पदार्थ के साथ गुण के योग से गौणीवृति मानी जाती है और अभिधेय पदार्थ के साथ सम्बन्ध मात्र से लक्षणा वृति मानी जाती है।

गुणतो गुणवृत्तिरिष्यते।
ह्यपरा लाक्षणिकी तु संगतेः।
इति भेदकमस्ति लक्षणा।
गुणवृत्योरिति – वेदवादिनः।।१।१७२।।

गुण के योग से गुणवृत्ति मानी जाती है, और सम्बन्ध मात्र से लक्षणावृत्ति मानी जाती है। यह भेद गुणवृत्ति तथा लक्षणावृत्ति में है ऐसे वेद वादी कहते हैं।

११) अखण्डार्थ बोध की प्रक्रिया अति सुन्दर है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है

तत्मादखण्डबोधयितुं समर्थो।
वेदान्त भूमिगतशब्दसमन्वयोऽतः।
संसर्गलक्षणमपास्य विरोधहेतोः।
वाक्यार्थमद्वयमखंडमिहाऽऽश्रयस्व।।१।१६५।।

हे वत्स! वेदान्त क्षेत्र के शब्द समन्वय (महावाक्य) अखण्डार्थ बोध कराने में समर्थ है। वाच्यार्थ को लेकर विरोध होने के कारण इसी के आधार पर स्थित संसर्ग स्वरूप वाक्यार्थ को छोड़कर अखण्डार्थ अद्वय वाक्यार्थ का बोध प्राप्त कर ले। इस पर सारसंग्रह टीका देखने योग्य है।

अखण्डार्थ बोध को पाणिनि भी मानते हैं—

एवं तावदखण्डवस्तुविषये शब्दान्वयो दर्शितो।
लोके दृष्टनयेन पाणिनिवचोऽप्यस्यैव संसूचकम्।
येनायं स्मरति प्रकृत्यभिहिते वृक्षादिके केवले।
तन्मात्रे प्रथमेति सूत्रवचसैवाऽऽद्यां विभक्तिं मुनिः।।१।२१६।।

पाणिनि सूत्र है— प्रतिपादिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (पा०सू० २।३।४६) इसमें प्रकृत्यर्थभूत केवलवृक्षादि अर्थ में ही प्रथमा विभक्ति का विधान किया है। इस पर सार संग्रह टीका देखने योग्य है— "प्रातिपादिकार्थ मात्रे प्रथमां विभक्तिं स्मरन्नपर्याययोर्वृक्षादि प्रातिपदिकप्रथमाविभक्त्योरेकार्थत्वं दर्शयति।। वृक्ष प्रातिपदिक तथा प्रथमा विभक्ति— दोनों अपर्यायवाची होने पर भी दोनों का एकार्थ रूप अखण्डार्थ बोध है यह पाणिनिजी को भी सम्मत है जो एक महान् पूज्यातिपूज्य हैं।

१२) निषेध वाक्य से भी अखण्डार्थ बोध होता है— ऐसा किसी का मत है उसे भी बताते हैं—

अद्वैतीकरणं निषेधवचनादुत्पन्नबुद्धेरपि।
तुल्यं तत्त्वमसीति वाक्यजनित प्रत्यक्प्रतीत्या सह।
आर्थं शाब्दमथापि वा भवतु तत्किं तेन यद्वा विधिः।
नाकर्त्तुं शबलार्थगोचतया निर्भेदमर्थं क्षमः।१।२५१।।

जगत् का निषेध करने वाली "नेति नेति" ऐसी निषेध वाक्यजन्य बुद्धि भी "तत्त्वमसि" विधि वाक्य के समान "अद्वैतीकरण" रूप जीवब्रह्मात्मैक्यत्व की प्रतिपादक

है। "अध्यस्तसकलप्रपञ्चनिषेधान्यथानुपपत्त्या तदधिष्ठानमद्वयं ब्रह्माहमेतेत्यर्थात् प्रतीतिर्भवेत्।। सार संग्रह टीका १।२५१ अर्थात् सम्पूर्ण अध्यस्त प्रपञ्च का निषेध तभी उपपन्न होगा– जब कि इस निषेध का अधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा स्वीकृत किया जाय। तो निषेध वाक्य से भी अखण्डार्थ बोध सम्पन्न होता है।

१३) स्वामी श्री सर्वज्ञात्ममुनिजी बिम्ब प्रतिबिम्बवाद को मानते हैं। जीव, ईश्वर एवं जगत् सब कल्पित ही कल्पित है। केवल एक शुद्ध चेतन ब्रह्म ही निर्दोष है।

स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्व।
जीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा।
स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिरस्तमोहा।।
प्रत्यक्चितिर्विजयते भुवनैकयोनिः।१।२।।

अपने आत्मस्वरूप के अज्ञान से कल्पित जगत्, परमेश्वरत्व, जीवत्व है, और इसी के कारण भूमभाव (ब्रह्मभाव) दूषित हो गया है। जिस शुद्ध चेतन की अपने महिमा में अपनी स्थिति सर्वदा विद्यमान है जिसका मोह नष्ट हो गया है। वह भुवनत्रय की कारणभूत एकमात्र प्रत्यक्चिति है। शुद्ध चेतन (अहंकारोपलक्षित शुद्ध चेतन) सर्वोत्कृष्ट रूप से विराजमान है।

इस पर टीका करते हुये मधुसूदन सरस्वती जी सारसंग्रह टीका में लिखते है– "अध्यस्तानि यानि जगत्परमेश्वरत्वजीवत्वानि तैरनुयोगित्वेन प्रतियोगित्वेन तन्निमित्तो" कहीं भेद में जीव अनुयोगि, कहीं प्रतियोगि, कहीं ईश्वर तो कहीं जगत् भेद में अनुयोगि एवं प्रतियागि होने से, पांच प्रकार का भेद होता है– १) जीवजगद् भेद २) जीवपरमेश्वर भेद ३) जीव जीव का परस्पर भेद ४) जगत्-जगत् का परस्पर भेद ५) जगत् परमेश्वर का भेद। यद्यपि अहंकारोपलक्षित चेतन निर्दोष है तथापि इस भेद के कारण (अज्ञान के कारण) दूषित सा लगता है। इसपर सारसंग्रह टीका तथा इसका अनुवाद क्रमशः देखने में बड़ा ही आनन्द आयेगा। अविद्या में चित् प्रतिबिम्ब ईश्वर है तो अन्तःकरण में चित्प्रतिबिम्ब जीव है। और प्रतिबिम्ब वास्तविक न होकर वह कल्पित ही होता है। अर्थात् जीवभाव तथा ईश्वर भाव दोनों ही कल्पित हैं केवल एक ब्रह्मवस्तु शुद्ध ब्रह्म ही सत्य यथार्थ एवं वास्तविक है।

१४) संक्षेप शारीरक में एवं सारसंग्रह टीका में एक जीववाद की तथा एक अज्ञानवाद की व्यवस्था है, न कि अनेक जीववाद तथा अनेक अज्ञानवाद की व्यवस्था

है। अज्ञान एक होने पर भी सांश (अंश युक्त) है, ज्ञान से ज्ञानी के प्रति उस अज्ञान का अंश नष्ट हो जाने से ज्ञानी मुक्त हो जाता है, लेकिन अन्य अज्ञानी व्यक्ति जिसे ज्ञान नहीं हुआ है, उनमें अज्ञान का अंश रह जाता है, जिससे उसे बन्धन रह जाता है, ऐसी व्यवस्था है। जैसे एक ही आकाश में पक्षी की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति देशभेद से है। इसी प्रकार से एक ही ब्रह्म में ज्ञानी तथा अज्ञानी को लेकर मुक्ति तथा अमुक्ति की व्यवस्था सम्भव है।

मुक्तामुक्तौ विद्वदज्ञौ त्वदन्या।
वाकाशादि क्ष्माऽवसानं च विश्वम्।।
स्वाविद्योत्थस्वान्तनिष्पन्दनं तद्
विज्ञातव्यं मा ग्रहीरन्यथैतत्।।२।१२८।

सारसंग्रह टीका मुक्तेति= शुकादिमुक्तेश्चेमादिरमुक्तः एवं गुर्वादि विद्वान् देवदत्तादिरज्ञः।। सं० शा० सारसंग्रह टीका २।१२८।।

जैसे तोता आदि पक्षी आकाश में मुक्त है लेकिन (दूसरा तोता जो पिंजरे में बन्द है वह मुक्त नहीं है) चैत्रादि मानव जो जेल में बन्द है वह मुक्त नहीं है। इसी प्रकार जो गुरू के शरण में जाकर ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर लेगा वह मुक्त हो जाता है, दूसरा नहीं। ऐसी व्यवस्था एक जीववाद में तथा एक अज्ञान वाद में संभव है।

१५) शारीरक भाष्य के समान अर्थात् व्यास रचित ब्रह्मसूत्र पर आचार्य शंकर कृत भाष्य के समान संक्षेप शारीरक में भी प्रथम समन्वय अध्याय २) अविरोध अध्याय ३) साधन अध्याय ४) फल अध्याय ऐसे चार अध्याय है। संक्षेप शारीरक में प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" यह त्वं पदार्थ (जीव पदार्थ) शोधक है, द्वितीय सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" यह सूत्र तत् पदार्थ का (ईश्वर पदार्थ का) शोधक है ३) तृतीय "शास्त्रयोनित्वात्" यह सूत्र संक्षेप शारीरक में साधन परक है, तथा ४) तत्तुसमन्वयात् यह चतुर्थ सूत्र संक्षेप शारीरक में जीवब्रह्मैक्यरूप फल परक है। ऐसा सर्वज्ञात्म मुनि तथा मधुसूदन सरस्वती जी मानते हैं।

१६) अज्ञान का आश्रय तथा विषय दोनों ब्रह्म ही है। यह नहीं कि जीव आश्रय हो और ब्रह्म विषय हो। जैसे मण्डन मिश्र मानते हैं क्योंकि यह देखा गया है कि "ययोरेव सामानाधिकरण्यं तयोरेव कार्यकारणभावः।। जिस कुम्हार के घर में मृत्तिका, चक्र, जल, रस्सी आदि हैं उन्हीं पदार्थों का परस्पर में कार्यकारणभाव

सम्बन्ध है। अर्थात् एकाधिकरण में रहने वाले पदार्थों का ही परस्पर में कार्यकारणभाव सम्बन्ध देखा जाता है। इसी प्रकार से जो अज्ञान ब्रह्माश्रित रहेगा, वही अज्ञान ब्रह्म को विषय भी बनाता है। जैसे अंधेरा मकान के आश्रित रहकर मकान को ही विषय बनाता है। (अर्थात् आवृत कर देता है।)

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी।
निर्विभागचितिरेवकेवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो।
नाश्रयो भवति नापि गोचरः।।१।३१६।।

मधुसूदन सरस्वती जी सारसंग्रह टीका में इसका अर्थ करते हैं, वह बड़ा ही सुन्दर है—"अज्ञानस्याश्रयत्वं विषयत्वं च भजत इत्याश्रयत्वविषयत्वभागिनी केवला= अद्वितीयैव। अतएव। निर्विभागा= जीवेश्वर विभागरहित। न चैवं पूर्वप्रदर्शितानुभव विरोधस्तस्यान्यथा सिद्धत्वात्, अन्यथा अन्योन्याश्रयः स्यादित्याशयेनह ।। पूर्वसिद्धेति।। अर्थात् अज्ञान का आश्रय तथा विषय दोनों ब्रह्म ही है। यदि जीव को अज्ञान का आश्रय मानें तो अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा। क्योंकि जीव का अस्तित्व अज्ञान के कारण, एवं अज्ञान का अस्तित्व जीव के कारण, लेकिन यह अन्योन्याश्रय दोष ठीक नहीं होता है। अतः उसे हटाने के लिये कहते हैं। पूर्व सिद्धेति्-पहिला तो अज्ञान है उसका आश्रय (पश्चिम) उत्तरवर्त्ती जीव नहीं हो सकता। और न तो जीव ऐसे अज्ञान का विषय ही बन पायेगा। यह, बड़ा ही रोचक प्रसङ्ग है।

१७) अज्ञान भावरूप है, क्योंकि कहीं भी अभाव से कार्य की उत्पत्ति देखने में नहीं आती।

नाभावताऽस्य घटते वरणात्मकत्वात्।
नाभावमावरणमाहुरभावशौण्डाः।।
अज्ञानमावरणमाह च वासुदेवः।
तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः।१।३२०।।

(वसन्तति० छन्दः)

अज्ञान में अभावरूपता नहीं बन पाती क्योंकि अज्ञान में आवरणरूपता होने से अभाव के स्वरूप के जानकार विद्वान् अभाव को आवरण रूप नहीं मानते हैं। भगवान् श्री कृष्णजी ने भी "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं" भ० गी० ५।१५, कहा है कि अज्ञान ने ज्ञान को आवृत्त कर दिया है। अर्थात् अज्ञान आवरक है, इसलिये अज्ञान को

भावरूप मानना ही ठीक है।

इस पर मधुसूदनकृत सारसंग्रह टीका— "आवरणत्वात्" अज्ञान में आवरकता होने से वह भावरूप ही है।

१८) सर्वज्ञात्ममुनि तथा मधुसूदन सरस्वतीजी दोनों ही मूलाविद्या तथा तूलाविद्या का विभाजन बडे ही सुन्दर ढंग से करते हैं— "प्रमातरि सति बाध्यत्वं" तूलाविद्या और "प्रमातरि सति अबाध्यत्वम्" मूलाविद्या है। स्वप्न प्रपञ्च तूलाविद्या का कार्य है, तो जाग्रत् प्रपञ्च मूलाविद्या का कार्य है। स्वप्न प्रपञ्च का बाध प्रमाता जीव के होते हुये हो जाता है, लेकिन जाग्रत प्रपञ्च का बाध जीव प्रमाता के रहते–रहते नहीं हो सकता।

न प्रमातरि सति प्रबाध्यते, जागरः स्पप्नदृष्टवस्तुवत्।
मातृमानविषयोपलब्धिभिः, साकमेव तमसो निराकृतेः।।

सं०शा० २–३३।। (रथोद्धताच्छन्दः)

स्वप्न दृष्ट पदार्थों के समान, प्रमाता के रहते-रहते, जाग्रत प्रपञ्च का बाध नहीं होता है। क्योंकि ब्रह्मज्ञान से तो प्रमाता, प्रमाण प्रमेय, विषय, प्रमिति— इनका सबका अज्ञान के साथ नाश हो जाता है।। यद्यपि यह विवेचन जाग्रत और स्वप्न प्रपञ्च के विषय में है— तो भी इससे तूलाविद्या तथा मूलाविद्या का भेद भी अनायास हो जाता है। किञ्चिदंशकरी अविद्या तूलाविद्या, सम्पूर्णांशकरी अविद्या मूलाविद्या है।

१६) आत्मज्ञान में कोई विधि नहीं है। विधि कहते है— कर्ता का अपना अभीष्ट उपाय। विधिः कर्तुरिष्टाभ्युपायः।। सारसंग्रह टीका सं० शा० १।४४६

अतो न वेदान्तवचस्सु विद्यते।
विधिर्नियोगो न च शब्दभावना।
न कर्मकाण्डेऽऽपि नियोगतोऽस्त्यसौ।
यतो निषेधेषु न विद्यते विधिः।।१।४४८।।

सारसंग्रह टीका "विधिजन्येष्टसाधनताज्ञानाधीना यत्र चिकीर्षोदेति तज्जन्यया कृत्या यत्साध्यते तद्विधिविधेयम् यथाऽग्निहोत्रादि, ज्ञानं च नैवम्। नहि ज्ञानं चिकीर्षया निष्पाद्यते, अनिच्छतोऽपि तद्दर्शनात्। नापि कृत्या, अयतमानस्यापि तद्दृष्टेरिति ज्ञानस्याविधेयतया

न वेदान्तस्तद्विधिपरा इति भावः"।। सारसंग्रह टीका सं० शा० १–४५०।।

विधि वाक्य "स्वर्गकामो यजेदित्यादि" वाक्य से जन्य स्वर्गादि मेरे इष्ट साधन है इस ज्ञान के अधीन स्वर्ग प्राप्ति के लिये जो यज्ञ करने की इच्छा उत्पन्न होती है, उस इच्छा से उत्पन्न कृति से (कर्म से) जो स्वर्गादि साधित किये जाते है, वही विधि का विधेय है जैसे अग्निहोत्रादि हैं। लेकिन ज्ञान वैसा नहीं है क्योंकि न तो ज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से ही प्राप्त होता है, इच्छा न होने पर भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। कृति से भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं देखी गई है क्योंकि जो कृति नहीं करता है उसे भी ज्ञान की प्राप्ति होती हुई देखी गई है। अतः ज्ञान विधेय नहीं होने कारण वेदान्त वाक्य विधिपरक नहीं है। यह भाव है। इसका पूर्ण विवेचन तो इसी प्रकरण में– इसी ग्रन्थ में स्पष्ट है।

२०) जगत् का कारण एक ही चेतन, उपादान तथा निमित्त दोनों कारण रूप से है अर्थात् एक ही चेतन प्रकृति द्वारा परिणामी उपादान कारण है। प्रकृति रूप उपादान कारण एक ही चेतन है तथा चेतन कर्त्ता द्वारा निमित्त कारण है। इसे बताते हैं– "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इसमें यतः इस पञ्चमी विभक्ति से सिद्ध किया है।

श्रुतिवचनविशेषाच्चेतने कारणेऽस्मिन्।
यत इति निरवद्यादेकताधीरथाऽऽगात्।
प्रकृतिरितिच तस्मिन्कारणे पञ्चमीयं।
जनयति दृढ़बुद्धिं तद्विधानादिहैव।।१।५००।।

चेतन में कारणता है इसमें "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तै० ३।१।१)

इस श्रुति वचन से एकत्व निश्चय होता है। बाद में पञ्चमी विभक्ति से इसी चेतन में "प्रकृति की" उपादान कारणत्व की दृढ बुद्धि हो जाती है। क्योंकि इसी (प्रकृति रूप) उपादान कारणत्वरूप में पञ्चमी का विधान सुसंगत हो जाता है।

सारसंग्रह टीका– न तावदुपादानत्वं नानात्वनियतं, रूपापादाने घटादौ व्यभिचारात्।। सं०शा० १।५००।।

घटीय रूप का उपादान एक ही घट हैं, न कि अनेक घट। अतः यह कोई

नियम नहीं है कि जो उपादान कारण हो, वह अनेक हो। तो एक ही ब्रह्म उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों ही है।

२१) लक्ष्य के तीन लक्षण प्रसिद्ध है १) स्वरूप लक्षण २) विशेषण लक्षण ३) उपलक्षण लक्षण ऐसे तीन प्रकार के लक्षण लोक में प्रसिद्ध हैं।

लक्ष्यस्य लक्षणमिह त्रिविधं प्रसिद्धं।
लोके स्वलक्षणममुष्य विशेषणं वा।
यद्वोपलक्षणमिमानि च लक्षणेन।
व्यावर्णयामि पृथगेव तु तत्प्रतीहि।।१।५१४।।

सारसंग्रह टीका–लक्ष्यस्य किं चित्स्वरूपभूतं लक्षणं, किञ्चिच्च तस्य विशेषणमन्यच्चोपलक्षणमितीह लोके लक्ष्यस्य त्रिविधं लक्षणं प्रसिद्धमिति सम्बन्धः।।

लक्ष्य का कहीं तो स्वरूपभूत लक्षण है, कहीं तो विशेषण भूत लक्षण है, तो कहीं–कहीं उपलक्षणभूत लक्षण है। इनका प्रत्येक का विवेचन आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

२२) उपादान कारणता जड में ही हो ऐसा नियम नहीं है।

उपादानता चेतनस्यापि दृष्टा।
यथा स्वप्नसर्गे विचित्रे प्रतीचः।
यथा चोर्णनाभस्य सूत्रेषु पुंसां।
यथाकेशलोमादि सृष्टौ च दृष्टा।।१।५४५।।

(भुजंगप्रयात छन्दः)

अन्वयः– यथा विचित्रे स्वप्नसर्गे प्रतीचः चेतनस्यापि उपादानता दृष्टा, यथा च सूत्रेषु ऊर्णनाभस्य, यथा च केशलोमादिसृष्टौ पुंसां दृष्टा।।

(मैने हिन्दी अनुवाद कर्ता ने ऐसा ही अन्वय ग्रन्थ के अन्दर प्रत्येक श्लोक का दिया है तथा अन्वयार्थ भी दिया है। इंसी प्रकार छन्द का नाम भी कहीं-कहीं दिया है)

अन्वयार्थ– जैसे विचित्र स्वप्न सृष्टि की उपादान कारणता आत्मा में देखी गई है, जैसे जाले की उपादान कारणता ऊर्णनाभ अर्थात् मकड़ी में देखी गई है, और केश लोमादि की उपादान कारणता पुरुष में देखी गई है।

सारसंग्रह टीका– ''इति दृष्टान्तेन ब्रह्मणः। जगदुपादानत्वमाहेति'' इन दृष्टान्तों से ब्रह्म में जगदुपादानता सिद्ध होती है। इसपर मधुसूदन सरस्वती जी कहते हैं– ''वैशेषिकादिनामपि यदुपादानं तज्जड़मेवेति न नियमः बुद्ध्यादि उपादाने चेतने व्यभिचारात्'' ।।१–५४६।। ज्ञान का उपादान करण चेतन आत्मा वह तो जड नहीं है– अतः उपादान जड ही होना चाहिये यह वैशेषिक का नियम भी बाधित हो जाता है। इसलिये आत्मा में योनिता उपादान करणता है।। ''तस्मात् युक्ता योनिता चेतनस्य।।१–५४७।। तो ब्रह्म जगत का अभिन्न निमित्तोपादानकारण है यह उसमें चिह्न है– न कि प्रमाण।। मधुसूदनजी।।१–५४८।। ''एवं सृष्टिवाक्य में ––प्रमाणमिति।।

२३) सर्वज्ञानात्ममुनीजी ने त्रिविधलक्षणा का निरूपण अतिसुन्दर किया है।

शब्दस्य लाक्षणिक वृत्तिरपि त्रिधैषा।
काचिज्जहाति न जहाति च वाच्यमन्या।
भागं जहाति न जहाति च भागमन्या
सोऽयं त्रिधा भवति लाक्षणिकप्रकारः। अ०१ श्लोक १५४।।

शब्द की लाक्षणिक वृत्ति तीन प्रकार की है– जहल्लक्षणा अजहल्लक्षण तथा जहदजहल्लक्षणा। इसका उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं–

'गंगापदं हि निजमर्थमपास्य तीरे।
यद्वर्त्तते भवति साजहती प्रसिद्धा
शोणः स्थितो बहिरितीह तु लक्षणाया-
मादाय शोणिमगुणं तुरगे प्रवृत्तिः।१।१५५।।

जहल्लक्षणा में वाच्यार्थ का परित्याग करके वाच्यार्थ सम्बन्धि में शब्द की वृत्ति स्वीकृत की जाती है– जैसे "गंगायां घोषः" इसमें गंगासम्बन्धी तीर उसमें ग्वालों के घर है ऐसा बोध होता है। इसी प्रकार से "शोणः स्थितो" लालरंग वाला खडा है या दौड रहा है– इसमें लाल गुण के साथ गुणी घोडे का ग्रहण किया जाता है– इसे अजहल्लक्षणा से पुकारा जाता है और तीसरा उदाहरण सोऽयं पुमानिति।।१–१५६।। इसमें विरूद्ध देशकालादिक का परित्याग करके शुद्ध अंशि का ग्रहण किया जाता है। वेद में भी त्रिविध लक्षणा है– ''वेदेऽपि लाक्षणिक वृत्तिरियं त्रिधैषा अ०१–१५७।। यज्ञायुधी में आयुध सहित यजमान स्वर्ग में जाता है– ''यज्ञायुधी यजमानः स्वर्गमेति'' मधुसूदनी १–१५७।। यज्ञपात्र तथा यज्ञ दोनों को छोड़कर केवल

यजमान का ग्रहण किया जाता है। इसे जहल्लक्षणा कहते हैं। इसी प्रकार वैश्वानरादि वैश्वानर शब्द जठराग्नि में रूढ है लेकिन यहां जठराग्नि शब्द से आत्मा का ग्रहण किया जाता है इसे अजहल्लक्षणा कहते है– और तत्त्वमसि में उभयलक्षणा है।

* * * * * *

द्वितीय अध्याय

२४) प्रत्यक्षादि प्रमाण वेदान्त के बाधक नहीं हो सकते। दोनों का विषय अलग–अलग है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण तो अज्ञात अर्थ के बोधक हैं तो वेदान्त प्रमाण तो ज्ञात अर्थ का बोधक है।

अज्ञातमर्थमवबोधयदेव मानं।
तच्च प्रकाशकरणक्षममित्यभिज्ञाः।।
न प्रत्यगात्मविषयादपरस्य तच्च।
मानस्य संभवति कस्यचिदत्र युक्त्या।।२।८।।

इस पर स्वामी मधुसूदन सरस्वतीजी बड़ा सुन्दर विवेचन करते हैं– "साचाज्ञातता चिदात्मन एव न जडस्येप्युक्तमिति न जडग्राहकं प्रमाणमस्ति ततो नात्मैकत्वश्रुतेः प्रत्यक्षादिबाध इति। तदिदमुक्तं युक्त्येति।। अज्ञातता भी चिदात्मा में ही हो सकती है न कि जड में। अतः प्रमाण भी जड़ का ग्राहक नहीं है अतः "एकमेवाद्वितीयं–– इत्यादिश्रुति का प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाध्र नहीं हो सकता। मधुसूदनी।।२–८।।

२५) सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पित होने पर विज्ञानवादी बौध के साथ समानता हो सकती। क्योंकि ज्ञेय तो ज्ञानस्वरूप ही है ऐसा विज्ञान वादी मानते हैं, ज्ञान ही सत्यस्वरूप है इसके अतिरिक्त ज्ञेय तो अनादिवासना से प्राप्त अलीक ऐसा ही है, जो ज्ञानस्वरूप हो जाता हैं वैसे वेदान्ती भी ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से अतिरिक्त सब अध्यस्त मानते हैं। यही दोनों में समानता है। मधुसूदनी।२–२७। की अवतरणिका विज्ञानवादिनो –––––साम्यमिति।।

इसका समाधान देते हैं–

ननु मातृमानविषयावगति।
रपस्परं प्रतिविभागवतीः।
उपयन् भदन्तमुनिना सदृशः।
कथमेष वैदिकमुनिर्भवति।।२।२७।

मधुसूदनीः— मातां—अन्तःकरणविशिष्टःप्रमाता, मानं—चक्षुरादि, विषयो—रूपादिः अवगतिः —रूपाद्याकारा चक्षुरादिजन्याऽन्तः करणवृत्तिस्ता इत्यर्थः।। अर्थात् वेदान्त में ज्ञान के अतिरिक्त प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण इन सबकी व्यवस्था है और यह व्यवस्था विज्ञानवादी के यहां नहीं होने से दोनों में समानता नहीं हो सकती।।

२६) सांख्याभिमत परिणामवाद वेदान्त को मान्य नहीं है। विवर्तवाद को वेदान्त स्वीकृत करता है। विवर्तवाद का बड़ा ही सुन्दर लक्षण आचार्य मधुसूदन सरस्वतीजी करते हैं— "कारणस्य पूर्वरूपापरित्यागेनाभिन्नं रूपान्तरं, अतात्त्विकरूपान्तरभेदो वा विवर्तवाद इतिविवक्षितम्।। मधुसूदनी।।२—६७।।

२७) विवर्तवाद के अपनाने से प्रपञ्च में मिथ्यात्व बडे आसानी से आ जाता हैं "इन्द्रो मायाभिः पूर्वरूप ईयते" इत्यादि श्रुतिवाक्य उपपन्न होते हैं। मधुसूदनी—।।२—६८।। "सर्वप्रपञ्चस्य वस्तुतत्त्वमर्दनपरं सकलं मायाश्रुतिस्मृतिवचो घटत इति बाकी संघातवाद और परिणामवाद युक्ति के आगे ठहर नहीं सकते, एवं श्रुत्यनुकूल न होने के कारण सूत्रकार ने ही उनका निराकारण किया है अतः संघातवाद का सबसे पहिले खण्डन करते हैं।

संघातवादमुपगम्य तु तत्र पक्षे।
संहन्त्रभाव इति सूत्रकृदाह दोषम्।
स्थायी भदन्तसमये न हि कश्चिदत्र
संघात संजनन शक्तिसमन्वितोऽस्ति।।२-६६।।

बौद्ध के ये शिष्य सौन्त्रान्तिक तथा वैभाषिक जो कि बाह्यपदार्थों को क्षणिक मानते हैं उनका यह संघातवाद खण्डित करने योग्य है इसपर मधुसूदन सरस्वतीजी खूब लिख रहे हैं— एतदुक्तं भवति तत्र भूतं पृथिव्यादि चतुष्टयम्, भूत करके पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार ही भूत हैं। भौतिकं रूपादिचक्षुरादि च भौतिक करके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द एवं उनका ग्रहण करने वाली चक्षुरादि इन्द्रियां। तो चारों भूतों के परमाणु तथा पांच स्कन्ध तथा रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार संज्ञितानां च पञ्चस्कन्धानामपर आध्यात्मिक संघातः सकललोक यात्रावहः।। ये पांच स्कन्ध सम्पूर्ण लोगों के कार्य कारण भाव वहन करेंगे ऐसा ये सौन्त्रान्तिकादि कहते हैं— मधुसूदन जी बडा ही स्पष्ट इन स्कन्धों का विचार करते हैं— रूपस्कन्ध-"रूप्यन्ते एभी रूप्यन्त" अर्थात् सविषयक इन्द्रियां। विज्ञानस्कन्ध रूपादिविषयक अथवा अहमित्याकारक जो ज्ञान है, उसे विज्ञान स्कन्ध कहते हैं, वेदानास्कन्ध चित्तस्य या

प्रियाप्रियानुभयात्मकविषभेदेन सुखदुःखतद्रहितविशेषावस्था जायतेऽसौ वेदनास्कन्धः= इसीप्रकार से संज्ञास्कन्धः सविकल्पकप्रत्ययः= अर्थात् अयं घटः (घटत्व प्रकारक घट विशेष्यक) ऐसा जो ज्ञान इसको संज्ञास्कन्ध कहते है। अब ५वाँ संस्कारस्कन्धः रागादयः क्लेशा, उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौच संस्कारस्कन्धः रागादि क्लेशा आदि धर्माधर्मादि ये संस्कार स्कन्ध कहलाते हैं। इन समुदायों का जड़ होने के कारण स्वतः तो इनका समुदाय का मिलना नहीं हो पायेगा।

"लोके चेतनव्यापारं विनाऽचेतनेषु तददर्शनात्" लोक में भी चेतनव्यापार के बिना अचेतन में स्वतः समुदायात्मिका प्रवृति देखने में नहीं आती है। यह बडा सुन्दर विवेचन मधुसूदनजी ने किया है–

"संघातवादमुपगम्य तु तत्र पक्षे।
संहन्त्रभाव इति सूत्रकृदाह दोषम्।।
स्थायी भदन्तसमये न हि कश्चिदत्र।
संघातसंजननशक्तिसमन्वितोऽस्ति।।२।६६।।

इसपर मधुसूदनी टीका बडी ही युक्तिपूर्ण है। जिसमें संघातवाद का अच्छा खण्डन किया है। यह इसी ग्रन्थ में प्रकरण में देख लेना।

२८) इसी प्रकार से वैशेषिकाभिमत आरम्भ्वाद का भी खण्डन बहुत अच्छा किया है।

आरम्भवादमुपगम्य तदीय युक्ते-।
स्तत्प्रक्रियामनुस्मरन् व्यभिचारमाह।।
वैशेषिकं प्रमि महद्वदिदं हि योज्यं।
यद्वाऽपि दीर्धवदिदं जड़मित्यनेन।।२।७०।।

आरम्भवाद का खण्डन मधुसूदनजी ने जो किया हैं वह देखने योग्य है– महद्वदिति– किं कारणगुणानामविशेषेण कार्ये समानजातीय गुणारम्भकत्वं किं वा तद्विशेषगुणानाम्।। क्या कारणगत सामान्य गुण कार्य के समान जातीय गुण के आरंभक है या कारणगत विशेष गुण कार्य के समान जातीय गुण के आरम्भक है इसमें दूसरा पक्ष सम्भव नहीं है– "चित्ररूपादिमदवयव्यारम्भकावयरूपादौ तदभावात् विशेष गुणत्वानिरूपणस्य वृद्धैर्दर्शितत्वाच्च।। चित्ररूपादिमद् जो अवयवी का आरम्भक अवयव है तद्‌गतरूपादि में चित्ररूपादिमद् अवयवी आरम्भकत्व– अर्थात् विशेषगुणत्वनिरूपकत्व वृद्धों ने नहीं माना है।। इत्यादि यह सारा प्रकरण देखने योग्य है। चालू प्रकरण में ही देखें नात्माद्यः= मधुसूदनी।।२–७०।। नच तत्र समवायिगतं

परिमाणं सजातीयं तदारभते व्यणुक से त्र्यणुक होता है लेकिन व्यणुक का परिमाण ह्रस्व परिमाण है तो त्र्यणुक महत् परिमाण है यही सब दोष बताये हैं।। मधुसूदनी २–७०।। अतः आरम्भवाद भी ठीक नहीं है। विस्तारपूर्वक इसी ग्रन्थ के प्रकरण में देखें।

२६) सूत्रकार बादरायणजी तीन दृष्टियों का निरूपण करते हैं– जो कि आरोप दृष्टि, अपवादक दृष्टि तथा व्यामिश्र दृष्टि– रूप में हैं– इसका स्पष्टीकरण सर्वज्ञात्ममुनिजी करते हैं–

आरोपदृष्टिरुदिता परिणामदृष्टि-।
र्द्वैतोपशान्तिरपवादकदृष्टिरन्त्या।।
मध्ये विवर्तविषया द्वयमिश्रदृष्टिः।
व्यामिश्रदृष्टिरधरोत्तरभूमिभावात्।।२।७२।।

मधुसूदनी– आरोपदृष्टि सा परिणाम दृष्टिः=ब्रह्मणि प्रपञ्चाध्यारोपित दृष्टिस्तया हि ब्रह्मणः प्रपञ्चात्मत्वं विषयी क्रियते।। अर्थात् परिणाम दृष्टि जो सांख्याभिमत है, वह आरोप दृष्टि है, और तीसरी अपवादक दृष्टि जो कार्यरूपद्वैत की उपशान्ति करने वाली है वह तो अन्तिम दृष्टि है "सविलासाविद्योपशमकाद्वैतब्रह्मसाक्षात्कारः।। मधु०२–८२।। कारण सहित कार्य निवृतिरूपा ब्रह्म साक्षात्कार रूपा है यह अन्तिम तृतीय दृष्टि है। और बीच में एक विवर्तविषया– जो दोनों की मिश्रित दृष्टि है यह दूसरी दृष्टि है यह दृष्टि द्वय मिश्र है– इसे स्पष्ट करते हैं– मधुसूदनी "अतत्त्वतोऽन्यथाभावरूपविवर्त्तत्वविषया या दृष्टेर्ब्रह्मणि प्रपञ्चतदभाववद्वयविषयत्वात् सा द्वयविमिश्र दृष्टिर्भवतीत्यर्थः।। अतात्त्विकरूप से ब्रह्म से अन्यथाभावरूप जो दृष्टि उसे विवर्त दृष्टि कहते हैं, जिसमें प्रपञ्च की स्वीकृत भी है और उसका अभाव भी अतः इसे व्यामिश्र दृष्टि (विमिश्र दृष्टि) कहते हैं। इसे ही "निकृष्टमध्यमोत्तमभूमित्वादित्यर्थ।। मधुसूदनी।। इसे ही निकृष्ट, मध्यम तथा उत्तम दृष्टि कहते हैं।।

३०) ये तीनों दृष्टियां एक ही पुरूष निष्ठ होती हैं–

प्रपञ्च को सत्यमाननेवाले कृपण उनकी परिणाम दृष्टि, अधम दृष्टि। आरोप दृष्टि जिसके पाप समाप्त हो चुके हैं– उसकी विवर्त दृष्टि जो संसार से विरक्त होता है उसकी व्यामिश्र दृष्टि मध्यम दृष्टि है। और तृतीय अन्तिम दृष्टि तो श्रवणमननादिक परिपक्व होने पर स्थिर मतिवालों की है जो शुद्ध ब्रह्मका अनुभव

करते हैं साथ में द्वैता की उपशान्ति हो जाती है इसे अपवादक दृष्टि, उत्तम दृष्टि कहते हैं जिसको जीवन्मुक्त भी कहते हैं। स्थिरमति के जगह स्थित मति पाठान्तर में जीवन्मुक्त ऐसा होता है– यह अर्थ है देखिये– मधुसूदनी

कृपणधीः परिणाममुदीक्षते।
क्षपितकल्पषधीस्तु विवर्ततताम्।।
स्थिरमतिः पुरूषः पुनरीक्षते।
व्यपगतद्वितयं परमं पदम्।।२।८६।।

प्रपञ्च सर्वोऽपि ब्रह्मणस्तात्त्विक परिणामोऽहं च वस्तुतः कर्त्ताभोक्ता—— इत्यर्थ ।।मधुसूदनी २–८६।। सब प्रपञ्च ब्रह्म में तात्त्विक होने से कर्तृत्वादि भी तात्त्विक है।

३१) एक जीववाद में बन्धमोक्ष व्यवस्था बहूत ही अच्छी प्रकार से सुसंपन्न होती है, अनेक जीव मानने की आवश्यकता नहीं है। अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं– ।।मधुसूदनी २–१२८।। तथादि अविद्यायां प्रतिबिम्बितं हि चैतन्यं जीवः अविद्या च लाघवानगृहीत या ———। स चा विद्याकार्यानेकान्तःकरणावच्छेदेनानेक रूपप्रमातृकर्तृभोक्तृभावं प्रतिपादत् इति। अन्तःकरण उपाधि को लेकर अनेक कार्यकारणभाव संपन्न हो जाते हैं।

एक जीववाद में भी अन्तःकरण की नानात्व कल्पना होने से प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार नाना जीववाद की कल्पना व्यर्थ है। एकजीव वाद में ही सब बन्ध मोक्ष व्यवस्था सुसंपन्न हो जाती है। जैसे एक द्रष्टा स्वप्न में अनेक पक्षियों को देखता है– उसमें कुछ पिंजड़े में फंसते है, कुछ उड़ते हैं– ऐसी ही व्यवस्था जाग्रत में भी होगी।

३२) कल्पित शास्त्र, गुरू आदि भी तत्त्वबोध उत्पन्न करा सकते हैं–

परिकल्पितोऽपि सकलज्ञया।
गुरूरेव पूर्णमवबोधयति।।
परिकल्पितोऽपि मरणाय भवे-।
दुरगो यथा न तु नभो मलिनम्।२।२२७।।

कल्पित सर्प मृत्यु का कारण बनता है, न कि नील गगन मृत्यु का कारण बनता है, इसी प्रकार से सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रके ज्ञाता गुरूदेव कल्पित होने पर भी

मोक्षप्रदाता हो सकते हैं–। अतः यह कोई नियम नहीं है कि कारण सत्य ही होना चाहिये। व्यावहारिक बन्धकी निवृत्ति व्यावहारिक गुरू से हो जाती है। "व्यावहारिक गुर्वादिशरीरावच्छिन्नजीवस्य" मधु०।।२–२२७।। व्यावहारिक गुरूजी व्यावहारिक शरीरावच्छिन्न जीव की मुक्ति करा सकते हैं।

* * * * * *

तृतीय अध्याय

३३) तृतीय अध्याय में ब्रह्मबोध होने के लिए जिन–जिन साधनों की आवश्यकता हैं उसे बताते हैं।

वैराग्यस्य दृढत्वमेकमपरं तत्त्वंपदार्थज्ञता।
वाक्ये निर्गुणनिष्ठिते च सकले न्यायादियत्तामतिः।।
सम्यग्ज्ञानसमीपदूरभवयोर्हेत्वोर्विवेकज्ञता।
वाक्यार्थप्रतिपत्तिसाधनमिदं यत्नेन कृत्यं यतेः।।३।३।।

तृतीय अध्याय साधन अध्याय है। इसके पहले पाद में वैराग्य की दृढता दूसरे पाद में तत्त्वंपदार्थशोधन, तृतीय पाद में सम्पूर्ण निर्गुण प्रतिपादक वाक्यों में इयत्तावधारण और चतुर्थपाद में ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षादुपकारक तथा परम्परया उपकारक रूप से अंगों का विवेचन है। मधुसूदनी–

निर्विशेषं परंब्रह्म साक्षात् कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः।।
वशीकृते मनस्येषां सगुण ब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्।।३।३।।

(शुद्ध) निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार मन्दमतियों को नहीं हो सकता। उनके लिये (सगुण) सविशेष ब्रह्म का निरूपण जरूरी है। जिससे उनका मन वशीभूत होकर निर्विशेष परब्रह्म का साक्षात्कार करा देता है। तथा उपाधि कल्पना हट जाती है। इसी प्रकार से आगे कहते है "त्वं पदार्थ विवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्। श्रुत्या विधियते यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत्।। इत्यादि वचनों से त्वं पदार्थ का शोधन भी साधन रूप में आता है।।

३४) अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग साधनों के विवेचन संक्षेपशारीरककार बडे ही युक्ति से करते हैं।

यच्छ्रुतं विविदिषोदयाय तत्।
सर्वमेव बहिरङ्गसाधनम्।।
अन्तरङ्गमवगच्छ तत् पुन।
र्यत् परावगतिसाधनं श्रुतम्।।३।३३०।।

मधुसूदनीः– परमात्मनो विविदिषा साधनत्वेन विहितं तत्त्वज्ञानं प्रति बहिरंग साधनम्।।-----इत्यर्थ। जिज्ञासा उत्पन्न कराने के लिये जो साधन है उसे बहिरंग साधन कहते है। वह एक जन्म में या अनेक जन्म–जमान्तर में हो। "यत्तु परमात्मसाक्षात्कारोद्देशेनैव विहितं तदन्तरंगसाधनम्" (मधुसूदनी) ३–३३०) जो परमात्मा का परब्रह्म का साक्षात् साक्षात्कार करा देता है। उसे अन्तरंग साधन कहते है।

इसे और भी स्पष्ट करते हैं–

यद्धि कारकतयाऽवगम्यते।
दूरस्तहिद साधनं धियः।
अन्तरङ्गमखिलं तु तत् पुन-।
र्व्यञ्जकं भवति यत् परमात्मनः।३।३३१।।

मधुसूदनी – "अदृष्टद्वारेणैव फलोत्पादकं कारकं, जन्मान्तरीयमपि यज्ञादि तद्द्वारा विविदिषामुत्पादयद्धीहेतुरितिदूरस्थत्वात्तद्बहिरङ्गम्।।

जो अदृष्ट के द्वारा फलोत्पादक होता है, चाहे जन्मान्तरीय यज्ञादि हो, उसके द्वारा विविदिषा (जिज्ञासा का बुद्धि का) का जो कारणीभूत हो जावे उसे बहिरङ्गसाधन कहते हैं। और जो "दृष्टद्वारेण तु तत्त्वधीहेतुरभिव्यञ्जकम्" श्रवणशमदमादि ये तो दृष्ट जो प्रतिबन्ध है, उन्हें हटाकरके ब्रह्मज्ञान के हेतु होते हैं। अतः इन्हें अन्तरङ्गसाधन कहते हैं।

अन्तरङ्गसाधन व्यञ्जक है, तो, बहिरङ्गसाधन कारक है। –

मधुसूदनी – "३–३३२" यज्ञादिरूपस्य - - - - - - - - - - - - - - इत्यर्थः।।

३५) ब्रह्मविद्या के अन्तरङ्गसाधन श्रवणादिमें गृहस्थी आदियों का भी अधिकार है, यह अन्तरङ्ग साधन श्रवणादि केवल संन्यासीमात्र के लिये ही नहीं हैं। किन्तु

चारों आश्रम वासियों के लिये हैं, इसे स्पष्ट रूप से सर्वज्ञात्ममुनिजी महाराज कह रहे हैं। तथा मधुसूधन सरस्वती जी इसे और स्पष्ट कर रहे हैं।।

वानप्रस्थगृहस्थनैष्ठिकजनैरन्यैश्च वर्णाश्रमैः।
कर्मव्यध्वनिषेवितं भवति वै जन्मान्तरे पाचकम्।
विद्यायाः श्रवणादिलक्षणमिदं न ह्येतदेषां क्वचित्।
शास्त्रेण प्रतिषिध्दमीक्षिमिदं शूद्रस्य दृष्टं यथा।।३।३५६।

मधुसूदनी – वानप्रस्थेति, अन्यैः परिव्राकातिरिक्तवर्णाश्रमवर्ण–धर्ममात्रनिष्ठैराश्रमधर्मनिष्ठैस्त्रैवर्णिकैः कर्त्तव्यध्वेषु कर्मच्छिद्रेषु आवश्यकर्मरहितावकाशेषु "- - - - - - - - वेदान्त श्रवणादि प्रतिषेधो न दृष्ट इत्यर्थः।।

अन्तरङ्गसाधन श्रवणादिमें संन्यासी के अतिरिक्त त्रैवर्णिक का भी अधिकार है, वे भी अपने आवश्यक विहित कर्म के अवकाश काल में श्रवणादि अन्तरङ्ग साधन कर सकते हैं। जो कि जन्मान्तर में ब्रह्मविद्या के पाचक बन जाते हैं। उत्तम अधिकारी का काम तो इसी जन्म में इन श्रवणदि अन्तरङ्ग साधनों से हो जाता है। शूद्र का अधिकार नहीं है। क्योंकि शूद्र न तो वेदवाक्य का उच्चारण अथवा धारण कर सकता हैं।।

जिस प्रकार से शूद्र का वेद के श्रवण में या उच्चारण में – निषेध होने के कारण, सभी वैदिक क्रियाओं में शूद्र का प्रतिषेध है, ऐसा प्रतिषेध संन्यासी के अतिरिक्त अन्य वर्णाश्रमियों के लिए किया नहीं है। अतः अन्तरङ्ग साधन वेदान्तश्रवणादि में त्रैवर्णिक का अधिकार है, यह सही है।।

* * * * * *

चतुर्थ अध्यायः

३६) प्रथम अध्याय में – **"अदुष्टकरणजत्वेन समन्वयः प्रथमअध्यायार्थः"**

प्रथम अध्याय में अदुष्ट करण से उत्पन्न समन्वय प्रथम अध्याय का अर्थ है। अबाधित विषय के साथ अविरोध यह द्वितीय अध्याय का अर्थ है। इसके साधन कौन से हो? इसके विवेचन यह तृतीय अध्याय का अर्थ है। अब इसका क्या फल होगा। तदर्थ चतुर्थ अध्याय का अर्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

"मुमुक्षव इत्येकवचनादेकमुमुक्षुकजगद्दृष्ट्यवस्था दर्शिता।। ४-१-।।

मधुसूदनी।। – – – – – – – –

उक्त साधन समुद्भवासती। किं प्रयच्छति फलं मुमुक्षवे।

प्रत्यगात्ममातिरत्र मे मन। स्यर्थिता समुपजायतेऽधुना।।४-१।।

"मधुसूदनी – प्रत्यगखण्डब्रह्माकारनिर्विकल्पसाक्षात्काररूपा मतिर्वेदान्तप्रमाणकरणिका मनोवृत्तिर्मुमुक्षवे आत्यन्तिकी बन्धनिवृत्तिमिच्छते।।४–१।। प्रत्यग् अखण्डब्रह्माकार निर्विकल्यक साक्षात्कार मन की वृत्ति वेदान्त प्रमाण से उत्पन्न होकर मुमुक्षु के लिये आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति कराके परमानन्द की प्राप्ति करा देती है। लेकिन यह सही नहीं है। प्राप्य नहीं हैं। ऐसा यह मोक्ष केवल प्रकट कराने के लिये है – नकि उत्पन्न कराने के लिये है।

मोक्ष के विषय में – माध्यमिक, योगाचार, अर्हत, कणाद, नैय्यायिक प्राभाकर भट्ट, सांख्य, अपरे, पातञ्जल, त्रिदण्डी, पाशुपतादि अनेक मतों के अनुसार मोक्ष का स्वरुप बताकर सर्वोत्कृष्टवेदान्ताभिमत मोक्ष है। यह बात मधुसूदन जी ने बहुत ही पण्डित्य पूर्ण तथा सरल रूप से प्रदर्शित की है। इसे प्रकरण ग्रन्था में देख लेना ही उचित है।

३७) प्रत्यगात्ममति अन्य किसी प्रमाणान्तरकी या कर्म की अपेक्षा न करके दृष्टेनैय द्वारेण स्वविषयाज्ञानमुत्सारयन्ती तत्कार्यं प्रपञ्चं रजतमिवसमुत्सारयतीति न यज्ञादि समुच्चिता सेति द्वितीय प्रश्ने निर्णयः"।। ४–४।। मधुसूदनी ब्रह्मज्ञान स्वविषय अज्ञान की निवृत्ति करता है। साथ में अज्ञान के कार्य को भी हटाता है। जिस प्रकार रस्सी विषय ज्ञान–रस्सी के अज्ञान को हटाकर प्रतीयमान सर्पादिक को भी हटा देता है। वैसे प्रकृत में ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मविषय अज्ञान को तथा अज्ञान के कार्य को हटा देता है – किसी यज्ञादि समुच्चय की अपेक्षा नहीं करता है।।

३८) मोक्ष में कर्म का उपयोग नहीं है – अर्थात् मुक्ति कर्म साध्या नहीं है।

"सदसदुद्भवनं न विमुक्तता, सदसदुद्भवनानुपत्तितः।
सदसतोर्नशनं न विमुक्तता। सदसतोर्नशनानुपत्तितः।४।३५।।

मधुसूदनी – किचं कर्मसाध्यामुक्तिः कस्यचिद्भावस्योत्पत्तिरूपा किं वा कस्यचिन्नाशरूपा, अनिर्वचनीयवस्तुस्वरूपा वा, नाद्यः उत्पत्तेः प्राक् कार्यस्य सत्त्वेऽसत्त्वे वोत्पत्त्यसम्भवस्योक्तत्वादित्याशयेनाह।

"सदसदुद्भवनं।।४/३५।। यदिकर्म साध्यामुक्ति मानें तब तो पहलाविकल्प कार्य सत् या असत् मानें तो भी दोनों अवस्थाओं में उत्पत्ति सम्भव नहीं है। द्वितीय विकल्प नाश से पूर्व सत् या असत् का नाश नहीं हो सकता। यह भी कह दिया है। तृतीय तो अनिर्वचनीय विकल्प हो नहीं सकता।

"अनिष्टत्वादनुपपन्नत्वाच्चेत्याह-

"न च तमोमयजन्म विमुक्तता।। ४-३६।।

न च तमोमयेति—आविद्यकस्य तत्त्वधीबाध्यत्वेन मिथ्यात्वात्तद्रूपाया मुक्तेः केनाप्यनङ्गीकारादिति। हेतुमाह – न खल्विति।। (मधुसूदनी) अविद्या से उत्पन्न होने वाले पदार्थ का तथा अविद्या का भी तत्त्वज्ञान से बाध होने के कारण वह मिथ्या है। अतः ऐसे अनिर्वचनीय मिथ्या पदार्थ को कोई मुक्ति नहीं मानता। यह भाव है, इसमें हेतु बताते हैं, न खल्विति। कल्पित का जन्म होता है, यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो मिथ्या है उसका जन्म भी कैसा होगा? अर्थात नहीं हो सकता। यह भाव है।।

३६) संक्षेपशारीरककार जीवन्मुक्ति को स्तुतिरूप प्रयोजनपरक मानते हैं। उसका अपमान नहीं करते। यह जीवन्मुक्ति तो ब्रह्मविद्या की स्तुति करती है।

"ब्रह्मविद्या स्तुतिपरत्वान्न तद्विरोध – इत्यभिप्रेत्याह – (मधुसूदनी – न ४–३६।।

जीवन्मुक्तिप्रत्ययं शास्त्रजातं।
जीवन्मुक्ते कल्पिते योजनीयम्।
तावन्मात्रेणार्थवत्त्वोपपत्तेः।
सद्योमुक्तिः सम्यगेतस्य हेतोः।।४-३६।।

मधुसूदनी – एतस्य हेतोरेतस्माद्धेतोः जीवन्मुक्तिशास्त्रस्यान्यविषयत्वाद्धेतोरिति यावत् – जीवन्मुक्ति शास्त्र अनुवाद करक है अथवा स्तुति परक है। जीवन्मुक्तिशास्त्र भूतार्थवाद परक होने से जीवन्मुक्ति का अपलाप नहीं है – किन्तु वह स्वीकृत है।।

तत्त्वज्ञान से अविद्या की आवरण शक्ति नष्ट होने पर भी विक्षेप शक्ति रहती है – इससे जीवन्मुक्ति को मानना ही पड़ता है।।

"जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीते।
द्वैतच्छाया तत्र् चास्ति प्रतीतेः।

द्वेतच्छायारक्षणाचास्ति लेश-।
स्तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम् ।। ४-४३।।

मधुसूदनी – "प्रातिभासिक विक्षेप शक्ति – ४–४३" प्रतिभासिक विक्षेप शक्ति युक्त अविद्या के अंश को ही लेशा अविद्या कहते हैं। जिससे जीवन्मुक्ति का निर्वाह हो जाता है। इसी कारण जीवन्मुक्ति में भी व्यवहार के लिए द्वैतदर्शन तथा भय शोकादि भी उपन्न हो जाते हैं।

विद्वानों का अनुभव भी इसमें प्रमाण है।

वेदान्त में तीन वाद प्रचलित है, अवच्छेदकवाद, आभासवाद तथा बिम्ब प्रतिबिम्बंवाद – इसमें बिम्ब प्रतिबिम्बवाद को अधिक महत्त्व दिया गया है – यह भी इस ग्रन्थ की विशेषता है।।

अपने बुद्धि के अनुसार मैंने मूल ग्रन्थ के श्लोक तथा मधुसूधनकृत सारसंग्रह टीका दोनों का हिन्दी अनुवाद एवं हिन्दी भाषा में अर्थ का स्पष्टीकरण किया है – इसमें मुझे काफी समय लगा। विद्वान् मेरे इस परिश्रम को सार्थक बनायेंगे और कहीं मेरा प्रमाद दृष्टिगोचर होता है, तो मुझे निःसंकोच बतायेंगे।

यह ग्रन्थ बड़ा ही अनुपम है – क्योंकि एक तो मधुसूदनी टीका इस ग्रन्थ की मिलती ही नहीं। कदाचित् कहीं यह टीका मिल भी जाय तो यह टीका विद्वतापूर्ण होने से बड़े कठिनाई से लगेगी। यह सुलभ हो जावे तथा मधुसूदन सरस्वतीकृत सार संग्रह टीका को हम सब बड़े आसानी से समझ सकें, इसी के साथ-साथ वास्तविक वेदान्त शास्त्र का स्वरूप समझने के लिये मैंने यह परिश्रम किया है। मुझे आशा है कि मेरा यह परिश्रम भगवान – दत्तात्रेय जी की अपार कृपा से सफल होगा। इस ग्रन्थ के पूर्व – जागदीशी सिद्धान्त लक्षणम् – तथा अवच्छेकत्त्व निरूक्तिः।। दोनों ग्रन्थों पर मेरे द्वारा लिखी हुई लक्ष्मी टीका तथा दिव्या टिप्पणी है। जो दोनों ग्रन्थ न्याय शास्त्र (दर्शन मध्यम के) पाठ्य पुस्तकों में समाविष्ट है और दोनों ग्रन्थों की मेरी टीकायें अप्राप्य हो चुकी है।

ऐसी ही आशा मैं इस ग्रन्थ के विषय में भी करता हूँ।

इसी प्रकार से जन कल्याणार्थ "ज्ञानेश्वरीके १२वें अध्यायपर आधारित "दिव्यज्ञान भक्तियोग" हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लिखा है – इसी प्रकार से पद्यात्मक शैली में हिन्दूपञ्च लक्षणी ग्रन्थ – जो लोगों की सेवा में उपस्थित किया है।

मुझे आशा है कि श्री सर्वज्ञात्ममुनिकृत संक्षेपशारीरक ग्रन्थ जो मधुसूदन सरस्वतीकृत सारसंग्रह टीका से युक्त है – तथा इन दोनों का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवादित है, इससे मूल ग्रन्थ का तथा वेदान्त सिद्धान्त का खूब प्रचार होकर मानव अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करेगा। ऐसी आशा करता हूँ।

आपका,

महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी दिव्यानन्दगिरि,
न्यायवेदान्ताचार्य, पूर्वदर्शनविभागाध्यक्ष
भारत सरकार से सम्मानित,
काशीस्थ अखिल भारतीय श्रीपण्डित परिषद्
द्वारा विद्यावाचस्पति उपाधि से अलंकृत
श्री कृष्ण निवास आश्रम,
संन्यास रोड़, कनखल, हरिद्वार - (उ०प्र०)

संक्षेपशारीरकस्य श्लोकाद्यचरणप्रतीकवर्णानुक्रमः

आ

समाप्तोऽयं संक्षेपशारीरकस्य श्लोकाद्यचरणप्रतीकवर्णानुक्रमः

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

❖ द्वितीय अध्याय ❖

❖ तृतीय अध्याय ❖

❖ चतुर्थ अध्याय ❖



।। श्रीदत्तात्रेयाय नमः ।।

संक्षेप शारीरक तथा सारसंग्रहटीका का हिन्दी अनुवाद

।। प्रथमोऽध्यायः ।।

।। श्री गणेशाय नमः ।।

अनृतजडविरोधि रूपमन्त-
त्रयमलबन्धनदुःखताविरूद्धम्।।
अतिनिकटमविक्रियं मुरारेः।
परमपदं प्रणयादभिष्टवीमि।।१।।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हैं।

सत्यं ज्ञानमनन्तमद्वयसुखं यद् ब्रह्म गत्वा गुरूं
मत्वा लब्धसमाधिभिर्मुनिवरैर्मोक्षाय साक्षात्कृतम्।।
जातं नन्दतपोबलात्तदखिलानन्दाय वृन्दावने
वेणुं वादयदिन्दुसुन्दरमुखं वन्देऽरविन्देक्षणम्।।१।।

अनुवाद : श्रेण्ठ मुनिजनों ने सद्गुरू की शरण में जाकर सत्य, ज्ञान, अनन्त, अद्वय, सुखस्वरूप जिस ब्रह्म का समाधि के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिये साक्षात्कार किया है। वह नन्दबाबा जी के तपस्या से फलीभूत होकर आनन्द देने के लिये वृन्दावन में वेणु बजाते हुए चन्द्रमा के समान मुखाकृतिवाले तथा कमलपत्र के समान विशाल नेत्रवाले ऐसे ब्रह्मस्वरूप गोपालकृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ।

व्याख्याकार श्रीमधुसूदनसरस्वतीजी अपने परमगुरू, गुरू एवं विद्या गुरू इनके चरणकमल की धूलि को प्रणाम कर उसकी प्रशंसा करते हैं।

श्री रामविश्वेश्वरमाधवानां
प्रणम्य पादाम्बुजपुण्यपांसून्।।
तेषां प्रभावादहमस्मि योग्यः
शिलाऽपि चैतन्यमलब्ध येभ्यः।।२।।

मैं अपने परमगुरू श्रीराम, गुरू श्री विश्वेश्वर सरस्वती तथा विद्यागुरू श्रीमाधव सरस्वती जी के चरण कमल की पुण्यधूलि को नमस्कार करके उन्हीं चरणधूलि के प्रभाव

से मैं योग्य हुआ हूँ। जिस चरणधूलि से शिला भी चेतनता को प्राप्त हुयी थी। प्रसिद्ध है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र की चरणधूलि से शिलाभाव को प्राप्त गौतम पत्नी अहिल्या नारीरूप से चेतनता को प्राप्त हुई।। इसी तरह मेरी जो योग्यता है वह गुरूओं की चरणधूलि से ही उत्पन्न है।

पूर्वाचार्यवचो विचार्य निखिलं सत्संप्रदायाध्वना
हित्वोच्छ्रृङ्खलमार्गमागमगिरां तात्पर्यपर्याप्तितः।।
विच्छिद्यार्थविभागतः प्रकरणान्युद्धिद्य तत्त्वं रहः।
कुर्वे संप्रति सारसंग्रहमिमं संक्षेपशारीरके।।३।।

अनुवाद : पूर्ववर्ती आचार्यों के वचनों का खूब विचार करके और संप्रदाय के अनुसार ही मार्ग पर चलते हुए बीच में जो मनगढ़न्त मार्ग पर चलने वाले हैं। उनको छोड़ते हुए वेद मार्ग के वाणी को तात्पर्य से (स्वीकृत करके) निर्णीत किया है। अर्थ विभाग से प्रकरण भी अलग अलग कर दिये और गोपनीय तत्त्व बताने के लिये संप्रति संक्षेप शारीरक के ऊपर यह सार संग्रह-टीका कर रहा हूँ।

हित्वा हेयमुपादेयमुपादाय विचारतः।
प्रायेण पूर्वटीकानामिहार्थः प्रकटीकृतः।।४।।

अनुवादः विचार के साथ साथ जिसे छोड़ना है- छोड़ दिया जाता है और जिसका ग्रहण करना है, उसका ग्रहण किया जाता है, तथा इस सार संग्रह टीका में प्रायः पूर्व टीकाकारों का अर्थ भी प्रगटित किया है।

विशेषाद्विश्ववेदस्य प्रत्यग्विष्णोश्च बुद्धयोः।
व्याख्यानं श्रद्धयाऽलेखि गुरूणां तौ हि नो गुरू।।५।।

अनुवादः इन टीकाओं में विशेषरूप से विश्ववेद तथा प्रत्यग्विष्णु पूर्वाचार्यों की टीकायें विद्वत्ता से परिपूर्ण होने के कारण इनका व्याख्यान श्रद्धा के साथ देखा जाता है क्योंकि ये दोनों ही मेरे गुरूओं के गुरू हैं। अर्थात् इन दोनों टीकाओं में विशेषताएं हैं। एक तो गुरूजनों की टीकायें हैं और दूसरी विशेषता यह है कि इन दोनों टीकाओं में वैदुष्य भी हैं।

तत्र श्रीमच्छारीरकशास्त्रस्य तात्पर्यविषयीभूते मुमुक्षुजिज्ञास्ये निर्विशेषे ब्रह्मणि बोधनीये प्रासङ्गिकमुमुक्ष्वजिज्ञास्यसविशेषब्रह्मोपासनावाक्यानेकविधविचार विक्षिप्ततया दुरव

बोधतामाकलय्य तद्विक्षेपपरित्यागेन मुमुक्षुजिज्ञास्यं निर्विशेषं ब्रह्म शास्त्रतात्पर्य-विषयीभूतमनायासेन मुमुक्षुबोधाय संक्षेपशारीरकाख्येन श्लोकग्रन्थेनाविश्चकार करूणया श्रीसर्वज्ञात्माचार्यः। अत एव मुमुक्ष्वजिज्ञास्यसविशेषब्रह्मप्रासङ्गिकविचारपरित्यागरूप-संक्षेपविशिष्टं निर्विशेषब्रह्मविचारात्मकं शारीरकशास्त्रमेवैतदिति संक्षेपशारीरकमिति समाख्याऽस्य युक्तैव। तत्राद्यं श्लोकचतुष्टयं श्रीमच्छारीरकशास्त्रस्याद्यचतुःसूत्रीस्थानीयम्।

अनुवाद : श्रीमत् शारीरक शास्त्र का तात्पर्य विषयीभूत मुमुक्षु के जिज्ञासा का विषय र्निविशेष ब्रह्म है। उसका बोध कराना यह मुख्य लक्ष्य शारीरक शास्त्र का है। तथापि बीच में प्रासङ्गिक जो मुमुक्षु के लिये जिज्ञासा का विषय नहीं होने पर भी जैसे सविशेष ब्रह्म वाक्य तथा उपासना वाक्य, जिससे अनेक प्रकार के विचार मुमुक्षु के अन्दर उत्पन्न हो जाने के कारण मुमुक्षु विक्षिप्त हो जाता है, जिससे निर्विशेष ब्रह्म का बोध दूस्तर हो जाता है। इस बात का अवलोकन करके सविशेष ब्रह्मवाक्य तथा उपासना परक वाक्य जो मुमुक्षु को विक्षेप उत्पन्न कराने वाले हैं उनका परित्याग करके मुमुक्षु से जिज्ञास्य (जिज्ञासा का विषय) ऐसा निर्विशेष ब्रह्म जो शास्त्र के तात्पर्य का विषय है। उसका अनायास तथा संक्षेप से मुमुक्षु को बोध हो जाय, इस दृष्टि को लेकर संक्षेप शारीरक नामक श्लोकात्मक ग्रन्थ का निर्माण कृपा से वशीभूत होकर श्री आचार्य सर्वज्ञात्मजी कर रहे हैं। इसलिये मुमुक्षुजनों के लिये अजिज्ञास्य ऐसा सविशेष ब्रह्म जिसका प्रासंङ्गिक विचार छोड़कर संक्षेप से निर्विशेष ब्रह्मका विचार करना एतद् स्वरूप यह शारीरक शास्त्र है। अतः इस ग्रन्थ का नाम संक्षेप शारीरक ठीक ही है। इससे पहले जो श्लोक है ये श्रीमद्शारीरक शास्त्र के (ब्रह्मसूत्र के) चार सूत्रों के रूप में हैं।

तत्र हि प्रथमसूत्रे ब्रह्मविद्याधिकारी शुद्धस्त्वंपदार्थो जिज्ञास्यब्रह्माभेदान्वययोग्यः प्रतिपादितः। तयोर्भेदे हि स्वनिष्ठकर्तृत्वाद्यध्यासरूपबन्धनिवृत्तिकामस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मणि जिज्ञासा न स्यात्, अन्यज्ञानादन्यत्राध्यासनिवृत्तेरनुपपत्तेः, तस्मात्तयोरनन्यत्वमेव।

द्वितीये सूत्रे च जगत्कारणत्वमदर्शनव्याजेन तत्पदार्थोऽपि शुद्धस्त्वंपदार्थभेदान्वय-योग्यस्तटस्थस्वरूपलक्षणाभ्यां प्रतिपादितः।

चतुर्थसूत्रे च तयोरैक्यमैकान्तिकं प्रतिपादितम्। एतावदेव शास्त्रस्य प्रमेयं त्वंपदार्थस्तत्पदार्थोऽखण्डवाक्यार्थश्चेति।

एतत्प्रमाणं तु तत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यरूपं शास्त्रं, तच्चोक्तं "शास्त्रयोनित्वात्" इति तृतीयसूत्रे। अत्रार्थक्रमस्य पाठक्रमाद्बलवत्त्वात्तृतीयचतुर्थसूत्रयोर्व्यत्यासो द्रष्टव्यः। प्रमेये

हि कथिते 'किमत्र प्रमाणम्' इति जिज्ञासायां प्रमाणं कथनीयं नान्यदाऽप्राप्तकालत्वात्। एवमिहोचितक्रमेणैव त्वं पदार्थस्तत्पदार्थस्तदैक्यं चेति प्रमेयप्रतिपादनार्थास्त्रयः श्लोकाः। प्रमाणप्रतिपादनार्थस्तु चतुर्थश्लोकः। एतावता हि शास्त्रस्य विषयप्रयोजनसम्बन्धाः प्रतिपादिता भवन्ति। प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकत्वमेव हि विचारपुरःसराद्वेदान्तवाक्यप्रमाणाद्विज्ञातं प्रयोजनं शास्त्रस्य, एतदेवोपेयम्।

शारीरक शास्त्र के ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" में शुद्ध त्वं पदार्थ जिज्ञास्य है और उसी की ब्रह्म के साथ अभेद अन्वय योग्यता है। यह बताया है यदि शुद्ध त्वं पदार्थ तथा ब्रह्म इन दोनों में भेद माना जाय तब तो जीवनिष्ठकर्तृत्वाद्य-ध्यासरूप बन्धन के निवृति के लिये मुमुक्षु की ब्रह्म विषयक जिज्ञासा (ब्रह्म जिज्ञासा) ही नहीं होगी। क्योंकि अन्य पदार्थ के ज्ञान से अन्य में निष्ठ अध्यास की निवृति देखने में नहीं आती है। अतः शुद्ध त्वं पदार्थ तथा ब्रह्म इन दोनों की अभिन्नता निश्चित ही है।

अब दूसरा सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र में जगत्कारणत्व को बताने के बहाने से तत्पदार्थ भी शुद्ध त्वं पदार्थ के साथ अभेदान्वय योग्यता वाला है। इसे तटस्थ तथा स्वरूप लक्षण दोनों करके प्रतिपादित किया है।

चतुर्थ सूत्र में त्वं पदार्थ तथा तत्पदार्थ दोनों की एकता एकान्तिकरूप से (निश्चित रूप से) प्रतिपादित की है। यही शास्त्र का प्रमेय है। जो कि त्वं पदार्थ, तत्पदार्थ तथा दोनों का अखण्ड वाक्यार्थ बोध का भी ज्ञापक चतुर्थ सूत्र है। दोनों की एकता में प्रमाण तो है "तत्त्वमस्यादि" महावाक्य रूप शास्त्र जो इसमें प्रमाण हैं। इसी बात को कहते हैं "शास्त्रयोनित्वात्" यह तृतीय सूत्र में कह दिया। अर्थक्रम पाठक्रम से बलवान् होने के कारण "शास्त्रयोनित्वात्" तथा "तत्तुसमन्वयात्" इन दोनों सूत्रों का व्यत्यास करा दिया है। क्योंकि "तत्तुसमन्वयात्" इस सूत्र से प्रमेय का प्रतिपादन करने के बाद जिज्ञासा होती है कि इसमें क्या प्रमाण है ? तब प्रमाण तो कहना पड़ेगा, इस प्रकार के जिज्ञासा के बिना प्रमाण को नहीं कहा जा सकता। अतः प्रमाण कहा "शास्त्रयोनित्वात्"। अन्य काल में इसकी उपयोगिता नहीं है। ("प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है। "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन" इस न्याय दर्शन के सूत्र में भी प्रथम प्रमाण को कहा बाद में प्रमेय को कहा।) इस प्रकार से उचित क्रमानुसार त्वं पदार्थ, तत्पदार्थ तथा दोनों की एकता ये तीनों ही पदार्थ ब्रह्मसूत्र के तीनों सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित है। एतद् परक संक्षेप शारीरक ग्रन्थ के प्रथम तीनों श्लोक हैं।

प्रमाण का प्रतिपादन करने के लिये चतुर्थ श्लोक है। जिससे वेदान्त शास्त्र का

(संक्षेप शारीरक ग्रन्थ रूप शास्त्र का) विषय, प्रयोजन, संबन्ध तथा अधिकारी प्रतिपादित होते हैं।

जीव और ब्रह्म की एकता ही विचारपुरःसर वेदान्त वाक्य से विज्ञात शास्त्र का प्रयोजन हैं, यही उपादेय है।

उपायस्तु द्विविधो विषयस्त्वंपदार्थस्तत्पदार्थश्चेति। तस्यचाज्ञातत्वमात्रेण वेदान्तप्रमाण-विषयत्वम्। अज्ञातत्वमिथ्याविज्ञातत्वाभ्यां विचारविषयत्वमिति विवेकः। पदार्थज्ञान-पूर्वकत्वाद्वाक्यार्थज्ञानस्य पदार्थद्वयरूपविषयकथनपुरःसरं वाक्यार्थरूपप्रयोजनकथनं क्रमेण कृतम्। चतुर्थेन तु शास्त्रेण समं तयोः सम्बन्धः प्रतिपादितः। एतावता हि संक्षेपेण कृत्स्नशास्त्रार्थसमाप्तिः, परापरविद्ययोः पर्यवसानात्। तथा च श्रुतिः- "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादिना षडङ्गवेदचतुष्टयात्मकं शब्दब्रह्म अपरविद्याविषयत्वेन व्याख्याय, "अथ परा यया तदक्षर-मधिगम्यते" इत्यादिना परं ब्रह्म परविद्याविषयं दर्शयति। स्मृतिश्च "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शाब्दं ब्रह्म परं च यद्" इत्यादि। उत्तरग्रन्थस्त्वस्यैव प्रपञ्च इति द्रष्टव्यम्। संग्रहविवरणाभ्यां शिष्यबोधस्योद्देश्यत्वात्। तत्र "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिश्रुत्यनुसारेण नपुंसकलिङ्गशब्दप्रयोगेण प्रथमः श्लोकः, "सेयं देवतैक्षत" इत्यादिश्रुत्यनुसारेण स्त्रीलिंगशब्दप्रयोगेण द्वितीयः श्लोकः, "स एष इह प्रविष्ट एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यादिश्रुत्यनुसारेण पुल्लिङ्गशब्दप्रयोगेण तृतीयः श्लोकः। एतेन सर्वेऽपि ब्रह्मप्रतिपादकाः शब्दा व्याख्याताः।

इसका उपाय दो प्रकार के विषयों का विवेचन है, एक तो त्वं पदार्थ का विवेचन और दूसरा है तत् पदार्थ का विवेचन, त्वं पदार्थ तथा तत्पदार्थ दोनों में अज्ञातत्व मात्र होने से वेदान्त प्रमाण के विषय है। (वेदान्त प्रमाण से त्वं तथा तत्पदार्थ विषयक अज्ञान की निवृत्ति होगी। त्वं पदार्थ तथा तत्पदार्थ विषयक अज्ञान की निवृत्ति तो होगी लेकिन मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि वेदान्त प्रमाण के होने पर भी किसी किसी को मिथ्या ज्ञान तो हो जायेगा। बाकी वेदान्त विचार से तो अज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिये उभयरूप से विचार का विषय होने से एक रूप से वेदान्त प्रमाण विषयता की कही है।) अतः कहते हैं- अज्ञातत्व, मिथ्या विज्ञातत्व दोनों रूप से वेदान्त विचार विषयत्व, अज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान का विनाशक है- यही विशेषता है। पदार्थ ज्ञानपूर्वक वाक्यार्थ ज्ञान को (अर्थात् त्वंपदार्थ तथा तत् पदार्थ ज्ञानपूर्वक त्वं तथा तत्पदार्थ विषयक वाक्यार्थज्ञान होता है) इसमें दो पदार्थों की विषयता कथित हो चुकी है तथा साथ में दोनों की एक वाक्यार्थतारूप प्रयोजनता भी है, यह भी क्रम से अपने आप सिद्ध हो गया।

चतुर्थ सूत्र से "तत्तु समन्वयात्" इस ग्रंथ का तथा प्रयोजन का सम्बन्ध प्रतिपादित हो जाता है। (प्रयोजन और ग्रंथ इन दोनों का प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। प्रतिपादक हुआ ग्रंथ और प्रतिपाद्य हुई जीव ब्रह्म की एकता) इस प्रकार से संक्षेप से सम्पूर्ण शास्त्र के अर्थ की समाप्ति हो जाती है। इस पर श्रुति भी प्रमाण है। "द्वे विद्ये वेदितव्ये" दो विद्याओं को जानना चाहिये। ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। दो विद्यायें, जो एक तो परा विद्या और दूसरी है अपरा विद्या। इसमें अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद आते हैं। इसी प्रमाण के आधार पर शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष-इस षडंग सहित चारों वेद, शब्दब्रह्म अपर विद्या विषयक कहे जाते हैं। ("शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति"- शब्द ब्रह्म में निष्णात परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है) "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" पर विद्या उसे कहते हैं। जिससे अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् परब्रह्म परविद्या का विषय है। यह बता दिया है इन आरम्भ के चारों श्लोकों के अतिरिक्त उत्तर ग्रंथ इन्हीं बातों का स्पष्टीकरण करने के लिये है। क्योंकि कहीं कहीं सूक्ष्मता से बताना, कहीं कहीं विस्तृत रूप से बताना यह दोनों ही शिष्य के बोध के लिये जरूरी है। इसमें "सत्यंज्ञानमन्तं ब्रह्म" ब्रह्म सत्य, ज्ञान, तथ अनन्त स्वरूपयुक्त है, इत्यादि श्रुति के अनुसार नपुंसकलिंग शब्दों के प्रयोग से "अनृतजडविरोधि" यह पहला श्लोक है, "सेयं देवतैक्षत" इत्यादि श्रुति के अनुसार "स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्व "सेयं" इसमें स्त्रीलिंग शब्द प्रयुक्त हुआ है। तदनुसार "स्वाज्ञान" यह द्वितीय श्लोक उधृत किया है। स एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यादि श्रुति के अनुसार पुल्लिंग शब्द प्रयोग हुआ है। इसी के अनुरूप प्रत्यक् प्रमाणमसत्यपराक्प्रभेदं" इस तृतीय श्लोक का प्रारम्भ कर दिया है। इस प्रकार से सभी ब्रह्मप्रतिपादक शब्दों की व्याख्या हो गई है।

अनृतजडविरोधि रूपमन्त
त्रयमलबन्धन दुःखताविरुद्धम्।
अतिनिकटमविक्रियं मुरारेः।
परमपदं प्रणयादभिष्टवीमि।।१।।

अन्वयः= अनृतजडविरोधिरूपम, अन्तत्रयमलबन्धन दुःखताविरुद्धम्, अतिनिकटं, अविक्रियं, मुरारेः परमपदं प्रणयात् अभिष्टवीमि। (प्रष्पिताग्रावृत्तम) [१२ अक्षर वाला वह छन्द जिसके विषम पादों में २ नगण, १ रगण, १ यगण हो और समचरणों में १ नगण, २ जगण, १ रगण तथा अंत में गुरुवर्ण हो।]

अन्वयार्थः= (माया कल्पित बिम्ब प्रतिबिम्बभाव से रहित शुद्ध अन्तर्यामिब्रह्म) यह ब्रह्म अनृत् का जड़ का विरोधी है। देशकाल वस्तु त्रिविध परिच्छेद से रहित है रागद्वेषादि मल तथा धर्माधर्मादि बन्ध

से रहित है तथा दुःख से रहित है। इसी प्रकार यह परमपद परब्रह्म अतिनिकट है। (यत्साक्षात्) यह ब्रह्म छह विकारों से रहित है। ऐसा यह "मुरारेः परमपदम्" मुरनामक राक्षस को (अज्ञान रूपी राक्षस को) मारने वाला अरि-वृत्यारूढ़ तत्त्वज्ञान का विषयभूत परमपद-माया कल्पित कारणत्वादि से रहित शुद्ध तत्त्व ब्रह्म, ऐसे ब्रह्म की मैं श्रद्धा के साथ स्तुति करता हूँ।

अक्षरार्थस्तु-मुरारेःजगदुपद्रवकारिमुराद्यसुरसंहरणाज्जगत्पालयितुःश्रीविष्णोर्जगत्कारण-मायासत्त्वांशप्रतिबिम्बचैतन्यात्मनोऽन्तर्यामिणःपरमं मायाकल्पितजगत्कारणत्वादिशून्यत्वेन सर्वोत्कृष्टं बिम्बभूतं पदं स्वरूपम्। उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन बिम्बे स्वधर्माकल्पकत्वात्। बिम्बेश्वरपक्षेऽज्ञानप्रतिबिम्बतजीवचैतन्यप्रतियोगितया बिम्बत्वेन व्यवह्रियमाणस्य विष्णोः परमं पदं बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनाशून्यं निरूपाधिस्वरूपम्। "बिम्बे तमोनिपतिते प्रतिबिम्बके वा (अ० २ श्लो० १७६) इत्यादिनेश्वरस्य द्वैरूप्यं वक्ष्यति। परमत्वं चापरमत्वापादकोपाधिराहित्येन पदत्वं चाविद्यातिरोधानापनयाय सर्वपदनीयत्वेन स्वरूपस्य द्रष्टव्यम्। "तद्विष्णोः परमं पदम्" इति श्रुतेः। "तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा" इति श्रुतेश्च। अत्र पष्ठ्यन्तप्रथमान्ताभ्यां तत्पदस्य वाच्यं लक्ष्यं च त्वंपदलक्ष्याभिन्नान्वययोग्यं दर्शितम्। अत्र च-

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः।।१।।इतिस्मृतेः।।

अनुवादः= मुरारेः= जगत् को उपद्रव देने वाला मुर नाम का राक्षस जो पुराणों में प्रसिद्ध है, उसका संहार करने के लिये जगत् के पालनकर्ता श्री विष्णु जो जगत् का कारण है - अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य रूप है, उसका भी अन्तर्यामी, परमम्-मायाकल्पित जगत् कारणात्वादि से शून्य सर्वोत्कृष्ट बिम्बभूत ऐसा जो पद है वही परम पद स्वरूप परम पद हैं माया आदि उपाधि भी हमेशा प्रतिबिम्ब के साथ पक्षपात करती है न कि बिम्ब के साथ। "उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन बिम्बे स्वधर्माकल्पनात्"। यदि ईश्वर बिम्ब स्वरूप है- ऐसा मानें तब तो अज्ञान प्रतिबिम्बित जीव चैतन्य का प्रतियोगी बिम्बरूप से व्यवह्रियमाण विष्णु का परम पद फिर तो बिम्ब प्रतिबिम्ब कल्पना से शून्य निरूपाधिक स्वरूप शुद्ध ब्रह्म होगा। "बिम्बे तमो निपतिते प्रतिबिम्बके वा" (अ० २ए श्लो० १७६) स्पष्टं तमः स्फुरणमत्र न तत्र तद्वत्" इत्यादि श्लोक से ईश्वर का दो रूपों में निरूपण किया है। बिम्ब रूप में तथा प्रतिबिम्ब रूप में।

परमत्वम्= अनुत्कृष्ट (निकृष्ट) प्रतिपादक उपाधि से रहित होना ही परमत्व है। तथा - पदत्वम् - अविद्या रूप आवरण हटाने के लिये सभी पदों का अधिष्ठानभूत ऐसा ब्रह्म वही पद है, वही स्वरूप द्रष्टव्य है ग्रहण करने योग्य है। "तद् विष्णोः परमं पदम्"

इतिश्रुतेः"। तदेतत्पदननीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा" यह श्रुति भी बताती है कि सभी जनों का यही आत्मा अधिष्ठानस्वरूप है- अर्थात् पद स्वरूप प्राप्तव्य है। तद्विष्णोः परमं पदम् षष्ठ्यन्त तथा प्रथमान्त पदों से तत्पद का वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ बताकर त्वंदलक्ष्य से अभिन्नत्व की योग्यता। तत्पद के वाच्य के तथा लक्ष्य के साथ (लक्ष्यार्थ के साथ) उत्पन्न है। यह योग्यता बताई जा रही हैं षष्ठ्यन्त से वाच्यार्थ लेना है और प्रथमान्त से लक्ष्यार्थ लेना है।

अब मङ्गलाचरण के विषय में

हरिर्हरति- दुष्ट चित्त वाले भी यदि हरिका स्मरण करते हैं तो हरि पापों को हरण कर लेते हैं। जैसे इच्छा न होने पर भी अग्नि का स्पर्श जलाने का ही काम करता है। इस स्मृति के अनुसार-

सर्वोपद्रवकारिमुराद्यसुरारित्वेन भगवत्स्मरणरूपं मंङ्गलमाचरन् तत्पदाभिष्टवलक्षणं मङ्गलान्तरमाचरतिअभिष्टवीमीति। अभितः स्तौमीत्यर्थः। 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' इत्यनेन विभाषयेडागमः।

अत्र निर्विशेषब्रह्मणि गुणविशिष्टगुण्यभिधानलक्षणायास्स्तुतेरसम्भवात्स्तवीमीति निदिध्यासनेनाभितः प्रत्यगभिन्नतया आभीक्ष्ण्येन वा तदेकाग्रोऽस्मीत्यर्थ इति केचित्। तत्स्तुतिरूपं तत्स्वरूपनिरूणपरं ग्रन्थं करोमीत्यर्थ इत्यन्ये।

सर्व उपद्रवकारी मुरनामक राक्षस उसका-अरि-(शत्रु) इस रूप से भगवान् का स्मरण रूप मङ्गलाचारण हो चुका है। उसके चरणों की प्राप्ति रूप अभिष्टस्वरूप लक्षणरूप मङ्गलाचरणान्तर कह रहे हैं।

अभिष्टवीमीति= अभितः- चारों ओर से स्तुति करता हूँ। अभीष्टवीमि-यहां ईडागम "तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके"- सूत्रानुसार इडागम हुआ।

केचित्- यहां मङ्गलाचरण में निर्विशेष ब्रह्म में गुण विशिष्ट गुणी का अभियान लक्षण स्वरूप स्तुति सम्भव नहीं होने के कारण स्तवीमिति= इस पद को निदिध्यासन परक लेना चाहिये, अथवा स्तवीमीति का अर्थ-प्रत्यगभिन्नरूप से अभीक्षण अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म के साथ मैं एकाग्र हो जाता हूँ ऐसा अर्थ करना चाहिये। ऐसा केचित् कहते हैं। (योगात्रूढिर्बलीयसि इस न्यायानुसार स्तवीमितिका अर्थ निदिध्यासन नहीं हो सकता अतः केचित् कहा)

अन्ये= निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मस्तुति। रूपम्-निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप का निरूपण परक यह ग्रन्थ मैं कर रहा हूँ। ऐसा अन्य विद्वान् स्तवीमिति का अर्थ करते है। (निर्विशेष का

निरूपण यह तो वदतो व्याघात् होने से अन्ये कहा)

"आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः" इति टीकोक्तेरकल्पितधर्मस्य क्वाप्यनुपपत्तेः कल्पितसत्यत्वादिधर्मपुरस्कारेण गुणकथनरूपा स्तुतिर्मुख्यैव निर्गुणेऽपि वस्तुनि सम्भवतीति तु तत्त्वम्। अतोऽस्थाने निदिध्यासनप्रतिज्ञा, ग्रन्थकरणारम्भप्रतिज्ञा, मुख्यवृत्तिसम्भवे जघन्यवृत्तिकल्पना च निरस्ता।

एतादृशभगवत्स्तुतौ च तद्भक्तिरेवासाधारणं कारणमित्याह-प्रणयादिति। प्रणयः परा प्रीतिर्भक्तिरित्यर्थः। सा हि स्वरसतः परमानन्दरूपे परमात्मनि समुल्लसन्ती धारासन्ततिरूपा मनोवृत्तिर्भागवती भक्तिरित्युच्यते। तया चाविघ्नेन सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्त्यादिद्वारेण परं निःश्रेयसं लभ्यते।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।। इति श्रुतेः।

"भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तम्" इति स्मृतेः। "ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" (यो० सू० पा० १ सू० २६) इति योगसूत्राच्च। निर्गुणेऽपि ब्रह्मणि भक्तिरुपपद्यत इति व्याख्यातं भगवद्गीतासु "चतुर्विधा भजन्ते माम्" इत्यादिना।

आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्तिधर्मा : "पद्मपादाचार्य प्रणीत पञ्चपादिका टीका में उक्त अकल्पित धर्म कहीं भी उपपन्न नहीं हो सकता है अतः कल्पित सत्यत्वादिधर्म के व्याज से गुणकथनरूपा मुख्य स्तुति हो सकती हे। अतः मङ्गलाचरण के प्रकरण में बीच में ही निदिध्यासन की प्रतिज्ञा, अथवा ग्रन्थ प्रारम्भ करने की प्रतिज्ञा, ये सब व्यर्थ हैं, क्योंकि जब मुख्य वृत्ति से स्तवीमीति से काम चल जाता है तो फिर जघन्यवृत्तिकल्पना (गौणीवृत्ति की या लाक्षणिक वृत्ति की कल्पना) करना व्यर्थ है।

इस प्रकार से भगवान् की स्तुति की जा रही है इसमें भक्ति असाधारण कारण है इस बात को कह रहे हैं। प्रणयादिति। प्रणय-अर्थात् परा प्रीति, पराभक्ति अति उत्कृष्ट भक्ति इसे प्रणय कहते हैं। वही प्रीति स्वाभाविक रूप से परमानन्द रूप परमात्मा में विराजमान होती हुई- धारा सन्तति रूपा जो मन की एक भगवदाकाराकारित-अखण्ड वृत्ति है- इसे भक्ति कहते हैं। जिसके कारण निर्विघ्न रूपसे अन्तःकरण की शुद्धि होकर तत्वज्ञान के द्वारा पदं= जो निःश्रेयस मोक्ष, उसकी प्राप्ति हो जाती है। "यस्य देवे" जिसकी भगवान् के चरणों में परा भक्ति हो, जैसी भक्ति भगवान में है वैसी तो गुरू में भी हो। उसी महापुरूष को मोक्षरूपी अर्थ की प्राप्ति होती है। (मोक्षरूपी अर्थ उसी के लिए प्रकाशित

होते हैं) "भजतां प्रीति पूर्वकम्" ददामिबुद्धियोगं तम्" (भ गी० १०/२०) जो मेरी प्रेम पूर्वक भक्ति करता है। उसके अन्तःकरण शुद्ध होने पर मैं हे अर्जुन उसे ब्रह्मज्ञान रूपी बुद्धि प्रदान करता हूँ, ऐसा गीता कहती है। "ततः प्रत्यक्" भक्ति के बाद-प्रत्यक् चेतन का अधिगम हो जाता है तथा प्रतिबन्धक की निवृत्ति हो जाती है- (पा० यो० सू० १/२७) यह योग सूत्र भी बताता है।

निर्गुण ब्रह्म में भी भक्ति उत्पन्न हो जाती है, इसका निरूपण भगवद्गीता में किया है। "चतुर्विधा भजन्ते माम्" गी ७/१६। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, तथा ज्ञानी ऐसे हे अर्जुन मेरे चार प्रकार के भक्त हैं।।

अभिष्टवे प्रकृष्टनयानपेक्षणाद्रूढिभङ्गदोषाच्च न 'प्रकृष्टो नयः प्रणयः' इति व्याख्यानमुपादेयम्। तत्र निर्विशेषे वस्तुनि जगत्वेन जीवत्वेन परमेश्वरत्वेन च प्राप्तां विक्रियां निषेधति - अविक्रियमिति। जगति जन्माद्या विक्रियाः, जीवे जाग्रदाद्याः, ईशे सृष्ट्याद्या विक्रिया मायया प्रसक्ताः निर्विशेषे वस्तुनि सर्वथा न सम्भवन्तीति तदविक्रियम्। एतेन सर्वविकारशून्यत्वात्सर्वेन्द्रियाग्राह्यतारूपा सूक्ष्मता, सर्वोपाधिसंम्बन्धशून्यतारूपा नित्यमुक्तता च दर्शिता। एवं सामान्यतः सर्वविक्रियाशून्यतामुक्त्वा विशेषेणाप्याह- अनृतेत्यादिना। अत्रानृतविरोधि परमार्थसत्यमबाध्यम्। जडविरोधि स्वप्रकाशं ज्ञानम्। रूपं सर्वानुस्यूतसन्मात्रम्। अन्तत्रयविरुद्धम्। अन्तानां देशकालवस्तुपरिच्छेदानां यत् त्रयं तद्विरुद्धं, देशपरिच्छेदो ह्यत्यन्ताभावस्तदप्रतियोगित्वेन विभु, कालपरिच्छेदौ ध्वंसप्रागभावौ तदप्रतियोगित्वेन नित्यम् वस्तुपरिच्छेदश्चान्योऽन्याभावः तदप्रतियोगित्वेनाद्वितीयम्।

अनुवाद= अभिष्टवेमीति= प्रकृष्ट नयन की अपेक्षा अभीष्ट नहीं है और रूढ़ीभाव का भङ्ग हो जायेगा यह दोष भी होने से, प्रकृष्टो नयः प्रणयः" प्रकृष्ट दृढ नय प्रणय जो व्यारव्यान है वह ठीक नहीं है। (अनुपादेय है) किन्तु प्रणय अर्थात् पराभक्ति ही अभीष्ट है।

तो प्रकृत निर्विशेष ब्रह्म में (वस्तु में) जगत्रूप से, जीवरूप से तथा परमेश्वर रूप से जो विक्रिया प्राप्त हो रही हैं- उसका निषेध निर्विशेष ब्रह्म में करते हैं। क्योंकि वह ब्रह्म -अविक्रियमिति= अविक्रिय है। जगत् में जन्मादि छह विक्रियाँ हैं (अस्ति, जायते, वर्धते, उपचीयते, अपचीयते तथा विनश्यति), जीव में जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति रूप तीन विक्रियां है। ये सभी विक्रियां माया प्रमुख हैं अतः निर्विशेष ब्रह्म में ये सब विक्रिया बिलकुल सम्भव नहीं हैं। अतः' यह निर्विशेष ब्रह्म अविक्रिय है।

इससे यह ब्रह्म सर्वक्रियाओं से शून्य होने के कारण सभी इन्द्रियों से वह अग्राह्य स्वरूप सूक्ष्मस्वरूप वह है यह सिद्ध हो जाता है। साथ में सब उपाधियों के

सम्बन्ध से रहित होने के कारण इसमें नित्यमुक्तता भी अपने आप प्रदर्शित हो जाती है।

इस प्रकार सामान्यतः सभी विक्रियाओं से रहित होने के साथ-साथ विशेष रूप से भी उसे विरोधी बताते हैं- जैसे अनृतेत्यादिना- वह ब्रह्म अनृत का विरोधी है। अर्थात् परमार्थतः सत्यस्वरूप वह है अर्थात् वह कभी भी बाधित नहीं होता है। जड़विरोधी= वह ब्रह्म जड़ का विरोधी है। अर्थात् स्वप्रकाश स्वरूप, अर्थात् ज्ञान स्वरूप वह ब्रह्म है।

रूपम्= सब में अनुस्यूत रहने वाला अर्थात् सब में सन् (सत्ता) मात्र स्वरूप वही है।

अन्तत्रयविरूद्धम् : वह ब्रह्म तीनों अन्तों के विरूद्ध है। देश, काल वस्तु रूप जो अन्त हैं- परिच्छेद हैं। इन तीनों का जो समूह है वह हो गया अन्त त्रय, उसके यह विरूद्ध है। अर्थात् देशपरिच्छेद- किसी एक पदार्थ का किसी अन्यदेश में अत्यन्ताभाव होना, जिस पदार्थ का अन्य देश में अत्यन्ताभाव होगा, वही पदार्थ ऐसे अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होगा, लेकिन इस ब्रह्म का किसी भी देश में अत्यन्ताभाव सम्भव नहीं होने से तत्प्रतियोगितत्व इसमें सम्भव नहीं होने से, अर्थात् यह विभुव्यापक होने से देशपरिच्छेदके विरूद्ध है। इसी प्रकार से काल परिच्छेद-जैसे किसी वस्तु का ध्वंस होना अथवा प्रागभाव होना- तत्प्रतियोगित्व- उन पदार्थों में आयेगा। लेकिन ब्रह्म का न तो प्रागभाव है और न तो प्रध्वंसाभाव (ध्वंस) ही है। अतः तत्प्रतियोगित्व ब्रह्म में नहीं है। अर्थात् वह नित्य है- अर्थात् वह नित्य होने से उसमें कालपरिच्छेद न होने के कारण वह कालपरिच्छेद के विरूद्ध है।

वस्तुपरिच्छेद - घटो न पटः, पटो न घटः : घट पटादि पदार्थों का परस्पर में जो अन्योन्याभाव है- उसका प्रतियोगित्व घटपटादि पदार्थो में आयेगा। लेकिन निर्विशेष ब्रह्म का तो कहीं भी अन्योन्याभाव सम्भव नहीं होने से तत्प्रतियोगित्व भी इसमें सम्भव नहीं होने से, अर्थात् वह अद्वितीय होने के कारण वह ब्रह्म वस्तुपरिच्छेद के भी विरूद्ध है विभुत्व, नित्यत्व तथा अद्वितीयत्व ये तीनों ब्रह्म के धर्म होने से प्रपञ्च के धर्म जो अनृतत्व, जडत्व, व्यावृतरूपत्व, अविभुत्व अनित्यत्व सद्वितीयत्व इन सभी धर्मों की अपने आप व्यावृत्ति ब्रह्ममें सिद्ध हो जाती है।

एतेन प्रपञ्चधर्माणामनृतत्वजडत्वव्यावृत्तरूपत्वाविभुत्वानित्यत्वसद्वितीयत्वानां व्यावृत्तिः सिद्धा। मलबन्धनदुःखताविरूद्धम् इति जीवधर्माणां व्यावृत्तिः। मलः- कर्तृत्वभोक्तृत्वरागादिलोपोऽशुद्धिः तद्विरूद्धं कर्तृत्वादिलेपशून्यं शुद्धं, बन्धनं धर्माधर्मतत्फलसम्बन्धस्तद्विरुध्दं

मुक्तं, दुःखताविरुद्धं परमानन्दरूपं न तु तदाश्रयः। नापि दुःखरूपस्तदाश्रयो वा। जीवो हि रागादिमलैर्धर्मादिबन्धनेन सुखदुःखाश्रयत्वेन च प्रसिद्धः।

मलबन्धन दुःखताविरूद्धम्- इससे निर्विशेष ब्रह्म में जीव धर्मों की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है।

मलः- कर्तृत्व, भोक्तृत्व। रागादिकका लेपरूप जो अशुद्धि है वही मल है। उसके यह ब्रह्म विरूद्ध है।

बन्धनम्- धर्माधर्म तथा उसके फलके साथ सम्बन्ध होना ही बन्धन है। उसके यह ब्रह्म विरूद्ध है। (विरोधी है)। अर्थात् ब्रह्म मुक्त स्वरूप है दुःखताविरूद्धम्= अर्थात् यह ब्रह्म परमानन्द स्वरूप है, न कि परमानन्द का आश्रय यह ब्रह्म है यह ब्रह्म दुःखरूप अथवा दुःख का आश्रय भी नहीं है। जीव ही रागादिमलों से तथा धर्माधर्म के बन्धन (के कारण) से सुखदुःख का आश्रय प्रसिद्ध है।

अतिनिकटम् इतीश्वराव्द्यावृत्तिः। वादिभिर्हि पराग्रूपः परोक्ष एवेश्वरः कल्पितः। इदं त्वतिनिकटं साक्षादपरोक्षं प्रत्यगात्मस्वरूपमत्यव्यवहितमित्यर्थः। एतेन "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्"। "विमुक्तश्च विमुच्यते" "न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान्" "शुद्धमपापविद्धम्" "एष एव परम आनन्दः" "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" "य आत्मा सर्वान्तरः" "अयमात्मा ब्रह्म" "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" इत्याद्याः श्रुतयोऽसत्यत्वादितत्तद्भ्रमापोहेनाखण्डप्रत्यगभिन्नं ब्रह्म मुमुक्षुजिज्ञास्यं प्रतिपादयन्ति, न तु सत्यत्वादिरूपेण, तस्य निर्विशेषत्वेन सर्वधर्माना-धारत्वादिति प्रतिपादितं भवति। सर्वविशेषणानां समुच्चयमेकेन श्लोकेन वक्ष्यति- "नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः" इत्यादिना। अत्र प्रथमं नगणद्वयवता पुष्पिताग्राख्येन छन्दसाऽर्द्धसमेन कविरीत्याऽपि मङ्गलमाचरितम्। अकारादिपदचतुष्टयोपन्यासश्च श्लोकग्रन्थ-करणकौशलप्रदर्शनाय। प्रणवप्रथमावयवोच्चारणेन मङ्गलातिशयाय च। "अ इति ब्रह्म" "अकारो वै सर्वा वाक्" इति च श्रुतेः।।१।।

अतिनिकटम् : इससे ईश्वर की भी व्यावृत्ति हो गई, क्योंकि ईश्वर भी अतिनिकट नहीं है। जितना कि ब्रह्म सन्निकट है। वादी तार्किक तो ईश्वर को पराग्रूप परोक्षरूप मानते हैं। न कि प्रत्यग्रूप अपरोक्ष रूप ईश्वर को मानते हैं। यह जो ब्रह्म है वह तो अतिनिकट अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष स्वरूप प्रत्यग्रूप (प्रत्यगात्म स्वरूप), अत्यन्त अव्यवहित ऐसा है। इससे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनन्तरमबाह्यम्" सदेव सोम्येदमग्र

आसीदेकमेवाद्वितीयम्"..... निष्कलं निरञ्जनम्" ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्तस्वरूप है, वही ब्रह्म उसका कोई कारण नहीं तथा इसका कोई कार्य नहीं, वह किसी के उत्तरवर्त्ती नहीं और इसके उत्तरवर्ती भी कोई नहीं। यह किसी के अन्दर भी नहीं तथा बाहर भी नहीं। वही सद्रूप ब्रह्म सृष्टि के उत्पति के पूर्व था जो एक तथा अद्वितीय था (इससे स्वगत, सजातीय विजातीय तीनों भेद निवृत्त हो जाते हैं), वही ब्रह्म नित्य, व्यापक, सर्वगत तथा अत्यन्त सूक्ष्म है, मुक्त ही विमुक्त हो जाता है वह ब्रह्म कर्म से वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है। वह शुद्ध तथा पाप से विद्ध नहीं होता है वही ब्रह्म परमानन्द स्वरूप है। वह साक्षात् अपरोक्ष है वही आत्मा सबके अन्दर विराजमान है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। न तो इसका जन्म होता है और न ही मृत्यु। यह ब्रह्म कला से रहित, क्रिया से रहित, शान्त, पाप से रहित अञ्जन (कालिमा) से रहित इत्यादि। श्रुतियां असत्यत्वादि तत् तत् भ्रम को हटाकर अखण्ड प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म जो मुमुक्षु के द्वारा जिज्ञास्य है ऐसा प्रतिपादन श्रुतियां करती हैं। लेकिन ये श्रुतियां उस ब्रह्म का निरूपण सत्यवादी रूप से नहीं करती क्योंकि वह ब्रह्म तो निर्विशेष होने के कारण किसी भी धर्म का आधार न होने के कारण इन सत्यवादी धर्मों का भी आधार नहीं बन सकता। यह बात अपने आप श्रुति से प्रतिपादित होती है। अब सभी विशेषणों का समुच्चय एक ही श्लोक से बोल रहे हैं। नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः (सं० शा० १/१७३) यहाँ ग्रन्थाकार आचार्य सर्वज्ञमुनि जी महाराज पुष्पिताग्र छन्द के प्रथम श्लोक का प्रारम्भ कर रहे हैं। (अयुजिनयुगरेकतो यकारो, युजिच न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा (वृत्त ४/१०) १२ अक्षर वाला यह छन्द जिसमें विषम चरणों में २नगण १रगण तथा बाद में यगण हो। सम चरणों के अन्त में एक गुरू वर्ण हो। इसके पूर्व क्रमशः नगण, २जगण, १रगण हो उसको पुष्पिताग्रा छन्द कहते हैं।

"अनृत जडविरोधि" इस श्लोक को पुष्पिताग्रा छन्द से प्रारम्भित किया। इससे कवि रीति से मङ्गलाचरण संपन्न हुआ। इस श्लोक के चार पाद हैं। इसमें प्रथम पाद का अकार से प्रारम्भ हुआ। इससे विशिष्ट श्लोकों के साथ ग्रन्थ करने की कुशलता प्रदर्शित होती हें इसमें भी ॐकार जो प्रणव-उसका पहला अक्षर अकार, बाद में मकार है तो 'अनृत' में 'अ' अवयव से आरम्भ करा देने से (उच्चारण करा देने से श्लोक के प्रारम्भ करा देने से) मंगल में अतिशयता आ गई है। इस विषय में श्रुतिभी कहती है 'अ इति ब्रह्म' अ ब्रह्म है, अकारो वै सर्वावाक्-अकार ही सब वाणी स्वरूप है।

अवतरणिका : एवं जिज्ञास्य ब्रह्मप्रर्दनेन प्रथमसूत्रार्थो दर्शितोऽतः परं द्वितीय सूत्रार्थः प्रदर्श्यते। पूर्वत्र जगद्धर्माणां जीवधर्माणामीश्वरधर्माणां चापवादो दर्शितः। स चा

अध्यारोपमन्तरेण न सम्भवति, प्रसक्तस्यैव प्रतिषेधार्हत्वादित्यभिप्रेत्याध्यारोपमाह—

अवतरणिकाः इस प्रकार ब्रह्म सूत्र के पहले सूत्र का 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का अर्थ पहले श्लोक में कह दिया, जो जिज्ञासुओं के लिये जिज्ञास्य ब्रह्म है। तद्विषयक बता दिया है। अब द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' इसको द्वितीय श्लोक के माध्यम से सर्वज्ञमुनि जी महाराज कह रहे हैं। पहले तो जगत् धर्मों का, जीवधर्मों का ईश्वर धर्मों का अपवाद बताया है। वह अपवाद अध्यारोप के बिना सम्भव नहीं है। जो प्रत्यक्ष है उसका अपवाद हो सकता है। इस अभिप्राय से अध्यारोप को कह रहे हैं—

स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्व-
जीवत्व भेदकलुषीकृतभूमभावा।
स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिरस्तमोहा।
प्रत्यक्चितिर्विजयते भुवनैकयोनिः।।२।।

अन्वयः— स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीतकृतभूमभावा, स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिः, अस्तमोहा, भुवनैकयोनिः प्रत्यक्चितिः विजयते।

अन्वयार्थः— अपने ही अज्ञान से कल्पित जगत्, परमेश्वरत्व और जीवत्व के द्वारा ब्रह्मभाव दूषित हो चुका है। जिस चेतन की अपनी वस्तुतः स्वामाविक महिमा में स्थिति है जिसका मोह नष्ट हो गया हे, वह प्रत्यक् चिति (अहंकार से उपलक्षित चेतन) तीनों भुवनों के कारण रूप सर्वोत्कृष्ट रूप में विराजमान है।

स्वाज्ञानेति-। स्वस्य स्वस्मिन्यदज्ञानं स्वाश्रयविषयकमविद्यामायाशब्दितमनादि भावरूपमनिर्वाच्यमावरणविक्षेपशक्तिमदज्ञानं तेनावरणशक्त्याऽऽत्मस्वरूपभानं तिरोधाय विक्षेपशक्त्या कल्पितान्यध्यस्तानि यानि जगत् परमेश्वरत्वजीवत्वानि तैरनुयोगित्वेन प्रतियोगित्वेन च तन्निमितो जीवजगद्भेदो, जीवपरमेश्वरभेदो, जीवपरस्परभेदो, जगत्परस्परभेदो, जगत्परमेश्वरभेदश्चेति यः पञ्चविधो भेदस्तेन च कलुषीकृतोऽकलुषोऽपि कलुषः कृतोऽध्यारोपित-दोषेणासत्कल्पनामापादितो भूमा बाहुल्यं यस्य स तादृक्कलुषीकृतभूमा भावः सद्भावा यस्याः सा तथा। जगत् जडत्वात्स्वरूपेणैव कल्पितम्, जीवेश्वरौ तु चैतन्यरूपत्वात्स्वरूपेण सत्यौ, केवलमेकस्मिन्नेव चैतन्ये बिम्बप्रतिबिम्बादिभावेन जीवत्वमीश्वरत्वं च कल्पितमिति बोधयितुं द्वयोः प्रयोगः। चितेर्भावो न कलुषिकृतः, सर्वभासकत्वेन सर्वदा प्रकाशमानत्वात्, किन्तु तत्तद्भेदकल्पनया तदपरिच्छिन्नत्वरूपो भूमैव कलुषीकृतः। पूर्णत्वेनाप्रकाशमानत्वात्। तदुक्तं वार्तिके—

तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते।
अङ्गारांङ्कितमुत्पाते वारिराशेरिवोदकम्।।१।। इति।

भूम्नोभाव इति व्याख्यानमनुपादेयं, बहोर्भावस्य भूमशब्दवाच्यत्वेन भावशब्दवैयर्थ्यापत्तेः। कलुषीकरणेन किं भूमा नाशितो? नेत्याह-स्वाभाविकेति। भूम्नः कलुषीकरणं हि परिच्छिन्नत्वारोपमात्रं, न तु स्वरूपहानिः। आरोपेण वस्तुसत्ताऽनपायात्। 'यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते' (शा० भा०) इति न्यायात्। स्वाभाविकी नित्यसिद्धा, अध्याससहस्त्रेणाप्यपनेतुमशक्या, स्वमहिमस्थितिः स्वरूपाद-प्रच्युतिर्यस्याः सा तथा। तथापि सर्वाध्यासकारणस्याज्ञानस्यानारोपितत्वात्तेनैव द्वितीयेना-द्वितीयत्वरूपो भूमा कलुषः कृत इत्यत आह-अस्तमोहेति। अस्तोऽध्यस्तोऽपरमार्थ-सन्मोहोऽज्ञानाख्यो यस्यां सा तथा। अज्ञानाध्यासस्याप्यज्ञानमूलत्वादनादित्वाच्च नात्माश्रयादिदोषप्रङ्गः। तदुक्तं वार्तिके-

अविद्याऽस्तीत्यविद्यायामेवाऽऽसित्वा प्रकल्पते
ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते। इति।।१।।

ननु अज्ञानाध्यासस्य किमधिष्ठानं? न जीव ईश्वरो वा, अनयोरध्यास-परिनिष्पन्नत्वेनान्योऽन्याश्रयात्। नापरः, तदनिरूपणादित्याशङ्क्याह- प्रत्यक्चितिरिति। प्रतीची जीवेश्वरविभागरहिता चितिः स्वप्रकाशज्ञप्तिः सा भुवनस्याज्ञानसहितस्याध्यस्तस्याकाशादि-प्रपञ्चस्य विवर्त्तस्य योनिः अज्ञानद्वारोपादानम्। एकैव योनिर्न द्वितीयसापेक्षा सत्यत्वेनाज्ञातत्वेन च तस्या एवाधिष्ठानत्वोपपत्तेः। तथा च वक्ष्यति- "आश्रयत्व-विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला" (अ० १ श्लो० ३१६) इति। वार्तिकं च- "आऽऽन्त्यांत्कार्यात्तदेव स्याद्यदाद्यं प्रति कारणम्"। इति। सा च- विजयते परमार्थ-सत्यस्वप्रकाशपरमानन्दरूपत्वेन सर्वोत्कृष्टा भवति। अतस्तां प्रत्यस्मि प्रणत इति ध्वन्यते। तस्मादेवमध्यारोपसम्भवादनृतजडविरोधीत्यादिना तदपवादो युक्त एव। भुवनैकयो-निरिति तटस्थलक्षणं, प्रत्यक्चितिरिति स्वरूपलक्षणमिति विवेकः। एतेन मिथ्याप्रपञ्चो-पादानत्वेन तत्पदवाच्यनिरूपणात् "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० अ० १ पा० १ सू० २) इति व्याख्यातम्।।२।।

संसार अज्ञानमूलक ही है, प्रत्यक् चिति में उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अज्ञान अनादि होने के कारण आत्माश्रयादिदोषों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिये वार्तिककार कहते हैं

स्वाज्ञान : आत्मविषयक अनादि, अनिर्वचनीय, भावरूप, माया, अविद्यादि नामों से प्रचलित अज्ञान, आवरण और विक्षेप शक्ति से युक्त होकर पहले तो वह आवरण शक्ति से आत्मा को ढक देता हे, बाद में विक्षेप शक्ति के सहारे जगत्, परमेश्वर, जीवत्वादिक की कल्पना करके, तन्निमित्तता= इन्हें निमित्त बनाकर जीवजगद्भेद, जीवपरमेश्वरभेद, जीवजीवभेद, जगद्जगद्भेद तथा जगत् परमेश्वरभेद- इस प्रकार के पांच भेदों का निर्माण करता है।

भेद : उस भेद से कलुषितकृतः= जो अकलंकित आत्मा है उसे भी अध्यारोपित दोष के कारण कलंकित सा कर देता है। भूमा= बाहुल्यता से (विभुत्व से) भावः- सद्भावो यस्याः सा तथा जिस भूमा का कलुषित स्वरूप किया है ऐसी भूमा- वह विभुत्व युक्त जिस शुद्ध आत्मा की स्थिति है। जगत्जड़ होने से स्वाभाविक कल्पित है, जीव और ईश्वर तो चैतन्यरूप से सत्य ही है! केवल चैतन्य में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से दोनों कल्पित हैं। इस बात को बताने के लिये ही जीवत्व ईश्वरत्व दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। चैतन्य के ज्ञानांश को अज्ञान कलुषित नहीं करता है। क्योंकि ज्ञान तो सबका ही भासक होने के कारण तथा सदा ही प्रकाशमान होने के कारण कभी भी कलुषित नहीं हो सकता। किन्तु उक्त पञ्च भेदों के द्वारा अपरिच्छिन्न रूप को अज्ञान कलुषित करता है। अर्थात् पूर्णत्व रूप से अप्रकाशमानत्व ही कलुषीकृतत्व है। इस पर वार्तिककार भी कहते हैं—

तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते।

अङ्गराङ्कितमुत्पाते वारिराशेरिवोदकम्। (बृ० वार्तिक अ० ३/५/४५)

अविद्या उपाधि के द्वारा एक ब्रह्म भासमान चैतन्य जगत् के नानाविषयों के आकार में भासमान होता रहता है। जिस प्रकार से अग्नि के सम्पर्क से उत्पन्न तूफानी वायु दावानल से भी भयंकर होती है उसके सम्पर्क से समुद्र का जल ज्वार भाटा, तरङ्ग, लहरें तथा समुद्र का खौलना आदि रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार से अविद्या के सम्पर्क से ब्रह्म का भासमान चैतन्य नाना रूप में परिणत हो जाता है। "एकोऽहं बहु स्याम्" प्रजायेय।

भूमा का भाव ऐसा व्याखान नहीं है क्योंकि भूमा शब्द बहुभाव परक है। तो भाव शब्द की व्यर्थता हो जाती हैं

आशंका= कलुषित होने से क्या भूमा नष्ट होगी?

समाधान= भूमा स्वरूप चैतन्य कलुषित करने का फल यही कि परिच्छिन्नत्व का आरोप ही हुआ, न कि भूमा स्वरूप चैतन्य ही हानि होती है। आरोप से वस्तुसत्ता का

अपलाप नहीं हो सकता। 'यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणाऽपि स न सम्बध्यते (शा० भा०) जो पदार्थ जिसमें अध्यस्त होता है तो अध्यस्तपदार्थ के दोष से अथवा गुण से अधिष्ठान थोडासा भी लिप्त नहीं होता है

स्वाभाविकी : वह भूमा स्वरूप ब्रह्म नित्य सिद्ध ही है। हजारों अध्यासों से उसमें अणुमात्र भी फरक (अन्तर) आने वाला नहीं है।

स्वमहिमस्थिति : अपने स्वरूप से यत्किञ्चिद् भी वह चैतन्यस्वरूप भूमा हटती नहीं है।

आशंका:= अज्ञान अनारोपित होने के कारण ब्रह्म से उसकी सत्ता अलग हो जाने से 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' सिद्धान्त की हानि होगी तथा ब्रह्म में कलुषित भाव भी आयेगा।

समाधान : नहीं, क्योंकि अस्तमोहेति= अस्त-अध्यस्त अर्थात् अपरमार्थ रूप है, मोहो= अज्ञान शब्द वाच्य भूमा में अध्यस्त है। ऐसा यह अज्ञान तथा अज्ञानाध्यास अज्ञानमूलक हीं है, प्रत्यक्‌किचति में उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अज्ञान अनादि होने के कारण आत्माश्रयादि दोषों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये वार्तिकार कहते हैं।

अविद्याऽस्तीत्यविद्यायामेवऽऽसित्वा प्रकल्पयते।

ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते।

अविद्या है: इस बात से अविद्या में ही अविद्या की स्थिति द्योतित होती है। बाकी ब्रह्म दृष्टि से तो अविद्या की किसी भी प्रकार की स्थिति बन ही नहीं पाती है।

आशंका= अज्ञान अध्यस्त का अधिष्ठान कौन?

समाधान= प्रत्यक्‌चितिरिति= जीव ईश्वर विभाग से रहित शुद्ध चैतन्य ही अज्ञान का अधिष्ठान है। चितिः' स्वप्रकाशज्ञप्ति ही चिति है। वह ही, भुवनस्य= अज्ञानसहित आकाशादि प्रपञ्च की विवर्त रूप की योनि : अज्ञान द्वारा उपादान कारण है। इसीलिये कहा है 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला। (सं०शा ३१६) यह अज्ञान ब्रह्म के आश्रित रहकर ब्रह्म को ही विषय बनाता है। वार्तिककार भी कहते हैं। आऽऽन्यात्कार्यात्तदेव स्याद्यदाद्यं प्रतिकारणम्' जो वस्तु कार्य के अंतिम तक रहती है। वही वस्तु उस वस्तु का पहला कारण मानी जाती है। (जैसे मृत्तिका घट के अंतिम तक रहती है तो वह घट का पहला कारण है) तो ऐसी वस्तु केवल शुद्ध चेतन ही है वह चेतन= सा च विजयते= वह भूमा स्वरूप चेतन परमार्थ सत्यस्वरूप, स्वप्रकाशस्वरूप, परमानन्दस्वरूप से सर्वोत्कृष्ट (विजयरूप) हो जाती है। इसलिये= प्रत्यस्मि प्रणतः= मैं उसे नमस्कार करता

हूँ। अतः अनृतजडविरोधी- इसका अनृतादिक का प्रथम चेतन स्वरूप में आरोप करके बाद में अपवाद करना युक्तियुक्त है।

भुवनैकयोनिरिति= तटस्थलक्षणम्। यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है और 'प्रत्यक्चितिरिति' यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। इससे मिथ्याप्रपञ्च का उपादानरूप तत्पदवाच्य विशिष्ट ब्रह्म का निरूपण संपन्न हुआ, 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र०सू०१/२) का व्याख्यान हुआ।

एवं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं च विषयमुक्त्वा प्रयोजनकथनाय वाक्यार्थमाह-

अवतरणिका= इस पकार से त्वं पदार्थ तथा तत्पदार्थ के विषय कहने के बाद दोनों का एक वाक्यत्व रूप प्रयोजन निरूपण करने के लिये 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्र की व्याख्या तृतीय श्लोक में कर रहे हैं—

प्रत्यक्प्रमाणकमसत्यपराक्प्रभेदं
प्रक्षीणकारणविकारविभागमेकम्।।
चैतन्यमात्रपरमार्थनिजस्वभावं
प्रत्यञ्चमच्युतमहं प्रणतोऽस्मि नित्यम्।।३।।

अन्वयः= प्रत्यक्प्रमाणकम्, असत्यपराक्प्रभेदं, प्रक्षीणकारणविकारविभागम्, चैतन्यमात्रनिजस्वाभवम् एवं पत्यञ्चम्, अच्युतं अहं नित्यं प्रणतोऽस्मि।

अन्वयार्थः= प्रत्यक् स्वरूप ही जिसमें प्रमाण है, पराग्रूप बुद्धि, इन्द्रिय, प्रपञ्च का भेद जिसमें है, जिसमें माया तथा उसका कार्य आकाशादि प्रपञ्च दोनों का कार्यकारण भाव ज्ञान से बाधित होता है, चैतन्य ही जिसका वास्तविक स्वरूप है, जो एक है, ऐसे प्रत्यगात्मा से अभिन्न स्वरूप परमपद को मैं नित्य प्रमाण करता हूँ।

प्रत्यगिति। प्रत्यञ्चमिति त्वंपदार्थः। अच्युतमिति तत्पदार्थः। एकमिति तयोरगौणमैक्यं वाक्यार्थः। तमहं श्रवणादिपरिपाकवशात् स्थितप्रज्ञो नित्यं सर्वदा प्रणतोऽस्मि देहेन्द्रियादिप्रतिभासावस्थायां प्रह्वीभावेन पूजयामि।

ननु कथमेकत्वं मुख्यं, सत्यज्ञानाद्यपुनरुक्तानेकशब्दप्रतिपाद्यत्वादित्यत आह- चैतन्येति वाच्यार्थे भेदप्रतिभासेऽपि चैतन्यमात्रस्यैव परमार्थानौपाधिकस्वभास्य लक्ष्यत्वान्नैक-वाक्यविरोध इत्यर्थः। चैतन्यमात्रमेव परमार्थोऽत्यन्ताबाध्यः, परमानन्दरूपत्वेन परमप्रयोजनरूपो वा निजोऽनुपाधिकः स्वभावः स्वरूपं यस्य तमित्यक्षरार्थः। ननु जीवस्य कार्यकारणादि-विभागवत्त्वेन सद्वितीयत्वादीश्वरस्य च परोक्षत्वेन पराक्त्वात्कथं तयोरैक्यमिति तत्राह- प्रक्षीणेति। असत्येति च। प्रक्षीणः प्रज्ञानेन बाधितः प्रमातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूपः

कारणविकारविभागो हेतुफलसन्तानो मायाऽऽकाशादिप्रपञ्चो वा यस्मिंस्तं निर्विभागं संसारदशायामपि परमार्थतो द्वैतरहितमित्यर्थः। एवमसत्यः सर्वथा बाधितः पराग्रूपेणाह-मितिव्यपदेशानर्हत्वेन प्रत्यग्रूपाद्भेदो यस्मिंस्तं साक्षादपरोक्षमित्यर्थः। प्रतीचोऽद्वितीयाच्युताभेद-बोधफलं प्रक्षीणेति। अच्युतस्यापरोक्षप्रत्यगभेदबोधफलम् असत्येति विवेकः। ननु प्रक्षीणकार्यकारणविभागस्य प्रमातृत्वादिशून्यस्य प्रमाणाभावादसिद्धिः। प्रमाणाभ्युपगमे च कार्यकारणविभागापत्तिरित्याशङ्क्याह- प्रत्यक्प्रमाणकमिति। प्रत्यक्स्वरूपमेव प्रमाणं यस्मिंस्तं, स्वप्रकाशचैतन्यरूपतया स्वभिन्नमानानपेक्षं स्वत एक सिद्धमित्यर्थः। एतेनाखण्डवाक्यार्थ-कथनात् "तत्तु समन्वयात्" (ब्र०सू०अ०१ पा०१ सू० ४) इति व्याख्यातम्। वसन्ततिलकावृत्तम्।।३।।

अनुवादः प्रत्यगिति= प्रत्यञ्चमिति=त्वं पदार्थ है। अच्युतमिति= तत्पदार्थ है। एकमिति= दोनों त्वं जीव और तत् (ब्रह्म) की एकता ही मुख्य वाक्यार्थ है। उस एकता को, अहम्= मैं स्थित प्रज्ञ ऐसा ज्ञानी श्रवणादिपरिपाकवशात् ऐसे स्थितप्रज्ञका, नित्यं=सर्वदा, प्रणतोऽस्मि= देहेन्द्रियादि की प्रतिभासात्मक अवस्था को लेकर मैं नम्रतापूर्वक पूजन करता हूँ।

आशंका= जीव और ब्रह्म की एकतारूप मुख्य वाक्यार्थ नहीं हो सकता क्योंकि सत्यज्ञानादि अनेक बार कथन हुआ है। (पर्यायवाची शब्दों की एकार्थता तो देखी गई है जैसे घट, कलश आदि शब्दों से। लेकिन अपर्यायवाची शब्दों की एकार्थता कहीं देखी नहीं गई। नहीं तो घटपटादि अपर्यायवाची शब्दों से भी एकार्थता की प्रतीति होने लगेगी)

समाधानः चैतन्येति= वाच्चार्थ में भेद प्रतिभासित होने पर भी लक्ष्यार्थ में अनौपाधिक रूप से चैतन्यमात्र का ही बोध होता है। अतः मुख्य एकार्थ का कहीं भी विरोध नहीं होता। चैतन्यमात्र कथन से चैतन्य में अत्यंत अबाध्यत्व द्योतित होता है और परमानन्द रूपत्व कथन से परम प्रयोजन की अनौपाधिक स्वरूप की प्राप्ति द्योतित होती है।

आशंका : जीव कार्य कारणादि भाव से युक्त है, तथा वह अलग है (भेदयुक्त है), एवं ईश्वर जीव से अलग तथा परोक्ष है, तो दोनों की एकता कैसे सम्भव होगी?

समाधान : प्रक्षीणेति= असत्येति- तत्त्वज्ञान से प्रमातृत्व-कर्तृत्वादिक का बाध हो जाता है। कारणविकारविभागो= कारण अर्थात् हेतु, कार्य अर्थात् फलादि, सन्ततिः- प्रवाहरूपी सन्तति, अर्थात् माया तथा उसका कार्य आकाशादि प्रपञ्चका बाध हो जाने पर संसार दशा में भी, निर्विभाग-वास्तविक द्वैतरहित शुद्ध चेतन ही, चितिरेव केवला= बाकी रहता है। इसी प्रकार असत्यः- सर्वथा बाधित होने से पराग्रूप से "अहमिति" मैं हूँ। ऐसा निर्देश

नहीं होने से फिर तो प्रत्यग्रूप से अहं का भेद भी बाधित हो जाता है. क्योंकि वह प्रत्यगात्मा ब्रह्म से अभिन्न रूप साक्षात् अपरोक्ष स्वरूप ही है। इस प्रकार अच्युत के साथ शुद्ध चैतन्य के साथ प्रत्यगात्मा का परोक्षत्व रूप भी चैतन्य भाव करके समाप्त हो जाता है। इसका फल है असत्येति- विवेक हो जाता है जिसमें सारे भेद (बाधित) समाप्त हो जाते हैं। ऐसी जीव ब्रह्म की एकता को मैं नमस्कार करता हूँ।

आशंका= कार्यकारण की समाप्ति जीव मेंत्वं पद में हो जाती है, जिसमें प्रमातादि भाव भी नहीं रहा। इसकी सिद्धि प्रमाण के बिना नहीं हो सकती। यदि प्रमाण सिद्धि होती है तो इससे कार्यकारण विभाग सिद्ध होगा क्योंकि कारण हुआ प्रमाण और कार्य हुआ प्रमेय, तो कारण कार्य विभाग सिद्ध होगा।

टिप्पणी : पराग्रूप का (आत्मा से भिन्न का) सर्वथा बाध होने पर- पराग्रूप से अहं का बोध तो होगा नहीं साथ में आत्मा साक्षात् अपरोक्ष होने से प्रत्यग्रूप से भी उसका भेद नहीं होने से भेद बाधित होगा।

समाधान : प्रत्यक् प्रमाणमिति= स्वप्रकाश स्वरूप चैतन्य ही इसमें प्रमाण है, अन्य और किसी जड़ प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् कार्यकारण राहित्य में स्वप्रकाश स्वरूप चैतन्य ही प्रमाण है। इससे अखण्ड वाक्यार्थ कथन अपने आप सिद्ध हो जाता है। "तत्तु समन्वयात्" (ब्र. सू. १/१/४) इससे तत्तु समन्वयात् सूत्र की व्याख्या पूर्ण हो गई।। वसन्ततिलका वृत्तम्।।३।।

एवं त्वंपदार्थस्तत्पदार्थोऽखण्डवाक्यार्थश्चेति शास्त्रस्य प्रमेयमुक्तम्। अधुना तत्प्रमाणं वेदान्तवाक्यं दर्शयितुं निखिलवेदाभिमानिनीं- वाग्देवतां प्रणमति-

अनुवाद- अब प्रकृत में आचार्य सर्वज्ञमुनिजी महाराज चौथे श्लोक के द्वारा शास्त्रयोनित्वात् इस ब्रह्मसूत्र के तीसरे सूत्र की व्याख्या करने जा रहे हैं। वेदान्त शास्त्र का प्रमेय त्वं पदार्थ तथा अखण्ड वाक्यार्थ बोध है। इसमें प्रमाण वेदान्तवाक्य ही तो है। इसलिये सम्पूर्ण वेदाभिमानिनी वाग् देवता को नमस्कार करते हैं।

औत्पत्तिकी शक्तिरशेषवस्तु।
प्रकाशने कार्यवशेन यस्याः।।
विज्ञायते विश्वविवर्तहेतो।
र्नमामि तां वाचमचिन्त्यशक्तिम्।।४।।

अन्वय– विश्वविवर्तहेतोः यस्याः कार्यवशेन अशेषवस्तुप्रकाशने औत्पतिकी शक्तिः विज्ञायते, ताम्

वाचमचिन्त्यशक्तिं (वाचं) अहं नमामि।

अन्यवार्थ : विश्वविवर्त हेतुभूत वाणी की जिस वैदिक प्रमारूप कार्य को देखकर सम्पूर्ण वस्तु ज्ञान का प्रकाशन करने में स्वाभाविकी शक्ति का पता चलता है। ऐसी अचिन्त्य शक्तियुक्त वाणी को मैं नमस्कार करता हूँ।

औत्पत्तिकीति। "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० अ० १ पा० १ सू० ३) इति सूत्रे हि प्रथमेन वर्णकेन ब्रह्मणो वेदोपादानत्वं, द्वितीयेन तु वर्णकेन ब्रह्मणि तस्य प्रामाण्यं दर्शितं, तदुभयमप्यनेन प्रदर्श्यते। विश्वः सर्वोऽपि प्रपञ्चो विवर्तोऽतत्त्वतोऽन्यथाभावः, कारणसत्तया सत्तावान्, कारणप्रकाशेन च प्रकाशवान् यस्य स सर्वसत्तास्फूर्तिप्रदः परमात्मा विश्वविवर्तः, स एव हेतुरुपादानं यस्याः, सर्वप्रकाशशक्तिमत्परमेश्वरोपादानकत्वेन सर्वप्रकाशनफलयोगिन्याः अखिलवस्तूनामिक्षुक्षीरादिमाधुर्यादीनामपि प्रकाशने नानाविधाभिर्वृत्तिभिरौत्पत्तिकी- अकृत्रिमा शक्तिः प्रतिपादकतारूपा प्रतिपत्तिरूपकार्यवशेन वृद्धव्यवहारेषु विज्ञायते तर्ककुशलैर्यस्या वेदलक्षणाया वाचस्ताम्। "कथमेतस्या ईदृशं सामर्थ्यम्" इति चिन्तयितुमशक्या शक्तिः प्रभावो यस्यास्तामहं नमामीति सर्वप्रकाशनशक्तिमत्परमेश्वरोपादानत्वं वेदस्य सर्वप्रकाशनसामर्थ्ये हेतुरिति प्रथमवर्णकार्थः। शेषः परार्थः, न शेषोऽशेषः सर्वपुरूषार्थः, तादृशं सर्वशेषिभूतं वस्तु परमार्थसद्यद् ब्रह्म तत्प्रकाशने तदाकरवृत्त्युत्पादनेन तदज्ञानावरणापनये यस्या वेदलक्षणाया वाचः औत्पत्तिकी शक्तिः कार्यवशेन ब्रह्मसाक्षात्काराख्यकार्यलिङ्गेन विज्ञायते। कीदृश्याः? विश्वविवर्तस्य कृत्स्नप्रपञ्चस्य हेतोः कारणभूतायाः "एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत असृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः" इति छान्दोग्यब्राह्मणश्रुतेः।

आनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।। इति।
नाम रूपञ्च भूतानां कर्मणाञ्च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः। इति च मनुस्मृतेः।

''शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'' (ब्र० सू० अ० १ पा० ३ सू० २८) इति सुत्रे श्रुतिस्मृती एवैते प्रत्यक्षानुमानशब्दाभ्यामुक्ते।

ननु ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' इति सर्ववागगोचरत्वश्रुतेः कथं तादृशे ब्रह्मणि वाचः शक्तिरिति तत्राह- अचिन्त्यशक्तिमिति। तां नमामीति च

पूर्ववत्। यथा च लक्षणया वा मुख्यवृत्त्या वोभयाभावेऽपि स्वत एव षड्विधतात्पर्य-लिङ्गोपेतोपनिषन्निर्विशेषमपि ब्रह्म बोधयति, तथा विस्तरेण स्पष्टतरमुपरिष्टात्तत्प्रदर्शयिष्यते। तदेवं निर्विशेषं ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यमेव प्रमाणमिति द्वितीयवर्णकार्थः। एवं प्रत्यग्ब्रह्मैक्याख्यविषयेण समं प्रतिपाद्यप्रतिपादकलक्षणः सम्बन्धो वेदान्तानां दर्शितः। वेदान्तवच्चतुर्लक्षणमीमांसाख्यशास्त्रस्य शास्त्रवत्तत्प्रकरणस्यास्येति द्रष्टव्यम्। इन्द्रवज्रो-पजातिवृत्तम। चतु-सुत्र्यर्थकथनेन मङ्गलम्।।४।।

औत्पत्तिकीति= "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र. सू. १/१/३) इस सूत्रके प्रथम वर्णक शास्त्र इस शब्द से ब्रह्म में वेदोपादानत्व सिद्ध होता है। और योनित्वात्- इस द्वितीय वर्णक से ब्रह्म में शास्त्र की प्रमाणता सिद्ध होती है। ये दोनों ही अर्थ एक ही सूत्र से प्रदर्शित होते हैं। विश्व- सब प्रपञ्च। विवर्तो- अधिष्ठानसे अन्यथार्थरूप से अन्यथा भाव- जैसे रस्सी में सर्प। विश्वविवर्त- कारण सत्ता से सत्तावान् कारण प्रकाश से प्रकाशवान् ऐसा जो सब को सत्तास्फूर्ति देने वाला परमात्मा है उसी का विश्वविवर्त है। वही परमात्मा हेतु- उपादान कारण जिस वाचिक शक्ति का है। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के उपादान कारण होने से ही सभी पदार्थों का प्रकाशन करने में वाणी ऐसी समर्थ हुई। उसी वाणी से गन्ने के रस में माधुर्यता, दूध में माधुर्यता का भी प्रकाशन हो जाता है। यही वाणी कहीं शक्तिवृत्ति से, कहीं लक्षणा वृत्ति से, तो कहीं गौणी वृत्ति से अनेक वृत्तियों के माध्यम से इस वाणी में, औत्पत्ति की= अकृत्रिम रूपा शक्ति है। जो प्रतिपादक रूपा उत्तमवृध्द में तथा प्रतिपत्तिरूप कार्यवशाधीन मध्यम वृद्ध में "गामानय" इत्यादि व्यवहारों से देखी गई है। इस वाणी में इतना सामर्थ्य कैसे आया? इसका उत्तर यह कि सर्वशक्तिमान् शक्तिसंपन्न परमेश्वर ही इस वाणी का उपादान कारण हो तो उस वाणी में क्यों न ऐसी विशेषता हो। इस प्रकार प्रथम वर्णन का अर्थ हुआ। शेष= परार्थ, न शेषो अशेषः सर्वपुरुषार्थ भूत, सबका शेषी स्वरूप ऐसा जो ब्रह्म वही परमार्थ सत् है। उसका प्रकाशन करने में- अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ आवरणात्मक वृत्ति का भङ्ग अहं ब्रह्मास्मि" आदि महावाक्य जन्य वृत्तिकराती हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार रूप हेतु से जानी जाती है।

वह कौनसी वाणी है? विश्वविवर्त हेतोः-सम्पूर्ण प्रपञ्च की कारणीभूत ऐसी जो वाणी उसीका वर्णन करते हैं। परमात्मा से वेद वाणी, और वेदवाणी से सब प्रपञ्च निकला इसमें प्रमाण रूप से बताते हैं।

"एत इति वै प्रजातिर्देवानसृजात असृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशय इति स्त्रोतं विश्वानीति शरुममिकिसोभगेत्यन्याः प्रजाः इति श्रुतिः।।

इसी वाणी से देवताओं का स्मरण करके प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की, असृग्रमिति मनुष्यान्= रुधिर रक्तप्रधान देह के अभिमानी असृग्र अर्थात् मनुष्य का स्मरण करके मनुष्य की सृष्टि वाणी से की। इन्दुः चन्द्रमण्डलमें रहने वाले पितरों का वाचक यह शब्द है। तो पितरों का स्मरण करके पितरों की सृष्टि की, तिरःपवित्रम्= पवित्र सोमस्थान का अपने में तिरस्कार करने वाले ग्रहों का स्मारक यह पद है। अर्थात ग्रहों का स्मरण करके ग्रहों की सृष्टि की, "आशु" यह शब्द ऋच्यव्यूढ श्रुति के अनुसार ऋचा में व्याप्त होने वाले गानरूप स्तोत्रोंका स्मरण करके स्तोत्रों की सृष्टि की। "विश्व" शब्द शास्त्रों का स्मारक है। अर्थात् शास्त्रों का स्मरण करके शास्त्रों की सृष्टि की। "अभिसौभागा" सौभाग्य युक्त प्रजा का स्मारक है। अर्थात अन्य सौभाग्य युक्त प्रजा का स्मरण करके अन्य प्रजा की सृष्टि वाणी से की। इसीप्रकार से—

अनादि निधना नित्या वागत्सृष्टया स्वंयभुवा।
आदोवेदमयी यतः सर्वाः प्रवृत्तयः (भ० गा० २३३/२८)

सृष्टि के आरम्भ में स्वंयभू ने अनादि, नित्य और दिव्य वेदमयी वाणी का उत्सर्ग किया (यह उत्सर्ग सम्प्रदाय परर्वतनरूप ही है अन्य प्रकार से नहीं) इससे अन्य सृष्टियां हुई।

नामरूपञ्च भूतानां कर्मणाञ्चप्रवर्तनम्
वेदेशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।।मनुस्मृति।।

महेश्वर परमात्मा ने वेद से ही नाम, रूप तथा कर्म में प्रवृति बनाई। इसमें क्या प्रमाण है- तो "शब्दइति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (ब्र० सू० १/३/२८) प्रत्यय स्वरूप श्रुति तथा अनुमान स्वरूप स्मृति है। इसमें क्या प्रमाण है।

आशंका= ब्रह्म का साक्षात्कार कराने में तो किसी की भी सामर्थ्य नहीं है। "यतो वाचो निवर्तन्ते" तो फिर वेद वाणी की यहां सामर्थ्यता कैसी।

समाधान= अचिन्त्यशक्तिरिति= लक्षणावृत्ति अथवा शक्तिवृत्ति इन दोनों वृत्तियों के रहने पर भी १) उपक्रम उपसंहार २) अभ्यास ३) अपूर्वता ४) फल ५) अर्थवाद ६) उपपत्तिःरूप षड्विधतात्पर्यलिङ्ग से निर्विशेषण ब्रह्म का बोध हो जाता है इस प्रकार द्वितीय वर्णन का अर्थ हुवा।

इस प्रकार जीवब्रह्मैक्य विषय के साथ वेदान्त शास्त्र प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध दिखाया है। वेदान्त शास्त्र के समान अधिकारी, विषय, प्रयोजन, सम्बन्धरूप चर्तुलक्षण मीमांशा शास्त्र चतु सूत्री में पाया। वेदान्त शास्त्र के समान इस ग्रन्थ में भी वैसा ही

है जैसा वेदान्त शास्त्रों में होता है। इस ग्रन्थ में इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजातिवृत्तनामक प्रकार के छन्द आयेंगे। प्रारम्भ में चतुसूत्री का अर्थ कथन से वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल संपन्न हुवा।।

अथ विघ्नेश्वरं प्रसादयति-

विघ्नेश्वर विनायक को प्रसन्न कर रहे हैं।

आरम्भाः फलिनः प्रसन्नहृदयो यश्चेत्तिरश्चामपि
नो चेद्विश्वसृजोऽप्यलं विफलतामायान्त्युपायोद्यमाः।
विश्वैश्वर्यमतो निरङ्कुशमभूद्यस्यैव विश्वप्रभोः
सोऽयं विश्वहिते रतो विजयते विघ्नेश्वरो विश्वकृत्।।५।।

अन्वय= यः प्रसन्न हृदयः चेत् तिरश्चामपि प्रारम्भाः फलिनः (भवन्ति), स विश्वहिते रतः नोचेत् विश्वसृजोऽपि उपायोद्यमाः अलं विफलताम् आयान्ति। अतः यस्यैव विश्वप्रभोः ऐश्वर्यं निरङ्कुशं अभूत् (सः) विश्वकृत् विश्वहितेरतः विघ्नेश्वरो विजयते"

अन्वयार्थः= विनायकजी यदि प्रसन्न हो जाय तब तो पक्षीयोनिगत जीवों के भी उद्यम सफल हो जाते हैं, नहीं तो ब्रह्मा का भी प्रयत्न निष्फल हो जाता है। इससे इस विश्वप्रभु का ऐश्वर्य सर्वथा स्वतन्त्र है यह विश्वहित करने वाले, विश्वकर्ता, भगवान् गणेश सर्वश्रेष्ठ विराजमान् हम सब पर दया करें, अनुग्रह करें।। (हम सबकी रक्षा करें।)

आरम्भा इति। यश्चेत्प्रसन्नहृदयोऽनुग्राहकः तदा तिरश्चामपि सुग्रीवहनुमत्प्रभृतीनामारम्भा अभिमतक्रियोद्यमाः फलिनः फलाव्यभिचारिणः सातिशयफला वा भवन्ति। नित्ययोगेऽतिशायने वा तद्धितः। नो चेत्प्रसन्नहृदयस्तदा विश्वसृजो ब्रह्मणोऽपि किमुतान्येषामलमत्यर्थमपि ये फलोपायविषया उद्यमास्ते विफलतां व्यर्थतां यान्ति। ब्रह्मणोऽप्यभिमतभङ्गो वत्सहरणादौ स्मर्यते। अत एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां विश्वस्मिन्नैश्वर्यं निग्रहानुग्रहसामर्थ्यं विश्वप्रभोः सर्वप्रशासितुः "भीषास्माद्वातः पवते" इत्यादिश्रुतिसिद्धस्य यस्यैव निरङ्कुशमप्रतिहतमभूत्सोऽयं विश्वकृद् विघ्नतदभावादिकृत्स्नप्रपञ्चकृद्भगवानेव विघ्नेश्वरः श्रीगणेशरूपेणावतीर्णो विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तमानोऽस्माननुगृह्णात्वित्यर्थः। तस्याभक्तविघ्नकारिणोऽपि भक्तविघ्ननिवारणायावतारे हेतुर्विश्वहिते रत इति। कृपैव तस्यावतारे कारणमित्यर्थः। तस्य सर्वान्प्रत्येकरूपत्वेऽपि तद्भजनाभजनयोरेव विषमफलस्वभावत्त्वान्न वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्ग इति भावः। शार्दूलविक्रीडितम्।।६।।

आरम्भाः- यश्च= गणनायक गणेशजी महाराज जब, प्रसन्न हृदयो= जिसपर प्रसन्न

चित्तवाले हो जाते हैं तब, तिरश्चामपि= सुग्रीव, हनुमान तथा जटायु जैसे पक्षीयोनियों में जन्म लेने वालों की भी, आरम्भाः= अभीष्टफल के उद्देश्य को लेकर प्रारम्भित की हुई क्रिया भी, फलिनः= फलदायक होती है। और जिसपर गणेशजी महाराज प्रसन्नचित्त नहीं होते, तब तो विश्वसृजोऽपिअलं= ब्रह्मदेव भले ही क्यों न हो उनको भी अपनी अभिष्टफल को लेकर प्रारम्भ की हुई क्रिया से सफलता प्राप्त नहीं हो पाती है। विफलता-मायान्त्युपायोद्यमाः= उनके उद्यम विफलता में परिणत हो जाते हैं। फिर अन्य जीवों की तो बात ही क्या है? गणेश जी महाराज प्रसन्न नहीं हुए तभी तो ब्रह्मदेव ने भगवान् श्री कृष्ण के गौवें बछड़े चुरा लिये जिससे भगवान् का फजिता हो जाय। लेकिन अपना खुद का ही उनका फजिता हो गया। विश्वस्मिनैश्वर्यं= सारे विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि निग्रह करना तथा, भक्तों पर अनुग्रह करना। विश्वप्रभो= विश्व का प्रशासन करने वाले- "भीषास्माद्वातः पवते" इत्यादि श्रुतियां प्रमाण है। निरङ्कुशम्- अप्रतिहत- बिना रूकावट का, सोऽयं-विश्वकर्ता-विघ्नहर्ता, विघ्नेश्वरः= गणेशरूप में अवतीर्ण विजयते- सभी उत्कर्षों के साथ हमारे पर अनुग्रह करें। रतः= दुष्टजनों के लिये विघ्न करने वाले गणेश जी महाराज भक्तजनों पर अनुग्रह करने वाले हैं। भक्तोंपर कृपा करने की उनकी भावना ही उनके अवतार का कारण है। भगवान् गणेश सबके प्रति एक रूप होने पर भी जीवों में भजन, तथा अभजन भाव को लेकर फल प्रदान करने में गणेश जी महाराज भी विषमता बरतते हैं। इसका कारण जीवों की अपनी अपनी भूमिका ही है। अतः उनमें वैषम्यादि दोष नहीं है।

अतः परं सूत्रभाष्यकारवार्तिककारान्गुरूपूर्वक्रमेण पूजयति त्रिभिः। तत्र रत्नाकर-रूपकेण भगवन्तं व्यासं विष्ण्ववतारं सूत्रकारं प्रथमगुरूं स्तौति-

इसके बाद सूत्रकार विष्णु अवतार व्यास जी महाराज, भाष्यकार-आद्यजगद्गुरू भगवान् शंकराचार्य जी महाराज एवं वार्तिककार सुरेश्वराचार्य जी महाराज तीनों गुरुजनों की क्रम से एकएक श्लोक के द्वारा स्तुति करते हैं।

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्तरङ्गा।
वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः।।
रत्नानि तर्कप्रसरप्रकाराः
पुनत्वसौ व्यासपयोनिधिर्नः।।६।।(उपजाति)

अन्वयः= यस्य विस्तारा वाक् बृहत्तरङ्गा, वस्तुनि तत्त्वबोधः, वेलातटम्, रत्नानि तर्क प्रसरप्रकाराः असौ व्यासपयोनिधि नः पुनातु।।

अन्वयार्थः= जिनका उपदेश महान तरंग है ब्रह्म वस्तु का यथार्थ बोध तट प्रान्त है, तर्कप्रभेद रत्न ही, ऐसा है व्यासरूपीमहासागर हम सबको पावन करें।

वाग्विस्तरा इति। व्यास एव पयोनिधिः महत्त्वपवित्रत्वगम्भीरत्वस्वच्छत्वादिसाम्यात्, तस्य च पयःस्थानीया वेदा एव द्रष्टव्याः। वाचां तरङ्गोक्तेर्व्यासशब्देन वेदव्यसन गुणोपन्यासाच्च। "दृष्टमात्राः पुनन्त्येते राजा भिक्षुर्महोदधिः" इति स्मृतेः। स नः पुनातु पापमलरहितान्करोत्वित्युक्तम्। यस्य वेदपयसः श्रीव्यासपयोधेर्वाचो वेदलक्षणाया ये विस्तरास्तत्तच्छाखाभेदास्त एव बृहन्तस्तरङ्गाः विस्तरबृहच्छब्दाभ्यां संक्षिप्ता वाक् सूक्ष्मतरङ्गा इति द्योतितम्। वेलायास्तीरस्य तटं प्रांतदेशस्तस्यैव तरङ्गवेगावसानभूमित्वाद्वस्तुनि ब्रह्मात्मैक्ये तत्त्वबोधः, शिष्याणामिति शेषः। सूत्रकारस्य वाक्प्रवृत्तेः शिष्यज्ञानार्थत्वेन तत्सिद्धावेवोपरति-सिद्धेर्युक्तं तस्य तटत्वम्। पदार्थसिद्धौ पदार्थद्वयशोधने वाक्यार्थनिर्णये तदुपयुक्तप्रमेयस्थितिषु च ये तर्काणां प्रसरणप्रकारास्त एव उपादेयत्वस्वप्रकाशत्वादिसाम्याद्रत्नानि। एतेन रत्नानां पद्मरागेन्द्रनीलादिविविधवैलक्षण्यवत्तर्काणामपि विविधवैलक्षण्यं सूचितम्। यच्छब्दस्य तच्छब्दसापेक्षत्वादसाविति स इत्यर्थः। इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजातिः।।६।।

वाग्विस्तरा-व्यासपयोनिधिः= व्यासजी महाराज समुद्र के समान है। क्योंकि जिनमें वेदरूपी वाणी का असीम संचय है और श्री व्यासजी महाराज में समुद्र के समान महानता, पवित्रता, गम्भीरता तथा स्वच्छता सभी गुण विद्यमान हैं। तरङ्ग= व्यास जी की वाणी ही समुद्र की तरङ्ग हैं क्योंकि व्यास शब्द से वही द्योतित होता है कि वेदके गुणों का प्रसारण करना। वही व्यासजी की वाणी समुद्र तरङ्ग स्वरूप है। इसीलिये कहा है दृष्टमात्राः पुनन्त्येते राजाभिक्षुर्महोदधिः।।स्मृति।। दर्शनमात्र से ही राजा, संन्यासी तथा समुद्र पापों को नष्ट कर देते हैं।

स नः पुनातु : वह व्यासजी महाराज जो समुद्र के रूप में है हमें पाप से तथा मल से रहित करें। बृहत्तरङ्गा : वेदरूपी वाणी समुद्र का जल है- वही अर्थात् वेदों की शाखा भेद रूपविस्तार करनेवाली है। वही बृहत्तरङ्गा= बड़ी बड़ी तरङ्गे हैं। विस्तर और बृहत् दोनों शब्दों का प्रयोग श्लोक में हुआ है। इससे वाणी बड़ी ही संक्षिप्त है और तरङ् बड़ी सूक्ष्म है यह बात सिद्ध होती है। वेलायाः- तीर के, तटं- किनारे पर, जहां तरङ्गे आकर विश्राम पाती हैं। आर्थात् वेलातट- जीव ब्रह्मैक्य है। जो शिष्यों का तत्त्व बोध ही वेलातट है। क्योंकि सूत्रकार की वाणी शिष्यों के तत्त्वज्ञान के लिये ही होने से उसकी परिसमाप्ति तत्त्वबोधरूपी बेलातट में हो गई। पदार्थसिद्धि= तत्पदार्थ तथा त्वंपदार्थ साधनमें और उनके शोधन में, तथा दोनों के ऐक्य रूप वाक्यार्थ निर्णय में उपयोगी विषयों की स्थितिमें जो तर्क सूत्रकार द्वारा दिये गये हैं- उनके प्रसरण का जो विधान

है वह अत्यन्त उपादेय होने से आत्मस्वरूप की तरह वह भी बहुमूल्य होने से रत्न के समान है। इससे रत्नों में पद्मरागादि, इन्द्र नीलादि विविध वैलक्षण्य की तरह तर्कों का भी विविध वैलक्षण्य सूचित किया गया है। यत् शब्द असौ (यः) शब्द परस्पर सापेक्ष्य होने से उसी व्यासजी का- तत् शब्द से पुनः प्रतिपादन किया गया है। इसमें इन्द्रवज्र उपेन्द्रवज्र दोनों छन्दों का मिलान होने से उपजाति छन्द है।

सत्संप्रदायेन भाष्यकर्तारं शङ्करावतारं श्रीशङ्कराचार्यं प्रणमति-

अवतरणिका= सत्संप्रदायेन= सत् तत्त्व को सम्यक् रूप से प्रतिपादित करने वाले ऐसे भाष्य के कर्त्ता भगवान भूतभावन शंकर के अवतारस्वरूप आचार्यशंकर जी को विशेष रूप से ग्रन्थकार नमन करते हैं—

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या
सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत्।।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का
नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम्।।७।।

अन्वयः= नित्या सरस्वती यमेव वक्तारमासाद्य निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का (सती) स्वार्थसमन्विता आसीत्, तम् अर्चिताङ्घ्रिम् शंकरं नमामि।

अन्वयार्थ– वेदरूप नित्यवाणी (सरस्वती) जिस व्याख्याकार को पाकर कुतर्क रूपी कीचड़ से निकल कर स्वार्थ समन्वित हुई, ऐसे पूज्यपाद भगवान् आचार्य शंकर को मैं (विशेष रूप से) नमन करता हूँ।

वक्तारमिति। यमेव व्याख्यातारमासाद्य नित्या सरस्वती वेदलक्षणा, निरस्ता निर्मूलिता दुष्टतर्का एव मालिन्यहेतुत्वात् कलङ्काश्च, तन्मग्नानां पुनरुत्थानासंभवात्पङ्काश्च यस्याः सा। सर्वदुस्तर्कदोषनिरासेन स्वतात्पर्यविषयीभूतार्थसमन्वितत्वेन प्रकटाऽऽसीत्तं शंकरं सर्वकल्याणकरं भगवदवतारत्वेन सर्वपूजितपादपद्मं नमामीति सम्बन्धः। जैमिन्यादिभिर्हि कर्मकाण्डमेव स्वार्थसमन्वितं कृतम्, उपनिषदस्तु स्वार्थात्प्रच्याविताः। कैश्चिच्च भेदविलयवादिभिरुपनिषदः स्वार्थसमन्विताः कृताः, कर्मकाण्डं तु स्वार्थात्प्रच्यावितम्। भगवता व्यासेन च विविदिषावाक्यं विचारयता यद्यपि कर्मकाण्डब्रह्मकाण्डयोस्तुल्यमेव प्रामाण्यमङ्गीकृतं, तथापि तावन्मात्रेण न स्वार्थसमन्विता कैश्चित्तत्सूत्रं व्याचक्षाणैर्भर्तृप्रपञ्चादिभिर्भेदादेरवेदार्थस्य वेदार्थत्ववर्णनात्। श्रीमद्भगवत्पूज्यपादैस्तु व्यावहारिकत्वेन कर्मकाण्डप्रामाण्यप्रवृत्त्यादि व्यवस्थाप्य वेदान्तानां तात्त्विक- शुद्धाद्वैतपरत्वं व्यवस्थापितमिति

स्वार्थसमन्वितत्वं कृत्स्नवेदस्य संपन्नमिति महिमातिशयं दर्शयितुं यमेवेत्येवकारः प्रयुक्तः। उपजातिः।।७।।

वक्तारमिति= जिस व्याख्याकार को प्राप्त करके वेदलक्षण लक्ष्य रूपा नित्या सरस्वती जो निरस्ता= मूल सहित दुष्ट तर्कों के निरस्त होने से, जो कि दुष्टतर्क मालिन्य के हेतु है। अतः वे कलङ्करूप है, ऐसे मालिन्य के हेतु भूतकलङ्करूपदुष्टतर्क में जो गिर जाता है। उसका पुनः उत्थान सम्भंव नहीं है ऐसे पङ्क से (कीचङ से) रहित ऐसी वेदवाणी सब दुष्ट तर्क रूपी जो दोष के हट जाने से वेद का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ जीव ब्रह्म की एकता रूप उससे समन्वित होकर प्रकट हुयी थी। यह सारा श्रेय शंकर के अवतार भूत सर्वकल्याणकारक भगवान् भूतभावन के अवतार रूप आचार्य शंकर, सभी ने जिनके पादपद्म की पूजा की है, उन्हें मैं (विशेष रूप से) नमन करता हूँ।

जैमिनी आदि ऋषियों ने कर्मकाण्ड को ही कार्यार्थ प्रतिपादक होने से सार्थक माना (स्वार्थ समन्वित माना) और उपनिषद् को स्वार्थ से बहिष्कृत माना (आम्नायस्य क्रियार्थ-त्वादानर्थ्यक्यमदर्थानाम्") क्योंकि वे कार्यार्थ परक नहीं है। इसके विपरीत कई आचार्यो ने जो भेद को मानते ही नहीं हैं। उन्होंने उपनिषद् स्वार्थसमन्वित है और कर्मकाण्ड स्वार्थ से रहित (बहिष्कृत) है ऐसा माना। भगवान् व्यासजी ने विविदषा वाक्यके विचार से समय यद्यपि कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्ड दोनों को तुल्य रूप से प्रामाणिक माना लेकिन इतने मात्र से ही "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" (जै० सू० १/१/४) इस सूत्र में महर्षि जैमिनी जी नित्य वेद वाणी का अपने अपने अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध मानते है, तथा शब्द को नित्य माना है। (शब्दो नित्यः शब्दत्वात् आदि) कर्मकाण्ड को स्थान नहीं दिया।

लेकिन इससे भी स्वार्थ समन्वितता नहीं हो पाती है कैश्चित्भर्तृप्रपञ्चादिक ने अवैदिक भेद को भी वेदार्थत्वपरक माना है। लेकिन भगवान् शंकराचार्य जी महाराज ने तो व्यावहारिक रूप से कर्मकाण्ड को प्रामाणिक माना है तो वास्तविक रूपसे वेदान्तको ब्रह्मकाण्ड को अद्वैतपरक प्रामाणिक माना है। इसलिए सम्पूर्ण वेदराशि को स्वार्थ समन्वितत्व-अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड एवं ज्ञानकाण्ड को तीनों को समन्वित करके बताया है, इसलिये उनकी महिमा में अतिशयता बताने के लिये कहा है- यमेवेति।

इदानीं स्वगुरुं वार्तिकारं पूजयति।

अब अपने गुरुवर वार्तिकार सुरेश्वराचार्य जी महाराज का पूजन कर रहे हैं।

यदीयसंपर्कमवाप्यं केवलं
वयं कृतार्था निरवद्यकीर्तयः।।
जगत्सु ते तारितशिष्यपङ्क्तयो।
जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः।।८।।

अन्वयः= केवलं, यदीयसम्पर्कं अव्याप्य वयं कृतार्थाः, जगत्सु नरवद्य कीर्तयः ते तारितशिष्यपंक्तय देवेश्वरपादरेणवः जयन्ति

अन्वयार्थ= जिनके चरण रजकणों के सम्पर्क मात्र से हम शिष्य कृतार्थ हुये, जगत् में विमल कीर्तियुक्त बन गये, आचार्य के ये धूलीकण जो शिष्यों के पंक्तियों को तारने वाले हैं वे कण सर्वोत्कृष्ट है।।

यदीयेति। देवेश्वरस्य सुरेश्वराचार्यस्य ते पादरेणवो जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, तान्प्रत्यस्मि प्रणत इत्यर्थः। येषां पादरेणवोऽपि सर्वोत्कृष्टास्तेषामुत्कर्षः केन वक्तुं शक्यते इत्यभिप्रायः। सुरपदस्थाने देवपदप्रयोगः साक्षाद् गुरुनामाग्रहणाय "गुरोर्नाम न गृह्णीयात्" इति स्मृतेः। कीदृशास्ते? तारिताः संसार समुद्रपारं गमिताः शिष्यङ्क्तयोऽस्मदादिशिष्य-समूहो यैः पांसुभिस्ते तथा। येषां पादरेणवोऽपि शिष्यांस्तारयन्ति ते स्वयं तारयन्तीति किमु वक्तव्यम्। यदीयानां यत्सम्बन्धिनां पवनादीनामपि संपर्कं संबन्धं केवलमवाप्य साधनान्तरशून्या अपि वयं सर्वेऽपि तच्छिष्याः कृतार्थाः कृतप्रयोजना ब्रह्मसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्ताः, जगत्सु लोकेषु च सद्ग्रन्थकरणाध्यापनादिना निरवद्यकीर्तयो निर्मलयशसो वयमिति महाफलावान्तरफलकीर्तनम्। अतः सर्वथा ते नमस्या एवेत्यभिप्रायः। वशंस्थम्।।८।।

यदीयेति- देवश्वरस्य= श्री सुरेश्वराचार्य जी महाराज के, ते पादरेणवः= जयन्ति- वे पाद रेणु- चरणधूलि सर्वोत्कर्ष से युक्त है, उनके प्रति मेरा प्रणाम है। जिनकी पादरेणु भी इतनी उत्कर्षशाली है फिर स्वयं सुरेश्वराचार्य जी महाराज का उत्कर्ष कौन कहने मे समर्थ हो सकेगा? अर्थात् कोई नहीं। सुर पद की जगह देव पद नियुक्त किया क्योंकि गुरोर्नाम न गृह्णीयात्। गुरूका नाम नहीं लेना चाहिये। ऐसी स्मृति का वचन है। यह गुरूदेव कैसे है? तारिताः- संसार से तरा दिये है- शिष्य पंक्तयः- शिष्यों की पङ्क्तियां, मेरे जैसे शिष्यों की ऐसी अनेक शिष्यों की कतारें की कतारें जिनके पादरेणुओं ने पार करा दी हैं। जिनके पादरेणुओं में यह शक्ति है- फिर स्वयं उनका तो कहना ही क्या है। यदीयसंपर्कमवाप्य केवलम्= जिनके संपर्क की वायु मण्डल की परिधि मे हमारे जैसे व्यक्ति शिष्य लोग कृतार्थाः- कृत प्रयोजन हो गये हैं— अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार कर चुके हैं। तथा जीवन्मुक्ति का आनन्द ले रहे हैं। साथ में इस जगत् में मेरे जैसे सर्वज्ञमुनिजी महाराज

जैसे- हमने- सद्ग्रन्थाध्ययन किया, अध्यापन किया- निष्कलंक कीर्ति प्राप्त हुई, यश भी प्राप्त हुआ यह तो अवान्तर फल भी मिला। मुख्य फल तो ब्रह्म साक्षात्कार प्रयुक्त जीवन्मुक्त अवस्था की प्राप्ति हुई। इसलिये ऐसे गुरुदेव तो सदैव नमस्कार करने योग्य हैं। वंशस्थम् छन्द है।

गुरुस्तुतिशेषत्वेन ये प्रस्तारिते आत्मनः कृतार्थत्वनिरवद्यकीर्तित्वे ताभ्यां प्राप्तमात्मन औद्धत्यमपाकरोति-

गुरूदेव को नमस्कार के बहाने अपने आपको कृतार्थ मानना तथा निरवद्य निष्कलंक कीर्ति मुझे मिली है- ऐसी बात खुद बोल चुके हैं- इससे उद्धतपना कहीं न हो जाय- इसलिये आगे लिखते हैं—

गुरूचरणसरोजसन्निधाना-
दपि वयमस्य गुणैकलेशभाजः।
अपि महति जलार्णवे निमग्नाः।
सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः।।६।।

अन्वयः= गुरूचरणसरोजसन्निधानात् अपि वयम् अस्य गुणैकलेशभाजः, हि महति जलार्णवे निमग्नाः मीनाः मितं सलिलं उपाददते।

अन्वयार्थः= गुरूचरण कमल के संपर्क से हम शिष्य उनके एक गुण का लेशमात्र ही ग्रहण कर सकें हैं। जैसे मछली समुद्र के थोड़े से ही जल का ग्रहण करती है।

गुरूचरणेति। अनेककल्याणगुणार्णवस्य गुरोश्चरणसरोजयोर्महासौभाग्यशालिनोः सन्निधानादनेकगुणार्पणयोग्यादपि वयं तच्छिष्याः सर्वेऽप्यस्य गुरोर्गुणैकलेशमेव भजामो न तु बहुतरं, स्वायोग्यत्वात्। "स्तुतावेकवचनमपि प्रयोज्यम्" इत्यस्येति न विरूध्यते। स्वायोग्यत्वेन बहुप्राप्तव्यसन्निधानेऽप्यल्पग्रहणे दृष्टान्तमाह- अपि महतीति। चतुःषष्टिलक्षयोजनविस्तृततयाऽतिविपुले शुद्धोदाख्ये सप्तमे समुद्रे निमग्नाः कात्स्न्र्येन तत्सम्बद्धा अपि मीनाः सलिलं मितमल्पमेवोपाददते गृह्णन्ति स्वायोग्यत्वेनेति लोकप्रसिद्धमित्यर्थान्तरन्यासः।।६।।

गुरूचरणसरोजसन्निधानादपि- अनेक कल्याणकारी गुण गणविशिष्ट ऐसे गुरू चरण कमलो में रहकर भी, वयमस्य- हमने तो उनके गुणैकलेशभाजः- एक गुण के भी थोडा सा ही भाग ग्रहण किया क्योंकि हमारी अपनी योग्यता भी इतनी ही थी। गुरूचरण कमलों का दोष इसमें नहीं- यह हमारा अपना दोष है। जैसे अपि महति जलार्णवे ६४ लक्ष योजन विस्तृत महान समुद्र में निमग्नाः- रहने वाली, मीनाः- मछलियां, मितं सलिलमुपाददते=

थोडे ही जल का ग्रहण करती है यह दोष मछलियों का है-न-कि समुद्र का। इसी प्रकार गुरू के सन्निधि में रहकर हमने उनके अनेक गुणों में से एक गुण का थोडा सा भाग ग्रहण किया- अपने दोष के कारण- गुरुचरणों में कोई दोष नहीं है।

एवमल्पज्ञत्वेन ग्रन्थकरणाशक्तौ प्राप्तायामाह-

इससे ग्रन्थकार की अल्पज्ञता सिद्ध हुई फिर तो ग्रन्थ कैसे लिख सकेगें। अतः कहते हैं—

शक्तो गुरोश्चरणयोर्निकटे निवासा-
न्नारायणस्मरणतश्च निरन्तरायः।।
शारीरकाथविषयावगतिप्रधानं-
संक्षेपतः प्रकरणं करवाणि हृष्यन्।।१०।।

अन्वयः= गुरोः चरणयोः निकटे निवासात् शक्तः, नारायणस्मरणतः निरन्तरायः च (सन् अहं) हृष्यन् शारीरकार्थविषयावगतिप्रधानं प्रकरणं संक्षेपतः करवाणि।।

अन्वयार्थः गुरु चरणों के समीप निवास करने से मैं ग्रन्थ निर्माण में समर्थ हुआ। और नारायण के स्मरण से निर्विघ्न होकर बड़े ही खुशी के साथ शारीरकभाष्य ग्रहण योग्य संक्षेप-शारीरक-प्रकरण ग्रन्थ कर रहा हूँ।

शक्त इत्यादिना। गुरोश्चन्दनवृक्षस्येवान्यत्र स्वगुणसञ्चारणसमर्थस्य निकटे निवासाच्छक्तोऽहमिति कारणपौष्कल्यं दर्शयित्वा महत्यारम्भे विघ्नबाहुल्यसम्भवात्तदभावमाह- गुरोर्नारायणस्मरणतः तद्रूपादाशीर्वादाच्च निरन्तरायो निर्विघ्नोऽहम्, अतो गुरुचरण-समीपवासात्पादसंवाहनादिसमये तत्तत्प्रश्नैरप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिनिराकरणेन शास्त्रार्थज्ञानरूप-सामग्रीसम्भवाद्, गुरूनारायणस्मरणतश्च निखिलविघ्ननिवृत्तिसम्भवाद् ग्रन्थकरणानुकूल-सकलोपकरणसम्पत्त्या हृष्यन्हर्षं प्राप्नुवन् प्रकरणं शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रप्रयोजनापेक्षया प्रयोजनातिशययुक्तं ग्रन्थविशेषं करवाणि कुर्याम्।

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।

आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।। इति विष्णुधर्मोत्तरस्मरणात्।

शरीरमेव कुत्सितत्वाच्छरीरकं तत्र भवः शारीरको जीवस्तस्य तत्त्वमधिकृत्य कृतो ग्रन्थश्चतुर्लक्षणशारीरकमीमांसालक्षणोऽपि शारीरकः। शारीरं जीवं ब्रह्मतया कायतीति(१) वा तस्यार्थः प्रयोजनं विषयश्च यस्य तत्तथा। अवगतिरज्ञाननिवर्तिका निर्गुणब्रह्मविद्या सैव

प्रधानं विचार्यत्वेन तात्पर्यविषयीभूतं यस्य तच्च तच्चेति कर्मधारयः। अनेन शास्त्रैकदेश-सम्बन्धो दर्शितः। संक्षेपत इति सगुणविद्याविचार बाहुल्यपरित्यागरूपेण संक्षेपेणेति शास्त्रात्प्रयोजनान्तरं दर्शितं, प्रागेव विवृतमेतत्। गुरूप्रशंसापूर्वकं ग्रन्थारम्भप्रतिज्ञा।।१०।।

शक्तो- गुरोश्चरण- चन्दन वृक्ष के समान गुरूचरण हैं- जो चन्दन के समान अपने गुणों को सञ्चारण अन्यत्र में कर सकते हैं। तो उनके, निकटे निवासात्- अति समीप निवास मैंने कर लिया है। इसलिए ग्रन्थ निर्माण कार्य में मैं सम्पूर्ण रीति से समर्थ हूँ। लेकिन "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" शुभकार्य में विघ्न भी ज्यादा आते हैं तो कहते हैं- गुरोर्नारायणस्मरणतः- गुरु ही नारायण स्वरूप है, कै शब्दे इतिधातोः कायति शब्दयति बोधयतीत्यर्थः। उनके स्मरण से उनका आशीर्वाद प्राप्त हो जाने के कारण निरन्तरायो- मैं विघ्नों से रहित हो चुका हूँ। क्योंकि गुरुचरणों की सेवा काल में अनेक प्रश्न करना, उसके ऊपर अनुकूल प्रतिकूल नाना प्रकार से विचार विमर्श करना तथा उनका निराकरण गुरूमुख से सुनना इन सब बातों से शास्त्रार्थ की ज्ञान रूप सामग्री विपुल मात्रा में विद्यमान है। एवं गुरु तथा नारायण स्मरण इन दोनों के स्मरण से सम्पूर्ण विघ्न शांत हो चुके हैं। अब ग्रन्थ के निर्माण का अनुकूल समय आ ही चुका है अतः हृष्यन्- हर्ष के साथ, प्रकरणम्- वेदान्त शास्त्र के प्रयोजन की अपेक्षा रखता हुवा- ग्रन्थ विशेष संक्षेप शारीरक की रचना करता हूँ।

शास्त्रैक देशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः। निष्णुधर्म।।

शास्त्र के एक देश से सम्बन्धित हो शास्त्र के कार्यान्तर में प्रयोजन में स्थित हो, उसी को प्रकरण ग्रन्थ विद्वान् लोग कहते हैं, शारीरक- जीवको ब्रह्मभाव करा देना। अर्थ- प्रयोजन- विषयः (आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति पुरःसर परमानन्द की प्राप्ति रूप प्रयोजन, जीव ब्रह्मैक्य रूप विषयः ये हैं- जिस ग्रन्थ के ऐसा ग्रन्थ) अवगति- निर्गुण ब्रह्म विद्या ही अज्ञान की निवर्तक है वह ही प्रधान विचार रूप से तात्पर्य विषयीभूत है- जिस ग्रन्थ की ऐसा ग्रन्थ। (कर्मधारय समास है।)

जो ग्रन्थ वेदान्त शास्त्र के एक देश से सम्बन्ध स्थापित करता हैं वह है संक्षेप शारिरकम्। प्रयोजनान्तर यह हुआ कि- इस ग्रन्थ में सगुण विद्या विचार की बहुलता का परित्याग कर दिया है- संक्षेप से ही शास्त्र के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कार रूप प्रयोजनान्तर प्रदर्शित किया है। गुरु की प्रशंसा पूर्वक- ग्रन्थारम्भकी प्रतिज्ञा कर दी है।

ननु स्वस्येवान्यस्यापि मूलशास्त्रादेव तदवगतिसम्भवात्किमनेनेत्याशङ्क्य स्वस्य

विद्याशुद्धिरसाधारणं प्रयोजनमित्याह। पदवाक्येति।

अपने ग्रन्थ के समान मूल ग्रन्थों से शास्त्र से ही ब्रह्मावगति सम्भव होने से इस ग्रन्थ की क्या आवश्यकता? कहते हैं– उससे मेरी विद्या और शुद्ध हो जायेगी, यही असाधारण प्रयोजन है।

अथवा गुरूप्रशंसया गुरूव्यतिरिक्तेषु विद्वत्सु अनादरात्तैरपरिगृहीतोऽयं ग्रन्थो न प्रचरेदित्यभिप्रेत्य तानपि संमानयति-

गुरूप्रशंसा की लेकिन गुरुजनों के अतिरिक्त गुरू तुल्य विद्वान् मण्डली है कहीं उनके अनादर से मेरा ग्रन्थ प्रचलित ही न हो पाये सो ठीक नहीं है। अतः उनको भी सम्मानित करते हैं–

पदवाक्यमाननिपुणानिपुणं।
विमृशन्त्विदं प्रकरणं मनसा।
गुणदोषनिर्णयनिमित्ततया।
प्रथिता हि पण्डितजना जगति।।११।।

अन्वय्= पदवाक्यमाननिपुणाः इदं प्रकरणं मनसा निपुणं निमृशन्तु, हि पण्डितजनाः जगति गुणदोषनिर्णयनिमित्ततया प्रथिताः।

अन्वयार्थ= पद में निपुण वैय्याकरणी, वाक्य में निपुण मीमांसक तथा प्रमाण में निपुण नैय्यायिक इस प्रकरण ग्रन्थ को अच्छी तरह से देखें। क्योंकि पण्डित जन गुण दोष का निर्णय करने के लिये प्रसिद्ध हैं।

पदवाक्येति। पदनिपुणा वैयाकरणाः, वाक्यनिपुणा मीमांसकाः, माननिपुणा-स्तार्किकास्तेषां तद्विचारकुशलत्वाद्। इदं प्रकरणं पदतो वाक्यतो मानतश्च निपुणमवधानेन मनसा स्वबुध्द्या विमृशन्तु विचारयन्तु, निपुणं मनसेति विशेषणाभ्यामनवधानं परप्रत्ययं च वारयति। प्रार्थितानां तेषां गुणदोषनिर्णयाय प्रवृत्तौ कारूण्यमेव हेतुरित्याह- गुणदोषेति। तथा चोक्तं कविना-

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।। (शाकुं० अं१) इति। ग्रन्थनिर्माणमात्रं मदधीनं, विशुद्धिस्तु निर्मत्सरविद्वदधीनेत्यर्थः।।११।।

पदनिपुणा- वैय्याकरणी विद्वान्, वाक्य निपुणा मीमांसक विद्वान्, मान निपुणा- प्रमाण व्यवस्था में निपुण नैय्यायिक विद्वान्- अपने अपने क्षेत्र में विद्वान् कुशल मण्डली, यह प्रकरण

ग्रन्थ पद दृष्टि से, वाक्य की दृष्टि से, एवं नैय्यायिक प्रमाण दृष्टि से। निपुणं खूब सावधानी से। मनसा- अपनी - अपनी बुद्धि से, विमृशन्तु- विचार करें। निपुणं- मनसेति- निपुण और मन से इन दोनों विशेषताओं से असावधानी तथा दोष दृष्टि का निराकरण करते हैं। मैंने विद्वानों को गुण दोष निर्णय करने के लिये आमन्त्रित किया है- इसमें उन विद्वानों की कारुण्य दृष्टि ही कारण बनेगी। इसीलिये कहा है—

आपरितोषाद् विदुषां न साधुमन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।। (शाकुं० अं १)

अर्थात् ग्रन्थ का निर्माण के लिये मेरी प्रवृत्ति है- लेकिन उसकी ग्रन्थ की विशुद्धि तो मत्सररहित विद्वानों के अधीन है।

नन्वस्माभिर्निपुणं विमृशद्भिः दोषकीर्तने क्रियमाणे तव दुःखमेव स्यादित्याशङ्क्याह-

यदि विद्वान् यह कहे कि सर्वज्ञमुनिजी महाराज हम यदि आपके ग्रन्थ का गुणदोष दृष्टि से अवलोकन करने के बाद आपको इस ग्रन्थ के दोष सुनायें तो आपको दुःख ही होगा- इस पर कहते हैं—

विद्वांसो यदि मम दोषमुद्गिरेयुः
यद्वा ते गुणगणमेव कीर्तयेयुः।।
तुल्यं तद्बहु मनुते मनो मदीयं
कष्टं तद्बत मनुते यदाह मन्दः।।१२।।

अन्वय= विद्वांसो यदि मम दोषं (एव) उद्गिरेयुः, यद्वा गुणगणं एव कीर्तयेयुः, मदीयं मनः तत् तुल्यं बहु मनुते यद् मन्दः आह, तद् बत् कष्टं मनुते।

अन्वयार्थः= विद्वान् चाहें तो मेरे दोष प्रगट करें अथवा गुणों को गाते रहें। मेरा मन इन दोनों बातों को समान रूप से आदर देता है। किन्तु मतिमंद और मात्सर्यभाव से वह व्यक्ति चाहे कुछ भी कहे मेरे मन को बड़ा कष्ट होता है।

विद्वांस इति। निर्मत्सरा विद्वांसो गुणदोषपरीक्षका यदि मम ग्रन्थे दोषं हानाय कथयेयुर्गुणगणं चोपादानाय कथयेयुः, तद्दोषकथनं गुणकथनं च तुल्यं सममेव बहु मनुते आदरेणाङ्गीकरोति मम मनो न तु वाङ्मात्रम्। दोषकीर्तने हि सति तन्निवारणान्निर्दोषो ग्रन्थः शुद्धः स्यादित्यभिप्रायेण दोषकीर्तनं ग्रन्थशुद्धिरूपगुणपर्यवसानाद् गुण एवेति महाननुग्रह इत्यभिप्रायः। यस्तु मन्दो मात्सर्यग्रस्तो दोषगुणविवेचनासमर्थश्च सोऽविचार्यैव यद्ग्रन्थ

इव चित्रस्य गुणं दोषं चाह तदपि तुल्यमेव कष्टं दुःखं मनुते बतेति खेदे। बह्विति पाठे बहु कष्टं मनुत इत्यन्वयः। मनो ममेति शेषः। तदुभयस्यापि ग्रन्थविशुद्ध्यप्रयोजकत्वादित्यर्थः।।१२।।

विद्वांस= मत्सररहित विद्वान् गुण दोष की परीक्षा करने वाले यदि मेरे इस ग्रन्थ में दोषों को हटाने के लिये कहें और गुणों का इस ग्रन्थ में प्रविष्ट कराने के लिये कहें तो वह दोष वचन तथा गुण वचन, तुल्यं समान रूप से, मनुते-आदर के साथ अङ्गीकरणीय है। मनो- मदीय- मैं मनसे कह रहा हूँ न कि वाणी मात्र- से। क्योंकि दोष कथन से इस ग्रन्थ से निर्दिष्ट दोष निकल जाने से ग्रन्थ निर्दोष हो जायेगा और गुणों को अधिक प्रविष्ट कराने से और भी यह ग्रन्थ गुणवान् बनेगा यह तात्पर्य है। यह मेरे ऊपर बड़ी ही अनुकम्पा विद्वानों की हो जायेगी। और जो निर्मत्सर नहीं है- मन्दमति तथा मात्सर्ययुक्त व्यक्ति गुण दोष के विवेचन में असमर्थ व्यक्ति ऐसा करता है- जैसे कोई जन्मान्ध चित्र के गुणदोषों के विवेचन में तत्पर हो जाय इसी प्रकार मन्दमति व्यक्ति भी मेरे ग्रन्थ में गुण दोष देखने लग जाय तो मुझे उतना ही, तुल्यम्- समान रूप से, कष्टं- दुःख, मनुते- हो जायेगा। बड़े खेद की बात है- मन्दमतियों की प्रति/मनोममेति- मन से कह रहा हूँ केवल वाचिक प्रयोग नहीं है। इत्यादि मन्दमति तथा मात्सर्य वाले से ग्रन्थ की शुद्धि नहीं होगी।

नन्वस्माभिर्निपुणं विचार्य निर्दोषत्वेन निश्चितेऽपि ग्रन्थे कश्चिदतिमत्सरी दोषमुद्भावयतीति चेत्तदाऽस्माकं महदयशो भवेत्तव च ग्रन्थशुद्धिर्न भवेदित्याशङ्क्याह-

यदि विद्वान् कहते हैं कि मानो हमने ग्रन्थको निर्दोष भी ठहरा दिया तो भी अतिमत्सरयुक्त् विद्वान् जो आपके ग्रन्थ में दोष का उद्भावन करेंगे तो इससे तो विद्वानों का महत्व बढ़ेगा और आपके ग्रन्थ की शुद्धि नहीं होगी।

महामहिम्नामपि यश्चिकीर्षति
स्वभावसंशुद्धतरं तिरो यशः।।
सनूनमाच्छादयितुं प्रवर्तते
विवस्वतो हस्ततलेन मण्डलम्।।१३।।

अन्वय= यः महामहिम्नामपि स्वभावसंशुद्धतरं यशः तिरः चिकीर्षति, स नूनं हस्तलेन विवस्वत मण्डलं आच्छादयितुं प्रवर्तते।

अन्वायार्थ= जो ईर्ष्यालु, महामहिम बड़े पुरुषों के यश को धूमिल करना चाहते हैं, ऐसे वे अपने

हाथों से मानों सूर्य मण्डल को ढकना चाहते हैं।

महामहिम्नामिति। प्रसिद्धयशसां दोषगुणपरीक्षणक्षमाणां विदुषां भवद्विधानां निर्मत्सरत्वेन मानकुशलत्वेन च स्वभावतः संशुद्धतरमतिनिर्मलं परग्रन्थनिर्दोषत्वापादनरूपं यश आरोपितदोषोद्भावनेन यस्तिरश्चिकीर्षति तिरोभावयितुमिच्छति स जगन्मण्डलव्यापिप्रकाशस्य विवस्वतो मण्डलं लक्षयोजनविस्तृतं हस्ततलेनात्यल्पेन तदसम्बद्धेनाच्छादयितुं प्रवर्तते। नूनमिति सर्वथैवासम्भादितमिदं यथा तद्वदसम्भावनीयं कर्तुमिच्छन्सर्वलोकोपहास्य एव भवति। अतो भवतां विशुद्धज्ञानानां मम च भवदादृतग्रन्थस्य न काऽपि क्षतिरित्यर्थः। विद्वन्माहात्म्यखलतुच्छते दर्शिते।।१३।।

महामहिम्नापि= जिनका यश सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे विद्वानों को भी, यश्चिकीर्षति= निर्मत्सर भाव से सब दृष्टि से ग्रन्थ निर्दोष है ऐसी परीक्षा विद्वानों ने कर ली तो भी आरोपित दोषारोपण करके, तिरश्चिकीर्षति= मेरे जैसे विद्वान् की कीर्ति को ढकने की चेष्टा करते है वह कीर्ति भी कैसी है स्वभावसंशुध्दतरं यशः= स्वभाविक रूपसे मेरा यश अत्यन्त शुद्ध है ऐसे यश कीर्ति को आरोपित दोष के द्वारा कोई विद्वान् ढकने का प्रयत्न करता है तो सः= वह विद्वान् नूनम्= वास्तविक, आच्छादायितुं प्रवर्तते= ढकने के लिये तैयार हो जाता है किसको? विवस्वतो हस्तलेन मण्डलम्= हमारे से लाखों योजन दूर रहनेवाला सूर्य जो सम्पूर्ण विश्वका प्रकाशन करता है उसके प्रकाश को मानो वह विद्वान् अपने हाथों से ढकना चाहता है, जैसे यह सम्भव नहीं है उसी प्रकार मेरे इस ग्रन्थ के बारे में भी है। क्योंकि आपके जैसे विद्वानों ने जब इसे पसन्द किया फिर इसे कोई भी दूषित नहीं कर सकता और न ही मेरी कीर्ति भी ढकी जा सकती है। इससे विद्वानों की महत्ता तथा खलों की तुच्छता दिखा दी है।

ननु शारीरकार्थविषयमवगतिप्रधानं प्रकरणं करवाणीत्युक्तं तन्नोपपद्यते। शारीरकमीमांसाया एव प्रयोजकाभावेनासङ्गतत्वात्। शिष्यजिज्ञासितसन्दिग्धार्थनिर्णयाय भगवता निरस्तसमस्तैषणेन "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्याद्यारब्धव्यम्। शिष्यस्य च ब्रह्मण्यत्यन्तानुपलब्धे जिज्ञासा वा सन्देहो वा कथं भवेत्। धर्मिज्ञानसाध्यत्वात्तयोः। तच्च निर्विशेषे ब्रह्मणि न प्रत्यक्षादिना सम्भवति। रूपादिहीनत्वात्तस्य। अद्वितीये तस्मिन् लिङ्गासम्भवाच्च। अद्वयमेव हि ब्रह्म मुमुक्षुं प्रति शारीरकेण विचार्यते। सगुणब्रह्मविचारस्य प्रासङ्गिकत्वात्। नापि वेदान्तात्तज्ज्ञानम्। विचारात्पूर्वं ततस्तदयोगात्। अन्यथा विचारवैयर्थ्यात्। न चापातज्ञानं विचारं विनाऽपि भवतीति वाच्यम्। तस्यैवानिरूपणात्। निःसामान्यविशेषे ब्रह्मणि सामान्यविषयस्य तस्यासम्भवादपरोक्षे

ब्रह्मणि परोक्षज्ञानरूपस्य तस्यायोगात्। अतः शिष्यस्य जिज्ञासाऽसम्भवादजिज्ञासितार्थनिर्णये प्रेक्षावतः प्रवृत्त्ययोगादसङ्गतैव शारीरकमीमांसेति तदर्थविषयमिदं प्रकरणं सुतरामसङ्गतमित्याशङ्क्य विचारात्प्रागपि वेदान्तादेवाधिकारिणो विदितपदतदर्थस्य निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्काररूपं ज्ञानं भवत्येव। तच्च श्रोतुरसम्भावनाविपरीतभावनादिचित्तदोषैः प्रमाणमप्यप्रामाण्यशङ्काकलङ्कित-मित्यनभ्यासदशापन्नजलज्ञानवत्फलाय न भवतीति ततो विचारप्रयोजिका शिष्यस्य जिज्ञासोपपद्यत इति नोक्तासांगत्यमिमिप्रेत्य सदृष्टान्तमाह चतुर्भिः।

आशंका= शारीरकार्थ ब्रह्म उसकी प्राप्ति प्रधान है, ऐसा प्रकरण कर रहा हूँ यह उक्ति अनुचित है। क्योंकि शारीरक (आत्मा या ब्रह्म) मीमांसाका कोई प्रयोजक जिज्ञासा नहीं होने से असङ्गत है।

शिष्य की ब्रह्म विषयक जिज्ञासा अथवा ब्रह्म विषयक सन्देह को मिटाने के लिये "अथातो बह्मजिज्ञासा" इस से प्रारम्भ किया। लेकिन निर्विशेष ब्रह्म किसी भी प्रमाण का विषय ही नहीं है न किसी ज्ञान का ही विषय वह है तो उसके बारे में शिष्य में न जो जिज्ञासा हो सकती है और न सन्देह ही हो सकता है। तो फिर उसका निर्णय कराने के लिये "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादि वेदान्तशास्त्र निरर्थक ही है। जो बह्म अत्यन्त अनुपलब्ध है तद्विषयक जिज्ञासा अथवा सन्देह नहीं हो सकता। धर्मी ब्रह्म के ज्ञान के बिना ये दोनों, जिज्ञासा तथा सन्देह नहीं हो सकते। वह धर्मी ज्ञान ब्रह्म का तो होगा नहीं, क्योंकि ब्रह्म में रूपादि है नहीं। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण से उसका ज्ञान होगा नहीं। अद्वितीय ब्रह्म में कोई हेतु भी नहीं है। और अद्वितीय ब्रह्म को शारीरक शब्द के द्वारा विचारित किया जाता है, यह बात बन नहीं रही। सगुण का प्रसङ्ग प्रासङ्गिक है और वेदान्त से ब्रह्मधर्मी का ज्ञान नहीं होगा। उसमें भी विचार से पूर्व तो ब्रह्मधर्मी का ज्ञान सम्भव नहीं है। अन्यथा विचार व्यर्थ हो जायेगा। ब्रह्मधर्मी का आपात ज्ञान भी विचार के बिना नहीं हो सकता। क्योंकि अभी तक किसी प्रकार का विचार हुआ ही नहीं है। साथ में निर्विशेष ब्रह्म तो अपरोक्ष है। उसके साथ परोक्ष ज्ञान का संबंध क्या बन पायेगा? अर्थात् अपरोक्ष निर्विशेष ब्रह्म के साथ परोक्ष ज्ञान का सम्बन्ध नहीं होगा। परिणाम यह होगा कि न तो शिष्य में जिज्ञासा पैदा होगी और न उस जिज्ञासा के शान्ति के लिये आगे के वेदान्त शास्त्र की जरुरत ही है।

समाधान= विचार पहले भी वेदान्त के श्रवण से अधिकारी पुरुष में जिसे पदपदार्थ का ज्ञान है, उसमें निर्विशेष ब्रह्म जानने की इच्छा (जिज्ञासा) उत्पन्न होती है और निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार रुप ज्ञान तो हो ही जाता है लेकिन असम्भावना, विपरीत भावनादि चित्त दोष के कारण प्रमाण भी अप्रमाण रूप से भासता है, कलङ्कितम् आपातज्ञान के कारण

जैसे काई के नीचे छिपा हुआ जल देखकर भी जल का फल तृष्णा निवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार इन दोषों के रहते हुये निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है।

(सामान्य विशेष भाव से रहित ब्रह्म में सामान्य विशेष भाव असंभव है और जो ब्रह्म अपरोक्ष है उसमें परोक्ष ज्ञान का योग नहीं हो सकता, अतः उसकी जिज्ञासा सम्भव नहीं है, और जिस विषय की जिज्ञासा ना हो उसमें प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः शारीरक मीमांसा रूप यह ग्रन्थ असङ्गत है) इसके निराकणार्थ वेदान्त विचार की प्रयोजक ऐसी शिष्य की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है- और उस जिज्ञासा के शांति के जिसे वेदान्त शास्त्र भी सफल ही है- इसमें कोई असंगति नहीं है। इस बात को सदृष्टान्त अग्रिम चारों श्लोकों के द्वारा कथित कर रहे हैं—

पुरुषापराधमलिना धिषणा,
निरवद्यचक्षुरुदयाऽपि यथा।
न फलाय भर्च्छुविषया भवति,
श्रुतिसम्भवाऽपि तु तथाऽऽत्मनि धीः।।१४।।

अन्वयः= भर्च्छुविषया निरवद्यचक्षुरुदयाऽपि पुरुषापराधमलिना धिषणा यथा न फलाय भवति तथा आत्मनि श्रुतिसम्भवापि धीः (न फलाय भवति)।।

अन्वयार्थः= जिस प्रकार दोषरहित चक्षु से देखा हुआ भर्च्छु, पुरुषगत दोषों के कारण- भर्च्छु विषयक बुद्धि भर्च्छु स्वरुप का साक्षात्कार होने नहीं देती है, इस प्रकार श्रुति से उत्पन्न आत्मविषयक बुद्धि भी प्रमाता पुरुषमें आत्मस्वरूप का निश्चय नहीं करा सकती।

पुरुषापराधेति। पुरूषस्य प्रमातुरसम्भावनादिलक्षणेनापराधेन मलिना अप्रामाण्यशङ्कया कलङ्किता, न तु प्रमाणस्यापराधेन, तस्य दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च निर्दोषत्वात्। ननु निर्दुष्टप्रमाणजन्यं ज्ञानम् अप्रामाण्यशङ्कावशादध्यासं न निवर्तयतीति क्व दृष्टमित्याशङ्क्य-दृष्टान्तमाहनिरवद्येति।

भर्छुर्नाम कश्चित्कस्यचिद्राज्ञोऽत्यन्तं वल्लभो ब्राह्मणो राजोपजीविभिर्मात्सर्याद्-द्विष्यमाण आसीत्। स कदाचिद् दैवयोगान्नेत्रेपिधायारण्येप्रक्षिप्तश्चिरं तत्र स्थितो दैवयोगेनारण्यकैः सह पुरसमीपमागतोऽपि विद्वेषिराजकीयावरूद्धपुरमार्गः पुरं प्रवेष्टुं न शशाक। राजा च "भर्छुर्मृतः प्रेतो जातः" इति तैः प्रबोधित सन् तथैव निश्चयमकरोत्। दैवात्कदाचिद्बहिर्गतो बाह्योपवने तं दृष्ट्वाऽपि ब्रह्मराक्षसं मेन इति।

"यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्" (छा.

अ. ६ खं. १४ श्रु. १) इत्यादिश्रुतिमूला ग्रन्थकर्तृदेशप्रसिद्धिः। यथा भर्छुविषया निर्दोषचक्षुर्जनिता प्रमाणभूताऽपि मतिः ''मृतो भर्छुर्द्रष्टुमयोग्य एव किन्तु प्रेत एवायं दृश्यते'', इत्यसम्भावनाविपरीतभावनारूपपुरूषदोषेणाभिभूता "भर्छुरेवायम्" इति निश्चयफलाय पर्याप्ता न भवति, तथा निर्दोषवेदान्तमहावाक्यजन्या प्रमाणभूताऽपि "अहं ब्रह्मास्मि" इति धीः "वेदान्ता ब्रह्मपरा न भवन्त्येव, अद्वितीयं ब्रह्म न सम्भवत्येव, संसार्यसंसारिणोरैक्यं न सम्भवत्येव" इत्यसम्भावनाविपरीतभावनारूपपुरूषदोषाभिभूता विचारात्प्रागज्ञानादिनिवृत्तिफलाय न पर्याप्ता भवतीत्यर्थः।।१४।।

पुरुषापराधेति= प्रमाता पुरूष में असम्भावनादि जो दोष के कारण, मलिन= अप्रामाण्य शंका से बुद्धि कलङ्कित हो जाती है। इसमें प्रमाण का अपराध नहीं है। लेकिन प्रमाता में असम्भावनादि दोष हैं। प्रमाण तो दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त दोनों में निर्दुष्ट है।

प्रश्न- निर्दोष चक्षुरादि प्रमाणजन्यज्ञान, अप्रामाण्यशङ्कारूप अध्यास की निवृत्ति करने में असमर्थ है यह कहाँ देखा गया?

उत्तर- निरवद्येति= भर्च्छुविषयक निर्दोष आखों ने देखा तो भी अप्रामाण्यशङ्का का अध्यास बना ही रहा कि वह भर्च्छु नहीं हो सकता। प्रसङ्ग यह कि किसी एक राजा का भर्च्छुनामक मंत्री था। उससे अन्य जलने वाले लोगों ने भर्च्छु की आंखे बन्द करके उसे जंगल में छोड दिया और उन लोगों ने राजा को समझाया कि भर्च्छु मर गया है, भर्च्छु जब आंख की पट्टी खोलकर राजनगरी में प्रविष्ट होने लगा तो विद्वेषियोंने उसे घुसने ही नहीं दिया। विचारा भर्च्छु जंगल में जाकर तपस्या करने लगा। एक दिन राजा ने उसे देखते ही समझ लिया कि भर्च्छु ब्रह्मराक्षस हो गया है फिर क्या था राजा तो वापस भाग ही आया। "यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्" (छा. अ. ६ ख. १४ श्रुति- १) इस श्रुति के आधार पर ग्रन्थकार ग्रन्थ का प्रारम्भ कर रहे हैं।

तो जिस प्रकार भर्च्छु को राजा निर्दोष आंखों से देखकर भी भर्च्छु मरा हुआ है, और यह जो सामने दिखाई दे रहा है- यह भूत है, भर्च्छु नहीं है- ऐसी राजा की विपरीत भावना हुई। इससे यह वास्तविक भर्च्छु है- ऐसी बुद्धि नहीं हो सकती- क्योंकि राजा की बुद्धि भर्च्छुविषयक असंभावना एवं विपरीत भावना से आक्रान्त हो चुकी थी। इसी प्रकार- "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसी वेदान्त वाक्य जन्य प्रमाभूत- बुद्धि भी, अद्वितीय ब्रह्म है नहीं, यह असंभावना तथा वेदान्त ब्रह्म परक नहीं है- क्योंकि संसारी जीव और असंसारी ब्रह्म की एकता हो ही नहीं सकती- इस विपरीत भावना से आक्रान्त बुद्धि- ब्रह्म विचार

से पहिले- अज्ञान, अविद्यादिक की निवृत्ति करने में सफल नहीं हो सकती।

मानमेययोरूपनिषद्ब्रह्मणोर्निर्दोषत्वात्परिशेषात्प्रमातृदोष एव फलप्रतिबन्धक इति शास्त्रीयेण विचारेण तस्यापगमे सति अप्रामाण्यशङ्कारूपप्रतिबन्धाभावात् पुनस्तस्मादेव निर्दोषवेदवाक्यात्सफला धीरुदेति। यथा भर्छुर्दुर्जनैररण्ये प्रक्षिप्तो जीवन्नेव पुनरागत इत्युपपत्त्या भर्छुज्ञानाप्रामाण्यशङ्काकारणपुरुषापराधविगमे सति तद्विषया "भर्छुरेवायम्" इति सफला धीरुदेतीत्याह-

अवतरणिका : प्रमाण उषनिषद् और प्रमेय ब्रह्म दोनों ही निर्दोष है। दोष तो केवल प्रमाता का है। वही जीव बह्मैक्य रूप फल में प्रतिबन्धक है। उस दोष की निवृत्ति शास्त्रीय विचार के माध्यम से प्रमातागत अप्रामाण्यशङ्कादिक की निवृत्ति हो जाने से (प्रतिबन्धकाभाव हो जाने से) पुनः उसी अहं बह्मास्मि निर्दोष वेद वाक्य से जीव ब्रह्मैक्य रूप बुद्धि उत्पन्न होती है। अब इधर भर्च्छु भेष बदलकर राजा के पास पहुंचा, उसने सारी कहानी राजा को सुनाई तो राजा की भर्च्छुविषयक अप्रामाण्य शंका चली गई और राजा को उन्हीं अपनी आंखों से "यह भर्च्छु ही है" ऐसा बोध हुआ इस बात को बताते हैं–

प्ररुषापराधविगमे तु पुनः
प्रतिबन्धकव्युदसनात्सफला।।
मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा,
सति पावकाद्भवति धूमलता।।१५।।

अन्वयः= यथा पावकात् मणिमन्त्रयोरपगमे सति तु धूमलता भवति (तथा) प्रति– बन्धक व्युदसनात् पुनःपुरुषापराधविगमे (प्रमाता) बुद्धिः सफला (भवति) (प्रमिताक्षरा छन्द)

अन्वयार्थः= पुरुषगतदोषों की पुनः निवृत्ति होने से प्रतिबन्धरहित श्रुति से उत्पन्न बुद्धि अपने कार्य करने में सफल हो जाती है। जैसे कि अग्नि चन्द्रकान्त मणि के हट जाने पर जलाने का कार्य तथा धूमादिक को उत्पन्न करने में सफल हो जाती है।

पुरुषापराधेति। अत्रानुरूपं दृष्टान्तान्तरमाह-मणीति। तु-शब्दोऽवधारणे। मणिमन्त्रयोर्धूमोत्पत्तिप्रतिबन्धकयोरपगमे सत्येव लताकारो धूम उद्भवति पावकात् सदा धूमजननसमर्थान्नान्यथा यथा तथेहापीत्यर्थः।।१५।।

तु- अवधारणार्थ' निश्चितरूप से, पावकाद् मणिमन्त्रयोः- धूम के प्रतिबन्धकी भूत चन्द्रकान्तमणी आदि की, अपगमे- हटजाने से (हटाने से) धूमलता- भवति- धूम प्रकटित होता है- इसी प्रकार- जीवब्रह्मैक्य की प्रतिबन्धक भूता असंभवना विपरीत भावना के कारण,

पुरूषापराध- प्रमतागत दोष की, विगमे= वेदान्त विचार से हट जाने के बाद, पुनः- फिर सफला (भवति)- जीव ब्रह्मैक्य रूप फल को बुद्धि प्रदान करती है।

भवतु पुरूषापराधविगमात्सफला धीस्तावता विचारशास्त्रस्य किमागतमित्यत्राह-

प्रमातागत अपराध निवृति सफल होने पर भी (वेदान्तविषयक) विचार शास्त्र की क्या आवश्यकता है? उत्तर देते हैं तो।

पुरूषापराधविनिवृत्तिफलः
सकलो विचार इति वेदविदः।।
अनपेक्षतामनुपरूध्य गिरः
फलवद्भवेत्प्रकरणं तदतः।।१६।।

अन्वयः= वेदविदः सकलो विचार पुरूषापराधविनिकृत्तफलः' इति अनपेक्षतामनुपरूध्य गिरः तदतः प्रकारणं फलवद्भवेत्–

अन्वयार्थः= सकल विचार (पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा) वेदवचन की अनपेक्षता उपरोध बाधन करके ही पुरूषगत दोष को हटाकर सफल है। ऐसा यह वेद वेत्ताओं ने कहा है। अतः यह प्रकरण ग्रंथ सफल है।

पुरुषेति। सकल इति। धर्मविषयो ब्रह्मविषयश्चेत्यर्थः। वेदविदः शबरस्वामिप्रभृतय आहुः धर्मजिज्ञासासूत्रव्याख्यायाम्, अर्थादिति शेषः। तेषामेतदभिप्राये प्रमाणमाह- अनपेक्षतामिति। प्रथमतन्त्रे ह्यौत्पत्तिकसूत्रे लोके शब्दस्य प्रमाणान्तरमूलस्यैव प्रामाण्यात्तदभावेऽनाप्तवाक्यवद्वेदा-प्रामाण्यमाशङ्क्य अनाप्तवाक्यस्याप्रामाण्यं न मूलाभावकृतं किं तु दुष्टपुंमूलतया दुष्टत्वेन स्वभावप्रयुक्तप्रामाण्यप्रतिबन्धात्। वेदे तु पदपदार्थसम्बन्धस्य नित्यतया तत एव वाक्यार्थ-सम्बन्धेऽन्यानपेक्षणाद्वेदस्वरूपस्यापौरूषेयत्वाच्च न पुरुषमूलतेत्यनपेक्षत्वेन स्वतःप्रामाण्यमुक्तम्। तद्यदि विचारादिकमपेक्ष्य वेदोऽर्थं प्रतिपादयेत्तर्हि सापेक्षतया तस्यानपेक्षत्वं बाधितं स्यादिति सर्वोऽपि विचारः प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रहेतुरिति सर्ववेदवित्संमतमित्यर्थः। गिरो वेदस्यानपेक्षताम् "अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" (जै० सू० अ० १ पा०१ सू० ५) इत्यत्र प्रतिपादितामनुपरूध्याबाधित्वा सकलो विचारः पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः इति वेदविद आहुरिति सम्बन्धः। विचारस्य प्रतिबन्धनिवृत्तिसाधनत्वे फलितमाह- फलवदिति। अत इति प्रतिबन्ध-निरासित्वाभ्युपगमादित्यर्थः। प्रकृष्टं करणं निर्माणं यस्य विचारशास्त्रस्य तदित्यर्थः। अथ वा उक्तरीत्या शारीरकारम्भे निर्दुष्टे सति तदर्थाविष्करणाय प्रकृतप्रकरणं फलवदित्यर्थः।।१६।।

वेदविदः- शबरस्वामीप्रभृतिक आचार्य धर्मजिज्ञासा सूत्रादि के व्याख्यान के समय में- पुरुषापराधविनिवृत्तफलः- प्रमातापुरुष के अपराध अपनोदनार्थ ही। सकलोविचार इति- सम्पूर्ण वेद शास्त्र प्रवृत्त हैं, ऐसे मानते हैं। पूर्वमीमांसा के औत्पत्तिक सूत्र में "अर्थेऽनुपलब्धे" प्रसङ्ग में लोक में शब्द की प्रमाणता- अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अधीन मानी जाती है। इसके अभाव में शब्द को लौकिक में अप्रमाण माना जाता है। अन्यथा अनाप्तवाक्य भी प्रामाणिक होगा। कहीं यही आपत्ति वेद में न जाय एतदर्थ कहते हैं कि अनाप्त वाक्य की जो अप्रमाणता है वह शब्द प्रमाण करके नहीं किन्तु दुष्ट पुरुष के द्वारा दूषित होने से वह शब्द अप्रामणिक हो जाता है। क्योंकि अनाप्तवाक्य उच्चरित पदपदार्थों की उपलब्धि वैसी नहीं हो पाती जैसी आप्तव्यक्ति के उच्चरित की है। लेकिन वेद में पदपदार्थ का संबंध नित्य होने से- वाक्यार्थ सम्बन्ध में अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है और वेद अपौरूषेय होने के कारण क़िसी पुरुष की मूलरूप से आवश्यकता नहीं है- अतः वेद स्वतः प्रमाण है। इसी प्रकार यदि वेद विचारादिकों की अपेक्षा करके अर्थ का प्रतिपादन करें तो वेद भी सापेक्ष होगा- और उसकी अनपेक्षतारूप स्वतः, प्रमाणता बाधित हो जायेगी। इसलिए सब विचार चाहे धर्म विषयक हो या ब्रह्मविषयक हो दोनों भी प्रामतागत प्रतिबन्धक निवृत्तिपरक हैं ऐसा सब वेदवित् मानते हैं। गिरो- वेद किसी अन्य प्रमण की अपेक्षा नहीं करता है। अर्थेऽनु- पलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात" (जै. सू. अ. १ पाद. १ सूत्र ५), इस सन्दर्भ में वेदप्रतिपादित अर्थ की स्वतः प्रमाणता रखकर कोई बीच में बाधा न रखते हुये सम्पूर्ण विचार केवल प्रमातागत दोषों को हटाने का काम करता है। विचार के प्रतिबन्ध हटाने से क्या फल मिला? तो फलवदिति- प्रतिबन्ध की निवृत्त परक विचार शास्त्र के हो जाने से प्रकृत जो प्रकरण ग्रन्थ है- वह सफल हो गया है।।१६।।

प्रतिबन्धनिवृत्तेरहेतुत्वे स्वतोऽपुरुषार्थत्वे च कथं तन्निष्ठं प्रकरणं फलवदित्याशङ्क्य विवक्षितकार्यविरोधिनि तदनुत्पादस्याग्रिमसमयसम्बन्धप्रयोजके प्रतिबन्धके सति समर्थात्कारण-सहस्त्रादपि कार्यानुदयाद्वर्णिताग्रिमसमयसम्बन्धाभावसंपादकतयाऽन्यथासिद्धोऽपि प्रतिबन्धका-भावः कार्येण स्वोत्पत्तयेऽपेक्ष्यते इति प्रकरणं तन्निष्ठमपि फलवदित्याह-

आशंका- प्रतिबन्ध निवृत्ति कोई हेतु नहीं होती और न तो वह पुरुषार्थ भी है- फिर विचार परक प्रकरण ग्रन्थ कैसा सफल हुआ?

समाधान- अभिलषित कार्य विरोधी उसकी उत्पत्ति ही। कार्यसिद्धि जब तक न हो, तब तक होनी नहीं देनी चाहिये अन्यथा सहस्त्र समर्थ कारण होने पर भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः प्रतिबन्धकाभाव अन्यथा सिद्ध होने पर भी कार्य के सिध्दि तक

प्रतिबन्धक का संबंध स्थापित न हो सके- जिसके कारण प्रतिबन्धकाभाव कार्य के साथ कार्य की सिद्धि के लिये अपेक्षित ही है। इसलिये कारण कोटि में प्रतिबन्धकाभाव भी माना जाता है। अतः प्रकरण ग्रन्थ जीवब्रह्मैक्य रूप कार्य की सिद्धि के लिये प्रकरण ग्रन्थ अपेक्षित (फलवत्) है। इस बात को कह रहे हैं—

पुरुषापराधशतसंकुलता
विनिवर्तते प्रकरणेन गिरः।।
स्वयमेव वेदशिरसो वचनादथ
बुद्धिरूद्भवति मुक्तिफला।।१७।।

अन्वयः— पुरुषापराधशतसंकुलता गिरः प्रकरणेन विनिवर्तते। अथ स्वयमेव वेदशिरसो वचनात् मुक्तिफला बुद्धिरुद्भवति।

अन्वयार्थः— वेद वचन पर आरोपित पुरुषनिष्ठ अनन्त दोषों की निवृत्ति इस प्रकरण ग्रन्थ से होती है। इसके बाद तो वेदान्त वाक्यों से खुद ही मुक्ति फल प्रदायक बुद्धि उत्पन्न होती है।

पुरुषापराधशतेति। शास्त्रेणैव प्रतिबन्धस्य निरस्तत्वात्किं प्रकरणेनेत्याशङ्क्य पुरुषदोषाणामनन्तत्वात् "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" (ब्र० सू० अ० ४ पा० १ सू० १) इति न्यायेन तत्सार्थक्यमुक्तम्-शतेति। गिरो वेदलक्षणायाः शास्त्रलक्षणायाश्च। स्वयमेव इतरासहकृतादेव। अथ प्रतिबन्धनिवृत्त्यनन्तरं मुक्तिफला विद्या वेदशिरसो वाक्यादुद्भवति। अभ्यासदशायां केवलाच्चक्षुष इव जलज्ञानम्, अतो न सापेक्षत्वमित्यर्थः। पुरुषापराधाकुलत्वं चाप्रामाण्यशङ्कैवेत्युक्तं जिज्ञासापूर्वकविचारहेत्वापातज्ञानोपपादनम्। प्रमिताक्षरावृत्तम्।।१७।।

पुरुषापराधशतसंकुलता- उन अनन्त दोषों को हटाने के लिये प्रकरण ग्रन्थ की आवश्यकता है। वाणी स्वयं दोष हटा देती है अन्य की अपेक्षा नहीं करती है। विनिवर्तते प्रकरणेन गिरः आवृत्तिरसकृदुपदेशात् (ब्र० सू० ४/१/१) इस न्यायसे यह प्रकरण ग्रन्थ सार्थक है। वेदलक्षणमुक्त शास्त्र लक्षण युक्त वाणी (प्रकरण ग्रन्थ वाली वाणी) दोषों को हटा देती है। अथ प्रतिबन्ध के निवृत्ति अनन्तर मुक्तिफला-ब्रह्म-विद्या, जीवब्रह्मैक्य रूपज्ञान, वेदशिरसो वचनात्- वेद के महावाक्यों से, उद्भवति- उत्पन्न होता है। जिनका रोजाना पानी के तालाब को देखने का अभ्यास पड़ा हुआ है- ऐसा व्यक्ति अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा न करता हुआ केवल चक्षु मात्र से जल का प्रत्यक्ष ग्रहण कर लेता है- इसी प्रकार प्रतिबन्धों को हटाने के बाद केवल महावाक्य से अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुये जीवब्रह्मैक्य रूप विद्या से मुक्तिफल प्राप्त हो जाता है।

पुरुषापराधाकुलत्वं- (अप्रामाण्यशङ्कास्कन्दित ज्ञानस्यैवापातज्ञानत्वात् तथाच ब्रह्मणोऽत्यन्तानुपलब्धत्वं नास्ति) पुरुषापराध से आकुल होना यह अप्रामाण्य शंका, असंभावना, विपरीत भावना से प्रेरित है- वहां यही अप्रामाण्य शंका ही जिज्ञासा पूर्वक विचार का हेतु है। ऐसा जो आपात ज्ञान उसका उपादान कारण भी है। इससे विचार प्रतिपादक प्रकरण ग्रन्थ की सफलता सिद्ध हुई। इससे ब्रह्म की अत्यन्त अनुपलब्धता नहीं है। यह बात भी सिद्ध हो गई है।।१७।।

नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां तात्पर्यज्ञानं वाक्यार्थज्ञानहेतुः शक्तिज्ञानवत्तच्च विचाराधीनमिति चेत्तत्राह-

प्रश्न- वाक्यार्थज्ञान का हेतु तात्पर्यज्ञान है जैसे वाक्यार्थ ज्ञान का हेतु शक्तिज्ञान है- जहां-जहां तात्पर्यज्ञान है, वहां-वहां वाक्यार्थ ज्ञान है, जहां तात्पर्य ज्ञान नहीं है वहां वाक्यार्थ ज्ञान नहीं है। ऐसा अन्वयव्यतिरेक से देखा गया है। और तात्पर्य ज्ञान विचाराधीन है- इस पर कहते हैं—

स्वाध्यायवन्न करणं घटते विचारो
नाप्यङ्गमस्य परमात्मधियः प्रसूतौ
सापक्षेताऽऽपतति वेदगिरस्तथात्वे
ब्रह्मात्मनः प्रमितिजन्मनि तन्न युक्तम्।।१८।।

अन्व्यः= विचारो स्वाध्यायवन्न करणं घटते, परमात्मधियः प्रसूतौ (विचारो) अङ्गमपि न (भवति)। तथात्वे वेदगिरः सापेक्षताऽऽपतति। ब्रह्मात्मनः प्रमितिजन्मनि तन्न युक्तम्।।

अन्वयार्थः= विचारशास्त्र परमात्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति में न तो करण है और न कारण भूत स्वाध्याय का अङ्ग ही बन सकता है, क्योंकि विचार शास्त्र को करण या अङ्ग मानने से ब्रह्म साक्षात्कार उत्पत्ति में वेद वचन को अन्य की अपेक्षा लेनी होगी जो उचित नहीं है।

स्वाध्यायवदिति। स्वाशाखागतवेदवाक्यवदित्यर्थः। घटते युज्यते। अस्य-स्वाध्यायस्य किं विचारो वेदान्तवाक्य-वत्तदर्थज्ञाने करणम् उताङ्गं, नाद्यः, प्रत्यक्षादिवद्विचाराख्यप्रमाण-स्याप्रसिद्धत्वात्तर्करूपस्य तस्य प्रमाणानुग्राहकत्वेन स्वतोऽप्रमाणत्वाद् वाक्यकरणकज्ञानस्य करणान्तरानपेक्षत्वाज्ज्ञानान्तरस्य चासत्त्वात्। द्वितीये च न प्रोक्षणादिवदाग्नेयादेर्वेदस्य विचारः स्वरूपोपकार्यङ्गं, तद्वदत्र श्रुत्यादिविनियोजकाभावात्स्वाध्यायस्वरूपस्य स्वतः सिद्धत्वेन तत्रानुपयोगाच्च। अस्तु तर्हि प्रयाजादिवत्परमात्मज्ञानोत्पत्तावारादुपकार्यङ्गम् तदुक्तम् इतिकर्तव्यता-भागं मीमांसा पूरयिष्यति" इति "प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्कः" इति च, तन्न। प्रयाजादिभिराग्नेयादिषु

फलानुकूलशक्तिवद्वेदे तत्त्वसाक्षात्कारजननानुकूलशक्तेराधानाभावात्। न हि वाक्यस्यौत्पत्ति-कार्थप्रकाशनशक्त्यतिरेकेण विचाराधेयं किञ्चिदस्ति। तदङ्गत्वावेदकप्रमाणाभावस्योक्तत्वाच्च। करणोपकारस्य शक्त्यादिज्ञानेनैव सिद्धेश्च। उभयत्र साधारणं प्रागुक्तं दूषणं स्मारयति। सापेक्षतेति। आपततीति च्छेदः। तथात्वे विचारस्य करणत्वेऽङ्गत्वे वा तत्सापेक्षत्वापतनं न युक्तं प्रागुक्तन्यायेनेत्यर्थः।।१८।।

स्वाध्यायवदिति।= "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" अपने-अपने वेदशाखा का अध्ययन करना चाहिये- इस बोध के प्रति- "स्वाध्यायोऽऽध्येतव्यः यह वाक्य करण है। क्या विचार वेदान्त वाक्यार्थ ज्ञान में करण या अङ्ग है? दोनों भी नहीं है? इस प्रकार विचार वेदान्त वाक्यार्थ ज्ञान के प्रतिकारण नहीं बन सकता। न तो वेदान्तवाक्यार्थ ज्ञान का अङ्ग भी बन सकता है करण क्यों नहीं बन सकता तो कहते हैं कि विचार कोई प्रत्यक्षादि प्रमाणों के सदृश प्रसिद्ध प्रमाण नहीं है। यदि विचार को तर्क रूप माना जाय तो वह तर्क प्रमाणों का अनुग्राहक होगा स्वयं विचार रूप (विचारात्मक) तर्क प्रमाण नहीं बन पायेगा, इसके बाद भी वाक्य का कारण शक्ति ज्ञान है अन्य कारणान्तर की जरूरत नहीं है- जब उस अवस्था में अन्य ज्ञानान्तर है नहीं तो फिर विचार किस ज्ञान का करण बन पायेगा। अर्थात् अन्य ज्ञान न होने से विचार करण नहीं बन पायेगा। अब विचार अङ्ग नहीं बन सकता इसका प्रतिपादन करते हैं व्रीहिन् प्रोक्षति" देवतानिमित्त चावलों को जल से प्रोक्षित किया जाता है। वह-प्रोक्षण अग्न्यादि देवाताओं का अङ्ग है- वैसा विचार वेद का अङ्ग नहीं बन सकता। क्योंकि वहां चावल प्रकरण में श्रुति प्रयोजक है। लेकिन "स्वाध्यायोऽऽ-ध्येतव्यः" यहां अन्य प्रयोजक बिना-स्वतः-सिद्ध यह प्रयोग होने से विचार यहां अङ्ग नहीं बन सकता अर्थात जीवब्रह्माभिन्न है इस ज्ञान के प्रति विचार न तो करण है और न ही अङ्ग है। विचार तो वाक्य के अर्थ का प्रकाशन मात्र करता है। अर्थात् प्रतिबन्ध निवर्तकत्व मात्र है। न कि साक्षात्कार जननानुकुल किसी शक्ति विशेष का आधान करके अङ्ग बनता है। इस प्रकार से विचार करण बन ही नहीं पाता क्योंकि उसका सारा का सारा काम शक्ति ज्ञान से ही सम्भव हो जाता है- "अस्मात् पदात् अयमर्थः बोध्यव्यः" यदि इन बातों को माना जाय अर्थात् विचार को करण अथवा अङ्ग वाक्यार्थ ज्ञान के प्रति माना जाय तब तो वेदवचन में सापेक्षता आयेगी। उसकी स्वतंत्रता तथा निरपेक्षता समाप्त हो जायेगी। कहां? ब्रह्मात्मनः, जीवब्रह्मैक्यरुप, प्रमिति ज्ञानमें, तन्न युक्तम्- वह उचित नहीं है। क्योंकि वेद अपौरुषय है। स्वतः प्रमाण है, अन्य प्रमाण सापेक्ष नहीं है। इत्यादिः

यत्तु तात्पर्यज्ञानं नियतान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यार्थज्ञाने कारणं शक्तिज्ञानादिवत् तच्च विचाराधीनमिति विचारस्याङ्गत्वमिति तत्राह

एक अन्य प्रतिवादी फिर आशंका करता है कि तात्पर्यज्ञान नियम से अन्वय व्यतिरेक के द्वारा देखा गया है कि ज्ञान के प्रति वह कारण है। और वह तात्पर्यज्ञान विचार के अधीन होने के कारण विचार को वाक्यार्थ ज्ञान के प्रति अङ्ग मानना ही चाहिये- इसपर कहते हैं–

व्युत्पन्नस्य हि बुद्धिजन्म सहसा वाक्यश्रुतौ दृश्यते
वाक्यार्थे न ततोऽस्ति बुद्धिजनने मीमांसनव्यापृतिः।।
तेनार्थात्करणादिभावभजने मीमांसनस्याश्रिते
वेदार्थप्रमितौ तु वेदवचसः सापेक्षताऽऽयास्यति।।१६।।

अन्वयः– व्युत्पन्नस्य हि वाक्यश्रुतौ बुद्धिजन्म सहसा दृष्यते ततो वाक्यार्थे बुद्धिजने मीमांसनस्याश्रिते वेदनचसः वेदार्थप्रतितौ तु सापेक्षता आयास्यति।

अन्वयार्थः– वाक्य का श्रवण होने पर व्युत्पन्न व्यक्ति जिसे पद शक्ति का ग्रहण हो चुका है। ऐसे व्यक्ति को वाक्यार्थ बोध एकदम हो जाता है। ऐसी अवस्थामें वाक्यार्थ बोध होने में विचार की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः वेदार्थ विषयक प्रमाकी उत्पत्ति में (तात्पर्य ग्रहण) द्वारा विचार को अङ्ग अथवा करण मानने से वेद वचन में सापेक्षता की आपत्ति होगी।

व्युत्पन्नस्येति। सहसा झटिति, विनैव तात्पर्यज्ञानाभावनिमित्तविलम्बं, व्युत्पन्नस्य शक्त्यादिज्ञानवतः, वाक्यस्य श्रुतौ श्रवणे, ततः नियतान्वयव्यतिरेकाभावात्। मीमांसनस्य तात्पर्यज्ञानस्य तदर्थविचारस्य च वाक्यार्थबुद्धिजनने न व्यापृतिर्नोपयोग इत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति-न हि तात्पर्यज्ञानं नियमेन वाक्यार्थज्ञानात्पूर्वं सम्भवति। गवानयनादिवाक्यश्राविणां तज्ज्ञाननैयत्याभावात्। न हि तदा तात्पर्यव्याप्तलिङ्गज्ञानं तेषामस्ति, समभिव्याहारमात्रस्य "अहो विमलं जलं नद्याः कच्छे महिषश्चरति" इत्यत्रानन्वितयोर्नदी-कच्छयोरपि दर्शनेन तदलिङ्गत्वात्। न च यत्रैकवाक्यत्वं तस्य वाक्यस्य विशिष्टार्थे तात्पर्यमिति वाच्यम्। तस्यापि प्रतारकवाक्यादौ व्यभिचारात्!। एकवाक्यताज्ञानादेव नियतार्थज्ञानसंभवेन तात्पर्यज्ञानस्य तत्रोपयोगाभावच्च। अर्थवादादेः प्रतीयमानार्थे तात्पर्याभावनिश्चयेऽपि तद्गतपदशक्त्यादिस्वारस्येन विशिष्टार्थप्रतीतेश्च न तात्पर्यज्ञानं तत्र कारणम्। नानार्थपदप्रयोगादपि तत्तत्पदार्थोपस्थितियोग्यताद्यनुरोधेन कदाचित्कस्यचिदर्थस्य प्रतीत्युपपत्तेश्च। न हि तत्र सर्वपदार्थस्मरणं नियमेनास्ति। यत्रास्ति तत्र योग्यतादि-ज्ञानमस्तीति चेत्। युगपत्तावदर्थज्ञानमस्तु किं तात्पर्यज्ञानेन। तत्तत्संसर्गघटिततात्पर्यज्ञानस्य तत्तत्संसर्गात्मकवाक्यार्थबोधात्प्रागनुपपत्तेश्च न तात्पर्यज्ञानस्य तत्र हेतुत्वं संभवतीति। ननु

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादिना ज्ञानोद्देशेन श्रवणादिविधानात्कथं तस्य तदहेतुत्वं तत्राह- तेनेति। येन कारणेन विचारोऽङ्गतया करणतया वा न वाक्यार्थज्ञानोपयोगी तेनेत्यर्थः। अर्थादनुपपत्त्या करणादिभावभजने उद्देश्यज्ञानविशेष्यांश इति शेषः। वेदार्थप्रमितौ जनयितव्यायामायास्यतीति पदम्। श्रुतौ द्रष्टव्यपदेन नात्मज्ञानमात्रमुद्दिश्यते आपातात्मज्ञानस्य प्रागेवोत्पन्नत्वात्। किं त्वप्रतिबद्धमात्मदर्शनम्। एवं च तदुद्देशेन विहितो विचारो विशेषण एव पर्यवस्यति। ज्ञानमात्रस्य प्राक्सिद्धस्य तत्साध्यत्वानुपपत्तेरिति श्रुतितोऽपि न विचारस्य ज्ञानं प्रति हेतुत्वमिति प्रागुक्तैव गतिरिति भावः।।१६।।

व्युत्पन्नस्य- (शब्दन्यायविदपुरुष को) शक्त्यादि ज्ञान संपन्न पुरुष को। हि-निश्चयरुप से, वाक्यश्रुतौ-गामानय इत्यादि वाक्य के श्रवण के बाद, सहसा= झटिति, तुरन्त ही (तात्पर्य ज्ञान की प्रतीक्षा किये बिना ही) बुद्धिजन्य-बोध हो जाता है। ततो-नियत अन्वयव्यतिरेक का अभाव होने से अर्थात् वाक्यार्थ ज्ञान के प्रति तात्पर्य ज्ञान की नियत रुप से उपस्थिति न होने पर भी। वाक्यार्थबुद्धिजनने-वाक्यार्थ बोध उत्पन्न होने के कारण। मीमांसनस्य- तात्पर्य ज्ञान की विचारात्मक मीमांसा की अथवा तात्पर्य ज्ञान का प्रयोजक विचार की न व्यापृतिः अस्तिः- वाक्यार्थ बुद्धिजन्म में तात्पर्य ज्ञान की अथवा तात्पर्य ज्ञान की प्रयोजक विचार की उपयोगिता नहीं है। विचार तो प्रकरण का ज्ञापक ही मात्र है। और कुछ नहीं।।

अभिप्राय तात्पर्यज्ञान नियम से वाक्यार्थ ज्ञान के पूर्व संभव नहीं हो सकता। गौ को ले आवो- इत्यादि वाक्य सुनने वालों को और उसमें भी जिनको शक्ति का ज्ञान है उनके प्रति तो तात्पर्य ज्ञान नियम से आवश्यक नहीं है। कहीं कहीं तो केवल समभिव्याहार मात्र से ही जैसे- अहो विमलजलयुक्त नदी के किनारे भैंस चरती हैं अहो विमलं जलं नद्याः कच्छेमहिषश्चरति" यहां नदी किनारा, भैंस इत्यादि को को सुनने से ही तात्पर्यज्ञान के बिना ही वाक्यार्थ बोध हो जाता है। वहां तात्पर्य ज्ञान की कोई जरूरत नहीं पड़ती। यह थोड़ा ही हो सकता है कि जहां एक ही वाक्यार्थ हो वहां विशिष्ट वाक्यार्थ के तात्पर्य की कल्पना की जाय। कहीं-कहीं व्यङ्ग भरे वाक्यों में तात्पर्यज्ञान का अभाव पाया जाता है। वहां तात्पर्यज्ञान का कोई उपयोग सिद्ध नहीं होता। आयुर्वै घृतम् घी आयु है- इत्यादि अर्थवादात्मक प्रतीयमान अर्थ में तात्पर्याभाव का निश्चय होने पर भी वाक्यगत पद शक्त्यादि स्वरसता के कारण विशिष्टार्थ प्रतीत होता है- वहां तात्पर्यज्ञान की जरुरत नहीं है। एक पद के जहां नाना अर्थप्रतीत होते हो-वहां कभी-कभी किसी किसी अलग-अलग अर्थ की प्रतीति होती है वहां नियम से सब पदार्थ स्मरण रुप तात्पर्यज्ञान विद्यमान नहीं रहता है। जिस जिस पदार्थ की उपस्थिति होती हैं वहां-वहां योग्यत्वादि को लेकर निर्वाह हो जाता है, यदि ऐसा कहो तो- युगपद् योग्यतावशात् सब पदार्थों का

ज्ञान रहने दो- तो भी तात्पर्य ज्ञान की जरूरत नहीं है। तत्तत्संसर्गघटित तात्पर्यज्ञान तत्तत्संसर्गात्मक वाक्यार्थ ज्ञान के पूर्व उपस्थित न होने के कारण तात्पर्य ज्ञान को वाक्यार्थ ज्ञान के प्रति कारण नहीं माना जा सकता।

प्रश्न— आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादि मन्त्र ज्ञानोद्देश्य से श्रवणादि का विधान करते हैं फिर विचार ज्ञान के प्रति हेतु कैसे नहीं?

उत्तर- तेनेति- जिस कारण से विचार न तो वाक्यार्थ ज्ञान का करण है और न अङ्ग ही है। अर्थात् श्रवणादिविधि विचारनिष्ठकरणादि भाव के बिना ही उद्देश्य ज्ञान के विशेष्यांश का प्रतिपादन करती है। उद्देश्य हुआ अप्रतिबद्ध ज्ञान- इसमें अप्रतिबद्ध विशेषण है और ज्ञान विशेष्य है। तो विशेष्यांशका प्रतिपादन श्रवणादि विधि वाक्य करता है। श्रुति ने द्रष्टव्यः पद का निवेश किया है। उससे आपात् आत्मज्ञान की प्राप्ति तो पहिले से ही होने के कारण तत्परक यह विधि वाक्य नहीं है किन्तु अप्रतिबन्धित (आत्म दर्शन्) आत्मज्ञान के लिये वह विधि वाक्य है। इस प्रकार इस उद्देश्य से प्रयुक्त विधि वाक्य अप्रतिबन्धित विशेषण भाग पर ही सार्थक है न कि विशेष्यां भाग ज्ञान पर सार्थक है। क्योंकि आपात् ज्ञान तो पहिले से ही सिद्ध होने से वह साध्य नहीं बन सकता इसलिये श्रुति ने भी विचार को ज्ञान के प्रति करणता (हेतु) स्वीकृत नहीं की।

अतः विचार से पूर्व मुमुक्षु को आपात प्रतिपन्न (प्राप्त) ब्रह्म जिज्ञासा के योग्य है। और विचार तो प्रतिबन्ध के निवृत्ति के कारण अर्थवान् है- यह पहिला सिद्धान्त ही दृढ है यह बात सिद्ध हुई।

एवं विचारात्पूर्वमापातप्रतिपन्नं ब्रह्म मुमुक्षुभिर्जिज्ञास्यं, विचारश्च प्रतिबन्धक-निवृत्तिमात्रेणार्थवानित्युक्तम्।

नन्वेवमपि जिज्ञास्यं ब्रह्म दृश्यं चेद् घटवदनात्मत्वान्न मुमुक्षुजिज्ञास्यं स्यात्, स्वप्रकाशं चेत्तस्य यथावत्प्रकाशमानतया न जिज्ञास्यत्वम्। न हि स्पष्टं प्रकाशमाने जिज्ञासा भवति। न च स्वप्रकाशमप्यज्ञानावृतं न यथावत्प्रकाशत इति वाच्यम्। 'अहम्' इति ज्ञानस्यैवात्मयाथात्म्यविषयत्वात्। ब्रह्मणस्तदविषयत्वे चानात्मताप्रसङ्गः। स्वप्रकाशे आत्मनि ज्ञानसाध्यप्रयोजनस्य विनाऽपि विचारं सम्भवेन विचारानर्थक्यं च।

किं चात्मज्ञानमात्रं न विचारप्रयोजनं, तस्य सुखदुःखनिवृत्त्यन्यतरत्वाभावात् तत्साध्यं चान्यत् स्वर्गादिवन्न मुमुक्ष्वभिलषितम्। संसारात्मकानर्थश्च संश्चेन्न ज्ञाननिवर्त्यः, असंश्चेन्नितराम्। अतो विषयप्रयोजनाभावान्नेदं प्रकरणमारब्धव्यमिति तत्राह—

नन्वेवमपि= जिज्ञासा का विषय ब्रह्म यदि दृश्य है तब तो घटादि के समान अनात्म रूप होने से मुमुक्षु के लिये वह जिज्ञास्य नहीं है। यदि ब्रह्म स्वप्रकाशस्वरूप है तब तो उसका यथार्थरूप से प्रकाश होने से जिज्ञास्य (जिज्ञासा का विषय) नहीं हो सकता। क्योंकि जो पदार्थ स्पष्ट तथा प्रकाशमान स्वरूप है। उसके विषय में जानने की इच्छा होती नहीं है। यदि सिद्धान्ती यह कहे कि ब्रह्म स्वप्रकाशस्वरूप होने पर भी अज्ञान से आवृत्त होने के कारण उसका यथार्थरूप से प्रकाशन नहीं होता है, यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि "अहम्-" मैं हूँ ऐसा ज्ञान ही आत्मा के यथार्थ विषयक है। यदि कहो कि ब्रह्म "अहम्" का विषय नहीं है तब तो अनात्मता प्रसङ्ग ही आयेगा। और भी स्वप्रकाश आत्मा में ज्ञान के साध्यरूप प्रयोजन का विचार के बिना भी सम्भव होने से विचार की अनर्थकता सिद्ध होती है।

अब प्रकरण ग्रन्थ के बारे में विचार किया जा रहा है।

प्रश्न= और भी आत्म विचार का (जिज्ञासा का) प्रयोजन आत्मज्ञान नहीं हो सकता-क्योंकि आत्मज्ञान सुखदुःख दोनों में से किसी की निवृत्तिरूप नहीं है। अर्थात् सुख दुःख दोनों में से किसी के अभाव स्वरूप नहीं है– ज्ञान भावरूप है न कि अभावस्वरूप। अब ज्ञान का साध्य-स्वर्गादिक के समान कोई पदार्थ होगा जो कि मुमुक्षु को अभीष्ट नहीं है। अनर्थात्मक संसार यदि है तो फिर वह ज्ञान से हटेगा ही नहीं। यदि नहीं है तो फिर किसको हटाना। इसलिये सुख दुःख निवृति स्वरूप प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता और (न ही जीव बह्म की एकता रूप विषय की) सिद्ध भी कैसे हो सकेगी? आत्मज्ञान परक यह प्रकरण ग्रन्थ का प्रारम्भ ही नहीं करें तो अच्छा है।

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं
जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगा-
दात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन।।२०।।

अन्वयः अज्ञानम् आत्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन संस्फुरद् आवरणविभ्रमशक्तियोगात् आत्मरूपम् आच्छाद्य जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिः मृषैव विक्षिपति।

अन्वयार्थः अज्ञान स्फुरित होता हुआ, आवरण और विक्षेप शक्ति के द्वारा आत्मा का वास्तविक रूप आवृत करता हुआ, आत्मा को ही आश्रय तथा विषय दोनों बनाकर जीवत्व ईश्वरत्व और जगत् रूप से मिथ्या विक्षेप पैदा करा देता है।

आच्छाद्येति। आवृत्त्येत्यर्थः। अज्ञानमनादिभावरूपं ज्ञानापनोद्यं वक्ष्यमाणं,

संस्फुरत्-स्वप्रकाशतया निरंशतया च यथावत्प्रकाशमानमप्यद्वयानन्दब्रह्मस्वरूपमाच्छाद्य विक्षिपति विविधं तत्स्वरूपविपरीतप्रपञ्चभावमापादयति। वैविध्यमेवाह- जीवेत्यादिना। तृतीयेत्थम्भावे। तथा च स्वप्रकाशस्याप्यात्मस्वरूपब्रह्मणः अविद्यया यथावदप्रकाशमानत्वाज्जिज्ञास्यत्वमुपपद्यते। प्रयोजनं च जीवेश्वरत्वादिभेदकल्पनानिवृत्तिरस्तीति काकदन्तसमं न ब्रह्मेत्याशयः। प्रपञ्चस्य ज्ञानापनोद्यत्वमाह-मृषेति। एतेनाद्वयानन्दब्रह्मस्वभावस्य कथं तद्विपरीतरूपतेति निरस्तम्। शुक्तिकादेरिवाज्ञानाद्रजतादिभाववदात्मनः प्रपञ्चभावस्याप्यज्ञानकल्पिततया मृषात्वान्न कोऽपि दोष इति भावः।

मृषात्वं च- सदसद्विलक्षणत्वमिति न सदादिपक्षोक्ता दोषाः। सदसदात्मत्वव्यावृत्तये "एव" इत्युक्तम्। नन्वज्ञानस्य सत्यत्वे कथं तत्कृतविक्षेपस्य मृषात्वं? मिथ्यात्वे वा कथं तस्याच्छादकत्वं? लोके सत्यस्यैव तद्दर्शनादित्याशङ्क्य मृषाऽप्यज्ञानमर्थक्रियाकारितयाऽऽच्छादयति विक्षिपति च, तत्कारित्वे च सत्यत्वं न प्रयोजकम् असम्प्रतिपत्तेः। किं त्वाच्छादनाद्यनुकूलशक्तिमत्त्वं, तच्च मृषात्मकेऽपि स्वप्नदृष्टे दृष्टम्। आच्छादकस्य लोकेऽपि सत्यत्वमसम्मतमित्याशयेनाह- आवरणविभ्रमशक्तियोगादिति। आवरणशक्तिविक्षेपशक्तिभ्यां योगादित्यर्थः। आवरणशक्तिः "नास्त्यद्वयं ब्रह्म न प्रकाशते" इति व्यवहारयोग्यताऽऽवरणं तत्प्रयोजकशक्तिः विक्षेपशक्तिस्तु "अहं कर्ताभोक्ता" इत्यादिभ्रमजननशक्तिरित्यर्थः। नन्वज्ञानमपि शक्तिमच्चेत्परकीयप्रधानान्न विशेष इत्यत आह- आत्मत्वेति। आत्मत्वं सदखण्डचैतन्यं तन्मात्रमेवाश्रयो विषयश्च यस्य तस्य भावस्तत्ता तद्बलेनेत्यर्थः। अज्ञानस्य ह्यात्माश्रयविषयत्वमेव परकीय प्रधानाद् बलं शक्तिद्वयाश्रयत्वप्रयोजकं न तु स्वत इति प्रधानाद्विलक्षणमित्यर्थः।।२०।।

आच्छाद्येति। आवृत्त करता है-, अज्ञान कैसा है- जो अनादि होता हुवा भाव रूप हुवा ज्ञान से निवर्त्य है- उसे अज्ञान कहते है- ऐसा अज्ञान, संस्फुरत्- जो स्वप्रकाश स्वरूप निरंश, अखंड अद्वितीय ब्रह्म को विविध प्रपञ्च भाव में परिवर्तित कर देता है। कौन सी विविधता?- जीवेश्वरेत्यादिना- जीवेश्वरत्वादि भाव से परिवर्तित कर देता है। तृतीया विंभक्ति का प्रयोग इत्थं भाव में है जीवेश्वरजगदाकृतिभिः- इससे स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म का अविद्या के कारण यथार्थ प्रकाशन न होने के कारण जिज्ञासा का विषय वह हो जाता है- अर्थात् विषय सिद्ध हुआ। और जीवेश्वरत्वादि भेद कल्पना निवृत्ति रूप प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है। और संसार ज्ञान निवर्त्य है- इस को स्पष्ट करते हैं। मृषेति- मिथ्या होने से। इससे अद्वय अखण्ड ब्रह्म कैसे विपरीत भाव को प्राप्त हुवा इस शंका का भी समाधान अपने आप ही हो गया। जैसे रस्सी सर्प रूप में उसी प्रकार ब्रह्म प्रपञ्च रूप में। मिथ्यात्व क्या है? मृषात्वं च सद्असद्विलक्षण रूप है, अनिर्वचनीय रूप है। एव- सद् असद् उभय

रूप हटाने के लिये एव कहा है। अर्थात् अनिर्वचनीय ही मृषात्व है। अतस्मिन् तद्बुद्धि रूप है।

आशंका= अज्ञान सत्य हैं। फिर उस अज्ञान द्वारा किया हुवा विक्षेप मिथ्या कैसे? यदि अज्ञान भी मिथ्या है तो फिर वह ब्रह्म को कैसे ढकेगा? लोक में सत्य पदार्थ ही ढकने का काम करता है न कि मिथ्या।

समाधान= आवरण करने के लिये ढकने के लिये सत्य पदार्थ की जरूरत नहीं होती है जैसे स्वप्न मिथ्या होता हुआ भी पदार्थों को ढक देता है। लोक में भी मिथ्या सर्प रस्सी को ढक देता है, यह देखा गया है। अतः आवरक सत्य ही होना चाहिये यह नियम नहीं है। आवरणविभ्रमशक्तियोगादिति- आवरण विक्षेप शक्ति के योग से। आवरण शक्ति ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म प्रकाशित नहीं हो रहा है उसे कहते है- और विक्षेप शक्ति उसे कहते है "अहं कर्ता भोक्ता" मैं कर्ता भोक्ता हूँ इत्यादि भ्रम से उत्पन्न शक्ति को विक्षेप कहते है।

आशंका= क्या अज्ञान सांख्यों के प्रकृति के समान ही है?

समाधान= नहीं। आत्मत्वेति- अखण्ड एक रस आत्मा ही अज्ञान का आश्रय भी है और विषय भी है जैसे गृहाश्रित रहने वाला अंधेरा घर को ही विषय बनाकर ढक देता है। वैसे सांख्यमतानुसार प्रकृति- अलग है। पुरूष अलग है। विवेक के पूर्व दोनों का तादात्म्यभाव है विवेक होने पर भेद ज्ञान होकर तादात्म्य भाव समाप्त हो जाता है। उनके मत- में आश्रयाश्रित भाव नहीं है, यही अन्तर है। और अज्ञान में जो आवरण विक्षेप शक्ति आदि जो बल है वह आत्मबल के कारण है न कि उसका अपना सामर्थ्य है, यह भी अन्तर है।।२०।।

नन्वात्मनोऽज्ञानावृतत्वे प्रकाशायोगात्कथं ततोऽज्ञानान्तःकरणादिभानं, न ह्यप्रकाशमानज्ञानाद्विषयप्रकाशो भवति तत्राह-

शंका– यदि आत्मा अज्ञान से आवृत है तो उससे प्रकाश नहीं होगा- इस अवस्था में आत्मा से अज्ञान, अन्तःकरण तथा संसार के पदार्थों का भान भी नहीं हो सकेगा क्योंकि अप्रकाशमान आत्मा से विषयों का प्रकाशन संभव ही नहीं हो सकता।

प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयताबलेन
प्रत्यक्स्वरूपमपिधाय पराग्विवर्तैः।।

प्रत्यञ्चमद्वयमशेषविशेषहीनं
विक्षिप्य तिष्ठति तदग्रहणं मृषैव।।२१।।

अन्वय– तदग्रहणं प्रत्यक्त्वमायाविषयाश्रयताबलेन, पराग्विवर्तैः प्रत्यक् स्वरूपमपिधाय अशेषविशेषहीनं अद्वयं प्रत्यञ्चं विक्षिप्य मृषैव तिष्ठति।

अन्वयार्थ= यह अज्ञान प्रत्यक्स्वरूप चेतन आत्मा को ही विषय तथा आश्रय बनाकर यही अज्ञान अपने द्वारा रचित बाह्य कार्य प्रपञ्च के द्वारा आत्मा के सामान्यांश को न ढककर अशेष विशेष रहित अद्वय प्रत्यगात्मा में कुछ मिथ्या आरोप करके स्थित है।

प्रत्यक्त्वेति। विषयपदमत्राविवक्षितम्। चैतन्यमात्रं यो विषयः तदाश्रयताबलेनेत्यर्थः। अथवा वक्ष्यमाणरीत्या अधिष्ठानावरणस्य विक्षेपहेतुत्वम्। एवं चोभयमपि हेतुरिति तदुपादानम्। प्रत्यक्स्वरूपं प्रत्यगात्मनोऽज्ञानादिसाधकचैतन्यांशमपिधाय अनाच्छाद्य प्रत्यञ्चं पराग्विवर्तैः जीवत्वादिविवर्तैः विक्षिप्य तिष्ठतीति सम्बन्धः। अज्ञानं हि स्वाश्रयावभास्यं 'न जानामि' इति तदनुभवात्। अवभासकं च प्रकाशमानमेवेति तदाश्रयचैतन्यमनावृतम्। एवं चाज्ञानं तदाश्रयत्वादेव तदाच्छादकं न भवतीत्यभिप्रेत्यैवमुक्तं, तदा चाज्ञानादिभानमविरुद्धम्,। 'चैतन्यं नास्ति' इति व्यवहारादर्शनेन तद्योग्यतारूपमावरणं नास्तीति भावः। तर्ह्यज्ञातं ब्रह्म ततोऽन्यत् स्यादिति नेत्याह- अद्वयमिति। तर्ह्यज्ञातं ब्रह्म ततोऽन्यत् स्यादिति नेत्याह-अद्वयमिति। तर्हि कथं प्रकाशमानस्याप्रकाशमानत्वमित्याशङ्क्य उक्तं तावत्प्रकाशमानत्वे प्रमाणम्। एवं जीवेश्वरत्वाद्यध्यासाधिष्ठानतया तत्राप्रकाशमानत्वं च वाच्यम्। विशेषावरणं विनाऽध्यासायोगादित्यभिप्रेत्य प्रत्यञ्चं जीवत्वादिभिर्विक्षिपतीत्युक्तम्। यद्यपि चैतन्यमात्रमेव ब्रह्म तथापि तदावृतमनुभूयते। तच्च वक्ष्यमाणविधया अविरुद्धमिति। माऽस्तु तर्हि जीवत्वादेस्तत्राध्यासस्तत्राह- अशेषेति। तथा च निर्विशेषे जीवत्वाद्यवभासोऽध्यासं विना न सम्भवतीति तस्य तत्रारोपो वक्तव्य इत्यर्थः।।२१।।

प्रत्यक्त्वेति– अज्ञान का विषय चैतन्य है यहां विषय पद अविवक्षित है। उसी चैतन्य को विषय ग्रहण करके उसी आश्रय के बल से यह अर्थ करें। अथवा आगे कहे जाने से वाले युक्तियों से अधिष्ठान विषयक आवरण ही विक्षेप का हेतु है- उसी बल से। दोनों भी हेतु बन सकते हैं- विषय और आश्रय (अधिष्ठान)। प्रत्यक्स्वरूपमपिधाय- चैतन्यका अज्ञानादिक का साधक जो चैतन्यांश भाग है-उस-को (अपिधाय) न ढकते हुए, प्रत्यञ्चंआत्मतत्त्व, चैतन्य, पराग्विवर्तैः- जीवत्वादि विवर्तरूप से, विक्षिप्य तिष्ठति= परिणत हो जाता है। इसलिये अज्ञान का अनुभव होता है कि मैं नहीं जानता हूँ "न जानामि", इस अज्ञान का प्रकाशन भी हो रहा है। अर्थात् उसके अवभासक चैतन्य को उसने ढका नहीं है। इसका तात्पर्य

यही हुआ कि अज्ञान आत्मा को आश्रय बनाता है इसलिये उसको ढकता नहीं है। इसी कारण अज्ञान का भान भी तो हो जाता है। नहीं तो वह भी नहीं होता। यदि चैतन्य को अज्ञान मानो ढकता, तब तो "चैतन्य नहीं है-या मैं नहीं हूँ" ऐसा प्रत्यय होता।

शंका— अज्ञातब्रह्म जीवरूप में अलग हुआ और ज्ञात ब्रह्म शुद्ध अलग हुआ क्या?

समाधान- नहीं, अद्वयमिति- चैतन्य और ब्रह्म, जीव ईश्वर रूप में परिणत चैतन्य और बह्म में कोई भेद नहीं है।

शंका— प्रकाशमान बह्म भी अप्रकाशमान ही हो गया, क्योंकि ढक जाने से।

समाधान- नहीं। चैतन्य का सामान्यांश प्रकाशमान है और विशेषांश अप्रकाशमान है- अन्यथा अध्यास की उपपत्ति ही नहीं बन पायेगी। रस्सी का सामान्य ज्ञान है-विशेष अज्ञान है। अतः सर्प की प्रतीति होती है। इधर भी ब्रह्म का सामान्य प्रकाश है- और विशेष अप्रकाश होने से जीवत्वादि धर्मों से वही चैतन्य विवर्तित होता है।

आशंका= जीवत्वादि धर्मों से युक्त है। यद्यपि ब्रह्म चैतन्य स्वरूप ज्ञानस्वरूप ही है तो उसमें यह विवर्त कैसे आया?

समाधान= अशेषविशष- ब्रह्मनिर्विशेष सामान्य विशेष रहित चैतन्य ज्ञान स्वरूप ही है। तथापि जीवत्वादि विवर्त दिखाई देता है। वह अध्यास के बिना संभव नहीं इसलिये जीवत्वादि धर्मोका ब्रह्ममें आरोप ही करना पड़ता है। और उपाय नहीं है।

ननु यथा साङ्ख्यमते प्रकृतिः पुरुपाश्रयत्वविषयत्वमन्तरेण जगदुत्पादयति एवमज्ञानमप्यस्तु, किं तस्य प्रत्यगाश्रयत्वविषयत्वकल्पनया? न चाध्यस्तमज्ञानं तत्कार्यं चेति ततोऽस्य वैलक्षण्यमिति वाच्यम्। तदध्यासस्यैवाद्याप्यसिद्धेरित्याशङ्क्य आत्मनि प्रपञ्चस्याध्यासं दर्शयिष्यंस्तदर्थं प्रथमं तस्य तत्र वस्तुतोऽसम्भवं तदर्थं च प्रमाणसिद्धमात्मस्वरूपं दर्शयति-

आशंका- जैसे सांख्यशास्त्र में प्रकृति पुरूष (आत्मा को) आश्रय या विषय न बनाकर जगत् को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार से अज्ञान का होना चाहिये। फिर वह अज्ञान प्रत्यगात्माको विषय आश्रय क्यों बनाये। यदि कहो कि वेदान्त में अज्ञान तथा उनका कार्य दोनों ही अध्यस्त है- यही सांख्यमत से विषमता है। इसपर मैं यह कहूंगा कि अभी तक अध्यास सिद्ध नहीं हुआ है।

समाधान- आत्मा में प्रपञ्च बताकर उसके बहाने वस्तुतः आत्मा में अध्यास असम्भव है बताकर फिर उसी अध्यास के लिये प्रमाण सिद्ध आत्मस्वरूप बताते हैं।

प्रत्यक्षलिङ्गवचनानि हि दर्शयन्ति
निर्दुःखनित्यसुखविग्रहतां प्रतीचः।।
निर्दुःखनित्यसुखविग्रहभूम्नि नास्मिन्
सम्भाव्यते दृशि पुरोदितमल्परूपम्।।२२।।

अन्वय– प्रत्यक्षलिङ्गवचनानि प्रतीचः निर्दुःखनित्यसुखविग्रहतां दर्शयन्ति हि निर्दुःखनित्यसुखविग्रहभूम्नि अस्मिन् दृशि पुरोदितमल्परूपम् न संभाव्यते।

अन्वयार्थः= प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द प्रमाण, प्रत्यगात्माको दुःखरहित, नित्य तथा सुखमय ही बता रहे हैं। अतः दुःखरहित, नित्य सुखस्वरूप प्रत्यगात्मा में परिच्छिन्नत्व रूप संभव नहीं है।

प्रत्यक्षेति। एतानि वक्ष्यमाणानि द्रष्टव्यानि। निर्दुःखनित्यसुखविग्रहतामिति भूम्नश्चैतन्यस्योपलक्षणम्। अन्यथाऽनुवादे तत्कीर्तनायोगात्। ततः किं तत्राह- निर्दुःखेति। निर्दुःखादिस्वरूपेऽस्मिन् चैतन्याद्वयात्मनि अनृतजडेत्यादिनोक्तमल्पं रूपं न सम्भाव्यते। वस्तुतः कथमपि न सम्भवतीत्यर्थः। अहङ्कारप्रमुखो जडप्रपञ्चो न तावदात्मनोऽन्यत्र सिध्यति, आत्मन एव तदुपादानताया वक्ष्यमाणत्वात्। कार्यस्योपादानादन्यत्रावस्थित्यनुपपत्तेः, तत्सत्तास्फूर्त्ययोगाच्च न ह्यात्मातिरिक्तमपि किञ्चित्सम्भवति। नाप्यात्मनि सम्बन्धान्तरेण तस्य वृत्तिः सम्भवति, निरवयवेऽसङ्गे सम्बन्धान्तरासम्भवात्। तादात्म्यं च वास्तवं विरुद्धयोर्न सम्भवति। तद्विरुद्धरूपं चात्मनः प्रत्यक्षादिसिद्धमिति न कथमप्यात्मनि प्रपञ्चस्य वस्तुतः सम्भव इति भावः।।२२।।

प्रत्यक्षेति- आगे के प्रसंग में कहे जाने वाले- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्दादि प्रमाण। निर्दुःखनित्यसुखविग्रहतामिति भूम्नि- दुःख रहित सुख स्वरूप ऐसे व्यापक ब्रह्म में भूमार्मे विद्यमान है। भूमा का भी यह उपलक्षण है, अन्यथा उसका अनुवाद कीर्तन अनुपयुक्त होगा। अर्थात ब्रह्म का स्वरूप दुखराहित्यादि है, यह प्रमाण बताते हैं। तो फिर निर्दुःख स्वरूप आत्मा में, पुरोदितमल्पम् रूपम्= अनृत जड ऐसे स्वरूप की कल्पना हो ही नहीं सकती। अंकारादिक जड प्रपञ्च आत्मा से अन्यत्र तो हो नहीं सकता। आत्मा ही उसका उपादान कारण है। कार्य की अपने उपादान कारण के अलावा अन्यत्र कहीं भी स्थिति नहीं हो सकती। आत्मा में भी इस अनृतजड प्रपञ्च की स्थिति किसी सम्बन्ध से नहीं बन पाती। क्योंकि आत्मा निरवयव है- उसके साथ किसी सम्बन्ध की सम्भावना नहीं है। तादात्म्य सम्बन्ध भी वास्तविक तथा काल्पनिक दोनों पदार्थों का नहीं हो सकता। अध्यासिक सम्बन्ध ही आत्मा में इस अनृत जड प्रपञ्च का मानना पडेगा। क्योंकि आत्मा का तथा प्रपञ्च का अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव है।।२२।।

प्रतिज्ञातमर्थमुपपादयन् प्रथमं प्रत्यक्षेणात्मनो निर्दुःखनित्यसुखतां दर्शयति-

प्रतिज्ञा जैसी की है तदनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा में दुःख राहित्य तथा नित्य सुखत्व है इसको बता रहे हैं—

प्राज्ञे सुखं समनुभूय समुत्थितः सन्
सर्वप्रकारविषयप्रतिपत्तिशून्ये।।
सुप्तोऽहमत्र सुखमित्यनुसन्दधानः
सर्वोऽपि जन्तुरवगच्छति तस्य सौख्यम्।।२३।।

अन्वयः= सर्वप्रकारप्रतिपत्तिशून्ये सर्वोऽपि जन्तुः प्राज्ञे सुखं समनुभूय समुत्थितः सन् सुप्तोऽहमत्र सुखमित्यनुसन्दधानः तस्य सौख्यं अवगच्छति।

अन्वयार्थ= सम्पूर्ण विषय ज्ञान से शून्य सुषुप्ति में स्वरूप सुख का साक्षात्कार करके, जगने पर प्रत्येक प्राणी मैं खूब सुषुप्ति मैं सुख से सोया इस प्रकार का स्मरण करता हुआ प्रत्यगात्मा में सुख रूपता का ज्ञान कर लेता है।

प्राज्ञ इति। यद्यपि सुखप्रत्यक्षमात्रमात्मस्वरूपसुखमेव विषयीकरोति तथाऽप्यन्यथा-सिद्धिशङ्काशून्यतया निर्दुःखत्वादिसिध्यर्थं च सौषुप्तिकं प्रत्यक्षमुदाहृतं, यस्मिन्नेकीभूतः सुषुप्त्यवस्थायां जीव उपाधिकालुष्याभावात्प्रकृष्टप्रज्ञो भवति तस्मिन्प्राज्ञाभेददशायामित्यर्थः। समनुभूय स्पष्टमनुभूयान्यथा सुषुप्त्यर्थं कस्यापि प्रवृत्तिर्न स्यात्। ननु तदपि सुखं जन्यमेव किं न स्यात्तत्राह-सर्वप्रकारेति। स्मृतिरूपा अनुभवरूपा वा या विषयप्रतिपत्तिः तच्छून्ये। सुषुप्तेः सर्वविशेषज्ञानोपरमरूपत्वाद्विषयज्ञानं विना सुखजन्मासम्भवात् न तदात्मन्यन्यत्सुख-मस्तीत्यर्थः। अत्र देशे काले वा सुखमिति क्रियाविशेषणम्। अनुसन्दधानः स्मरन्नर्थात्तदेव सुखमित्याशयः। तस्यानुसन्धानात्स्वरूपचैतन्यस्य सौख्यं निर्दुःखनित्यसुखात्मत्वम्,। यद्यपि "सुखमहमस्वाप्सम्" इति स्मृतिर्न निर्दुःखत्वं न वा नित्यत्वं तस्य विषयीकरोतीति तद्बलात्प्राज्ञसुखस्य निर्दुःखत्वादि न सिध्यति तथापि सुषुप्त्यवस्थायामनुभूयमान-सुखबलान्निर्दुःखताऽऽत्मनः सिध्यति, अत एवोत्थितस्य 'निर्दुःखमस्वाप्सम्' इति व्यवहारः सुषुप्तिकालीनसुखसामर्थ्यादेव तस्य नित्यत्वमपि सिध्यतीति प्राज्ञसुखप्रत्यक्ष-सामर्थ्यादात्मा निर्दुःखनित्यसुखमिति।।२३।।

प्राज्ञे- सुप्तोऽहमत्र= सुषुप्ति अवस्था का उदाहरण दे रहे हैं। प्राज्ञो= सुषुप्ति अवस्था में जीव सब उपाधि कालुष्य से रहित हो जाता है, तथा प्रकृष्ट प्रज्ञ होता है, अर्थात् ब्रह्म से आत्मा का (प्रज्ञा का) अभेद हो जाता है- तो उस अवस्था में "निर्दुःखमस्वाप्सम्"

दुःखरहितता का अनुभव तथा सुखस्वरूपता का अनुभव हो जाता है।

समनुभूय– सुषुप्ति अवस्था में स्पष्ट अनुभव करने के कारण ही प्राणियों की सुषुप्ति में प्रवृत्ति देखी जाती है, अन्यथा प्रवृत्ति ही नहीं होती।

सर्वप्रकारेति– स्मृतिरूप अथवा अनुभव रूपा जो विषयोंकी प्रतीतियां। शून्ये- ऐसी प्रतिपत्तियों से रहित ऐसी वह अवस्था में सुषुप्ति से जगने के बाद सुखता का अनुभव करता है- और वह विषय जन्य न होने के कारण आत्मविषयक ही मानना पडता है। अत्र= सुषुप्ति काल में तथा अपने आप में स्थित देश में। अनुसन्दधानः- स्मरण करता हुवा जीव स्वरूप चैतन्य की निर्दुःखता तथा, तस्य सौख्यं- आत्मसुख रूपता का प्रत्यक्ष अनुभव की स्मृति करता है।

यद्यपि "सुखमस्वाप्सं" यह स्मृति न तो निुर्दुःखता की तथा नित्यसुखता के अनुमान की प्रतीति कराती है। तथापि सुषुप्ति अवस्था में अनुभूत किये हुए सुख के बल पर ही आत्मा में निर्दुःखता तथा नित्यसुखता सिद्ध होती है। इसलिये जगने पर कहता है कि निर्दुःखमस्वाप्सम्- मैं दुःखरहित होकर सोया। सुप्तकालीन सुख के बल से ही आत्मा में नित्य सुख भी सिद्ध होता है। तो प्राज्ञ के सुख के प्रत्यक्ष के आधार पर आत्मा निर्दुःखरूप तथा नित्य सुखरूप है। यह सिद्ध हुआ।

सुख नित्य है- इसमें तर्क भी है। जन्य सुख अनित्य होता है, सुषुप्ति सुख जन्य न होने से अनित्य नहीं है किन्तु नित्य है।

एवमनुमानेनाप्यात्मनः सुखात्मत्वसिद्धौ तस्य निर्दुःखनित्यताऽपि सिध्यतीत्यभिप्रेत्य "आत्मा सुखाभिन्नः सुखलक्षणवत्त्वात् वैषयिकसुखवत्, यद्यल्लक्षणवत्तत्तदात्मकं यथा गवादि" इत्यनुमानमाह-

अब अनुमान प्रमाण के द्वारा भी आत्मा में सुखत्व सिद्धि के साथ-साथ दुःख राहित्य तथा नित्यत्व की सिद्ध कराते हैं– पहले अनुमान प्रमाण से आत्मा में सुखको-सिद्ध कराते हैं। आत्मा, सुखाभिन्नः सुखलक्षणवत्त्वात् वैषयिक सुखवत् यद्यल्लक्षणवत्तत्तदात्मकं यथा गवादि- आत्मा पक्ष है सुखअभिन्नत्व साध्य है और हेतु है- सुखलक्षणत्वात् उदाहरण-विषयसुख के समान, व्याप्तिका आकार बताते हैं। जो जो पदार्थ जिस जिस लक्षणवाला होता है। वह वह पदार्थ तत्तत् स्वरूप होता है- इत्यादि।

सर्वं यदर्थमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित्
पारार्थ्यमुज्झति च यन्निजसत्तयैव।।

तद्वर्णयन्ति हि सुखं सुखलक्षणज्ञा-
स्तत्प्रत्यगात्मनि समं सुखताऽस्य तस्मात्।।२४।।

(वसन्ततिलका छन्द)

अन्वयः= इह यत् किञ्चित् वस्तु अस्ति, तत्सर्वं यदर्थम्, यच्च निजसत्तयैव पारार्थ्यमुज्झति, तत् सुखं सुखलक्षणाः वर्णयन्तिहि तत् प्रत्यगात्मनि अपि समम्। तस्मात् अस्य आत्मनः सुखता (भवति)

अन्वयार्थः= इस संसार में जो वस्तु है, वह जिसके लिये है तथा जो अपनी सत्ता मात्र से परार्थता का त्याग करता है उसे ही सुखलक्षणादि निपुण विद्वान् सुख कहते हैं। लक्षण प्रत्यगात्मा में भी जाता हैं अतः प्रत्यगात्मा सुखरूप है।

सर्वमिति। प्राचुर्याभिप्रायमेतत्। यदर्थं यत्सम्बन्धितया प्रीतिविषयः न तु तद्धेतुरित्यर्थः। आत्मसुखस्याजन्यत्वात्। इह जगति वस्तु यदस्ति किञ्चित्, एतदपि पाचुर्याभिप्रायम्। पारार्थ्यमन्यप्रयुक्तप्रीतिविषयत्वम्। यद् इष्यमाणमिति शेषः। निजसत्तया स्वस्वरूपेण, सुखमिति वर्णयन्तीति सम्बन्धः। व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतामाह- तत्प्रत्यगात्मनीति।

समं वैषयिकसुखतुल्यमस्तीति वाऽर्थः। निगमयति-सुखतेति। तस्मादुक्तहेतोः। अत्र यदिष्यमाणं पारार्थ्यमुज्झति निजसत्तया, यदिष्यमाणं तद्वा सुखमिति लक्षणं विवक्षितम्। एतदुपपादनाय सर्वमित्याद्युक्तम्।। दुःखादौ सुखसाधने चातिव्याप्तिवारणाय दलद्वयम्। ननु पुत्रादिवत्सुखमपि "मम सुखं भूयात्" इत्यात्मार्थमेव काम्यत इति कथं पारार्थ्यमुज्झतीति तन्न। न हि पुत्रादिनेवात्मनः सुखेनापीष्टं किञ्चिज्जायते, येन सुखं तदर्थं भवेत्, न च सुखमात्मसम्बन्धितयैवाभिलाषास्पदम्, आत्मसम्बन्धित्वस्य दुःखादिसाधारणस्य सुखप्रीत्य-प्रयोजकत्वात्। न चात्मसुखत्वं तत्र प्रीतिनिमित्तमिति वाच्यम्। लाघवेन सुखत्वमात्रस्यैव तथात्वात् सुखं चैकमेवेति नातिप्रसङ्गः। न च कथं तर्हि "मम सुखं भूयात्।" इत्यभिलाष इति वाच्यम्। "मम प्रत्यक्षसुखं भूयात्" इति हि तथा काम्यते, सुखव्यक्तेरेकत्वेन व्यावर्त्त्याभावात्। प्रत्यक्षं त्वज्ञातब्रह्मसुखादिव्यवच्छेदकमिति 'तदेव मम' इति विशिष्यते इति नोक्तदोषः। अहङ्कारशबलात् ममताधिकरणात्केवलं सुखमन्यदिति मदीयत्वमपि प्रतीयमानमस्त्येव, परं तु तत्कामनाप्रयोजकं न भवतीति भावः।।२४।।

सर्वं- सभी पदार्थ= (प्राचुर्यार्थ यह शब्द है) यदर्थ= आत्मा के लिये होने से प्रीति के विषय है-जैसे खटियादि पदार्थ अपने लिये नहीं किन्तु अन्य के लिये इसी प्रकार सब पदार्थ आत्मा के लिये होने से प्रीति के विषय हैं। आत्मप्रीति (आत्मसुख) के ये विषय

हेतु नहीं है। क्योंकि आत्मसुख जन्य नहीं है। इस दुनिया में जो यह भी प्राचुर्य के अभिप्राय से है।

पारार्थ्यमुज्झति- विषयों से अन्य जो भोक्तादि हैं उनके प्रीति के विषय ये पदार्थ हो जाते हैं। आत्मा में यत् जो अभीष्ट सुख वह निजसत्तया- स्वरूप से ही है। यह उपनय सुख, पक्ष जो आत्मा उसमें रहता है उसे बताते हैं– तत्प्रत्यगात्मनि- वह सुख प्रत्यगात्मा में रहता है। उदाहरण समम्- विषयसुख के समान- (जैसे विषय का सुख विषय के लिये नहीं होता है किन्तु भोक्ता के लिये) इसी प्रकार आत्मसुख अन्य किसी के लिये नहीं किन्तु आत्मा के लिये ही होता है। निगमन- सुखतेति- आत्मा सुखरूप है यह सिद्ध होता है।

यहां जो अभिलषित सुख है वह स्वरूप से आत्मा के लिये है। जो अभिलषित है- उसे सुख कहते हैं। अर्थात् इतर इच्छा के अधीन न होते हुए अभीष्ट इच्छा के विषय को सुख कहते हैं इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं सुखत्वम्। ऐसा सुख का लक्षण का सुख लक्षणज्ञ कहते हैं। इसका उपपादन करने के लिये "सर्वं" ऐसा कहा है। एक आत्मा को छोड़कर सभी पदार्थ आत्मा के लिये है। लेकिन आत्मा और किसी के लिये नहीं है। पारार्थ्यमुज्झति= सुख आत्मा या मोक्ष के लिये समर्पित है। "निजसत्तयैव"= इससे दुःख और सुखसाधनों में यह सुख का लक्षण नहीं जायेगा। इनमें अतिव्याप्ति हटाने के लिये "पारार्थ्यम् तथा उज्झति ऐसे दो पद दिये हैं।

अथवा=समं= विषय सुख के समान सुख आत्मा में हैं ऐसा अर्थ कर अनुमिति कराते है। सुखतेति- आत्मा सुखरुप है, इतरइच्छानधीनइच्छाविषयत्वात्।। इस अनुमान में जो इष्यमाण "पारार्थ्यमुज्झति निजसत्तया" तो इष्यमाण जो आत्मा है वही सुखस्वरूप है यह लक्षण सुख का अभिमत है। इसका उपपादन करने कि लिये सर्वम् ऐसा कहा है। दुःख में तथा सुख साधन में आत्म सुख रूपता क़ी आतिव्याप्ति नहीं एतदर्थ परार्थ्यमुज्झति निजसत्तयैव ये दोनों पद दिये हैं। जिससे दुःख को कोई चाहता नहीं अतः उसमें पारार्थ्यमुज्झति पद नहीं जायेगा। और सुखसाधन में निजसत्तयैव, स्वभाव से प्रवृत्ति नहीं है. किन्तु प्रयत्न साध्य होने से उसमें निज सत्तयैव (पारार्थ्यमुज्झति) पद नहीं जायेगा अतः अतिव्याति नहीं होगी।

आशंका= जिसप्रकार मुझे पुत्र हो जाय इसी प्रकार से मुझे सुख हो जाय इसमें मुझे पुत्र हो जाय यह जैसे आत्मार्थ ही है- इसी प्रकार से मुझे सुख हो जाय यह भी आत्मार्थ ही माना जाय फिर उस सुखादि में "पारार्थ्यं उज्झति" दूसरे के लिये है

यह नहीं हो पायेगा।

समाधान— यह करना उचित नहीं है। जैसे पुत्र से आत्मा का कोई ना कोई इष्ट संपन्न होता है वैसे सुख से आत्मा का कोई भी इष्ट होने वाला है नहीं। इसलिये सुख आत्मार्थक नहीं माना जाता।

आशंका= आत्मसम्बन्धि होने से सुख अभिलषास्पद है?

समाधान= आत्मा सम्बन्धित्व तो दुःखादि साधारण में होने पर भी उसमें सुख प्राति प्रयोजकता नहीं मानी जाती।

आशंका= आत्मा सम्बन्धित्व दुःखादिसाधरण रूप होने पर उसमें सुख प्राप्ति के प्रति प्रयोजकता न होने पर भी आत्मसुखत्व सुख प्रीतिके प्रयोजक तो है। वाच्यम् इति न च।

समाधान= आत्म सुखत्व जगह केवल सुखत्व का ग्रहण कर लेने से लाघव होगा।

आशंका= सुखत्व तो शब्द स्पर्शादि सुख में भी है उसमें प्रीति नहीं है। तो अतिप्रसंग होगा।

समाधान= सुख एक रूप ही माना जाता है अतः ऐसे सुख में भी प्रीति होने से अतिप्रसंग नहीं होगा।

आशंका= तो फिर मुझे सुख हो जाय यह अभिलाषा कैसे होगी? वाच्यम्। इति न च।

समाधान= इसका मतलब यह कि मुझे प्रत्यक्ष सुख हो जाय यह है। इसकी वह कामना करता है। सुख व्यक्ति तो एक ही होने से इसमें किसी सुख की व्यावृत्ति नहीं हो सकती।

आशंका= फिर प्रत्यक्ष सुख कैसे?

समाधान= प्रत्यक्ष सुख की इस लिये कामना होती है कि अज्ञात ब्रह्म सुखादि का व्यवच्छेद (निवृत्ति) हो जाय। इसी को "मम" मुझे प्रत्यक्ष सुख हो जाय ऐसी कामना की जाती है। अतः कोई दोष नहीं है। अव्याप्ति दोष नहीं है।

अहंकार विशिष्ट होकर ममता का अधिकरण (सुख) उससे केवल सुख अन्य है, इसलिये अंहकार विशिष्ट सुख में मदीयत्व की प्रतीयमानता है। लेकिन प्रत्यक्ष सुख तत्कामना- प्रयोजक नहीं होता हैः तत्कामना का अर्थ रागविशेष या प्रीति। तत्प्रयोजक कामना प्रयोजकत्व प्रत्यक्ष सुख में नहीं है। किन्तु सुखत्व मात्र में ही है यह पहिले

कह चुके है।।२४।।

किं च "आत्मा सुखम् अनौपाधिकप्रेमगोचरत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा दुःखादि" इत्यनुमानान्तरमाह-

अन्वय व्यतिरेकी अनुमान प्रमाण से भी इस बात को सिद्ध कर रहे हैं-

पक्ष- आत्मा, साध्य- सुखरूप है, हेतु- अनौपाधिक प्रेम का विषय होने से, (आत्मा-सुखम्- अनौपाधिक प्रेम गोचरत्वात्) यन्नैवं तन्नैवं यथा दुःखादि। जो अनौपधिक प्रेम का विषय नहीं है। वह सुख स्वरूप नहीं है।- जैसे दुःखादि,

प्रेमाऽनुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः
स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्यसिद्धः
प्रेयःश्रुतेरपि ततः सुखताऽनुमानं
नैयायिकोऽपि न दृगात्मनि निन्हुवीत।।२५।।

अन्वयः= अनुपाधिः प्रेमा असुखात्मनि नोपलब्धः, स कृमेरपि प्रत्यगात्मनि प्रेयः श्रुतेरपि नित्यसिद्धः, ततः नैयायिकोऽपि दृगात्मनि सुखतानुमानं न निह्नुवीत।।

अन्वयार्थ= स्वाभाविक प्रेम सुखातिरिक्त घटादि में नहीं पाया जाता। यह स्वाभाविक प्रेम कृमि कीटादिक में भी स्वाभाविक रीति से पाया जाता है। यह प्रेम "तदेतत् प्रेयः पुत्रात्" इस श्रुति के बल से भी सिद्ध है। अतः प्रत्यगात्मा में सुखस्वरूपता का विरोध नैयायिकादि भी नहीं कर सकते हैं।।

प्रेमेति। अनुपाधिरिति। अन्याप्रयुक्त इत्यर्थः। असुखात्मनि सुखव्यतिरिक्ते प्रत्यगात्मनि निष्कृष्टाहङ्कारतत्साक्षिचैतन्ये, कृमेरपीति बहुलदुःखप्राणिनामप्यात्मनि प्रेमा दृश्यते, किमु वक्तव्यं विशिष्टात्मनामिति द्योतितम्। कृमीणामपि स्वदुःखपरिहाराय धावनादि-दर्शनेनास्त्येव स्वदुःखे द्वेषः, स च तदात्मनि तेषां प्रेमाभावे नोपपद्यते, उदासीन-नरदुःखद्वेशादर्शनादिति भावः। ननु कृमीणामन्येषां वाऽऽत्मनि कथं स भवेत् सिद्धे तदयोगात् इत्याशङ्क्य सर्वानुभवसिद्धः कथं स निराकार्य इत्याह- नित्यसिद्ध इति। सदानुभवसिद्ध इत्यर्थः। दृश्यते हि धनपुत्रादौ सिद्धेऽपि पित्रादेस्तत्साध्योपकारमप्रतिसन्द-धतोऽपि प्रेमा, एवमात्मन्यपि निरतिशयसुखरूपे स न विरुध्यते इत्यर्थः। किं च "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्ताद्" (बृ. अ. १ ब्रा. ४ श्रु. ८) इति श्रुतितोऽप्यात्मनि नित्यसिद्धे स सिद्ध इत्याह- प्रेयःश्रुतेरिति। तत इति व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मत्वादित्यर्थः। नैयायिकोऽपीति। अपिशब्दान्मीमांसकादिरपि। नैयायिको ह्यनुमानस्य द्वे अङ्गे व्याप्तिः

पक्षधर्मता चेत्याहेति स्वाभिमताङ्गयुक्तम् आत्मनः सुखतानुमानं न निह्नुवीत न निराकुर्यात्। किमु वक्तव्यं श्रुतिप्रधानो मीमांसकादिरिति भावः। नचात्मनि दुःखित्व- ग्राहकप्रत्यक्षबाधः दुःखित्वादेरुपाधिधर्मतया दृगात्मनि सुखतानुमानस्य ततो भिन्नविषयत्वादित्याह- दृगात्मनीति।।२५।।

प्रेमा अनुपाधिरिति= प्रेम अन्य उपाधि से प्राप्त नहीं होता है। यदि आत्मा उदासीन होवे या दुःखरूप होवे तो उसमें प्रेम नहीं होना चाहिए। लेकिन सकृमेरपिनित्यसिध्दः- वह प्रेम कीटादि में आत्मप्रेम के रूप में देखा जाता है। क्योंकि किसी भी प्रतिकूल आवाज को सुनकर उन कीटादिक को भागते हुये तथा अपने आपको बचाते हुये देखा गया है। यह सब आत्मा के साथ प्रेम होने से ही सम्भव है। और वह प्रेम चीटी आदि छोटे छोटे सामान्य जीवों में भी देखा गया है, फिर विशिष्ट मनुष्य के बारे में तो कहना ही क्या।

आशंका— कीट पतङ्गादि में तथा अन्य आत्मामें यह प्रेम कैसे हो! उनमें प्रेम नहीं हो सकता।

समाधान— नित्यसिद्धेति— सर्वानुभव सिद्ध ही है। श्रुति भी आत्मा में प्रेम नित्य है यह बात बताती है। "प्रेम श्रुतेरपि" "तदेतत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्" (बृ० सू० अ० १/४/८) धन पुत्रादिक जो सुख देने में अभी निश्चित भी नहीं है, तो भी उनमें आत्मा के कारण ही प्रेम देखा गया है। फिर क्या कहना कि जो आत्मा निरतिशय सुख स्वरूप है, उसके साथ प्रेम हो। नैय्यायिकोऽपि- पूर्वमीमांसक, नैयायिकादि- नैयायिक अनुमान के दो अङ्ग मानते है (१) व्याप्ति (२) पक्षधर्मता। तो यहां दोनों भी है। यत्र यत्र अनौपाधिकप्रेम गोचरत्वं तत्र तत्र सुखत्वम्। यह व्याप्ति का आकार बना। और पक्ष-धर्मता भी बनी है- पक्ष आत्मामें प्रेम की वृत्ति ही पक्षधर्मता है। तो नैय्यायिक अपने मतानुसार अनुमान प्रमाण से आत्मा में नित्य सुख की सिद्धि मानेगा ही, फिर मीमांसक तो श्रुतिका भक्त होने से मानेगा ही।

आशंका= आत्मा, सुखाभाववान् दुःखी है यह प्रत्यक्ष होने से बाध मानेंगे तो।

समाधान= यहां बाध नहीं होगा। क्योंकि दुःख अंतःकरण उपाधि धर्ममूलक है, अनौपाधिक नहीं है। और सुखता अनौपाधिक आत्मनिष्ठ होने से दुःख का विषय औपाधिक तथा सुखता का विषय अनौपाधिक होने से दोनों का विषय अलग अलग होने से बाध्य बाधक भाव सम्पन्न नहीं होगा। अतः बाध दोष यहां नहीं है।

"प्रत्यक्षलिङ्गवचनानि" इति श्लोकोक्तं प्रत्यक्षमनुमानं च दर्शितम्, इदानीं वचनशब्दितां श्रुतिमपि तत्राह-

अब श्रुति प्रमाण से शब्द प्रमाण से भी इस बात को सिद्ध करते हैं—

आनन्दविग्रहमपास्तसमस्तदुःखं
वस्तुस्वभावपरिवर्जितसर्वभेदम्।।
आत्मानमध्ययनविध्यनुसारिणस्तं
प्रत्यक्षतः श्रुतिशिरःसु समामनन्ति।।२६।।

अन्वय= अध्ययनविधिअनुसारिणः श्रुतिशिरःसु प्रत्यक्षतः तं आनन्दविग्रहं अपास्तसमस्तवस्तु-स्वभावपरिवर्जितसर्वभेदं समामनन्ति।।

अन्वयार्थः= अध्ययन विधि का अनुसरण करने वाले वैदिक विद्वान् वेदान्त वाक्यों से स्पष्ट आनन्दस्वरूप, समस्त दुःखातीत स्वाभाविक निखिल भेद शून्य ऐसे आत्मा का अध्ययन करते हैं।

आनन्दविग्रहमिति। आनन्दस्वरूपमित्यर्थः। अपास्तसमस्तदुःखमिति तस्य प्रेक्षावन्मुमुक्षूपादेयत्वं द्योतितम्। ननु सद्वितीये जीवे "नाल्पे सुखमस्ति" (छां० ७/२३/१) इति सुखनिषेधात्कथं तस्यानन्दरूपत्वमिति तत्राह-वस्तुस्वभावेति। यद्यपि जीवस्वरूपं सप्रपञ्चं प्रतीयते, तथापि "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति" (छां० ७/२४/१) इत्यादिश्रुतिसिद्धमद्वयं ब्रह्मैव तस्य स्वरूपमिति नासावल्पः, तथा च न सुखनिषेधश्रुतेरयं विषय इति भावः। ननु स्वर्गकामादिवाक्यात्सुखवत्त्वमेवात्मनो गम्यते न सुखरूपत्वमिति तत्राह-अध्ययनेति। अध्ययनविधिर्हि स्वाध्यायशब्दोपस्थितकृत्स्नस्वशाखाया अध्ययनं विधत्ते, न तु कर्मकाण्डमात्रम्। एवं चाधीतोपनिषत्काः साधनचतुष्टयसम्पन्नास्तद्गतानि "न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः" (कठ अ० २व० ५श्रु० ११) "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति" (बृ० अ ३/५/१ ब्रा०) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० अ० ३० ब्रा० ६ श्रु० २८)" "एषोऽस्य परम आनन्दः" "यो वै भूमा तत्सुखम् (छां० अ० ७/२३/१) इत्यादीनि प्रत्यक्षवाक्यानि आनन्दात्मप्रतिपादकानि आमनन्ति पठन्ति। पठ्यमानवेदान्तवाक्यान्निर्दुःखनित्यसुखविग्रहं द्यूरूपं भूमानमात्मानमवगच्छन्तीत्यर्थः।

अथवा- "वेदोपरा वेदान्ताः" इति मतेन तेषामर्थशून्यत्वात्तत आनन्दाद्यसिद्धिमाशङ्क्य अध्ययनविधेर्दृष्टार्थत्वात्कर्मवाक्यवत्तेषामप्यर्थवत्त्वं दुरपह्नवमित्याह- अध्ययनेति। यः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां सिद्धस्तमात्मानमानन्दविग्रहमिति सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति। उक्तं

तावदनृतजडविरोधीत्यत्रात्मा जडाहङ्कारविलक्षणश्चिद्रूप इति।

ननु सत्यमुक्तं तदेवानुपपन्नं, ज्ञानस्यानित्यत्वादिति चेन्न। ज्ञानपदवाच्यवृत्तेरनित्यत्वेऽपि तदाश्रयसाक्षिचैतन्यस्य तदभावात्। तथाहि-अस्ति तावद्देवदत्तादेः सुखदुःखादिसाक्षात्कारः, स च घटादिसाक्षात्कार एव चक्षुरादिना केनचित्करणेन न साध्यते, तत्र प्रमाणाभावात्। न च 'सुखाद्युपलब्धिः सकरणिका क्रियात्वात्' इति तत्कारणं मनः सिध्यतीति वाच्यम्। तत्क्रियात्वस्यासिद्धेः। न च साक्षात्कारत्वात्तत्सिद्धिः। तस्य नित्यत्वेऽप्युपपत्तेः। किं च सुखाद्युत्पत्तिसमयभाविनस्तज्ज्ञानस्य तदा विषयासक्तमनोजन्यत्वमनुपपन्नम्। न च द्वितीयक्षण एव सुखादिज्ञानमिति वाच्यम् प्रमाणाभावात्। प्रथमक्षणेऽज्ञातसुखसत्त्वे प्रमाणप्रयोजनयोरभावाच्च। द्वितीयक्षणेऽपि सुखाद्युत्पादकमनसंयोगस्यान्यथासिद्धतया ततस्तज्ज्ञानासम्भवाच्च। न वा विषयासमवायिकारणस्य ज्ञानासमवायिकारणत्वं क्वचिद् दृष्टम्। संयोगान्तरकल्पने चासमावायिकारणनाशेन नष्टसुखादेरनुभवासम्भवाच्च।। कथं तर्हि 'सुखज्ञानमुत्पन्नं विनष्टम्' इत्यनुभव इति चेत्, न तावत्सुखादिस्थितिसमये तज्ज्ञानस्योत्पत्तिविनाशानुभवोऽस्ति, येन ज्ञाने पृथगुत्पत्त्यादि सिध्येत्। सुखाद्युत्पत्त्यादिदशायां तदनुभवस्य तदुत्पत्त्यादिविषयतयाऽन्यथासिद्धत्त्वेन तदसाधकत्वात्। तस्मात्सुखाद्युपलक्षिततदनुभवस्य दुःखादिसमयेऽपि स्थितेस्तदुत्पादककरणा निरूपणात्सुखादिविशिष्टतदुत्पत्त्यादेरन्यथासिद्धत्वान्नास्त्येव सुखानुभवोत्पत्त्यादिः। एवं तद्भेदानुभवस्यापीत्यबाधितलाघवात् सुखदुःखादिविषयानुभव एक एव, स एव पुरुषान्तरस्यापि सुखादिसाधक इति जगन्मात्रसाधकं चैतन्यमेकं, तस्यैव घटादेरपि प्रकाशकत्वात्, स चात्मैव श्रुतिसिद्धस्तदभेदस्य बाधकाभावादिति चिद्रूप एव आत्मा। एवमुक्तानुमानेन तस्यानन्दत्वसिद्धावानन्दस्य दुःखविरोधित्वेन निर्दुःखत्वमात्मनोऽनित्यत्वायोगेन नित्यत्वं च सिद्धमिति निर्दुःखनित्यचित्सुखविग्रह आत्मा। एवं सर्वस्य प्रपञ्चस्य दृश्यतया वक्ष्यमाणन्यायाच्चानिर्वचनीयत्वसिद्धौ सजातीयादिभेदशून्योऽपीत्युक्तात्मसिध्दिः। एतच्च वेदान्तवेद्यसमस्तस्वरूपोपलक्षणतयोक्तम्। तत्र कथं जडप्रपञ्चस्य वस्तुतः सम्भव इति। कथं तर्हि एतदनुभवः? अध्यासात्। असम्भावितस्यानुभवसिद्धस्याध्यासनियमात्।।२६।।

आनन्दविग्रहमपास्तसमरस्तदुःखम्- आत्माआनन्द स्वरूप है और साथ में सम्पूर्ण दुःखों से रहित है। इससे आत्मा मुमुक्षु जनों के लिये अत्यन्त उपादेय है, यह सिद्ध है।

शंका- सद् ब्रह्म से भिन्न, अल्प जीव में सुख का निषेध होने से उसमें आनन्द स्वरूपता सम्भव नहीं हो सकती- "नाल्पे सुखमस्ति" (छा० ७/२३/१)

समाधान= वस्तुस्वभावपरिवर्जितसर्वभेदम्- यद्यपि जीव का स्वरूप प्रपञ्च युक्त प्रतीत होता है तथापि श्रुति यह बताती है कि "यत्रनान्यत्पश्यति, न्यायच्छृणोति, (छा० ७/२४/१) जब यह जीव और कुछ भी भिन्न रूपसे देखता नहीं, जानता नहीं- केवल ब्रह्म ही ब्रह्म- रह जाता है तो जीव का स्वरूप ही नहीं रह पाता। उस अवस्था में केवल ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता हैं। उस समय में जीव भाव न रहने से तत्प्रयुक्त अल्पत्व भी नहीं रहता, तत्प्रयुक्त दुःख कि भी नहीं रहते तब यह जीव इस श्रुति का विषय भी नहीं बन पाता। अतः ब्रह्माभिन्न जीव में आनन्द स्वरूपता श्रुति वाक्य से भी सिद्ध हो गई।

शंका– जैसे स्वर्गकामो यजेत्= यहां जीव में स्वर्ग की कामना होती है- उसी प्रकार जीव में सुख की कामना मानी जाय। जीव में सुख स्वरूपता नहीं मानी भी जाय।

समाधान– अध्ययनविधिअनुसारिणस्तम्= स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह श्रुति का विधिवाक्य सम्पूर्ण अपने अपने वेदशारवा के अध्ययन के विषय में कहता है। न कि केवल कर्मकाण्ड मात्र के अध्ययन के लिये कहता है। इसी प्रकार जिसने सभी उपनिषदादि का अध्ययन किया है साथ में विवेक वैराग्यादि साधनचतुष्टय सम्पन्न है- ऐसे साधक के प्रति ''न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः'' (कठ. २/५/११) वह बाह्य लोक दुःख से लिप्त नहीं होता "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं," जरां मृत्युमत्येति (बृ० ३/५/१) वह साधक भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढापा मृत्यु को पार कर जाता है, "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० ३/९/२८) ब्रह्म ज्ञान स्वरूप एवं आनन्द स्वरूप है। "एषोऽस्य परम आनन्द" "यो वै भूमा तत्सुखम्" (छा० ७/२३/१) इत्यादि प्रत्यक्ष वाक्यानि= स्पष्ट रूपसे श्रुति भगवती के वाक्य आत्मा आनन्द स्वरूप है ऐसे प्रतिपादक वाक्य ही प्रत्यक्ष वाक्य है। आमनन्ति उनका पठन हो रहा है। अर्थात् ऐसे साधक को उपनिषद् वाक्य आत्मा आनन्दस्वरूप ही, दुःख से रहित है समझना चाहिये। ऐसे प्रत्यक्ष रूप से आत्मा का मन्त्रों के द्वारा निरूपण करते हैं।

अथवा– वेद का निरर्थक भाग वेदान्त है, इस कारण वेद अर्थ शून्य होने के कारण आनन्दादि अर्थ की सिद्धि नहीं होती। इस आशंका को हटाने के लिये अध्ययन विधि दृष्ट अर्थ को प्राप्त करने के लिये जैसे कर्मपरक वाक्य है, इसी प्रकार से स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह वाक्य भी अर्थ को लेकर विधिपरक है। इसे कहते है अध्ययनेति। जो प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध है, उसी आत्मा को आनन्द विग्रह रूप मानते हैं, इसमें यही कारण है कि आत्मा अनृत, जड विरोधी है तथा अहंकार से विलक्षण है।

ननु प्रश्न आत्मासुखस्वरूप (आनन्द स्वरूप) है लेकिन सुखानुभव तो ज्ञान के द्वारा होगा और वह ज्ञान अनित्य है।

समाधान= ज्ञानात्मकवृत्ति के अनित्य होने पर भी वृत्ति का आश्रय साक्षी चैतन्य तो नित्य है। इसलिये देवदत्तादिक को सुखादिक का साक्षात्कार हो जाता है वह (आत्मनिष्ठ) साक्षीनिष्ठ सुख दुःखादिक का साक्षात्कार घटादि पदार्थों के साक्षात्कार के समान चक्षुरादि प्रमाण से नहीं होता है। क्योंकि इन सुख दुःखादिक के साक्षात्कार में कोई प्रमाण नहीं है।

आशंका= सुखादिक की उपलब्धि करणवान् है, जिसके युक्त होने से इस प्रकार से तो सुखादिक का करण मन (अन्तःकरण) होगा।

समाधान= सुख में क्रिया हेतु यह भी सिद्ध नहीं है अतः यह अनुमान नहीं बनेगा।

उस साक्षात्कार के प्रति किसी की प्रसिद्धि नहीं है।

आशंका—साक्षात्कार होने से सुख की सिद्धि माने तो?

समाधान- सुख नित्य मानने से भी उस की सिद्धि हो सकती है। सुखादिक के उत्पत्तिकाल में सुख दुःखादि विषय का मन से उत्पन्न ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मान सकते। यदि यह कहे कि सुखादिक के उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में (प्रथम क्षण में सुख उत्पन्न मानें और उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में) सुखादि विषयक ज्ञान मानें तो भी सम्भव नहीं हैं- क्योंकि सुखादि के उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में तद्विषयक ज्ञान रहता है- इसमें कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होने के पूर्व क्षणमें सुख अज्ञात ही रहा तो वह सुख उत्तरवर्ती द्वितीय क्षणमें उत्पन्न होने वाले ज्ञान के बिनाही सिद्ध हुआ तो फिर द्वितीय क्षण में स्थित ज्ञान का न तो कोई प्रयोजन रहा और न वह प्रमाण रूप ही रहा जिससे किसी प्रमेय की सिद्धि हो सकें। जो प्रमेय उसने सिद्ध करना है सुखादि साक्षात्कार वह तो उसके बिना पहिले क्षण में ही हो चुका है। दूसरी बात यह भी है कि सुखादिक के द्वितीय क्षण में सुखादि उत्पादक मनसंयोगादि अन्यथा सिध्दि हो जाने से सुखादि विषयक ज्ञान नहीं हो सकता और कहीं भी नहीं देखा गया कि जो सुखादि विषयों का मनः संयोग जो असमवायिकारण है वह सुखादि ज्ञान का भी असमवायि कारण हो। उस सुखादि विषयक ज्ञानोत्पादन के लिये अन्य किसी सम्बन्ध की कल्पना करनी पडेगी, इतने में सुखादिक का असमवायिकारण मनःसंयोगादि नष्ट हो जाने के कारण=सुखादि भी नष्ट हो जायेंगे तो फिर सुखादिक ज्ञान कैसे संभव हो सकेगा कि वह उत्पन्न हुवा कि नष्ट हुवा। वास्तविकता तो यह है कि जिस समय सुखादिक की स्थिति है- उस समय में भी न तो ज्ञान उत्पत्ति एवं विनाश का अनुभव होता है। जिससे ज्ञानोत्पत्ति के लिये अलग कहना पडें। सुखादिक के उत्पत्ति काल में सुखविषयक अनुभव (ज्ञान,) उस अनुभव की उत्पत्ति

आदि अन्यथा सिद्ध होने से सुखादिक के प्रति उसे कारण नहीं माना जाता है। इसलिये सुखानुभव की उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। इसी प्रकार से सुख से भिन्न दुःखानुभव के बारे में भी ऐसा ही है। उसका साधक एक चैतन्य मात्र आत्मा ही है। जो घटादि पदार्थों का भी प्रकाशक है। वह आत्मा प्रकाशस्वरूप चिद्रूप ही है। आनन्द उससे अभिन्न ही है। और आनन्द स्वरूप दुःख के विरोधी होने से आत्मा आनन्द स्वरूप तथा दुःख-विरोधी है बात सिद्ध हुई इस प्रकार सब प्रपञ्च दृश्य होने से आगे कहे जाने वाले न्याय से। (जो दृश्य है यह मिथ्या है) इस न्याय से इसमें अनिर्वचनीयता सिद्ध होने पर आत्मा सजातीयादि भेद रहित सिद्ध है। यह सब कुछ वेदान्त वेद्य आत्म स्वरूप की उक्त लक्षणता से सिद्धि हुई। इस प्रकार के आत्मस्वरूप में जड प्रपञ्च कैसे आया? इसका उत्तर है- अध्यास। अध्यास कहते है, उस को, जो वस्तु असम्भव है और वह दिखाई देती है।

ननु प्रपञ्चो नाध्यस्तो बाधकाभावात्, न च शुक्तौ रजतादिवद्बाधोऽस्तीत्याशङ्क्य तदध्यस्तताग्राहकं प्रमाणमेव तद्बाधकमित्याह-

प्रश्न- प्रपञ्च आत्मा में अध्यस्त है इसे हम स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उस प्रपञ्च का अध्यास का कोई बाधक नहीं है। जैसे शुक्ति में रतज के बाधक नेत्रादि प्रमाण है- वैसे यहां बाधक कोई प्रमाण नहीं है।

समाधान= जो प्रमाण प्रपञ्च को अध्यस्त सिद्ध करेगा वही उसका बाध भी करेगा।

अध्यस्तमल्पवपुरस्य न वास्तवं तत्
प्रत्यक्पराग्द्वयमिदं हि परस्परस्मिन्।।
अध्यस्ततां प्रति समर्थमबोधमात्र-
मन्योऽन्यरूपमिथुनीकरणे निमित्तम्।।२७।।

अन्वयः– अध्यस्तम् तत् अल्पवपुः न वास्तवं हि प्रत्यक् पराग् इदं द्वयमिदं परस्परस्मिन् अध्यस्ततां प्रति समर्थनम् निमितम् (भवति) अबोधमात्रं अन्योन्यरूपमिथुनीकरणे निमितम्।

अन्वयार्थ= यह (अहङ्कारादि) परिच्छिन्न दुःखरूप इस आत्मा में अध्यस्त है, वास्तविक नहीं है। क्योंकि प्रत्यग् अंश तथा परागंश परस्परमें अध्यस्त हैं और अज्ञान ही इन दोनों के पारस्परिक अध्यासों में निमित्त है।

अध्यस्तमिति। आरोपितमित्यर्थः। बाह्याध्यात्मिकप्रपञ्चोऽध्यस्तो न वास्तव इति वा परिच्छिन्नत्वाच्छुक्तिरजतादिवदित्यभिप्रेत्याह- अल्पवपुरिति। अस्यात्मनोऽल्पं वपुरिव वपुः, यथा

प्रसिद्धं वपुः स्वातिरिक्तमात्मानं स्वस्वरूपेण निरूपयदवच्छिनत्ति, एवमहङ्कारादिरपि सच्चिद्रूपमात्मानं स्वेन रूपेण भासयतीति वपुः। एतच्चाध्यस्तत्वोपोद्बलनायोक्तम्। ननु 'सन्घटः' इत्यादिप्रतीतिविरोधान्नेदमनुमानं साध्वित्याशङ्क्य निरधिष्ठानाध्यासायोगात्सच्चिद्रूपात्मन एव तदधिष्ठानत्वं वाच्यम्। ततश्च सत्यानृतात्मत्वात्प्रपञ्चस्य तत्र सद्बुद्धिरन्यथासिध्यतीत्याशयेनाह तत्प्रत्यक्पराग्द्वयमिति। तद्-अल्पवपुः प्रत्यक्पराग्द्वयसमुदायात्मकमित्यर्थः। न चाप्रयोजकत्वम्। प्रपञ्चविलक्षण आत्मनि प्रपञ्चात्मताया असम्भवस्योक्तत्वात्। नन्वध्यस्तमपि शुक्तिरजतादि सत्यमेवेत्यत्राह-न वास्तवमिति। उक्तरीत्या तस्यानिर्वचनीयत्वसाधनादित्यर्थः।

अथवा-नन्वधिष्ठानाध्यस्यमानांशद्वयोल्लोखित्वं भ्रमस्य दृष्टम्। अहमिति प्रत्ययस्त्वेकरूपो द्रष्टृमात्रविषयः कथमध्यास इत्याशङ्क्याह तत्प्रत्यक्परागिति। अनुभवेऽपि निपुणं निरूप्यमाणे दृग्दृश्यात्मना प्रत्यगंशः परागंशश्च भासते, तस्य चेदमनिदंरूपस्य तप्तायः पिण्डवद्विरुद्धोभयरूपत्वादध्यासं विनैकत्वबोधासम्भवादेतदुभयं परस्परस्मिन्परस्परात्मत्वेनाध्यस्ततां प्रति योग्यमित्यर्थः। ननु प्रत्यक्पराचोः सादृश्याभावाद्विशुद्धे चात्मनि दोषस्याप्यसम्भवादारोप्यस्य च पूर्वमननुभवेन संस्काराभावात् कथं परस्पराध्यास इत्यत आह-अबोधमात्रमिति। स्फुरतोऽपि तत्त्वानवबोधं सर्वत्राध्यासपुष्कलकारणम्। स चात्मन्यनुभवसिद्धश्चेत्काऽत्र विसामप्रीत्यर्थः। अन्योऽन्येति= अन्योऽन्यार्थाध्यासे मिथुनीकरणे चेत्यर्थः।। प्रत्यक्पराग्रूपं ह्यन्योऽन्यात्मकमन्योऽन्यधर्मवच्चाध्यस्तं, तस्य मिथुनीकरणं नाम ज्ञानाध्यासः, तदुभयावच्छिन्नमेकं ज्ञानमिति यावत्। असंसर्गाग्रहनिबन्धनत्वानभ्युपगमादित्युभयत्राज्ञानमेव निमित्तमिति भावः। ततश्च प्रत्यगज्ञानमेव बुद्ध्याद्यात्मना तदुभयोपरक्तज्ञानात्मना च परिणममानमहमिति साक्षिविषयः, तदुक्तम्—

"अविद्यैव बाह्यदोषापेक्षया रजताद्याकारेण साक्षिचैतन्यस्य रजतावच्छेदक ज्ञानाभासाकारेण च परिणममाना स्वकार्येण सह साक्षिविषयत्वमापद्यते" इति।

अयमर्थः- दुष्टेन्द्रियस्य शुक्तिसन्निकर्षादिदमिति प्रमाणवृत्तिर्भवति, तत्प्रतिफलितशुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठशुक्तित्वाज्ञानं रागसंस्कारादिसचिवं शुक्त्या सह मिथ्यातादात्म्यापन्नरजतात्मना परिणमते, इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्नचिन्निष्ठशुक्तिविषयत्वाज्ञानं तु ज्ञानसंस्कारसहकृतं साक्षिरजतसम्बन्धापादकरजतज्ञानात्मना, तच्च जडत्वान्न स्वविषयसाधकमिति सविलासाज्ञानं साक्षिविषय इति।

अत्र केचित्। किं रजतज्ञानात्मकाविद्यावृत्त्या, तया विनाऽपीदमाकारवृत्त्यभिव्यक्तसाक्षिणैव रजतप्रतिभासोपपत्तेः। अध्यस्तरजतादेः प्रमाणागम्यत्वेनावरणरहितत्वात्। आवरणाभि-

भवार्थं चिदुपरागार्थं वा वृत्तेरन्यत्र स्वीकारात्। अत एव ज्ञानसुखादौ न वृत्त्यन्तरमुपेयते, तेषामनावृतचैतन्याध्यस्तत्वादेव भानसम्भवात्। अन्यथा वृत्तावपि वृत्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थापत्तेः। नापि संस्कारार्था वृत्तिः, रजतविशिष्टचिन्नाशेनैव सुखादाविव तज्जननात्। न चार्थनाशज-संस्कारस्य स्मृत्यहेतुत्वाद् वृत्तिसिद्धिः। सुखादावेव तत्कल्पनात्। वृत्त्यन्तरापेक्षया धर्मकल्पनामात्रत्वेन लघुत्वाच्च। नच ज्ञानसंस्कारस्यार्थाहेतुत्वम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिहैव तत्कल्पनात्। अत एव प्रातीतिकं रजतम्। दोषादेरप्यावश्यकरजतोत्पादेनैवार्थवत्त्वमिति वदन्ति।

अत्रोच्यते। अनावृतचैतन्याध्यस्ततामात्रस्य जडभानप्रयोजकत्वेऽनुमेयवह्न्यादेरभानापत्तिः। तत्र विषयगतावरणभङ्गानङ्गीकारात्। कथं तर्हि तत्र वह्निभानम्। अनुमानरूपवृत्त्याऽन्तः करणवच्छेदेन वह्निविषयकाज्ञानापसरणात्। वह्निमहं न जानामीत्यनुभवेन वह्न्यावात्मनि चाज्ञानसाधनात्तदन्यतरावरणभङ्गस्य च वह्निव्यवहारहेतुत्वमिति वक्ष्यते। ततश्च तदाकारवृत्ति विषयत्वमेवास्वच्छतामशेषु भानप्रयोजकमास्थेयम्। स्वच्छान्तःकरण सुखादिभाने च वृत्तिं विनाऽपि तदाकारत्वसंभावाच्चित्प्रतिबिम्बाश्रयत्वमपीति जडप्रतिभासे द्वय्येव गतिः। चैतन्यं हि यदाकारवृत्तौ प्रतिबिम्बते तद्भासयति प्रतिबिम्बाश्रयं च वृत्त्यादिकं, तथा दर्शनात्। न च क्वचिद् वृत्तिः क्वचित्प्रतिबिम्बाश्रयत्वं तन्त्रमित्यननुगमः। सर्वजडप्रतिभासानुगतं हि चैतन्याकारत्वमेव प्रयोजकं ब्रूमः। चैतन्यं यदाकारं भवति तत्प्रतिभासत इत्यर्थः। चैतन्यस्य तदाकारत्वं न स्वतोऽसङ्गत्वात्। किं तु क्वचित्प्रतिबिम्बात्क्वचित्तदाकारवृत्तिसंबन्धा-दित्यन्यदेतत्। तत्र सात्त्विकान्तःकरणतद्धर्मेषु प्रतिबिम्बात्। तामसेषु तदाकारवृत्ति-संबन्धादेवेति कुतो रजताकारवृत्तिं विना तद्भानम्। न चाध्यस्तरजतस्य अस्वच्छतामसस्य चित्प्रतिबिम्बाश्रयत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्, अस्वच्छरजतसंस्कारसंस्कृताविद्यारब्धत्वेनास्वच्छत्वादिति सिद्धाऽविद्यावृत्तिः। ननु परोक्षे तदाकारवृत्तिरपरोक्षेत्वनावृतचिदध्यस्तत्वं तन्त्रमस्तु। मैवम्। सामान्यसामग्रीं बिना विशेषसामग्र्या अहेतुत्वेन तत्राप्यस्वच्छतामसमात्रभानहेतुवृत्ति-विषयत्वस्यापरिहार्यत्वात्।

किं न रजतस्य विषयावच्छिन्नसाक्षिभास्यत्वे 'अहं रजतवान्' इति प्रतीतिः स्यात् न त्वहं रजतज्ञानवानिति।

किं च त्वन्मतेऽर्थसंस्कारस्य स्मृतिहेतुत्वं ज्ञानसामग्र्या अर्थहेतुत्वं चाक्लृप्तं कल्प्यमिति गौरवम्। प्रातीतिकत्वं च प्रतीतिकालान्यकालसत्त्वं, न तु प्रतीतिजन्यत्वं, संस्कारादेरपि प्रातीतिकत्त्वापत्तेः। न च साक्षिकालान्यकालः संभवतीति अविद्यावृत्तिरेव

तत्प्रतीतिः। ननु तवाप्यविद्यावृत्ते रजतविषयत्वाद्धीवृत्तेश्चेदंमात्रंविषयत्वादिष्टपुरोवर्तिविशिष्टविषयं वृत्त्यन्तरं प्रर्वतकं कल्प्यमिति गौरवमिति चेन्न। एकावच्छिन्नजलदर्पणयोरेकमुखप्रतिबिम्बवदेकतापन्नसत्यमिथ्यावस्तुद्वयेऽप्येकप्रतिभासाभ्युपगमेन शुक्त्यभेदापन्नरजतस्फुरणस्य फलस्यैकत्वात् प्रवृत्त्युपपत्तेरिति संक्षेपः।।२७।।

अध्यस्तमिति— आरोपित है। घट पटादि बाह्य (पदार्थ) प्रपञ्च तथा अहंकारादि अभ्यन्तर प्रपञ्च (पदार्थ) दोनों ही-वास्तविक नहीं है। क्योंकि अल्पवपुः- परिछिन्न होने के कारण (देश, काल वस्तु से परिच्छिन्न होने के कारण) जैसे शुक्ति में रजतादि। अस्य-आत्मा का, अल्पं- परिच्छिन्न भाव, वपुः- शरीर के समान अर्थात् आकार। जिस प्रकार प्रसिद्ध मानवादिक का शरीर उसमें रहने वाले आत्मा का यथार्थ दर्शन नहीं होने देता है किन्तु उसे आवृत्त करता है। इसी प्रकार से अहंकारादिक भी सच्चित् स्वरूप आत्मा को अपने ही रूप से परिणत करा देते हैं और वास्तविक सच्चित स्वरूप का भान नहीं होने देता।

प्रश्न— सन् घटः- यहाँ घट का अधिष्ठान सत् पदार्थ है। वैसे यहां सन् अहंकार सत् शरीरम् ऐसी प्रतीत तो होती नहीं। फिर कैसे अध्यास मानें।

समाधान- अध्यास कभी भी अधिष्ठान के बिना नहीं होता है जो अधिष्ठान इन अहंकारादिक प्रपंञ्च का है वह सच्चिद्रूप आत्मा ही है। इसलिये सत्यानृत दोनों पदार्थों के मिलने से सत्य बुद्धि भी अन्य रूप से सिद्ध होती है अहंकारादि अस्ति, शरीरादि अस्ति, अस्ति इत्यादिरूप से इस भाव को कह रहे हैं। तत् प्रत्यक् पराग् द्वयमिति- तत् अल्पवपु आत्मा अनात्माका सम्मिलितरूप।

प्रश्न- अहंकारादि अस्ति अहंकार है इत्यादि प्रतीति में आत्म अनात्मा का सम्मिलित रूप न मानों किन्तु एक आत्मा का ही स्वरूप मानें तो क्या दोष है।

समाधान- प्रपञ्चविलक्षण आत्मा में यह अकेले में प्रत्यय कभी भी सम्भव नहीं हो सकता है।

प्रश्न— अध्यस्त रजत भी सत्य ही मानेंगे तो?

समाधान— नहीं अध्यस्त रजत सत्य नहीं है। न वास्तवमिति— वह अनिवर्चनीय है- यह आगे समझायेंगे।

प्रश्न— प्रत्यग्-आत्मा, पराग्-अनात्मा,— इन दोनों का आपस में तो जो अध्यस्त भाव है- उसे अध्यास कहते हैं। लेकिन अहम् मैं इस प्रत्यय में केवल आत्मा का ही भान होता है तो इसे हम कैसे अध्यास मानें।

समाधान— तत्प्रत्यगिति— इस अनुभव का भी जब हम निरूपण करेगें तो दोनों आत्म अनात्म प्रत्यय दिखाई देते है। दोनों का परस्पर अध्यस्त भाव इसमें भी हैं।

प्रश्न— आत्मा और अनात्मा में सादृश्य भाव नहीं है, आत्मा विशुद्ध होने से उसमें कोई दोष भी नहीं होने से, आरोपित प्रपञ्च का पहिले अनुभव न होने से, उसके आधार पर संस्कार आदि न होने से- इन आत्म अनात्म पदार्थों का परस्पर में कैसी अध्यस्तता सम्भव हो सकेगी।

समाधान— अबोधमात्रमिति- अधिष्ठानका स्फुरण होते हुये भी वास्तविक रूप से न जानना यही अध्यास के लिये पर्याप्त कारण सामग्री हो जाती है।

प्रश्न— आत्मा अनुभव सिद्ध है- फिर इसमें कौन सी विरूद्ध सामग्री आई?

समाधान— अन्योऽन्येति- परस्पर के अर्थाध्यासमें सम्मिश्रण में निमित्त है। आत्मा अनात्म रूपमें, तथा अनात्म पदार्थ आत्मरूपमें इस प्रकार आत्मा तथा अनात्म धर्मरूप से, सम्मिलित रूप से भासना इसीका नाम ज्ञानाध्यास है। अर्थात् जिस ज्ञानमें अधिष्ठान और अध्यस्त दोनों पदार्थो के ज्ञान का एकीकरण हो जाता है उसे ज्ञानाध्यास कहते हैं अर्थाध्यास भी धर्मि अध्यास तथा धर्म अध्यास रूप से दो प्रकार का है। इसलिये कहते हैं प्रत्यग् पराग्द्वयमिदम्= आत्मा और अनात्मा दोनों का सम्बन्ध न होने पर भी उस असंसर्गका अग्रहण का कारण अज्ञान ही निमित्त है। इसमें आत्मविषयक (अधिष्ठानविषयक) अज्ञान ही मन बुद्धि तथा आत्मा दोनों को सम्मिलित रूप से प्रस्तुत करता है उसी से ''अहम्'' मैं ऐसा प्रत्यय साक्षी का विषय हो जाता है। इसीलिये कहा है अविद्या ही बाह्य दोषों की अपेक्षा साक्षी चैतन्य में रजतादि आकार से परिणत अविद्यावृत्ति रजतादि साक्षी विषय रूप है इस रूप में परिणत होती है।

तात्पर्य— दूषित इन्द्रिय के द्वारा शुक्ति के सन्निकर्ष से प्रथम इदं यह है ऐसी अन्तःकरण की वृत्ति है। उस अन्तःकरण वृत्ति में प्रतिफलित शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ शुक्तित्वका अज्ञान चांदी के राग (आसक्ति) आदि संस्कारों के कारण चांदी के आकार से विषयरूप से परिणत हो जाता है। और इदमाकार वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ शुक्ति विषयक अज्ञान तो इदं पदार्थ के ज्ञान संस्कार सहित होकर साक्षी और रजत दोनों के सम्बन्ध का सम्पादन करके रजतज्ञान रूपसे परिणत हो जाता है। वह आज्ञान तो जड होने के कारण अपने विषय का साधक नहीं बन पाता। इसलिये अज्ञान तथा उसका कार्य दोनों ही साक्षी के विषय माने जाते हैं।

अत्र केचित्= रजत ज्ञानात्मक अविद्यावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। उसके बिना ही इदमाकार वृत्त्यभिव्यक्त साक्षी के द्वारा ही रजत का भान हो सकेगा। अध्यस्त रजत प्रमाण का अविषय होने से उसमें आवरण करने की शक्ति नहीं है। आवरणभङ्ग करने

कि लिये अथवा चैतन्य का साक्षात्कार करने के लिये अन्यत्र वृत्ति को स्वीकार करेंगे। इसलिये ज्ञान है, सुख है इनके भान के लिये अन्य वृत्ति की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उनका भान तो अनावृत्त जो चैतन्य उसमें ये अध्यस्त होने से उनका भान सम्भव है। अन्यथा सुख ज्ञानादि के वृत्ति का अङ्गीकार करने से उस वृत्ति के आवरण भङ्गार्थ अन्य वृत्ति। इस प्रकार से अनवस्था दोष आ जायेगा।

संस्कारों के सङ्गति के लिये वृत्ति माने तो भी सम्भव नहीं है क्योंकि जैसे सुखादि पदार्थों के नाश से उनके संस्कार अग्रिम सुख स्मृति मे कारण बनते है इसी प्रकार प्रातीतिक रजत विशिष्ट चेतन के नाशाधीन संस्कार उत्पन्न होंगे। अर्थ नाश संस्कार का हेतु नहीं हो सकता यह बात नहीं है क्योंकि सुखादि अर्थ के नाश होने पर भी उसके संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। अन्यवृत्ति के कल्पना की अपेक्षा अर्थ नाश की कल्पना संस्कारों के लिये करना ही लाघवयुक्त है। इसी प्रकार भ्रान्ति ज्ञान जन्य संस्कार काल्पनिक रजत के प्रति अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध ही है। इसीलिये प्रातीतिक रजत की उत्पत्ति मानी गई है। इन्द्रियगत दोषादि कभी प्रातीतिक रजत के उत्पादक होने से सार्थक हो जाते हैं।

समाधान= अनावृत्त चैतन्य यदि अध्यस्त जड पदार्थों के भान में समर्थ हो तब वह्नि विषयका अज्ञान है, उसका निराकरण हो जाता है। क्योंकि देखा भी जाता है कि वह्निमहं न जानामि= मुझे अनुमेय आदिका भान नहीं हो पायेगा। क्योंकि वहां वह्नि जो साध्य विषय है उस पर आवरण भङ्ग का अङ्गीकार नहीं मानते। और जब वह्नि का आवरण भङ्ग नहीं होगा तो उसका भान कैसे सम्भव हो सकेगा। इसलिये अनुमानरूप वृत्ति से अन्तःकरण अवच्छेदेन जो मैं वह्नि को नहीं जानता हूँ इस अनुभव से आत्मा और वह्नि दोनों मे ही अज्ञान तथा उस अज्ञान के साधन दोनों के मिलन से जो आवरण आया हुआ है उसका भङ्ग (आवरण भङ्ग) होना ही "वह्निमहं जानामि" मैं वह्नि को जानता हूँ इस व्यवहार का कारण है। इसलिये अब यह बात सिद्ध हुई कि मलिन तमो गुण युक्त अंतःकरण में रजतादिक के भान का कारण प्रातीतिक रजत विषयक वृत्ति कारण है और निर्मल अंतःकरण में वृत्ति के बिना ही सुख दुःखादि आकार सम्भव होने से सुखादि पदार्थ भान के प्रति चित्त, प्रतिबिम्ब उसका आश्रय सुखादि कारण है यह उपपत्ति बनी। ये दो ही गतियां उत्पन्न हो जाती हैं। चैतन्य का यह भी एक नियम है कि वह जिस वृत्ति में प्रतिबिम्बित होता है तो वह चैतन्य प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थ को तथा प्रतिबिम्ब का आश्रय जो वृत्ति दोनों का ही प्रकाशन चैतन्य करता है। यह नहीं कि कभी पदार्थ का कभी तदाश्रय वृत्ति का प्रकाशन करे। चैतन्य वृत्तिविषय को स्वरूप सम्बन्ध से प्रकाशित करता है और वृत्ति का प्रकाशन विषयता सम्बन्ध से करता है। ऐसा सम्बन्ध है। संक्षेप से यही कहेंगे कि सभी जड़ पदार्थो के प्रतिभास रूप चैतन्य

का तत्तत् पदार्थों का आकारत्व ही उन उन पदार्थों के प्रकाशन का कारण है। चैतन्य में एक और विशेषता यह है कि वह जिस जिस आकार का हो जाता है वह उस उस आकार के रूप में दिखाई देता है। चैतन्य का अपना कोई आकार तो है नहीं क्योंकि स्वतः तो वह असङ्ग है। इसलिये कभी तो वह वृत्ति के सम्पर्क से तो कभी कभी प्रतिबिम्ब के सम्पर्क से ऐसा वह आकाराकारित हो जाता है। इसमें भी जब अन्तःकरण सात्विक होता है तथा जब सात्विक अंतःकरण के सुखादि धर्म है उनके आकाराकारित चैतन्य प्रतिबिम्ब बल से भासित होता है। और मलीन तमो गुणी अंतःकरण में रजतादि आकार युक्त वृत्ति विषय के सम्बन्ध से भान होता है। अतः रजताकार वृत्ति के बिना रजत का तथा चैतन्य का भाग असम्भव नहीं है। अस्वच्छ मलीन तमो गुणी रजतादि चैतन्य के प्रतिबिम्ब का आश्रय नहीं हो सकता है। क्योंकि अस्वच्छ रजत संस्कार से युक्त ऐसी अविद्या से ही रजतादि की स्थिति होने से चित् प्रतिबिम्ब का आश्रय नहीं हो सकता इसलिये अविद्यावृत्ति की सिद्धि हो गई।

शंका– परोक्ष रजतादिक के प्रति रजतादि आकारक वृत्ति का ग्रहण करें और अपरोक्ष सुखादिक के प्रति अनावृत चैतन्य में सुखादिक का अध्यास कारण मानें तो क्या आपत्ति है?

समाधान– सामान्य सामग्री के बिना विशेष सामग्री भी कारण नहीं बन सकती। वहां भी परोक्ष पदार्थ के विषय में वृत्ति का ग्रहण करना आवश्यक ही होगा। यदि वृत्ति का ग्रहण नही करें केवल साक्षिभास्य ही रजतादि पदार्थ को मानें तो जैसे "अहं सुखी" ऐसा प्रत्यय होता है वैसे "अहं रजतम्" ऐसा प्रत्यय होने लगेगा। मैं रजत ज्ञानवान् हूँ ऐसा प्रत्यय नहीं होगा। इस प्रकार हे पूर्वपक्षी अर्थ के नाश के बाद उसके संस्कार स्मृति का कारण मानना और ज्ञान सामग्री (ज्ञान के संस्कार) ही अर्थ का कारण मानना दोनों ही कारण अस्पष्ट है और अलग अलग व्यवस्था से गौरव भी होगा। प्रातीतिक पदार्थ का अभिप्राय यह कि प्रतीति काल से अन्य काल में न रहना, न कि प्रतीतिजन्य होना ही प्रातीतिक (प्रातिभासिक) पदार्थ है। अन्यथा संस्कारों को भी प्रातिभासिक मानना पडेगा क्योंकि उनकी भी प्रतीति तो होती ही है। रजतादि यदि साक्षिभास्य मानें तो साक्षिकालान्य काल में अभाव हो। लेकिन साक्षी काल से अन्य काल तो है ही नहीं। इसलिये रजतादि पदार्थ के लिये अविद्या वृत्तिका स्वीकार करना ही उचित है।

प्रश्न– रजत अविद्या वृत्तिका विषय हुआ, और ज्ञान हुआ इदं विषयक, इसलिये पुरोवर्त्ती रजतविशिष्ट इदं विषय वृत्त्यन्तर की कल्पना करनी पडेगी।

समाधान– नहीं जैसे एक देश में स्थित जल और दर्पण दोनों में एक ही मुख

के दो प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं इसी प्रकार सत्य और मिथ्या ऐसे दो वस्तुयें होने पर भी एक चैतन्य का प्रतिभास उसमें सम्भव है। इसलिये शुक्ति से अभिन्न रजत स्फुरण (अभित्यक्त चैतन्य का) ''इदं रजतम्'' इस एक प्रत्यय के होने से प्रवृत्ति संभव हो जाती है।

सादृश्यज्ञानादेरध्यासहेतुत्वं व्यभिचारेण निरस्यति-

सादृश्य ज्ञानादिक अध्यास के प्रति हेतु नहीं हो सकते। व्यभिचार दोष है। इसे बताते हैं—

सादृश्यधीप्रभृति न त्रितयं निमित्त-
मध्यासभूमिषु जगत्यनुगच्छतीदम्।।
ब्राह्मण्यजाति परिकल्पनमात्मनीष्टं
जात्या न साम्यमुपलब्धमिहास्ति किंचित्!।।२८।।

अन्वय— जगति अध्यासभूमिषु सादृश्यधी प्रकृतित्रितयं इंद न निमित्तं अनुगच्छति इंह आत्मनि ब्राह्मण्यजाति परिकल्पनम् जात्या न साम्यमुपलब्धं अस्ति किंचित्।

अन्वयार्थ- जगत में सर्वत्र सादृश्य ज्ञानादि (सादृश्यज्ञान, करण दोष तथा संस्कार) ये तीन निमित्त अध्यास में अनुगत नहीं पाये जाते हैं। आत्मा में ब्राह्मणत्वादि जाति अभीष्ट है तथापि इस जाति की सादृश्यता आत्मा में है नहीं, ऐसी और जगह भी है।

सादृश्यधीति। सर्वाध्यासाननुगतत्वान्न हेतुत्वाभिमतमेतत्त्रितयं सादृश्यधीदोष-संस्कारात्मकम् अध्यासनिमित्तमित्यर्थः। सादृश्यधियो व्यभिचारस्थानमाह-ब्राह्मण्येति। ''ब्राह्मणोऽहम्'' इति जात्यध्यास आत्मनि सर्वैरिष्यते, अन्यथा ''ब्राह्मणो यजेत" ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इति विधिनिषेधव्यवस्थानुपपत्तिः, तत्र च न सादृश्यमस्तीत्यर्थः। ननु सोऽपि त्रितयनिमित्तः अध्यासत्वादिति नेत्याह-जात्येति। आत्मनि हि जात्या सादृश्यमनुपलब्धि-बाधितम्। द्वयोरपि गुणक्रियावयवशून्यत्वात्, "न तस्य प्रतिमा" इति श्रुतेश्चेत्यर्थः। ततश्च रजताद्यध्यासेष्वार्थिकं तत् त्रयं न त्वध्यासमात्राङ्गमिति भावः।।२८।।

सादृश्यधी— अध्यास में सादृश्य बुद्धि दोष और संस्कारादि दोष इन तीनों अध्यास स्थलों में अनुगत न होने से कारण नहीं माने जा सकते। इस का व्यभिचार स्थान बता रहे हैं। हेतु रहे और साध्य न रहे ब्राह्मण्य जाति "ब्राह्मणोऽहम्" मै ब्राह्मण हूँ, ''ब्राह्मणो यजेत'' ब्राह्मण यजन करें, ऐसे अनेक विधि निषेधात्म का वाक्य आत्मा में ब्राह्मण जाति का अभिमान धारण करके ही प्रवृत्त होते हैं। लेकिन ब्राह्मण जाति और आत्मा दोनों में

न कोई समानता न कोई सादृश्यता।

आशंका= मत रहे आत्मा में ब्राह्मण जाति साम्यता तथापि दोष और संस्कार की तो प्राप्ति आत्मा में होगी।

समाधान– नहीं, यह भी नहीं, क्योंकि "न तस्य-प्रतिमा" आत्मा में कोई गुण अथवा क्रिया न होने से ये दोष और संस्कार भी आत्मा में नहीं आ सकते अतः ये तीनों सादृश्य ज्ञान, दोष और संस्कार रजतादि अध्यास में भी कारण या अङ्ग नही बन सकते।।२८।।

नन्वत्रापि प्रमेयत्वादिना सादृश्यमस्तीत्याशङ्क्य न तादृक् सादृश्यमध्यासप्रयोजकमतिप्रसङ्गात्, किन्तु भूयोऽवयवगुणादिसाम्यम्। न चैतयोस्तदस्तीत्याह-

आशंका– प्रमेयत्वरूप से आत्मा व ब्राह्मण जाति में साम्यत्व अध्यास में प्रयोजक मान लेंगे तो क्या दोष है?

समाधान– अतिप्रसङ्ग ही दोष है। केवलान्वयी होने से।

प्रश्न– चलो छोड़ देवें इस वस्तु को– तथापि आत्मा और ब्राह्मणादि जाति में अधिक गुण तथा अधिक अवयवों की साम्यता अध्यास का कारण मानें तो क्या दोष है?

भूयस्त्ववत्तनुगुणावयवक्रियाणां
सामान्यपूगवपुरुक्तमिहाभियुक्तैः।।
सादृश्यवस्तु न चिदात्मनि किंचिदत्र
जात्यादिभिः सह निरीक्षितमस्ति तादृक्।।२६।।

अन्वयः– अत्र चिदात्मनि भूयस्त्ववत्तनुगुणावयवक्रियाणां। सामान्यपूगवपुरुक्तमिहाभियुक्तैः सादृश्य वस्तु न किञ्चिदत्र जात्यादिभिः सह अस्ति, तादृक् निरीक्षितम् अस्ति।

अन्वयार्थ- भूयस्त्वयुक्त (बहुत से) तनुवृत्ति गुण, अवयव तथा क्रिया पदार्थों का सामान्य समूह रूप सादृश्य वस्तु कही जाती हैं। इस आत्मा के साथ जात्यादिक के साथ उक्त प्रकार का सादृश्य नहीं है।

भूयस्त्ववदिति। एतच्च सामान्यपूगवपुषो विशेषणम्, गुणावयवादीनां बहुनामनेकसामान्यात्मकमित्यर्थः

अथवा- इह गोगवयादावभियुक्तैर्जैमिन्यादिभिः सामान्यपूगात्मकं सादृश्यवस्तूक्तमित्यन्वयः। कासां व्यक्तीनामित्यत्राह- भूयस्त्ववतीनां गवादितनुगतगुणावयवक्रियाणामिति। गुणानां शुक्लत्वदीर्घत्वादीनि सामान्यानि, अवयवानां पादपृष्ठत्वादीनि, क्रियाणां गमनभक्षणचर्वणत्वादीनि, तेषां पूगः समूह एव वपुर्यस्य। नन्विति पाठे गुणादीनां भूयस्त्वं

सादृश्यं वस्तूक्तमिति स्वार्थे वतिर्व्याख्येयः। ननु "अकाशवत्सर्वगश्च नित्यः" इति वैदिकप्रयोगादध्यासानुपपत्त्या चात्मन्यपि किंचित्सादृश्यं कल्प्यमित्याशङ्क्याह- नेति। अत्र चिन्मात्रात्मनि न तादृगपि सादृश्यं किंचिदस्तीत्यर्थः। न च नित्यत्वसर्वगतत्वाद्यपि जातिसादृश्यम्। अनुवृत्तकारणात्मिकाया जातेरनित्यत्वाज्जाताववृत्तेरसर्वगतत्वाच्चेति भावः।।२६।।

भूयस्त्ववदिति= सामान्य समूह(पूग) परमाणु(समूह)= शरीर के विशेषण हैं। गुण अवयव अनेक होने के कारण एक सामान्यात्मक उनको ग्रहण किया। आत्मा में= गुण अवयव, क्रिया, सामान्य समूह आदि कोई भी सादृश्य किसी पदार्थ का नहीं है। क्योंकि आत्मा "न तस्य प्रतिमा" उसका कोई आकार प्रकार ही नहीं है।

इस श्लोक का अर्थ अन्य प्रकार से करें- इह- आत्मा में। जैसे जैमिनीजी ने गो और गवय में सामान्य रूप से उनके अवयवों की साम्यता बताई। ऐसे व्यक्तिनां- भूयस्त्ववतीनां- उन गौ, गवयादिक में- समान रूप से जो गुणक्रिया आदि रहती है- जैसे, गुणानां- शुक्लरूप, लम्बायमानत्व आदि, अवयवानां- पैर, पीठ आदि, क्रियाणाम्- चलना चारा खाना, जुगाली करना आदि। उनका- पूगः- समूह। वही है- वपुः= शरीर जिसका ऐसा प्रतिपादन जैमिनि आदि ने किया है। वह आत्मा में संभव नहीं है क्योंकि आत्मा निष्क्रिय, निर्गुण, निरवयव है। अतः फिर "आकाशवत् सर्वगतश्चनित्यः" कैसे कहा?

समाधान= नेति— आत्मा और आकाश में किसी प्रकार की साम्यता नहीं है और न ही किसी जाति के साथ आत्मा की समानता है। क्योंकि एक आत्मा ही नित्य है- जाति आदि कोई नित्य नहीं है- यह सिद्धान्त है। यदि जाति के समान आत्मा को मानो तो जाति स्वयं जाति में नहीं रहती। तो आत्मा भी जाति में नहीं रहेगा तो फिर आत्मा असर्वगत हो जायेगा और आत्मा के निरपेक्ष व्यापकता के सिद्धान्त की हानि हो जायेगी। इस प्रकार जाति की साम्यता आत्मा के साथ सम्भव नहीं है बता दिया।

दोषस्य व्यभिचारस्थलमाह-

अब दोष भी अध्यास में कारण नहीं है- यह बता रहे हैं-

विषयकरणदोषान्न भ्रमः संविदि स्या-
दपि तु भवति मोहात् केवलादेवमेव।।
भगवति परमात्मन्यद्वितीये विचित्रा
द्वयगतिरियमस्तु भ्रान्तिरज्ञानहेतुः।।३०।।

अन्वयः= संविदि भ्रम विषयकरणदोषात् न स्यात्, अपितु केवलात् मोहादेव (भवति) एवमेव परमात्मनि

अद्वितीये भगवति विचित्रा द्वयमतिः इयम् भ्रान्तिः अज्ञान हेतुरस्तु।।

अन्वयार्थ- ज्ञान में (वेद्यत्वादि का) भ्रम विषय दोष (सादृश्यत्वादि) एवं करण दोष (कामलत्वादि) से नहीं होता है किन्तु केवल अज्ञान से होता है। इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्मरूप परमात्मा में भेद द्वैत बुद्धि रूप भ्रान्ति अध्यास का हेतु है।

विषयेति। विषयदोषः सादृश्यादिः, करणदोषः काचादिः। तत्र संविदि प्रमाणफले घटादिज्ञाने यः परेषां वेद्यत्वादिभ्रमः स तावद्विषयदोषात्करणदोषाद्वा न संभवति, संविदः स्वप्रकाशत्वेनाविषयत्वात्करणागोचरत्वाच्च। अस्तु प्रमातृदोषादेवेति चेत्, तर्हि दोषान्तरासंभवात् प्रमात्रभिव्यक्तान्मोहादेवेति वक्तव्यं, तच्चास्मदिष्टमेवेत्याह-अपि त्विति। तत्र मोहमात्रजत्व-सिद्धौ तद्वत्प्रकृतेऽपि मोहैकनिमित्तता साधनीयेत्याह-एवमिति। यथा संविदि वेद्यत्वादिधीर्भ्रमस्तथा परमात्मनि द्वैतबुद्धिरपि यतो भ्रान्तिरतोऽज्ञानहेतुरस्त्वित्यन्वयः। अज्ञानजत्वं संभवयति-विचित्रेति। भिन्नाभिन्नत्व- सदसत्त्वादिविचारासहत्वेनानिर्वचनीयेत्यर्थः भ्रान्तित्वसाधकमाह- अद्वितीये द्वयमतिरिति। अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यर्थः। इयमिति साक्षिसिद्धत्वमाह। भगवतीत्यनेन महामहि-मत्वात्प्रपञ्चरचनासामर्थ्यं सूचितम्। अस्त्विति समर्थने लोट्। अज्ञानजत्वं शक्यसमर्थनमित्यर्थः। एवं सादृश्यधीदोषयोर्व्यभिचार उक्तः। संस्कारोऽपि व्यभिचारी, शुक्तिरजतादिवैशिष्ट्यस्य प्रागननुभूतस्यापि भ्रमविषयत्वादिति स्पष्टत्वान्नोक्तम्।।३०।।

विषयदोष— विषय दोषः सादृशादि जैसे चांदी और सीप में चमकनापन।

करणदोष- काचकामलादि, नेत्र तिमिरान्धादि।

संविदि— यथार्थ ज्ञान रूप प्रमाण जन्य पदार्थ ज्ञान में, जैसे शुक्ति आदि पदार्थ में जो दूसरे को। वेद्यत्वादिभ्रमः यह रजत है ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। वह भ्रम विषयगत दोष से या इन्द्रियादि दोषों के द्वारा नहीं उत्पन्न होता है। प्रकृत में जो आत्मा है-वह। संविदः- वह आत्मा स्वप्रकाश स्वरूप होने से एक तो वह किसी का विषय नहीं है अतः विषय दोष उसमें संभव नहीं है और वह किसी इन्द्रिय का विषय भी नहीं होने से इन्द्रिय दोष की भी गति नहीं है। तो फिर प्रमाता का दोष मानें तो? नहीं। यदि प्रमातादि दोषों को ही ग्रहण करना है तो मोह से ही काम चल जायेगा। इसलिए ठीक ही कहा है- अपित्विति- मोहमात्रसे काम चल जाने से मोह ही कारण बनेगा- अध्यास के प्रति। एवमिति- जैसे शुक्तिआदि पदार्थ में रजत का भ्रम वैसे, परमात्मनि= आत्मा में द्वैतबुद्धिरिति मैं काला, गोरा देवदत्तादि हूँ यह भ्रम ही तो है- अतः यह अज्ञान ही है- इसका कारण भ्रान्ति मानने में कोई आपत्ति नहीं है। कैसे? विचित्रेति- वह अज्ञान बडा ही विचित्र है भिन्न अभिन्न, सद्असद्, सदासद् ऐसे किसी भी प्रकार के विचार को न सहन करने

वाला अनिवर्चनीय वह अज्ञान ही इस भ्रान्ति का कारण है उसकी विचित्रता बता रहे हैं- अद्वितीये द्वयमिति- अतस्मिन् तद्बुद्धि जो जैसा नहीं वैसा बताना, अद्वितीय ब्रह्म में द्वैत भाव बताना। इयम्- यह साक्षी सिद्ध ही है। भगवति- पद से आत्मा में प्रपञ्च रचना के प्रति सामर्थ्य प्रदर्शित किया है। लेकिन वह अज्ञान के द्वारा ही सिद्ध होगा यह भी स्पष्ट होता है। अस्ति= है। समर्थन अर्थ में लोट् प्रत्यय हुआ। अज्ञान ही यह सब कार्य करने में समर्थ है, यह सिद्ध हुआ। बाकी सादृश्यधी दोष आदि का व्यभिचार ज्ञान बता दिया। संस्कार भी अध्यास में कारण नहीं है क्योंकि शुक्ति में रजत है, ऐसे विशिष्ट अनुभव तो पहिले किया नहीं, अर्थात् इस शुक्ति में रजत दिखाई देने के पहिले तो शुक्ति विशिष्ट रजत का अनुभव पहिले किया नहीं इस विषय में विद्वानों का भ्रम है वह अनुचित है। अनुभव न होने से अतः उसके संस्कार नहीं अतः स्मृति इत्यादि उत्पन्न नहीं होगी। तो भी "इदं रजतमिति" यह प्रतीति तो होती ही है। अतः संस्कार भी कारण नहीं हो सकते।

इदानीं परस्पराध्यासे सति आत्मनोऽप्यनात्मन्यध्यस्तत्वेन बाध्यत्वान्निरधिष्ठानं सच्छून्यं जगत्स्यादित्याशङ्क्य अज्ञानस्य बाधावधेरनध्यस्तस्य च शिष्यमाणत्वान्नोक्तदोष इत्यभिप्रेत्याह-

आत्मा का (अनात्मा में) अज्ञान में तथा अनात्मा का(अज्ञान का) आत्मा में परस्पराध्यास होने से तत्त्वज्ञान से दोनों का ही बाध हो जायेगा। फिर तो कोई अधिष्ठान बचा ही नहीं। फिर तो जगत् शून्यवाद में प्रविष्ट हो जायेगा। लेकिन यह बात नहीं? क्योंकि अज्ञान तभी तक है जब तक बाध नहीं होता। लेकिन आत्मा का बाध होता नहीं अतः शून्यवाद का प्रसंग नहीं आयेगा।

संसिद्धा सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगी
नाधारेऽध्यसनस्य वस्तुनि ततोऽस्थाने महान्संभ्रमः।।
केषां चिन्महतामनूनतमसां निर्बन्धमात्राश्रयादन्यो
ऽन्याध्यसने निरास्पदमिदं शून्यं जगत्स्यादिति।।३१।।

अन्वयः= सविलसमोहविषये वस्तुनि अधिष्ठानगीः संसिद्धा, न अध्ययनस्य वस्तुनिआधारे (अधिष्ठानगीः) (अन्यथा) ततोऽस्थाने महान् संभ्रमः स्यात् केषांचित् (शून्यवादिनां) महतामनूनतमसां निर्बन्धमात्राश्रयात् "अन्योन्याध्यसने शून्यं निरास्पदमिदं जगत् स्यादिति"।

अन्वयार्थ- कार्यसहित अज्ञान के विषयीभूत (अज्ञानावृत्त) वस्तु की अधिष्ठान संज्ञा प्रसिद्ध है। लेकिन अध्यास के आधार पर वस्तु में अधिष्ठान संज्ञा प्रसिद्ध नहीं है। इसलिए कुछ (अति अप्रबुद्ध) व्यक्तियों के व्यर्थ आग्रह के कारण अर्थात् अध्यस्त तथा अधिष्ठान दोनों का परस्पर अध्यास मानने पर जगत्

अधिष्ठान रहित होने के कारण शून्यमात्र हो जायेगा। अतः ऐसा जो कुछ विद्वानों का भ्रम है वह अत्यन्त अनुचित है।

संसिद्धेति। विलसति व्यक्तीभवति मोहोऽनेनेति विलासो मिथ्यारजतादिः। ततश्च यतः सविलासाज्ञानावृते वस्तुनि शुक्त्यादावधिष्ठानसंज्ञा प्रसिद्धा, अधितिष्ठति ह्येतं सकार्यो मोह इति। स च नाध्यस्तोऽतोऽयमस्थानेऽविषये शून्यत्वापादनसंभ्रम इत्यर्थः। ननु यदाधारमारोप्यं भासते तदधिष्ठानं, तच्चारोप्येऽध्यस्तमेव। अन्यथा परस्पराध्यासो न स्यादित्यत आह नाधार इति। अध्यस्तस्याधारत्वेन भासमाने शुक्तीदमंशे नाधिष्ठान-गीरित्यर्थः। किं च शबले संसृष्टतयाऽध्यस्तोऽधिष्ठानांश आधारः। तदुक्तम्- "अतद्रूपोऽपि तद्रुपेणारोप्यबुद्धौ स्फुरन्नाधारः" इति। न चासावधिष्ठानं भवितुमर्हति, परस्पराश्रयात्, अधिष्ठाने सत्यध्यासोऽध्यासे सत्यधिष्ठानमितीति भावः। यद्वा अन्योऽन्याध्यासे निरास्पदं सच्छून्यं जगत्स्यादिति तर्केण केषां चित् वादिनं जेतुं महानयं संभ्रम उत्साहोऽस्थाने, न युक्तमित्यर्थः। संभ्रमे हेतुमाह- महतामिति। अनूनं तमोऽज्ञानं येषां मध्ये महतां शून्यवादिनां निर्बन्धः परमतखण्डने श्रद्धातिशयः। यद्वा निरास्पदमिदं चोद्यं निर्विषयमित्यर्थः।।३१।।

संसिद्धेति विलसति— व्यक्त होता है। क्या? रजत मिथ्या है- यह अधिष्ठान के कारण ही सिद्ध होता है। अज्ञान तथा उसका कार्य रजतादि जिस वस्तु में इदंविशिष्ट शुक्ति आदि में है उसे अधिष्ठान कहते हैं। जो अधिष्ठान है वह अध्यस्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत होने पर ही शून्यत्वापादन प्रसंग है।

प्रश्न- अधिष्ठान की भी तो प्रतीति अध्यस्त में हो जाती है "इदं रजतम्" इसका मतलब यह हुआ कि इदं भाग जो अधिष्ठान है वह रजत में अध्यस्त हुआ, नहीं तो परस्पराध्यास ही सम्भव नहीं हो सकेगा।

समाधान- अध्यस्त रजत आधार रूप से प्रतीयमान होने पर भी उसमें अधिष्ठान भाव नहीं आ सकता। तात्पर्य यह कि जिसमें इदं विशिष्ट शुक्ति आदि पदार्थ में रजत का स्वरुप का तथा रजत का संसर्ग दोनों ही अध्यस्त हैं लेकिन शुक्ति का रजत में (अध्यस्त रजत में) केवल संसर्गाध्यास है इसलिये रजत में आधार भाव है और इदंविशिष्ट शुक्ति में अधिष्ठान भाव है। इसलिये शबले- कार्यसहित कारण अज्ञान में अध्यस्त पदार्थ में भासमान आधार भाग वह आधार भाव ही माना जायेगा, अधिष्ठान भाव-उसमें नहीं है, इसी प्रकार "अतद्रूपोऽपि तद्रुपेणारोप्यबुद्धौ स्फुरन्नाधार" शुक्ति आदि पदार्थ रजत न होते हुये भी, रजत रूप से- (इदं रजतम्) इदं प्रकारक रजतविशेष्यक ऐसा भान होने पर भी रजत आधार ही रहेगा, और रजतमिदं" इदं विशेष्यक रजत प्रकारक इसमें इदं विशिष्ट

शुक्ति भाग यह अधिष्ठान ही रहेगा वह आधार नहीं बनेगा। क्योंकि शुक्ति विशिष्ट इदं भाग में रजत तथा उसका संसर्ग दोनों ही अध्यस्त हैं। केवल इदं भाग आधार है तथा शुक्ति विशिष्ट इदं भाग अधिष्ठान है। महतामिति- जिनके बुद्धि पर महान् तम अंधकार छाया हुआ है ऐसे बौद्धादि शून्यवादि- असमय में ही "अरण्ये रोदन वाली कहानी चरितार्थ कर रहे हैं। अर्थात् उनकी यह शून्यवाद की सिद्धि नहीं हो सकती।

नन्वधिष्ठानमेवाधारः तदाश्रयविषयाज्ञानकार्यस्याध्यस्तस्यान्याधारत्वायोगात् अतः कथमुक्तरीत्या शून्यतोद्धार इत्याशङ्क्याह-

शंका— अधिष्ठान ही आधार है- आधार ही अधिष्ठान है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि अधिष्ठान विषयक जो अज्ञान है- वह अज्ञान तथा उसका कार्य इसका आधार- रजतादि है- तो वही अधिष्ठान मानना पड़ेगा। क्योंकि अन्य दूसरा पदार्थ तो इसका अधिष्ठान नहीं बन पायेगा?

अधिष्ठानमाधारमात्रं यदि स्यात्
प्रसज्येत सत्यं तदा चोद्यमेतत्।
न चैतत् सकार्यस्य मोहस्य वस्तु-
न्यधिष्ठानगीर्गोचरे लोकसिद्धा।।३२।।

अन्वयः— यदि अधिष्ठानं आधारमात्रं स्यात् तदा एतत् चोद्यम् प्रसज्येत्। एतच्च न सकार्यस्य मोहस्य गोचरे वस्तुनि च एतत् अधिष्ठानगीः लोकसिद्धा।

अन्वयार्थः— यदि आधारमात्र ही अधिष्ठान हो तब तो अवश्य ही शून्यवाद प्रसंग आयेगा, किन्तु ऐसा नहीं, कार्य सहित अज्ञान का विषय (शुक्ति आदि अंश) अधिष्ठान शब्द से लोक में प्रसिद्ध है।

अधिष्ठानमिति। यन्निष्ठतया मिथ्यारजतादि भासते सोऽधिष्ठानसामान्यांश आधार इत्युक्तम्। तन्मात्रमेव चेदधिष्ठानं स्यात्सत्यं शून्यता प्रसज्येत न तु तथेत्यर्थः। यतः सकार्यमोहविषये विशेषांश एवाधिष्ठानगीर्लोकसिद्धा, तद्बोधादेव हि भ्रमो निवर्तते, तेन "य एव लौकिकाः" इति न्यायेन तथैव शास्त्रेऽपीति नोक्तदोष इत्यर्थः।

अधिष्ठानसिद्धि यन्निष्ठतया "इदं रजतमिति" इसमें दो प्रत्यय हैं— एक इदं यह शुक्ति का सामान्यांश है- रजतमिति- यह भ्रमात्मक है। इसमें इदं भाग आधार है। इसे समझाते हैं- यन्निष्ठतया- जिस इदं पदार्थ में रजतादि पदार्थ भासित होते हैं- वह अधिष्ठानगत इदं मात्र सामान्यांश आधार यदि अधिष्ठान माना जाय तो यह आपत्ति शून्यवाद प्रसंग आ सकता है। लेकिन रजतविषयक अज्ञान तथा उसका कार्य रजतादिक का

अधिष्ठान विशेषांश ही है- "इयं शुक्ति" यह शुक्ति है- क्योंकि उस विशेष अंश के ज्ञान से ही भ्रम की निवृत्ति होती है जिसके ज्ञान से जो निवृत्त होता है- उसके प्रति उसका अज्ञान ही कारण माना गया है। जो शुक्ति के विशेष ज्ञान से रजत ज्ञान की निवृत्ति होती है अतः शुक्ति का विशेष स्वरूप ही अधिष्ठान माना जाता है। शुक्तित्व प्रकारक शुक्ति विशेष्यक स्वरूप ही अधिष्ठान माना जाता है। जो यह लौकिक न्याय है वही शास्त्रीय न्याय है।

अत्र केचित, "अध्यस्तमेव हि" (श्लो० ३६) इति न्यायाद्भ्रमविषय इदमंशः सत्येदमंशाद्भिन्नः स चाविद्यावृत्तिगोचरो बाध्यः। शुक्तीदमंशस्तुप्रमाणवृत्तिगोचरो न बाध्यः। न चेदन्ताद्वयविवेकापत्तिः, विवेचकस्य शुक्तित्वादेरावृतत्वात्तद्विवेकाग्रहस्याध्यासहेतुत्वाच्च। न चाविद्यावृत्त्या शुक्तीदन्ताऽभेदेनैव रजतं बोध्यतां किं मिथ्येदन्तयेति वाच्यम्। प्रमाणवृत्त्य-विद्यावृत्त्योर्विरुद्धयोरेकत्र कार्येऽप्रवृत्तेः। न चाविद्यावृतेर्नेदन्त्वं विषयः, "रजतप्रतीतिरिदमिप्रथते" (श्लो०३५) इत्यादिविरोधादिति वदन्ति।

तन्न, उक्तरीत्या शुक्तीदन्तासंसर्गाध्यासेनैव "इदं रजतम्" इत्यध्यासोपपत्तौ मिथ्येदन्त्वकल्पने मानाभावाद् गौरवात्। "किं च" इत्युत्तरश्लोकविरोधाच्च। "अध्यस्तमेव हि" इति स्वरूपेण संसृष्टतया वाऽध्यस्तमेव भ्रमविषय इत्यर्थः। प्रमाणवृत्त्यविद्यावृत्त्योरेक-स्फुरणेनैककार्यत्वस्योपपादितत्वात्। चित्सुखाचार्यैरपि "इदन्तासंसर्गोऽप्यनिर्वचनीयः" इत्युक्तं नेदन्त्वमिति दिक्।।३२।।

अत्र केचित्- इसी प्रसंग में अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न हो चुका है- ऐसे मानने वाले कहते हैं "अध्यस्तमेवेति" यह ३६वें श्लोक में कहेंगे। इस न्याय से- भ्रम का विषय इदं अंशः सत्य इदं अंशशः से भिन्न है। यह जो भ्रम का विषय- इदं अंश वह अविद्यावृत्ति का विषय होने के कारण बाध्य है और जो शुक्तिनिष्ठ इदं अंश है वह प्रमाण वृत्ति का गोचर होने से बाध्य नहीं है

आशंका= दो इदं की आवृत्ति होगी।

समाधान— इनको विभक्त करने वाला। विवेचक- उसे शुक्तित्व आवृत्त होने से- विवेक ग्रहण नहीं हो सकता वही अध्यास का हेतु है। इसलिये मिथ्या इदं तथा शुक्तित्व विशिष्ट इदं दोनों अलग-अलग है। दोनों इदं एक रूप से नहीं है।

आशंका— अविद्या वृत्ति से शुक्ति और इदं के अभेद के भ्रम से रजत की प्रतीति होने दो इसमें मिथ्या इदं मानने की क्या आवश्यकता है। इति वाच्यम्। न च।।

समाधान— शुक्ति की प्रमाण वृत्ति और इदं की अविद्या वृत्ति दोनों विरुद्ध होने के

कारण- दोनों की एक कार्य करने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इसलिये इदन्त्व अविद्या वृति का प्रमाण वृत्ति का विषय है।

आशंका— अविद्या वृत्ति का इदं विषय यदि नहीं माना जाय तो?

समाधान- रजत प्रतीति इदम् में जो भासित है "रजत प्रतीतिरिदमिप्रथते" ३५ श्लोक। इत्यादि वचन का विरोध होगा, ऐसा कुछ वेदान्ती कहते हैं। अतः अविद्या वृत्ति का विषय इदन्त्व है। ऐसा कुछ वेदान्ती कहते हैं। इसपर कहते है। तन्न।

समाधान— उक्त प्रकार से शुक्ति और इदं के संसर्गाध्यास से ही- इदं रजतम्, इस अध्यास की उपपत्ति होने पर अविद्या से आवृत्त होने के कारण मिथ्या इदन्ता की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। और गौरव दोष भी है। और भी श्लोक ३६ अध्यस्तमेवेति स्वरूप से अथवा संसर्ग से जो भ्रम का विषय है वही अध्यस्त है। और प्रमाण वृत्ति तथा अविद्या वृत्ति दोनों का एक स्फुरण होकर एक कार्य की उत्पत्ति ३८ श्लोक में कही है। चित्सुखाचार्य जी ने भी इदं का संसर्ग रजत में अनिर्वचनीय ऐसा कहा है। इदन्त्वका वास्तविक संसर्ग रजत में नहीं है, यह रहस्य है।

इदानीमाधारवष्टम्भेनापि सत्यानृतमिथुनीकरणतया संसर्गबाधेऽप्याधारस्वरूपाबाधाच्छून्यताऽऽपत्तिमपहस्तयति—

अब आधार को ही आलम्बन मानते हुये- सत्य मिथ्या दोनों का सम्मिश्रण होने के बाद- संसर्ग का बाध होने पर भी आधार का बाध नहीं होने से शून्यतापत्ति नहीं हो सकती-

किं चानृतद्वयमिहाध्यसितव्यमिष्टं
स्याच्चेत्तदा भवति चोद्यमिदं त्वदीयम्।
सत्यानृतात्मकमिदं मिथुनं मिथश्चे-
दध्यस्यते किमिति शून्यकथाप्रसङ्गः।।३३।।

अन्वयः— किं च इहचेत् अनृतद्वयमिहाध्यसितव्यमिष्टं स्यात् तदा चोद्यमिदं त्वदीयम् भवति। सत्यानृतात्मकमिदं मिथुनं मिथश्चेत् अध्यस्यते— किमिति शून्यकथाप्रसङ्गः।।

अन्वयार्थ— यदि दोनों मिथ्या पदार्थ परस्पर (स्वरूपतः तथा संसर्गतः) अध्यस्त होते तब तो आपका यह आरोप सत्य होता, लेकिन वास्तविकता तो सत्य और मिथ्या दोनों पदार्थों की परस्पर अध्यस्तता है, अतः शून्यवाद प्रसङ्ग नहीं आ सकता।

किं चेति। इहान्योऽन्याध्यासे यदि अनृतद्वयमेव परस्परात्मतयाऽध्यसितव्यमिष्टं

स्यात्तदा शून्यता प्रसज्येत, द्वयोरपि बाध्यत्वात्। न चैवं, किं तु सत्यं प्रत्यक्, अनृतं परागर्थः, स्वरूपतोऽप्यध्यस्तत्वात्, तयोर्मिथोऽध्यासश्चेत् प्रतीचः पराक्संसृष्टत्वाकारेण बाध्यत्वेऽपि स्वरूपेण सत्यत्वान्न शून्यप्रसङ्ग इत्यर्थः।।३३।।

किंचेति- यहां प्रकृत में आत्मा अनात्मा में अथवा शुक्ति रजत में अन्योन्याध्यास प्रसंग में– यदि अधिष्ठान तथा अध्यस्त दोनों ही मिथ्या हो और दोनों का परस्पर में अध्यास हो तब तो शून्यता प्रसङ्ग आयेगा। क्योंकि इस अवस्था में दोनों का ही बाध हो जायेगा। लेकिन ऐसा नहीं है। किन्तु आत्मा सत्य है और प्रपञ्च मिथ्या है। दोनों का आपस में मिथुनीकरण अध्यस्त होने के कारण उसका बाध होना सम्भव भी है तथापि आत्मा स्वरूप से सत्य होने के कारण वह बाधित नहीं होगा। इसलिये ये शून्यता प्रसङ्ग नहीं आ सकता। किमिति शून्यता प्रसङ्गः- शून्यताप्रसङ्ग किसी भी प्रकार से आ नहीं सकता।

नन्वन्योऽन्याध्यासे एव किं प्रमाणमित्याशङ्क्याहङ्काराध्यासस्यास्फुटत्वात्प्रसिद्धे एव रजताध्यासे तं प्रथमं साधयति-

अन्योन्याध्यास में क्या प्रमाण है? प्रथम रजतादि में सिद्ध करके बाद में उसे आत्मा अनात्मा में सिद्ध करेंगे।

इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते
परिकल्पितं रजतवस्त्विदमि।
रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणान्न
यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव।।३४।।

अन्वयः– इदमर्थस्तु अपि रजते परिकल्पितं भवेत्। रजत वस्त्विदमि अपि परिकल्पितं भवति, (यतोहि) रजतभ्रमेऽस्य परिस्फुरणात्, यदि न स्फुरेत् न खलु शुक्तिरिव।।

अन्वयार्थः–इदं पदार्थ रजत में वैसे ही कल्पित है, जैसे कि रजत वस्तु इदम् पदार्थ में है क्योंकि यह इदं पदार्थ रजत भ्रम से परिस्फुरित होते हैं, इदं पदार्थ रजत में अध्यस्त न होता तो शुक्ति के समान प्रतीत ही नहीं होता।

इदमर्थेति। रजतं तावद् इदमि शुक्त्यादावध्यस्तमिति सम्प्रतिपन्नमेव। इदमंशोऽपि रजतेऽध्यस्त इति साध्ये हेतुमाह- रजत भ्रम इति। भ्रान्तौ भासमानत्वाद्रजतवदित्वर्थः। व्यतिरेके शुक्तिविशेषांशवदित्यर्थः।

यद्वा- यदीदन्त्वमनध्यस्तं स्यान्न भ्रमे स्फुरेच्छुक्तिवदिति तर्क उक्तः। रजते पुरोवर्तित्वलक्षणेदन्त्वास्फुरणे तदर्थिप्रवृत्तिरपि न स्यादिति निगर्वः।।३४।।

इदमर्थेति= रजत, शुक्तिनिष्ठ इदं भाग में संसर्गाध्यास के कारण अध्यस्त है- इसी प्रकार से इदमंश भी रजत में संसर्गाध्यास के कारण अध्यस्त है। इसका कारण बता रहे हैं- रजत भ्रमे= "इदं रजतमिति" यह रजत है इस प्रतीति में जैसे रजत का भान होता है वैसे इदं का भी भान रजत में होता है। अथवा इसका अर्थ। रजत भ्रमे- का अर्थ अन्य प्रकार से कहते हैं- यदि इदं भाग रजत में अध्यस्त न हो तो भ्रम में उसका स्फुरण नही होना चाहिये, और यदि रजत में इदं का स्फुरण न हो तो "इदं रजतं" करके उसको लेने के लिये प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिये निर्गव-निष्कर्ष - (रजत प्रतीतिमें शुक्तिका का इदं रूप से भान अनिवार्य है लेकिन शुक्तिका के प्रतीति में रजत का भान आवश्यक नहीं हैं)।।३४।।

एवमर्थध्यासेऽनुमानमुक्त्वा ज्ञानाध्यासेऽध्यक्षं प्रमाणयति-

इस प्रकार अर्थाध्यास में (शुक्ति का इदं और इदं का शुक्ति में) प्रमाण बताने के बाद- अब ज्ञानाध्यास में अनुभव प्रमाण बता रहे हैं-

रजतप्रतीतिरिदमि प्रथते
ननु यद्वदेवमिदमित्यपि धीः।
रजते तथा सति कथं न भवे-
दितरेतराध्यसननिर्णयधीः।।३५।।

अन्वयः= यद्वद् इदमि रजतप्रतीतिः प्रथते ननु (तद्वत) इदम् इति अपि धीः (प्रथते) रजते तथा सति कथं इत्तरेतराध्यासनिर्णय धी न भवेत् (भवत्येव) (प्रमिताक्षराछन्दः)

अन्वयार्थः= जैसी रजत प्रतीति इदं पदार्थ में होती है, वैसे ही इदं बुद्धि भी रजत में होती है, ऐसे अनुभव के रहने पर अन्योन्याध्यास का निश्चय तो अपने आप क्यों न होगा? अवश्यमेव होगा।

रजतेति। "एकैवेदं रजतम्" इति धीः। तत्र यथा रजतस्येदमा तादात्म्यं भासत एवमिदमोऽपि रजततादात्म्यमित्यनुभव एव अत्र इतरेतराध्यासे मानमित्यर्थः।।३५।।

रजतेति= "इदं रजतम्" यह एक ही बुद्धि उत्पन्न होती है। इसमें जैसे हम देख रहे हैं कि रजत का इदं पदार्थ के साथ (संसर्गाध्यास रूप) तादात्म्य है। इसी प्रकार से इदं पदार्थ का भी रजत के साथ तादात्म्य अनुभव सिद्ध ही है। यही "इदं रजतम्" अनुभव ही इतरेतराध्यास में प्रमाण है।

उक्तानुमानमूलभूतां व्याप्तिं प्रकटयति-

उक्त अनुमान प्रमाण में मूलभूत व्याप्ति को बता रहे हैं—

अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु
नान्यत् कथंचन परिस्फुरति भ्रमेषु।
रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरूक्षितित्व-
चन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन।।३६।।

अन्वय= भ्रमेषु अध्यस्तमेव परिस्फुरति, भ्रमेषु— अन्यत् कथंचन न परिस्फुरति। (यतो ही) रजुत्व, शुक्तिशकलत्व, मरूक्षितित्व, चन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन।।

अन्वयार्थ= सभी भ्रम रूप में अध्यस्त का ही भान देता है। अन्य (अनध्यस्त) का तो भान किसी प्रकार से होता नहीं है क्योंकि भ्रम में (रजतादि) धर्म की- रज्जुत्व, शुक्तित्व, मरूभूमित्व, चन्द्रएकत्वादिका अनुभव गोचर होता नहीं है।

अध्यस्तमेव हीति। अध्यस्तस्यैव भ्रमे स्फुरणादिदमंशोऽप्यध्यस्त इति साधितमित्यर्थः। ननु "सर्वंज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तम्" इति न्यायादनध्यस्तोऽपीदमंशः प्रथतामिति नेत्याह-नान्यदिति। अन्यत् स्वरूपेण संसृष्टतया वा अनध्यस्तमित्यर्थः। धर्मिण्यभ्रान्तमिति च धर्मिस्वरूपे अभ्रान्तं न तु संसर्गेऽपीत्यर्थः। कथं न स्फुरतीति चेत्? अनुभवबाधादेवेत्याह-भ्रमेष्विति। सर्परजतमरीचिद्विचन्द्रादिभ्रमेष्वनध्यस्तानां रज्जुत्वादीनां स्फुरणानुपलम्भा-दित्यर्थः।।३६।।

अध्यस्तमेव- भ्रम में अध्यस्त पदार्थ का ही स्फुरण होता है- इदं पदार्थ का भान भ्रम में होता है। अतः इदं भी रजत में अध्यस्त है, यह बात सिद्ध हुई।

प्रश्न= "सर्वं ज्ञानं धर्मण्यभ्रान्तं" सभी ज्ञान धर्मि में अभ्रान्त ही होते हैं। इसी न्याय से इदं धर्मि होने से अनध्यस्त ही रहने दो।

समाधान— नान्यदिति- धर्मि में अभ्रान्त होने पर भी, धर्मि का इदं का रजतरूप अध्यस्त पदार्थ के साथ संसर्गाध्यास तो भ्रम ही मानना पड़ेगा। तो इस संसर्गाध्यास में इदं भाग अध्यस्त होने से- उसका भान होता है। स्वरूपाध्यास को लेकर इदं भाग अध्यस्त नहीं है। संसर्गाध्यास को लेकर है।

प्रश्न— इदं भाग का अध्यस्त रूप से रजतादि में स्फुरण मान लिया उसी प्रकार-रज्जुत्वविशिष्ट रज्जु आदि का भी स्फुरण क्यों न माना जाय?

समाधान— भ्रमेष्वति- सर्प, रजत, मृगजला द्विचन्द्रादि भ्रम स्थलों में (भ्रमज्ञान में) रज्जुत्व

आदि पदार्थों का अध्यस्त न होने के कारण (भान) स्फुरण नहीं होता है

ननु रजतादिभ्रमे द्वैरूप्यावभासादस्तु परस्पराध्यासो, न त्वहमध्यासो, तत्र द्वैरूप्यानवभासादित्याशङ्क्य तद् दृष्टान्तेनात्रापि साधनीयमित्याह-

आशंका= "इदं रजतमिति" यहां इदं और रजत् ऐसे दो स्वरूप दिखाई देते हैं। इसलिये परस्पर में अध्यास है (परस्पर में अध्यस्त है) यह बात मान ली लेकिन "अहम्" मैं इस प्रत्यय में दो रूपों का भान न होने से परस्पराध्यास कैसे मानेंगे? इसका समाधान दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध कर रहे हैं-

इतरेतराध्यसनमेव तत-
श्चितिचेत्ययोरपि भवेदुचितम्।
रजतभ्रमादिषु तथाऽवगमान्न
हि कल्पना गुरुतरा घटते।।३७।। (प्रमिताक्षराछन्द)

अन्वयः= (अहं "इति प्रत्ययेऽपि") ततः चितिचेत्ययोरपि इतरेतराध्यासनमेव उचितं भवेत् तथा रजभ्रमादिषु अवगमात्, हि गुरुतरा कल्पना न घटते।।

अन्वयार्थ- अध्यास होने के कारण अहम् इस प्रकार का चेतन अचेतन का अध्यास भी तो अन्योन्याध्यास ही मानना उचित होगा। क्योंकि रजतादि भ्रम में वैसा ही देखा गया है। अन्य प्रकार की गुरुतर कल्पना करना उचित नहीं है।

इतरेति। चितिचेत्ययोर्योऽयमहमित्यध्यासः सोऽपि ततः अध्यासत्वादेव हेतोरितरेत-राध्यासःस्यात् रजताध्यासवत्, अन्यथाऽध्यासद्वैरूप्यकल्पनाऽनुचिता स्यादित्यर्थः। अत एव "अहमुपलभे" इत्यहमि चैतन्यानुभवः। व्याप्तिं स्मारयति- रजतेति। प्रकारान्तरेण कल्पनागौरवमाह- न हीति। द्वैरूप्यावभासश्चात्रापि विवेकिनामस्त्येवेति भावः। चित्रादिशब्द-वच्चाहंशब्दस्य शबलवाचित्वान्नशब्दद्वयप्रयोगः।।३७।।

इतरेतराध्यासनमेव= अहं यह शब्द "मैं" यह शब्द भी चित्र के समान अर्थवाची है- चित्र में अनेक रंग, आकार प्रकार होते हैं- इसी प्रकार "अहं" मैं शब्द एक होने पर भी इसमें चितिचेत्ययोः= आत्मा-अनात्मा का परस्पर, इतरेतराध्यास- अन्योन्याध्यास कारण है- आत्मा में अहंकार का और अहंकार में आत्मा का। जैसे- रजत भ्रमादिक- रजतादि भ्रम में है- वैसे यहां भी है। अन्यथा दो प्रकार के अध्यास की कल्पना करनी पड़ेगी शुक्ति रजत के लिये तथा दूसरी अहं के लिये। सो उचित नहीं। शुक्ति रजत के समान विद्वान् अहमर्थ में दो रूपों को अंतःकरण में आत्मा का, तथा आत्मा में अन्तःकरण दोनों का

परस्पराध्यास देख लेते हैं। अतः नहीति= कल्पना गौरव करने की आवश्यकता नहीं है। एक रूप के कार्य-कारण भाव से काम चल जाता है। तो दो रूप के कार्य-कारण भाव की आवश्यकता नहीं है।

उपपादितमितरेतराध्यासं सोपपत्तिकमुपसंहरति—

प्रतिपादित इतरेतराध्यास को युक्ति के साथ समाप्त कर रहे हैं—

अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितया-
दितरेतराध्यसनसिद्धिरतः।
चितिचेत्यवस्तुयुगलस्य न चेत्-
त्रितयस्य बाधनमिहापतति।।३८।।

अन्वयः= अनुभूतियुक्तिअनुमितित्रितयात् चितिचेत्ययुगलस्य, इतरेतराध्यासनसिद्धिः न चेत्, त्रितयस्य इह बाधनम् आपपति।

अन्वयार्थ- अनुभव, युक्ति, और अनुमिति इन तीनों से चेतनाचेतन का अन्योन्याध्यास सिद्ध होता हैं, अन्यथा इन तीनों का बाध उपस्थित होगा।

अनुभूतीति। अस्मात्पूर्वोक्तानुभवयुक्त्यनुमानरूपात् त्रितयाच्चितिचेत्ययुगलेतरेतराध्याससिद्धिः, अन्यथा त्रितयस्यापि बाधापत्तेरित्यर्थः।।३८।।

अनुभूति= जैसे पहिले प्रतिपादन कर चुके है, उसके अनुसार अनुभव, युक्ति, अनुमान- इन तीनों के द्वारा आत्मा-अनात्मा का इतरेतराध्यास सिद्ध हुआ। यदि चिति (आत्मा), चेत्य (अनात्मा का) परस्पराध्यास न मानें तो इन तीनों की अप्रामाणिकता सिद्ध होगी।

नन्वज्ञातत्वे सादृश्यादिरहितस्य निरंशस्य प्रतीचो विषयिणः कथमध्यासाधिष्ठानत्वम्। लोके सदृशसावयवपराग्विषयाणामेव शुक्त्यादीनामधिष्ठानत्वदर्शनादिति शङ्कते-

आत्मा तो निरंश है जिसमें किसी भी प्रकार की सादृश्यता किसी पदार्थ के साथ नहीं आ सकती, वह आत्मा अत्यन्त समीप और विषयी है- यह अध्यास का, शुक्ति आदि का अधिष्ठान कैसे बन पायेगा? क्योंकि लोक में जो पदार्थ सावयव तथा प्रमाता से दूर है ऐसे शुक्ति आदि पदार्थ ही यह रजतादिक है ऐसे अध्यास के अधिष्ठान बनते हैं—

सदृशसांशपराग्विषयेषु चेद्-
भवति दोषवशाज्जगति भ्रमः।

भवतु तत्सकलं वदितुं वयं
तदुपचारवशाद् दृशि शक्नुमः।।३६।। (द्रुतविलम्बितछन्दः)

अन्वय– चेद् सदृशसांशपराग्विषयेषु दोषवशाज्जगति भ्रमः भवति भवतु तत् सकलं, वयं तदुपचारवशात् दृशि वदितुं शक्नुमः।

अन्वयार्थः= यदि लोक में सदृश, सांश, तथा बाह्य विषयों में ही दोषवश भ्रम होता है तो, होने दो, यह सब कुछ तो हम चैतन्य में गौण रूप से इसे कह सकते हैं, मुख्य रूप से नहीं।

सदृशेति। कथं चित्साहृश्यादिसंपादनेन प्रौढ्या परिहरति भवत्विति। उपचारो व्यवहारः, तत्सामर्थ्याच्चिद्रूपेऽप्यात्मनि तत्सर्वं सुवचमित्यर्थः। तथा ह्यन्तःकरणस्य देहेन्द्रियापेक्षया प्रत्यक्त्वं स्वच्छत्वं चास्ति चैतन्यसाहृश्यम्। सांशत्वमपि चैतन्यस्याविद्यावशादखण्डस्यापि जीवत्वब्रह्मत्वाद्यात्मकमस्ति। पराक्त्वमपि साभासान्तःकरणे तदविविक्तत्वेन स्पष्टीभावाद्विषयतामिवापन्नस्य शक्यमुत्प्रेक्षितुम्, अनादित्वाच्च पूर्वपूर्वापेक्षया सर्वमिदमुत्तरोत्तराध्यासे शक्यसमर्थनमिति भावः।।३६।।

सदृश-प्रौढीवाद को लेकर जिस तरह बन सकें उस प्रकार से उक्त शंका का समाधान करते हैं- अर्थात् यह कोई सिद्धान्त की बात नहीं, केवल दूसरे का समाधान करना यही तात्पर्य है-

भवत्विति- उपचारो= व्यवहार होता है। अर्थात् व्यवहार के सामर्थ्य से चिद्रूप आत्मा में ये सब बातें आ जाती है। जैसे-अन्तःकरण में इन्द्रियों की अपेक्षा स्वच्छता और समीप पना है- वैसे आत्मा में भी स्वच्छता तथा सामीप्य (अपरोक्षता) है। यह चैतन्य में अन्तःकरण की साहृश्यता आ गई। चैतन्य में-अंशभाव भी है- सांशत्व है। क्योंकि अखण्ड ब्रह्म ही जीवत्व, ईश्वरत्वादि भाव से परिणत होता है। इसी प्रकार, उसमें दूरत्व भी (पराक्त्वमपि) सम्भव हो जाता है, क्योंकि चैतन्य विशिष्ट अन्तःकरण (साभास अन्तःकरण) में, चैतन्य, अन्तःकरण के साथ एकरस हो जाने के कारण विषयों के समान स्पष्ट रूप से विषयता भाव को प्राप्त हो जाने से (पराग्) दूर भाव को प्रमाता से दूर भाव को प्राप्त हो जाता है और आत्मा अनादि होने के कारण पूर्व-पूर्वाध्यास उत्तर-उत्तराध्यास के प्रति कारण बन जायेगा, ऐसी सारी व्यवस्था हो गई।

उक्तपरिहारस्यापसिद्धान्तत्वशङ्कामपनयति-

उक्त समाधान कोई अपसिद्धान्त नहीं है, इस बात को भाष्यकार के वचनों से पुष्ट कर रहे हैं।-

अपि च भाष्यकृदेव तदब्रवीद्-
विषयताद्युपचारसमाश्रयात्।
स्ववचसैव न तावदिति ब्रुवन्
सकलमात्मनि विभ्रमसिद्धये।।४०।।

अन्वयः— अपि च भाष्यकृदेव विषयताद्युपचारसमाश्रयात् तदब्रवीत्। न तावदिति स्ववचसैव विभ्रमसिद्धये सकलमात्मनि ब्रुवन्।

अन्वयार्थ= स्वयं भाष्यकार ने विषयतादि के उपचार का सहारा लेकर ''न तावदिति'' इस अपने वाक्य से ही आत्मा में भ्रम सिद्ध करने के लिये सब कुछ कह दिया है।

अपि चेति। न तावदस्मत्कल्पितोऽयं परिहारः किं तु भाष्यकृदेवोपचारमाश्रित्य सर्वमिदं विषयत्वादिकमात्मनि विभ्रमसिद्ध्यर्थमब्रवीदित्यर्थः। न च भाष्यकृदुक्तिरनुपलब्धि-बाधितेत्याह स्ववचसेति। कण्ठरवेणैव न त्वभिप्रायगत्येत्यर्थः। भाष्योक्तिमाह-न तावदिति। अध्यासभाष्ये "कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्" इत्याक्षिप्य "न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्" इति ब्रुवन्नित्यर्थः। अस्मत्प्रत्ययोऽन्तःकरणं तत्राभिव्यक्तः सन्विषय इव भवति, स ह्यविद्यायामाभासाविवेकेन सूक्ष्मप्रतिबिम्बात्मना प्रविष्टोऽस्पष्टोऽपि प्रत्युपाधौ साभासान्तःकरणे स्थूलप्रतिबिम्बात्मना प्रविष्टः सन् शीतभानौ स्वर्भानुवदभिव्यक्तः स्वप्रकाशोऽपि स्पष्टीभावमात्रेणोपचारादस्मत्प्रत्ययविषय इत्युच्यते।।४०।।

अपिचेति— केवल मैंने सर्वज्ञमुनि ने ही यह परिहार नहीं दिया किन्तु आद्यजगद् गुरु भगवान् शंकराचार्य महाराजजी ने भी प्रासङ्गिक भाव को लेकर (उपचार भाव को लेकर) आत्मा में विषयत्वादिक सभी अध्यास के सिद्धि के लिये सम्भव है, ऐसा कहा।

प्रश्न— भाष्यकार की ऐसी उक्ति नहीं है।

समाधान— स्ववचसेति- भाष्यकार स्वयं अपने कण्ठरव से कह रहे हैं। कैसे? न तावदिति— ब्रह्मसूत्र के अध्यास भाष्य में प्रारम्भ में ही "कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धार्माणाम्" फिर कैसे आत्मा जो अत्यन्त अविषय है- इससे अध्यास सम्भव हो, ऐसा प्रश्न भाष्यकार स्वयं उपस्थित करके- समाधान देते है कि "न तावदयमेकान्तेनाऽविषयः, अस्मत् प्रत्यय विषयत्वात्।। अस्मत् प्रत्ययो ''अन्तःकरणम्" मैं इत्यादि रूप से आत्मा अभिव्यक्त ही है- अर्थात् विषय हो जाता है। यद्यपि अविद्या में भी उस आत्मा का आभास है तथापि अज्ञान की प्रधानता होने के कारण विवेक नहीं हो पाता। अतः अविद्या में आत्मा का प्रतिविम्ब सूक्ष्म होने से उसमें प्रविष्ट होने पर भी अस्पष्ट है, तथापि साभास अन्तःकरण

में आत्मा का प्रतिबिम्ब स्थूल होने से स्वप्रकाशरूप आत्मा भी "अहम्" मैं इस अन्तःकरण प्रत्यय से जाना जाता है। जैसे शीतकालीन सूर्य में आकाशीय सूर्य प्रविष्ट होने पर भी उसका प्रकाश तथा गरमी शीतकालीन सूर्य के द्वारा ढकी जाती है और शीतकालीन सूर्य में भी आकाशीय सूर्य की प्रकाश की प्रतीति मानी जाती है वैसे यहां भी "मैं" इस प्रत्यय में भी शुद्ध आत्मा की ही विषयता सिद्ध होती है।

एतच्चाभ्युपेत्योक्तम्, वस्तुतस्त्वपरोक्षाध्यासेऽधिष्ठानापरोक्ष्यं तन्त्रं न तु साद्दश्यादीत्याह-

यह जो भी कहा गया वह केवल दूसरे की बात हाँ करके स्वीकारना और बाद में उसे उडाना, इस को लेकर ही कहा गया। बाकी वास्तविकता तो यह है कि अपरोक्ष्य अध्यास में अपरोक्ष अधिष्ठान की ही आवश्यकता है, न कि साद्दश्य ज्ञानादिक की जरूरत है।

अपरोक्षरूपविषयभ्रमधी
रपरोक्षमास्पदमपेक्ष्य भवेत्।
मनसःस्वतो नयनतो यदि वा
स्वपनभ्रमादिषु तथा प्रथितेः।।४१।।

अन्वयः— अपरोक्षरूपविषयभ्रमधीः मनसः स्वतो यदि वा नयनतः अपरोक्षरूपम् आस्पदम् अपेक्ष्य भवेत् स्वपनभ्रमादिषु तथा प्रथितेः।।

अन्वयार्थ= अपरोक्षविषयक भ्रम ज्ञान, मन से या स्वतः नेत्र से होने वाले प्रत्यक्षभूत अधिष्ठान की अपेक्षा करता है, क्योंकि स्वप्नादि भ्रम में वैसा ही देखा जाता है।

अपरोक्षेति। अपोक्षरूपाऽपरोक्षविषया च भ्रमधीरपरोक्षाधिष्ठानमात्रमपेक्षेते न त्वारोप्याधिष्ठानयोरेकेन्द्रियग्राह्यत्वसाद्दश्यादिकमपि, व्यभिचारादित्यर्थः।

नन्विन्द्रियागोचरस्यात्मनोऽपरोक्षत्वमपि दुर्घटमित्याशङ्क्याह- मनस इत। यदि वेति व्यवस्थार्थम्। क्वचिन्मनसः, क्वचित्स्वतः, क्वचित्चक्षुरादित इत्यर्थः। क्वेदमवधारितमित्यत्राह-स्वपनेति।।४१।।

अपरोक्षेति- (अपरोक्षरूप) अपरोक्षविषयक जैसे इदं रजतमित्यादि जो भ्रमात्मक बुद्धि है, उसके अधिष्ठान अपरोक्ष होना चाहिये, इतना ही पर्याप्त है न कि आरोप्य रजत तथा अधिष्ठान शुक्ति दोनों का एक चक्षुरादि-इन्द्रिय से ग्रहणरूप साद्दश्य जरूरी ही किसी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं है। अतः केवल यही बात सिद्ध हुई कि अपरोक्ष भ्रम में अधिष्ठान

भी अपरोक्ष होना चाहिये।

प्रश्न- आत्मा तो इन्द्रियों का गोचर न होने से वह अपरोक्ष कैसा होगा?

समाधान— मनसः, स्वतो, नयनतो यदि वा- कभी तो इस आत्मा का अपरोक्ष मन से, कभी नेत्र से, कभी स्वतः ही हो जाता है।

प्रश्न— यह कहां देखा गया?

समाधान— स्वपन भ्रमादिषु तथा प्रथितेः= स्वप्न में, भ्रमादि पदार्थों में यह देखा गया। वहां न कोई इन्द्रिय, न विषय तथापि भ्रम हो ही जाता है।

नन्वात्मभिन्नस्य स्वतोऽपरोक्षत्वाभावात्तादृशोऽध्यासः क्व संप्रतिपन्न इत्याशङ्क्य "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि" (ब्र.सू.अ.२ पा.१ सू.२८) इति न्यासिसिद्धत्वात्स्वप्नभ्रम इत्याह-

प्रश्न- आत्मा से भिन्न पदार्थ अपरोक्ष तो है नहीं आत्मा अपरोक्ष है तो ऐसा अध्यास कहां देखा आत्मा में?

समाधान= आत्मनि चैव विचित्राश्चहि (ब्र.सू.अ.२ पाद १ सू.२७) इसके आधार पर स्वप्न-भ्रम को लेकर समाधान दे रहे हैं—

स्वतोऽपरोक्षा चितिरत्र विभ्रम-
स्तथापि रूपाकृतिरेव जायते।
मनोनिमित्तं स्वपने मुहुर्मुहु-
र्विनाऽपि चक्षुर्विषयं स्वमास्पदम्।।४२।।

अन्वयः= अत्र चितिः स्वतोऽपरोक्ष, तथा हि चक्षुर्विषयं मनोनिमितं स्वमास्पदं विनापि स्वप्ने रूपाकृतिः भ्रमः मुहुर्मुहुः जायते।

अन्वयार्थः= स्वप्न में आत्मा स्वतः अपरोक्ष है, क्योंकि वहां मन या चक्षुरादि के विषयीभूत रूपी अधिष्ठान के बिना ही विविध रूपाकार भ्रम देखा जाता है।

स्वत इति। चितिस्तावद् ग्राहकान्तराभावात्स्वसत्तायां संशयादिराहित्यात्स्वयंज्योतिष्ट्व-श्रुतेश्च स्वतोऽपरोक्षा, रूपादिहीनतया सादृश्यादिशून्या स्वप्नभ्रमाधिष्ठानम्। तथाऽप्यत्र चितौ स्वप्ने निद्रादोषाद्रूपाद्याकार एव भ्रमश्चक्षुर्विषयं मनोनिमित्तं वा रूपवदधिष्ठानं विनाऽपि पुनःपुनर्जायते, "सधीःस्वप्नो भूत्वा" इति श्रुतेः। यद्वा चक्षुरादिव्यापारोपरमात्कथं रूपाकृतिरि-त्यत्राह-मनोनिमित्तमिति। मनोगतरूपादिवासनानिमित्तमित्यर्थः। स्वप्ने तैजसजीवभोग्यत्वेन वासनापुञ्जशेषस्य मनसोऽवस्थानात्।

अत्रेदं विचारणीयम्- किं ब्रह्मचैतन्यं स्वप्नभ्रमाधिष्ठानम्, उतजीवचैतन्यमिति। आद्ये व्यावहारिकः सन्नज्ञातसत्ताकः स्वप्नप्रपञ्चः स्यात्। अन्त्येऽपि किं जागरे तस्य बाधः किं वा लय इति।

अत्र वदन्ति। अवस्थात्रयाविष्टं ह्यात्मचैतन्यं भवति, स्थूलान्तःकरणोपहितं जागरे, वासनाविशिष्टान्तःकरणोपहितं स्वप्ने। सुषुप्तौ च सूक्ष्मतदुपहितम्, इति। तत्र जाग्रदवस्थोचितं चैतन्यं स्वप्नभ्रमाधिष्ठानम्, जागरादौ च "अहं चैत्रः" इति तादृगधिष्ठानबोधात्तद्बाधः एवं च स्वप्नस्य जाग्रत्प्रपञ्चवैलक्षण्यं सति प्रमातरि बाध्यत्वं वक्ष्यमाणमुपपत्स्यते। स्वप्नान्ते सुषुप्तिश्चेत् स्वप्नसृष्टेर्लय एव, तदभिप्रायेण च वक्ष्यति "क्षीणे तु तत्र लयमेति" (सं. शा.अ.३श्लो.११७) इत्यादीति न पूर्वोत्तरविरोधः। बुध्याद्युपहितजीवरूपं हि "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्यादिश्रुतेरीशकल्पितत्वेन व्यावहारिकत्वाच्छुक्त्यादिवदधिष्ठानत्वयोग्यम्। तन्निष्ठाश्च जीवकल्पिताज्ञानावस्थाः स्वप्नभ्रमोपादानभूताः "अहं चैत्रः" इत्यादिजाग्रद्बोधेन बाध्यन्ते, शुक्तिज्ञानेनेव रजतोपादानाज्ञानावस्था इति। न चैवं सति "अहं गजोऽहं नीलः" इति स्वप्नाकारापत्तिरिति वाच्यम। न हि स्वप्नः सर्वोऽपि तादात्म्याध्यासः किं तु जाग्रत्संस्कारानुसाराक्वचित्तथा। कश्चित्तु संसर्गाध्यासः "अहं राजाऽयं गजो मम क्षेत्रम्" इति तदाकारदर्शनादिति। तदिदमापातरमणीयम्।

तथा हि। न तावदीशकल्पितस्थूलान्तःकरणोपहितं चैतन्यं स्वप्नकालेऽस्ति, यत्तदधिष्ठानं स्यात। नापि तज्ज्ञानं जागरादिजन्यं स्वप्नभ्रमबाधकं भवितुमर्हति। तद्धि किं साक्षिज्ञानमविद्यावृत्तिरन्तःकरणवृत्तिर्वा। नाद्यौ, तयोरज्ञानानिवर्तकत्वेनाबाधकत्वात्।

नान्त्यः, अन्तःकरणवृत्तेरज्ञातबोधत्वादन्तःकरणस्य चाज्ञातसत्ताऽनभ्युपगमेन प्रमाणावेद्यत्वात्। स्वस्मिंश्च स्ववृत्तेरसम्भवादित्यलमसद्ग्रहेण।

केचित्-अवाच्छिन्नानवच्छिन्नसाधारणं चिन्मात्रं स्वप्नाधिष्ठानमाहुः, तच्च साधारणचिन्मात्रस्य "परस्परविरोधे हि" इत्यादिन्यायेन दुर्निरूपत्वादेव नोपपद्यत इति किं प्रपञ्चेन?

शरीरावच्छिन्न चैतन्यं तदधिष्ठानमित्यपरे। तदतिस्थवीयः। न हि जागरादौ शरीरबोधं विना स्वप्नानिवृत्तिः, घटज्ञानादपि तन्निवृत्तेः।

अन्ये त्वाहुः- अन्तःकरणोपलक्षितं चैतन्यमधिष्ठानमिति। तन्मते शुद्धचित एवाधिष्ठानत्वाज्जागरे स्वप्नस्य न बाधः स्यात्। तथा च सति प्रमातरि बाध्यत्वं

नोपपद्यते। तस्मादनुपहितचैतन्यं जाग्रत्प्रपञ्चाधिष्ठानम्।

तदुपहितं तु स्वप्नप्रपञ्चाधिष्ठानमिति वृद्धाः। एवं च जागरादावावश्यकजाग्रद्वस्तूपहितचिद्गोचरप्रमाणवृत्त्या सति प्रमातरि स्वप्नबाध उपपद्यते। तत्र चाधिष्ठानतावच्छेदकं घटत्वाद्येव जाग्रदुपहितत्वमुपलक्षणं सर्वनामशक्तौ बुद्धिस्थत्ववत्। तथा च जाग्रदनुभूतवस्तूपहितमेव ब्रह्मचैतन्यमिन्द्रियोपरमात्तथात्वेनाप्रथमानमुपाधेस्तटस्थत्वात्स्वरूपमात्रेण प्रथमानं निद्रादोषजाग्रत्संस्काराद्दृष्टसहकृताज्ञानेन सूक्ष्मप्रपञ्चात्मना विवर्तमानं स्वेनैव भासते "अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय" इति श्रुतेः। अत्र तिरोहितजाग्रदुपाधिविशेषस्य चैतन्यमात्रस्य स्वतोऽपरोक्ष्यस्फुरणमेवाधिष्ठानसामान्यज्ञानम् अज्ञातोपाधेश्चोपहितानवभासादधिष्ठानतावच्देदकजाग्रद्घटाद्याकारधिया बाधः। मूलाज्ञानाकार्यत्वादविद्यातिरिक्तदोषजन्यत्वाच्च स्वप्नस्य न व्यावहारिकतेति दिक्।।४२।।

स्वतः चिति तो- किसी प्रमाण के रहे बिना अपनी सत्ता में संशयादि से रहित होकर स्वप्रकाशरूप है। वही चिति (चैतन्य) रूपादि से रहित होने पर भी साद्दश्यादि रहित होने पर भी भ्रम का अधिष्ठान भी है।

तथाप्यत्र- चैतन्य में स्वप्न जो निद्रादि दोष के कारण हुआ है तो वह चैतन्य चक्षुविषय के बिना, मन के निमित्त के बिना तथा रूपवान् अधिष्ठान के बिना ही अधिष्ठान बन जाता है। पुनः पुनः जायते- सधीः स्वप्नो भूत्वा" वह स्वप्नाकाराकारित हो जाता है।

अथवा-चक्षुरादि व्यापार तो समाप्त हुआ फिर भी स्वप्न के पदार्थ का रूपादि आकार प्रकार कैसे हुआ?

समाधान— मनोनिमित्तमिति- मनोगत रूपादि वासनाओं के निमित्त से। स्वप्न में तैजसीय जीव भोक्ता है और वासनापुञ्ज मन में रहता है उससे भोग्य वस्तु मन के द्वारा दिखाई देते हैं।

अत्रेदं विचारणीयम्= स्वप्न भ्रम का अधिष्ठान क्या ब्रह्म चैतन्य है अथवा जीव चैतन्य? यदि ब्रह्मचैतन्य स्वप्न भ्रम का अधिष्ठान माने तो स्वप्न-प्रपञ्च व्यावहारिक अज्ञान सत्तावान् होगा। (प्रातिभासिक सत्तावान् नहीं होगा) एवं स्वप्न प्रपञ्च अज्ञात सत्तावान् होगा। जबकि उसकी सत्ता है प्रातिभासिक। लेकिन ब्रह्म-चैतन्य को स्वप्न-भ्रम का अधिष्ठान मानना उचित नहीं है। अब दूसरा विकल्प है- जीव-चैतन्य। अब इसमें भी जाग्रत अवस्था में स्वप्न-प्रपञ्च का बोध होता है या लय होता है। इस पर समाधान- आत्म-चैतन्य तीन

अवस्था युक्त हो जाता है- जाग्रति में स्थूल अन्तःकरणोपहित आत्म-चैतन्य है, स्वप्न में-वासना-विशिष्टान्तःकरणोपहित चैतन्य, तथा सुषुप्ति में सूक्ष्मान्तःकरणोपहित चैतन्य रहता है। जाग्रदवस्थोपहित चैतन्य स्वप्न-भ्रम का अधिष्ठान माना जाता है। इसलिये जाग्रति में मैं चैत्र हूँ, ऐसे अधिष्ठान का बोध होने पर स्वाप्निक पदार्थो का (प्रपञ्च का) बाध हो जाता है।

प्रश्न— जाग्रति और स्वप्न में क्या अन्तर है?

समाधान— स्वप्न प्रपञ्च का बाध प्रमाता के रहते हुये ही हो जाता है। यथा जैसे मैं चैत्र हूं इत्यादि प्रमाता के होते हुये, लेकिन जाग्रत का बाध प्रमाता के रहते हुये नहीं होता है। क्योंकि ब्रह्मज्ञान से जाग्रत प्रपञ्च के साथ प्रमाता का भी बाध हो जाता है।

प्रश्न— स्वप्न के अनन्तर जाग्रति न आवे किन्तु निद्रा (सुषुप्ति) आवे तो स्वप्न-प्रपञ्च का बाध होगा या लय?

समाधान— यदि जाग्रति आयेगी तो बाध होगा और यदि निद्रा आयेगी तो स्वप्न प्रपञ्च का लय होगा। "क्षीणे तु तत्र लयमेति जगन्निदाने" (स.शा.अ.३ श्लो. ११७) इसलिये पूर्वोत्तर विरोध नहीं है। बुद्धि (अन्तःकरण) उपहित जीव चैतन्य स्वप्न प्रपञ्च का अधिष्ठान है क्योंकि "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" स्वयं प्रपञ्च का निर्माण करके उसमें वह स्वयं ही प्रविष्ट हुवा। यह श्रुति ईश्वर कल्पित सृष्टि के बारे में है। वह सृष्टि व्यावहारिक है। तो जैसे व्यावहारिक रजत का अधिष्ठान शुक्ति आदि पदार्थ है। इसी प्रकार स्वप्न के भ्रमात्मक पदार्थों का अधिष्ठान अन्तःकरणोपहित जीव-चैतन्य ही है। उस जीव-चैतन्यनिष्ठ, जीव कल्पित अज्ञान की अवस्था यह स्वप्न-भ्रम का उपादान कारण है। और जब वह अज्ञान हट जाता है तथा मैं चैत्र हूँ, ऐसा बोध हो जाता है तब उस जीव कल्पित उपादान अवस्था का बाध हो जाता है। जिस प्रकार से शुक्ति के ज्ञान से रजत के उपादान कारणीभूत शुक्ति का अज्ञान नष्ट हो जाता है।

प्रश्न— यदि जीव कल्पित अज्ञान स्वप्न का कारण माने तो फिर मैं हाथी हूँ, मैं नील हूँ, ऐसी प्रतीति होने लगेगी।

समाधान— स्वाप्निक पदार्थों का जीव चैतन्य में केवल तादात्म्याध्यास ही (स्वरूपाध्यास ही) नहीं माना जाता है- किन्तु जाग्रत् संस्कारानुसार तादात्म्याध्यास माना जाता है- तो जाग्रति में मेरा हाथी, मेरा नीलरूप ऐसा प्रत्यय होने से यहां स्वप्न में भी ऐसा ही प्रत्यय होता है।

कुछ लोग तो जीव-चैतन्य में अज्ञान द्वारा संसर्गाध्यास भी मानते हैं। इससे अहं

राजा, अयं गजो, मम क्षेत्रम् ऐसी सब प्रतीतियां हो जाती है। यह सब आपातरमणीय है-।

क्योंकि ईश्वर कल्पित स्थूलान्तःकरणोपहित चैतन्य स्वप्न काल में तो है नहीं जिससे वह अधिष्ठान बन सकें। न तो उसका ज्ञान ही जाग्रतादि संस्कार जन्य ऐसा जो स्वप्न भ्रम उसका निवर्तक ही है। क्योंकि वह स्थूलान्तःकरणोपहित चैतन्य ज्ञान यही साक्षी ज्ञान किसी का बाधक न होने से वह स्वप्न भ्रम का बाधक नहीं बन पायेगा। यदि वह ज्ञान अन्तःकरण वृत्तिरूप माना जाय तो अन्तःकरण वृत्ति तो जो पदार्थ अज्ञात है उसका बोध कराती है- अन्तःकरण वृत्ति अन्तःकरण का बोध नहीं करा सकती क्योंकि अन्तःकरण की अज्ञात सत्ता नहीं है- इसलिये अन्तःकरण में प्रमाण वेद्यत्व भी नहीं होने से अन्तःकरण में अन्तःकरण की वृत्ति भी नहीं बन सकती।

कुछ विद्वान कहते हैं कि शरीर अवच्छिन्न' चैतन्य ही स्वप्न का अधिष्ठान है यह भी ठीक नहीं क्योंकि घटज्ञान से भी स्वप्न की निवृत्ति हो जाती है।

अन्येतु: अन्तःकरणोपलक्षित चैतन्य स्वप्न का अधिष्ठान है। शुद्ध चैतन्य अधिष्ठान माने तो स्वप्न पदार्थ का बाध नहीं होगा। फिर प्रमाता के रहते हुये स्वप्न का बाध होता है यह बात सिद्ध नहीं होती। अतः अन्तःकरणानुपहित चैतन्य जाग्रत प्रपञ्च का अधिष्ठान मानना चाहिए। क्योंकि जब शुद्ध चेतन का ज्ञान होता है तो प्रमाता भी गया और जाग्रत प्रमेय भी बाधित हो जाता है।

वृद्ध लोग यह कहते हैं- अन्तःकरणोपहित= चैतन्य प्रपञ्च का अधिष्ठान है। इसमें जाग्रति में जाग्रति के वस्तु से उपहित चैतन्यगोचर प्रमाण वृत्ति के होते हुये स्वप्न भ्रम का बाध हो जाता है।

जाग्रदावस्थापन्न घटादिचैतन्य स्वप्न का अधिष्ठान हुआ। अधिष्ठानतावच्छेद का हुआ घटादि पदार्थ। तो अब यह निष्कर्ष निकला कि जाग्रति में अनुभूत घटादिवस्तु उपहित ब्रह्म चैतन्य- वह स्वप्नावस्था में इन्द्रियों का उपराम होने से अपने ढंग से काम नहीं कर सकता, घटादि पदार्थ तो उपाधि होने के कारण तटस्थ ही रहेंगे अब रहा केवल ब्रह्म चैतन्य, वह निद्रा दोष के कारण तथा जाग्रत संस्कार एवं अदृष्ट के सहकार से युक्त अज्ञान सूक्ष्म प्रपञ्च के रूप में विवर्तमान अपने ही रूपसे स्वप्न रूप में परिणत हो जाता है। "अस्य लोकस्य सर्वायवतो मात्रामुपादाय" जाग्रति के संस्कार अदृष्ट आदि सब कुछ लेकर वह ब्रह्म चैतन्य स्वप्न रूप में प्रपञ्चित होता है। अब यहां यह समझना है कि स्वप्न में जाग्रत उपाधि छिपी हुई है। और ऐसे छिपी हुई उपाधि से उपहित जो चैतन्य वह

तो अपरोक्ष है ही। उसका स्फुरण ही अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान हुआ। अज्ञात उपाधि उपहित चेतन को बताने में असमर्थ होती है। अब जब अधिष्ठानतावच्छेदक घटादि उपाधि पदार्थों का ज्ञान होगा तब उन उपाधियों से उपहित चैतन्य का जाग्रति में विशेष ज्ञान होकर स्वप्न के पदार्थों की निवृत्ति होगी।

प्रश्न- स्वप्न जाग्रति से भिन्न कैसे?

समाधान– स्वप्न मूल अज्ञान का कार्य है- साथ में उसमें अविद्यातिरिक्त निद्रादि दोष, अदृष्ट, आदि दोष जन्यत्व होने से व्यावहारिक प्रपञ्च से स्वप्न अलग है और जाग्रत प्रपञ्च तो अज्ञानमात्र से ही कृतार्थ है।

आरोप्याधिष्ठानयोरेकेन्द्रियग्राह्यत्वस्य व्यभिचारं वक्तुं मनः प्रमाणत्वाभ्युपेत्यवादेन मानसे नभसि चाक्षुषाध्यासं दर्शयति -

आरोप्य तथा अधिष्ठान दोनों में एकेन्द्रिय ग्राह्यत्व होना चाहिए इसका व्यभिचार स्थान बताने के लिये - मन को प्रमाण मानकर मनोगम्य (मानसिक) आकाश में चाक्षुष अध्यास को बता रहे हैं–

मनोऽवगम्येऽप्यपरोक्षताबलात्
तथाऽम्बरे रूपमुपोल्लिखिन् भ्रमः।
सितादिभेदैर्बहुधा समीक्ष्यते
यथाऽक्षिगम्ये रजतादिविभ्रमः।।४३।।

अन्वय : यथाक्षिगम्ये रजतादिविभ्रमः तथा मनोऽवगम्येऽप्यपरोक्षताबलात् रूपम् उपोल्लिखिन् सितादिभेदैः बहुधा भ्रमः समीक्ष्यते।

अन्वयार्थ : जैसे नेत्र गृहीत (शुक्ति) में रजतादि विभ्रम होता है, वैसे ही मनोगृहीतआकाश में अपरोक्षता के बल से रूपोल्लेखी शुक्लादिरूप भ्रम देखा जाता है।।

मनोऽवगम्येऽपीति। मानसापरोक्षेऽप्यम्बरेऽधिष्ठानेऽपरोक्षतामात्रसामर्थ्यात् "शुक्लं नभो नीलं नभः" इति नानारूपोल्लेखी भ्रमो दृश्यतेऽतो नोक्तनियम इत्यर्थः। एवं स्वतोऽपरोक्षे मनोऽपरोक्षे च स्वप्नभ्रमनभोनैल्यभ्रमानुदाहृत्य नयनत इत्यस्योदाहरणमाह–यथाऽक्षिगम्य इति। व्याख्यातम्।

ननु नाकाशो मानसो बाह्यत्वान्मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्, अपि तु साक्षिवेद्य एवेति चेन्न। बाह्यस्य प्रमाणेनैव ज्ञाततया साक्षिवेद्यत्वात्, नभसश्च बहिरिन्द्रियागोचरस्य

मानसत्वमन्तरेणाज्ञातत्तयैव भानप्रसङ्गात्। तदुक्तम् - ''ज्ञाततया विषयः प्रमाणव्यवधानमपेक्षते''इति। कथं तर्हि सुखादेः कल्पितरजतादेश्च ज्ञातत्वेनानुभव इति चेत्, तेषामान्तरत्वेनानावृतत्वात्। बाह्यस्य तु नभसो घटादिवदावृतत्वेनावरणभङ्गाय प्रमाणापेक्षणान्मनोवेद्यत्वमगत्याऽभ्युपेयम्। न च तस्य बहिरस्वातन्त्र्यम्, ''मनसा ह्येव पश्यति'' इत्यादिश्रुत्या बाह्यानामपि मनोवेद्यताया दर्शितत्वात्। बहिरस्वातन्त्र्योक्तिश्च केवलमनोविषया। न चानर्पिताकारं मनः साक्षात्कारसमर्थमिति चक्षुरेव तत्राकारार्पकमुपेयम्।

ननु कथं नीरूपे नभसि चक्षुषः प्रवृत्तिः, तस्य रूपपुरस्कारेणैव द्रव्येषु प्रवृत्तेरिति चेत्, सत्यमेतत् न स्वीयरूपपुरस्कारेणेत्यत्र किं चिन्नियामकमस्ति, ''पीतः शङ्खो रक्तः स्फटिकः'' इत्यन्यरूपद्वारापि चक्षुःप्रवृत्तिदर्शनात्। न च तत्र रूपवृत्तेः शौक्ल्यस्यैवाभिभवो न रूपस्येति वाच्यम्। तथाऽप्युद्भूताभिभूतरूपस्पर्शस्य सुवर्णस्याचाक्षुषत्वप्रसङ्गाद्। ततश्चालोकादिरूपोपहिते नभसि तद्द्वाराऽपि चक्षुःप्रवृत्त्यविरोधः। ''अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे'' इति भाष्यं तु रूपानुपधानकालाभिप्रायं, परमतेन वा। न चान्यरूपद्वाराऽपिरूपवत्त्येव चक्षुःप्रवृत्तिर्गौरवादुद्भूतरूपं गृह्णदेव चक्षुः प्रवर्तते न तूद्भूतरूपवत्येवेति। अस्तु तर्हि चाक्षुषमेव नभ इति चेन्न। अरूपिद्रव्यत्वान्महत्त्वे सत्यत्युद्भूतरूपवत्त्वस्य द्रव्यचाक्षुषत्वे तन्त्रत्वात्। ततश्चात्र रूपद्वारकचक्षुरर्पिताकाशाकारमनोवृत्तिविषयत्वे नीलत्वाद्यारोप इति भावः। एवं तमोऽपि मानसमालोकं विना रूपिग्रहे चक्षुषोऽसामर्थ्यादिति संक्षेपः।।४३।।

मनोऽवगम्येऽपीति - आकाश का मानसिक अपरोक्ष है वही सफेद आकाश, नीला आकाश ऐसे भ्रम का अधिष्ठान है। आकाश मानसिक अपरोक्ष है उसमें नांना रूपों का भ्रम अध्यस्तता यह तो नेत्र का विषय है, न कि मन का। इसी प्रकार "अक्षिगम्ये रजतादि विभ्रमः" नेत्रगम्य शुक्तिकादि में - रजतादि पदार्थ का विभ्रम हो जाता है। इसमें शुक्ति चक्षुरिन्द्रिय का विषय सन्निकृष्ट है अपरोक्ष है लेकिन रजत तो विषय है नहीं। तो अधिष्ठान के अपरोक्ष होने पर भी भ्रम हो ही जाता है - यह बात सिध्द हुई और अधिष्ठान तथा अध्यस्तवस्तु दोनों में एकेन्द्रिय ग्राह्यत्व होना, चाहिये यह बात भी नहीं।

टिप्पणी - आशंका - आकाश का मानसिक अपरोक्ष नहीं मानेंगे, क्योंकि आकाश तो बाह्य है मन बाहर में अस्वतन्त्र है अतः उसे साक्षिभास्य ही मानना चाहिये।

समाधान - बाह्य पदार्थ का प्रमाण से ही ज्ञान होता है तभी साक्षी वेद्य भी होगा। आकाश में अन्य किसी भी इन्द्रिय की गति नहीं है, और मन की गति भी नहीं माने तब तो आकाश अज्ञात रह कर भी भान(ज्ञान) का विषय बनेगा सो उचित नहीं है इसलिए कहा है - ज्ञाततया विषयः प्रमाणव्यवधानमपेक्ष्यते'' जो विषय ज्ञात है वह प्रमाण

व्यवधान की अपेक्षा रखता है।

प्रश्न - फिर सुख तथा कल्पित रजतादि पदार्थ का ज्ञातत्वेन रूपेण अनुभव कैसे है?

समाधान - ये पदार्थ साक्षीभास्य होने से अपने स्वरूप से प्रगट होने मात्र से ही चाक्षुषत्व की संगति मानी जाती है। और आकाशादि बाह्यपदार्थ होने से उनके ऊपर घटादि पदार्थ के समान आवरण होता है - उस आवरण के भंगार्थ प्रमाण की जरूरत है - तो यहां मन ही प्रमाण है उसकी जरूरत है।

प्रश्न— मन तो बाह्य अस्वतन्त्र है।

समाधान— "मनसा ह्येव पश्यति" यह श्रुति बाह्य पदार्थो का भी मन से ग्राह्यत्व बताती है।

प्रश्न— मन बाह्य अस्वतन्त्र उक्ति कैसी चरितार्थ होगी ?

समाधान— यह उक्ति जहां केवल मन होगा वहां चरितार्थ है। जहां आकाश के विषय में केवल मन नहीं है। नेत्र भी तो आकारार्पक रूप में विद्यमान है - अतः सिद्ध हुआ कि उपरोक्त आकाश में नीलादि रूप का भ्रम हुआ इत्यादि।

प्रश्न— रूपरहित आकाश मे चक्षु-प्रवृत्ति कैसे ? क्योंकि चक्षु की प्रवृत्ति रूपवान् पदार्थ को लेकर ही होती है।

समाधान— पदार्थ के अपने रूप के कारण ही चक्षु की प्रवृत्ति होती है - ऐसा कोई नियम नहीं है। पीतः शङ्खः, रक्तः स्फटिकः; शंख पीला है, स्फटिक लाल है - इत्यादि स्थल में अन्यगत रूप के द्वारा चक्षु की प्रवृत्ति देखने में आती है।

प्रश्न— शंख में पार्थिव रूप स्पर्श के कारण रूप और स्पर्श का अभिभव (तिरोधान) मानेंगे।

समाधान— फिर तेजस जो सुवर्ण है - (नैय्यायिकजी महाराज) उसका आपको चाक्षुष नहीं होगा क्योंकि पृथ्वी के रूप और स्पर्श ने सुवर्ण की पीलीमा ढक दी और वह शंख में आई। फिर सुवर्ण कैसे चक्षु का विषय हो पायेगा। इसलिए प्रकाश के रूप से उपाधियुक्त आकाश में औपाधिक दूसरे के रूप द्वारा - नेत्र की (चक्षु की) प्रवृत्ति हो जाती है, यह बात सिद्ध हुई। "अप्रत्यक्षेऽपि आकाशे" यह भाष्य तो आकाश में रूप नहीं है इस अभिप्राय से लिखा गया है। अथवा नैय्यायिक आकाश को अनुमान प्रमाण के आधार पर "शब्दगुणकं आकाशम्" मानते हैं इस अभिप्राय से लिखा गया है।

प्रश्न— आकाश को चाक्षुष ही माना जाय तो क्या दोष है ?

समाधान— आकाश रूपरहित है। चाक्षुष वही पदार्थ होता है जो आकृति युक्त तथा रूपयुक्त होता है। अस्तु, अब यह बात सिद्ध हुई कि रूप को बताने वाले नेत्र, उनके द्वारा अर्पित आकारादि मनोवृत्ति उसका विषय "नीलं गगनं" इत्यादि प्रतीति हुई। इसी प्रकार से अन्धःकार में भी मानसिक प्रकाश के बिना नेत्र द्वारा "नीलं तमश्चलति" नील अन्धकार चल रहा है - ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती। यह समझ लेना।

तथाऽपि ज्ञातसामान्यांशमाज्ञातविशेषांमधिष्ठानम्। न चात्मनो निरंशस्य तत्संभव इत्याशङ्क्याभेदेऽपि ज्ञाताज्ञातत्वसम्भवमुपपादयति-

अधिष्ठान में यह देखा गया कि सामान्यांश ज्ञात है और विशेषांश अज्ञात है। आत्मा तो निरंश है। इसमें दोनों ये विरुध्द बातें कैसे संभव है? उसे बताते हैं अभेद में भी ज्ञातत्वाज्ञातत्वसंभव है—

ज्ञातेऽपि तावति ततोऽनतिरिक्तरूपेऽ-
प्यज्ञानतः स्फुरणमस्फुरणं च दृष्टम्।
दूरस्थयोर्ननु वनस्पतिवस्तुनोस्तद्-
भेदो न दृष्टिविषयोऽवगते च ते नः ।।४४।।

अन्वय – तावति ज्ञातेऽपि ततोऽनतिरिक्तरूपेऽपि अज्ञानतः, दूरस्थयोः वनस्पतिवस्तुनोः स्फुरणम् अस्फुरणञ्च दृष्टम्, तद्भेदो न दृष्टिविषयः ते च नः अवगते।

अन्वयार्थ- एक ही वस्तु का ज्ञान होने पर भी उससे अभिन्न अज्ञान भी रहता है। एक वस्तु में ज्ञान, अज्ञान दोनों रहते हैं। जैसे दूरस्थ दो वृक्षों में स्फुरण तथा अस्फुरण दोनों देखे जाते है। दो वृक्षों का भेद गृहीत नहीं होता है किन्तु दोनों वृक्ष हमारी आंखो से गृहीत होते है।।

ज्ञातेऽपीति। तावति तन्मात्रे तदभिन्न इत्यर्थः। ईदृशे वस्तुनि ज्ञातेऽप्यज्ञानवशात्तस्यैव स्फुरणमस्फुरणं च दृष्टमित्यर्थः। कुत्र दृष्टमित्यत्राह-दूरस्थयोरिति। दूरस्थे वनस्पतिद्वये "एकोऽयं वनस्पतिः" इति भ्रमो भवति। तत्र चानवस्थाभयादन्योऽन्याभावप्रतियोगि-प्रमाणयोरनिरूपणाच्च भेदस्य वनस्पतिरूपानतिरेकात्तत्स्फुरणेऽपि भेदास्फुरणं दृष्टमित्यर्थः। ते वनस्पतिवस्तुनी नोऽस्माकमवगते तयोर्भेदस्तु तदभिन्नोऽपि न दृष्टिविषय इत्यर्थः। ननु तत्रापि वनस्पतित्वेन स्फुरणं भेदत्वेनास्फुरणं, तच्च भिन्नमेवेत्याशङ्क्याह - तत इति। शब्दान्तरा-भिलप्यत्वेन भेदेऽपि स्वरूपेणाभिन्नमेव भेदरूपं वनस्पतिरूपादित्यर्थः। इतश्च ज्ञातस्याज्ञातत्वं न विरुद्धं "त्वदुक्तमर्थं न जानामि" इत्यर्थे भासमान एव तदज्ञानानुभवात् ज्ञानवदज्ञानस्यापि

विषयनिरूप्यत्वात्सविषयके च विषयस्यैव विशेषणत्वात् ज्ञानस्य च विशेषणत्वात्। न च तत्र ज्ञानसामान्यांश एवाज्ञाननिरूपकः, तस्य प्रमाणावगतस्याज्ञानाविषयत्वात्। परबुद्धिस्थविशेषस्याशक्यज्ञानत्वात् कथं विशेषणत्वमिति चेन्न। अज्ञाततया साक्षिवेद्यत्वाविरोधात्। आवृतचितेरज्ञानाविरोधस्यानुभवसिद्धत्वाच्च। परैरप्यनभ्यासदशायां ज्ञातेऽपि जलादौ संशयाभ्युपगमादिति दिक् ।। ४४ ।।

ज्ञातेऽपि - जानने के बाद भी । ततोऽनतिरिक्तरूपे - उस पदार्थ से अभिन्न रूप में ही - जानने के बाद भी अज्ञानवशात् स्फुरण और अस्फुरण दोनों ही देखे जाते हैं। कहां ? दूरस्थयोर्ननु=दूर से दोनों वृक्षों को देखने से ऐसा लगता है मानो यह एक ही वृक्ष है। ऐसा भ्रम हो जाता है। इन दोनों वस्तुओं का जो भेद है-(अन्योन्याभावप्रतियोगरूप) वह भेद इन दोनों वृक्षों से अभिन्न ही है। क्योंकि यदि उस भेद को इन वृक्षों से अतिरिक्त मान लेने पर इनका नियामक जो भेद -वह वृक्ष और भेद इनसे भिन्न की अभिन्न/अनवस्थादोष आता है। तो तात्पर्य यह कि वनस्पति का वृक्ष का भान होने पर भी उनसे अभिन्न रूप में रहने वाले भेद का भान नेत्र से दूर से नहीं हो पाता।

प्रश्न– वनस्पतित्वेन रूपेण वनस्पति का स्फुरण है और भेदत्वेन रूपेण भेद का अस्फुरण है, दोनों तो अलग ही है।

समाधान– तत इति। शब्दान्तर से विशिष्ट रूप से भिन्न भिन्न। ये दोनों शब्द-वनस्पतित्व, भेदत्व रूप से अलग अलग प्रतीत होने पर भी स्वरूप से-दोनों वृक्षों का भेद और दोनों वृक्ष - वनस्पतित्व रूप से तो एक ही है। इससे ज्ञात वस्तु भी अज्ञान के विरूद्ध नहीं जाती यह बात सिद्ध हुई। "त्वदुक्तमर्थं न जानामि" इसमें भी भासमान अर्थ के बारे में ही कहा जा रहा है कि मुझे इस विषय में अज्ञान है। तो जैसे ज्ञान के लिये विषय निरूपक होना चाहिये वैसे अज्ञान के लिए भी विषय निरूपक होना चाहिये। सविषयक (ज्ञान विषयक) यदि अज्ञान है तो इसमें ज्ञान ही अज्ञान के विशेषण कोटि में आकर वही निरूपक विषय बनेगा। यहां भी ज्ञान का सामान्यांश अज्ञान का निरूपक नहीं माना जा सकता। क्योंकि जो ज्ञान प्रमाण से ज्ञात है वह अज्ञान का विषय कैसे बन पायेगा? अतः यह कहना पड़ेगा कि आवृत्त चैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं है। नैय्यायिक भी अनभ्यास दशा में ज्ञात जलादिक में इदं जलं बाष्पं वा" ऐसा संशय करते हैं। वैसे यहां भी दोनों विभिन्न वृक्षों में भेद और अभेद का स्फुरण तथा अस्फुरण होने में कोई आपत्ति नहीं है। आत्मा में भी ज्ञातत्व अज्ञातत्व दोनों भी इसी प्रकार से समझ लेना।।

ननु शुक्त्यादौ ज्ञाताज्ञातांशयोः "इयं शुक्तिः" इति शब्दद्वयवाच्यत्वेन भेददर्शनान्नैकस्य

ज्ञाताज्ञातत्वमित्याशङ्क्य तत्र सन्नप्यंशभेदस्त्वप्रयोजक इत्याह-

प्रश्न– शुक्ति आदि पदार्थ में ज्ञात और अज्ञात ऐसे दो अंश है "इयं शुक्तिः" यह शुक्ति है। ये दोनों शब्द एक के बारे में ही ज्ञातत्व अज्ञातत्व नहीं बताते हैं।

समाधान - दोनों शब्द अलग अलग होने पर भी अज्ञातत्व में वह (अप्रयोजक) कारण नहीं माने जाते हैं।

टिप्पणी - इयं शुक्ति, इसमें इयं भाग में ज्ञातत्व है तो शुक्ति भाग में अज्ञातत्व है - इन दोनों शब्दों के द्वारा ज्ञातत्व तथा अज्ञातत्व प्रतीत होते हैं, एक ही शब्द के द्वारा ज्ञातत्व तथा अज्ञातत्व प्रतीत नहीं होते हैं, इस पर उत्तर देते हैं कि "इयं शुक्ति" इस वाक्य में अंश भेद (दो शब्द) होने पर भी शुक्ति भाग अज्ञातता का प्रयोजक (कारण या कारणतावच्छेदक) नहीं हो सकता। इसे ३ (तीन) श्लोकों से स्पष्ट कर रहे हैं–

यत्रापि दैवगतितोऽस्त्यतिरिक्तभावो
रूपात्प्रतीतिविषयादितरत्र रूपे ।।
तत्राप्यबोधघटनां प्रति नाङ्गभाव-
स्तस्यातिरिक्तवपुषोऽपुनरुक्तरूपात् ।। ४५ ।।

अन्वय – यत्रापि प्रतीतिविषयात् रूपात्, इतरत्र रूपे अतिरिक्तभावो देवगतितः अस्ति। तत्रापि अपुनरुक्तरूपात् अतिरिक्तवपुषः तस्य अबोधघटनां प्रति अङ्गभावो नास्ति ।। ४५ ।।

अन्वयार्थ - जहां की (शुक्त्यादि) में ज्ञात (इदं) रूप में ज्ञात (शुक्तित्वां) श में दैवात् भेद है, वहां भी उस भेद में अज्ञान की अङ्गता नहीं मानी जाती।

यत्रापीति=यत्रापि शुक्त्यादौ प्रतीतादिदंरूपादितरत्राप्रतीते विशेषांशे दैवाद् भेदो विद्यते तत्रापि तस्य भेदस्यापुनरुक्तशब्दवाच्यादिदंरूपादतिरिक्तवपुषः शुक्त्यादेरज्ञाततां प्रति नाङ्गत्वमित्यर्थः।।४५।।

यत्रापीति - जहां भी शुक्त्यादि पदार्थ में "इयं शुक्ति" "इयं" इदं रूप से अलग शुक्ति का अन्यत्र भान नहीं होता है। तो शुक्ति इस विशेषांश का "इयं" भाग से भेद विद्यमान होने के बाद भी-, अतिरिक्तवपुष=इयं रूप से शुक्ति का अलग अस्तित्व मान लेने पर भी। अर्थात् इयं और शुक्ति इन दोनों का शब्द द्वारा भेद होने पर भी शुक्ति के अज्ञान के प्रति शुक्ति को अङ्गत्व नहीं मानते। अर्थात् इयं और शुक्ति इन दोनों के भेद को "इदं रजतम्" इस अज्ञान के प्रति कारण नहीं मानते।

इदन्त्वशुक्तित्वधर्मभेद एव ज्ञाताज्ञातत्वावच्छेदक इति चेन्नेत्याह-

प्रश्न-ज्ञातत्व और अज्ञातत्व - इदंत्व रूप से ज्ञात, शुक्तित्व रूप से अज्ञात तो, ज्ञातत्वावच्छेदक इदन्त्व और अज्ञातत्वावच्छेदक शुक्तित्व मानें। अपर्याय शब्द को अन्यथा सिद्ध मानें तो क्या आपत्ति है ?

शुक्तीदमंशात् पृथगप्रतीता
त्रिकोणता स्यान्ननु वस्तुवृत्या।
तथाऽपि तत्स्थं न पृथक्त्वमिष्टं
तदप्रबुद्धत्वनिमित्तभूतम् ।।४६।।

अन्वय – अप्रतीता त्रिकोणता शुक्तीदमंशात् वस्तुवृत्या पृथक् ननु स्यात्, तथापि तत्स्थं पृथक्त्वं तदप्रबुद्धत्वनिमितभूतं नेष्टम्।

अन्वयार्थ-अज्ञात त्रिकोणता अवश्य ही शुक्ति के "इदम्" अंश से वस्तुतः भिन्न है तथापि त्रिकोणतागत भेद उसके अज्ञातत्व का प्रयोजक नहीं है

शुक्तीदमंशादिति। अप्रतीता त्रिकोणता शुक्तित्वं यद्यपि प्रतीताच्छुक्तीदन्त्वाद्वस्तुतः पृथक् तथापि तत्स्थं पृथक्त्वं तस्याः शुक्तिताया अप्रतिबुद्धत्वे निमित्तं नेष्टमिति सम्बन्धः।।४६।।

शुक्तिइदमंशादिति= शुक्तित्व का अर्थ यही हुवा त्रिकोणता (जात्याकृतिर्व्यक्त यः पदार्थः) और वह प्रस्तुत में "इदं रजतम्" भाग में प्रतीत नहीं हो रही है। यह बात भी सही है कि शुक्तित्व रूप त्रिकोणता प्रतीत होने वाले "इदन्त्व" रूप से अलग है। लेकिन इन दोनों रूपों की जो पृथक्ता है वह पृथक्ता शुक्तित्व के शुक्ति में भान न होने के प्रति कारण नहीं है।

कथं नेष्टमिति चेदुक्तव्यभिचारादेवेत्याह-

आशंका- इन दोनों का भेद कैसे शुक्तित्व के शुक्ति में अज्ञान के प्रति कारण नहीं है।

समाधान=व्यभिचार होने से। कहां?-बताता हूँ

यतः प्रपश्यन्नपि भेदिनः,
स्वं वनस्पते रूपमभिन्नमस्मात्।

न भेदमस्य प्रतिपद्यतेऽक्ष्णा,
वनस्पतेः पार्श्वगतात्परस्मात् ।।४७।।

अन्वय – यतःभेदिनः वनस्पतेः स्वं रूपं प्रपश्यन् अपि अस्मात् अभिन्नम् पार्श्वगतान् परस्मात् वनस्पतेः अस्य भेदम् अक्ष्णा न प्रतिपद्यते ।।

अन्वयार्थ - (भेद अज्ञानता का प्रयोजक नहीं है) क्योंकि भेद का आधार है वृक्ष का स्वरूप। उसके प्रत्यक्ष होने पर भी उस वृक्ष से अभिन्न, समीपस्थ, अन्य वृक्ष का भेद आंख से देखा नहीं जाता।

यत इति। यस्माद् भेदवतो वनस्पतेः स्वं रूपं प्रपश्यन्नप्यस्माद्वनस्पतेः सकाशादभिन्नं पार्श्वस्थाद्वनस्पतेः सकाशादस्य भेदमक्ष्णा नः प्रतिपद्यते। स्वतो धर्मधर्म्यभेदेऽपि ज्ञाताज्ञातत्व-दर्शनात्तद्भेदोऽप्रबुद्धत्वानङ्गमित्यर्थः ।।४७।।

यतः– दोनों वनस्पतियों को भेद रूप से "अक्ष्णा– आंख से देखता हुवा भी, स्वं रूपम्- इस वनस्पति से यह भिन्न है ऐसा (जानता) देखता है। तो भी नजदीक से दोनों वृक्षों के भेद को आंख से देख नहीं पाता, इसलिये दोनों का अभेद है इस अज्ञान के प्रति भेद को (कारण) अङ्ग नहीं मान सकते। भाव यह कि वनस्पति धर्मि है और भेद धर्म है। अनुयोगि परस्पर वनस्पति है और वनस्पति का भेद (अन्योन्याभाव) प्रतियोगि है। अनुयोगि भिन्न भिन्न है, क्योंकि दो वृक्ष है। तथापि वह अनुयोगिनिष्ठ भेद=उन दोनों वृक्षों के नजदीक देखने पर ये भिन्न भिन्न है इस भेद धर्म को नहीं रोक सकता। भेदिनः- धर्मिवृक्ष। तो वृक्ष के अभिन्न रूप से होने पर भी ज्ञातत्व, अज्ञातत्व दोनों ही रहते हैं, यह सिद्ध हुआ।

स्वभिन्नभेदवादिमतेऽपि ज्ञातस्याज्ञातत्वमविरुद्धमित्याह-

अब भेद को प्रतियोगि और वृक्षों को अनुयोगि मानकर चलने वाले भेदवादी के क्षणिक विज्ञानवादी के मतानुसार ज्ञातत्व अज्ञातत्व का विरुद्ध नहीं है इसको बता रहे हैं

सप्रत्यभिज्ञनयनोत्थधियो घटादेः
स्वाभाविकात्स्ववपुषोऽनतिरिक्तरूपः।
स्थेमा प्रबोधविषयो विषयत्वमेती-
त्यङ्गीकृतं ननु मितेऽपि घटादिकेऽर्थे।।४८।।

अन्वय – मितेऽपि घटादिकेऽर्थे स्वाभाविकात् स्ववपुषोऽनतिरिक्तरूपः स्थेमा अप्रबोधविषयः (सन्) घटादेः सप्रत्यभिज्ञनयनोत्थधियः स्थेमा विषयत्वमेति, इति अङ्गीकृतम्। ननु।।

अन्वयार्थ - (चक्षुरादि प्रमाण से) प्रथित घटादि पदार्थों में भी तत्तद्घटादिपदार्थः गत स्थिरता जो

कि तत्तद् पदार्थ स्वरूप ही है, जो कि पहिले अज्ञात होकर बाद में सोऽयं घटः प्रतिभिज्ञा के रूप में चाक्षुष हो जाती है। यह सभी मानते हैं।

सप्रत्यभिज्ञेति। मितेऽपि प्रमाणान्निश्चितेऽपि घटाद्यर्थे तस्यैव घटादेः स्वाभाविकात्स्ववपुषः स्वरूपादनतिरिक्तः स्थेमा स्थिरत्वमभेदः पूर्वमप्रबुद्धोऽपि सप्रत्यभिज्ञस्य पुंसो नयनोत्था या धीः "सोऽयं घटः" इति प्रत्याभिज्ञात्मिका तस्याः पश्चाद्विषयो भवतीति सर्वैरप्यङ्गीकृतमित्यर्थः।

अथवा-प्रत्यभिज्ञा संस्कारः तत्सहितनयनोत्थधिय इत्यर्थः। न हि स्थैर्यं नाम कश्चिद्गुणः, क्रिया धर्मान्तरं वा, अपि तु वस्तुस्वरूपमेव पूर्वापरकालसम्बन्धं निमित्तीकृत्य स्थेमोच्यते। एवं च क्षणिकवादिनां प्रत्यक्षेऽपि घटादौ तदभिन्नस्थैर्याज्ञानं चेत् ज्ञानसाम्राज्यसीमनि प्रतीचि ज्ञातेऽज्ञानाविरोध इति किमु वक्तव्यमिति भावः ॥४८॥

ननु - निश्चित रूप से, मितेऽपि = प्रमाण के द्वारा (चक्षुरादि प्रमाण के द्वारा) घटादिरूप अर्थ का निश्चय होने के बाद भी उस घट से अभिन्न रूप में रहने वाली स्थेमा= स्थैर्यता, स्थिरता, जो पूर्व में। अप्रबुद्ध विषयत्वमेति = ज्ञान न होने पर भी। नेत्रों का विषय होकर प्रतिभिज्ञा के रूप में "सोऽयं घटः" के रूप में यह वही घट है ऐसी बुद्धि हो जाती है। यह प्रतिभिज्ञा व्यवसायात्मक घटादि विषय से अभिन्न ही है। अर्थात् प्रतिभिज्ञा ज्ञान का विषय (सोऽयं घटः) इस ज्ञान का विषय अभिन्न रूप से अयं घटः यह है। तो जो अयं घटः ऐसी जो बुद्धि वह सोऽयं घटः इस प्रतिभिज्ञा रूप में अज्ञात है। तो ज्ञातत्व में अज्ञातत्व है, इस बात को सभी मानते हैं तो ज्ञात आत्मा में अज्ञातत्व भी आने में कोई आपत्ति नहीं है।

अथवा-प्रतिभिज्ञा संस्कार से युक्त नेत्र से स्थेमा-स्थैर्य का अज्ञान पहिले सिद्ध हो जाता है। क्षणिकवादी के मत में - स्थैर्य कोई गुण, क्रिया, धर्मान्तर आदि नहीं है। किन्तु पूर्व और उत्तरवर्त्ती काल में रहने वाले स्वरूप को स्थैर्य कहते हैं। क्षणिकवादी के मत में वह एक अज्ञान ही मानना पड़ेगा क्योंकि सब क्षणिक ही है। तो स्थिरता भी क्षणिक ही है। और सोऽयं घटः यह प्रतिभिज्ञा तो उसे भी माननी पड़ती है। अतः क्षणिक घट में अभिन्न रूप से रहने वाली स्थिरता स्वीकृत है तो फिर हम तो ज्ञान साम्राज्य वाले ज्ञात आत्मा में अज्ञान का कोई विरोध नहीं हो सकता। इसमें तो कहना ही क्या?

एवं च निरंशस्यापि सिद्धमात्मनोऽधिष्ठानत्वमित्युपसंहरति-

अब उपसंहार कर रहे हैं कि निरंश आत्मा भी अधिष्ठान हो ही जाता है-

एवं स्फुरत्यपि दृगात्मनि तत्स्वरूपे-
णास्फूर्तिभाजि परिकल्पितोपन्ना ।।
स्वाज्ञानतो जगदिदं परमेश्वरोऽसौ
जीवोऽहमित्यपि विभागवतोऽल्पकस्य ।।४६।।

अन्वय – एवं स्फुरति तत्स्वरूपेणास्फूर्तिभाजि दृगात्मनि अपि स्वाज्ञानतः इदं जगत् असौ परमेश्वरः अहं जीवः इति विभागवतः अल्पकस्य परिकल्पितता उपपन्ना। (वसतं० ति०)

अन्वयार्थ - इसी प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूप से ज्ञात तथा नित्यमुक्तत्वादि रूप से अज्ञात चिदात्मा में स्वाज्ञान से "यह जगत् है, यह परमेश्वर है, मैं जीव हूँ। इसी प्रकार के भेद वाले तुच्छ अहंकारादिक की कल्पना उचित ही है।

एवमिति। प्रत्यगनिदंरूपेण स्फुरत्यपि चिदात्मनि नित्यमुक्ताद्वयानन्दरूपेणास्फूर्तिभाजि अधिष्ठाने स्वाज्ञानमात्रदोषादल्पकस्याहङ्कारादेरध्यस्तता प्रागुक्तयुक्तिभिरुपपन्नेत्यर्थः। अल्पकं रूपं विशिनष्टि-जगदिति। इदमिति साक्षिसिद्धत्वादसाविति परोक्षत्वाद्विभागो नानात्वं तद्वत इत्यर्थः। यद्यपि स्फुरति चिदात्मनि "नास्ति न भाति" इति व्यवहारयोग्यतालक्षणमावरणं नास्ति विरोधात्। तथापि तदत्यन्ताभिन्नेऽप्यद्वयानन्दरूपेऽनुभूयमानत्वादेव तदङ्गीक्रियते, न ह्यज्ञानावृतत्वं तद्वेष्टितत्वं, येन विरोधः स्यात्किंतूक्तव्यवहारयोग्यत्वमेवेति भावः ।।४६।।

एवं - इस प्रकार से इदं रूप से नहीं, किन्तु अनिदं रूप से, स्फुरत्यपि - स्फुरित होने वाले, दृगात्मनि - चिदात्मा में, अस्फूर्तिभाजितत्स्वरूपे-नित्यमुक्ताद्वयानन्द रूप से स्फुरित न होकर, जो अधिष्ठान रूप में है - उसमें स्वाज्ञानतो - अपने ही आत्मा के अज्ञान से, अल्पकस्य- अहंकारादिक अध्यस्त रूप से उपपन्न होते हैं। अहंकारादिक अल्पकरूप कैसे हैं? तो बताते हैं - जगदिति - इदं यह प्रत्यय साक्षीसिद्ध है, असौ - यह प्रत्यय परोक्ष रूप को बताता है - इस प्रकार नाना प्रकार के अल्पक रूप से अध्यस्त पदार्थों की कल्पना हो जाती है। स्वाज्ञानतो - यद्यपि ज्ञानस्वरूप आत्मा में "नास्ति न भाति" आत्मा नहीं है, वह भासित नहीं हो रहा है - यह प्रत्यय संभव नहीं हैं तो भी ज्ञान, अद्वयानन्द, से अत्यन्त अभिन्न रूप से परिस्फुरित आत्मा में "आत्मा नहीं है, आत्मा भासित नही हो रहा है" ऐसा प्रत्यय अनुभव के आधार पर ही स्वीकृत किया जाता है। यह प्रत्यय आत्मा के अज्ञान के कारण ही तो है। यहां अज्ञान से आत्मा आवृत्त होने का तात्पर्य अज्ञान में आत्मा लपेट गया जैसे रस्सी लकड़ी को लपेटती है, ऐसा नहीं। किन्तु आत्मा नहीं है, वह भासित नहीं हो रहा है- यही अज्ञान में आत्मा को आवृत्त करने का तात्पर्य है।

एवमल्परूपस्याध्यस्तत्वे साधिते बन्धतदनर्थत्वतत्कारणमुक्तितदर्थत्वतत्कारणात्मकं षट्कं सिद्धमित्याह-

अब अहंकारादिक जो अल्परूप वाले हैं - वह अध्यस्त सिद्ध होने से ६ पदार्थ सिद्ध होते हैं - १) बन्धन, २) उसकी अनर्थता, ३) बन्धन का कारण, ४) मुक्ति, ५) मुक्ति की सार्थकता, ६) मुक्ति की कारणता, ये छह वस्तुयें सिद्ध होती हैं।

अल्पं रूपं बन्धनं प्रत्यगात्मा,
बद्धोऽनेन स्वच्छचैतन्यमूर्तिः।
स्वात्माज्ञानं कारणं बन्धनेऽस्य।
स्वात्मज्ञानात्तन्निवृत्तिश्च मुक्तिः।।५०।।

अन्वय – बन्धनं अल्पंरूपम्, अनेन स्वच्छचैतन्यमूर्तिः पत्यगात्मा बध्दः, अस्य बन्धने कारणं स्वात्माज्ञानं, (तस्मात्) (तस्य अज्ञानस्य) निवृत्तिः स्वात्मज्ञानात् (भवति), (सा) च मुक्तिः ।।

अन्वयार्थ - अल्परूप जगत् ही बन्धन है। इससे ही स्वच्छ चैतन्यमूर्त्ति प्रत्यगात्मा बंधा है। इसके बन्धन में स्वस्वरूप का अज्ञान ही कारण है। स्वस्वरूप ज्ञान से ही उस बन्धन की निवृत्ति है और यही तो मुक्ति है ।

अल्पं रूपमिति। अलं परिच्छिन्नं कर्तृत्वादि रूप्यत इति रूपं यन्नामरूपकर्मात्मकं तदस्य भूम्नो बन्धनमिव बन्धनमित्यर्थः। ननु कुतोऽस्याल्परूपस्यानर्थत्वमित्याह-बद्ध इति। अनेन ह्यल्परूपेण धर्मधर्म्यध्यासात्मकेनात्मा बद्धो निगडितः। स्वच्छोऽप्यस्वच्छ इव विज्ञोऽप्यज्ञान इवानन्दोऽप्यशनायादिविविधदुःखदावदहनप्रदीप्तशिरा इवानिशं बम्भ्रमीति। ननु कूटस्थासङ्गदेकरसः सन् कथमयमीदृशीं दशामापन्न इत्यत्राह - स्वात्माज्ञानमिति। स्वाश्रयविषयाज्ञानमेवास्यात्मनो बन्धकारणं नान्यदित्यर्थः। नन्वीदृशस्य सहजमोहान्धकूपमग्नस्य विवशस्य कुतो बन्धविच्छित्तिः स्यादित्यत्राह - स्वात्मेति। स्वात्मनोऽद्वयानन्दब्रह्माभेदेन यज् ज्ञानं तत एवास्य समूल-बन्धनिवृत्तिरित्यर्थः। तस्या उपादेयत्वमाह - मुक्तिरिति। सा हि मुक्तिरखिलानर्थनिर्मुक्तपूर्णा-नन्दावाप्तिरूपत्वात् परमपुरुषार्थ इत्यर्थः ।।५०।।

अल्परूपमिति= अल्प अर्थात् परिच्छिन्न भाव, रूपं - कर्तृत्वादि भाव जो नाम, रूप, कर्मात्मक रूप से भूमा स्वरूप आत्मा में, बन्धनं - बन्धन के समान आ जाता है। परिच्छिन्न रूपवाले अध्यस्त पदार्थ में अनर्थकारित्व कैसे? बद्ध इति - इस अल्प रूप वाले परिच्छिन्न रूप वाले (धर्म-धर्मि) अनात्मा-आत्मा के अध्यास ने अद्वय अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा,

बध्दो बांध दिया है। स्वच्छ होता हुआ भी अस्वच्छ जैसा, ज्ञान स्वरूप होता हुआ भी अज्ञानवाला, आनन्दस्वरूप होता भी भूख, प्यास, विविध दुःखाग्नि के लपेट से जैसे मानो मस्तक जला हुआ सा रात दिन भ्रमित होकर भटकता है।

प्रश्न— आत्मा तो कूटस्थ, असङ्ग, ज्ञानस्वरुप, एकरस है - उसमें ऐसी विचित्र स्थिति कहां से आई ?

समाधान— स्वात्माज्ञानादिति— अपने ही आश्रय में रहनेवाला तथा अपने आत्मा को ही विषय करनेवाला अज्ञान ही इसका कारण है और कोई कारण नहीं है।

प्रश्न— फिर तो अनादि काल से अन्धकूप में पड़े हुये इस विवश आत्मा की इस भयंकर बन्धन से छुट्टी भी कैसी होगी ?

समाधान— स्वात्मेति = आत्मा अद्वय, आनन्दस्वरुप ब्रह्म से अभिन्न ही है ऐसे ज्ञान से उस अज्ञान की समूल निवृत्ति हो जाती है।

प्रश्न— उससे फायदा क्या ?

समाधान— मुक्तिः = इससे मुक्ति की प्राप्ति होगी। यह मुक्ति सम्पूर्ण अनर्थों से छूटकारा देकर पूर्ण आनन्द प्रदान कराती है। यही तो परम पुरुषार्थ भी है।

नन्वनादिभावरूपस्याज्ञानस्य ब्रह्मवदेव निवृत्त्यसम्भवात्कुतस्तन्निवृत्तिरूपा मुक्तिः फलमित्याशङ्क्य तस्य मिथ्यात्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं साधयति -

प्रश्न— अज्ञान अनादिभावरूप होने से उसकी निवृत्ति सम्भव न होने से तदधीन मुक्ति भी प्राप्त नहीं हो सकती -

अज्ञानमप्यविदुषोऽस्य न तु स्वतोऽस्ति
चैतन्यनिर्विकृतिताद्वयताविरोधात्।।
अज्ञातताऽप्यनवबोधनिबन्धनैव
नात्माश्रयत्वमपि चोदयितव्यमत्र।।५१।।

अन्वय – अस्य अविदुषो अज्ञानमपि चैतन्यनिर्विकृतिताद्वयता विरोधात् न तु—स्वतोऽस्ति। अज्ञानतापि अनवबोधनिबन्धनैव, (अतः) आत्माश्रयत्वमपि न चोदयितव्यमत्र।।

अन्वयार्थ - इस अविद्वान् का अधिष्ठान का अज्ञान भी आत्मा की चैतन्य रूपता निर्विकारता, अद्वयता का विरोध होने के कारण स्वतः नहीं है। अज्ञानता भी अज्ञाननिमित्तक ही है। यहां आत्माश्रय

दोष नहीं लगाना चाहिये।

अज्ञानमपीति। तथाहि, अज्ञस्य स्वात्मनि अज्ञानान्वयः किं स्वाभाविकः कल्पितो वा, नाद्य इत्याह - न त्विति। कुत इत्यत्राह - चैतन्येति। स्वभावत आत्मन्यज्ञानमस्ति चेद्वस्तुभूतं स्यात्, न च स्वप्रकाशचिदात्मके वस्तुतोऽज्ञानं वर्तितुमर्हति। प्रकाशतमसोर्विरोधात्। तथाऽज्ञानमात्मधर्मश्चेत्स्वयं विनश्यदात्मानं विकुर्यात्। "उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्" इति न्यायात्। तथाऽज्ञानस्य वस्तुत्वे द्वैतापत्तिरिति चित्त्वनिर्विकारत्वाद्वयत्वश्रुतिविरोध इत्यर्थः। द्वितीयमङ्गीकरोति- अज्ञाततापीति। अपिस्त्वर्थः। तथात्वे हि मध्यन्दिनालोकमण्डले कौशिकादिकल्पितान्धकारवदविरोधः स्यादिति भावः। नन्वेवमज्ञानेनैवाज्ञानकल्पनायामात्माश्रयत्वमिति नेत्याह - नात्मेति। अनादि ह्यज्ञानमज्ञानतन्त्रमज्ञातत्वमप्यनादीति क्वात्माश्रय इति भावः। यद्वा अत्रानिर्वचनीयवादे नानुपपत्तिर्दूषणमिति भावः।

केचित्तु सत्कार्यासत्कार्यवादिनोरभिव्यक्तावुत्पत्तौ च नात्माश्रयश्चेत्किमु मायावादिन इत्यर्थमाहुः।।५१।।

अज्ञानमिति - अविदुषो - अज्ञानी के आत्मा में, अज्ञानमपि - अज्ञान का अन्वय= क्या स्वाभाविक है या कल्पित है ? स्वाभाविक नहीं है "न त्विति = स्वाभाविक अज्ञान का अन्वय अज आत्मा में नहीं हो सकता क्योंकि चैतन्यमूर्ति = यदि स्वाभाविक आत्मा में अज्ञान माना जाए तो वह अज्ञान वस्तुभूत हो जायेगा और चैतन्यमूर्ति स्व=प्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा में वास्तविक (वस्तुभूत) अज्ञान नहीं रह सकता। प्रकाश और अन्धकार दोनों का आपस में विरोध है। यदि अज्ञान को आत्मा का धर्म माना जाय तो अज्ञान खुद नष्ट होता हुआ आत्मा को भी बिगाड़ देगा। "उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्" आने जाने वाला धर्म अपने धर्मि को भी विकृत कर देता है। इसी प्रकार अज्ञान को वस्तुभूत मानने से द्वैतापत्ति आ जायेगी। ब्रह्म की निर्विकारता तथा अद्वयता परक श्रुति का व्याकोप हो जायेगा।

यदि आत्मा में अज्ञान का काल्पनिक अन्वय माने तो ? अज्ञाततापीति - आत्मा में जो अज्ञातता है व अज्ञान के कारण ही है जैसे - मध्यन्दिन में (दोपहर में) सूर्य माथे पर आया हुआ है- तथापि उल्लू (उल्लूक) कल्पित अन्धःकार की कल्पना कर लेता है। उससे सूर्य में किसी प्रकार के दोष की प्राप्ति नहीं होती वैसे यहां भी आत्मा में किसी प्रकार के दोष की प्राप्ति नहीं है।

प्रश्न— अज्ञान ने ही अज्ञानता की कल्पना की, फिर तो आत्माश्रय दोष हो गया।

समाधान— नात्मेति - अनादि अज्ञान अज्ञान के आधीन है - जिस अज्ञान के अधीन अज्ञानता है वह अज्ञान अनादि है। अतः आत्माश्रय दोष नहीं है। अथवा हम वेदान्ती तो अनिर्वचनीयवादी होने के कारण अनुपपत्ति दूषण नहीं है।

केचित्तु- कहते हैं कि आत्माश्रय दोष सत्कार्यवादी सांख्य तथा असत्कार्य वादी नैय्यायिक के मत में अभिव्यक्ति उत्पत्ति को लेकर आत्माश्रय दोष है। लेकिन मायावादी के लिये यह कोई दोष नहीं है।

अज्ञानादेवाज्ञानकल्पने प्रमाणमाह--

अज्ञान ही अज्ञान की कल्पना करने में समर्थ है। इसका प्रमाण देते हैं—

द्वारं तमोऽन्वयमपेक्ष्य दृशा हि दृश्यं
सङ्गच्छते सकलमत्र न नो विवादः ।।
मोहोऽपि दृश्यवपुरत्र च संवदध्वे
तस्मात्तदन्वयनिमित्तमपीह मोहः ।।५२।।

अन्वय – सकलं दृश्यं तमोऽन्वयम् आपेक्ष्य हि दृशा– संगच्छते अत्र न नो विवादः, मोहोऽपि दृश्यवपुः अत्र संवदध्वे, तस्मात् इह मोहोऽपि तदन्वयनिमित्तम्।।

अन्वयार्थ = समस्त दृश्य का आत्मा में अज्ञान सम्बन्ध के कारण ही दृगात्मा से सम्बन्ध होता है, इसमें हमें कोई विवाद नहीं है, मोह को भी दृश्य स्वरूप मानते हैं, इसलिये आत्मा में अज्ञान भी अज्ञान सम्बन्ध निमित्तक सिद्ध होता है।

द्वारमिति। आत्मन्यज्ञानसम्बन्धोऽज्ञानकृतो दृग्दृश्यसम्बन्धत्वाद् घटज्ञानसम्बन्धवत्। प्रसाध्याङ्गकत्वादव्याप्तिसूचनार्थो हि शब्दः।

यस्मादसङ्गया दृशा सकलमेव दृश्यं घटादि सम्बध्यमानमज्ञानसम्बन्धं द्वारीकृत्याध्यासिकेन तादात्म्येनैव सम्बध्यते, अन्यस्य संयोगसमवायादेरशक्यनिरूपणत्वादिति। वक्ष्यति "न सङ्करो नापि च संयुतिस्तयोः" इत्यादि। "आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते" इति च वार्त्तिकम्। तस्मान्नात्र व्याप्तौ विवदितव्यमित्यर्थः। हेत्वसिद्धिमुद्धरति- मोहोऽपीति। "अहमज्ञ" इत्यनुभवादित्यर्थः। अत्र चेति। व्याप्तौ विवादो, न तु हेतोः पक्षधर्मत्वे इत्यर्थः। ततश्चात्रापि मोहनिमित्त्वमिति निगमयति - तस्मादिति ।।५२।।

द्वारमिति- पक्ष- आत्मनि अज्ञानसम्बन्धः, साध्य, अज्ञानकृत है; हेतु- दृग्दृश्य सम्बन्धत्वाद्, उदाहरण- घटज्ञान सम्बन्धवत् । हि- शब्द व्याप्ति का सूचक है-

तात्पर्य- असङ्ग आत्मा के साथ सम्पूर्ण दृश्य जो घटादि पदार्थ सम्बन्ध्यमान है - वह अज्ञान सम्बन्ध को द्वार बनाकर - अध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध से ही (सम्बन्धित है) सम्बद्ध है। क्योंकि इन दृश्य पदार्थों का आत्मा जो दृशास्वरूप है उसके साथ इनका सम्बन्ध इस काल्पनिक तादात्म्य सम्बन्ध के अतिरिक्त संयोग, समवायादि सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं हो सकता। "आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते" ऐसा वार्तिक भी है।

इसलिये व्याप्ति में न उलझे- व्याप्ति यह कि "अज्ञानकृतत्व व्याप्यदृग्दृश्य सम्बन्धः"- हेतु असिद्धि का उदाहरण देते हैं- मोहोऽपीति= पक्ष= आत्मा, साध्य मोहवान्, हेतु- मोहनिमित्तात्।। "मैं अज्ञ हूं" "अहमज्ञः" ऐसा अनुभव होने से आत्मा में मोहनिमित्त मोह की सिद्धि हो जाती है। तो व्याप्ति में विवाद हो सकता है "मोह व्याप्य मोहनिमित्त" इत्यादि, लेकिन हेतु के अन्दर पक्षधर्मता का कोई विवाद नहीं है। अब निगमन करते हैं- तस्मात् तथा यह निगमन है- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन= अत्र चेति- तस्मादिति= इसलिये आत्मा मोहवान् है, यह सिद्ध हुआ। अर्थात् आत्मा अज्ञानवान् है, अज्ञाननिमित्त होने से यह बात सिद्ध हुई।

ननु कथं प्रपञ्चकल्पनोपक्षीणस्याज्ञानस्य स्वकल्पकत्वमपीत्याशङ्क्य स्वपरनिर्वाहकस्वभावत्वादित्याह-

प्रश्न— प्रपञ्च कल्पना करने में तत्पर अज्ञान अपनी भी कल्पना कैसी कर सकेगा?

समाधान— अज्ञान अपना और दूसरे का निर्वाह स्वभाव से ही करता है—

संविद्धुरं वहति तद्विषयोपयुक्तां
स्वात्मन्यपि स्वरसतः स्वकरूपसिद्धेः।।
कार्यप्रपञ्चपरिकल्पनमात्ममोहात्
मोहप्रकल्पनमपीति तथोपपन्नम् ।।५३।।

अन्वय= संविद् तद्विषयोपयुक्तां धुरं वहति स्वात्मन्यपि स्वकरूपसिद्धेः स्वरसतः। तथा आत्ममोहात् कार्यप्रपञ्चपरिकल्पनम, मोहप्रकल्पमपीति उपपन्नम्।।

अन्वयार्थ= जिस प्रकार ज्ञान अपने विषय का प्रकाशन करता हुवा दायित्व निभाता है, और वह वृत्तिज्ञान् अपना भी प्रकाशन करता है, क्योंकि वृत्ति ज्ञान तो स्वभाव से स्वप्रकाश स्वरूप है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से कार्य प्रपञ्च की तथा अपनी स्वयं अज्ञान की कल्पना सर्वथा उचित है।।

संविदिति। यथा हि प्रमाणफलभूता संवित्स्वविषयघटादिसिद्धौ स्वसिद्धौ चोपयुक्तां

धुरं तद्विषयाज्ञानसंशयादिनिवृत्तिभावं वहति उभयमपि साधयतीत्यर्थः। एवमज्ञानादेव प्रपञ्चकल्पनमज्ञानकल्पनं चोपपन्नमित्यर्थः। ननु संवित्संविदन्तरवेद्यैव स्वस्य स्वविषयत्वासम्भवादित्याशङ्क्याह- स्वरसत इति। संविदन्तरवेद्यत्वेऽनवस्थानात्स्वसत्तायां संशयादिराहित्यात्स्वव्यवहारे परानपेक्षैव संविदित्याद्युक्तप्रायम् ।।५३।।

संविदिति- जिस प्रकार अन्तःकरण की वृत्ति जो कि प्रमाण की फलभूता है। वह उस वृत्ति का (ज्ञान का) विषय घटादि है- उनकी सिद्धि के साथ साथ अपनी भी सिद्धि करती है।

तद्विषयोपयुक्तां धुरं- घटादि विषय अज्ञान, संशयादिक की निवृत्ति रूप सिद्ध करती है। अर्थात् वृत्ति विषय की तथा अपनी दोनों की ही सिध्दि करती है, इसी प्रकार से अज्ञान भी प्रपञ्च की तथा अपनी दोनों के कल्यना की सिध्दि करता हैं।

प्रश्न— वृत्ति को जानने के लिये अन्य वृत्ति होनी चाहिए - (संविद् जानने के लिये अन्य संविद् की जरूरत है)

समाधान— नहीं। स्वरसतः- संविद् को जानने के लिए अन्य संविद्, उसे भी जानने के लिए अन्य संविद्- अनवस्था दोष हो जायेगा। इसलिये अन्तःकरण वृत्ति के अपने सिद्धि के लिये या संविद् को अपने सिद्धि के लिये दूसरे संविद् या अन्य अन्तःकरण वृत्ति की जरूरत नहीं है। वैसे यहां भी अज्ञान को सिद्ध करने के लिए अन्य अज्ञान, की जरूरत नहीं है।

प्रश्न— संविद् या अन्तःकरण वृत्ति को जानने के लिये अन्य संविद् की क्यों आवश्यकता नहीं ?

समाधान— संविद् के या अन्तःकरण वृत्ति के अपने व्यवहार में कोई संशय या आवरण न होने से दूसरे संविद् अथवा वृत्यन्तर की आवश्यकता नहीं है।

संवित्स्वप्रकाशत्वे विप्रतिपन्नं प्रति निदर्शनान्तरमाह-

संविद् (ज्ञान) स्वप्रकाश रूप नहीं है - ऐसे मानने वालों को दृष्टान्त से समझा रहे हैं-

आत्मा प्रसाधयति वेद्यपदार्थजातं
स्वात्मानमप्यवगतिक्षमशक्तियोगात्।।
स्वाज्ञानमेवमिदमात्मपरप्रक्लृप्तौ

शक्तं भवेदिति न किंचन दौस्थ्यमस्ति।।५४।।

अन्वय– आत्मा वेद्यपदार्थजातं अवगतिक्षमशक्तियोगात् स्वात्मानमपि साधयति एवं इदं स्वाज्ञानं आत्मपरक्लृप्तौ शक्तं भवेदिति न दौस्थ्यं किंचन अस्ति।

अन्वयार्थः= जैसे आत्मा स्वपर व्यवहार के अनुकूल शक्ति योग से सम्पूर्ण वेद पदार्थ के एवं अपना साधक होता है, वैसे ही यह अज्ञान ही अपनी तथा दूसरे की प्रकल्पना में समर्थ होता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

आत्मेति। यथा वेद्यं घटादिकं स्वं चावगतिसमर्थज्ञानाख्यगुणयोगात्साधयति, आत्मकार्यव्यवहारसहकारित्वात् ज्ञानं शक्तिरित्युक्तम्। एवमज्ञानमपि शक्तिवशात्स्वपरकल्पकं स्यादित्यर्थः ।।५४।।

आत्मा - जैसे आत्मविज्ञान वेद्यं - घटादिक पदार्थ को, स्वयं अर्थात् अपने को, अवगतिक्षमशक्तियोगात्— अपने आपके प्रकाशन सामर्थ्य से अथवा घटादि पदार्थ के आवरण भङ्ग के कारण ज्ञान गुण से अपने को तथा घटादि पदार्थ को सिद्ध करता है। इसमें सहकारी कारण है, आत्मा तथा घटादि पदार्थ के व्यवहार का सहकारी ज्ञान शक्ति। एवं—इसी प्रकार से, स्वाज्ञानं=आत्मविषयक अज्ञान भी शक्ति के बल से अपनी तथा प्रपञ्च की कल्पना करने में सक्षम है।

नन्वात्मनो ज्ञानाख्यशक्तिमत्त्वादस्तु स्वपरसाधकत्वम्, अज्ञानस्य तु परशक्तिभूतस्य शक्त्यन्तराभावादज्ञानान्तरमेवाज्ञानसाधकमुपेयम् एवञ्चानवस्थेत्याशङ्क्य परदृष्ट्यैव दृष्टान्तान्तरमाह-

प्रश्न— ज्ञान तो आत्मा की शक्ति होने से उसमें स्व पर साधकत्व बेशक हो परन्तु अज्ञान तो दूसरे पर निर्भर रहने वाला होने से उसमें और कोई शक्ति भी नहीं है। अतः अज्ञान की कल्पना करने के लिये अन्य अज्ञानान्तर की कल्पना करनी चाहिये- इसके समाधान के लिये नैय्यायिकों के परिभाषा में दृष्टान्तान्तर से समझाते हैं-

भेदं च भेद्यं च भिनत्ति
भेदो यथैव भेदान्तरमन्तरेण ।।
मोहं च कार्यं च बिभर्त्ति मोह-
-स्तथैव मोहान्तरमन्तरेण ।।५५।।

अन्वय – यथैव भेदं च भेद्यं च भेदान्तरमन्तरेण भेदो भिनत्ति। तथैव मोहञ्च कार्यञ्च मोहान्तरमन्तरेण

मोहः बिभर्ति।

अन्वयार्थ - जैसे भेद अन्यभेद के बिना ही भेद और भेद्य का भेद करता है। वैसे अज्ञान भी अन्य अज्ञान के बिना ही अपना तथा कार्य प्रपञ्चक वहन करता है।

भेदं चेति। यथैव हि भेदोऽन्योऽन्याभावो भेद्यं घटपटद्वयं मिथो भिन्नं बोधयति। आत्मानमपि भेदं घटादेर्भेद्यात्सकाशाद्भिनत्ति न तु स्वप्रतियोगिकं भेदान्तरमपेक्षते अनवस्थानात्। तथा मोहोऽपि मोहान्तरं बिना मोहं तत्कार्यं च कल्पयतीत्यर्थः ।।५५।।

भेदं च= जैसे-भेद उसे कहते हैं जो अन्योन्याभावस्वरूप है। घटो न पटः, पटो न घटः= इसमें अन्योन्याभाव है। और भेद्यं= भेद्य हुये घट पट दोनों। तो यह अन्योन्याभाव रूप भेद घट पट दोनों के भेद को सिद्ध करता है। तो यहां अन्योन्याभावरूपभेद– घट का पट में जो भेद है उस भेद से अलग करता ही है। यह अन्योन्याभावरूप भेद घट को पट से भिन्न भी करता है तथा घट भेद से अपने भेद स्वरूप अन्योन्याभाव को भी घट भेद से भिन्न भी अपने आप ही रखता है। अन्य अन्योन्याभाव को इस अन्योन्याभाव से भिन्न करने के लिये नहीं लाना पड़ता। अन्यथा अनवस्था दोष आ जायेगा। इसी प्रकार से मोह अपना कार्य प्रपञ्च तथा अपनी मोह की स्थिति दोनों ही अकेला मोह ही वहन करता है।

एवं भाष्योक्ते बन्धमिथ्यात्वे साधिते यदि शास्त्रारम्भोपोद्घाते आदावध्यासः, किमिति सूत्रकृतोपेक्षित इत्याशङ्क्य "सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वम्" इति न्यायादसौत्रस्य भाष्यविषयत्वा-योगादर्थगत्या सूचित एवेत्याह -

भाष्यकार शंकराचार्यजी ने बन्धन को मिथ्या मानकर ब्रह्मसूत्र भाष्यारम्भ में उपोद्घात अध्यास भाष्य से ही किया, लगता है सूत्रकार की उपेक्षा ही उन्होंने की। लेकिन ऐसी बात नहीं-"सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वम्" यह सब सूत्र में ही है। जो सूत्र में नहीं वह भाष्य में भी नहीं आ सकता। अब अध्यास भाष्य सूत्र में कैसे है–उसे दिखाते हैं–

ब्रह्मज्ञानं सूत्रयन् सूत्रकारो
बन्धोत्पत्तेर्हेतुविध्वंसनाय ।।
एतत्सर्वं सूचयामास तस्मा-
-देतत्सर्वं भाषते भाष्यकारः ।।५६।।

अन्वय– बन्धोत्पत्तेर्हेतुविध्वंसनाय सूत्रकारो ब्रह्मज्ञानं सूत्रयन्, एतत्सर्वं सूचयामास, तस्मादेतत्सर्वं भाष्यकारः भाषते।।

अन्वयार्थ– बन्धन के हेतुभूत अज्ञान का ध्वंस करने के लिए ब्रह्मज्ञान की सूचना देते हुए सूत्रकार भगवान् व्यासजी सब कुछ अध्यास के बारे में कह चुके हैं। इसलिये अध्यासादि प्रपञ्च का तो भाष्यकार आयार्च शंकर तो उपोद्घात रूप से वर्णन करते हैं।

ब्रह्मज्ञानमिति। "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति मुमुक्षोर्ब्रह्मजिज्ञासोपदेशादधिकारिविशेषणस्य मोक्षस्य बन्धहेत्वज्ञानध्वंसात्मकस्य ब्रह्मज्ञानं साधकमिति सूचयन्। बन्धस्य सत्यत्वे ज्ञाननिवर्त्त्यत्वानुपपत्तेः। एतत्सर्वं पूर्वोक्ताध्याससाधनप्रबन्धं मुनिः सूचयामासेत्यर्थः। तेन नासूत्रितार्थवर्णनं भाष्यकृत इत्याह–तस्मादिति। ननु ज्ञानमध्यस्तस्यैव निवर्त्तकमिति नायं नियमः, पूर्वज्ञानस्योत्तरज्ञानेन, इच्छायाः स्वविषयज्ञानेन, शोकस्य सुहृद्दर्शनेन, पापस्य सेतुदर्शनेन, विषस्य गरुडध्यानेन, प्रवृत्तिप्रागभावस्य प्रवर्त्तकज्ञानेन निवृत्तिदर्शनादिति चेन्न। तत्त्वज्ञानत्वेन निवर्त्तकत्वस्य विवक्षितत्वात्। उत्तरज्ञानादेस्तु विरोधिगुणत्वेन, सिद्धित्वेन, सुहृज्ज्ञानत्वेन, विहितक्रियात्वेन, प्रवृत्तिसामग्रीत्वेन यथायथं निवर्त्तकत्वात्। प्रकृतेऽप्यात्मज्ञानत्वेनैव निवर्त्तकत्वमिति चेन्न। अहमिति ज्ञानादपि बन्धनिवृत्त्यापत्तेः। अहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानमेव निवर्त्तकमिति चेत् तदेव हि तत्त्वज्ञानम्, "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः" इत्यादिश्रुतेः। तत्त्वज्ञानत्वेन निवर्त्तकत्वं च न निवर्त्त्यस्य मिथ्यात्वं विना निर्वहति। तथाहि–न तावद् बुद्ध्यादिप्रपञ्चोपेहितब्रह्मज्ञानं तत्त्वज्ञानं भवति, ब्रह्मणो वस्तुतस्तथात्वाभावात्, किन्तु विशुद्धब्रह्मज्ञानम्, विशुद्धिश्च प्रपञ्चराहित्यम्। न च सत्यप्रपञ्चाश्रये तदानीमेव तद्राहित्यं वर्त्तते। न चावर्त्तमानस्य साक्षात्कारविषयत्वसंभवः, येनासौ भाविनीं निष्प्रपञ्चतामवगाहेत। अस्तु प्रपञ्चोपादानत्वेन ज्ञानमेव तत्त्वज्ञानमिति चेन्न। मृदादेस्तथात्वेन ज्ञानेऽपि घटाद्यनिवृत्तेः, दृष्टविपरीतस्य चाकल्पनात्। तस्मात्प्रपञ्चसत्त्वकालेऽपि ब्रह्मणि निष्प्रपञ्चत्वप्रमा वाच्या, सा च न प्रपञ्चमिथ्यात्वं विनेति। तथापि कथं सप्रपञ्चे प्रपञ्चराहित्यं, तद्वति तदत्यन्ताभावासत्त्वादिति चेन्न। तत्समसत्ताकस्यैव तदत्यन्ताभावस्य तद्वत्यवृत्तेः। व्यावहारिकस्य च प्रपञ्चस्य स्वकालेऽपि ब्रह्मणि पारमार्थिकात्यन्ताभावाविरोधात्। अत एव त्रैकालिकनिषेधस्य परमार्थदृष्टरजताभावविषयत्वमुक्तं विवरणे। शुक्तौ परमार्थत्वेन दृष्टं यन्मिथ्यारजतं तत्प्रतियोगिकाभावात्मकाधिष्ठानविषयत्वं हि तदर्थो न तु लौकिकापणस्थरजताभावविषयत्वम्। लौकिकस्यात्र निषेध्यत्वेऽमिथ्यात्वापत्तेः। नेह नानेति श्रुत्या दृश्यमानप्रपञ्चस्य ब्रह्मणीव शुक्तौ प्रतीयमानरजतस्यैव तत्र त्रैकालिकाभावप्रतीतेश्च। घटस्य तदभावाभावत्ववच्चाधिष्ठानस्य भावस्याप्यध्यस्तनिरूपिताभावत्वं न विरुध्यते।

केचित्तु- रजतस्य परमार्थत्वाकारेण प्रतियोगिमिति यस्त्रैकालिकाभावस्तत्परोऽयं ग्रन्थः। परमार्थत्वस्य व्यधिकरणत्वे च प्रतियोगिनो मिथ्यात्वमपि सिध्यतीति व्याचक्षते। सर्वथाऽप्युपपन्नः

प्रपञ्चकालेऽपि ब्रह्मणि प्रपञ्चाभाव इति संक्षेपः।। ५६।।

बह्मज्ञानं– अथातो ब्रह्म जिज्ञासा "इति- मुमुक्षु को ब्रह्म ज्ञान का उपदेश है उसका अधिकारी- मुमुक्षु- है- स्वरूप मोक्ष की इच्छावान् उसे मुमुक्षु कहते हैं इसमें मोक्ष विशेषण है- मोक्ष का स्वरूप है अज्ञान का ध्वंस, वह होगा ब्रह्म ज्ञान से। यदि बन्धन सत्य होगा तो ज्ञान से निवर्त्य नहीं हो सकेगा। अर्थात् बन्धन कल्पित है- उसकी निवृत्ति ब्रह्म ज्ञान से यह सब बात सूत्रकार व्यास जी महाराज ने सूत्र में बता दी है। तस्मादिति– इसलिये इस अध्यासिक पदार्थ की निवृत्ति करने के लिये अध्यास भाष्य से भाष्यकार ने प्रारम्भ किया।

प्रश्न– ज्ञान अध्यस्त पदार्थ का ही निवर्तक है ऐसा कोई नियम नहीं। क्योंकि पूर्वज्ञान की उत्तर ज्ञान से निवृत्ति होती है, इच्छा की निवृत्ति उस इच्छा के विषय के ज्ञान से होती है, पाप की निवृत्ति रामेश्वर के सेतु के दर्शन से, जहर की निवृत्ति गरूड के ध्यान से, प्रवृत्ति के प्रागभाव की निवृत्ति प्रवर्तक ज्ञान से होती है।

समाधान= ज्ञान का तात्पर्य तत्त्व ज्ञान है, उत्तर ज्ञान से पूर्वज्ञान की निवृत्ति विरोधि गुण के कारण, इच्छा की निवृत्ति इच्छा विषयक ज्ञान से सिद्धि के कारण, शोक की निवृत्ति सुहृज्जन मिलने से, पाप की निवृत्ति विहित क्रिया करने से, जहर की निवृत्ति तद्विरोधी प्रतिबन्धक के ध्यान से, तथा प्रवृत्ति प्रागभाव की निवृत्ति प्रवृत्ति के सामग्री आ जाने से है। लेकिन प्रकृत में तो आत्मज्ञान से ही निवृत्ति चाहिये।

प्रश्न– क्या? मैं हूँ इस ज्ञान से भी बन्ध निवृत्त होगा?

समाधान– नहीं मैं ब्रह्म हूँ इस ज्ञान से ही बन्ध निवृत्त होगा। इसे ही तत्त्वज्ञान कहते हैं। तत्त्व ज्ञान से जिसकी निवृत्ति होती है वह निवर्त्यमान् पदार्थ मिथ्या होगा तभी वह निवर्त्य होगा। अन्यथा नहीं

इसलिये में– बुद्ध्यादि प्रपञ्चोपहित ब्रह्म ज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं माना जाता है। किन्तु प्रपञ्चादि से रहित विशुद्ध ब्रह्म ज्ञान ही तत्त्वज्ञान माना जाता है।

यदि प्रपञ्च को सत्य मान लिया जाय तो उसके अस्तित्वकाल में उसका अभाव नहीं हो सकता। यदि प्रपञ्च को असत्य मान लिया जाय तो वह साक्षात्कार का विषय नहीं बन पायेगा और भविष्य में तत्त्व ज्ञान से निष्प्रपञ्चता की बात भी नहीं आयेगी। क्यों कि जब वह है ही नहीं।

यदि यह कहे कि प्रपञ्चका उपादान कारण ही ज्ञान को मानें– तो मिट्टी घडे का उपादान कारण होने पर मिट्टी के ज्ञान से घडे की निवृत्ति नही होती है। लेकिन

यहां तो तत्त्वज्ञान से प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है। इसलिये प्रपञ्च के अस्तित्वकाल में ही ब्रह्म में निष्प्रपञ्चता तभी सिध्द होगी जब प्रपञ्च को मिथ्या मानेंगे।

प्रश्न— प्रपञ्चकाल में - ब्रह्म में प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव कैसे संभव है?

समाधान— व्यावहारिक प्रपञ्च का पारमार्थिक रूप से ब्रह्म में त्रैकालिक अत्यन्ताभाव विरूद्ध नहीं है। इसलिये शुक्ति में (पारमार्थिक दृष्टि को लेकर) रजत का अर्थात् (व्यावहारिक बाजार के रजत के दृष्टि को लेकर) रजत का शुक्ति में त्रैकालिक अत्यन्ताभाव विषयत्व विवरणकार ने कहा है। शुक्ति में जिस रजत का अभाव है उसके प्रतियोगी का अभाव होने से उसका स्वरूप अधिष्ठानात्मक शुक्त्यात्मक ही है। और जो रजताभाव है वह भी शुक्ति में दिखाई देने वाले रजत का ही है। न कि बाजार वाले रजत का अभाव इस प्रतीति का विषयं है। और मानो कि हम बाजार के रजत का ही यहां अभाव मानें तो इससे बाजार के रजत की मिथ्यता सिद्ध नहीं होगी। "नेह नानास्ति किञ्चन" इस श्रुति से तो दृश्यमान प्रपञ्च का ही पारमार्थिक रूप से निषेध किया गया है। जैसे शुक्ति में प्रतीयमान रजत का ही व्यावहारिक रूप से निषेध किया जाता है।

स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं= मिथ्यात्वम्" जिस अधिकरण में जिसका अत्यन्ताभाव है उसी का प्रतियोगि है उस अधिकरण में होना यही मिथ्यात्व है।

केचितु- व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नो अभाव- जैसे पटत्वेन घटाभावादि इसी प्रकार परमार्थकत्वरूपेण प्रपञ्चाभाव तत्परक यह ग्रन्थ है, ऐसा कहते हैं। प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व व्यधिकरण धर्म होने से उस प्रपञ्च का अपने आप मिथ्यात्व भी सिद्ध होगा ऐसा कहते हैं। लेकिन यह मत ठीक नहीं क्योंकि प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मः न प्रतियोगितावच्छेकः। जो धर्म प्रतियोगि में न रहे वह धर्म प्रतियोगितावच्छेदक नहीं हो सकता। अतः व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न अभाव लेना उचित नहीं है।

अस्तु- सब प्रकार से प्रपञ्च काल में ही ब्रह्म में प्रपञ्च का अभाव सिद्ध हुआ- यही संक्षेप से कहा जायेगा।

अध्यासवर्णकमुपसंहरन्सम्भावितविषयप्रयोजनत्वाच्छास्त्रारम्भं निगमयति-

अध्यास सूत्र के उपसंहार के बाद पूर्वमीमांसा से अगतार्थत्व प्रतिपादक विषय और प्रयोजन भी इस उत्तरमीमांसा शास्त्र के बता रहे हैं—

तस्मादध्यस्तमेतत्सकलमपि दृशौ भूमरूपातिरिक्तं
रूपं स्वाज्ञानमात्रादिति भवति परब्रह्मधीबाध्यमेतत्।।

ईशित्रादिप्रभेदप्रतिहतिफलकज्ञानदौस्थ्यापनुत्यै
श्रीमच्छारीरकार्थप्रकटनपटुताशालि शास्त्रं विदध्मः।।५७।।

अन्वय – तस्मात् भूमातिरिक्तं एतत् सकलं रूपं दृशौ स्वाज्ञानमात्रात् अध्यस्तमिति एतत् परब्रह्म-धीबाध्यं भवति। ईशित्रादिप्रभेदप्रतिहतिफलकज्ञानदौस्थ्यापनुत्यै श्रीमच्छारीरकार्थप्रकटनपटुताशालि शास्त्रं विदध्मः।।

अन्वयार्थ - इस कारण ब्रह्माभिन्न यह समस्त प्रपञ्च चेतन वस्तु में अज्ञानमात्र से अध्यस्त है। अतः यह परब्रह्म के ज्ञान से बाध्य है। जीवेशादि भेद की प्रतिहति (विनाश) जिसका फल है, ऐसे ज्ञान की अस्थिरत्व का निराकरण कराने के लिये इरु शास्त्र का निर्माण करते हैं जो कि शारीरक भाष्य के अर्थो का प्रकट करने में नितान्त सफल है।

तस्मादिति। एतत्प्रत्यक्षं सकलमपि कर्तृत्वभोक्तृत्वादि स्वाज्ञानमात्रादेव दोषाद् दृशौ चिदात्मन्यध्यस्तम् कुत इत्याह-भूमेति। भूमरूपे हि ब्रह्मणि अल्परूपं परत्र परावभासत्वाद-ध्यस्तमेव सम्भवतीत्यर्थः। ततः किमित्यत आह–इतीति। अध्यस्ततासिद्धौ च परब्रह्म-धीबाध्यत्वं सूत्रितं सिद्धं भवतीत्यर्थः। तेन विषयादिसम्भवात् श्रीमच्छारीरकार्थब्रह्मात्मैक्यस्य यत्प्रकटनमपराधापनयनेन स्फुटीकरणं तत्र यत्पटुत्वमुपपत्तिबाहुल्यं तद्युक्तं शास्त्रं समासव्यासाभ्यां चतुर्लक्षणीयसंग्रहाच्छास्त्रकल्पं प्रकरणं कुर्म इत्यर्थः। तन्निर्माणफलमाह–ईशित्रादीति। जीवेशादिभेदाध्यासप्रतिहतिफलकवाक्योत्थज्ञानस्य यद् दौस्थ्यं प्रतिबन्धात्फलपर्यन्तताराहित्यं तन्निराकर्तुमित्यर्थः।।५७।।

तस्मादिति– यह सम्पूर्ण प्रपञ्च कर्तृत्वभोक्तृत्वादि सहित सब का सब आत्मा के अज्ञानरूपी दोष के कारण ज्ञानस्वरूप आत्मा में अध्यस्त है। यह कैसे? तो बताते हैं–

भूमरूपातिरिक्त– भूमारूप परब्रह्म में आत्मरूप जो आत्मा में - आत्मप्रकाश से ही दिखाई देता है, वह अध्यस्त होता है। उसके बाद क्या? तो बताते हैं–

इतीति= कर्तृत्वभोक्तृत्वादि प्रपञ्च की अध्यस्तता सिद्ध होने के बाद परब्रह्म बुद्धि से उसकी बाध्यता सूत्र से ही सिद्ध हो जाती है। इससे जीवब्रह्मैक्यरूप एकता विषय सम्भव हो गया। उसको जीवब्रह्मैक्यरूप विषय को, प्रकटनम्- जीवगत दोषों को हटाकर जीवब्रह्मैक्य को स्पष्ट करना, उसमें जो पटुत्वम्- उपपत्तियों की बहुलता- युक्तियों की बहुलता, उन युक्तियों से युक्त- शास्त्र (वेदान्त शास्त्र) है। वह शास्त्र समास के और व्यास के द्वारा प्रारम्भ में विधिप्रकारण में विधि वर्णन संक्षेप से (समास से) है तो बाद में अखण्डार्थ बोध (व्यास) विस्तृत रूप से कहा है। चार लक्षणयुक्त १) जीवब्रह्मैक्य विषय २) तद्-विरुध्द का परिहार ३) साधन ४) फल युक्त प्रकरणात्मक शास्त्र का निर्माण कर रहे

हैं। जैसे ग्रन्थ के निर्माण से क्या फल होगा तो कहते हैं-

ईशित्रादीति- जीव ईश्वर इनका ब्रह्म के साथ जो अध्यासिक भ्रम है उसके, प्रतिहतिफलक- प्रतिपादक वाक्य से उत्थित ज्ञान, दौस्थ्यम्- वह मोक्षरूप फल तक जाने में प्रतिबन्धक रूप से विद्यमान होने से मोक्षरूप फल की प्राप्ति नहीं होने देता। अपनुत्यै= उस प्रतिबन्धक, वाक्योत्थ ज्ञान को हटाने के लिये ऐसे प्रकरण ग्रन्थ की जरूरत है। यही ऐसे ग्रन्थ का फल है।।५७।।

अगतार्थवर्णकमवतारयिष्यन् - ननु यदि ब्रह्मान्यतः सिध्दं किं तद्विचारेण, अथासिद्धं न शक्यं विचारयितुम्, वेदान्तादापातप्रतिपन्नं विचार्यमिति चेत्, केयमापातप्रतिपत्तिः, न पदजन्या, ब्रह्मपदे व्युत्पत्त्यभावात्। अत एव न तत्समभिव्याहृतवाक्यजन्या। "किंचिद्ब्रह्मास्ति" इति प्रतिपत्तिः सेति चेन्न, तस्या बुभुत्सामात्रहेतुत्वेन विचाराहेतुत्वात्। अतो न ब्रह्म विचार्यम्, न वा बन्धनिवृत्तिस्तत्फलमित्यादावाक्षिप्य समाधत्ते -

पूर्वमीमांसा के द्वारा प्रतिपादित अर्थ- कर्मकाण्ड के द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा कृतार्थ नहीं होती है यह बताने के लिये आगे का प्रसंग प्रारम्भ करते हैं–

प्रश्न- यदि ब्रह्म विचार के बिना ही सिद्ध है तो विचार की जरूरत नहीं है। यदि वह अन्य प्रकार से सिद्ध नहीं है तो तत् सम्बन्धी विचार करना उचित नहीं है यदि कहे–कि वेदान्त से आपात (साधारण) रूप में ज्ञात है तो वहां यह प्रश्न होगा कि आपात ज्ञान क्या है? यदि कहे कि ब्रह्म पद से ब्रह्म का आपात ज्ञान हुआ तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि, ब्रह्मपद में– ब्रह्म के आपात ज्ञान की शक्ति नहीं है। इसी कारण ब्रह्म पद के समभिव्याहृत वाक्य से भी आपात ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कहो कि–ब्रह्म नाम की कोई वस्तु है ऐसा ज्ञान होगा तो भी वह ज्ञान बुभुत्सा का (जानने की इच्छा का) ही हेतु होगा न कि विचार का भी हेतु होगा। इसलिये ब्रह्म का विचार नहीं करना चाहिये और न ही बन्धन के निवृत्ति तथा उस निवृत्ति का फल आदि भी उचित है। जैसे आक्षेप करने पर उत्तर देते हैं–

मीमांसितव्यमनयैव सदद्वितीयं
मीमांस्यमेव च सदात्मतयाऽनयैतत्।।
ज्ञातं प्रयोजनमनेन पथेदमस्या-
-स्तन्नान्तरीयकतया च तमोनिवृत्तिः ।।५८।।

अन्वय– सदद्वितीयं अनयैव मीमांसितव्यम्–तत् सद्। अनया सदात्मतया च मीमांस्यमेव। अनेन

पथा इदमस्याः ज्ञातं प्रयोजनम्, तमो निवृत्तिश्च तन्नान्तरीकतया (भवति)

अन्वयार्थ— सद्‌अद्वितीय ब्रह्म उत्तरमीमांसा से (वेदान्त से ही) विचारणीय है। यह ब्रह्म आत्मरूप से ही इस मीमांसा से मीमांस्य है। इस मार्ग से ज्ञात ब्रह्म ही इस मीमांसा का प्रयोजन होता है। उस ब्रह्मज्ञान के होने पर अज्ञान निवृत्ति सिद्ध हो जाती है।

मीमांसितव्यमिति। न तावदन्यतः सिद्धमेव ब्रह्मेह विचार्यम्, तस्योपनिषदन्यमानागोचरत्वात्, अतोऽद्वितीयं सदविचारितान्महावाक्यात्सम्मुग्धोपस्थितमनयैव मीमांसया मीमांसितव्यम् अखण्डानन्दात्मना ज्ञातव्यम्, ब्रह्मण औपनिषदत्वेन तद्विचारस्यैव तन्निश्चायकत्वौचित्यात्। ब्रह्मपदस्य बृहत्पदार्थानुगमेन सर्वानुवृत्तसत्तास्फुरणात्मनि व्युत्पन्नत्वादात्मशब्दस्य च "यच्चाप्नोति यदादत्ते" इति प्रत्यगर्थ एव प्रसिद्धेस्तयोरैक्यस्य विचार्यत्वसम्भवात्तद्दर्शयति - मीमांस्यमेवेति। सत आत्मत्वेनाज्ञानादनया मीमांसया तदेवात्माभेदेन मीमांस्यं नान्यन्नियोगादीत्यर्थः। नन्वस्तु ब्रह्मात्मैक्यं विचार्यत्वाद्विषयः फलासिध्दिस्तु तदवस्थैवेत्याशङ्क्याह - ज्ञातमिति। अनेन प्रागुक्तेन पथाऽस्या मीमांसाया इदमेव प्रत्यगभिन्नमद्वयानन्दं ब्रह्म ज्ञातं सत्प्रयोजनं भवतीत्यर्थः। नन्वेवं बन्धनिवृत्तिर्न फलं स्यात्ततः प्रागुक्तविरोध इत्यत आह - तन्नान्तरीयेति। ब्रह्मात्मबोधे सति तमोनिवृत्तेरर्थसिद्धत्वेन पृथग्व्यापारानपेक्षत्वात्तुलोन्नमनवन्न सापि पृथगुद्देश्यतया फलमित्यर्थः।

ननु तमोनिवृत्तेरधिष्ठानमात्रत्वेन आत्माभिन्नायाः प्रागपि सत्त्वात्कथं ज्ञानसाध्यत्वमिति चेन्न। यस्मिन्सत्यग्रिमक्षणे यत्सत्त्वं यदभावे चाभावस्तस्यैव तत्साध्यत्वात्। अस्ति च ज्ञाने सत्यग्रिमक्षणेऽज्ञाननिवृत्तिरूपात्मसत्त्वं तदभावे चाज्ञाननिवृत्त्यभावोऽज्ञानम्। आत्मनोऽज्ञानाभावत्वेऽज्ञानस्यापि तदभावरूपत्वादिति। अस्तु तमोऽत्यन्ताभावस्तमोनिवृत्तिः तस्यानादित्वेन ब्रह्माभेदयोग्यत्वात्, न तमोध्वंसः, तस्य प्रतियोग्यसमानकालत्वादिति चेन्न। प्रतियोगिसमसत्ताकस्यैव तस्य तदसमानकालत्वमित्युक्तत्वादिति दिक्।

अथवा - ननु कथं निरतिशयं सुखमेव पुरूषार्थः, अविद्यानिवृत्तेरपि तथात्वादित्याशङ्क्या- द्वैतानन्दब्रह्मावाप्त्यर्थं ब्रह्मणि प्रतिपाद्यमाने तदविद्यानिवृत्तिस्ततोऽनुद्देश्याऽपि ज्ञान- सामर्थ्याद्भवतीति न तत्परमप्रयोजनमिति भावेनाह-तन्नान्तरीयकतयेति। नन्वद्वितीयं सद्ब्रह्मा- विचारितान्महावाक्यादापातप्रतिपन्नमनयैव मीमांसितव्यमखण्डानन्दात्मना ज्ञातव्यमित्ययुक्तम्, जैमिन्यादीनां कृत्स्नस्य वेदस्य किं केन कथमित्यंशत्रयविशिष्टार्थभावनाख्यपुम्प्रवृत्ति- रूपक्रियापरत्वावगमेनाक्रियार्थानां धर्मप्रमितिजननरूपप्रयोजनशून्यत्वेन लौकिकवाक्यत्वमाशङ्क्य शिष्टैरध्ययनविधिपरिगृहीतत्वेन विधिनैकवाक्यत्वेन

सिद्धार्थानामपि प्रयोजनवत्त्वेन लक्षणयापि क्रियाऽपेक्षितस्तुत्यादिबोधित्वेन प्रामाण्यवद्वेदान्तानामपि विध्यपेक्षितकर्तृस्तावकत्वेन ज्ञानविधिशेषत्वेन वा आत्मब्रह्मप्रतिपादकत्वेन विचार्य्यत्वस्याभिप्रेतत्वादिति चेन्न।

जैमिन्यादेरक्रियार्थानां क्रियाप्रतिपादकत्वेन प्रामाण्यवर्णनं कर्मकाण्डप्रकरणस्थसिद्ध-बोधिवाक्याभिप्रायेण, न भिन्नप्रकरणस्थवेदान्ताभिप्रायेण, तेषामकर्त्रात्मबोधकत्वेन कर्मापेक्षित-कर्तृस्तावकत्वासम्भवात् कर्त्रतन्त्रे ज्ञाने विध्यसम्भवेन तच्छेषतया ब्रह्मप्रतिपादकत्वा-सम्भवाच्च।।५८।।

मीमांसितव्यमिति - विचार से अतिरिक्त ब्रह्म की सिद्धि नहीं है। वह तो केवल उपनिषद् प्रमाण का ही विषय है। उसमें अन्य प्रमाण का विषय है नहीं। इसलिये आपात ब्रह्म ज्ञान तो है (सम्मुग्ध अस्ति किञ्चित् उपस्थिति है) तथापि महावाक्य के द्वारा सदद्वितीय का विचार नहीं हुआ है - अब महावाक्य के विचार द्वारा वही ब्रह्म अखण्डानन्द स्वरूप से ज्ञातव्य है ही। ब्रह्म उपनिषद् का विषय है - इसलिये उपनिषद् के विचार से ही इस अखण्डानन्द ब्रह्म का निश्चय हो पायेगा। ब्रह्मपद को बृहत् पदार्थ वाचकत्व है, एवं आत्मपद को सभी पदार्थो में अनुस्यूत सत्तास्फूर्तिस्वरूप अर्थ में वाचकत्व है। "यच्चाप्नोति यच्चादत्ते" यही प्रत्यगर्थ (आत्मार्थ है) अब इन दोनों की एकता तो विचार्य है यह बता रहे हैं - मीमांस्यमेवेति - अनया (उत्तरमीमांसा) महावाक्य विचार से, सदात्मतया - अज्ञान से रहित आत्मत्वेन आत्मा को ब्रह्ममित्वरूप से मीमांस्यम् अभेद रूप से विचार करने योग्य है। अन्य किसी नियोग द्वारा या साधन द्वारा नहीं।

प्रश्न— जीव ब्रह्म की एकतारूप विषय विचारणीय है यह बात तो ठीक है लेकिन प्रयोजन (फल की) सिद्धि नहीं बनी।

समाधान— ज्ञातमिति - पथा इति = महावाक्य के विचार द्वारा आत्मा ब्रह्म की एकता ज्ञान वही प्रयोजन हो जाता है। अर्थात् इससे मिथ्या बन्धन की निवृत्ति रूप प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न— यदि बन्ध निवृत्तिरूप ही फल मानेंगे तो पहिला जो कहा कि विचार का प्रयोजन जीव ब्रह्म की एकता ज्ञान है उसका विरोध होगा।

समाधान— तन्नान्तरीयेति - ब्रह्मात्म एकता बोध होने पर अज्ञान की निवृत्ति अपने आप ही हो जाती है। उस अज्ञान के निवृत्ति के लिये अन्य स्वतन्त्र किसी व्यापार की या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। जैसे भूसी के द्वारा चावल तौलने पर मुख्य उद्देश्य चावल को तौलना है न कि चावल को बेचने वाले व्यक्ति का मालकाना हक छुड़वाना

है। वह तो अपने आप ही चावल को तौलने के साथ छूट जाता है। वैसा यहां भी है। ब्रह्मात्मैक्य बोध सिद्ध होने पर अज्ञान निवृत्ति अपने आप सिद्ध हो जाती है।

ननु प्रश्न—अज्ञान निवृत्ति तो अधिष्ठान स्वरूप ही होने से अज्ञान निवृत्ति आत्मा से अभिन्न हो गई। और वह अज्ञान निवृत्ति रूप आत्मा तो पहिले ही विद्यमान होने से उसमें अज्ञान निवृत्ति में ज्ञान साध्यता कैसी आयेगी ?

समाधान— ज्ञान के उत्पन्न होने पर अग्रिम क्षण में अज्ञान निवृत्ति रहती है और ज्ञान के अभाव में अज्ञान निवृत्ति का अभाव रहता है। इसलिये अज्ञान निवृत्ति और ज्ञान दोनों में निवर्तक निवर्त्यभाव सम्बन्ध निश्चित है। इसलिये यह कार्य कारण भाव ऐसा कहे कि - यस्मिन् सति अग्रिमक्षणे यत्सत्वं यदभावे च यदभावः तस्यैव तत्साध्यत्वात्। यस्मिन् पद से ज्ञान, यत् पद से अज्ञान निवृत्ति लेना आत्मा यदि अज्ञानाभावरूप है तो अज्ञान भी आत्माभावरूप है। (या ज्ञानाभावरूप है) नैय्यायिक तम को अनादि तथा अभावरूप मानते हैं अतः अज्ञान तथा तम (अन्धःकार) को एक जैसा मानकर प्रश्न करते हैं

आशंका अस्तु= तम का अत्यन्ताभाव ही तम की निवृत्ति है। वह तम का अत्यन्ताभाव (अज्ञानात्यन्ताभाव) अधिकरण ब्रह्मस्वरूप होने के कारण, अनादि होगा। (क्योंकि ब्रह्म अनादि है)। तो फिर वह अज्ञान (तम) मिथ्या कैसे होगा ? तम की निवृत्ति (अज्ञान की निवृत्ति) तम का (अज्ञान का) ध्वंस भी नहीं है। क्योंकि तम की (अज्ञान की या रजतादि की) निवृत्ति प्रतियोगि के समान काल में नहीं रहती है।

समाधान— प्रतियोगि की जो व्यावहारिकादि सत्ता है, उसी सत्ता से उसी अधिकरण में उस प्रतियोगि का अभाव (निवृत्ति) होना यही है उस निवृत्ति का अपने प्रतियोगि के साथ असमान कालत्व है। लेकिन यह नहीं कि प्रतियोगि तथा उसका अभाव एक अधिकरण में नहीं रहे। यह बात पूर्व के श्लोकों में मधुसूदनी में कही है। "शुक्तौ परमार्थत्वेन दृष्टम्" अर्थात् स्वसमानाधिकरणत्यान्ताभावप्रतियोगित्वम् हि मिथ्यात्वम्" यह मिथ्यात्व का लक्षण अज्ञान तथा प्रपञ्चादिक में सुसम्पन्न है।

अथवा= ननु= निरतिशयसुख कैसे पुरुषार्थ होगा? क्योंकि अविद्यानिवृत्ति भी तो पुरुषार्थ है।

समाधान - अद्वैत आनन्दरूप ब्रह्मप्राप्ति के लिये ब्रह्म का प्रतिपादन करने के साथ, ब्रह्म विषयक अविद्यानिवृत्ति तो उद्देश्य न होने पर भी ब्रह्मज्ञान के सामर्थ्य से अपने आप हो जाती है, अतः अविद्या निवृत्ति परम् प्रयोजन नहीं है। इस भाव से कहा कि "तन्नान्तरीकतयेति" अर्थात् अविद्या निवृत्ति आन्तरिक (मुख्य) नहीं है। वह अपने आप सिद्ध

हो जाती है।

आशंका - महावाक्य के द्वारा सद्ब्रह्म का विचार नहीं किया है, तो भी महावाक्य से जैसे वैसे (आपात) ब्रह्म प्राप्त हुआ है, उसका इसी प्रक्रिया से अन्वेषण करके अखण्डानन्दस्वरूप से ज्ञान करना चाहिये ऐसा कहा है। जैमिनि आदि ने सम्पूर्ण वेद का १) क्या, २) किस प्रकार से तथा ३) कैसे इन तीन अंशों की विशिष्ट भावना को लेकर मनुष्य की प्रवृत्ति रूप क्रियापरत्व का ग्रहण करके, और जिनमें क्रिया नहीं है ऐसे मन्त्र जो धर्म प्रमिति के जनक रूप नहीं होने पर प्रयोजन शून्य है, उनको लौकिक वाक्य के समान आंका गया है, पूर्वपक्षी ही समाधान दे रहा है।

समाधान— शिष्यों ने "स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः" "अध्ययन विधि से परिगृहित विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता को स्थापित करके सिद्धार्थपरक मन्त्रों को भी प्रयोजक माना है, तथा लक्षणा के द्वारा क्रिया की अपेक्षित स्तुति आदि इन सिद्धार्थ मन्त्रों से होती है, तो कर्म प्रधान मन्त्रों के समान वेदान्त वाक्यों को आत्मा, ब्रह्म इनका प्रतिपादन करके ये वेदान्त वाक्य भी विचार के लिये अभिप्रेत हैं।

जैमिनि जी ने अक्रियार्थपरक मन्त्रों को किया प्रतिपादनपरक मानकर जो प्रामाण्य वर्णित किया है, वह कर्म काण्ड के अन्तर्गत ही सिद्ध बोधक मन्त्रों के वाक्य के अभिप्राय से हैं, न कि भिन्न प्रकरण वाले वेदान्त के अभिप्राय से, क्योंकि वेदान्त वाक्य तो अकर्ता के बोधक हैं, अतः उनमें कर्म की अपेक्षा करके उनमें कर्ता का स्तावकत्व नहीं आ सकता। कर्तृ तन्त्र ज्ञान में विधि सम्भव नहीं होने से उस विधि के शेषभूत होकर ब्रह्म का प्रतिपादन वेदांन्त वाक्य नहीं कर सकते।

अथवा - तन्नान्तरीयकतयेति = आशंका= निरतिशय ब्रह्म सुख ही परम प्रयोजन नहीं हो सकता क्योंकि उसके साथ अविद्या की निवृत्ति भी जरूरी है।

समाधान— तन्नातरीयकतयेति - ज्ञान से ब्रह्म प्राप्ति के साथ अविद्या की निवृत्ति अपने आप हो जाती है। जैसे सूर्योदय के साथ अन्धःकार की निवृत्ति अपने आप हो जाती है।।५८।।

ननु जैमिन्यादेरित्थमाशयवर्णनमयुक्तम्, तेन सर्ववेदार्थविचारस्य कृतत्वात्। अन्यथा धर्मजिज्ञासासूत्रस्थाथातःशब्दविरोधात्। अथशब्देन हि कृत्स्नशाखाध्ययनानन्तर्यं स्वविचारस्य दर्शयति। वेदान्तानामविचार्यत्वे च तदध्ययनानन्तर्यस्य स्वविचारे किं प्रयोजनम्। एवमतःशब्देन कृत्स्नवेदस्य स्वार्थे प्रामाण्यं दर्शयति। तदप्येवंसत्यनुपपन्नं स्यात्ततो वेदान्तानां जैमिन्यादिभिरेव विचारितत्वाद्बादरायणादिभिस्तन्न विचारणीयमिति तत्राह—

प्रश्न– "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र तथा ब्रह्मविषयक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जैमिनिजी ने सम्पूर्ण वेदार्थ का विचार तो किया ही है। अन्यथा जैमिनि ने प्रथम सूत्र में अथ, अतः दो शब्दों के नियुक्ति के बाद धर्म जिज्ञासा कहा है- "अथातो धर्म= जिज्ञासा" इसमें अथ शब्द का अर्थ है सम्पूर्ण वेद शास्त्र का अध्ययन, अतः का अर्थ हुआ अनन्तर= धर्म विचार को बताते हैं। तो इन दोनां शब्दों की विरोधिता सिद्ध होगी। क्योंकि सम्पूर्ण वेद शास्त्रान्तर्गत वेदान्त शास्त्र भी तो आ ही गया है। मानो कि वेदान्त ने अपना विचार नहीं किया तो वेदान्त के विचार करने से भी सम्पूर्ण वेद शास्त्रा- ध्ययनान्तर विचार का प्रयोजन भी वेदान्त के लिये क्या बचा? इसलिए वेदान्त शास्त्र तो जैमिनिजी से ही विचारित हुआ, बादरायण व्यासजी महाराज को उसके लिये स्वतन्त्र विचार करने की जरूरत (आवश्यकता) नहीं है।

न च गतार्थमिदं प्रतिभाति नो
न हि विधेः पदमात्मसमीक्षणम्।।
न खलु यागददातिजुहोतिवत्
पुरुषतन्त्रमिहात्मनिदर्शनम् ।।५६।।

अन्वय – नः इदं गतार्थं न प्रतिभाति, हि आत्मसमीक्षणं विधेः पदं न। इह खलु, यागददाति जुहोतिवत् आत्मनिदर्शनम् पुरषतन्त्रं न (भवति)

अन्वयार्थ- यह आत्मविचार हमें पूर्व मीमांसा से गत्यर्थ प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि आत्मदर्शन विधि का विषय नहीं होता है। आत्मदर्शन यागदानादि कियाओं के समान पुरूष अधीन नहीं है।

न च गतार्थमिति। गतो विचारपूर्वकं ज्ञातोऽर्थो यस्य वेदान्तविचारशास्त्रस्य तत्। किं वेदान्तगम्यमद्वयं ब्रह्म तच्च जैमिन्यादिभिर्निरूपितमित्युच्यते। किं वा कार्यमेव वेदान्तानामप्यर्थः, तच्च जैमिनिना निरवशेषं निरूपितमितीदं शास्त्रं गतार्थमिति। न तावदाद्यः। तत्र तदप्रतीतेः। साध्यरूपधर्मन्यायेन सिद्धब्रह्मणो निर्णयासम्भवात्। धर्मजिज्ञासासूत्रे धर्मस्यैव विचार्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वाच्च। न चाथातःशब्दानुरोधेन धर्मशब्देन वेदार्थमात्रं लक्ष्यतामिति वाच्यम्। अन्यथासिद्धाथातःशब्दानुरोधेन विचार्यमाणतया अनन्यथासिद्धप्रधानाभिधायिधर्म-शब्दस्य लक्षणायोगात्। अध्ययनविधिर्हि कृत्स्नशाखाध्ययनं विधत्ते, न त्वेकदेशाध्ययनमात्र मतोऽध्ययन- विधिप्रयुक्त्या न कर्मकाण्डमात्राध्ययनं सम्भवति। एवं च वेदान्ताध्ययनं यद्यपि न कर्मविचारोपयोगि तथाप्येक-विधिप्रयुक्ततया तस्यावश्यकत्वेन तदध्ययनवत एव कर्मविचार इति तदन्यथासिद्धम्। एवमतःशब्दसूचिताध्ययनदृष्टार्थत्वस्यापि वेदान्ताध्ययने समत्वादेव

तदर्थवत्त्वसिद्धेर्न तद्बलादपि धर्मशब्दे लक्षणेति नाद्वयब्रह्मविचारो गतार्थ इति भावः। नापि द्वितीयः।अग्निहोत्रादिकार्यस्य उपासनाकार्यस्य वा भिन्नप्रकरणस्थत्वाद् ब्रह्मनिष्ठ-वेदान्तेभ्यस्तदप्रतीतेश्च।

नन्वात्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादिना ज्ञानं विधीयत इति कार्यमेव वेदान्तार्थ इति चेत्तत्राह- न हीति। विधेः पदं विषयः विधेयमिति यावत्। यध्दि वाक्यार्थप्रमिति-जन्यचिकीर्षाप्रयत्नाभ्यां निष्पाद्यं तद्विधेयं यथाग्निहोत्रादि, उपासना वा। न चात्मज्ञानं लौकिकं वा तत्तथाऽनिच्छतोऽप्रयतमानस्यापि शब्देन प्रत्यक्षादिना वा तद्दर्शनात्। एतदेव कर्तृतन्त्रं विधेयं, ज्ञानं न तथेत्युच्यत इति ज्ञानं न विधेयमित्याशयेनाह- न खल्विति। देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः, तस्य परस्वत्वापादनव्यापारो दानम्, याग एवासेचनाधिको होमः इति विभागः।।५६।।

न च गतार्थमिदं- विचारपूर्वकं वेदान्त का अर्थ जो ब्रह्म तत्त्व है -वह पूर्व मीमांसा के द्वारा गतार्थ (सिद्ध) नहीं हो सकता। क्योंकि वेदान्त वेद्य अद्वय ब्रह्म का विचार तो जैमिनि नहीं कर सकते। क्योंकि जैमिनि साध्य धर्म की बात करते हैं न कि सिद्ध ब्रह्म की। इसलिये सिध्द ब्रह्म निर्णय पूर्व मीमांसा से नहीं हो सकता। धर्मजिज्ञासा सूत्र में धर्म का ही विचार किया जायेगा न कि सिद्ध ब्रह्म का।

आशंका= अथ और अतः दोनों शब्दों के योग से धर्म शब्द की लक्षणा सम्पूर्ण वेद मात्र पर करें तो ?

समाधान= मुख्य शब्द धर्म है, अथ और अतःदोनों शब्द अन्यथा सिद्ध है। तो जो धर्म शब्द है वह प्रधान है तथा अनन्यथा सिद्ध है उसकी लक्षणा करना वह कौन सी बुद्धिमानी है?

प्रश्न= स्वाध्यायोऽध्येतव्यः- यह अध्ययन विधि सम्पूर्ण वेद शास्त्र का अध्ययन बताती है न कि केवल कर्म काण्ड मात्र का।

समाधान= वेदान्त अध्ययन यद्यपि कर्म काण्ड का उपयोगी नहीं है "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस एक विधि वाक्य मात्र से ही - वेदान्तादि अध्ययन वाला व्यक्ति ही कर्म विचार (धर्म विचार) कर सकता है - इससे वेदान्त विचार शास्त्र, उत्तरमीमांसा की प्रधानता हुई और अथातो धर्म जिज्ञासा" अन्यथा सिद्ध होगी। इसी प्रकार से अतः शब्द से कर्मकाण्ड के साथ साथ वेदान्त का अध्ययन भी जरूरी होने से वेदान्त भी सार्थक हुआ इसलिये अतः शब्द के बल से धर्म शब्द की लक्षणा अद्वय ब्रह्म विचारपरक नहीं की जाती। अतः

अद्वय ब्रह्म विचार जैमिनि से गतार्थ नहीं है।

आशंका= कार्य ही सम्पूर्ण वेद का अर्थ मानेंगे। उसका विचार जैमिनि से होने से वेदान्तार्थ भी गतार्थ हो।

समाधान= अग्निहोत्रादि तथा उपासना दोनों कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड प्रकरण के हैं - वेदान्त तो ज्ञानकाण्डस्थ है, ब्रह्म भी ज्ञानकाण्डस्थ है। दोनों प्रकरण अलग अलग होने से वेद को कार्यपरक नहीं मान सकते।

आशंका= "आत्मावारे द्रष्टव्यः" यह विधिकार्यपरक ही तो है। फिर कैसे वेदान्तार्थ कार्यपरक नहीं है - ऐसे कहते हो।

समाधान= नहीति - विधिपरक जो विषय उसे विधेय (कार्य) कहते हैं। जो वाक्यार्थ प्रमिति से जन्य करने की इच्छा से, तथा प्रयत्न से निष्पन्न होता है वही विधेय होता है। जैसे-"अग्निहोत्रं जुहुयात्" अग्निहोत्र वाक्य से उत्पन्न जो प्रमिति अग्निहोत्र यज्ञ उससे उत्पन्न इच्छा हुई कि मुझे भी अग्निहोत्र करना चाहिये, बाद में प्रयत्न किया उससे अग्निहोत्र यज्ञ में विधेयता आई। उपासना में भी वैसी ही बात है - शालीग्रामं पूजयेत् "शालीग्राम का पूजन करें" लेकिन आत्मज्ञान लौकिक तो है नहीं इसलिये वह साध्य भी नहीं है। अतः न चाहते हुये भी, प्रयत्न न करने पर भी बेवस शब्द मात्र से (ब्रह्म) शब्दमात्र से अथवा प्रत्यक्षमात्र से उसका दर्शन (ज्ञान) हो जाता है। तात्पर्य यह कि विधेय कर्ता के अधीन है कर्तृतन्त्र है, और ब्रह्मज्ञान कर्तृतन्त्र नहीं किन्तु वस्तुतन्त्र है। इसलिये कहा कि "न खल्विति - याग - देवता के उद्‌देश्य से हवन सामग्री के परित्याग को याग कहते हैं। और दान उसे कहते हैं कि अपने धन पर दूसरे के स्वामीत्व का आरोपण करना। होम उसे कहते हैं जिसमें अर्पित की वस्तु अग्नि में दी जाती है। तो "आत्मावारे द्रष्टव्यः" यह विधि वाक्य नहीं है। अतः वेदान्त कार्यपरक नहीं है यह सिद्ध हुवा।

किंच विधेयपदार्थज्ञानं विधिवाक्यार्थप्रतीतेः प्राग् वक्तव्यं, न च परमात्मज्ञाने तत्संभवतीत्याह-

वेदान्त वेद्य ब्रह्म तत्त्व और भी कारणों से विधेय नहीं हो सकता उसे बताते हैं। विधि वाक्यादि के पहिले विधेय पदार्थ का ज्ञान जरूरी होता है - जैसे स्वर्गकामो यजेत्, "यहां स्वर्ग विधि वाक्यार्थ के पहिले विधेय स्वर्ग का ज्ञान पहिले है। उसी प्रकार "आत्मा वारे" इति वाक्यार्थ के पहिले आत्मज्ञान होना चाहिये और वह सम्भव नहीं है - कैसे?

अपि च रूपितगोचरताविधेर्न

परमात्मधियोऽस्ति च रूपणम्।।
अविदिते परमात्मनि तद्धियो
न खलु रूपितता घटनान्विता ।।६०।।

अन्वय – अपि च विधेः रूपितगोचरता, परमात्मधियो रूपणं च नास्ति। अविदिते परमात्मनि, तद्धियो रूपितता घटनान्विता खलु न (भवति)

अन्वयार्थ - और भी बात यह है कि विधि हमेशा ज्ञातार्थविषयक होती है। परमात्मज्ञान का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि परमात्मा के अज्ञात रहने पर परमात्मज्ञान का निरूपण भी नहीं हो सकता।

अपिचेति। रूपितो ज्ञातो गोचरो विषयो यस्य तस्य भावस्तत्ता ज्ञातधात्वर्थगोचरता, वक्तव्येति शेषः। ततः किं तत्राह- न परमात्मेति। रूपणं= ज्ञानं प्रागिति शेषः। तथा च परमात्मज्ञानं कर्तव्यमिति वाक्यार्थधीर्न भवनीति भावः। कुतस्तदनिरूपणमिति चेत्, किमज्ञाते परमात्मनि तज्ज्ञानं ज्ञायते, विदिते वा। नाद्य इत्याह - अविदित इति। घटनान्विता युक्ता। न हि विशेषणीभूतं परमात्मानमज्ञात्वा परमात्मज्ञानमिति ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः।।६०।।

अपि चेति- रूपितो- ज्ञात है, गोचरो- विषय, यस्य तस्य भावस्तत्ता= अर्थात् धात्वर्थ गोचरता- ज्ञात होनी चाहिये। अर्थात् विधि वाक्य से पहिले विधिवाक्य का विषय ज्ञात होना चाहिये। इससे क्या होगा- न परमात्मेति- विधि वाक्यार्थ प्रतीति के पहले परमात्मा का (आत्मा का) ज्ञान संभव नहीं है। तो भी "आत्मा वारे द्रष्टब्यः" इस विधि वाक्य से परमात्मा का ज्ञान करना चाहिये ऐसी वाक्यार्थ बुद्धि नहीं हो सकती। यदि पूछो कि- उस परमात्मा के विधि का अनिरूपण कैसे। तो मैं पूछता हूँ क्या अज्ञात परमात्मा के ज्ञान विषयक वह विधि है कि ज्ञात परमात्म विषयक ? यदि इसमें पहिला विकल्प- अज्ञात परमात्म विषय वह विधि वाक्य संभव नहीं होगा। अविदित इति- विधि वाक्य अविदित परमात्म विषय सार्थक नहीं होगा। "आत्मा वारे द्रष्टव्यः आदि" परमात्मज्ञान इसमें ज्ञान विशेष्य है और परमात्मा उस ज्ञान का विशेषण है। यहां विशेषण का तो ज्ञान नहीं। अज्ञान है। केवल फिर विशेष्य का ज्ञान कैसे होगा। विशिष्टिं शुद्धान्नातिरिच्यते" विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त नहीं है इत्यादि न्याय भी यहां होगा।

द्वितीयमाह—

यदि कहो परमात्मा विदित ही है - उसी के लिये विधि की गई - तो बताते हैं।

विदितता परमात्मन इष्यते
यदि वृथा विधिरस्य धियो भवेत् ।।

निखिलभेदनिदाननिवृत्तितो
भवति तद्विषयादि च दुर्लभम् ।। ६१।।

अन्वय – यदि परमात्मनः विदितता इष्यते, तदा अस्य धियो विधिः वृथा भवेत्। निखिलभेद निदाननिवृत्तितः तद्विषयादि च दुर्लभं भवति

अन्वयार्थ - यदि परमात्मा को ज्ञात माना जाए, तब इस (परमात्मा) के ज्ञान के लिये विधान व्यर्थ हो जाता है। और (परमात्मज्ञान से) समस्त भेद के कारणभूत अज्ञान की तो निवृति हो गई फिर विधि के विषयादि भी नहीं रह पाएंगे।

विदिततेति। ज्ञानविधिवाक्यार्थज्ञानात्प्रागिति शेषः। तर्हि ज्ञानविधिर्व्यर्थः पुरुषार्थ-साधनात्मज्ञानस्य प्रागेव सिद्धत्वादित्याह-वृथेति। किं चात्मज्ञाने सति अविद्यातत्कार्य-सकलनियोज्यविषयादिभेदनिवृत्तेस्तत्सापेक्षो न ज्ञानविधिः। न वा तदनुष्ठानं संभवतीत्याह— निखिलेति। निदानस्य कारणस्याज्ञानस्य निवृत्तित इत्यर्थः।।६१।।

विदितता - ज्ञानविधि के वाक्यार्थ ज्ञान के पहिले यदि परमात्मा का (आत्मा का) ज्ञान है। तब तो वृथा विधिरस्य धियो भवेत् = ज्ञान विधि व्यर्थ ही है।क्योंकि पुरुषार्थ का साधन आत्मज्ञान वह तो पहिले से ही सिद्ध है फिर उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्नादि विधि वाक्यादि की कोई जरूरत नहीं है। वृथेति - और एक बात और भी है - आत्मज्ञान तो पहिले होने से अविद्या और उसका कार्य भेद प्रपञ्च उसकी निवृत्ति भी पहिले ही हो चुकी है।

विधि वाक्य तो भेद सापेक्ष है। वह भेदादि प्रपञ्च न होने से विधि वाक्य भी "ज्ञान विधि परक वाक्य" आत्मा वारे" आदि सम्भव नहीं हो सकेगा। न ही विधिवाक्य का अनुष्ठान भी संमव हो पायेगा - निखिलेति - सकल विधि निषेधादि वाक्यों का कारण है भेद, और वह भेद ही नहीं रहने से बाकी सब विधि वाक्यादि व्यर्थ हो जायेंगे।

नन्वात्मनि परोक्षज्ञाने प्रथमं जातेऽपि तद्विशिष्टज्ञानं विधेयमिति चेत्, किं विशिष्टज्ञानं परोक्षमपरोक्षं वा ? नाद्यः, प्रथमज्ञानेनैव तत्कृत्यसिद्धस्तद्वैयर्थ्यात्। विदितस्वार्थसंबन्ध-शब्दादिभ्य एव प्रथमज्ञानवद् द्वितीयज्ञानस्यापि विना पुंव्यापारमुत्पत्तिसंभवेन विधिवैयर्थ्याच्च। नापि द्वितीयः। किं कर्तव्यतयाऽवगतं शाब्दज्ञानमेव विधिबलादपरोक्षं भवति, किं वा ततस्तदुत्पद्यते, नाद्यः, तस्य शब्दादुत्पन्नत्वेन तव मते तदयोगात्, अन्यथा प्रथममेवापरोक्षज्ञानं किं न स्यात्।न द्वितीयः, तत्करणस्यासम्भवात्, न ह्यपरोक्षज्ञानकरणमिन्द्रियमात्मन्यस्तीति न ज्ञानविधिसंभव इत्युपसंहरति—

प्रश्न- नहीं, नहीं, विधि व्यर्थ नहीं होगी - क्योंकि पहिले ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होता है, लेकिन उसका अपरोक्ष या विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिये विधि जरूरी है।

समाधान- वह विशिष्ट ज्ञान क्या वह परोक्ष है या अपरोक्ष। यदि कहो कि परोक्ष ज्ञान विशिष्ट का है तो पहिले जो कहा कि ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान है उससे ही यह कृतार्थ हुआ। इस विकल्प की तो यहां जरूरत ही नहीं है। क्योंकि जैसे ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान, अपने अपने अर्थ बताने वाले शब्दों से ही परोक्ष ज्ञान होता है - इसी प्रकार विशिष्ट ज्ञान भी मनुष्य व्यापार को बिना शब्द के ही अपने अपने अर्थ प्रकाशित करने के सामर्थ्य से परोक्ष रूप से ही हो जायेगा, तदर्थ विधि की जरूरत नहीं है। अब यदि कहो कि विशिष्ट ज्ञान अपरोक्ष है - तो इसमें पूछता हूं कि कर्तव्यता बुद्धि से ज्ञात ऐसा जो शब्द ज्ञान वहीं विधि वाक्य बल से अपरोक्ष होता है क्या ? अथवा विधि वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ? यदि पहिला विकल्प कहो तो ठीक नहीं क्योंकि वह शब्द से उत्पन्न होने के कारण अपरोक्ष बोध नहीं करा सकता। यदि शब्द से अपरोक्ष बोध होता तो शब्द के बल से पहिले ही आपको आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिए था। अब कहो कि विधि वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान (विशिष्ट बोध) उत्पन्न होता है तो वह भी ठीक नहीं - क्योंकि उत्पन्न होने वाले अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने वाली कोई भी इन्द्रिय नहीं है जिससे यह ज्ञान विधि संभव हो सकें। अब इसका उपसंहार कर रहे हैं -

इति न धर्मविशेषसमर्पणं
श्रुतिशिरोवचनैः क्रियते ततः ।।
भवति धर्मविचारगतार्थता-
-ऽनवसरः परमात्मविचारणे ।।६२।।

अन्वय– इति श्रुति शिरोवचनैः धर्मविशेषसमर्पणं न क्रियते, ततः परमात्मविचारणे धर्मविचारगतार्थतानवसरः भवति

अन्वयार्थ - (ब्रह्मज्ञान से विधि सम्भव नहीं होने से) वेदान्त वाक्यों में धर्मविशेष का विधान नहीं है फिर तो परमात्म विचार धर्मविचार से गतार्थ होगा नहीं।

इतीति। धर्मविशेषसमर्पणं विधेयज्ञानमेवावान्तरो धर्मस्तस्य च निर्विषयस्यानुपपत्तेस्तदाकाङ्क्षयाऽऽत्मानं व्युत्पादयद्भिर्वेदान्तवचनैर्विध्येकवाक्यतया धर्मविशेषसमर्पणं क्रियते इति यन्मतं तन्न। ततोऽपि परमात्मविचारे धर्मविचारगतार्थताया अनवसरो भवतीत्यर्थः। तथा च जैमिन्यादेः प्रागस्मदुक्त एवाशय इति भावः।।६२।।

इतीति- प्रश्न - धर्मविषयक विशेष समर्पण ही विधेय ज्ञान ही अवान्तर धर्म ब्रह्म मान लेंगे। अर्थात् धर्म जिज्ञासा के अन्दर ही विधेय ज्ञान (ब्रह्म ज्ञान) भी मान (आत्मज्ञान भी मान) लेंगे। वह आत्मज्ञान निर्विषय होने के कारण उस निर्विषय आत्मज्ञान की आकांक्षा को शांत करने के लिये वेदान्त वचन रूप विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता होकर आत्मावारे द्रष्टव्यः ऐसे जो वेदान्त के वाक्य है - उनके साथ एक वाक्यता प्राप्त करके धर्मविशेष का समर्पण वेदान्त वाक्य करेंगे।

समाधान— नहीं। अनवसरो भवति- तभी परमात्मविचार में धर्म विचार की गतार्थता सिद्ध नहीं होती। जैमिनि का लक्ष्य- साध्य पदार्थ है जबकि वेदान्त का- लक्ष्य है सिद्ध पदार्थ ब्रह्म।।६२।।

कथं तर्हि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" आत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इत्यादिविधिविभक्तीनां गतिरिति तत्राह-

प्रश्न— फिर आत्मावारे द्रष्टव्य "इति- आत्मन्येवात्मानं पश्येत्" ऐसी जो विधियां हैं- उनकी क्या गति होगी।

अर्हाद्यर्थे च कृत्यस्मरणमभिमतं पाणिनेः प्रार्थनादौ
लिङ्लोडादेश्च वृत्तिः प्रचुरमभिमता पाणिनेर्जैमिनेश्च।।
तस्माद्वेदान्तवाक्ये पठितमपि लिङाद्यन्यथा योजनीयं
विध्यर्थासंभवेन स्फुटमुदितनयादेतदन्यागतार्थम्।।६३।।

अन्वय— पाणिनेः प्रार्थनादौ कृत्यस्मरणमभिमतं अर्हाद्यर्थे च लिङ्लोडादेश्च वृत्तिः पाणीनिजैमिनेश्च प्रचुरमभिमता। तस्मात् स्फुटम् नयनाद्उदित अन्यागतार्थम् वेदान्तवाक्ये पठितमपि लिङादि विध्यर्थासंभवेन अन्यथा योजनीयम।।

अन्वयार्थ— भगवान् पाणिनि ने कृत्यप्रत्ययोंका विधान अर्हादि अनेक अर्थो में किया है। एवं लिङ् आदि का लोट् प्रार्थनादि अर्थो में भी प्रवृत्ति पाणिनि तथा जैमिनि दोनों को अभिमत है। इस कारण उक्त रीति से विध्यर्थ असम्भव होने पर वेदान्तवाक्य पठित लिङादि की अन्यथा (अर्हादि अर्थ में) योजना कर लेनी चाहिए। अतः वेदान्त शास्त्र पूर्व मीमांसा से गतार्थ नहीं है।

अर्हेति। "अर्हे कृत्यतृचश्च, विधिनिमन्त्रणामन्त्राणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् लोट् च" इत्यादिपाणिनिस्मरणात्, "विष्णुरुपांशु यष्टव्यः" इत्यादौ जैमिनीयन्यायाच्च तव्यप्रत्ययादेर्विध्यतिरिक्तार्थत्वं सिद्धं यस्मात्तस्मादुक्तवेदान्तवाक्ये पठितमपि लिङादि अन्यथा विधिमन्तरेण अर्हार्थतया योजनीयम्। कुतः? स्फुटमुदितनयाद् विध्यर्थासंभवेन। अत एतद्वेदान्तविचारशास्त्रं धर्मविचारशास्त्रेणागतार्थम् अतस्तद्भगवता "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यारभ्य विचारितम्।

भाष्यकारादिभिरपि तदाशयानुरोधेन तदर्थो वर्णित इति मयाऽपि तदर्थाविष्करणाय यत्नः क्रियते इति।।६३।।

अर्हाद्यर्थे= "अर्हे कृतत्तृचश्च" विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्, लोट्, च" इस पाणिनि सूत्र में यह दिखाया है कि जैसे- "विष्णुरूपांशुयष्टव्यः" इत्यादि वाक्यों में जैमिनिजी का निर्णय है- क्या ? यहां जो तव्य प्रत्यय है उसका अर्थ विधिपरक न करते हुये "अर्हाद्यर्थे" योग्य अर्थ में लेंगे। कहां से- और कैसे?- जब विधि बराबर संपन्न नहीं होती है तब यही व्यवस्था करनी पड़ेगी। अर्थात् "विष्णु रूपांशुयष्टव्यः" (तै. स. २।६।६) इसका अर्थ "विष्णु का उपांशुरूप से यजन करें ऐसा नहीं किन्तु विष्णु उपांशु यजनरूप में योग्य है, ऐसे अर्थ का ग्रहण कर लेंगे। विधि वाक्य लिङ् का अर्थ- तव्यप्रत्यय का अर्थ अन्य ही करेंगे। इसलिये वेदान्त विचार शास्त्र भी धर्म विचार शास्त्र से गतार्थ न होने के कारण भगवान् व्यास जी महाराज "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इससे आरम्भ करके विचारित किया है। भाष्यकार ने भी उनके आशय को आगे बढ़ाया, मैं भी उसी भावार्थ को आगे बढ़ाने के लिये प्रयत्न करता हूं।

नन्वेवप्यधिकार्यभावादिदं शास्त्रं नारम्भणीयम्। न तावत्स्वर्गादिकाममुद्दिश्यैतदारम्भः, अग्निहोत्रादिभिरेव तत्सिद्धेः। नापि निरतिशयविषयभोगार्थिनमुद्दिश्य, तस्याप्युपासनातः सिद्धेः। न च मुमुक्षुरत्राधिकारी, सकलवैषयिकानन्दविलक्षणे मोक्षे कस्यापि कामनाऽदर्शनात्। अत एव ब्रह्मजिज्ञासुरत्राधिकारीति निरस्तम्। ब्रह्मज्ञानस्यापुरुषार्थस्य कामनाऽयोगान्निरतिशयाभिलषितस्वर्गादिविरोधित्वाच्च। न चाविरक्तस्य स्वर्गाद्यभिलाषेऽपि विरक्तस्य तदभावान्मुमुक्षा संभवतीति तदर्थं ब्रह्म जिज्ञासमानोऽत्राधिकारीति वाच्यम्। स्वर्गादौ निरतिशयप्रीत्यास्पदे कस्यापि वैराग्यासंभवात्। दुःखमिश्रितत्वात्ततोऽपि वैराग्यं युक्तमिति चेन्न। तादृशेऽपि तदधिकसुखे प्रवृत्तिदर्शनात्, दुःखपरिहारे च यतितव्यं नतु सुखमपि परित्याज्यम्।न चान्यः कश्चिदधिकारी संभवतीत्यधिकार्यभावान्नेदमारम्भणीयमिति तत्राह—

शंका- वेदान्त का अधिकारी न होने से वेदान्तशास्त्रारम्भ क़रना उचित नहीं है। यदि स्वर्गादिक की कामना लेकर अधिकारी को मान लिया जाए तो उस अधिकारी की सिद्धि अग्निहोत्रादि कर्मों के द्वारा ही हो जाती है।यदि यह कहो कि निरतिशय विषयोपभोग की अभिलाषा वाला अधिकारी ही माने तो उसके अधिकारी की सिद्धि उपासना वाक्य से हो जाती है। यदि सिद्धान्ती यह कहे कि मुमुक्षु इसका अधिकारी है तो भी ठीक नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण प्रकार के विषयानन्दों से विलक्षण ऐसे मोक्ष में किसी की भी कामना देखने में नहीं आती है। इसलिये (ब्रह्म को जाननेवाला) ब्रह्मजिज्ञासु यहां वेदान्त शास्त्र

का अधिकारी है यह बात निरस्त हुई। दूसरी बात ब्रह्मज्ञान कोई पुरुषार्थ भी नहीं है जिसके बारे में अभिलाषा या कामना हो सके साथ में वह ब्रह्मज्ञान स्वर्गादि पदार्थों के विरूद्ध भी तो है। यदि सिद्धान्ती यह कहे कि स्वर्गादि पदार्थ के प्रति विरक्त साधक ब्रह्मज्ञान का जिज्ञासु (मुमुक्षु) अधिकारी है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि स्वर्ग तो निरतिशयानन्द वाला है - भले ऐसे स्वर्ग से किसको वैराग्य हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। यदि यह कहे कि स्वर्ग सुख दुःख मिश्रित होने से उसके प्रति वैराग्य बुद्धि होगी। तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि उस व्यक्ति की प्रवृत्ति और सुख प्राप्त करने के लिये होती है साथ में दुःख हटाने के लिये भी प्रवृत्ति होती है। यह नहीं कि थोड़े से दुःख के कारण सुख का भी परित्याग कर देवे। इस प्रकार अन्य प्रकार से तो अधिकारी बनेगा नहीं। अतः अधिकारी के अभाव के कारण वेदान्त शास्त्रारम्भ नहीं करना चाहिये-

एकाहाहीनसत्रद्वयविधिविहितानेककर्मानुभावध्वस्त-
स्वान्तोपरोधाः कथमपि पुरुषाश्चिदि्ददृक्षां लभन्ते ।।
यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा स्वो-
त्पत्त्याम्नानसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति।।६४।।

.अन्वय- एकहाहीनसत्रद्वयविधिविहितानेककर्मानुभावः पुरुषाः स्वान्तोपरोधः ध्वस्तः चिद्दिदृक्षां कथमपि लभन्ते। शतपयथविहितं यज्ञेनेत्यादि वाक्यं कर्मवृन्दं गृहीत्वा स्वोत्पत्याम्नानसिद्धं पुरुषविविदिषा मात्रसाध्ये युनक्ति।।

अन्वयार्थ- एक दिनवाला अथवा दो दिनवाला द्विविध सत्रादिकर्मों के विधि वाक्यों से विहित अनेक कर्मो के अनुष्टान से जिन पुरूषों की अन्तःकरणवृत्ति विघ्न बाधाओं से रहित हो चुकी है। उनमें ही किसी प्रकार (पूर्व पुण्य प्रभाव से) आत्मदर्शन की भावना उत्पन्न होती है। यज्ञेन दानेन (ब्र. ४/४/२३) यह वाक्य शतपथ श्रुति विहित एकाहादि कर्म समूह का विविदिषारूप साध्य के उद्‌देश्य से विधान करता है।

एकाहाहीनेति। अयमिह चिद्‌दिदृक्षाप्रतिलम्भप्रकारः। अनादिप्राग्भवेषु संसरन्जीवः कदाचित्तत्र तत्र विशिष्टवर्णाश्रमो भूत्वा यावज्जीवश्रुतिचोदितानि नित्याग्निहोत्रादीनि सम्यगनुतिष्ठति, ततः कदाचिदीषदासादितपरमेश्वरप्रसादादग्निहोत्रादिषु दृढश्रद्धो भवति, तत ईश्वरप्रसादादेवं चिन्तयति, "मदीयं मनः स्वर्गादिसुखतत्साधनान्येवाभिलषति, न तु मोक्षं तत्साधनं वा ज्ञानं, तत्र चादृष्टमेव केवलं निमित्तमिति तदर्थं यतितव्यम्" इति विविदिषोद्देशेन तान्येव कर्माण्यनुतिष्ठति, ततोऽतिविमलमानसः "तद्यथेह" इत्यादिश्रुतिं "यत्कृतकम्" इत्यादिन्यायं चानुसंधाय ब्रह्मलोकपर्यन्तं कर्मसाध्यं फलमनित्यमिति निश्चिनोति, आत्मा च

श्रुतिन्यायाभ्यां नित्यानन्द इति च, सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः। ततस्तदर्थं सकलवैषयिकसुखभोगजिहासा पुनः पुनरस्योपावर्तते, "नित्ये संभवत्यनित्ये कस्तुष्येत्" इति, तदिदं कर्मफलवैराग्यम्। पश्चाच्छान्तिदान्त्यादिसंपन्नो दृढतरमोक्षेच्छां करोति, सेयं साधन-चतुष्टयसंपत्तिः। तत इष्यमाणमोक्षसाधनं चिदानन्दस्वरूपात्मज्ञानमिच्छतीति नात्राधिकारी दुर्लभः। तदिदमनेन श्लोकेन सूचितम्।

एकाहः- एकसुत्याकः क्रतुः। अहीनः- द्व्यहप्रभृतिद्वादशसुत्यान्तः, सत्रं द्विविधम्, एकमहःसमुदायसाध्यम्, यथा द्वादशाहम्, द्वादशाहस्य चाहीनसत्रात्मत्वं "यजेत उपयन्ति" इत्युभयश्रुतिबलादवगतम्। किंचित्संवत्सरगणसाध्यम्। उपलक्षणमेतदग्निहोत्रादेः। एतेषां ये विधयस्तद्विहितानि यान्यनेकानि अग्निहोत्रप्रभृतीनि सहस्त्रसंवत्सरपर्यन्तानि कर्माणि तेषामनुभावो दुरितनिबर्हणसामर्थ्यं तेन ध्वस्तः स्वान्तस्यान्तःकरणस्योपरोधो विविदिषाप्रतिबन्धो येषां ते तथा। कथमपि अनेकजन्मव्यवधानेऽपि पुरुषाः साधनचतुष्टयसंपन्ना अधिकारिणः चिद्दिदृक्षामखण्डचैतन्यात्मकप्रत्यग्ब्रह्मसाक्षात्कारेच्छामित्यर्थः।

नन्वग्निहोत्रादेः पुन्दिदृक्षाप्रतिबंधकदुरितनिवर्त्तकत्वं कुतोऽवगतं, येन तदर्थमनुतिष्ठेयुः। न तावत्प्रत्यक्षादिना तदवगन्तुं शक्यम्। नाप्यग्निहोत्रादिवाक्येन, तत्र तद्वाचकपदाभावात्तत्राह- यज्ञेनेति। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिवाक्यम्।

शतपथविहितमिति। शतपथग्रहणं विनियोजकवाक्येन विनियोज्यकर्मणः प्रत्यासत्तिज्ञा-पनार्थम्। नन्वग्निहोत्रादेः स्वर्गकामयावज्जीवादिवाक्येन तत्र तत्र विनियुक्तस्य कथं चिद्दिदृक्षायां विनियोगः, विनियुक्तविनियोगविरोधात्तत्राह- स्वोत्पत्तीति। स्वस्याग्निहोत्रादेर्यदुत्पत्त्याम्नानं कर्मस्वरूपमात्रबोधकं वाक्यं तत्सिद्धमित्यर्थः। अग्निहोत्रादिकं हि प्रथमाग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिवाक्यैः फलविशेषशून्यमेव विधीयते। पश्चाद्वाक्यान्तरेण तदपेक्षितफलविशेषे तस्य संबन्धः प्रतिपाद्यते। एवं च तद्वदेव विविदिषायामपि तस्य संबन्धो न विरूध्यते, विनियोजकवाक्यानां तुल्यकल्पत्वात्। एवं च विषयसौन्दर्यज्ञानलभ्यायामिच्छायां कर्मणः साक्षात्साधनत्वासम्भवेन सामर्थ्यात्प्रतिबन्धकनिवृत्तावेव साधनत्वं कल्प्यत इति। पुरूषः-परमात्मा। मात्रशब्देन तस्य ज्ञानादि- पर्यन्तव्यापारं वारयति। एवं च नाधिकार्यभाव इति भावः।।६४।।

एकाहाहीनेति- ब्रह्मविद्या का अधिकारी बताने का प्रकार बता रहे हैं।- पहिले अनेक जन्मों से यह जीव भ्रमण करता चला आ रहाहै।उसके लिए विशिष्ट ब्राह्मणादि जाति में उत्पन्न होकर "यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहुयात्" जीवनभर श्रुति प्रतिपादित नित्य कर्मों का

अनुष्ठान किया। फिर ईश्वर कृपा उस पर हो जाने से अग्निहोत्रादि कर्म में उसकी दृढ़ श्रद्धा हो जाती है। उसके बाद और ईश्वर कृपा उसपर हो जाती है तो कर्म करने वाला व्यक्ति यह सोचने लगता है कि मेरा मन हमेशा सुख और उसके साधनों में ही रममाण होता है। लेकिन मेरा मन मोक्ष तथा उसके साधन में रममाण नहीं होता है। ऐसे मोक्ष के लिये तथा उसके साधन के लिये प्रवृत्ति तो अदृष्टाधीन ही है। यह भी वह समझता है। अब वही अग्निहोत्रादि कर्म निष्काम भावना से करता है। उससे अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है। फिर उसके अन्दर यह भी विचार आता है कि "तद्यथेह लोकः क्षीयते एवमेवामुत्रलोकःक्षीयते" जैसा यह लोक क्षीण होता है वैसा परलोक भी। सभी लोक लोकान्तर के पदार्थ कर्मसाध्य होने से अनित्य है। लेकिन आत्मा तो श्रुति के द्वारा तथा कर्म से प्राप्त न होने के कारण नित्यानंद स्वरूप है। बस इसी का नाम ही तो विवेक है। और ऐसा विवेक उस व्यक्ति को हो जाता है। फिर तो उसके मन में बार-बार विषयों के प्रति अरूचि उत्पन्न हो जाती है। "नित्येसंभवत्यनित्ये कस्तुष्येत्" जब नित्यानन्द की प्राप्ति होती हो तो फिर क्षणिक आनन्द के लिये कौन प्रयत्न करें। फिर तो कर्म और उसके फल (भोग) दोनों के ही प्रति उसकी वैराग्य बुद्धि हो जाती है। उसके बाद शम दमादि षट्क सम्पत्ति से संपन्न होता है। बाद में उसमें मोक्षेच्छा भी हो जाती है। मुमुक्षु वह हो जाता है। इस प्रकार मोक्ष का साधन चिदानन्दस्वरूप आत्मज्ञान को वह चाहता है। इसलिये अधिकारी दुर्लभ नहीं है।

एकाहः= एक सुत्याकः एक दिनवाला (अभिषेक) क्रतुः (यज्ञ) है। अहीनः - दो दिन वाला, तथा बारह दिनों वाला अभिषेकात्म कर्म सत्र यह क्रतु है। सत्रद्वय - सत्र दो प्रकार का होता है। एक सत्र जो दिन के हिसाब से चलता है। उसमें भी एक दिन वाला, १२ दिन वाला आदि। दूसारा सत्र- जो वर्षो के हिसाब से चलता है। वह भी एक वर्ष वाला का १२ वर्ष वाला होता है। यह सत्र अग्निहोत्र में चलते हैं। यहां अग्निहोत्र तो उपलक्षण है- इसमें और भी अन्न दानादि तथा हवनात्मक यज्ञ का ग्रहण करें।

टिप्पणी— एकाह जिस सोमयाग में एक ही अभिषेक का दिन होता है उसे एकाह कहते हैं और जिसमें दो दिन अभिषेक के होते हैं उसे अहीन कहा जाता है ऐसे समकर्म में ऋत्विग् ही यजमान के रूप में होने के कारण समुदायात्मक यह कर्म यजमान के रूप में ऋत्विजों को फल प्रदान करता है।

विधिविहित= विधि विधान के साथ तथा विहित ही कर्म करता है। निषिद्ध नहीं। ऐसे अनेक कर्म सैकड़ों वर्ष तक निष्काम भावना से करता रहता है।

कर्मानुभवः - इन कर्मो में पाप को नष्ट करने की शक्ति है - इससे।

ध्वस्तः स्वान्तोपरोधः- तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धकीभूत जो दोष है वे नष्ट हो जाते हैं।

कथमपि= अनेक जन्म जन्मान्तरों का व्यवधान होने पर भी साधन चतुष्टय संपन्न अधिकारी चिदानन्द अखण्ड आत्मा से अभिन्न है। इस प्रकार से साक्षात्कार की इच्छा वाले हो जाते हैं। अर्थात् अधिकारियों की दुर्लभता नहीं है।

शंका= अग्निहोत्रादि कर्म पाप का क्षय करते हैं यह कैसे माने?

समाधान= यज्ञेनेति- शतपथे विहितम्- शतपथ ब्राह्मण का मंत्र है- "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदषन्ति यज्ञेन(ब्र. ४/४/२२) इत्यादि वाक्य ही प्रमाण है। विनियोजक वाक्य है- शत पथ ब्राह्मण का, और विनियोज्य है, अग्निहोत्रादि कर्म।

शंका= अग्निहोत्रादि कर्म स्वर्ग कासना के प्रति प्रेरित करता है- न कि आत्मदर्शन के प्रति।

समाधान= अग्निहोत्रादि वाक्य "अग्निहोत्रं जुहुयात्" वाक्य केवल कर्मभाग का ही प्रथम बोधन करते हैं। बाद में "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इस अन्य वाक्य के द्वारा फल का बोधन करता है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के वाक्यान्तर द्वारा इसी अग्निहोत्रादि कर्म की अन्तःकरण के शुद्धि के प्रति तथा आत्म दर्शन के प्रति कारणता सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार जब मोक्ष का साधन रूप आत्मज्ञान के प्रति रूचि उत्पन्न हो जाती है तब विषय सौन्दर्य जो ज्ञान का प्रतिबन्धक है उसके निवृत्ति के प्रति ही यह अग्निहोत्रादि कर्म में मुमुक्षु प्रवृत्त हो जाते हैं। पुरुषः= परमात्मा (आत्मा)। मात्र शब्द से ज्ञानादिक के प्रति वह समर्थ नहीं है यह बताते हैं किन्तु अग्निहोत्रादि कर्म दूरितक्षय निमित्तक ही है। इस प्रकार अधिकारी का अभाव नहीं है, यह बात सिद्ध हुई।

एवं विषयप्रयोजनसंभवादगतार्थत्वाद्विशिष्टाधिकारिलाभाच्च ब्रह्मविचारशास्त्रमारम्भणीय-मित्युक्तम्। इदानीं गुरूशिष्यसंवादमुखेन शास्त्रं प्रवर्त्तयितुं जिज्ञासासूत्रगताथशब्दोपात्त-विशिष्टाधिकारिणः "तद्विज्ञानार्थं स गुरूमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इति श्रुतिदर्शितं गुरूपसदनमाह-

विषयप्रयोजन संभव होने के बाद ब्रह्मविचारक वेदान्तशास्त्रारम्भणीय है यह बात सिद्ध हुई। लेकिन वह ब्रह्मज्ञान तो मिलेगा गुरू के पास से, अब गुरु के पास कैसे पहुंचना है- कब पहुंचना है- और वहां क्या करना है यह बता रहे हैं-

उपससाद चतुष्टयसाधनो।
निशितबुद्धिरशुद्धिपरिक्षयात् ।।
विविदिषुर्विहितैर्विविधाध्वरै।
र्विदितवेद्यतमं विधिवद् गुरुम् ।।६५।। (द्रुतविलम्बित छन्द)

अन्वय – विविदिषुः विहितैर्विविधाध्वरैः निशितबुद्धिरशुद्धिपरिक्षयात् साधन चतुष्टय (संपन्नः) विदितवेद्यतमं गुरुं उपससाद।।

अन्वयार्थ - मुमुक्षु जिसने विहित अनेक विधिविधान को निष्काम करने से अपने अन्तःकरण की शुद्धि कर रखी है। और पाप क्षय कर दिया है, ऐसा वह मुमुक्षु साधन चतुष्टय संपन्न होकर ब्रह्मनिष्ठ गुरू की शरण में विधिपूर्वक जाता है।

उपससादेति। प्राप्तवानित्यर्थः। विवेकादिचतुष्टयं ब्रह्मज्ञानसाधनं यस्य स चतुष्टयसाधनः। निशिताऽतिसूक्ष्मा ब्रह्मैकाकारतायोग्या बुद्धिरन्तःकरणं यस्य स तथा। विहितैः सम्यगनुष्ठितैः विविधाध्वरैरशुद्धिपरिक्षयान्निशितबुद्धिः चतुष्टयसाधनो विविदिषुरिति संबन्धः। "श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इति श्रुतिदर्शितं गुरुविशेषणमाह—विदितवेद्यतममिति। अवगतब्रह्मतत्त्वमित्यर्थः। समित्पाणिरिति श्रुतिदर्शितमुपसदनप्रकारमाह—विधिवदिति।।६५।।

उपससादेति - अधिकारी सद्गुरू को प्राप्त करता है। चतुष्टय साधनः- विवेक, वैराग्य, शमादिषट्क संपत्ति तथा मुमुक्षुत्व इन चारों साधनों से युक्त, निशिता- अतिसूक्ष्मब्रह्मैकाकार जिसका अन्तःकरण हो चुका है, तीव्र सूक्ष्म बुद्धिमान अधिकारी, विहित् अच्छी प्रकार से विधि विधान से विहित कर्मों के अनुष्ठान के कारण बुद्धि दोष रहित होकर निर्मल हो चुकी है। ऐसा साधन चतुष्टय संपन्न (पुरुष) विविदिषु, श्रुतिमाता ने जिस गुरू का वर्णन किया है श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ऐसे गुरू के शरण में जावे और वह गुरू कैसा हो?

विदितवेद्यतमं गुरूम् - जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। केवल परोक्ष ज्ञानी या वाचाल गुंरू होने से काम नहीं बनेगा। ऐसे गुरू के शरण में जाना है। कैसे? विधिवदिति= समित्पाणिः उस समय में - समिधाओं की प्रधानता थी इस समय जैसे गुरूकी आवश्यकता हो तदनुसार सामग्री गुरू को प्रदान करनी चाहिये। इस प्रकार से गुरू के शरण में जाता है, "तद्विज्ञानार्थं स गुरूमेवाभिगच्छेत्" (मुण्ड-२-१२) गुरू की शरण में जाता है। इस श्रुतिके अनुसार।

ननु मुमुक्षुर्गुरूमुपससादेत्युक्तमयुक्तम्, अनुभूतसुखविजातीये मोक्षे कामनाऽयोगात्। अत एव निखिलानर्थनिवृत्तिकामो मुमुक्षुरित्यपि न संभवति, अनर्थनिवृत्तेः स्वतः पुरूषार्थ-

शेषतयैव काम्यमानतया तदभावे अयोगादित्याशङ्क्य कैमुतिकन्यायेन प्रस्तुताधिकारिणो मुमुक्षां दर्शयितुं लोके तदतिसूलभतामाह-

शंका— मुमुक्षु गुरू शरण में जावे यह बात उचित नहीं। अनुभूत सुख से विजातीय सुख की कामना नहीं हो सकती। निखिलानर्थ निवृत्ति प्रधान ही अधिकारी होगा सो बात भी नहीं बनेगी। क्योंकि सुख की कामना के साथ-साथ ही अनर्थ निवृत्ति अपने आप ही हो जाती है। अतः अनर्थ निवृत्ति के लिये गुरू के शरण में जाना चाहिये यह बात ठीक नहीं है।

समाधान— साधारण जन्तु भी पुरूषार्थ विरोधी (सुख विरोधी) अनर्थ को नहीं चाहते हैं फिर तो मनुष्य का कहना ही क्या। कैमुतिक न्याय से समझा रहे हैं-

इह जगति हि सर्व एव जन्तु-
निर्रतिशयं सुखमुत्तमं ममास्तु ।
उपरमतु तथोपघातरूपं
विषयजदुःखमिति स्पृहां करोति ।।६६।।

अन्वय – सर्व एव जन्तुरिह जगति निरतिशयं उत्तमं सुख ममास्तु। तथोपघातरूपं विषयजदुःखमुपरमतु इति स्पृहां करोति।

अन्वयार्थ= इस जगत् में सभी जीव निरतिशय सुख हो और विषय जन्य सकल दुःख निवृत्त हो ऐसी कामना करते हैं।

इहेति। सर्व एवेति। जन्तुमात्रे निरतिशयसुखादिकामनायां मानाभावेन योग्यनराभिप्रायम्। उपरमतु मा भवतु। उपघातरूपं पुरुषार्थविरोधिरूपम्।।६६।।

इह जगति - सर्व एव जन्तुः = जन्तु में निरतिशय सुख की कामना में कोई प्रमाण न होने से जन्तु का तात्पर्य मानवमात्र से है। तो प्रत्येक मानव में यह इच्छा है कि मुझे इस जगत में(जीवन में)निरतिशय सुख मिले तथा उसका विरोधी जो विषय जन्य दुःख है वह निवृत्त हो जावे। अर्थात् निरतिशय सुख जो पुरूषार्थ है उसका विरोधी विषय जन्य दुःख निवृत्त हो जावे ऐसी इच्छा करता है। इसलिये ऐसे अधिकारी पुरूष को गुरू के शरण में जाना तो फिर उचित ही है।

नन्वेवमपि मुमुक्षायां किमागतमिति तत्राह—

मुमुक्षुता प्राप्त होने से फिर इससे क्या लाभ है—

निरतिशयसुखं च दुःखजात-

व्युपरमणं च वदन्ति मोक्षतत्त्वम्।।

उपभयमपि जनोऽभिवाञ्छतीति

स्फुटतरमस्य सदाऽस्ति मोक्षवाञ्छा।।६७।।

अन्वय – निरितिशयसुखं व्युपरमणञ्च दुःखजातं मोक्षतत्त्वम् वदन्ति। उभयमपि जनो वाञ्छति इति अस्य स्फुटतरं सदा मोक्षवाग्छाऽस्ति।।

अन्वयार्थ - निरतिशय सुख तथा सम्पूर्ण दुःख निवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं। जीव इन दोनों को चाहता है। अतः स्पष्ट रूप से जीवों में मोक्ष की इच्छा हमेशा विद्यमान है।

निरतिशयेति। लौकिकैरभिष्यमाणनिरतिशयसुखादेर्मोक्षत्वे फलितमाह—उभयमपीति। अस्य जनस्य। एवं प्राणिमात्रस्य मुमुक्षासद्भावे किमु वक्तव्यं निरस्तनिखिलचित्तमलस्य तीव्रवैराग्यादिसम्पन्नस्य तत्सद्भावे मोक्षरूपसुखस्यैव तत्तद्विषयसम्बन्धेन लौकिकैरिष्यमाणत्वान्न तल्लौकिकसुखविलक्षणमिति भावः।।६७।।

निरतिशयेति—साधारण लौकिक पुरूष भी निरतिशय सुख की कामना करते हैं - वही तो मोक्ष इच्छा है। मोक्ष इसे ही कहते हैं - दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और निरतिशय परमानन्द की प्राप्ति। वह सभी साधारण मानवमात्र में भी पाई जाती है। उभयमपि - निरतिशय सुख प्राप्ति तथा दुःखजात की निवृत्ति (व्युपरमणम्) - ये दोनों की इच्छा साधारण से साधारण व्यक्ति में भी पाई जाती है फिर जिसने सम्पूर्ण चित्त के दोषों को हटा दिया है तथा जो तीव्र वैराग्य संपन्न है उसमें यह मोक्ष वाञ्छा होवे इसमें क्या आश्चर्य है। दूसरी बात लौकिक पुरूष भी जिस सुख की कामना करते हैं इससे इस सुख में लौकिक सुख विलक्षणता नहीं हो सकती। यदि होती तो तद्विषयक इच्छा ही नहीं होती।

ननु निरतिशयसुखादावज्ञाते कथं सर्वप्राणिनामभिलाषः, ज्ञातगोचरत्वात्तस्येति चेत्तत्राह—

शंका= निरतिशय सुख का अज्ञान होने से कैसे तद्विषयक अभिलाषा होगी? क्योंकि ज्ञातविषय की ही अभिलाषा देखने में आती है—

उभयमपि परात्मनः स्वरूपं

विमलचिदेकरसं स्वयंप्रकाशम्।

इति भवति विना प्रमाणमस्मिन्नु-

दितनयादभिवाञ्छनोपपत्तिः।।६८।।

अन्वय= उभयमपि विमलचिदेकरसं स्वयं प्रकाशम् परमात्मनः स्वरूपम्। इति प्रमाणं विना अमस्मिन् उदितनयात् वाञ्छनोपपत्तिः भवति।।

अन्वयार्थ= (सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति) दोनों ही परमेश्वर के निर्मलचिन्मात्र स्वयं प्रकाश स्वरूप है। इसलिये प्रमाण के बिना भी मोक्ष की इच्छा उक्त प्रकार से हो जाती है।

उभयमिति — निरतिशयसुखं निःशेषदुःख हानं चेत्यर्थः। परमात्मनोऽहङ्कारविलक्षणस्य तत्साक्षिण इत्यर्थः। तादृशसुखज्ञानार्थं साक्षिस्वरूपं विशिनष्टि स्वयंप्रकाशमिति। तत्र हेतुत्वेनाह—विमलेति। साक्षिस्वरूपस्यानावृतता वैमल्यमुक्तम्। तथा च स्वयंप्रकाशात्म-स्वरूपत्वान्निरतिशयसुखादेः सर्वेषां भानमविरुद्धमित्याह—इति भवतीति। उदितनयात्, इह जगतीत्यादिनेति शेषः।।६८।।

उभयमपि — निरतिशयसुख तथा विशेष दुःखहानि ये दोनों परमात्मनः= अहंकारादि-से विलक्षण साक्षी का ही स्वरूप है। ऐसे सुख के लिये तथा निःशेष दुःख हानि के लिए साक्षी का स्वरूप कैसे है? तो समझाते हैं- विमलचिदेकरसं साक्षिस्वरूपम्- साक्षी अत्यन्तनिर्मल (अहंकारादिक से कर्तृत्वभोक्तृत्वादि भाव से रहित) है, ज्ञानस्वरूप है (ज्ञान का आश्रय नही)। एकरस- हमेशा एकरूप है और स्वप्रकाशस्वरूप यह साक्षी है। अर्थात् साक्षी का स्वरूप किसी भी वृत्ति के द्वारा आवृत्त न होने से साक्षी सदा ही अनावृत्त ही रहता है। यही साक्षी की विमलता है। ऐसे स्वयंप्रकाश साक्षीस्वरूप में निरतिशय सुखादिक की इच्छा तो सभी को ही जाती है। इति भवति- विना प्रमाणमिति= "इह जगति" इस जगत में साधारणातिसाधारण मनुष्य की प्रवृत्ति ऐसे सुख के लिये तथा सम्पूर्ण दुःख निवृत्ति के लिए देखी जाती है- वही पद्धति यहां उपयुक्त है।

नन्वनावृतसाक्षिस्वरूपसुखादेः कथं निरतिशयत्वं, लोके तथाऽननुभवात् । वस्तुतस्तत्तथा-विधमिति चेत्सत्यं, तथाऽप्यज्ञानावृतप्रकाशे तज्ज्ञानं विना न कामना स्यादित्याशङ्क्याह-

शंका - अनावृत्त साक्षिस्वरूपनिष्ठसुखादि में कैसे निरतिशयत्व (अतुलनीयत्व) आ सकेगा। लोक में ऐसा देखा नहीं गया। वास्तविकता तो यह है कि - मानो साक्षी निरतिशय सुखस्वरूप मानो है भी, तो भी वह उसका प्रकाश अज्ञान से आवृत्त होने के कारण उसका ज्ञान नहीं हो पायेगा। जब साक्षी का ज्ञान नहीं हो पायेगा तब साक्षी के निरतिशय सुखादि विषयक कामना भी कैसी होगी ?

कर्मकाण्डकृतबुद्धिशुद्धित
स्तर्किते च खलु मोक्षवस्तुनि।।

अर्थिताऽस्य घटते प्रयोजक
ज्ञाननुन्नमनसो महात्मनः।।६६।।

अन्वय – कर्मकाण्डकृतबुद्धिशुद्धितः तर्किते च खलु मोक्षवस्तुनि अस्य प्रयोजकज्ञान नुन्न मनसो महात्मनः अर्थिता घटते।

अन्वयार्थ - विविध कर्मो के अनुष्ठान से बुद्धि की शुद्धि हो जाने पर प्रयोजक ज्ञान (श्रवणादि में प्रवृत्त वेदान्त वाक्य जन्य आपात ज्ञान) से जिस पुरुष के मन में प्रेरणा आ चुकी है उस महापुरूष की मोक्ष को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्ति होती है।

कर्मकाण्डेति। काण्डशब्दः समूहवाची। तर्किते परमप्रेमास्पदत्वादिनोहिते। मोक्षवस्तुनि आनन्दात्मनि। अस्य विशिष्टाधिकारिणः। प्रयोजकज्ञानम्-आनन्दाद्वयात्मप्रतिपादकवाक्यजन्यमापातज्ञानं तेन नुन्नं प्रेरितं तदभिमुखीकृतं मनो यस्य। अत एव महात्मनः नित्याद्यनुष्ठानादतिविमलमानसस्य परमप्रेमास्पदत्वादिलिङ्गेन वेदान्तवाक्येन चापाततोऽवगतानन्दाद्यात्मनि प्रेप्सा कथं न भवेदित्याशयः।।६६।।

कर्मकाण्डेति - काण्ड शब्द समूहवाची है। अर्थात् अनेक प्रकार के निष्काम कर्म, निष्काम उपासना आदि करने के बाद, शुद्धिबुद्धितः= निर्मल दोष रहित अन्तःकरण हो जाता है। तर्किते= आत्मसुख ही परम प्रेमास्पद है। च खलु= निश्चित रूप से। वस्तुनि - मोक्षस्वरूप आनन्दस्वरूप आत्मा में विशिष्ट अधिकारी की प्रवृत्ति होती है। प्रयोजकज्ञानम् - आनन्दाद्वय आत्मा है - "आनन्दं ब्रह्मेति" इत्यादि वाक्य से उत्पन्न आपात ज्ञान(साधारण ज्ञान) उससे, नुन्नं - प्रेरित जिस व्यक्ति का मन हो चुका है - ऐसा व्यक्ति ही विशिष्टाधिकारी है। इसलिये महात्मनः नित्य नैमित्तिकादि कर्मानुष्ठान से निर्मल मन होने के बाद आनन्दस्वरूप आत्मा ही परम प्रेमास्पद है ऐसा वेदान्त वाक्य से आपात ज्ञान उसे हो जाता है - तो फिर ऐसे आनन्दस्वरूप आत्मा में किसकी कामना नहीं होगी। अर्थात् ऐसी कामना तो अधिकारी पुरूष की तो हो ही जाएगी।।६६।।

ननु प्रथममेवाधिकारिणा श्रुतिन्यायाभ्यामानन्दाद्यात्मकं वस्तु परिज्ञातं चेत् कुत तस्य गुरूपसदनादिनेत्याशङ्क्य स्वयमुत्पादितज्ञानस्यान्यथात्वशङ्काकलङ्कसम्भवात् "आचार्यवान्पुरुषो वेद" इत्यादिशास्त्राच्चाचार्यमुखेनैव ब्रह्म निर्णेतव्यमिति सदृष्टान्तमाह-

शंका= जब अधिकारी पुरुष ने प्रथम ही श्रुति के द्वारा "आनन्दंब्रह्मेति" इत्यादि मन्त्र से तथा "उभयमपि जनोवाञ्छतीति" निरतिशय सुख तथा सकल दुःखनिवृत्ति जो साधारण से साधारण मनुष्य भी चाहता है। फिर तो अधिकारी का कहना ही क्या- इस

कैमुतिक न्याय के द्वारा आत्मा (ब्रह्म) आनन्दस्वरूप, है ऐसा ज्ञात हुआ फिर इसके बाद गुरू शरण में जाने से क्या फायदा ?

समाधान - स्वतः उत्पन्न आत्मज्ञान जो श्रुति में अथवा कैमुतिक न्याय से प्राप्त हुआ है उसमें अन्यथा प्रकार की शंकायें भी आ सकती है। उस बारे में निश्चय तो "आचार्यवान् पुरुषोवेद" इस शास्त्र वचन के अनुसार गुरूमुख से ही हो पायेगा। इसके लिए दृष्टान्त भी प्रदान कर रहे हैं -

धर्मनिर्णयनिमित्तमिष्यते
वेदवित्परिषदेव मानवे।।
तद्वदत्र गुरूणाऽस्य सङ्गतिस्तेन
चास्य घटतेऽर्थिता गुरौ।।७०।। (रथोद्धताछन्द)

अन्वय – मानवे वेदवित्परिषदेव धर्मनिर्णयनिमित्तमिष्यते। तद्वदत्र अस्य गुरूणा सङ्गतिः, तेन चास्य गुरौ अर्थिता घटते।

अन्वयार्थ - जैसे मानव धर्मशास्त्र में वेदज्ञों की परिषत् ही धर्मनिर्णय में प्रमाण मानी जाती है, इसी प्रकार मुमुक्षु के लिये गुरू उपसदन अनिवार्य है, अतः मुमुक्षु का गुरू उपसदन भी उचित ही है।

धर्मनिर्णयेति। मानवे मनुस्मृतौ शास्त्रे।

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।

सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः।।१।।

इति मनुना धर्मनिर्णयो वेदवित्पर्षत्साध्य इत्युच्यते। तद्वदात्मज्ञानस्यापि गुरूपदेश-साध्यत्वात्तदर्थमस्य गुरूपसदनं युक्तमित्याशयेनाह—तद्वदत्रेति। ब्रह्मनिर्णयसाधनमिति शेषः। फलितमाह—तेनेति।।७०।।

धर्मनिर्णय - मनुजी महाराज ने किसी धार्मिक सिद्धान्त के निर्णय के लिये वेदवित् विद्वानों की सभा ही निर्णायक बताई है। कहा भी है - मनुस्मृति-"चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा। सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः"। वैदिक धर्म के चार ज्ञाता हैं एक तो वेद निष्णात् विद्वानों की सभा,और तीनों वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद, अथवा तीनों वेद तथा उनकी ज्ञाता विद्वत् परिषद, जिस बात को कहते हैं वही धर्म होता है। याज्ञवल्क्य जी तो यह कहते हैं कि "अध्यात्मज्ञानेषु निपुणतमः एकोऽपि यं ब्रूते सोऽपि धर्मः" समस्त

वेद वित् एक ही व्यक्ति जो निर्णय देवे वह धर्म है। इस प्रकार निर्णय के लिये मनुजी महाराज ने वेद की ज्ञाता विद्वत् परिषद् मानी है। तद्वदत्र= इसी प्रकार ब्रह्मनिर्णय (आत्मज्ञान) भी गुरू उपदेश साध्य ही है। इसलिये गुरू की शरणागति में जाना उचित ही है। तेन= इस कारण से (आत्मज्ञान प्राप्ति के लिये), च= निश्चितरूप से, अर्थिताऽस्य= गुरूशरणागति की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। घटते=गुरूशरणागति ब्रह्मनिर्णय की साधन होने से वह गुरू शरणागति सार्थक ही है।

ननु धर्ममीमांसाया षष्ठाध्याये वेदार्थाधिकारी निरूपित इति किमत्राथशब्देनाधिकारि-निरूपकेण। न स शास्त्रान्तरत्वान्न पुनरूक्तिर्दोषायेति वाच्यम्, तथापि कृतकरणानर्थक्यात्। अन्यथा वेदस्यार्थवत्त्वादेरप्यत्र निरूपणं स्यादिति तत्राह—

शंका= पूर्वमीमांसाकार जैमिनिजी महाराज ने पूर्वमीमांसा के छठवे अध्याय में वेदार्थ के २अधिकारी का निरूपण किया ही है। फिर उत्तर मीमांसा के अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा "में अथ शब्द से अधिकारी का निरूपण करना निरर्थक ही है। यदि इस पर कहे कि वेदान्त शास्त्र (उत्तर मीमांसा) अलग शास्त्र होने के कारण अधिकारी का दुबारा निरूपण होने से पुनरूक्ति दोष को दोष नहीं मानना चाहिये। तो भी यह कहना ठीक नहीं क्योंकि जो वस्तु एक बार हो चुकी है - उसको दुबारा करना उचित नहीं होता "कृतकरणानर्थक्यात्" अन्यथा पूर्व मीमांसा में वेद मंत्रों के जो अर्थ पहिले बताये हैं, दुबारा उन्हीं अर्थों का उत्तर मीमांसा में अर्थ करना चाहिए। इस पर उत्तर देते हैं -

यः कर्मकाण्डविषयेऽभिहितोऽधिकारी
सोऽयं प्रवृत्तिषु निवृत्तिषु तुल्यरूपः।।
अत्राभिधित्सितविशेषणपूगयुक्तोऽ
साधारणस्त्वभिमतः पुरुषो निवृत्तौ ।।७१।। (वसन्त० ति० छन्द)

अन्वय= यः कर्मकाण्डविषयो अभिहितो अधिकारी सः प्रवृत्तिषुनिवृत्तिषु तुल्यरूपः। अत्राभिधित्सितता विशेषणपूगयुक्तोऽसाधारणः पुरुषो निवृत्तौ अभिमतः।।७१।।

अन्वयार्थ= कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में जो अधिकारी कहा गया है वह प्रवृत्ति निवृत्ति उभय साधारण है, किन्तु इस निवृत्ति वाक्य में तो विवेकादि विशेषणों से युक्त अधिकारी विशेष रूप से विवक्षित है।

यः कर्मकाण्डेति। मीमांसाशास्त्र इति शेषः। कर्मसमूहमुद्दिश्येति वाऽर्थः। अभिहितः षष्ठाध्याये निरूपित इत्यर्थः। प्रवृत्तिषु निवृत्तिषु तुल्यरूप इति। अग्निहोत्रादौ प्रवर्तमानस्यापि

कलञ्जभक्षणादिनिवृत्तिलङ्घने तन्निवृत्तिशीलस्याप्यग्निहोत्रद्यनुष्ठानलङ्घने प्रत्यवायतौल्यात्, अयं प्रवृत्त्यादितुल्य इत्यर्थः। प्रस्तुताधिकारिणस्ततो विशेषमाह—अत्रेति। अस्मिन् शास्त्रे। अथशब्देन सूचितमप्यधिकारिविशेषणं तार्तीयन्यायेनैव स्थिरं भवतीत्यभिधित्सितेत्युक्तम्। वेदान्तशास्त्रे हि साधनचतुष्टयसंपन्नेन सकलकर्मत्यागिना ब्रह्म विचार्यमिति निरूप्यत इति ततोऽस्य विशेषः। न चायं षष्ठान्यायेन सिध्यतीति न वैयर्थ्यम्। अर्थवत्त्वादिकं तु वेदस्य न ततो न्यायान्तरमपेक्षत इति नात्र तन्निरूपणमिति भावः।।७१।।

यः कर्मकाण्डेति —पूर्वमीमांसा शास्त्र का, कर्म समूह प्रतिपादक शास्त्र का। अभिहितः, छठवें अध्याय में जिस अधिकारी का कर्ममार्गि का निरूपण हुआ है — सोऽयं = वह तो, प्रवृत्तिषु निवृत्तिषु= प्रवृति में तथा निवृत्ति में, तुल्यरूपः- समान रूप से ही है। जैसे- अग्निहोत्र में प्रवृत्त जो कर्ममार्गी पुरुष है - उसको कलञ्जभक्षणादि निवृत्ति मार्ग का परिपालन करना जरूरी है - अर्थात् वह कलञ्ज भक्षण न करें। साथ में अग्निहोत्रादिक कर्म का अनुष्ठान भी करें। यदि वह कलञ्ज भक्षण निवृत्ति से हटे नहीं और अग्निहोत्रादि जो नित्य कर्म है - उससे हट जाय तो वह दोष होगा। तात्पर्य यह है कि एक ही अग्निहोत्र का अधिकारी (अग्निहोत्र में) प्रवृति करें एवं कलञ्ज भक्षण में निवृत्ति करें। दोनों में एक ही अधिकारी नियुक्त है।

लेकिन अत्राभिधित्सित= लेकिन उत्तर मीमांसा में वेदान्त शास्त्र में अथ शब्द से अधिकारी की विशेषता बताते हैं। तार्तीय न्याय से समझाते हैं - "तार्तीय न्याय" उसे कहते हैं - निवृत्ति के अंगभूत अनुष्ठेय वस्तु में प्रवृत्त होना जैसे - शमदमादि उपेत जो अधिकारी - वह अधिकारी शमदमादि निवृत्ति का अङ्गभूत जो ब्रह्म उसके अनुष्ठान में उक्त अधिकारी की प्रवृत्ति होनी चाहिये। अर्थात् अथ शब्द से वेदान्त शास्त्र का अधिकारी साधनचतुष्टय संपन्न सकल कर्म त्याग पुरःसर ब्रह्म विचारों में प्रवृत्त होता है। (पूर्व मीमांसा में एक कर्म का त्याग और अग्निहोत्रादिक कर्म का अनुष्ठान अधिकारियों को बताए हैं—लेकिन उत्तर मीमांसा में सम्पूर्ण कर्म का परित्यागपूर्वक ब्रह्मविचार में प्रवृत्ति बतायी) इसलिये पूर्व मीमांसा के छठवें अध्याय के द्वारा यह उत्तर मीमांसा विशेष अधिकारी का ग्रहण नहीं होता है। अब रह गयी - वेद के अर्थवत्वादिक का भी पुनः प्रतिपादन करना चाहिये - सो ठीक है क्योंकि पूर्व मीमांसा के अधिकारी के लिये तार्तीय न्याय की जरूरत थी वैसी यहां वेदान्त में किसी न्याय की वेद के अर्थ करने के लिये आवश्यकता नहीं है।

नन्वस्यापि श्रवणादिप्रवृत्तेनिवृत्तेश्चाग्निहोत्रादेः सत्त्वादयमपि प्रवृत्तिनिवृत्तिसाधारण

एवेत्याशङ्क्याह–

शंका– वेदान्त में भी श्रवणादिक में प्रवृत्ति तथा शमदमादिक में निवृत्ति दोनों ही पूर्व मीमांसा के - अग्निहोत्र में प्रवृत्ति का कलञ्ज भक्षणादिक से निवृत्ति बराबर ही तो हैं, इसपर कहते हैं -

शास्त्रं प्रवृत्तिषु निवृत्ति तुल्यरूपं
साधारणस्य पुरुषस्य पुराऽभ्यधायि।।
अस्योच्यते सकलकर्मनिवृत्तिभाजः
सर्वं निवृत्तिविषियं श्रवणादिशास्त्रम्।।७२।।

अन्वय= (जैमिनिना)पुरा साधारणस्य पुरुषस्य प्रवृत्तिषुनिवृत्तिधु तुल्यरूपं अभ्यधायि अस्य (विदान्त शास्त्रस्य) सकलकर्मनिवृत्तिभाजः श्रवणादि शास्त्रम् सर्वं निवृत्तिविषयं उच्यते।।

अन्वयार्थ : जैमिनिजी ने पहले प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में साधारण अधिकारी पुरुष के लिये तुल्यरूप यजेत् न हिंस्यात् सर्वभूतानि "आदिकर्मकाण्ड शास्त्र का प्रतिपादन किया है। लेकिन सकल कर्म निवृत्ति योग्य साधन चतुष्टयरूप अधिकारी के लिये समस्त श्रवणादि (श्रोतव्यः मन्तव्यः) बादरायण शास्त्र निवृत्ति विषय मात्र का प्रतिपादन करने के लिये कहा है।

शास्त्रमिति। प्रवृत्तिषु निवृत्तिषु साधारणस्य पुरुषस्य तुल्यं समबलं शास्त्रं विधिनिषेधशास्त्रमिति पुरा पूर्वतन्त्रे अभ्यधायि जैमिनिनेति शेषः। अस्य ज्ञानाधिकारिणः संन्यासिनः सर्वं श्रवणादिशास्त्रं निवृत्तिविषयमित्युच्यते बादरायणादिभिरिति सम्बन्धः। अग्निहोत्रादिशास्त्रं हि तदधिकारिणस्तदर्थंकर्तव्यतामेव प्रतिपादयति, न तु तदितरव्यापारं परिसञ्चष्टे, स्वार्थे बाधकाभावादिति स उभय साधारणः, अतस्तच्छास्त्रद्वयमपि तं प्रति समबलमेव जैमिनिना विचारितम्। बादरायणस्तु–"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इतिशास्त्रानुसारेण ज्ञानोद्देशेन सकलकर्मत्यागं निरूप्य संन्यासिनैव ब्रह्म विचार्यमित्याह। तत्र यदि श्रवणादिशास्त्रमस्य प्रवृत्तिं कामप्युपदिशेत्तर्हि सकलकर्मसंन्यासशास्त्रं बाध्येतेति श्रवणादिशास्त्रमपि निवृत्तिविषयमेवेत्यधिकारिद्वयं परस्परविलक्षणमित्यर्थः।।७२।।

शास्त्रम्–प्रवृत्तिषुनिवृत्तिषु साधारणस्य पुरुषस्य तुल्यम् = कर्म मार्ग में लिप्त ऐसे पुरुष के लिये जैमिनिजी ने प्रवृत्ति शास्त्र तथा निवृत्ति शास्त्र दोनों समान रूप से पहिले ही कह दिया है। लेकिन यहां ज्ञान मार्ग में लिप्त पुरुष के लिए संन्यासियों के लिए -श्रवणादि शास्त्र व्यासजी महाराजजी ने निवृत्तिपरक कहा है। अग्निहोत्रादि शास्त्र उसके अधिकारी को अग्निहोत्र कर्म की इति कर्तव्यता का प्रतिपादन करता है-, लेकिन उस अग्नहोत्र कर्म

के साथ अन्य किसी व्यापार का प्रतिपादन नहीं करता है। अपने अग्निहोत्रादि अर्थ में कोई बाधक तो है नहीं। अतः कलञ्जभक्षण से निवृत्ति पुरःसर अग्निहोत्रादि प्रवृत्ति रूप दोनों ही शास्त्र कर्म अधिकारियों के प्रति समान रूप से जैमिनि ने कहे हैं । लेकिन व्यासजी ने तो - "शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्।। इस शास्त्रानुसार आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिये सर्व कर्म का परित्याग का निरूपण करके संन्यासी ही ब्रह्म का विचार करें ऐसा कहा है। तार्तीय न्याय से यदि श्रवणादि शास्त्र भी प्रवृत्ति का प्रतिपादन करें, तो सर्वकर्मपरित्याग, "सर्वकर्म का परित्याग" रूप शास्त्र बाधित हो जायेगा। शास्त्र में श्रवणादि शास्त्र भी निवृत्ति परक ही है। अतः पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा दोनों शास्त्रों में अधिकारी एक दूसरे अत्यन्त विलक्षण ही है यह सिद्ध हुआ। इसलिये "अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा" इससे अथ शब्द से अन्य अधिकारी का निर्देशन किया है, जो पूर्व मीमांसा शास्त्र से अलग है।

एवं धर्ममीमांसाशास्त्रस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिसाधारणाधिकारिविषयत्वं, ब्रह्ममीमांसायास्तु निवृत्तिमात्रनिष्ठपुरुषविषयत्वमित्युक्तम्, एतच्च मीमांसाकानामपि सम्मतमित्याह—

धर्मशास्त्र (कर्मशास्त्र) पूर्व मीमांसा शास्त्र प्रवृत्ति निवृत्ति उभय साधारण है जबकि ब्रह्म मीमांसा शास्त्र केवल निवृत्तिपरक है - यह कहा। इस बात को पूर्व मीमांसक भी स्वीकृत करते हैं -

शास्त्रद्वैविध्यदृष्टेर्द्विविधमधिकृतेर्भेदमप्याश्रयन्ते
तद्द्वैविध्योपलब्धेःपुरुषमधिकृतं शास्त्रयोर्भिन्नमाहुः।।
शास्त्रार्थद्वित्वहेतोः पुरुषमधिकृतं तद्गतं चाधिकारं
नोचेद्भिन्नं प्रतीयुर्द्विविधमिह वृथा शास्त्रमापद्यते हि।।७३।।

अन्वय= शास्त्रद्वैविध्यदृष्टेः द्विविधिमधिकृतेः भेदमप्याश्रयन्ते, तद्द्वैविध्योपलब्धेः पुरुषमधिकृतं शास्त्रयो–र्भिन्नमाहुः। पुरुषमधिकृतं शास्त्रार्थद्वित्वहेतोः, तद्गताचाधिकारं नोचेद्भिन्नं प्रतीयुर्वृथाद्विविधिमिह शास्त्रमापद्यते हि।।

अन्वयार्थ= शास्त्र के दो भेद होने से उनके अधिकारी भी दो हैं। जो भिन्न-भिन्न हैं। उनके अधिकारी में दो भेद दिखाकर पुरुषो में दो भेद किया है। शास्त्रों के विभिन्न दो विषय देखकर भी अधिकृत (शास्त्र) के अधिकारी पुरुष तथा उनके अधिकारों को यदि भिन्न-भिन्न न माना जाए तो शास्त्र द्विविध है, यह व्यर्थ हो जाएगा।

शास्त्रेति। असन्निकृष्टार्थप्रतिपादकं वचनं शास्त्रं तद्द्वैविध्यदृष्टेर्हेतोरधिकारस्य द्विविधं भेदमप्याश्रयन्ते। तस्याधिकारस्य द्वैविध्योपलब्धेः पुरुषं तद्विशिष्टमधिकृतमधिकारिणम्।

शास्त्रयोः शास्त्रार्थयोः। उक्तमर्थं विपक्षे बाधकमुखेन द्रढयति—शास्त्रार्थेति। मीमांसका एवमाहुः—असन्निकृष्टार्थवचनं शास्त्रं, तद्भेदे च तदर्थो भिद्यते, भिन्नासन्निकृष्टार्थं विना तदयोगात्, तदर्थभेदे च तदनुष्ठाननिमित्तमधिकारोऽपि भिद्यते, अन्यथा चित्राकारीर्यादेरपि स्वर्गकामाद्यधिकारसम्बन्धप्रसङ्गात्। ततश्च तद्विशिष्टोऽधिकार्यपि शास्त्रभेदे भिद्यते, अन्यथा शास्त्रभेदो न स्यादिति। तद्वदिहापि प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयतया केवलनिवृत्तिविषयतया च भिन्नयोर्धर्मब्रह्ममीमांसयोस्तदर्थाधिकारिणोर्भेदेन भवितव्यमिति भावः।।७३।।

शास्त्रेति= परम्परासम्बन्ध से असन्निकृष्टार्थ के प्रतिपादक वचन को शास्त्र कहते हैं। द्वैविध्यदृष्टेः= वह शास्त्र दो प्रकार के हेतुओं के कारण, द्विविधंभेदमप्याश्रयन्ते - दो प्रकार का हो जाता है। अधिकारी भी भिन्न-भिन्न है। उनके लिये प्रतिपादक अर्थ वाला शास्त्र भी दो प्रकार का है।

इसी बात का निर्णय विपक्षी (पूर्व मीमांसक) भी अंगीकार करते हैं - पूर्व मीमांसक ऐसा कहते हैं कि शास्त्र - मतलब जो असन्निकृष्टार्थ का प्रतिपादन करें, उस शास्त्र के भेद से उसका अर्थ भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। तो असन्निकृष्टार्थ के भेद बिना - शास्त्र का (शाखा का) भेद नहीं हो सकता। जब अर्थ अलग-अलग हो गया तो उसका अनुष्ठान करने वाला अधिकारी भी अलग-अलग हो जाता है। नहीं तो "चित्राकारीरियाग" कारीरियाग जो वर्षा के लिये किया जाता है - वह करने वाला भी स्वर्ग कामना का अधिकारी होगा। वृष्टि वाला अधिकारी तथा स्वर्ग का अधिकारी अलग-अलग है क्योंकि दोनों के प्रतिपादक शास्त्र भी अलग-अलग है। यदि एक ही शास्त्र माना जाय तो अधिकारी भेद नहीं हो पायेगा। शास्त्र दोनों के अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र भिन्न-भिन्न होने से अधिकारी भी भिन्न भिन्न हैं। वैसे यहां भी पूर्व मीमांसा प्रवृत्ति निवृत्ति उभय साधारण है और उत्तर मीमांसा तो केवल निवृत्ति विषयक है। इनके प्रतिपादक धर्म-मीमांसा (पूर्व मीमांसा) तथा ब्रह्ममीमांसा (उत्तर मीमांसा) भिन्न-भिन्न होने से उसके अर्थ भी भिन्न-भिन्न है। उनके अधिकारी भी भिन्न-भिन्न है। यह बात सिद्ध हुई।

ननु सर्वं निवृत्तिविषयं श्रवणादीत्युक्तमयुक्तं, ज्ञानाधिकारिणोऽप्यहिंसादियमवच्छौचादेर्नियमस्यापि संन्यासिन उपदेशात्तत्राह—

शंका= श्रवणादिपरक ब्रह्मशास्त्र केवलनिवृत्तिपरक नहीं मान सकते क्योंकि संन्यासी जो इसका अधिकारी है - उसके लिये भी तो अहिंसा, यम, नियमादि तथा शौचादिक का नियम बना है, इसपर कहते हैं -

यमनियमविधानैर्वाङ्मनःकायचेष्टा-
व्युपरमणमशेषैः कथ्यते न प्रवृत्तिः।।
यदि भवति कदाचित्काचिदस्य प्रवृत्तिः
श्रुतिविहितनिवृत्तेः कर्मणां कत्थनं स्यात्।।७४।।

अन्वय – अशेषैः यमनियमविधानैः वाङ्मनः कामचेष्टाव्युपरमणं कथ्यते, प्रवृत्तिः न, यदि अस्य कदाचित् प्रवृत्तिः स्यात्। कर्मणां श्रुतिविहितनिवृत्तेः कत्थनं स्यात्।।

अन्वयार्थ - सम्पूर्ण यम नियमादि वाक्य से कायिक वाचिक तथा मानसिक प्रवृत्ति का निषेध मात्र किया है। प्रवृत्ति विधान नहीं है। यदि मुमुक्षु के लिये प्रवृत्ति विहित होती तो मुमुक्षु के लिये श्रुति विहित निवृत्ति व्यर्थ हो जाती।

यमनियमेति। यतनियमयोर्विधानैर्विधायकवाक्यैरित्यर्थः। अत्र यमग्रहणं दृष्टान्तार्थमुक्तम्। अशेषैर्यमनियमविधानैरिति सम्बन्धः। प्रवृत्तिः शौचादिरूपा। यमशास्त्रवन्नियमशास्त्रस्यापि निवृत्तिपरत्वमेव न प्रवृत्तिपरत्वमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह–यदीति। अस्य ज्ञानाधिकारिणः कर्मणां श्रुतिविहितनिवृत्तेरिति सम्बन्धः। कत्थनं कत्थना पीडेति यावत्। "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" इति श्रुतिर्ज्ञानार्थिनः सकलकर्मत्यागं विधत्ते। न च यावज्जीवादिवाक्यानुसारेण काम्यकर्मन्यासमात्रं प्रव्रज्याश्रुत्यर्थ इति वाच्यम्। यज्ञोपवीतादेरपि तत्र त्यागविधानात्। संन्यासिनो धर्मविधायकवाक्ये "मुण्डोऽपरिग्रहः" इति शिखादिराहित्यनियमदर्शनेन प्रति-प्रसवन्यायेनापि यज्ञोपवीतादेरनङ्गीकारात्। तस्मात् "यदहरेव विरजेत्" इति वैराग्यस्य तदधिकारस्य श्रवणाद्विरक्तमुमुक्षुविषयं संन्यासशास्त्रम्। यावज्जीवादिशास्त्रं तु न तत्समान-विषयमित्यविरक्तविषयमेव। अतः सङ्कोचकाभावात्संन्यासशास्त्रं सकलकर्मनिवृर्तिं विधत्ते। तदस्य शौचादिप्रवृत्त्यभ्युपगमे बाधितं स्यात्। न च शौचाद्यनेकविधिबलात्तदिष्टमिति वाच्यम्। शौचादिशास्त्रस्य संन्यासशास्त्रवद् विरक्तमुमुक्षुमात्रविषयत्वाभावेन सामान्यविषयस्य ततो दुर्बलत्वादिति न काऽपि ज्ञानाधिकारिणो विधितः प्रवृत्तिरिति भावः।।७४।।

यमनियमविधानैः - यमनियमों का विधान करने वाले विधायक वाक्यों से तथा प्रवृत्तिः= शारीरकी शुध्दि, जल, मिट्टी आदि द्वारा पवित्र करना आदि। यम - अहिंसा, सत्यं, अस्तेयं, ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः(यमः),नियम - शौच, तपः, संतोष, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानानि नियमः। यम में - हिंसा से निवृत्ति, चोरी से निवृत्ति, विषय-सुख से निवृत्ति, असत्य से निवृत्ति, तथा परिग्रह(संग्रह) से निवृत्ति । इस प्रकार, यम विधायक वाक्य निवृत्ति परकही है। उसी प्रकार नियमपरक वाक्य भी निवृत्ति पर भी कही है।

शंका= इसमें क्या हेतु है ?

यदीति— समाधान= यदि इस ज्ञानाधिकारी पुरूष के लिये श्रुतिविहित निवृत्ति मार्ग का उपदेश करें तो श्रुति वाक्य का ही पीडन हो जाता है क्योंकि श्रुति कहती है "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" जिस दिन साधक को वैराग्य हो जाए उसी दिन सब कर्म का परित्याग कर संन्यास का ग्रहण करें। विरक्ति परक ही यह मन्त्र है। इस वाक्य का यह अर्थ नहीं कि विरक्त संन्यासी का जब तक जीवन है तब तक सकाम कर्म करें। सकामी के लिये "यावज्जीवं अग्निहोत्रं" ग्रहण करें लेकिन संन्यास में तो यज्ञोपवित का भी परित्याग किया जाता है। संन्यासी के लिये धर्म विधायक और भी वाक्य है "मुण्डोऽपरिग्रहः" शिखा से रहित होना आदि लिखा है - तो यज्ञोपवीत भी अपने आप छोड़ना पड़ता है। प्रतिप्रसव न्याय से। प्रतिप्रसव न्याय= "सामान्य रूप से परित्याग होने पर भी विशेष रूप से ग्रहण करना। प्रतिप्रसव न्याय से भी संन्यासी के लिये कर्म विधान नहीं है। निषेध्यस्य एकदेशे पुनर्विधानम् प्रतिप्रसवः" इस न्याय से भी नहीं है।। इसी प्रकार जैसे शिखा का परित्याग वैसे यज्ञोपवीत का भी परित्याग। इसलिये "यदहरेव विरजेत्" यह शास्त्र वैराग्ययुक्त श्रवणादिपरक के लिये (संन्यास शास्त्र) त्यागमय शास्त्र है।"यावज्जीवं" "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" आदि शास्त्र तो जो त्यागी नहीं है उनके लिये है। इसलिये संन्यास शास्त्र निवृत्तिपरक ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिये संन्यासी के लिये "शौच तप स्वाध्यायादिक प्रवृत्ति मानी जाए तो निवृत्तिपरक शास्त्र कत्थनम्- बाधित हो जायेगा। दूसरी बात शौचादि शास्त्र केवल संन्यासी मात्र के लिये नियुक्त भी नहीं है। जैसे "मुण्डोऽपरिग्रहः" के समान। यदि संन्यासीपरक उसे मानें तो सामान्य प्रजा को विषय करने वाला शास्त्र लुप्त हो जायेगा, जबकि "यावज्जीवं" यह सामान्य व्यक्तिपरक शास्त्र है न कि संन्यासीपरक। अतः ज्ञान का अधिकारी ऐसा जो निवृत्ति-प्रधान साधक उसके लिये विधि-वाक्य की प्रवृत्ति कराने के लिए कोई आवश्यकता नहीं। अर्थात् प्रवृत्ति वाक्य निरर्थक है।

नन्वेवं श्रवणादौ कथं मुमुक्षोर्ब्रह्मजिज्ञासोः प्रवृत्तिः तत्प्रापकाभावात्। न चान्वयव्यतिरेकाभ्यां श्रवणादेर्ज्ञानसाधनत्वावगमात्स्वत एव मुमुक्षोस्तत्र प्रवृत्तिरिति वाच्यम। नियमेन तत्र प्रवृत्त्ययोगात्, अन्यतोऽप्यभिलषितज्ञानसम्भवात् कथं वा तच्छास्त्रस्य निवृत्तिनिष्ठत्वमिति तत्राह—

शंका - ब्रह्मज्ञान का अधिकारी पुरूष (मुमुक्षु) की आत्मविषयक श्रवण में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि प्रवृत्ति कराने वाला कोई अन्य वाक्य है नहीं। यदि कहे कि - आत्म-श्रवण से आत्म ज्ञान होता है - उसके अभाव में आत्मज्ञान नहीं होता है, इस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर मुमुक्षु की श्रवण में प्रवृत्ति मानें। तो वही कर ठीक नहीं है क्योंकि श्रवणादि

के बिना ही अन्य मार्ग से ग्रन्थादि के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। दूसरी बात श्रवणादि शास्त्र निवृत्तिपरक कैसे हैं? इसको समझाते हैं -

औदासीन्यविशेषमेव हि परब्रह्मात्मधीजन्मने
शास्तीदं श्रवणादिशास्त्रममुना त्वाक्षिप्यते व्यापृतिः।।
तां तां व्यापृतिमन्तरेण घटते सा सा न शास्त्रार्थधी-
रित्यर्थाल्लशुनादिभक्षणगतौदासीन्यबोधादिव।।७५।।

अन्वय= इदं श्रवणादिशास्त्रं परब्रह्मात्मधीजन्मने औदासीन्यविशेषमेव शास्ति। अमुना तु व्यापृतिः आक्षिप्यते। तां तां व्यापृतिमन्तरेण सा सा शास्त्रार्थधीः न घटते। इति अर्थात् लशुनादिभक्षणगतौदासीन्य-बोधात् इव।।

अन्वयार्थ - यह श्रवणादि शास्त्र ब्रह्म-साक्षात्कार की उत्पत्ति के लिए (अनात्म चिन्तन से) औदासीन्य मात्र का विधान करता है। इस (औदासीन्य) के द्वारा श्रवणादि व्यापार का आरोप किया जाता है क्योंकि श्रवणादि व्यापार के बिना ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः अर्थापत्ति प्रमाण से श्रवणादि प्रवृत्ति की सिद्धि वैसे ही हो जाती है, जैसे लशुनादि भक्षण के औदासीन्य बोध से (भक्षण विरोधी संकल्प आक्षिप्त किया जाता है)। प्रवृत्ति कराने के लिऐ कोई आवश्यकता नहीं। अर्थात् प्रवृत्तिवाक्य निरर्थक है।

औदासीन्येति। औदासीन्यं प्रवृत्यभावस्तस्य विशेषमनात्मश्रवणादिरूपप्रवृत्तिविशेषा-भावमित्यर्थः। शास्ति उपदिशति। अमुना ज्ञानार्थमुपदिष्टौदासीन्यविशेषेण व्यापृतिः आत्मश्रवणादि- प्रवृत्तिः अर्थादाक्षिप्यत इति सम्बन्धः। अनुपपत्तिमेवाह—तां तामिति। श्रवणमननादिरूपामित्यर्थः। सा सा शास्त्रार्थधीरनात्मश्रवणमननादिनिवृत्तिरूपौदासीन्यात्मक-श्रोतव्यादिशास्त्रार्थधीः, न घटते इति= यत इत्यर्थः। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादिशास्त्रेणात्मज्ञानान्वयव्यतिरेकसिद्धतयोक्तबाधकबलेन च श्रवणादिव्या-पारविधानासम्भवेनात्मज्ञानविरोध्यनात्मश्रवणाद्यभावंरूपमौदासीन्यं विधीयते सेयं परिसंख्या अनात्मव्यापारवर्जतमन्तरेण शतशोऽनुष्ठितश्रवणादिनाऽप्यद्वयात्मज्ञानासम्भवात्तस्मिंश्च विहिते चेतसो निर्व्यापारत्वासम्भवेन तावताऽप्यभिमतज्ञानासिद्धेश्चान्वयव्यतिरेकाद्यवधृतज्ञान-साधनभावश्रवणादिप्रवृत्तिराक्षिप्यत इति भावः। अर्थान्तरनिषेधसामर्थ्यादर्थान्तरसिद्धौ दृष्टान्तमाह लशुनादीति। "लशुनं न भक्षयेत्, न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्यादिनिषेधेन तत्तद्भक्षणादेरिष्ट-साधनत्वाभावरूपौदासीन्यबोधाद्यथा तद्भक्षणादिप्रापकरागादिनिवृत्तौ यतते तद्वदित्यर्थः।।७५।।

औदासीन्येति= औदासीन्य का अर्थ है प्रवृत्ति का अभाव। कौन-सी प्रवृत्ति? तो विशेष—आत्मभिन्न जो अनात्म पदार्थ है, उनके प्रति जो श्रवणादि प्रवृत्ति है, उस प्रवृत्ति के अभाव का। शास्ति- उपदेश किया जाता है। अमुना - "आत्मवाऽरे" अनात्म श्रवणादि प्रवृत्ति के

अभावरूप औदासीन्य विशेष उससे, व्यापृति - आत्मविषयक श्रवणादि प्रवृत्ति का अपने आप आक्षेप किया जाता है। यदि ऐसा न माने तो - अनुपपत्ति बता रहे है। - तां तामिति– "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः" आत्मविषयक श्रवणमननादिरूप वाक्य का। "सा सा शास्त्रार्थ धीः= अनात्मश्रवणमननादि निवृत्तिरूप जो उदासीनता के बिना ये श्रुति के वाक्य सार्थक ही नहीं हो पायेंगे। न घटते - इसलिये औदासीन्य विशेष के द्वारा आत्मविषयक श्रवणादि प्रवृत्ति अपने आप आक्षेपित की जाती है, यह सिद्ध हुआ। तात्पर्य - "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि शास्त्र से श्रवणादि से आत्मज्ञान (यह अन्वय) तथा इनके अभाव में आत्मज्ञानाभाव (यह व्यतिरेक) यह सिद्ध है। लेकिन इसका बाधक भी तो अनात्म-श्रवणादि है उसके प्रति उदासीनता (प्रकृत्यभाव) जो जरूरी है। अर्थात् श्रवणादि विधि से अनात्म-श्रवणादि प्रवृत्त्यभाव बताया जाता है इसी का नाम है परिसंख्याविधि। इसके बाद आत्मज्ञान के लिये श्रवणादिक प्रवृत्ति अपने आप आक्षेपित की जाती है। कैसे? अनात्म-श्रवणादि के व्यापार से निवृत्त हुये बिना सैकड़ों बार भी आत्म-श्रवण करें तो भी आत्मज्ञान नहीं होगा। इसलिये अनात्म-श्रवणादिक के प्रति उदासीनता का विधान होने के बाद - चित्त अनात्म श्रवणादि से हट चुका है लेकिन वह खाली तो बैठेगा नहीं, इससे भी अभिलषित अर्थ की आत्मज्ञान की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये आत्मज्ञान के प्रति श्रवणादिक की प्रवृत्ति अन्वयव्यतिरेक से निश्चित रूप से होने के कारण - ऐसे श्रवणादि प्रवृत्ति का आक्षेप किया जाता है बाकी विधि वाक्य तो परिसंख्या विधिपरक ही है। औदासीन्यपरक इत्यर्थः।।

शंका– अर्थान्तर के निषेध से अर्थान्तर की विधि कहां से आ गई?

लशुनादि= लशुनं न भक्षयेत्, कलञ्जं न भक्षयेत्" लहसून नहीं खाना चाहिये, कलञ्ज नहीं खाना चाहिये" इत्यादि निषेध वाक्य से इन निषिद्ध पदार्थों के सेवन में इष्ट साधनत्व नहीं है - ऐसा बोध होने पर उनके प्रति प्रवृत्ति का अभाव (औदासीन्यता) हो जाता (जाती) है। फिर उन पदार्थों के भक्षण के प्रति जो आसक्ति है - रागादि है, उन रागादिक की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करता है। तो ये दोनों बातें एक ही वाक्य से सिद्ध हुई।

दृष्टान्तं विशदयति–

दृष्टान्त का और विवेचन कर रहे हैं–

औदासीन्ये बोधिते शास्त्रवृन्दैर-
थादस्मात्प्रच्युतस्यास्त्यनर्थः।।
इत्यालोच्य प्रच्युतेः प्रापकस्य

प्राबल्येऽर्थे प्रातिलोम्यं विधत्ते।।७६।।

अन्वय – शास्त्रवृन्दैः औदासीन्ये बोधिते (सति) अस्माद् अर्थात् प्रच्युतस्य अनर्थः इत्यालोच्य श्रवणादि शास्त्रं प्रच्युतेः प्रापकस्य प्राबल्येऽर्थे प्रातिलोम्यं विधत्ते।

अन्वयार्थ - संन्यास विधायक अनेक शास्त्रों से औदासीन्यके विधान करने पर इस निवृत्ति मार्ग से पतित व्यक्ति को अनर्थ प्राप्त होगा, इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुये श्रवणादि शास्त्र निवृत्ति मार्ग से पतित करने वाला रागादिक की उत्कृष्टता का अभिभवमात्र का विधान करता है। (श्रवणादि शास्त्र प्रवृत्ति बोधक नहीं है, यह भाव है)।

औदासीन्य इति। भक्षणादिधात्वर्थगतेष्टसाधनत्वाभाव इत्यर्थः। शास्त्रवृन्दैः लशुनादि-भक्षणनिषेधशास्त्रैः। अस्मान्निषेधशास्त्रार्थादौदासीन्यात्प्रच्युतस्य भ्रष्टस्य भक्षणादौ प्रवृत्तस्येति यावत्। अनर्थो नरकपातोऽस्तीत्यर्थादालोच्येति संबन्धः।"लशुनं न भक्षयेत्" इत्यादिनिषेधवाक्येन तद्भक्षणस्य बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वं निषिध्यते, तस्यैव लिङादिप्रतिपाद्यत्वात्। तत्र लशुनादिभक्षणस्य प्रत्यक्षप्रमितेष्टसाधनतया तद्विरहप्रयुक्तवर्णितविशिष्टाभावानुपपत्तेर्बलवद-निष्टननुबन्धित्वरूपविशेषणाभावादेव स वाच्य इति नरकसाधनत्वं तस्य निश्चीयते, तदिदमुक्तम् अर्थादालोच्येति। एवं तस्यानर्थहेतुत्वनिश्चयवान् भक्षणादिप्रवृत्तेः प्रापकस्य वक्ष्यमाणरागादेः प्राबल्यरूपेऽर्थे प्रातिलोम्यं विधत्ते, यथा पुनस्तद्भक्षणादावुत्कटरागो न भवति तथा स्वयं यत्नं कुरुते इत्यर्थः। एवं च यथा लशुनादिभक्षणे प्रवर्तकरागौत्कंठ्यनिवृत्तये श्रुतिमन्तरेण स्वयमेव प्रवर्तते एवमत्रापीति द्रष्टव्यम्।।७६।।

औदासीन्य इति– "लशुनं न भक्षयेत्"इत्यादि निषेध वाक्य के द्वारा धात्वर्थ न भक्षयेत्" से इष्टसाधनता का अभाव द्योतित होता है कि लशुनभक्षणं न मदीष्टसाधनम्।। लहसून खाना मेरे लिये इष्ट साधन नहीं है ऐसा बोध होता है। शास्त्र वृन्दैः- लहसूनादि भक्षण निषेध परक शास्त्रों से। अस्मात् प्रच्युतस्य= ऐसे निषेध शास्त्र निषिद्ध पदार्थ सेवन के प्रति प्रवृत्यभाव रूप उदासीनता बताते हैं और उसमें जो प्रच्युत (भ्रष्ट) हो गया अर्थात् इन निषिद्ध पदार्थों के सेवन में जो लग जाता है। उसके लिये- अनर्थ=नरक में जाना निश्चित है इति आलोच्य- ऐसे अर्थ का अनुसंधान करके। प्रच्युतेः प्रापकस्य- औदासिन्य से प्रच्युत- अर्थात् निषिद्ध पदार्थ के सेवन में प्रवृत होगा, इसके प्रातिलोम्यं विधत्ते=वह विरूद्ध चलता है। अर्थात् लहसुन भक्षणादि के प्रति रागादिक की दृढ़ता उसको हटाने के लिये श्रुति वाक्य के बिना स्वयं ही प्रवृत्त होता है। वैसे श्रवणादि वाक्य में भी समझ लेना।

दार्ष्टान्तिकं विशदयति–

अब दार्ष्टान्त में समझाते हैं–

औदासीन्यं बोधयच्छास्त्रमेत-
न्नित्यं पथ्यं बोधयत्यस्य पुंसः।।
पथ्यादस्मात्प्रच्युतस्यास्त्यपथ्यं
बुद्ध्वाऽपथ्यप्रातिलोम्ये यतेत।।७७।।

अन्वय= एतच्छास्त्रं औदासीन्यं बोधयत् अस्य पुंसः नित्यं पथ्यं बोधयति, अस्मात् पथ्यात् च्युतस्य अपथ्यमस्ति, इति बुद्ध्वा अपथ्यप्रातिलोम्ये यतेत। (शालिनी छन्दः)

अन्वयार्थ= औदासीन्य का बोध करता हुआ शास्त्र इस मुमुक्षु का नित्य पथ्यात्मक हित बताता है। इस पथ्य से विचलित पुरुष का अहित होता है। जानकर अहित का अवरोध करने के लिये पुरूष स्वयं यत्न करेगा।

औदासीन्यमिति। अनात्मविचारादेर्मोक्षसाधनत्वाभावमित्यर्थः। एतच्छास्त्रं "श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादि नित्यमात्यन्तिकं पथ्यमिष्टं ज्ञानद्वारा मोक्षसाधनमिति यावत्। तथा च श्रुतिः। "अन्या वाचो विमुञ्चथ" इति। अस्य मुमुक्षोस्ततः किं तत्राह—पथ्यादिति। अस्त्यपथ्यं संसाररूपोऽअर्थ इति बुद्ध्वेति संबन्धः। अपथ्यप्रातिलोम्ये यतेत, यथाऽयं न भवति तथा पूर्वोक्तविधयाऽऽत्मश्रवणादौ यतेतेत्यर्थः। पाठान्तरे त्वपथ्यं बुद्ध्वेति संबन्धः।।७७।।

औदासीन्येति = अनात्म विचार मोक्ष का साधन नहीं है। एतत् "शास्त्र" श्रोतव्यः मन्तव्यः इत्यादि आत्मा का श्रवण मनन करें इत्यादि शास्त्र, यह इष्ट साधन है। अर्थात् मोक्षरूप इष्ट का साधन है ऐसा बताता है। श्रुति कहती भी है—"अन्या वाचो विमुञ्चथ" आत्मातिरिक्त सभी वचनों को छोड दो। इससे मुमुक्षु को क्या फायदा?- पथ्यादिति (परहेज) पथ्य का पालन करना जरूरी है तभी औषधि काम करती है। संसार ही अनर्थ रूप अपथ्य है। और श्रवणादि शास्त्र पथ्य है। इसलिये अपथ्य प्रातिलोम्ये यतेत जिस प्रकार अपथ्य न होवे इसलिये आत्मश्रवणादिक में अर्थात् आक्षिप्त होकर प्रवृत्त होता है परिसंख्या-विधि के अनुसार। "उभयोश्च युगपत् प्राप्तवितरव्यावृत्तिपरो- विधिः परिसंख्याविधिः।। जैसे पञ्चपञ्च नखभक्षाः यह वाक्य अपञ्च नख भक्षण निवृत्ति परक है, वैसे वहां भी है।

एवं काण्डद्वयस्याधिकारिभेदमुपपाद्योपसंहरति—

कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड दोनों के अधिकारी भिन्न-भिन्न हैं, इसका उपपादन करते हुये उपसंहार कर रहे हैं—

वृत्ता प्रवर्त्तकनिवर्त्तकशास्त्रसिद्ध्यै
षष्ठे प्रवृत्तिनिवृत्त्यधिकारिचिन्ता।

अत्रैकमेव तु निवृत्त्यधिकारमार्ग
माश्रित्य सूत्रकृदथात इति प्रवृत्तः।।७८।

अन्वय= षष्ठे प्रवर्त्तकनिवर्त्तकशास्त्रसिद्ध्यै प्रवृत्तिनिवृत्त्यधिकारचिन्तावृत्ता। अत्र एकमेव निवृत्त्यधिकार–मार्गमाश्रित्य अथ अत इति सूत्रकृत् प्रवृत्तः।।

अन्वयार्थ= पूर्व मीमांसा के छठवें अध्याय में प्रवर्त्तक और निवर्त्तक शास्त्रों की सिद्धि के लिये प्रवृत्ति तथा निवृत्ति उभय साधारण अधिकारी का विचार किया जा चुका है इस (ब्रह्म मीमांसा) में भगवान् सूत्रकार (बादरायण) एकमात्र निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर प्रवृत्त हुये हैं, अथातो ब्रह्मजिज्ञासा आदि से।।

वृत्तेति। कृतेत्यर्थः। प्रवर्त्तकनिवर्त्तकशास्त्रसिद्ध्यै विधिनिषेधशास्त्रार्थानुष्ठानसिद्ध्यै। षष्ठे पूर्वमीमांसायामितिशेषः। प्रवृत्तिनिवृत्त्यधिकारिचिन्ता स्वर्गकामाधिकरणादौ कलञ्जमक्षण-निषेधाधिकरणादौ च प्रवृत्तिनिवृत्त्यधिकारिचिन्ता वृत्तेति संबन्धः। अत्र अस्मिन् शास्त्रे त्वेकमेवेति संबन्धः। एवं चात्राधिकारिचिन्तायां न पुनरुक्तिरिति भावः।।७८।।

वृत्ता= किया है, क्या? तो बताते हैं–प्रवर्त्तक निवर्त्तक शास्त्रसिद्ध्यै= विधिनिषेध शास्त्र के अर्थानुष्ठान सिद्धि के लिये। षष्ठे–पूर्व मीमांसा के अन्दर। प्रवृत्तिनिवृत्त्यधिकार चिन्ता–स्वर्गकामादिक के लिये प्रवृत्ति का विचार किया है। अत्रैकमेव–इस वेदान्त शास्त्र में उत्तर मीमांसा शास्त्र में, एक निवृत्त्यधिकारमार्गम् आश्रित्य–निवृत्ति मार्ग के अधिकार के मार्ग का आश्रय लेकर ही विचार या चिन्ता की गई है। इसलिये अधिकारी के विचार से यह पुनरुक्त नहीं माना जायेगा। अथ और अत शास्त्र से उसका विवेचन किया। व्यासजी ने सूत्रकार ने इसका निरूपण अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्र से योजित किया है।

इदानीं सिंहावलोकनन्यायेन प्रच्युतेः प्रापकस्येत्युक्तम्, प्रापकमेव विशदयति–

सिंहावलोकन न्याय से (सिंह जब भी चलता है तो चारों ओर नजर दौड़ाता हुवा चलता है) निषिद्ध पदार्थ के सेवन से (उदासीन) प्रकृत्यभाव होना चाहिये उससे प्रच्युत अर्थात् निषिध्द पदार्थ के सेवन में तत्पर हो जाना यह सब बताया। अब औदासीन्य बताने वाला शास्त्र ही है, उसी को समझाते हैं–

औदासीन्यप्रच्युतेः प्रापकौ च
रागद्वेषौ नापरो हेतुरस्ति।।
रागद्वेषप्रातिलोम्ये प्रवृत्ति-
रौदासीन्यप्रापणाच्छास्त्रतोऽर्थात्।।७६।।

अन्वयः= औदासीन्यप्रच्युतेः प्रापकौ च रागद्वेषौ हेतुरस्ति नापरो (हेतुरस्ति) रागद्वेष प्रातिलोम्ये– प्रवृत्ति

औदासीन्यप्रापणात् अर्थात् शास्त्रतो (ऽस्ति)

अन्वयार्थ= औदासीन्य भङ्ग के प्रापक राग और द्वेष दो होते हैं। तीसरा और कोई हेतु नहीं होता। राग-द्वेष के प्रतिरोध में प्रवृत्ति तो औदासीन्य प्रापक शास्त्र से अर्थात् हुआ करती है।

औदासीन्यप्रच्युतेरिति। रागद्वेषौ, धात्वर्थस्येष्टसाधनताज्ञानाद्धात्वर्थगोचरेच्छा रागः, अनिष्टसाधनताज्ञानात्तत्र द्वेषः। लौकिकभोजनादौ वैदिकाग्निहोत्रादौ चाविशेषेण राग एव प्रवर्त्तकः, न तु वेदे प्रवर्त्तनातो लिङादिव्यापारात्प्रवृत्तिः, प्रमाणस्येष्टसाधनत्वादिस्वप्रमेयबोधनव्यापारं विना व्यापारान्तराभावादित्याशयेनाह—नापर इति। एवं प्रवर्त्तकनिवर्त्तकौ रागद्वेषावित्युक्त्वालशुन-भक्षणादौ रागिणस्तन्निवृत्त्यर्थं प्रवृत्तिप्रकार इत्यालोच्य प्रच्युतेः प्रापकस्येति प्रागुक्तं स्मारयति—रागद्वषेति। प्रातिलोम्ये प्रतिलोमे शश्वदनिष्टसाधनतानुसन्धाने प्रवृत्तिः स्यादिति शेषः।।७६।।

औदासीन्येति प्रच्युतेरिति = निषिद्ध पदार्थ के प्रति (औदासीन्य) प्रकृत्यभाव होना चाहिये उससे प्रच्युतिः—उसका उल्लंघन। प्रापकौ—उसमें प्रकृत्यभाव में प्रवृत्ति होनी चाहिये। इसके कारण हैं। रागद्वेषौ—"इदं मदीष्ट साधनं" इस इष्ट साधनता ज्ञान से "यजेत्" इत्यादि धात्वर्थ गोचर इच्छा को राग कहते हैं। एवं—इदं मम नेष्ट साधनम्" इस अनिष्ट साधनता ज्ञान से। न भक्षयेत्—इससे द्वेष होता है। लौकिकभोजनादि पदार्थ हो चाहे—वैदिक अग्निहोत्रादि पदार्थ हो दोनों में राग ही प्रवर्तक माना गया है। वेद में प्रवर्त्तकत्व नहीं है। इसलिये अग्निहोत्रादि में लिङादि व्यापार से प्रवृत्ति नहीं किन्तु रागादि से ही प्रवृत्ति है। प्रमाण की इष्ट साधनत्वादि जो अपने अपने प्रमेय का बोधरूप व्यापारान्तर उसके बिना प्रमाण का व्यापार नहीं हो सकता। "अग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादि वाक्य में इष्ट साधनता तो बताई नहीं है। अतः अन्य व्यापारान्तर इस प्रमाण से सम्भव नहीं। इसलिये रागादिक ही इसमें कारण है। यह माना गया। नापरः—"अग्निहोत्रं जुहुयात्" में प्रवृत्ति का कारण राग, "कलञ्जं न भक्षयेत्" इसमें निवृत्ति का कारण द्वेष है। इस प्रकार प्रवृत्ति दो प्रकार की बताई। ये दोनों प्रवृत्तियां राग द्वेषाधीन है। प्रच्युतेःप्रापकस्येति—भ्रष्टभाव को प्राप्त हुये व्यक्ति को पथ्य के उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को औदासीन्येति—उसकी जो स्वाभाविक रागद्वेषाधीन प्रवृत्ति है—उसमें प्रकृत्यभाव कराना = इसमें शास्त्र की सफलता है। यह बात अपने आप सिद्ध हो जाती है। यदि शास्त्र ऐसा नहीं करता है तब तो शाश्वत अनिष्टसाधनता के अनुसन्धान से (अनुष्ठान से) व्यक्ति की कुमार्ग में प्रवृत्ति होगी।।७६।।

एवं मुमुक्षोर्निवृत्तिमात्रेऽधिकार इति बादरायणस्य तद्व्युत्पादनमर्थवदित्युक्तम्। नन्वेवं सति मुमुक्षोः कथं शौचादिसिद्धिरित्यत आह—

इस प्रकार मुमुक्षु का निवृत्ति मात्र में ही अधिकार सिद्ध होने के कारण "अथातो

ब्रह्मजिज्ञासा" अथ शब्द से अधिकारीका विवेचन करना, बादरायण व्यास जी का तदर्थ कहना उचित ही है।

शंका= सब वेदान्त शास्त्र निवृत्तिपरक ही है तो फिर, मुमुक्षु के लिये शौचादिक की (पवित्रता भाव की) सिद्धि कैसे होगी, इसपर कहते हैं—

अशुचेः प्रतिषेधशास्त्रतो
न भवत्येव हि वेदचिन्तनम्।
श्रवणादिनिवृत्तिशास्त्रतः
स्वयमर्थादथ शौचमापतेत्।।८०।।

अन्वय= प्रतिषेधशास्त्रतः अशुचेः वेदचिन्तनं न भवत्येव, अथ श्रवणादिनिवृत्तिशास्त्रतः अर्थात् शौचम् स्वयम् आपतेत्

अन्वयार्थ= "नाशुचिर्ब्रह्म कीर्त्तयेत्" आदि निषेधशास्त्र के आधार पर अशुचि पुरूष को वेद चिन्तन में अधिकार नहीं है, अतः श्रवणादि शास्त्रों के द्वारा शौच का अपने आप आक्षेप हो जाता है।

अशुचेरिति- प्रतिषेधशास्त्रत इति।

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।

स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः।।

इति स्मृत्या वेदानुशीलिनोऽशुचित्वप्रतिषेधादशुचेर्वेदचिन्तनं न संभवत्येव, तेन विना च प्रागुक्तन्यायेन वेदान्तश्रवणादिर्न स्यात्। न हि वेदवाक्यमननुसन्दधता वेदान्तवाक्यं विचारयितुं शक्यमिति इतरनिवृत्तिपरश्रवणादिशास्त्रसामर्थ्यादेव शौचादिविधिमन्तरेणापि तदस्य सिद्ध्यतीति।।८०।।

अशुचेरिति—प्रतिषेध शास्त्र के द्वारा। शौचादिक की सिद्धि नहीं होती किन्तु शौचादिक की सिद्धि विधि के बिना ही होती है, यह बता रहे हैं—

द्वावेवव र्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।

स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः।।मनुस्मृति।।

मनुस्मृति में कहा है कि दो चीजों का हमेशा मुमुक्षु परित्याग करें। जो स्वाध्याय करने में उपयुक्त नहीं। एक तो अशुद्ध भूमि, दूसरी है खुद की अशुद्धि। इस स्मृति के द्वारा अपवित्रता का निषेध किया है। अपवित्र व्यक्ति के लिये वेद चिन्तन संभव

नहीं है। इसलिये परिसंख्या विधि के द्वारा वेदान्त का श्रवणादि संभव होता है। तो जिस मुमुक्षु को वेद वाक्य का अनुसंधान करना है, वेदान्त वाक्य विचार करना है, उसकी श्रवणादिक में प्रवृत्ति अनात्म श्रवणादिक से निवृत्तिपरक "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" इत्यादि वाक्य से आत्मश्रवण में अपने आप प्रवृत्ति होती है। विधि वाक्याधीन नहीं। इसी प्रकार अशुचि, अपवित्र भूमि निवृत्तिपरक वाक्य होने से शौचादिक की अपने आप सिद्धि होती है।

विधिवाक्य के बिना ही परिसंख्या विधि से शौचादिक की सिद्धि होती है।

नन्वेवमपि "यतीनां तु चतुर्गुणम्। चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्ष्यम्" इत्यादिशास्त्रसिद्ध-शौचाद्याश्रितचातुर्गुण्यादिनियमः कथं सिध्येत्तत्राह—

शंका= "यतीनां तु चतुर्गुणम्" चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्ष्यम्" इत्यादि शास्त्र बताते हैं कि संन्यासी को चारगुणा पवित्र रहना चाहिये, चारगुणा कम भोजन करना चाहिये— ये चारगुणा पवित्रतादि नियम कैसे सिद्ध होंगे क्योंकि संन्यासी के लिये तो विधि वाक्य है नहीं।

अचतुर्गुणशौचवारणात्,
स्वयमेवास्य चतुर्गुणं भवेत्।।
अचतुर्ष्वशनस्य वारणात्,
स्वयमेवास्य चतुर्षु भोजनम्।।८१।।

अन्वय= अस्य अचतुर्गुणशौचवारणात् स्वयमेव चतुर्गुणं भवेत्। अस्य अचतुर्षु अशनस्य वारणात् स्वयमेव चतुर्षुभोजनम्।

अन्वयार्थ= इस विधि संन्यासी के लिए चतुर्गुण शौच से भिन्न शौच का निषेध है कैसे स्वतः चतुर्गुण शौच हो गया है। एवं इसके लिये चतुर्वर्ण के अतिरिक्त वर्णों में भिक्षा का निषेध जब निषेध है, इससे चार वर्णों की ही भिक्षा सिद्ध है।

अचतुर्गुणेति। तेनापि हि शास्त्रेण सकलनिवृत्तिविधायिशास्त्रानुसारेणाचातुर्गुण्यादि-निवारणादर्थाच्छौचचातुर्गुण्याशनचातुर्वर्ण्यादि सिध्यतीति न काऽप्यनुपपत्तिरिति भावः।।८१।।

अचर्गुणेति—यतीनां तु चतुर्गुणम्—चातुर्वर्ण्यसंचरेद्भैक्ष्यम् इस संन्यासी शास्त्र के द्वारा जो निवृत्तिपरक है उससे भी परिसंख्याधि विधि के अनुसार अर्थ करना उचित है जैसे यतीनां तु चतुर्गुणम्—गृहस्थी, वानप्रस्थी और ब्रह्मचारी—चार बार स्नान न करें। सायं, प्रातः, मध्यान्ह, मध्यरात्रिकं—चतुर्गुण स्नानं, आश्रमत्रय न करें। इसी प्रकार से स्वयमेवास्य चतुर्गुणं

भवेत् = संन्यासी के लिये चार गुणा स्नान अपने आप सिद्ध हो जाता है। इसके लिये विधि वाक्य की जरूरत नहीं। इसी प्रकार अचतुर्ष्वशनस्य–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र के अतिरिक्त भिक्षा न लेवे। चातुवर्ण्यादिक के यहां भिक्षा करें। चातुवर्ण्य के यहां भिक्षा संन्यासी के लिये अपने आप सिद्ध होती है। इसके लिये स्वतंत्र विधि की आवश्यकता नहीं है। परिसंख्या विधि के अनुसार अपने आप सिद्ध हो जाता है तो संन्यास शास्त्र इतर विरुद्ध अर्थ के परित्याग पुरःसर ही प्रवृत्त होता है न कि वह प्रवृत्ति विधायक है।

एवं सकलसंन्यासविधायकशास्त्रबलान्मुमुक्षोरात्मश्रवणादिशास्त्रमपि तदितर-परिवर्जनपरमेव नास्य प्रवृत्तिविधायकं किंचिदपि शास्त्रमस्तीत्युपपादितमुपसंहरति–

अब इस प्रकार से उपपादित किये अर्थ का उपसंहार कर रहे हैं–

इति योजय सर्वमीदृशं
कथितन्यायवशेन सादरम्।।
विधिहीननिवृत्तिशास्त्रतः
कथितेऽस्मिन्नधिकारवर्त्मनि।।८२।।

अन्वय= इति कथितन्यायवशेन ईदृशं सर्वं सादरं योजय अस्मिन् कथिते अधिकारवर्त्मनि विधिहीननिवृत्तिशास्त्रतः।

अन्वयार्थ= इस कथित न्याय से सभी वाक्यों की योजना कर लेनी चाहिये क्योंकि इस पूर्वोक्त मोक्ष मार्गीय अधिकारियों में सभी शास्त्र विधि रहित केवल निवृत्ति मात्र परक ही है।

इतीति। अनेन प्रकारेणेत्यर्थः। ईदृशमापाततः प्रवृत्तिविधायितया प्रतीयमानं त्रिषवणस्नानादिशास्त्रम्। अस्य पक्षस्य महद्भिराद्दतत्वाच्च न त्वयाऽत्रादारशैथिल्यं कार्यमित्याशयेनाह–सादरमिति। अस्मिन्नधिकारवर्त्मनि कथितन्यायवशेन विधिहीननिवृत्तिशास्त्रतस्तच्छास्त्रबलादीदृशं सर्वं सादरमिति–अनेन प्रकारेण योजयेति सम्बन्धः।।८२।।

इति–इस प्रकार से। ईदृशम्–कथितन्यायवशेन सर्वं सादरम् योजम–परिसंख्या विधि के द्वारा सब प्रवृत्ति विधायक शास्त्र जैसे त्रिषवणस्नानादि शास्त्र (सायं प्रातर्मध्यान्ह कालिकं स्नानम्) सायं प्रातः मध्यान्ह स्नान करना चाहिये इत्यादि शास्त्र परिसंख्या विधि के अनुसार लगाना चाहिये। अर्थात् इससे कम स्नान संन्यासी के लिये नहीं होने चाहिये। सादरम् = इस पक्ष का अंगीकार सभी बड़े-बड़े महानुभावों ने, विद्वानों ने किया है - इसलिये कर्म मीमांसा वाले को भी इसका आदर करना चाहिये। इसलिये इस

अधिकार प्रसंग में मुमुक्षु के प्रसंग में सब शास्त्र विधि से रहित निवृत्ति प्रधान है- उसी बल से सब शास्त्र की वेदान्त शास्त्र की संन्यास शास्त्र की, आत्मज्ञान के प्राप्ति के लिये तत्पर मुमुक्षु के लिये संगती लगानी चाहिये।

उक्तमनूद्य तत्प्रतिपक्षं पक्षान्तरं प्रस्तौति—

अब कुछ प्रतिपक्षियों के पक्षान्तर की स्तुति भी करते हैं—

इति केचन वर्णयन्ति तद्विपरीतं प्रवदन्ति केचन।
प्रविभज्य तदप्युदीर्यते निपुणाचार्यपरम्परागतम्।।८३।।

अन्वय – इति केचन वर्णयन्ति। केचन तद्विपरीतं प्रवदन्ति। निपुणाचार्यपरम्परागतम् तदपि प्रविभज्य उदीर्यते।

अन्वयार्थ— उक्त मत कुछ आचार्य श्रोतव्यादि शास्त्र को निवृत्तिपरक वर्णन करते हैं। अन्य आचार्य इसके विपरीत कहते हैं। यह निपुण आचार्यमत जो परम्परा से प्राप्त है उसे विभाग पूर्वक दिखाया जा रहा है।

इति केचनेति। ज्ञानाधिकारिणः केवलनिवृत्तावेवाधिकारं केचन वर्णयन्ति। अन्ये केचन तद्विपरीतं। ततो निवृत्तिमात्रनिष्ठाया विपरीतं प्रवृत्तिमपि वदन्तीत्यर्थः।

ननु सकलकर्मनिवृत्तिविधायिनि शास्त्रे सति कथं तद्विपरीतपक्षोत्थानमित्याशङ्क्याह प्रविभज्येति। तद्विपरीतं प्रविभज्योदीर्यते मयेति शेषः। ननु श्रुतिविरूद्धत्वात्तदुपेक्षैव न्याय्येति तत्राह—निपुणाचार्येति। तथा च तदुपेक्षार्हं न भवतीत्यर्थः। निपुणेति पूर्वस्मादस्य विशेषं द्योतयति, तदग्रे व्यक्तीभविष्यति।।८३।।

इति केचन—कुछ लोग ज्ञानाधिकारी मुमुक्षु का केवल निवृत्ति में अधिकार है ऐसा कहते हैं। अन्ये केचन तद्विपरीतं—कुछ ज्ञानाधिकारी को निवृत्ति के साथ-साथ प्रवृत्ति में भी अधिकारी मानते हैं।

शंका= आत्मज्ञानाभिमुख मुमुक्षु के लिये सब शास्त्रं ही सम्पूर्ण कर्म निवृत्ति का विधान ही करता है—इसके विपरीत प्रवृत्ति मार्ग का विधान कैसे होगा। प्रविभज्येति तदप्युदीर्यते = दोनों का विभाजन करके अर्थात् (एक तो निवृत्तिमात्रपरक दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्तिपरक) ऐसे विभाजन से अंगीकार करेंगे। श्रुति से विरूद्ध होने के कारण प्रवृत्ति बताने वाले का परित्याग ही करना उचित नहीं है।

समाधान= निपुणाचार्येति = इसके मत की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि पहिले

जो प्रवृत्ति बताने वाले आचार्य हैं उनसे इनमें बहुत विशेषताएं हैं। इसलिये इनके मत का तिरस्कार करना उचित नहीं है। क्या विशेषताएं हैं, यह तो बाद में आगे बताएंगे।

नन्वेवं सति सकलत्यागश्रुतेः का गतिरित्याशङ्क्य ततः सामान्यतः सकलनिवृत्ति सिद्धावपि ज्ञानाधिकारिणो विशिष्य श्रवणादिरूपा प्रवृत्तिरपि प्रतिप्रसवरूपाच्छ्रवणादिशास्त्रात् सिध्यतीति भवति तस्योभयनिष्ठेत्यभिपेत्याह–

शंका= फिर आत्मज्ञानपरक सब शास्त्र निवृत्तिपरक है, इसकी क्या गति होगी। तो समझा रहे हैं - ज्ञानाधिकारी की गति सब निवृत्ति ही प्रधान है तथापि विशेष रूप से "आत्मा वारे श्रोतव्यः" आदि शास्त्र से प्रतिप्रसव न्याय से निवृत्ति के साथ-साथ प्रवृत्ति भी है" यह बता रहे हैं। प्रति प्रसव- जैसे सामान्यतः पहिलों को छोड़ दिया वैसे इस विशेष को न छोड़ना इसी का नाम है- प्रतिप्रसव न्याय। निषिद्धस्य क्वचिदेकदेशे पुनर्विधानम्।

उत्सर्गतः सकलकर्मनिवृत्तिनिष्ठा
संन्यासशास्त्रशतकोटिभिरर्पिताऽस्य।।
अस्ति प्रतिप्रसवशास्त्रमुखात्प्रतीता
चेष्टाऽऽत्मबुद्धिपरिपाकफलाऽपि काचित्।।८४।।

अन्वय= अस्य उत्सर्गतः सकलकर्मनिवृत्तिनिष्ठा संन्यासशास्त्रशतकोटिभिः अर्पिता। प्रतिप्रसवशास्त्र मुखात् प्रतीता आत्मबुद्धिपरिपाकफला काचित् चेष्टा अपि अस्ति।

अन्वयार्थ= मुमुक्षु के लिये सकल कर्म निवृत्ति का प्रतिपादन संन्यास शास्त्र में किया है तथापि विशेष श्रवणादि शास्त्र से प्रतिपादित आत्मज्ञान दार्ढ्यप्रद कोई अन्य प्रवृत्ति भी प्रतीत होती है।

उत्सर्गत इति। सामान्यत इत्यर्थः। निवृत्तिनिष्ठा निवृत्त्यधिकारः, अस्य मुमुक्षोर्ज्ञानाधिकारिणो यद्यपि तथाऽप्यस्तीत्यध्याहृत्य सम्बन्धः। तथाऽप्यस्ति प्रवृत्तिरिति यदुक्तं तदाह प्रतिप्रसवशास्त्रमुखादिति। सामान्यतः परित्यक्तस्य विशेषरूपेण विधायिशास्त्रबलात् चेष्टा श्रवणादिरूपा शौचादिरूपा च प्रवृत्तिरात्मबुद्धिपरिपाकफला आत्मसाक्षात्कारस्य साक्षाद्वा परम्परया वा निश्चयत्वप्रयोजिका।।८४।।

उत्सर्गतः इति= निवृत्तिनिष्ठा–आत्मज्ञानाभिमुख मुमुक्षु का सामान्य रूप से निवृत्ति में ही अधिकार है, वह संन्यासशास्त्रशतकोटिभिरर्पिताऽस्य= सैकड़ों करोड़ों निवृत्ति प्रधान संन्यास शास्त्र ने बताया है तो भी प्रतिप्रसवमुखादिति–सामान्य रूप से सबके परित्याग के बाद भी विशेष रूप से विधान करने वाले शास्त्र के बल से श्रवणादिरूपा, शौचादिरूपा प्रवृत्ति, आत्मबुद्धि- परिपाक फला- आत्मसाक्षात्कार में आत्मनिश्चय में श्रवणादि साक्षात् कारण है,

तथा-शौचादिक परम्परया कारण है, ऐसा अंगीकार करते हैं।

ननु संन्यासशास्त्रानुरोधेन श्रवणादिशास्त्रस्यापि पूर्वोक्तनिवृत्तिमात्रपरत्वेनास्यैकनिष्ठायां सम्भवन्त्यां किमुभयनिष्ठाभ्युपगमेनेत्याशङ्क्य श्रवणादिशास्त्रस्येतरनिवृत्तिपरत्वे, स्वार्थत्यागोऽन्यार्थ कल्पना प्राप्तबाधश्चेति त्रैदोष्यापत्तेर्नियमपक्ष एवाश्रयणीय इति ज्ञानाधिकारिणोऽप्युभय-निष्ठत्वम्, अन्यथा यमनियमादिविभागप्रसिद्धिरपि न स्यादित्याह-

शंका= संन्यासशास्त्रानुसार श्रवणादिशास्त्र भी निवृत्तिपरक ही मानना चाहिये। उसको भी एक निष्ठ निवृत्तिनिष्ठ ही मानना चाहिये। अब श्रवणादि शास्त्र को उभयनिष्ठत्व (प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों परक मानने से)-अनात्म श्रवणादि निवृत्तिपरक उसे मान लिया। एकतो स्वार्थत्याग दोष होगा श्रुति ने कहा आत्म श्रवणादि करें, न कि अनात्मा का श्रवण न करें, यह तो नहीं कहा। अन्यार्थकल्पना आत्मश्रवण की विधि छोड़कर अनात्म श्रवण निवृत्ति की कल्पना। प्राप्तबाधश्चेति-प्राप्त जो आत्मश्रवण उसका बाध भी हो जायेगा। इस प्रकार के तीन दोष उत्पन्न होंगे। इसलिये नियमों का अंगीकार करना ही श्रेष्ठतर है। इसलिये ज्ञानाधिकारी की उभयनिष्ठा मानना ही उचित है अन्यथा यमनियमों का विभाजन भी नहीं सिद्ध हो पायेगा। यह कह रहे हैं-

यमस्वरूपा सकला निवृत्ति,-
-स्तथा प्रवृत्तिर्नियमस्वरूपा।।
निवर्त्तकादत्र यमप्रसिद्धिः,
प्रवर्त्तकात्स्यान्नियमप्रसिद्धिः।।८५।।

अन्वय - सकला यमस्वरूपनिवृत्तिः तथा नियमस्वरूपा प्रवृत्तिः, भिन्ननिवर्तकात् यमप्रसिद्धिः, प्रवर्त्तकात् नियमप्रसिद्धिः स्यात्।

अन्वयार्थ - सम्पूर्ण यम निवृत्तिरूप तथा नियम प्रवृत्तिरूप होते हैं। निवर्त्तक शास्त्र से यम तथा प्रवर्त्तक शास्त्र से नियम का प्रतिपादन होता है।

यमस्वरूपेति। स्मृतिसिद्धयमसंज्ञितेत्यर्थः। निवृत्तिः सर्वप्रकारेण प्राणिपीडाऽनृत-वचनादेर्निवृत्तिः। प्रवृत्तिः शौचादिरूपेत्यर्थः। यमनियमयोः संक्षिप्य स्वरूपमाह-निवर्त्तकादिति। अत्र तयोर्मध्ये हिंसादिनिवर्त्तकशास्त्रप्रतिपाद्यो यमः शोचादिप्रतिपादकशास्त्रप्रतिपाद्यो नियम इत्यर्थः।।८५।।

यमस्वरूपेति=अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः (यम) स्मृतिसिद्धयमसंज्ञितः सकलनिवृत्तिः- सब प्रकार से प्राणी पीडा, झूठ बोलना, चोरी करना, विषयी होना, परिग्रह

करना आदि से निवृत्ति बताता है तथा इसी प्रकार से प्रवृत्तिर्नियमस्वरूपा "शौच तपः सन्तोष स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः" पवित्र रहना तपश्चर्या करना, सन्तोष मन में धारण करना, वेदान्तादि शास्त्र का स्वाध्याय करना, एवं ईश्वर की भक्ति करना आदि प्रवृत्ति बताई है। इसे नियम कहते हैं।

अधिकारिनिरूपणप्रस्तावे मुक्तियोग्यं तत्स्वरूपं प्रागहङ्काराद्यध्यस्तत्वनिरूपणेनार्थसिध्दं "ब्रह्म वा इदम्" इत्यादिशास्त्रसम्मतं साक्षात्‌दर्शयितुम्, अथवा "यमस्वरूपा सकला निवृत्तिः" इति कथम्? असङ्गतया ब्रह्मस्वरूपस्येतरासंसृष्टत्वेन "प्रपञ्चोपशमः" इत्यादिश्रुत्या प्रपञ्च-निवृत्यात्मतया च प्रमितस्य निवृत्तिरूपत्वात्। न च साध्यरूपा साधनात्मकयमात्मिकेत्याशङ्क्य निवृत्तिविधायकशास्त्रसिद्धैव सा यमात्मिका न निवृत्तिमात्रमिति वक्तुं तां विभजते—

शंका= अधिकारी के निरूपण प्रसंग में मुक्तियोग्य ब्रह्मस्वरूप जोकि ब्रह्मज्ञान के पहिले— अहंकारादिक में अध्यस्त रहा ऐसा निरूपण किया। इससे अधिष्ठान रूप से "ब्रह्म वा इदम्" शास्त्र-सम्मत साक्षात्-दर्शन कराने के लिये यह ब्रह्म ही है, ऐसा निर्देश कैसे किया? क्योंकि सकल वेदान्त शास्त्र निवृत्तिपरक है। अथवा यमस्वरूपा सकला निवृत्ति अर्थात् जो साध्यपरक है क्योंकि ब्रह्म तो बिलकुल असंग होने से दूसरे से असंस्पृष्ट है विधि का विषय नहीं होगा—प्रपञ्चोपशमः। इत्यादि श्रुतियों के माध्यम से प्रपञ्च निवृत्ति रूप से प्रमित ब्रह्म तो केवल निवृत्तिरूप ही होगा। "ब्रह्म वा इदम्" यह प्रत्यय केवल निवृत्तिपरक उपयुक्त है। और "यम स्वरूपासकला निवृत्तिः" इसका तात्पर्य यमस्वरूपा सकला निवृत्तिः यह वाक्य भी उपयुक्त नहीं हो रहा है। अहिंसा सत्यमस्तेयं इत्यादियम परक साधन विधि को साध्य परक उसका पहिले प्रागभाव होने से माना जाय इस आशंका के बाद उत्तर देते हैं—

समाधान= निवृत्ति विधायक शास्त्र यमात्मिका विधि है न कि निवृत्तिमात्र प्रधान विधि है। इन दोनों निवृत्तियों को केवल निवृत्ति तथा निवृत्ति विधायक शास्त्र सिद्ध निवृत्ति इन दोनों निवृत्तियों को अलग कह रहे हैं।

निवृत्तियों का विभाजन करते हैं—

निवृत्तिरस्ति द्विविधा बहिःस्थिता
शरीरसर्वेन्द्रियसंयमात्मिका।।
तथाऽपराऽभ्यन्तरवस्तुसंश्रया
सदात्मकूटस्थचिदेकविग्रहा।।८६।।

अन्वय= निवृत्तिः, द्विविधा अस्ति, बहिस्थिता शरीरसर्वेन्द्रियसंयमात्मिका, तथा अपरा अभ्यन्तरवस्तु-संश्रया सदात्मकूटस्थचिदेकविग्रहा।।

अन्वयार्थ= निवृत्ति दो प्रकार की हैं। एक बाह्य शरीर इन्द्रिय संयमरूपा तथा दूसरी आभ्यन्तर वस्तु विषयक सदात्मकूटस्थस्वरूपा (प्रपञ्चनिवृत्ति) रूपा है।

निवृत्तिरस्तीति। द्वैविध्यमेवाह—बहिःस्थितेत्यादिना। आत्मबाह्यशरीराद्याश्रितेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह शरीरेति। अभ्यन्तरवस्तुसंश्रया सर्वान्तरवस्त्वात्मिका। तत्सिद्धये आह सदात्मेति।।८६।।

निवृत्तिद्विविधा= निवृत्ति दो प्रकार की है। एक तो "बहिस्थितः शरीरेसर्वेन्द्रिय-संयमात्मिका— आत्मा से बाहर अर्थात् शरीर, इन्द्रियादि इनका संयमन करना तद्रूपा यमरूपा एक पहली निवृत्ति है। तथाऽपरा= तथा दूसरी निवृत्ति, आभ्यन्तरवस्तुसंश्रया—सर्वान्तर वस्तु जो आत्मा तन्निष्ठा है। यमात्मिका निवृत्ति बाह्य शरीर, इन्द्रिय इनके संयमन सापेक्ष होने से और उसका आभ्यन्तर निवृत्ति से कोई मतलब नहीं है। अतः यह यमात्मिका निवृत्ति—निवृत्तिमात्र स्वरूपा नहीं हो सकती है। यह निवृत्तिमात्रस्वरूपा तो आत्मवस्तुनिष्ठ निवृत्ति ही हो सकती है। इन दोनों निवृत्तियों में अन्तर है।

अस्त्वेवं प्रकृते किमायातामिति अभिधित्सितसिद्धये तयोरवान्तरविशेषमाह—

इससे क्या सिद्ध हुआ ? तो दोनों के भेद को और स्पष्ट कर रहे हैं—

> तयोस्तु बाह्या विधिशास्त्रलभ्या
> प्रयत्ननिर्वर्त्त्यतया प्रतीतेः।।
> विधानशास्त्रं विरहय्य लभ्या
> चितिस्वरूपा त्वितरा निवृत्तिः।।८७।।

अन्वय= तयोः तु बाह्या विधिशास्त्रलभ्या। प्रयत्ननिर्वर्त्यतया प्रतीतेः। इतरा चितिस्वरूपा निवृत्तिस्तु विधानशास्त्रं विरहय्य लभ्या।

अन्वयार्थ= इन दोनों में बाह्य निवृत्ति तो विधिशास्त्र से प्राप्त होती है। क्योंकि प्रयत्नजन्य प्रतीत होती है। लेकिन दूसरी अभ्यन्तर निवृत्ति विधिशास्त्र के बिना ही प्राप्त हो जाती है।

तयोस्त्विति। विधिशास्त्रलभ्या हिंसादिनिषेधविधिलभ्येत्यर्थः। तत्र हेतुः—प्रयत्ननिर्वर्त्त्यतयेति। "न हिंस्यात्" इत्यादिनिषेधविधेः "अहिंसां कुर्यात्" इत्यर्थप्रतीतेः सा तथेत्यर्थः। एतच्च परसिद्धान्तमाश्रित्योक्तं, स्वमते हिंसादिगतश्रेयःसाधनत्वाभावस्यैव तदर्थत्वादिति। इतरा तु नैवमित्याह—विधानेति। तस्या यत्नासाध्यत्वे चितिस्वरूपेति हेतुगर्भं विशेषणम्।।८७।।

तयोस्तु= इन दोनों निवृत्तियों के अन्दर बाह्य निवृत्ति, विधि शास्त्रलभ्या विधि शास्त्र के अधीन है, क्योंकि प्रयत्न निर्वर्त्यतया प्रतीतेः= प्रयत्न के ऊपर यह निवृत्ति निर्भर करती है। "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" इत्यादि निषेध विधि के– बल से अहिंसा कुर्यात्। अहिंसां करनी चाहिये अर्थ की प्रतीति होती है। बाद में प्रवृत्ति होती है। अतः बाह्य निवृत्ति विधि शास्त्राधीन है ऐसा कहा। यह बात पूर्व मीमांसा के सिद्धान्त के अनुसार कही। वेदान्तमत में तो "हिंसा न मदीष्ट साधनम्"। हिंसा मेरा इष्ट साधन नहीं है–यही अर्थ जाना जायेगा। हमारे यहां औदासीन्य ही निषेधार्थ है। दूसरी जो आत्मनिष्ठ निवृत्ति है वह ऐसी नहीं है– विधानेति–आत्मज्ञानस्वरूप वह आत्मनिष्ठा जो निवृत्ति है वह विधिशास्त्र के बिना ही है क्योंकि वह निवृत्ति चितिस्वरूपा होने से उसमें किसी विधि की आवश्यकता नहीं रखती।

बाह्यान्तरनिवृत्त्योः साध्यासाध्यत्वे हेत्वन्तरमेवाह–

बाह्य निवृत्ति साध्यस्वरूपा है और अभ्यन्तर निवृत्ति साध्यस्वरूप नहीं है यह इसमें हेतु बता रहे हैं–

मायामयी बाह्यनिवृत्तिरिष्टा
चितिस्वरूपा परमार्थसत्या।।
तयोर्निवृत्त्योश्च निवृत्तिशास्त्रं
विधायकं बाह्यनिवृत्त्यपेक्षम्।।८८।।

अन्वय= बाह्यनिवृत्तिः मायामयी इष्टा, चितिस्वरूपा परमार्थसत्या। तयोःनिवृत्त्योः बाह्यनिवृत्यपेक्षं निवृत्तिशास्त्रं विधायकम्।

अन्वयार्थ= बाह्य निवृत्ति मायामयी मानी जाती है। दूसरी आभ्यन्तर निवृत्ति चितिस्वरूपा परमार्थ सत्या मानी जाती है। इन दोनों निवृत्तियों में बाह्य निवृत्ति की अपेक्षा रखकर निवृत्ति शास्त्र विधायक होता है।

मायामयीति। तथा चानिर्वचनीयायास्तस्याः साध्यत्वं सम्भतीत्यर्थः। परमार्थसत्येति। तथा च तस्या न प्रागसत्त्वमिति न साध्यत्वमित्यर्थः। ततोऽपि किं तत्राह–तयोरिति। बाह्याभ्यन्तरयोरित्यर्थः। बाह्याया एव कृतिसाध्यत्वसम्भवाद्धिंसादिनिषेधशास्त्रं हिंसाद्यौ-दासीन्यानुकूलान्तरक्रियात्मिकां तामेव विधत्ते। एवं च विधेयात्मकयमोऽपि सैवेति भावः।।८८।।

मायामयीति = शरीर, इन्द्रियादि मायिक पदार्थ होने से इनसे जो निवृत्ति वह मायामयी है। दूसरी जो निवृत्ति है वह चितिस्वरूपा–आत्मस्वरूप होने से, परमार्थसत्या उसका

प्रागभाव न होने से वह परमार्थसत्य अर्थात् उसमें साध्यत्व नहीं है। तो एक निवृत्ति मायामयी, दूसरी हुई परमार्थ सत्य–इससे क्या? तयोरिति–बाह्य और अभ्यन्तर निवृत्तियों में। जो बाह्य निवृत्ति है वह कृति साध्य प्रयत्न साध्य है, क्योंकि हिंसादि निषेध शास्त्र हिंसादि के प्रति जो प्रवृत्यभाव (हिंसादि औदासीन्यानुकूलान्तर क्रियां) उसके अनुकूल प्रयत्नात्मिका क्रिया को (बताती है विधि से बताती है। इसी प्रकार क्रियात्मक यम के बारे में भी ऐसा ही है। तो यम स्वरूप जो बाह्य निवृत्ति है उसका विधायक निवृत्ति शास्त्र है वह बाह्य निवृत्ति के प्रति विधायक ही माना जायेगा।

ननु यदि निषेधशास्त्रमपि निवृत्तिक्रियां विधत्ते तर्हि सर्वमेव विधिशास्त्रमिति विधिनिषेधविभागो न सिध्येदित्याशङ्क्याह–

इदं यदि निषेध शास्त्र भी निवृत्यात्मक क्रिया को बताता है तब सब विधि पर ही काम हुआ। फिर विधि निषेध का विभाग भी नहीं हो पायेगा।

प्रवृत्तिशास्त्रेण समेऽपि संमते
निवृत्तिशास्त्रस्य विधेयबोधने।।
निवृत्त्यनुष्ठाननिबन्धनत्वतो
निवर्त्तकं शास्त्रमिदं प्रचक्षते।।८६।।

अन्वय – विधेयबोधने निवृत्तिशास्त्रस्य प्रवृत्तिशास्त्रेण समे स्वमतेऽपि निवृत्त्यनुष्ठाननिबन्धनत्वतः इदं शास्त्रं निवर्त्तकं प्रचक्षते।।

अन्वयार्थ - (अज्ञातज्ञापनरूप) विधेय बोधन की दृष्टि से निवृत्तिशास्त्र, प्रवृत्तिशास्त्र के समान माने जाने पर भी निवृत्ति का अनुष्ठानपरक होने के कारण निवर्त्तक कहलाता है।

प्रवृत्तीति। प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपविधेयवैलक्षण्यात्तद्विभागसिद्धिरित्याशयेनाह–निवृत्तीति। निवृत्त्यनुष्ठाने निबन्धनं कारणं तस्य भावस्तत्त्वं तत इत्यर्थः। इदं यमविषयम्।

एतदुक्तं भवति–न ज्ञानाधिकारी मुमुक्षुर्निवृत्तिमात्रनिष्ठः, तथा सति श्रवणादिशास्त्रे त्रिदोषपरिसंख्याप्रसंगात्। किन्तु श्रवणादिरूपप्रवृत्तिनिष्ठोऽपि, श्रवणादेश्चात्मज्ञाने साधनत्वं यद्यप्यन्यतः सिद्धं, तथापि तुषनिवृत्तिसाधनतया सिद्धावहनन इवात्रापि नियमविधिसम्भवाद् नियमापूर्वस्य ज्ञानप्रतिबन्धकनिवृत्त्याऽर्थवत्त्वोपपत्तेरिति।।८६।।

प्रवृत्तीति = प्रवृत्ति निवृत्ति रूप दोनों विधिनिषेध वाक्यों के विधेय अलग-अलग होने से विधि निषेध वाक्यों का विधियों का भी विभाजन हो जाता है। प्रवृत्ति शास्त्र तथा निवृत्ति

शास्त्र में दोनों के विधेय को लेकर प्रवृत्ति यद्यपि समान ही है। क्योंकि निवृत्ति का अनुष्ठान करना भी प्रवृत्ति साध्य ही है। वेदान्त शास्त्र में निवृत्त्यनुष्ठान निबन्धनत्व ही निवृत्ति का अनुष्ठान करना यह काम यम विषयक होने से इसे निवृत्तिपरक कहते हैं भाव—आत्मज्ञान का अधिकारी मुमुक्षु केवल निवृत्तिमात्र निष्ठ नहीं है। अन्यथा "आत्मवारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादि वाक्यों से त्रिदोष परिसंख्या दोष आयेगा, यह पहले कह चुके हैं। श्रुत हानि, अश्रुतकल्पना, अन्यार्थकल्पना इत्यादि इसलिये श्रवणादिक में प्रवृत्त मुमुक्षु उसके इस श्रवणादिक में आत्मज्ञान साधनता अन्य प्रकार से भी आ सकती है। तथापि चावलों पर जो तुष (छिलका) है उसकी निवृत्ति "अवहनन्" कूटने के अलावा अन्य मार्ग से "नाखून से" भी हो सकती है। लेकिन उससे अपूर्व उत्पन्न नहीं होगा। वह तो कूटकर छिलका उतारने से ही होगा। इसी प्रकार यहां भी "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादि वाक्यों के केवल निवृत्तिपरक न मानते हुये नियम विधिपरक मानकर ज्ञान के प्रतिबन्धक अनात्म श्रवणादि उसके निवृत्ति से नियम विधि द्वारा "आत्मा वारे" उत्पन्न अपूर्व सार्थक हुआ। अर्थात् मुमुक्षु निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों में ही निष्ठ है, यह सिद्ध हुआ।

ननु यदि ज्ञानाधिकारिणोऽप्युभयत्राधिकारस्तर्हि षष्ठाध्यायनिरूपताधिकारिणो नास्य विशेष इति किं भगवतः पृथक् तद्व्युत्पादनेनेत्याशङ्क्यास्त्यस्य ततो महान्विशष इत्याह—

शंका= यदि मुमुक्षु का प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में दोनों में अधिकार है—फिर पूर्व मीमांसा के (षष्ठाध्याय के) अधिकारी से इस अधिकारी की क्या विशेषता रही है? कुछ भी नहीं। फिर भगवान् व्यास जी स्वतन्त्र अधिकारी का निरूपण किसलिये कर रहे हैं?

समाधान= दोनों अधिकारियों में बड़ा ही अन्तर है—

शास्त्रद्वयेन परिदर्शितसाधनेन
साध्यस्पृहापरवशः पुरुषो मुमुक्षुः।।
शुश्रूषते गुरुमथेत्युदितः स चात्र
वेदान्तवाक्यविषयश्रवणाधिकारी।।६०।।

अन्वय – शास्त्रद्वयेन परिदर्शितसाधनेन साध्यस्पृहापरवशः मुमुक्षुः पुरुषः गुरुं शुश्रूषते स च अत्र अथेति वेदान्तवाक्यश्रवणाधिकारी इति।

अन्वयार्थ - (यम नियम विधान प्रवृत्ति निवृत्तिरूप) दोनों शास्त्रों में प्रदर्शित (प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप) साधनों से साध्य (ब्रह्मज्ञान) उसकी उत्कट इच्छा वाला मुमुक्षु परवश गुरू की शरण में जाता है, वही "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा सूत्रस्थ अथ शब्द से वेदान्त श्रवण का अधिकारी है।"

शास्त्रद्वयेनेति। पूर्वकाण्डप्रदर्शितेन विविदिषार्थमनुष्ठितेन यज्ञादिनाऽहिंसादिना च शुद्धान्तः करणो वेदान्तोक्तविवेकवैराग्यशमदमलक्षणसाधनेन हेतुना मुमुक्षुः पुरुषः साध्यस्य तत्त्वसाक्षात्कारस्य स्पृहया परवशः प्रवृत्तिपर्यन्तज्ञानेच्छया प्रेर्यमाणो यो गुरुं शुश्रूषते। चोऽवधारणे। स एव वेदान्तवाक्यविषयश्रवणाधिकारी अत्र जिज्ञासासूत्रेऽथेत्युदित इति सम्बन्धः। एवं च साधनचतुष्टयम्पन्नस्य ब्रह्मजिज्ञासोर्गुरुं शुश्रूषमाणस्य वेदान्तश्रवणाधिकारिणोऽविवेकाविरक्ताशान्तामुमुक्षुनिवृत्तगुरुकुलवासात् कर्माधिकारिणोऽतिस्फुटमेव वैलक्षण्यं न्यायान्तरसाध्यमस्तीति नात्र तद्व्युत्पादनं व्यर्थमिति भावः।।६०।।

शास्त्रद्वयेनेति- पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा दोनों शास्त्रों के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्ति के लिये= पूर्व मीमांसा के यज्ञ, अहिंसा आदि से शुद्ध अन्तःकरण वाला वह साधन संपन्न होकर उत्तर मीमांसा (वेदान्त) शास्त्रोक्त विवेक, वैराग्य, शमदमादि संपत्ति तथा मुमुक्षुता से युक्त, साध्यस्य—तत्त्व साक्षात्कार की स्पृहा, परवशः= उत्कट अभिलाषा से, उत्कट ज्ञानेच्छायुक्त, न कि मन्द ज्ञानेच्छायुक्त, ऐसा प्रेरित मुमुक्षु, गुरुं शुश्रूषते= गुरुदेव की सेवा करता है। यही मुमुक्षु या जिज्ञासु वेदान्त वाक्य के विषय का श्रवण का अधिकारी है। इसी का उल्लेख "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" अन्तर्गत अथ शब्द से किया। तो साधनचतुष्टयसंपन्न ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करनेकी इच्छावाला जिज्ञासु गुरूदेव की सेवा करता हुआ वेदान्त का श्रवण का अधिकारी है। इसके विपरीत जो अविवेकी, अविरक्त है, अशान्त है, और जिसे मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं है, ऐसे व्यक्ति को गुरु कुल की या गुरूसेवा की जरूरत भी नहीं है। ऐसा व्यक्ति ही कर्म का अधिकारी है। तो इंन दोनों अधिकारियों में स्पष्ट रूप से विलक्षणता है। यह बात "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र से सिद्ध ही है—इसलिये स्वतंत्र अधिकारी का विवेचन किया वह ठीक ही किया है।

एवम् "उपससाद चतुष्टयसाधनः" इत्यादिना प्रस्तुताधिकारिनिरूपणं समाप्येदानीं स गुरुमुपव्रज्य किमकरोदिति जिज्ञासायामाह-

इस प्रकार से "उपससादिति चतुष्टयसाधनः" इत्यादि ग्रन्थ से अधिकारी का निरूपण सम्पूर्ण हुआ अब वह अधिकारी गुरू की शरण में जाकर क्या करता है, यह बतलाते हैं—

स परिपृच्छति कोऽहमसौ च कः
सहजमस्य च तस्य च किं पृथक्।।

उत तयोरभिदेश्वरजीवयो-
रिति च संशयसंकुलमानसः।।६१।।

अन्वयः= अहं कः? असौ च कः,? अस्य च तस्य च सहजम् किम्? (किम् उभौ) पृथक्? उत तयोः ईश्वर जीवयोः अभिदा? इति संशयसंकुलमानसः स परिपृच्छति।।

अन्वयार्थः= मैं कोन हूं? और यह ईश्वर कौन है? जीव का तथा ईश्वर का स्वामाविक रूप क्या है? ये दोनों पृथक् है, या इन दोनों के अभेद है। इस प्रकार से संशयापन्न होकर पूछता है।

स परिपृच्छतीति। उक्तोऽधिकारी इति संशयसंकुलमानसो गुरुमुपेत्य पृच्छतीति सम्बन्धः। संशयप्रकारं दर्शयन्नर्थात्प्रश्नप्रकारमप्याह-कोऽमित्यादिना। "अहमनुभवे प्रकाशमान आत्मा मम स्वरूपम्, अहमनुभवश्च देहेन्द्रियादिसङ्घे जायमानः किमालम्बन इति न ज्ञायत इति कोऽहम्" इति त्वम्पदार्थप्रश्नः, स्वस्वरूपस्याभ्यर्हितत्वात्प्रथमं जिज्ञासेति द्रष्टव्यम्। तत्पदार्थे प्रश्नमाह- असौ च क इति। "तत्त्वमसिवाक्ये यस्तत्पदार्थः असौ च कः किं तत्तेजोऽसृजतेत्यादिना जगत्कर्तृत्वादिप्रपञ्चवत्तया निर्दिष्ट एव सः, किं वा "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमिति श्रुतिप्रसिद्धं समस्तभेदशून्यं सदेव" इति। वाक्यार्थे प्रश्नमाह- सहजमित्यादिना। स्वाभाविकमित्यर्थः। अस्य जीवस्य। तस्य तत्पदार्थस्य ब्रह्मणः। पृथक्पृथक्त्वं तयोरीश्वरजीवयोरिति सम्बन्धः। द्वा सुपर्णेत्यादौ जीवेश्वरयोर्भेद-श्रवणात्तत्वमसीत्यादौ चाभेदश्रवणाद्वाक्यद्वयस्य विशेषानवगमात्संशयः।।६१।।

स परिपृच्छति— साधन चतुष्टय संपन्नाधिकारी, संशय संकुलमानसः परिपृच्छति— संशय से सन्तप्त मनवाला ऐसा मुमुक्षु सद्गुरु से पुछता है संशय के साथ साथ प्रश्न के प्रकार को भी बता रहे है कोऽहमित्यादिना—"अहम् अनुभवे" मैं हूँ इस अनुभव में प्रकाशमान जो आत्मा वहीं मेरा स्वरूप है। देह, इन्द्रिय के संघात में यह अनुभव इसका आलम्बन कौन है? यह ज्ञात नहीं हो रहा है। इससे त्वं पदार्थ विषयक आत्मविषयक पहिला प्रश्न है क्योंकि स्वस्वरूप की प्राप्ति मुख्य लक्ष्य होने से उसी की जिज्ञासा भी प्रथम होना स्वाभाविक ही है। इसके बाद तत्पदार्थ में प्रश्न होता है "असौ च क इति= तत्त्वमसि इस महा वाक्य में जो तत् पदार्थ वह कौन है ? क्या वह "तत्तेजोऽसृजत्" इत्यादि वाक्यों से उद्धृत "जगत्कर्तृत्वादि प्रपञ्चवत्तया" जगत के कर्ता होने वाले, प्रपञ्च रूप प्रदान करने वाला ईश्वर तत् पद से लेना है अथवा "सदेव सोम्येदमग्र ......आसीदेकमेवाद्वितीयम्" श्रुति प्रसिद्ध समस्त भेद से शून्य—उसका तत्पद से ग्रहण करना है।

सहजमित्यादिना— स्वाभाविक रूप से। अस्य= जीव का, तस्य- परमात्मा का (ब्रह्म

का), पृथक्= पृथक्त्व भेद, यह सत्य है। उत= अथवा—तयोः—जीव ब्रह्मणोः (जीव ब्रह्म का), अभिदा= अभेद ही सत्य है क्योंकि "द्वा सुपर्णेत्यादौ" इस वाक्य से जीव और ईश्वर का भेद दिखाई देता है। लेकिन तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्य से अभेद दिखाई देता है। इन दोनों वाक्यों ने तो मेरे में संशय करा दिया है।

इदानीमेतादृशमेव शिष्यमुपलभ्य गुरुणा ब्रह्माद्वयमुपदेष्टव्यमिति शिक्षयन् गुरुरुपदिशतीत्याह—

इस प्रकार के शिष्य के प्राप्त होने के बाद गुरु देव अद्वय ब्रह्म का ही उपदेश करते है वह प्रकार बता रहे है—

तीर्थेन तं विविदिषन्तमनन्यभक्तं
संसारसागरभयातुरचित्तवृत्तिम्।।
एकं मुमुक्षुमधिकारिणमात्मतत्त्व-
ज्ञाने समीक्ष्य गुरुराह दयाविधेयः।।६२।।

अन्वय= तीर्थेन विविदिषन्तम् अनन्यभक्तम् संसारसागरभयातुराचित्तवृत्तिम् तमेकं मुमुक्षुम् आत्मतत्त्वज्ञाने अधिकारिणं समीक्ष्य दयाविधेयः गुरुः आह।।

अन्वयार्थ= गुरू सेवा से शुद्धान्तःकरण वाला विविदिषायुक्त, अनन्य भक्त,संसार सागर के भय से जिसकी चित्तवृत्तियां व्याकुल हो चुकी हैं, ऐसे प्रधान मुमुक्षु को आत्मज्ञान का अधिकारी जानकर दयालु गुरूदेव कहते हैं। (उपदेश देते हैं)

तीर्थेनेति। पावनेन विविदिषार्थमनुष्ठितयज्ञादिना गंगास्नानादिना चात्मानं विविदिषन्तं तमिति सम्बन्धः। तीर्थेन गुरुणा वा वेदितुमिच्छन्तं तमित्यर्थः। आत्मविविदिषुरपि कश्चिद्यद्यन्यां देवतामुपास्ते स न गुरुणोपदेष्टव्य इत्यभिप्रेत्याह अनन्यभक्तमिति। प्रत्यगेकप्रवणचित्तमित्यर्थः। एवं भूतोऽपि कश्चित्सांसारिकभोगपरित्यागातुरचित्तो भवतीति तं व्यावर्तयति—संसारेति। नन्वेवंविधोऽधिकारी जगति दुर्लभः, सत्यम्, तथापि कश्चित्सम्भवति, उक्तं हि भगवता, "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये" इत्याशयेनाह—एकमिति। एकजीवाभिप्रायं वा। गुरोः शिष्योपदेशव्यापारे निमित्तमाह— दयाविधेय इति।तथा च न शिष्याननुबध्नीयादिति निषेधोऽत्र न प्रवर्तत इति भावः।।६२।।

तीर्थेन= गुरूदेव, सद्गुरुजी, तम्= उस मुमुक्षु को। जिसने अन्तःकरण शुद्धि के लिये यज्ञ हवन किये, गंगा स्नानादि किये- उससे अन्तःकरण शुद्ध हुआ, ऐसा मुमुक्षु साथ में वह विविदिषन्तं= तत्त्वज्ञान प्राप्त भी करना चाहता है। साथ में वह "अनन्य भक्तम्—गुरुजी का

अनन्य भक्त भी है अथवा एक साथ में वह संसार सागरभयातुरचित्तवृत्तिम्—इतने गुण होने की बाद में भी यदि वह सांसारिक भोग पदार्थ में आसक्त हो तो भी ठीक नहीं, अतः वह अधिकारी संसार सागर से भयातुर हो चुका है—संसार सागर से छूटना चाहता है।

शंका= फिर तो ऐसा अधिकारी मिलना ही दुर्लभ है।

समाधान= बात सही है तथापि कोई ना कोई अधिकारी मिल ही जाएगा। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं "मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये" इसी आशय से कहा कि एकमिति ऐसा अधिकारी हजारों में से एक मिलता है - उसी अधिकारी को। मुमुक्षुमधिकारिणम्= अधिकारी मुमुक्षु को, आत्मतत्त्वज्ञाने= आत्मतत्त्वज्ञान का उपदेश देने के लिये, दयाविधेयः गुरूराह= दयाधीन होकर, अर्थात् शिष्य पर दया करनी है अतः ऐसे गुरू दया के अधीन होकर उपदेश देते हैं—

इदानीं गुरोः शिष्योपदेशप्रकारं शिक्षंयस्तदुपदेशमाह—

अब सद्गुरूदेव शिष्य के प्रति उपदेश के प्रकार के सहित उपदेश प्रदान कर रहे हैं—

वक्ष्यामि वत्स तव वाञ्छितमत्यवस्थ-
मत्यन्तमेव च हितं शृणु तन्मनस्कः।।
त्वं प्रत्यगव्यवहितं तव सुप्रसिद्धं
ब्रह्माद्वितीयमुदितं च तदस्यजस्त्रम्।।६३।।

अन्वय= (हे) वत्स, तव अत्यवस्थम् अत्यन्तमेव वाञ्छितं हितं च वक्ष्यामि, तन्मस्कः श्रुणु, त्वं तव सुप्रसिद्धम् अव्यवहितम्। प्रत्यग् अद्वितीयं च उदितम्। अजस्त्रं तदसि।

अन्वयार्थ= हे वत्स, तुझे अवस्थातीत अत्यन्त वाञ्छित हित का उपदेश करूंगा। उसे सावधानी से सुन तू अपने अनुभव से सिद्ध अव्यवहित प्रत्यगात्मारूप है। वह ब्रह्म अद्वितीय है। वही तू है।

वक्ष्यामीति। अनुद्विग्नमनाः सन्नुपदेशार्थमवगच्छत्विति। वत्सेति पुत्रवत्सम्बोधनम् सदेव सोम्येत्यादिलिङ्गाच्छरणागतस्य शिष्यस्य वाञ्छितमप्यनर्थकरं चेद् गुरूणा कथं तदुपदेष्टव्य-मित्याशङ्क्य वाञ्छितं विशिनष्टि—अत्यवस्थमिति। अवस्थात्रयातीतं तुरीयमिति यावत्। तथा च "प्रपञ्चोपशमः शिवः" इति श्रुत्या निष्प्रपञ्चस्य सुखरूपत्वप्रतिपादनान्नोक्त-दूषणमित्याशयेनाह—अत्यन्तमिति। वक्ष्यमाणार्थस्यातिसूक्ष्मतया शिष्यस्य तत्र चेतः प्रणिधानार्थमाह—शृणु तन्मनस्क इति। किं तच्छ्रोतव्यमित्यपेक्षायां प्रश्नक्रमणोत्तरमाह—

त्वमित्यादिना। त्वं न देहो न चेन्द्रियमनःप्राणाहङ्कारा:, तेषां सावयवतया कार्यत्वाद्विनाशित्वाच्च घटादिवदनात्मत्वात्, आत्मनश्च कृतनाशादिपरिहारायानादित्वात्, तेषां जडतया तदतिरिक्त-साक्षिभास्यत्वाच्च नात्मत्वम्। साक्षी च स्वप्रकाशचैतन्यात्मा नान्यमपेक्षते, स च निर्द्धर्म एव साक्ष्यस्य रूपादिवदतद्धर्मत्वादित्याशयेनाह—प्रत्यगव्यवहितमिति। जडानृतादिस्वभावदेहादि-प्रतीपमञ्चति प्रकाशते इति स्वप्रकाशचैतन्यमत एवाव्यवहितं नित्यापरोक्षमित्यार्थः। तत्र सर्वानुभव एव प्रमाणमित्याह—सुप्रसिद्धमिति। अन्यथा जगदान्ध्यप्रसङ्ग इति भावः। द्वितीयस्योत्तरमाह—ब्रह्मेति। बृहदित्यर्थः। तत्किमाकाशसदृशं नेत्याह—अद्वितीयमिति—सजातीयादित्रिविधभेदशून्यं सन्मात्रमित्यर्थः। तत्र प्रमाणमाह—उदितं चेति। सदेवेत्युपक्रम्य ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मेत्यन्तेन ग्रन्थेन दर्शितमित्यर्थः। तृतीयस्योत्तरमाह—तदस्यजस्त्रमिति। अद्वैतब्रह्मोपासनया जीवस्य ब्रह्मभावो भवतीति केचित्, तान्प्रत्याह—तदसीति। तद्विवरणम्—अजस्त्रमिति, साध्यत्वे तस्यानित्यत्वापत्तिः, चकारदर्शितस्तत्त्वमसीति श्रुतिविरोधः, तत्रासीति ब्रह्मभावस्य वर्तमानताश्रवणात्। अतस्त्वं साक्षिचैतन्यात्मा सदाद्वयं सदात्मकं ब्रह्मैव न तु ततो भिन्नोऽसीति।।६३।।

वक्ष्यामि-इति= उपदेश प्रदान करने वाले गुरू को प्रसन्नचित्त होना चाहिये। गुरूदेव प्रसन्न होकर बोल रहे हैं (उपदेश प्रदान कर रहे हैं) **वत्सेति**= शिष्य को पुत्र के समान प्रथमतः गुरू जी सम्बोधित कर रहे हैं। **तव वाञ्छितम्**= हे शिष्य जो तेरे लिये अभीष्ट होगा उसी का उपदेश करूंगा। शिष्य को तो अच्छा लग रहा है लेकिन यदि उसमें शिष्य का कल्याण नहीं है तो ऐसा उपदेश गुरूदेव नहीं करते। इसलिये कहा—कि **अत्यवस्थम्**—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थओं से परे, तुरीय अवस्थायुक्त "प्रपञ्चोपशमः शान्तः" इस श्रुति से प्रतिपादित निष्प्रपञ्च, सुखस्वरूप ऐसा वह तत्त्व है, उसी का उपदेश दूंगा। जिसमें शिष्य का कल्याण ही कल्याण है। इसलिये कहा—**अत्यन्तमेव हितम्**= जिसमें हे शिष्य तेरा अत्यन्त कल्याण ही कल्याण होगा। लेकिन वह तत्त्व तुरीय तत्त्व अति सूक्ष्म होने के कारण उसको धारण करने के लिये (उसका श्रवण करने के लिये), **श्रुणु तन्मनस्कः**= मन एकाग्र करके उसका श्रवण करो। किस विषय का श्रवण एकाग्र मन से करना है, तो बताते हैं—**त्वमित्यादिना**= तू न तो देह (शरीर) है, न इन्द्रियां, न मन, न प्राण, न अहंकार ये सब सावयव होने के कारण कार्य हैं, विनाशी (उत्पन्न) है, जैसे घटादि पदार्थ सावयव कार्य होने के कारण अनित्य है। और घटादि पदार्थ अनात्म है वैसे शरीरादि भी अनात्म है। ये सारे पदार्थ जड हैं, और सब पदार्थ साक्षीभास्य होने के कारण उनमें आत्मभाव नहीं है। किन्तु, ये सब अनात्मा कोटि में आते हैं। इन पदार्थों का अपना प्रकाशन करने के लिये साक्षी की

आवश्यकता है। लेकिन साक्षी को अपना प्रकाशन करने के लिये अन्य किसी प्रकाशान्तर की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह स्वप्रकाशस्वरूप है। वह साक्षी निर्धर्म है, इसीलिये उसमें रूपादिधर्म का अभाव ही है। अतः वह साक्षी–प्रत्यगव्यवहितमिति= जडं अनृत स्वभाव वाले पदार्थों का उनके अन्दर रहकर उनका प्रकाशन साक्षी करता है, साक्षी स्वप्रकाशस्वरूप है, साथ में वह अव्यहित–नित्य अपरोक्ष है। इसमें सबका अनुभव ही प्रमाण है। सुप्रसिद्धमिति– यदि आत्मा का स्वप्रकाशस्वरूप न हो तो जगदान्ध्यप्रसङ्ग होगा।

अब दूसरे प्रश्न का उत्तर–"असौ कः" का उत्तर देते हैं–ब्रह्मेति= व्यापक वह ब्रह्म है। क्या वह ब्रह्म आकाश के समान व्यापक है क्या? नहीं नहीं। वह ब्रह्म–अद्वितीयमिति= स्वगत, सजातीय, विजातीय, भेदशून्य, सत्स्वरूप ही वह ब्रह्म है। "इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण है। आकाश का तो विजातीयादि भेद है, ब्रह्म में वह भी नहीं है। इसमें प्रमाण उदितं चेति सदेव सोम्येदमग्रआसीत् ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत् सत्यं स आत्मा।

तीसरा प्रश्न है–जीव और ब्रह्म का भेद सत्य है या अभेद सत्य है ?

समाधान= तदस्यजस्त्रमिति= कुछ लोग जीव को अद्वैत ब्रह्मोपासना बताते हैं और जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं, उनको उत्तर है–तदसि= जीव ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्मभाव नहीं। अजस्त्रमिति= यदि जीव ब्रह्मैक्य को साध्य माने तो वह अनित्य हो जायेगा। क्योंकि साध्य का पहिले प्रागभाव रहता है। जो वस्तु कभी हो कभी नहीं हो वह अनित्य होती है। अतः जीव ब्रह्म की एकता साध्य भी नहीं है। तत्त्वमसि वाक्य का विरोध भी होगा। क्योंकि यदि ब्रह्म भाव मानें तो वर्तमान काल का ग्रहण असि पद से होगा। जबकि जीव ब्रह्म का अभेद सर्वदैव है अतः साक्षी चैतन्यात्मा का ब्रह्म के साथ सर्व काल में अद्वय भाव है, दोनों में भेद किसी प्रकार का नहीं है, ऐसा उपदेश गुरुदेव देते हैं।

एवं संक्षेपेण शिष्यप्रश्नामुत्तरमभिहितमिदानीं तत्र शिष्यस्याङ्गीकाराद्यभावलिङ्गेन वाक्याद् द्दढ़तरानुभवो नोत्पन्न इति स्वयमेवोन्नीय वाक्यात्तदनुभवप्रतिबन्धापनयनार्थं प्रयततेऽन्यथा वक्ष्यामीत्यादिस्वप्रतिज्ञाऽसिद्धेः। तत्रापि वाक्यार्थस्य पुरुषार्थत्वादव्यवधानेनो-पस्थितत्वाच्च तद्विरोधमेव प्रथमं परिहर्तुमाह–

ऐसा उपदेश देने पर शिष्य ने जीव ब्रह्मैक्यता को अंगीकार नहीं किया। गुरुजी समझायें कि इसको अभी तक दृढ़तर अनुभव नहीं हुआ है। ऐसा स्वयं गुरुजी समझ गये हैं–अपने द्वारा कहे हुये "तत्त्वमसि" महावाक्यार्थ बोध में जो भी रुकावटें आयेंगी, उनको हटाना भी तो गुरुजी का कर्तव्य है। अन्यथा गुरुजी ने जो पहिले कहा कि

"वक्ष्यामि" इस गुरुजी की प्रतिज्ञा-भंग होगी। अभी-अभी पुरुषार्थस्वरूप जीव-ब्रह्म की एकता का (अभेदार्थ का) निरूपण किया। उसमें जो भी विरोध उपस्थित हो—उनको तुरन्त ही हटाना अच्छा रहेगा। इसलिये गुरुजी कहने लगे—

यद्यत्र पश्यसि विरोधमुदीरय त्वं
सद्यस्ततः परिहराणि तमप्रयत्नात्।।
वाक्यं निरस्तसकलप्रतिबन्धकं सत्
त्वां बोधयिष्यति करार्पितबिल्वतुल्यम्।।६४।।

अन्वय — अत्र यदि त्वं विरोध पश्यसि उदीरय। तं सद्यः अप्रयत्नात् परिहराणि। ततः निरस्तसकल प्रतिबन्धकं सत् वाक्यं त्वां करार्पितबिल्वतुल्यं बोधयिष्यति।

अन्वयार्थ= हे शिष्य इसमें कोई विरोध दिखाई देता है तो वहाँ मैं उसे अनायास अति-शीघ्र दूर करा दूंगा। तब सकल प्रतिबंधों से रहित महावाक्य तुम्हें हाथ में रखे बिल्वफल के समान प्रत्यक्ष रूप से आत्मबोध करा देगा।।

यद्यत्रेति। वाक्यार्थ इत्यर्थः। ततस्त्वदुदीरणानन्तरम्। परिहारे भवतां क्लेशः स्यादिति शिष्यमतिमालक्ष्याह—अप्रयत्नादिति। विरोधपरिहारे प्रयोजनमाह—वाक्यमिति। करार्पितबिल्वतुल्यं करतलामलकादिकल्पं यथाऽपरोक्षं स्यात्तथेत्यर्थः।।६४।।

यद्यत्र="तत्त्वमसि" महावाक्यार्थ में, पश्यसि विरोधमुदीरय त्वं= जो जो भी विरोध है शिष्य आपको दिखाई देता है, उसको कहो तो सही। सद्यः ततः= तुम्हारे विरोध कहने की देरी है कि मैं तो उन विरोधों को तुरन्त ही, अप्रयत्नात् तम् परिहराणि। बिना प्रयास के ही उन सभी विरोधों को हटा दूंगा। (क्योंकि जो कल्पित सिद्धान्त होता है—झूठ सिद्धान्त होता है उसे समझाने में—या उसके विरोध के परिहार में विलम्ब लगता है लेकिन यहां तो सच्चाई का सिद्धान्त जीवब्रह्मैक्यता होने से इसके विरोध में जो भी रूकावटें आयेंगी वह आसानी से हट जायेगी। इसलिये अप्रयत्नात् ऐसा कहा)। विरोध का परिहार होने पर क्या फल मिलेगा?—वाक्यमिति= तत्त्वमसि महावाक्यार्थ प्रति- बन्धकीभूत सभी रूकावटें हट जाने के बाद यही महावाक्य, त्वां= हे शिष्य आपको करार्पित- बिल्वतुल्यम्= जैसे हाथ में बिल्वफल (बेल) इसी प्रकार से बोधयिष्यति= ब्रह्मतत्त्व का अपरोक्ष रूप से तुमको उपदेश प्रदान करूंगा। अर्थात् उस ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार कराके जीव ब्रह्म का अभेद बोध जैसे हाथ में बिल्वफल उसके समान महावाक्य प्रदान करेगा।

एवं गुरुणाऽनुज्ञातः शिष्यो निःशङ्को वाक्यार्थासम्भवं चोदयति—

गुरूजी की आज्ञा मिलने की देरी थी फिर क्या ? शिष्य तो निःशंक होकर "तत्त्वमसि" महावाक्यार्थ बोध में जितनी रूकावटें हैं वे खड़ी करने लगा हैं। श्लोक ६५ से १४४ तक शिष्य की शंका है।

अत्राह सद्वयमहं मम रूपमीक्षे
तच्चाद्वयं विगणयामि परोक्षमेव।।
पारोक्ष्यसद्वयविभागयुजोर्विरोधाद्
वाक्यार्थबोधमतिदुर्लभमेव मन्ये।।६५।।

अन्वय – अत्राह अहं मम रूपं सद्वयम् ईक्षे। तद् अद्वयं परोक्षमेव च विगणयामि। पारोक्ष्यसद्वय विभागयुजोः विरोधात् वाक्यार्थं अति दुर्लभमेव मन्ये।।

अन्वयार्थ - शिष्य कहता है मैं अपना स्वरूप (सद्वय) संजातविधि भेदयुक्त अनुभव करता हूँ। तत्पदार्थ भेद रहित तथा परोक्ष मानता हूं। परोक्षभाव अपरोक्षत्व, अद्वयभाव सद्वभाव रूप से विभेद चैतन्य को स्वाभाविक विरोध के कारण अभेद रूप वाक्यार्थ अति दुर्लभ ही समझता हूं।

अत्राहेति। सद्वयं प्रतिशरीरं भिन्नं कर्तृत्वादिमच्च। ईक्षे इत्यनेनापरोक्षत्वमपि विरोधप्रदर्शनाय स्वंस्मिन्दर्शयति। ततः किं तत्राह-तच्चेति। तत्पदार्थरूपमित्यर्थः। चोऽवधारणे। अद्वयमेवेति सम्बन्धः। विगणयामि कार्यलिङ्गेन तदुपादानतया तर्कयामि। तर्कयोग्यं तत्स्वरूपमाह-परोक्षमेवेति। अपरोक्षे तर्कानुदयात्तर्क्यते चेत्परोक्षमेवेत्यर्थः। ततः किं तत्राह-पारोक्ष्येति। एतच्चाद्वयत्वस्योपलक्षणम्। सद्वयेति भावप्रधानः। तच्चापरोक्ष्योपलक्षणम्, पारोक्ष्य-सद्वयत्वयोः परस्परमविरोधेन विरोध्युपलक्षणस्य कर्त्तव्यत्वात्। तथा च पारोक्ष्यापरोक्ष्यसद्व-यत्वाद्वयत्वरूपविभाजकधर्मयुजोरित्यर्थः। एवं वाक्यार्थभेदासम्भवे वाक्यात्तद्बोधोऽपि न सम्भवतीत्याह-वाक्यार्थेत्यादिना।

एतदुक्तं भवति-तत्त्वमसीत्यादिवाक्यं जीवब्रह्माभेदनिष्ठमिति वाच्यम्, अन्यथा तदर्थायोगात्तच्च न सम्भवति, सद्वयाद्वययोः परोक्षापरोक्षयोश्च जीवब्रह्मणोरभेदासम्भवात्। एवं च तद्गोचरमुपनिषज्जन्यं ज्ञानं कुतस्त्यमिति।।६५।।

अत्राहेति– जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है, कर्ता भोक्ता भी वह है। ब्रह्म से उसका भेद ही है, ऐसा, सद्वयमहं मम रूपमीक्षे- मैं अपने जीवभाव को ब्रह्म से भिन्न ही देख रहा हूँ।

ईक्षे= मैं अपने को (जीवात्मा को) अपरोक्ष रूप में देखता हूँ। यह भी एक विरोध का कारण है। इसके बाद क्या? तच्चेति–तत्पदार्थरूप (ईश्वर) ब्रह्म, उसको मैं–

विगणयामि–प्रपञ्च के द्वारा, अथवा प्रपञ्च के (उपादान कारण के द्वारा अनुमान से परोक्ष रूप से जानता हूँ। वह अनुमान करने योग्य है अथवा तर्क करने योग्य है। इसका कारण है। परोक्षेमेवेति= अपरोक्ष वस्तु में तर्क नहीं होता है किन्तु परोक्ष वस्तु में ही तर्क होता है। अर्थात् जीवात्मा अपरोक्ष हुआ और ईश्वर तत्पदवाच्य–परोक्ष हुआ। इससे क्या?– पारोक्ष्येति= पारोक्ष्यत्व का अद्वयत्व का भी उपलक्षक मानता है। अर्थात् अद्वय, सद्वय ऐसा भाव प्रधान निर्देश है। इसी प्रकार परोक्ष को अपरोक्ष का उपलक्षक मानें। परोक्षत्व तथा सद्वयत्व का परस्पर विरोध नहीं होने से काम नहीं चलेगा किन्तु परस्पर विरोधी का यह परोक्ष्य पद उपलक्षक है। परोक्ष और अपरोक्ष, सद्वय (त्वं) अद्वय (ईश्वर), (तत्), विभागयुजोः= तत् और त्वं दोनों ही विभाजन वाले (विभक्त) हैं। इस प्रकार "तत्त्वमसि" महावाक्य का वाक्यार्थ बोध असम्भव ही है, फिर इस वाक्य से अभेद बोध भी नहीं हो सकता।

प्रकारान्तर से इसका अर्थ= तत्त्वमसि वाक्य जीव ब्रह्म के अभेदनिष्ठ है ऐसा मानना पड़ेगा। अन्यथा यदि इस वाक्य को ऐसा न मानें तो ऐसा अर्थ संभव नहीं होगा। "तदर्थायोगाच्य तच्च न संभवति"। सद्वय (त्वं) और अद्वय (तत्), परोक्ष (ब्रह्म तत्) अपरोक्ष (जीव त्वं) का जीव ब्रह्म का अभेद संभव नहीं है। फिर इस विषयक श्रुति वाक्य भी क्या करेंगे। अर्थात् ये वाक्य भी अभेद का प्रतिपादन नहीं कर सकेंगे।

ननु जीवेश्वरयोस्तत्त्वमादिशब्दैरभेदविरोधिसद्वयत्वादि न प्रत्येतुं शक्यं तेषां तदसामर्थ्यादिति कथं न तयोरभेदधीरित्याशङ्क्य प्रसिद्धार्थाभिधायित्वात्तत्वमादिशब्दानां जीवस्य च प्रमातृत्वादिसद्वयरूपेणैव प्रसिद्धेस्तदर्थस्यापि प्रकरणेनाद्वयतयैवावगमाद् भेदविरोधिरूपा प्रतीतिरसिद्धेत्याशयेनाह–

शंका–जीव ईश्वर के प्रतिपादक "तत्त्वमसि" शब्दों के द्वारा अभेदविरोधी सद्वयत्वादि की उपस्थिति नहीं हुई। न इस वाक्य के द्वारा अभेद विरोधी सद्वयत्वादि का ज्ञान भी हुवा। तो फिर अद्वय बोध होने में क्या आपत्ति है ? यह भी ठीक नहीं है क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति प्रसिध्दिार्थ के प्रतिपादन से होती है। प्रकृत में "तत्त्वमस्यादि" वाक्यस्थ शब्द से जीव की प्रमातृत्वादिरूप से, सद्वयत्वरूप से प्रसिद्धि है। एवं तत्पद का अर्थ प्रकरण से अद्वय मानते हैं। दोनों के अद्वय का बोध भेदविरूद्ध होने से असिद्ध ही माना जायेगा। इसी को स्पष्ट कर रहे हैं–

यद्वस्तु सद्वयतयाऽवगतं स्वशब्दात्
तस्याऽद्वयत्वमवगन्तुमशक्यमेव।।

यद्वस्तु च व्यवहितं प्रतिपादितं तत्
प्रत्यक्तया न तु जनः प्रतिपत्तुमीशः।।६६।।

अन्वय= स्वशब्दात् यद् वस्तु सद्वयतया अवगतम्, तस्य अद्वयत्वमवगन्तुम् अशक्यमेव। यद्वस्तु व्यवहितं प्रतिपादितम्। तत्तु प्रत्यक्तया प्रतिपत्तुं जनः न ईशः।।६६।।

अन्वयार्थ= अपने वाचक शब्द के द्वारा जो वस्तु सद्वय जानी गई है उसे अद्वय समझना असम्भव है। और जो वस्तु व्यवहित परोक्ष बताई गई है। उसे मनुष्य अव्यवहित अपरोक्ष समझने में असमर्थ है।

यद्वस्त्विति। सद्वयतयेत्यापरोक्ष्यस्याप्युपलक्षणम्। अद्वयत्वं सकलभेदशून्यत्वम्। व्यवहितं प्रतिपादितमिति। तच्छब्देनाद्वयं परोक्षमेव प्रतीयत इति तथोक्तम्। प्रत्यक्तया— अपरोक्षचैतन्यात्मना। ईशः शक्तः।।६६।।

यद्वस्तु—सद्वतया= सद्वय शब्द से अपरोक्ष्यत्व भी लेना है। अवगतं—ज्ञात होता है। किससे=स्वशब्दात्—त्वं पद से। अर्थात् त्वं पद से सद्वयभाव अपरोक्षत्व का बोध होता है। जो द्वैत वाला है वह अद्वैत कैसे होगा ? तस्याद्वयत्वमवगन्तुमशक्यमेव= सद्वय वाला जीव अद्वय ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता। क्योंकि यद्वस्तु च व्यवहितं प्रतिपादितं तत्=तत् शब्द से अद्वय (ब्रह्म तत्त्व) परोक्ष तथा व्यवहित ही प्रतिपादित किया है। और त्वं (जीवात्मा) प्रत्यक्तया—अपरोक्ष चैतन्यरुप से उसका स्वीकार किया गया है। ईशः=शक्त है। अर्थात् त्वं पद से जीव अपरोक्ष है तथा तत् पद से ईश्वर (ब्रह्म) परोक्ष है ऐसी कृत्यात्मक शक्ति है। अर्थात् इन तत् और त्वं पद में उक्त वाचकत्व है। इसलिये भी अभेद नहीं हो सकता।

ननु शुक्तिरजतयोरभेदायोग्ययोरपि शब्दादभेदधीदर्शनाद्योग्यता शाब्दज्ञाने नापेक्ष्यते किंतु आकाङ्क्षादिकमेव, इत्याशङ्क्य शाब्दप्रमायां योग्यता स्वरूपसत्यपेक्षितैव न त्वाकाङ्क्षादिमात्रमित्याह—

शंका= शुक्ति और उसपर प्रतीयमान रजत दोनों में अभेद योग्यता नहीं होने पर भी "इदं रजतम्" इस प्रतीति से अभेद दर्शन हो जाता है। इसलिये शब्दज्ञान में योग्यता की जरूरत नहीं है। किन्तु आकाङ्क्षादि जरूर चाहिये। ऐसी शंका होने पर शब्द प्रमा में योग्यता की (स्वरूपसत्य योग्यता की) अपेक्षा जरूरी है—केवल आकाङ्क्षादि मात्र से काम नहीं चलेगा यह (पूर्व पक्षी) शिष्य समझा रहे हैं—

आकाङ्क्षितं भवति पूरणशक्तियुक्तं
यत्सन्निधौ पतितमस्य हि सङ्गतिः स्यात्।।

नाकाङ्क्ष्यैव न तु सन्निधिनैव वा स्यात्
सम्बन्धिता हि विरहय्य पदार्थशक्तिम्।।६७।।

अन्वय= यत्, आकाङ्क्षितं, पूरणशक्तियुक्तं सन्निधौ पठितं भवति, अस्य हि सङ्गतिःस्यात्। पदार्थ शक्तिं विरहय्य न आकांक्षैव न तु सन्निधिनैव वा सम्बन्धिता स्यात्।।

अन्वयार्थ= जो आकाङ्क्षा से युक्त, अन्वययोग्यानुकुत्व शक्तियुक्त पद पदान्तर भी सन्निधि मे पठित होता है, उसी पद से ही शाब्द बोध होता है। योग्यता को छोड़कर न तो केवल आकाङ्क्षा से और न तो केवल सन्निधि से ही शाब्द बोध होता है।

आकाङ्क्षितमिति। येन विना यस्य पदस्य स्वार्थानुभवाजनकत्वं सा तस्य शब्दस्य तस्मिन्नाकाङ्क्षा, तदर्थयोरपि साकाङ्क्षशब्दप्रतिपाद्यतया सैवाकाङ्क्षा, तद्युक्तमित्यर्थः। पूरणशक्तियुक्तम् अन्वययोग्यम्। यत्सन्निधौ पतितं। समीपस्थपदेन यज् ज्ञापितम्। हि यस्मात्, पदार्थशक्तिं योग्यताम्। यद्यपि शाब्दज्ञानमात्रे योग्यता स्वरूपसती नापेक्ष्यते शब्दाभासप्रतिपाद्ये तदभावान्नापि तज्ज्ञानं, तत्र मानाभावाद्। योग्यताज्ञानविरहसहकृतात्तदितरकारणचक्रादेव शाब्दभ्रमोपपत्तेः। तथापि शाब्दप्रमायां स्वरूपेण सापेक्षितैव, यस्मादाकाङ्क्षादौ सत्यपि तया विना तद्भावस्तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामाकाङ्क्षादित्रितयमपि शाब्दप्रमायां कारणमिति भावः।।६७।।

आकाङ्क्षितमिति= "येन बिना यस्य पदस्य स्वार्थानुभवाजनकत्वं सा तस्य शब्दस्य तस्मिन्नाकाङ्क्षा" "जिसके बिना जिस पद की अपना अर्थ बताने की असमर्थता होती है वह उस पद के लिये वह आकाङ्क्षा रूप माना जाता है। तो इन दोनों पद के द्वारा जिस अर्थ का बोध हुआ है वह साकाङ्क्ष शब्द प्रतिपाद्य होने से वही आकांक्षा है जैसे "गां बधान" यहां गां का उच्चारण नहीं करें केवल बधान का करें तो वहां गां पद के अर्थ के बिना बधान अपने अर्थ को नहीं बता सकता इत्यादि। तो आकांक्षित पदार्थ की ही। पूरण शक्तियुक्तम्—अन्वय योग्यता है। यत् सन्निधौ पतितं—समीपस्थ पद से जिसका बोध हुआ है। हि—इसलिये। पदार्थशक्तिं=योग्यता को। यद्यपि जहां केवल शब्द ज्ञान का सम्बन्ध है वहां स्वरूप योग्यता की जरूरत नहीं है। जैसे "इदं रजतम्" इत्यादि, इसी प्रकार से, जहां शब्दाभास से प्रतिपाद्य विषय है—जैसे बुलाया रामलाल आया शामलाल तो यहां योग्यता (स्वरूप योग्यता) न होने से योग्यता ज्ञान भी आवश्यक नहीं है। क्योंकि शब्दाभास प्रतीति से योग्यता ज्ञान की जरूरत है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वहां तो योग्यता ज्ञान रहित इतर बाधिर्यादि कारण चक्र के द्वारा शब्द भ्रम की उत्पत्ति हो सकती है। लेकिन शब्द के प्रमाज्ञान में स्वरूप भी योग्यता के अभाव से शब्द प्रमा का अभाव हो जाता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि आकाङ्क्षा, योग्यता, आसक्ति ये तीनों जहां-जहां एकत्रित होते हैं वहां-वहां शाब्दी प्रमा उत्पन्न

होती है और जहां-जहां ये तीनों एकत्रित नहीं होते वहां-वहां शाब्दी प्रमा उत्पन्न नहीं होती है। अतः शाब्दी प्रमा में ये त्रितय, आसत्ति, योग्यताऽकांक्षा" कारण है, यह बात सिद्ध है।

ननु ब्रह्मविकारत्वाज्जीवानां तदंशत्वाद्वा मृद्घटादिवदस्त्येवाभेदयोग्यतेति भेदाऽभेदवादिनस्तत्राह—

शंका—भेदाभेदवादी शंका करते हैं कि जीव ब्रह्म का विकार है जैसे दूध का विकार दही, अथवा जैसे घड़ा मृत्ति का का अंश है इसी प्रकार से जीव ब्रह्म का अंश है तो इन दोनों दृष्टान्त से भेदाभेदवादी यह कहे कि जीव की ब्रह्म के साथ अभेद योग्यता तो है ही। लेकिन शिष्य जी महाराज इस बात पर से खुश नहीं हैं—

योग्यत्वमत्र न च तत्त्वमसीति वाक्ये
संबन्धितां प्रति पदार्थयुगस्य भाति।
पारोक्ष्यसद्वयविभागविरोधहेतो-
गौरश्व इत्यभिहिते तु यथैव वाक्ये।।६८।।

अन्वय= अत्र तत्त्वमसि इति वाक्ये पारोक्ष्यसद्वयविभागहेतोः पदार्थयुगस्य सम्बन्धितां प्रति योग्यत्वं न भाति, यथा गौरश्वः इत्यभिहिते वाक्ये।।६८।।

अन्वयार्थ= यहां "तत्त्वमसि" इस वाक्य में पारोक्षत्व सद्वयत्वादि का विरोध होने के कारण तत् और त्वम् दोनों पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्धित (अन्वय) होने की योग्यता प्रतीत नहीं होती है, जैसे गो अश्व इस वाक्य से।

योग्यत्वमिति। चोऽवधारणे, पदार्थयुगस्य तत्त्वंपदार्थयोः संबन्धितामभेदं प्रति योग्यत्वं नैव भातीति संबन्धः। जीवस्य ब्रह्मविकारत्वेऽनित्यत्वाद्यापत्तेर्निरवयवस्य ब्रह्मणः सांशत्वायोगाच्च न मृद्घटवत्तदभेदो वाक्यार्थः किन्त्वात्यन्तिक एव स वाक्यार्थः स्यात्। स च प्रागुक्तयुक्त्या न संभवतीत्याशयेन सदृष्टान्तमाह—पारोक्ष्येति। पारोक्ष्यादिकृतो विभागो भेदस्तेन सह विरोधाद्धेतोरित्यर्थः।।६८।।

योग्यत्वमत्र न च—(च) निश्चित रूप से, पदार्थयुगस्य = तत् और त्वं दोनों पदार्थों का आपस में, सम्बन्धितां प्रति- अभेद सम्बन्ध होने के लिये योग्यता दिखाई ही नहीं देती। जीव यदि ब्रह्म का विकार है तो ब्रह्म अनित्य हो जायेगा, और यदि जीव को ब्रह्म का अंश माने तो भी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म तो निरवयव है उसमें अंशांशी भाव कैसे आयेगा। ब्रह्म अंशी होगा और जीव अंश। लेकिन, ब्रह्म तो निरवयव है। अतः घट मृत्तिका समान अंशांशी भाव भी संपन्न नहीं हो सकता। दूसरी बात यदि ब्रह्म का अंश

जीव मानें तो ब्रह्म सावयव होगा। और जो सावयव होगा वह अनित्य होगा—आदि दोष उत्पन्न होंगे। कदाचित् मृत्तिका तथा घट के समान अभेद ही तत्त्वमसि महावाक्य से मानें तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि आत्मनिष्ठ अभेद ही अभिमत है न कि भेदाभेद। मृत्तिकात्वेन अभेद तथा घटत्वेन घट का भेद इस रूप में अभेद स्वीकृत नहीं है। और यह आत्यन्तिक अभेद पहिले जो युक्तियां बताई है उसके कारण संभव नहीं है। वही पुरानी युक्तियां दोहरा रहे हैं—"पारोक्ष्य" तत् और त्वं में तत् परोक्ष है, त्वं अपरोक्ष है, तत् अद्वय, त्वं सद्वय है। इन दोनों का परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। तो दोनों का आत्यन्तिक अभेद तो क्या साधारण अभेद भी नहीं हो सकता। जैसे गौरश्वइत्यभिहिते= गौ घोड़ा इति= ऐसे कहने से गौ और घोड़े का अभेद नहीं होता है—इसी प्रकार "तत्त्वमसि" कहने से दोनों का अभेद थोडे ही होगा। अर्थात नही होगा।

ननु तत्त्वंपदवाच्ययोः परस्पराभेदयोग्यत्वेऽपि विरुद्धांशपरित्यागेन पदद्वयलक्ष्ययोरभेदो न विरुध्यत इति तमेव वाक्यं बोधयतु। यथा सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञावाक्यं तदेतत्पद-वाच्ययोस्तदेतद्देशकालविशिष्टयोरभेदासंभवेन तदेतद्देशकालांशं विहाय लक्षितवस्तु-स्वरूपाभेदं प्रतिपादयतीत्याशङ्क्याह—

शंका= तत् और त्वं दोनों के वाच्यार्थ का अभेद होने में अयोग्यता होने पर भी दोनों के अन्दर के विरुद्धांश का परित्याग करके उन दोनों का अभेद होने में कोई कठिनाई नहीं है। इसी लिये यही वाक्य ठीक है। जैसे "सोयं देवदत्तः" यह वही देवदत्त है यह प्रतिभिज्ञा वाक्य है। इसमें (स—तत् पद) अयं—एतद् पद का वाच्य वह देश और यह काल, इसी प्रकार से यह देश और वह काल इनको लेकर अभेद होना संभव नहीं है—तद्देश एतद्काल, एतद्कालतद्देश विशिष्ट का अभेद संभव नहीं होने पर भी तत् देश, एतद् काल। एतद् देशान्तर काल दोनों का परित्याग करके लक्षित वस्तु देवदत्त का अभेद प्रतिपादित किया जाता है वैसा यहां भी करेंगे सो भी ठीक नहीं—इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

सोऽयं गिरोरिव न लक्षणयाऽपि वृत्ति-
र्मानान्तराधिगतिहीनतयाऽत्मनि स्यात्।।
मानान्तराधिगतगोचर एव दृष्टः
शब्दप्रयोग इह लाक्षणिकस्तु लोके।।६६।।

अन्वय – मानान्तराधिगतिहीनतया आत्मनि सोऽयं गिरोरिव (तत्त्वंपदयोः) लक्षणया अपि वृत्तिः न स्यात्। इह लोके लाक्षणिकस्तु शब्द प्रयोगः मानान्तराधिगतगोचरे एव दृष्टः।।६६।।

अन्वयार्थ= प्रमाणान्तर से ज्ञात होने के कारण आत्मामें "सोऽयं देवदत्तः" आदि के समान तत्

और त्वं पदों की लक्षणावृत्ति से भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि लोक में प्रमाणान्तर से ज्ञात पदार्थ में ही लाक्षणिक शब्द का प्रयोग हुवा करता है।

सोऽयमिति। तत्त्वंगिरोरिति शेषः। यथा सोऽयमिति गिरोर्लक्षणया देवदत्तादिस्वरूपे प्रवृत्तिरेवं तत्त्वंगिरोरात्मनि लक्षणयाऽपि वृत्तिर्न स्यात्। कुतस्तत्राह—मानान्तरेति। आत्मनि मानान्तरेणावगमासंभवान्न लक्षणेत्यर्थः। ननु मानान्तराभावेऽपि तत्र सा किं न स्यादित्याशङ्क्याह—मानान्तराधिगतेति। मानान्तरेण वाच्यसंबन्धितयाऽवगते लक्षणा भवति अन्यथा लक्ष्यस्वरूप-निर्धारणायोगात्। शब्दादेव तन्निर्णये तस्यापि शब्दस्य लाक्षणिकत्वेनानवस्थापातात्। ततश्च लक्ष्यस्य मानान्तरगम्यत्वं लक्षणाव्यापकमात्मनो व्यावर्त्तमानं लक्षणामपि व्यावर्तयतीति भावः।।६६।।

सोऽयमिति=गिरोरिव=तत्त्वमसि यह वाक्य, जैसे सोऽयं देवदत्तः=इस वाक्य की लक्षणावृत्ति देवदत्त में है ऐसी ही तत्त्वमसि की लक्षणावृत्ति, आत्मामें होगी सो बात नहीं है। क्यों? मानान्तरेति—आत्मामें किसी भी चक्षुरादि प्रमाण की गति न होने से—उसमें लक्षणावृत्ति भी नहीं की जा सकती है। यदि कहे कि आत्मा का मानान्तराधिगम्यत्व नहीं होने पर भी लक्षणा क्यों नहीं हो सकती?

समाधान—मानान्तराधिगतेति—चक्षुरादि प्रमाणान्तर से अधिगत वाच्य सम्बन्धि अर्थ का ग्रहण होने पर ही लक्षणा होती है। अन्यथा लक्ष्यस्वरूप का निर्धारण ही नहीं हो पाता। जैसे गंगायां घोषः या सोऽयं देवदत्त में देवदत्त का ग्रहण—नेत्रादि प्रमाणों से किया है अतः उसी में लक्षणा वृत्ति हो सकती है। शक्य सम्बन्धी लक्षणा होती है—"गंगायां घोषः" में गंगा पद सम्बन्धी गंगा की धारा उसमें ग्वालों के घर हैं इत्यादि। तो प्रमाणान्तर से वाच्य के सम्बन्धी रूप से लक्ष्य का अवगमन होना जरूरी है। और ऐसे जगह ही लक्षणा होती है। यदि यह नियम नहीं मानेंगे तो लक्ष्य के स्वरूप का निर्णय ही नहीं हो पायेगा। यदि शब्द के द्वारा ही लक्षणा मानें प्रमाणान्तर अधिगम्यत्व की कोई आवश्यकता नहीं ऐसा मानें तो शब्द भी तो लाक्षणिक ही होगा जो लक्षणा को बतायेगा। तो उस बताने वाले लाक्षणिक शब्द को बताने के लिये और अन्य लाक्षणिक शब्द लेना पड़ेगा। उसके आगे अन्य-अन्य। इस प्रकार तो अनवस्या दोष आ जायेगा। तो बात यह सिद्ध हुई कि लक्ष्य वस्तु को अन्य प्रमाण का विषय होना आवश्यकता है। तो यत्र यत्र लक्षणा तत्र तत्र मानान्तर गम्यत्वं यह व्याप्य व्यापक भाव हुआ। जब "तत्त्वमसि" स्थल में तो मानान्तर गम्यत्व नहीं होने से लक्षणा भी संभव नहीं है।

आत्मनि लक्षणाऽसंभवसमर्थनफलमाह—

शिष्य—शंका—आत्मा में लक्षणा असंभव है इस का फल बताता हूँ।

तस्मादखण्डविषया न वचःप्रवृत्तिः
संसर्गबोधनमपास्तमयोग्यभावात्।।
एवं न वाक्यगतशब्दसमन्वयोऽपि
दूरे प्रमान्तरविरोधनिराससिद्धिः।।१००।।

अन्वय= तस्मात् अखण्डविषया वचः प्रवृत्तिः न संसर्गबोधनम् अयोग्यभावात्, अपास्तम्, एवं वाक्यगतशब्दसमन्वयोऽपि नास्ति प्रमान्तरविरोधनिराससिद्धिः दूरे।।

अन्वयार्थ= मुख्य तथा लाक्षणिक दोनों वृत्तियां सम्भव न होने से। तत् और त्वं दोनों पदों की प्रवृत्ति अखण्डार्थ बोधन में नहीं हो सकती। यहां संसर्गका बोधन तो अयोग्य होने के कारण ही निरस्त हो जाता है। इस प्रकार उक्त वाक्य से तत्त्वमादि पदों का समन्वय नहीं हो सकता। प्रमाणान्तर विरोधका निराकरण दूर ही रहा।

तस्मादिति। यस्माल्लक्षणयाऽपि सामानाधिकरण्यं न घटते तस्मादखण्डविषया न तत्त्वमादिवचःप्रवृत्तिरिति योजना। संसर्गबोधनं तु प्रकृतवाक्येऽयोग्यभावादपास्तमित्यर्थः। सामानाधिकरणवाक्यं हि लोके द्विविधं दृष्टम्, एकं विरूद्धांशपरित्यागेन लक्षणया स्वरूपमात्रपरं यथा सोऽयमितिवाक्यं, किंचित्तु वाच्ययोरेव तादात्म्यलक्षणसंसर्गपरं यथा मृद् घटः, नीलोत्पलमित्यादि। एतच्च द्वैविध्यं लक्षणसंभवात्पूर्वोक्तन्यायेन विरोधाच्च ब्रह्मणि न संभवतीत्यर्थः। ननु वेदान्तविरोधाद्विरोधग्राहकप्रमाणामेवाप्रामाण्यमस्त्वित्यत आह—एवमिति। वेदान्तवाक्ये प्रयुक्तो यः शब्दस्तस्य सामानाधिकरण्येनान्वयोऽपि न संभवति यदा तदा पदार्थयोर्विशेष्यभावेन प्रमितिरेव न सिद्ध्येद्, दूरे विरोधग्राहकप्रामाण्यनिराससिद्धिः। प्रत्यक्षादिबाधितमर्थमग्निरनुष्ण इति वाक्यवद्वेदोऽपि न प्रमापयितुं शक्त इति कुतस्तद्विरोधात्तदितराप्रामाण्यमिति भावः।।१००।।

तस्मादिति=जब लक्षणावृत्ति के द्वारा भी जीव ब्रह्म की (सामाधिकरण्य एकाधिकरण वृत्तित्व) अभेद सिद्ध नहीं हो रहा है तब अखण्ड विषयक तत्त्वमसि वाक्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। संसर्ग बोध तो इस प्रकृत वाक्य के द्वारा तो संभव ही नहीं है क्योंकि दोनों जीव और ब्रह्म (ईश्वर) आपस में इनकी योग्यता ही नहीं है। जैसे "वह्निना सिञ्चति" अग्नि से बगीचे में पानी देना इत्यादि। सामानाधिकरण्य दोनों प्रकार से होता है एक तो विरूद्धांश का परित्याग करके लक्षणा के द्वारा स्वरूपमात्र का ग्रहण करना। जैसे "सोऽयं देवदत्तः" तद्देश तत्काल एतद्काल का परित्याग करके मात्र देवदत्त स्वरूप का ग्रहण लक्षणावृत्ति से होता है।

दूसरा प्रकार है—वाच्यार्थों का तादात्म्यलक्षण संसर्ग से सामानाधिकरण्य हो जाता है

जैसे "मृद्घटः" "नीलोत्पलमित्यादि" मिट्टी का घड़ा यहां घड़े का मिट्टी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है तो यहां मृत्तिकात्व मिट्टी में रहा और घड़ा भी तादात्म्य सम्बन्ध से मिट्टी में रहा। इसी प्रकार "नीलोत्पलम्" उत्पलत्व उत्पल में रहा और नील रूप भी तादात्म्य सम्बन्ध से उत्पल में रहा (नैय्यायिक गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध मानते हैं—वेदान्ती तादात्म्य सम्बन्ध उसे ही कहते हैं) ये दोनों भी सामानाधिकरण्य लक्षणा न बनने के कारण, (क्योंकि आत्मा तो प्रमाणान्तरका विषय नहीं होने से) तथा जीव और ईश्वर का विरोध होने के कारण सामानाधिकरण्य (अभेद) नहीं हो सकता।

किंच वेदान्त यदि सिद्धं ब्रह्म प्रतिपादयेयुस्तर्हि मानान्तरसंवादायत्तप्रामाण्याः स्युः। नदीतीरे फलानीति लौकिकवाक्ये तथा दर्शनात्। न च तत्संभवति, तत्र मानान्तरासंभवात्, वेदस्यानपेक्षत्वक्षतिप्रसङ्गाच्चेत्यभिप्रेत्याह—

शिष्य—शंका—यदि वेदान्त ब्रह्म का प्रतिपादन करें तो ब्रह्म मानान्तर सिद्ध पहिले से ही होने से उसका अनुवाद मात्र ही वेदान्त करेगा तो इससे वेदान्त में प्रामाण्यता नहीं आ सकती। जैसे "नदीतीरे फलानीति" नदी के किनारे पर फल है। पहिले इन फलों का आंखों से देखा बाद में यह वाक्य बोला। यह वाक्य अनुवाद मात्र है, प्रमाण नहीं। लेकिन "तत्त्वमसि" वाक्य में यह बात भी संभव नहीं। क्योंकि आत्मा में तो किसी अन्य प्रमाण की गति ही नहीं। और मान भी लेवें कि आत्मा में अन्य प्रमाण की गति है। तो भी यह जो सिद्धान्ती का सिद्धान्त कि वेद किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करता "वेदस्यानपेक्षत्वम्" बाधित हो जाएगा। इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं—

किं च प्रमान्तरमपेक्ष्य गिरः प्रवृत्तिः
सिद्धेषु वस्तुषु जगत्युपलब्धपूर्वा।।
ब्रह्मात्मवस्तुनि तथा वचसः प्रवृत्ति-
र्युक्तात्मनस्तु फलवत्परिनिष्ठितत्वात्।।१०१।।

अन्वय – किञ्च जगति सिद्धेषु वस्तुषु प्रमान्तरं अपेक्ष्य गिरः प्रवृत्तिः उपलब्धपूर्णा, तथा ब्रह्मात्मवस्तुनि वचः प्रवृत्तिः न युक्ता। आत्मनः फलवत् परिनिष्ठितत्वात्।।१०१।।

अन्वयार्थ - और भी लौकिक सिद्ध पदार्थों में प्रमाणान्तर की अपेक्षा करके ही शब्द की प्रवृत्ति देखी गई है। अतः ब्रह्मात्म वस्तु में शब्द की प्रवृत्ति युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि नद्यास्तीरे फलानि सन्ति नदी के किनारे फल के समान ब्रह्म भी सिद्ध वस्तु है।

किं चेति। सिद्धेषु प्रयत्नानिष्पाद्येषु पराभिमतकार्यविलक्षणेष्विति यावत्।

उपलब्धपूर्वेति। पूर्वमुपलब्धेत्यर्थः। ततः किं तत्राह—ब्रह्मेति। तथा तथैव। कुतस्तत्राह—आत्मनस्त्विति। आत्मनोऽपीत्यर्थः। परिनिष्ठतत्वादिति। सिद्धत्वादित्यर्थः।।१०१।।

किं च सिद्धेषु= प्रयत्न से अनिष्पाद्य, नैय्यायिकादि जिसको कार्य कहते हैं प्रागभाव प्रतियोगित्वं इत्यादि उससे यह ब्रह्म विलक्षण है। प्रमान्तरमपेक्ष्य गिरः प्रवृत्तिः जगति उपलब्धिपूर्वा= अन्य चाक्षुषादि प्रमा (ज्ञान) से अपेक्षित शब्द की (वाक्य की) प्रवृत्ति जगत में जो देखी जाती है। वह पहिले से उपलब्ध पदार्थ विषयक होती है। इस कहने से क्या ? ब्रह्मेति= जीव ब्रह्म के विषय में भी, तथा वचसः प्रवृत्ति= तत्त्वमसि आदि वाक्य की प्रवृत्ति देखी जाती है। वह भी ऐसी ही मानी जाय जैसे "नद्याःतीरे फलानि सन्ति" ऐसे वाक्य के समान। इसका मतलब आत्मनस्तु फलवत् परिनिष्ठितत्वात्= आत्मा भी फलों के समान सिद्ध ही है। उसका अनुवाद मात्र यह वाक्य करेगा।

फलवदित्युक्तदृष्टान्तं विशदयन्दार्ष्टान्तिकमपि विशदयति—

फल के दृष्टान्त को तथा द्राष्टान्त दोनों को विशद कर रहे हैं—

नद्यास्तीरे फलमिति गिरः सिद्धवस्तुप्रवृत्ते-
र्दृष्टा स्वार्थप्रमितिजनने स्वान्यमानव्यपेक्षा।।
तद्वद् ब्रह्मण्यपि तु वचसो वैदिकस्याभ्युपेया
तस्मादस्मिन्न खलु घटते मानभावः श्रुतीनाम्।।१०२।।

अन्वय= सिद्धवस्तु प्रवृत्तेः "नद्यास्तीरे फलम्" इतिगिरः स्वार्थप्रमितिजनने स्वान्यमानव्यपेक्षा दृष्टा। तद्वत् वैदिकरस्यापि वचसः ब्रह्मणि (प्रवृत्तिः) अभ्युपेया। तस्मात् खलु अस्मिन् श्रुतीनां मानभावो न घटते।

अन्वयार्थ= सिद्धवस्तु के बोधन में प्रयुक्त "नद्याःतीरे फलानि" इस वाक्य में स्वार्थ बोध कराने में अपने से भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर की अपेक्षा देखी गई है। इसी प्रकार तत्त्वमसि आदि वैदिक वाक्यों को अन्य प्रमाण सापेक्ष्य माना जाय। अतः अभेदार्थ श्रुति की प्रमाणता घटित नहीं होती।

नद्या इति। सिद्धवस्तुनि प्रवृत्तिर्यस्यास्तस्याः, तुरवधारणे तद्वदेवेति संबन्धः। अस्त्वेवं तत्राह—तस्मादिति। वेदान्तप्रतिपाद्ये मानान्तरप्रवृत्तौ तत्सिद्धार्थानुवादतया वेदान्तानां तात्पर्याभावेनाप्रामाण्यं स्यात्तदभावे च सिद्धवाक्यप्रामाण्यप्रयोजकरूपाभावादप्रामाण्यं स्यादिति भावः।।१०२।।

नद्यास्तीरे सिद्ध वस्तुनि—नदी के किनारे पर फल है यह वाक्य बोधक उसके पहिले इन फलों को बोलने वालों ने चक्षु प्रमाण से देखा था। इस वाक्य को सुनकर

जो फल खाने का इच्छुक व्यक्ति है उसकी उन फलों को प्राप्त करने के लिये प्रवृत्ति हो जाती है। इस प्रवृत्ति में= स्वार्थ प्रमिनिजनने–फलज्ञान रूप प्रमिति को उत्पन्न कराने के लिये, स्वान्यमानव्यपेक्षा= शब्द प्रमाण के चक्षु प्रमाण की या सफल प्रवृत्तिजनकत्व रूप प्रमाण की अपेक्षा तो है ही।

तद्वद्= इसी प्रकार से, ब्रह्मण्यपि तु वचसो वैदिकस्याभ्युपेया= तत्त्वमसि आदि वैदिक वाक्य को भी मान लेंगे, तो, तस्मात् न खलु घटते मानभावः श्रुतिनाम्= वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म यदि मानान्तर से सिद्ध है तो ऐसे सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन वेदान्त करेगा तो वेदान्त वाक्य में केवल अनुवादकता मात्र ही आयेगी। वेदान्त का अपना कोई तात्पर्य नहीं रहेगा। अतः वेदान्त वाक्य अप्रामाणिक ही माना जाएगा। सिद्ध वाक्य के प्रामाण्य को स्थापित न करने के कारण इस वाक्य में प्रयोजकत्वाभाव आने से अप्रमाण ही माना जाएगा।

पूर्वं सोऽयमित्यादिलौकिकवाक्यस्याखण्डार्थत्वमुपेत्य वेदान्ते लक्षणाऽसंभवेन दूषितम्। इदानीं तत्रापि तदसंप्रतिपन्नं कुतस्तद्दृष्टान्तेन वेदान्तेषु तदवकाशो भवेदित्याह–

शिष्य शंका–सोऽयं देवदत्तः में, यह लौकिक वाक्य होने के साथ-साथ इसकी अखण्डार्थता सिद्ध हुई। लेकिन वेदान्त में "तत्त्वमसि" वाक्य से लक्षणा असम्भव होने के कारण अखण्डार्थ बोध सम्भव नहीं है। अब तो अखण्डार्थ बोध ही उचित नहीं है– इसलिये किसी भी दृष्टान्त के द्वारा वेदान्त में अखण्डार्थ बोध का समन्वय संभव नहीं हो सकता है यह बता रहे हैं–

नाखण्डवस्तुविषया वचसः प्रवृत्ति-
लोकेऽपि दृष्टिपथमापतिता कदाचित्।।
नानापदार्थघटनाविषयत्वहेतो-
र्दूरेत्यता श्रुतिशिरोवचनेषु तस्याः।।१०३।।

अन्वय= नानापदार्थघटनाविषयत्वहेतोः लोकेऽपि वचसः प्रवृत्तिः अखण्डवस्तुविषया दृष्टिपथं कदाचित् नापतिता। श्रुतिशिरोवचनेषु तस्याः दूरेत्यता।

अन्वयार्थ= नाना पदार्थों के पारस्परिक संसर्ग को विषय करने के कारण लोक में भी (सोऽयं देवदत्त आदि वाक्यों की प्रवृत्ति अखण्ड (असंसृष्ट) वस्तु विषयक कभी देखी नहीं गई, फिर वेदान्त वाक्यों में यह अखण्डार्थ बोध की प्रवृत्ति तो बहुत दुर की बात है।

नाखण्डेति। असंसृष्टवस्तुविषया नेत्यर्थः। लोकेऽपि सोऽयमित्यादावपि। कुत इति चेत्तत्राह–नानेति। अपर्यायानेकपदोपस्थापितार्थानां घटना संसर्गस्तद्विषयत्वाद्धेतोर्वचस

इत्यनुषङ्गः। ननु यथा प्राभाकराणां लोके लिङ्गादीनां नियोगार्थत्वाभावेऽपि वेदे तदर्थता तद्वदत्राप्यस्त्वित्याशङ्क्याह—दूरेत्यतेति। दूरेमेतीति दूरेत्यम् अव्ययात्त्यबिति त्यप्रत्यययासंभवाच्छेषाधिकारे दूरादेत्य इति वार्तिकोक्तेरेत्यप्रत्ययः तस्य भावस्ततत्ता दूरे गतता दूरे गतिरिति यावत्। तस्या अखण्डवस्तुविषयप्रवृत्तेर्वक्ष्यमाणदोषादुक्तलिङादिदृष्टान्तासंप्रतिपत्तेश्चेति भावः।।१०३।।

नाखण्डेति= असंसृष्टवस्तुविषयक (असंसर्गावगति) बोध नहीं हो सकता। वचसः प्रवृत्तिः—असंसृष्ट वस्तुविषयक वाक्य की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। लोकेऽपि= सोऽयंदेवदत्तः इत्यादि स्थलों में यह देखा गया है। दृष्टपथमापतिता कदाचित्= वाक्य से असंसृष्ट वस्तु विषयक (अखण्डार्थ) बोध होता है ऐसा लोक में भी नहीं देखा गया है। कदाचित्= कभी भी, यह देखा नहीं गया। फिर यहां तो वेदान्त वाक्य में "तत्त्वमसि" में तो पूछना ही व्यर्थ है। क्योंकि नानापदार्थघटनाविषयत्वहेतोः= तत्त्वमसि महावाक्य में अपर्याय अनेक पद के द्वारा विभिन्न पदार्थ है, घटना और उनका संसर्ग है। ऐसे पदार्थ विषयक वचन से अखण्डार्थ बोध नहीं हो सकता। यदि वेदान्ती यहां ऐसा समाधान देंगे कि प्रभाकर मीमांसक लिङ्गादिक नियोगार्थक न होने पर भी उनकी सार्थकता वेद में मानी जाती है। इसी प्रकार यहां भी "तत्त्वमसि" के अन्दर असि को सार्थक मानकर अखण्डार्थ बोध माना जाय, तो वह भी ठीक नहीं है। दूरत्यतेति= इस वाक्य में अव्ययात्त्यबिति= त्यब प्रत्यय होने से—बाकी शेषाधिकार में अपने आप ही निरस्त हुआ। अर्थात् इस वाक्य में लिङादिप्रत्यय—"त्यब" इत्यादि प्रत्यय इस महावाक्य में होने के कारण भी अखण्डार्थ वस्तु विषयक प्रेरक यह वाक्य नहीं है। और लिङादिक का दृष्टान्त भी "अखण्डार्थ- बोध के प्रति" नहीं दे सकते हैं। यह अभिप्राय है।

ननु सोऽयमित्यादेरर्थान्तरासंभवादखडार्थतैव युक्तेत्याशङ्क्य किं मुख्यया वृत्त्या पदानां तद्वाक्यमखण्डनिष्ठं गौण्या वा लाक्षणिक्या वा, न सर्वथाऽपीत्याह—

शंका= "सोऽयं देवदत्तः" इस वाक्य से अन्य अर्थान्तर तो संभव नहीं है। इसलिये इस वाक्य को अखण्डार्थतापरक ही मानें। ऐसी यदि आशंका वेदान्ती करते हैं तो उनसे पूछेंगे कि "सोऽयं" इत्यादि वाक्य अखण्डार्थनिष्ठ है क्या वह पदों के मुख्य वृत्ति से, अथवा पदों के गौण वृत्ति से, अथवा पदों के लाक्षणिक वृत्ति से। इसमें एक भी प्रकार सही नहीं है—

आदाय मुख्यगुणलाक्षणिकप्रवृत्ती
रर्थं समर्पयति शब्द इति प्रसिद्धम्।।

आस्वेष नान्यतमयाऽपि वदत्यखण्डं
शब्दान्तरात्तविषयादधिकार्थवृत्तेः।।१०४।।

अन्वय – शब्द मुख्यलाक्षणिकप्रवृत्तीः आदाय अर्थं समर्पयतीति प्रसिद्धम्। आसु अन्यतमयाऽपि अखण्डं न वदति। शब्दान्तरात्तविषयाद् अधिकार्थवृत्तेः।।

अन्वयार्थ - यह लोक में प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि कोई भी शब्द मुख्यवृत्ति, गौणवृत्ति का लक्षणावृत्ति में से किसी वृत्ति द्वारा अर्थ का समर्पण किया करता है, लेकिन इनमें से एक भी वृत्ति द्वारा शब्द अखण्ड पदार्थ को नहीं कहता है क्योंकि एक शब्द अपने से नजदीक शब्द से भिन्न अर्थ को ही कहने में प्रवृत्त रहता है।

आदायेति। अस्त्वेवं किं तत इत्याशङ्क्याह- आस्विति। मुख्यादिवृत्तिषु मध्य इत्यर्थः। एषः शब्दः। कुतो न वदति तत्राह- शब्दान्तरेति। एकपदोपात्तविषयादधिकार्थवृत्तेः शब्दस्येति शेषः। अन्यथा वाक्यत्वमेव न स्यादिति भावः।।१०४।।

आदाय- मुख्या, गौणी अथवा लक्षणीका ये तीनों पद की वृत्तियां है। अर्थं समर्पयति शब्द इति प्रसिद्धम्= ये शब्द या पद अपने अपने अर्थका बोध उक्तवृत्ति से कराते हैं यह= लोक में प्रसिद्ध है। इसमें भी आस्वेषनान्यतमयाऽपिच= एक भी वृत्ति इसमें, वदत्यखण्डं= अखण्डार्थ का बोध नहीं कराती है। क्यो नहीं कराती? शब्दान्तरेति= जिस जिस शब्द ने जिस जिस विषय के अर्थ का ग्रहण किया है- न कि उसके अधिकार्थ का ग्रहण होता है। तो अखण्डार्थ मानने का मतलब शब्द अपनी मर्यादायें छोडकर अन्य अर्थ का प्रतिपादन करें। और यदि ऐसा हो तो वाक्य की वाक्यता ही समाप्त हो जायेगी। अर्थात वाक्य भाव ही समाप्त हो जायेगा। "पदार्थ सम्बन्ध बोधकत्वं वाक्यत्वम्" पदसमूहात्मकंवाक्यम्" और यदि ऐसा ही स्वीकार है तब तो एक शब्द से सभी अर्थ का काम हो जायेगा।

वाक्यत्वानुपपत्तिमेव स्पष्टयति-

शंका- यदि अखण्डार्थ बोध मानेंगे तो वाक्यत्व की अनुपपत्ति कैसी होगी वह बता रहे हैं–

आधिक्यमुत्सृजति शब्दगणो निजेऽर्थे
शब्दान्तरात्तविषयादिति मन्यमानाः।।
वाक्यत्वमेव पदजातगतं विहन्यु-
र्न ह्यस्ति हस्तकरशब्दगतं तदेषाम्।।१०५।।

अन्वयः= शब्दगणः निजे अर्थे शब्दान्तरात्तविषयाद् आधिक्यम् उत्सृजति मन्यमानाः पदजात गतं वाक्यत्वमेव विहन्युः नहि एषां हस्तकरशब्दगतं तद् अस्ति।।१०५।।

अन्वायार्थ= (कोई भी वाक्य घटक) पद समूह अपने प्रतिपाद्य अर्थ की पदान्तर प्रतिपाद्य अर्थ से अधिकता का अभिधान नहीं किया करता है। यदि ऐसा माने तब तो तत् त्वं आदि पद समूह वाक्यत्वका ही बाध कर बैठेगा। क्योंकि इनके मत से "हस्तकरादि पर्याय शब्द में वह वाक्यत्व नहीं रहता है।

आधिक्यमिति। पदान्तरानुपात्तविशेषमित्यर्थः। उत्सृजति न बोघयति। शब्दगणः वाक्ये प्रयुक्तः पदसमूहः। वाक्यत्वविघाते दृष्टान्तमाह-न हीति। हस्तः कर इत्यादिपदगतं तद्वाक्यत्वम्। एषां वादिनां शब्दानां वा। यदि वाक्ये प्रयुक्तानि पदानि मुख्याद्यन्यतमया वृत्त्याऽन्यमन्यमर्थविशेषं न प्रतिपादयेयुः किंत्वेकमेव, तदा तेषां पर्यायतापत्तेर्हस्तादिपदसमूहवद्वाक्यत्वं न स्यात्, अपर्यायपदसमूहस्यैव वाक्यत्वादिति।।१०५।।

आधिक्य= पदसमूहात्मकं वाक्यं इसमें अब सारे पद एक ही अर्थ का बोधन करें। आधिक्यमुत्सृजति= अन्य पद से अन्य अर्थ का बोधन नहीं हुआ शब्दान्तरात्तविषयादितिमन्यमानः= अन्य शब्द के उपस्थित होने पर भी सब शब्द एक ही अर्थका प्रतिपादन कर रहे हैं। शब्दगणः- वाक्य में प्रयुक्त शब्द समूह।

वाक्य का विघान कैसे होगा? नहीति-- हस्ति, कर, पाणि आदि शब्द एक ही अर्थ के वाचक है तो इन शब्द समूह से वाक्य नहीं होता है। तो इसी प्रकार से अखण्डार्थ बोध मानने का मतलब "सोऽयं देवदत्तः" आदि वाक्य के अनेक शब्द भी मुख्या, गौणी, अथवा लक्षणावृत्तियों में से किसी भी वृत्ति के द्वारा भिन्न भिन्न अर्थ का प्रतिपादन न करें। तो इन पदों के पर्यायवाचिता ही सिद्ध होगी इस हालत में तो वाक्य की वाक्यता ही अपने आप समाप्त हो जायेगी।

किं च ब्रह्मणो वेदान्तजन्यज्ञानविषयत्वाभ्युपगमे सिद्धान्तहानिरित्याह-

शंका= इसी प्रकार से यदि ब्रह्म वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान का विषय बने तो सिद्धान्त का खण्डन होगा कैसे? सुनिये-

किंच स्वयंप्रभमलुप्तचिदेकरूपं
सर्वप्रमाणविषयाद्बहिरभ्युपेत्य।।
आत्मानमात्मनि च शास्त्रमुदाहरन्तः
सिद्धान्तमभ्युपगतं परिपीडयन्ति।।१०६।।

अन्वयः=किञ्च स्वयंप्रभं अलुप्तचिदेकरूपं आत्मानं सर्वप्रमाणविषयात् बहिरभ्युपेत्य आत्मनि च शास्त्रमुदाहरन्तःअभ्युपगतं सिद्धान्तं परिपीडयन्ति।।

अन्वयार्थ= और भी स्वयं प्रकाश नित्य चिदेक रूप आत्मा को जो कि सब प्रमाणों के बाहर का विषय मानकर भी आत्मा के विषय में शास्त्र प्रमाण कहकर अपने कहे हुये सिद्धान्त का खण्डन

कर रहे हैं।

किंचेति। स्वयम्प्रभत्वे हेतुः- अलुप्तेति। अत एव सर्वेषां प्रमाणानामविषय इत्याह- सर्वप्रमाणेति। आत्मानं स्वप्रकाशदिस्वभावं सर्वप्रमाणविषयादनात्मनो बहिरन्यमभ्युपेत्येति सम्बन्धः। अत एवेयं श्रुतिः- अन्यदेव तद्विदितादिति। तर्ह्ययमभ्युपगम उचित एवेत्याशङ्क्य वेदान्तमेयता तस्यैवं न सिध्येदित्यभिप्रेत्य विपक्षे बाधकमाह-आत्मनि चेति।।१०६।।

किं चेति= ब्रह्म स्वप्रकाश स्वरूप है उसमें हेतु- अलुप्त चिदेकरूपम्=ब्रह्म का प्रकाश कभी भी लुप्त नहीं होता। इसी प्रकार से यदि यह ब्रह्म वेदान्त प्रमाणों का विषय होगा तो सर्वप्रमाणविषयाद् बहिरभ्युपेत्य-सभी प्रमाणों का वह अविषय इस कथन का भी बाध ा हो जायेगा। इसलिये श्रुति भगवती ने कहा "अन्यदेव तद्विदितादिति" वह ब्रह्म जानने से परे है- अर्थात्-ज्ञान का विषय वह बनता नहीं। इन सभी सिद्धान्तों का खण्डन हो जायेगा। वेदान्तवाक्य ज्ञान मेयत्व (प्रमेयत्व) यदि ब्रह्म में मानेंगे तो वह ठीक नहीं है- क्योंकि "आत्मानमात्मनि च शास्त्रमुदाहरन्तः= आत्मा आत्मा को जानता है ऐसा शास्त्र का प्रमाण भी देते हैं। जब आत्मा ही आत्मा को जानता है यह आपका कथन है फिर वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञानविषयत्व ब्रह्म को मानने से आत्मा आत्मा को जानता है इस सिद्धान्त का खण्डन होता है। इसलिये ब्रह्म में वेदान्त वाक्य ज्ञान विषयत्व नहीं है यह बात सिद्ध हुई।

किं च वेदान्तानां ब्रह्मण्यकिंचित्करत्वान्न मानत्वमित्याह-

शंका= दूसरी बात यह भी है कि वेदान्त ब्रह्म में अकिंचित्कर होने से उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिये-

सर्वत्र वस्तुषु जडेष्वजडप्रकाशं
कुर्वत्प्रमाणमिति संप्रतिपन्नमेतत्।।
ब्रह्मात्मवस्त्वजडबोधवपुः कुतोऽस्मिन्
वेदान्तवाक्यजनिताऽजडसंविदन्या।।१०७।।

अन्वयः= सर्वत्र जडेषु वस्तुषु अजडप्रकाशं कुर्वत् (चक्षुरादि) प्रमाणम् इत्येतत् सम्प्रतिपन्नम्। ब्रह्मात्म वस्तु अजडबोधवपुः अस्मिन् वाक्यजनिता अन्या अजडसंवित्।

अन्वयार्थः= सर्वत्र जड पदार्थो पर ही अजडप्रकाश उत्पन्न करते हुये चक्षुरादि प्रमाण होते हैं। यह निश्चित है। और ब्रह्मात्मवस्तु अजडबोध स्वरूप है, अतः उस पर वाक्य जनित कोई अन्य अजड संवित् कैसी होगी? इसकी कोई अपेक्षा नहीं है।

सर्वत्रेति। जडेषु अस्वप्रकाशेषु घटपदादिष्वित्यर्थः। अजड़प्रकाशं स्वयंप्रकाशं

विषयस्फुरणम्, घटादीनां जडत्वात्स्वतःस्फुरणासम्भवाच्चक्षुरादि तत्र स्फुरणमादधद् व्यवहारे उपयुज्यत इति तस्य तत्र प्रामाण्यं युक्तम्। ब्रह्मात्मनस्तु अजडबोधस्वरूपतया स्वमहिम्नैव सिद्धेस्तदन्याऽजड़प्रकाशासम्भवाच्च किं तत्र जनयित्वा वेदान्तास्तत्र प्रामाण्यं लभेरन्नित्याह- ब्रह्मात्मेति। अजडेति च्छेदः।।१०७।।

सर्वत्रेति- जड जो घटपटादि अस्वप्रकाश पदार्थों का अजड स्वप्रकाशं= जो चेतन स्वप्रकाश उससे घटादि जडपदार्थों प्रकाशन होता है। च- इसी स्व प्रकाश चेतन के कारण घटपटादि का स्फुरण होता है इसलिये चेतन-स्व-प्रकाश ब्रह्म वहां प्रमाण माना जाता है लेकिन ब्रह्म या आत्मा तो खुद स्व प्रकाश होने से, चेतन होने से, बोधस्वरूप होने से स्व प्रकाश से ही उसकी सिद्धि होगी, इस ब्रह्म या आत्मा से अतिरिक्त अजड, चेतन प्रकाश स्वरूप तो दूसरा कोई है नहीं। फिर ऐसे बोध स्वरूप, अजड चेतन आत्मा में वेदान्त वाक्य ज्ञान जन्य कौन सी नूतन विषयता आए जो अजड तथा संविद् ज्ञान स्वरूप हो। अर्थात् वेदान्त वाक्य ज्ञान जन्य विषयत्व ब्रह्म में नहीं आ सकता। ब्रह्मात्मेति- ब्रह्म स्वयं ही अजड़ चेतन बोध स्वरूप होने के कारण वेदान्त वाक्य की वहां प्रमाणता सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि जो कार्य प्रमाण से होना था। वह तो पहिले ही हो चुका है।

किं च वेदान्तानां सिद्धब्रह्मनिष्ठत्वे तद्गतपदानां परस्परमन्वय एव न सिध्येत्, क्रियापदेनैव सिद्धपदानामन्वयनियमाद्ब्रह्मवाक्ये च क्रियाऽसम्भवादित्याह-

शिष्य शंका= वेदान्त वाक्य को सिद्ध ब्रह्म निष्ठ मानने पर वाक्यान्तर्गत पदों का तत् और त्वं आदि पदों का परस्पर अन्वय सम्भव नहीं होगा, क्योंकि पदों के परस्पर अन्वय के लिये क्रिया पद की अपेक्षा होती है- क्रिया पद के द्वारा ही सिद्ध पदों का अन्वय होता है यह नियम भी है। और "तत्त्वमसि अहं ब्रह्माऽस्मि" आदि वाक्यों में तो क्रिया पद है भी नहीं। अतः वाक्यान्तर्गत सिद्ध पदों का परस्पर अन्वय सम्भव नहीं।

किं च क्रियापदमपेक्ष्य पदानि वाक्य-
भावेन सम्यगिह सङ्गतिमाप्नुवन्ति।।
नात्र क्रियापदमपेक्षितमामनन्ति
वाक्यं कुतो भवति वेदशिरस्तदानीम्।।१०८।।

अन्वयः= किञ्च इहपदानि क्रियापदमपेक्ष्य वाक्यभावेन सम्यक् संगतिमाप्नुवन्ति। अत्र क्रिया पदं अपेक्षितं आमनन्ति, तदानीं वेदशिरः कुतो वाक्यं भवति"

अन्वयार्थः= और भी कितने पद, किया पद की अपेक्षा करके वाक्य रूप में आकर परस्पर अन्वय का लाभ किया करते हैं। किन्तु यहां वेदान्त में क्रिया पद अपेक्षित ही नहीं है, तब तो "तत्त्वमसि" महावाक्य

कैसे वाक्य होंगे?।।

किंच क्रियेति। इह लोके। नन्वत्राप्यसि अस्मीत्यादिक्रियापदमस्तीति चेत्तत्राह- नात्रेति। वेदान्ते अस्यादिक्रियापदमपेक्षितं विवक्षितार्थं वेदान्तिनो नामनन्तीति सम्बन्धः। अस्यादिपदस्यापि सन्मात्रनिष्ठत्वाभ्युपगपान्नास्य कियापदत्वं, साध्यार्थस्यैव तथात्वादतस्तन्निमित्तो न ण्दसमन्वय इत्याह-वाक्यमिति।।१०८।।

किंच क्रियेति- और भी इस लोक में क्रिया पद के द्वारा पदों की संगति (अन्वय) होती है, यह नियम है।

शंका= "तत्त्वमसि, अहं, ब्रह्मास्मि" इत्यादि महावाक्यों में "असि" "अस्मि" इत्यादि क्रियापद तो है ही, फिर पदों का परस्पर अन्वय होने में कोई कठिनाई तो है नहीं समाधान- नात्रेति= वेदान्त के सिद्धान्तानुसार विवक्षित जीव ब्रह्मैक्य (अभेद) अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के अन्दर क्रियापद की अपेक्षा नहीं रखते। असि आदि पद तो केवल सत्तामात्र का बोध ही कराते हैं- इसलिये उनको क्रियापद परक नहीं माना जाता। क्योंकि जीवब्रह्म का अभेद साध्यार्थ ने ही क्रियापद का काम कर लिया है। इसलिये "असि" इत्यादि को क्रिया पदक मान कर "तत् त्वं" आदि पदों का अन्वय नहीं माना जाता। इस प्रकार तो जब क्रिया पद ही महावाक्य में नहीं रहा तो महावाक्य को वाक्य कहना भी अनुचित ही होगा। वाक्यं कुतो भवति वेदशिरस्तदानीम्= वेदान्त के महावाक्यों को वाक्य भी प्राप्त नहीं होगा, फिर महावाक्य की बात तो दूर ही रही।।

ननु तर्हि पदविधयैव वेदान्तपदानि ब्रह्म प्रमापयिष्यन्ति इति नेत्याह-

शिष्य शंका= तो फिर आप कहोगे कि रहने दो वाक्य भाव को, हम वेदान्ती पद के द्वारा ही ब्रह्म का प्रतिपादन करेंगे तो वह भी ठीक नहीं है-

नापूर्वमर्थमुपलम्भयितुं पदानां
सामर्थ्यमस्ति परिहृत्य तु वाक्यभावम्।।
स्वार्थस्मृतिं हि जनयन्ति पदानि लोके
विज्ञातसंगतितया न तु कार्यमन्यत्।।१०९।।

अन्वयः= वाक्यभावं परिहृत्य पदानां अपूर्वं अर्थ उपलम्भयितुं सामर्थ्यं तु नास्ति। लोके हि पदानि विज्ञातसंगतितया स्वार्थस्मृतिं जनयन्ति, नतु अन्यत् कार्यम्।

अन्वायार्थ= वाक्य भाव से वञ्चित पदों में किसी अपूर्ण अर्थ के बोध की शक्ति नहीं होती है। क्यों कि वृद्ध व्यवहार में ज्ञात संगतिक पद स्वार्थ की स्मृतिमात्र उत्पन्न किया करते हैं। न कि कोई अन्य (अपूर्वानुभव) उनका कार्य होता है।

नापूर्वमिति। तुरवधारणे, नैवास्तीति सम्बन्धः। कुतः सामर्थ्याभावस्तत्राह-स्वार्थेति। तत्रापि हेतुमाह-लोक इति। वृद्धव्यवहारे इत्यर्थः। अन्यदनुभवरूपम्। पदानि हि वृद्धव्यवहारे स्वार्थे गृहीतसङ्गतिकान्येव वाक्यार्थं वाक्यविधया बोधयन्तीति वाच्यम्, अन्यथाऽव्युत्पन्नानामपि वाक्यश्रवणे तदर्थानुभवप्रसङ्गात्। एवं च पदानि पदविधया पूर्वानुभूतस्वार्थस्मृतिमेव जनयन्ति न त्वनुभवम्, अपूर्वार्थत्वाभावात्। वाक्यभावेनैव तेषामपूर्वार्थोपलम्भनशक्तिः, वाक्यार्थस्य विशिष्टस्य वैशिष्ट्यस्य वाऽपूर्वत्वात्, तदभावे च वेदान्तानां नापूर्वोपलम्भनशक्तिरस्तीति भावः।।१०६।।

नापूर्वमिति= तु शब्द अवधारणार्थ, निश्चित रूप अर्थ में है। निश्चित रूप से पद अर्थ का बोध नहीं करा सकते। क्योंकि– परिहृत्य वाक्य भावम्- वाक्य भाव को छोडकर, पदो में अपूर्व अर्थ की प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं है। इसका कारण यह - स्वार्थ स्मृतिं- अपने अपने अर्थ की स्मृति कराते हैं, इस का भी कारण यह है कि- लोक इति= वृद्ध जनों का व्यवहार ऐसा ही देखा गया है। अपने अपने अर्थ की स्मृति कराते हैं- न कि अनुभव। बात यह है कि वाक्यभाव को प्राप्त पद (उत्तम वृद्ध मध्यमवृद्ध के प्रति व्यवहार में) ही वृद्धव्यवहार में संगति का ग्रहण करके ही अर्थात् अपने अपने अर्थ की स्मृति प्रदान कराके संगति का ग्रहण कराके- वाक्य भाव को प्राप्त होकर ये पद अपूर्व वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो- जिस बालक को पदों का अपने अपने अर्थ में संगति ग्रह नहीं है- ऐसा अव्युत्पन्न बालक भी उत्तम वृद्ध के वाक्य का श्रवण करके उसको भी अपूर्व वाक्यार्थानुभव होने लगेगा। अभिप्राय यह है कि- पद पदभाव को प्राप्त होकर अपने अपने पूर्वानुभूत अर्थ की स्मृति ही कराते हैं न कि अनुभव को, क्योंकि पदों में अपूर्वार्थ बोधकत्व है। जब ये पद वाक्यभाव को प्राप्त होंगे तभी उनके अन्दर अपूर्वार्थोपलम्भन शक्ति आयेगी, अन्यथा नहीं। वाक्यार्थ इसे कहते हैं– एक संसर्गवान् अर्थ के साथ दूसरे अर्थ का संसर्ग हो जाय इसे अपूर्वार्थ कहते हैं। तो वेदान्त में वह वाक्य भी न बनने के कारण अपूर्व उपलम्भन शक्ति नहीं आयेगी। इसलिये पदों के द्वारा भी अपूर्व उपलम्भन शक्ति नहीं आ सकती।

तर्हि वर्णानामेव प्रागनवगतार्थतया प्रामाण्यं स्यादिति तत्राह-

शंका– चलो पद की बात भी रहने दो, वाक्य की बात भी रहने दो, हम वेदान्ती तो वर्ण के द्वारा ही प्रामाण्य स्वीकार कर लेंगे। क्योंकि वर्णों ने तो पहिले किसी अर्थ का प्रतिपादन ही नहीं किया अतः वे गतार्थक नहीं होने से उन्हीं के आधार पर वर्ण के द्वारा वेदान्त को प्रमाण मानेगें तो यह भी ठीक नहीं।

हित्वा न वाक्यपदते प्रतिपत्तिहेतु-
वेंदो भवेदिति कथंचन वक्तुमीशः।।
कश्चित् कदाचिदपि तत्र कुतः श्रुतीनां
प्रामाण्यमात्मनि भवेदिति वर्णयन्ति।।११०।।

अन्वयः= वेदो वाक्य पदते हित्वा प्रतिपत्ति हेतुः भवेत् इति कश्चित् कथंचनापि न वक्तुमीशः। तत्र आत्मनि श्रुतीनां, कुतः प्रामाण्यं भवेदिति वर्णयन्ति।।

अन्वयार्थः= वेद भी वाक्यत्व तथा पदत्व को छोडकर वाक्यार्थ बोध का कारण बन जाय इस प्रकार तो कोई भी, कभी भी, और किसी प्रकार भी नहीं कह सकता। वेदों में वाक्यत्वादिक मानने पर आत्मा में श्रुतियों का प्रामाण्य कैसे हो सकेगा, ऐसा सम्प्रदायवेत्ता कहते हैं।।

हित्वेति। वाक्यपदते वाक्यतां पदतां चेत्यर्थः। वेदो वाक्यपदते हित्वा कथंचन कथमपि वर्णात्मनापि कदाचिदपि प्रतिपत्तिहेतुर्भवेदिति कश्चिदपि वक्तुं नेशः। तत्रैवं सति श्रुतीनां प्रामाण्यमात्मनि कुतो भवदिति वर्णयन्ति वर्णनीयमित्यर्थः। अथवा एवंसत्यात्मनि श्रुतीनां प्रामाण्यमिति यद्वर्णयन्ति तत्कुतः किं बलादित्यर्थः। न हि वर्णमात्रात्काप्यनु- भवोऽस्तीति भावः ।। ११०।।

हित्वेति= वाक्य भाव भी रहने दो, पद भाव भी रहने दो। अब तो वेद को प्रमाण मानने का वर्ण ही एक माध्यम रहा। तो वर्ण के माध्यम से ही वेद की जीव ब्रह्म की अभेद रूप अर्थ में वाक्य गति नहीं, पद की गति नहीं वहां वर्णो की गति मानें और इसके आधार पर वेद को प्रमाण मानें सो ठीक नहीं, यह सिद्धान्त की बात है।

किंच वेदान्तस्थसत्यज्ञानादिपदानामनात्मनि संगतिग्रहो न संभवति, न ह्यात्मातिरिक्तं सत्यादिस्वभावं किंचिदस्ति, नाप्यात्मनि तेषां सङ्गतिग्रहस्तद्ग्राहकमानानामात्मनि प्रवृत्तौ वेदान्तवाक्यमनुवादकं स्यात्। आत्मनि मानान्तराभावे च तत्र सदादिशब्दस्य कथं सङ्गतिग्रहः स्यात्तेन विना वा कथं वेदान्तानां तत्प्रामाण्यमित्याह-

शंका— वेदान्त के प्रसिद्ध शब्द है सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादि, अब इनकी संगति अनात्म पदार्थों के साथ नहीं हो सकती क्योंकि वे पदार्थ स्वयं ही सत्यादि स्वरूप भूत है नहीं। इसी प्रकार से इन शब्दों की संगति आत्मा के साथ भी नहीं हो सकती इसका मतलब इन पदों की संगति आत्मा के साथ कराने के लिये किसी प्रमाणों की आत्मा में प्रवृत्ति हो गई। फिर वेदान्त वाक्य का काम तो अन्य प्रमाणों ने ही कर लिया इस अवस्था में वेदान्त वाक्य अनुवादक मात्र रह जायेगा। फिर उसकी प्रमाणता सिद्ध नहीं होती। यदि

कहे कि आत्मा में सत्यादि शब्दों का अन्वय कराने के लिये अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है तब तो सत् चिदादि पद के अन्वय बिना वेदान्त को प्रमाण मानना भी उचित नहीं है। इसको स्पष्ट कर रहे हैं—

किं च प्रमान्तरमिहाभ्युपयन् प्रतीचि
वेदान्तवाक्यमनुवादकमभ्युपेयात्।।
मानान्तरं यदि च नेच्छति शब्दशक्ते-
स्तत्र ग्रहः कथमिति प्रतिपादनीयम्।।१११।।

अन्वयः= किं च इह प्रतीचि प्रमान्तरम् अभ्युपयन् वेदान्तवाक्यं अनुवादकं अभ्युपेयात्। यदि मानान्तरं नेच्छति, तत्र शब्द शक्तेः ग्रहः कथमिति प्रतिपादनीयम्।।१११।।

अन्वयार्थः= और भी बात यह है कि प्रत्यगात्मा में प्रमाणान्तर मानने वाले को वेदान्त वाक्य अनुवादक मानना पडेगा। यदि ब्रह्म में प्रमाणान्तर नहीं मानते तब तो उसमें सत् आदि शब्दों का शक्ति ग्रह कैसे होगा? यह कहना होगा।

किं च प्रमान्तरमिति। अभ्युपयन्नङ्गीकुर्वन् कथमिति प्रतिपादनीयमिति। न कथमपि स्यादित्यर्थः।।१११।।

किं च प्रमान्तरमिहाभ्युपयन्—यदि सत्यादि पदों का आत्मा में अन्वय करने के लिये अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है तो, (प्रतीचि आत्मामें) तब तो वेदान्त वाक्य एक अनुवाद मात्र ही रह पायेगा। यदि अन्य प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं मानते हो तब तो, शब्द शक्त ग्रह नहीं होगा। अर्थात् किसी भी प्रकार से प्रमाणान्तर के बिना आत्मा में सत्यादि पदों का अन्वय सम्भव नहीं हो पायेगा।

एवं वेदान्तानां सिद्धब्रह्मबोधकत्वे नदीतीरे फलसत्तावाक्यवन्मानान्तरसापेक्षतापत्तिर्मानान्तराभावे च सङ्गतिग्रहासंभवान्न तत्र तेषां प्रामाण्यमित्युक्तम्। इदानीं सिद्धवस्तुज्ञानेन प्रवृत्तिनिवृत्त्यसम्भवात्प्रवृत्तिनिवृत्ती विना च सुखप्राप्तिदुःखपरिहाररूपप्रयोजनासंभवात्तेन विनाऽध्ययनविधिपरिगृहीतवेदान्तानां प्रामाण्यायोगादपि न सिद्धनिष्ठं वेदान्तप्रामाण्यमित्याह।

शंका— वेदान्त को सिद्ध ब्रह्म बोध परक मानने पर नदी के तीर पर फल है इस वाक्य के समान प्रमाणान्तर की सापेक्षता माननी पडेगी। यदि प्रमाणान्तर की सापेक्षता नहीं मानते है तो "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्य की संगति नहीं बन पाती। इसके कारण वेदान्त की प्रामाण्यता भी सिद्ध नहीं होती है। यह सब बताया। अब और प्रकार से विचार

करें- सिद्ध वस्तु के ज्ञान से न प्रवृत्ति या न निवृत्ति ही होती है। जब तक प्रवृत्ति या निवृत्ति न हो तब तक सुख प्राप्ति तथा दुःख का परिहार रूप प्रयोजन भी संभव नहीं होता। प्रयोजन के बिना "स्वाध्यायोऽध्येऽतव्य" इत्यादि अध्ययनविधि के द्वारा परिगृहित वेदान्त की प्रामाण्यता संभव नहीं है। इसलिये यही कहना पडेगा कि वेदान्त सिद्ध ब्रह्मनिष्ठ नहीं है। तभी वेदान्त में प्रमाणता आ सकती है, अन्यथा नहीं।

किं च प्रवृत्तिविनिवृत्तिविहीनवस्तु-
तत्त्वप्रतीतिजननान्न च किंचिदस्ति।।
पुंसः प्रयोजनमतोऽपि न तत्र मानं
वेदान्तवाक्यमिति युक्तिमदुच्यमानम्।।११२।।

अन्वयः= किं च प्रवृत्तिनिवृत्तिविहीनवस्तु तत्त्वप्रतीतिजनकात् पुंसः किञ्चित् प्रयोजनं नास्ति, अतोऽपि वेदान्तवाक्यं तत्र मानं न, इत्युच्यमानं युक्तिमत्।।११२।।

अन्वयार्थ= प्रवृत्ति से रहित केवल वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन से पुरुष का कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए भी वेदान्त वाक्य ब्रह्म में प्रमाण नहीं है, ऐसा कहना युक्ति युक्त ही है।।

किंच प्रवृत्तीति। प्रवृत्तिनिवृत्तिविहीनं तदयोग्यं यद्वस्तु तत्त्वमात्मतत्वं तत्प्रतीति-जननादित्यर्थः। हेयोपादेययोः कलञ्जभक्षणाद्यग्निहोत्राद्योरनर्थार्थसाधनयोर्ज्ञानात्तद्भक्षणान्नि-वृत्तिरग्निहोत्रादौ च प्रवृत्तिः संभवतीति तद्वाक्यं प्रयोजनवदर्थनिष्ठम्, आत्मतत्त्वं तु नित्यसिद्धत्वान्न हेयं नाप्युपादेयमिति न तज्ज्ञानात्प्रवृत्त्यादिसंभव इति निष्प्रयोजनमेवात्मवाक्याध्ययनं स्यातच्चानुपपन्नं न ह्युपेक्षाज्ञानेन तदध्ययनविधिः फलवान् भवतीति न तत्र वेदप्रमाण्यं युक्तमिति भावः।।११२।।

प्रवृत्तीति— ब्रह्मसिद्ध है। उसका प्रतिपादन करने वाला वेदान्त वाक्य प्रमाण नहीं माना जायेगा। क्योंकि "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य से तो सिद्ध जीवब्रह्म का अभेद ही प्रतिपादित किया, "अथवा सत्यंज्ञानमन्तन्तं ब्रह्म" से सिद्ध ब्रह्म का ही निरुपण किया वह सिद्ध ब्रह्म न तो प्रवृत्ति के काम का और न ही निवृत्ति के काम का। वाक्य भी वही सफल होता है जिसमें हेयोपादानता होती है। जैसे कलञ्जं न भक्षयेत्" कलञ्ज भक्षण नहीं करें। इस वाक्य से भक्षण से निवृत्ति होती है। "अग्निहोत्रं जुहुयात्" वाक्ये अग्निहोत्र में प्रवृत्ति होती है। तो ये दोनों वाक्य प्रयोजन युक्त वाक्यार्थ निष्ठ होने से प्रमाण है। लेकिन आत्मतत्त्व तो नित्य सिद्ध होने से न तो वह (हेय) छोडने योग्य, न (उपादेय) ग्रहण करने

योग्य ही है। तो इस सिद्ध आत्मा के ज्ञान से प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति संभव नहीं होगी। अतः आत्मज्ञान भी प्रयोजनहीन होने से आत्म वाक्य का अध्ययन "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति" इत्यादि का अध्ययन वह भी निष्प्रयोजन ही सिद्ध होगा, लेकिन ठीक नहीं है। अब रह गई "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि वाक्य के द्वारा आत्म तत्त्व का भी तो अध्ययन इसमें आत्मा और आत्म ज्ञान की हो गई उपेक्षा। क्योंकि वह सिद्ध परक हैं आदि। इस अवस्था में जिस आत्म वाक्य में उपेक्षा आई है- उस वाक्य के प्रति हम यही कहेंगे कि इसमें वेद अप्रमाण है। अर्थात् सत्यज्ञानमनन्तं इत्यादि वाक्य में हम यही कहेंगे कि इसमें वेद अप्रमाण है। अर्थात् सत्यंज्ञानमनन्तं इत्यादि वाक्यों में वेद अप्रमाण मानेंगे, तो सब ठीक हो जायेगा अर्थात् वेदान्त की हो गई उपेक्षा। अब वेदान्त विषय आत्मा के प्रतिपादक वेद को अप्रमाण ही मानना उचित है।।११२।।

किं चाज्ञातार्थावगमकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणं वेदविद आहुः, विशिष्य च वेदस्य तथैव वक्तव्यम, "अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्य" इति जैमिनिनोक्तेः, अन्यतो ज्ञातेऽर्थे मानाभावप्रयुक्ताऽसत्त्वशङ्काऽभावेन वेदस्य तत्र तात्पर्यकल्पनाऽसंभवाच्च, न च तात्पर्यं विना शब्दः स्वार्थे प्रमाणमित्याह।

शिष्य शंका– अज्ञातार्थावगकम्= (अज्ञात वस्तु प्रतिपादनकत्व) "अज्ञात वस्तु ज्ञापकत्वं" यह प्रमाण का लक्षण है। ऐसा वेदवित् कहते है वेद के भी प्रमाण प्रसंग में ऐसा ही प्रमाण का लक्षण करेंगे।

"अर्थेऽनुपल्ब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्य" इति जैमिनिजी कहते हैं और जो अर्थ ज्ञात नहीं है उस की प्राप्ति कराने वाले को व्यास जी भी प्रमाण कहते हैं। अन्य प्रकार से ज्ञात अर्थ में प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् जो पदार्थ, अज्ञात, नहीं है, तद्विषयक प्रमाणाभाव की आशंका ही उत्पन्न नहीं होती है। इसलिये सिद्ध ब्रह्म विषयक वेद के तात्पर्य की कल्पना ही उचित नहीं है। और तात्पर्य के बिना शब्द अपने अपने अर्थ में प्रवृत्त भी नहीं होता है और तात्पर्य के बिना अपने अपने अर्थ में उसे प्रमाण भी नहीं माना जायेगा। इसलिये "सत्यंज्ञानमनन्तं" इत्यादि शब्दों में वेद का तात्पर्य ही स्वीकार नहीं करेंगे। और जब वेद का तात्पर्य इन शब्दों में नहीं रहेगा तो इन शब्दों से अपने अपने स्वार्थ में प्रामाणिकता भी सिद्ध नहीं होती।

अज्ञातमर्थमवबोधयतः प्रमायां
हेतुत्वमभ्युपगतं ननु वेदविद्भिः।।

अज्ञातता च परमात्मनि दुर्निरूपा
विज्ञानमात्रवपुषीति न मानकृत्यम्।।११३।।

अन्वयः= वेदविद्भिः अज्ञातमर्थं अवबोधमतः (चक्षुरादेः) प्रमायां हेतुत्वं अभ्युपगतं ननु। विज्ञान मानवपुषि परमात्मनि च अज्ञानता दुर्निरूपा इति मानकृत्यं न।।११३।।

अन्वयार्थः= जैमिनि आदि वेद वेत्ताओं ने भी अज्ञातार्थ बोधक (चक्षुरादि) में प्रमा ज्ञान की हेतुता (प्रमाणता) निश्चित रूप से मानी है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में अज्ञातता दुर्निरूपणीय है। अतः आत्मा में प्रमाण का कोई प्रयोजन (अज्ञान निवृत्ति रूप) ही नहीं है।

अज्ञातमिति। अवबोधयतः, चक्षुरादिकरणस्येति शेषः। ततः किं तत्राह,–अज्ञाततेति। चोऽवधारणे। दुर्निरूपैवेति संबन्धः। तत्र हेतुर्विज्ञानेति। स्वप्रकाशचैतन्यात्मनि प्रतीति नाज्ञानं वक्तुं शक्यं न हि प्रचुरप्रकाशे सवितरि तमः संभवति, ततोऽज्ञातार्थावगमलक्षणप्रमाणकृत्या-भावान्नात्मनि वेदान्तप्रामाण्यसंभव इति भावः।।११३।।

अज्ञातमिति= चक्षुरादि करणों से अज्ञात वस्तु के बोधन करने से ही उनमें प्रामाण्यता आती है। तो यह घडा है "अयं घटः" ऐसी जो प्रमा अर्थात् घटविषयक जो ज्ञान है वह चक्षुरादि प्रमाण से जो घडा पहिले ज्ञात नहीं था उसका ज्ञान उन्होंने करा दिया है अतः चक्षुरादि प्रमाण हो गये। अज्ञाततापीति च= अवधारण निश्चयार्थ में है। निश्चित रूप से वेदान्त की प्रमाणता संभव नहीं है! "दूर्निरूपैवेति" सम्बन्धः। क्यों? कि विज्ञानमात्रेति– स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप आत्मा में अज्ञातता– अज्ञान कभी भी नहीं आ सकता। अतुलित प्रकाश युक्त सूर्य में अन्धःकार कैसे आ सकता है। तो अज्ञातार्थावगमकत्व रूप प्रमाण का लक्षण यहां आत्मा में संभव नहीं। क्योंकि ज्ञान स्वरूप चैतन्य प्रकाश स्वरूप आत्मा में अज्ञान रूपी अन्धःकार आयेगा कहां से? तो आगे अज्ञान घटित लक्षण ही संभव नहीं हो सकता। अतः आत्मा को लेकर वेदान्त प्रमाण नहीं हो सकता यह बात निश्चित हो गई।

नुन नेदं प्रमाणसामान्यलक्षणं धारावहनद्वितीयादिबुद्धावभावात्, किं तु यथार्थानुभवः प्रमा तत्करणं प्रमाणमिति सामान्यलक्षणमिति चेन्न, धारावहनबुद्धिसत्त्वेऽपि तद्विषयस्य प्रथमज्ञानेन निश्चितस्यासत्त्वशङ्कानुदयेन द्वितीयादिज्ञानानां प्रमेयसत्त्वप्रयोजकप्रामाण्याभावेन तत्र लक्षणागमनस्यादोषत्वात, यथार्थानुभवत्वं च शुक्तिरजतादिज्ञानसाधारणम्, अबाधितार्थज्ञानं प्रमेत्यपि न, बाधस्य बोध्याभावप्रमारूपतयाऽऽत्माश्रयादित्यज्ञातार्थबोधकत्वमेव परीक्षकसंमते प्रामाण्यम्, तच्चात्मनि वेदान्तानां न संभवति अज्ञानाभावादित्युक्तम्, तदभ्युपगमे च तस्य स्वप्रकाशताहीयते न ह्यात्मतत्वं स्वप्रकाशमबुद्धमितिवचनद्वयप्रामाण्यं संभवतीति सदृष्टान्तमाह।

शिष्य शंका– यदि वेदान्ती यह कहे कि प्रमाण सामान्य का लक्षण हम यह नहीं मान रहे है क्योंकि "अज्ञातार्थावबोधनम्" अज्ञातवस्तुका अवबोधकत्व प्रमाण लक्षण मानने से "अयं घटः अयंघटः" यह जो धारावाहिक (बुद्धि) ज्ञान है उसमें प्रमाणता नहीं मिल पायेगी। क्योंकि द्वितीय क्षण में रहने वाला अयं घट यह प्रमा ज्ञान वैसा वह हो नहीं पायेगा। क्योंकि वह द्वितीय क्षणवृत्ति ज्ञान तो प्रथम क्षण वृत्ति ज्ञात घट विषयक होगा। इसलिये ऐसा लक्षण कहना चाहिये "यथार्थानुभवः प्रमा, तत्करणं प्रमाणं" ऐसा मानने से कोई धारावाहिक ज्ञान में तथा प्रमाण में दोष नहीं आयेगा। यहां तो अव्याप्ति दोष आ रहा था। उसका भी निराकरण इस लक्षण से हो जाता है। सो यह भी आप का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि धारावाहिक बुद्धि अयं घटः अयं घटः, रहने पर भी उसका विषय जो घटपटादि उसका निश्चय तो प्रथम प्रथम क्षणवर्ती ज्ञान से ही हुवा है, द्वितीय क्षण में उसके असत्त्व की आशंका भी नहीं तो इस अवस्था में द्वितीय क्षणवर्ती अयं घटः इस ज्ञान के प्रमेय का अस्तित्व तो स्थिर हो चुका है, अतः इस द्वितीय क्षणवर्ती ज्ञान में प्रमेय सत्त्व स्थापित करने की सार्थकता ही नहीं रही। तो प्रमेय सत्त्वप्रयोजकत्वाभाव द्वितीय क्षणवर्त्ती ज्ञान में है। अतः प्रमाण का लक्षण यदि इस द्वितीय क्षणवर्त्ती प्रमा में तथा प्रमाण में नहीं गया तो दोष नहीं है। "यथार्थानुभवत्वं" यथार्थ अनुभव यदि यह प्रमा का लक्षण मान लेते है तो इससे शुक्ति रजतादि ज्ञान का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि सभी ज्ञान धर्मि अंश में अभ्रान्त है, और प्रकार अंश में भ्रान्त (या विपरीत) रहते हैं। अतः हमें प्रमा का लक्षण अलग ही करना पडेगा। यदि वेदान्ती जी आप प्रमा का लक्षण "अबाधितार्थ ज्ञानं प्रमा" अबाधित अर्थ के ज्ञान को प्रमा कहते है, तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि अबाधित में बाध (प्रमा रूप) पद है। बाध क्या है? तो बोध्याभाव रूप। बोध्य हुवा "इदं रजतम्" यह विषय, बाध हुवा बोध्याभाव रूप "इदं न रजतम्" तो इसे ही बोध्याभाव को प्रमा कहते हैं। अबाधितार्थ ज्ञानं प्रमा= इस प्रमा के लक्षण में प्रमा रूप बाध का प्रवेश होने से आत्माश्रय दोष हुवा। इसलिये अज्ञातार्थ बोधकत्वमेव परीक्षकों के मत से प्रामाण्य का लक्षण किया गया है। लेकिन वह प्रामाण्य वेदान्त को सम्मत नहीं है क्योंकि आत्मा ज्ञान स्वरूप होने के कारण "आत्मविषयक अज्ञातार्थ बोधकत्वं" एतत् स्वरूप वेदान्त में प्रामाण्य नहीं आ सकता। यदि वेदान्ती प्रमाण्यता स्वीकृत करें तो आत्मा की स्वप्रकाशता समाप्त होती है। यह तो नहीं हो सकता कि एक ही आत्मतत्त्व स्वप्रकाश स्वरूप तथा अज्ञात है अज्ञान युक्त है। तो ऐसे दोनों विरूद्ध वचनों को बोलने वाला वेदान्त कैसे प्रमाण हो सकता है। इसी बात को दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं–

बोधस्भावकमबुद्धमनुष्णमुष्णं
शीतस्वभावकमशीतमितीदृशानि।।
कः श्रद्धीत पुरुषो वचनानि तस्माद्
ब्रह्माऽप्रबुद्धमिति वाक्यमयुक्तमाहुः।।११४।।

अन्वयः=बोधस्वभावकं अबुद्धं, अनुष्णं उष्णं, शीतं स्वभावकं अशीतं, इति इदृशानि वचनानि कः श्रद्धीत, तस्मात् ब्रह्माऽप्रबुद्धमिति वाक्यमयुक्तमाहुः।।

अन्वयार्थ= ज्ञानात्मक वस्तु अज्ञात है, उष्ण (अग्नि) अनुष्ण है, शीत (जल) अशीत है। इस प्रकार के विरूद्धार्थक वचनों पर कौन विश्वास करेगा। इसलिये ज्ञान स्वरूप ब्रह्म अज्ञात है इस वाक्य को अयुक्त ही कहना चाहिये।।

बोधस्वभावकमिति। आहुः, वेदान्तिन इति शेषः।।११४।।

बोधस्वभावकमितिः- आहुः- फिर तो वेदान्ती मानो ऐसा ही बोलेंगे जैसे ज्ञान स्वरूप ब्रह्म अज्ञान से युक्त है, उष्ण स्वभाव वाली अग्नि शीत है, शीतल स्वभाव वाला चन्द्रमा गरम है। कौन ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति है जो ऐसे वाक्यों पर विश्वास करें। तो फिर वेदान्त के ऐसे वचनों पर कौन विश्वास करेगा। जो कि वेदान्त कहता है कि "ब्रह्माऽप्रबुद्धमिति" ब्रह्म ज्ञानस्वरुप अज्ञान से युक्त है। इसलिये ऐसे वाक्य उचित नहीं है, और ऐसे वाक्य बोलने वाला वेदान्त भी प्रमाण नहीं है, यह बात सिद्ध हुई।।११४।।

नन्वज्ञानविशिष्टं न प्रमाणगोचरस्तस्यापि प्रमाणगोचरत्वापत्तेः तस्य ततो निवृत्त्ययोगाच्च, नापि तदुपलक्षितं वस्तुमात्रे प्रमाणप्रसङ्गेन तदभावेऽप्यनुपपत्त्यभावादित्याशङ्क्य, नाज्ञानं तत्र विशेषणं न वोपलक्षणं किं तूपाधिः, उपाधिश्च, यावत्कार्यावस्थायी तदनन्वयी यथा श्रोत्रत्वस्य कर्णशष्कुली, एवं चाज्ञानाभावे वस्तुनः प्रमेयत्वं न संभवति कर्णशष्कुल्यभाव इव श्रोत्रत्वमित्यभिप्रेत्याह।

अवतरणिका= आशंका= अज्ञान विशिष्ट आत्मा प्रमाण का विषय नहीं है। अन्यथा अज्ञान भी प्रमाण का विषय हो जायेगा। ''विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते'' विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त नहीं होता हैं। यदि आत्मा प्रमाण गोचर है तो आज्ञान भी प्रमाण गोचर हो जायेगा। और जब अज्ञान प्रमाण गोचर (विषय) हो जायेगा तो फिर उसे हटाना संभव नहीं होगा। इसलिये अज्ञान आत्मा का विशेषण नहीं हैं। और न अज्ञान को उपलक्षण ही मानेंगे। क्योंकि अज्ञान उपलक्षित सभी वस्तुओं में प्रामाण्यता आयेगी। तो फिर अज्ञान के अभाव में प्रामाण्यता आयेगी। फिर अज्ञान के अभाव में अनुपपत्ति नहीं होगी। लेकिन अज्ञान जब हट जाता है तब

संसार रूपी अनुपपत्ति (उस संसार की उपपत्ति नहीं होती।, अर्थात् संसार ठहरता नहीं। उसका भी अभाव हो जाता है। क्योंकि अज्ञान हुवा उपलक्षण और अज्ञान अभाव उपलक्षण वह सभी वस्तुओं के अन्तर्गत प्रामाणिक हो जायेगा। अतः अज्ञान न तो विशेषण है, न उपलक्षण (जैसे- "काकवन्तं देवदत्तस्य गृहं" (कौवा न रहे तो भी घर का बोध होगा ही) किन्तु अज्ञान को उपाधि ही मानेंगे। उपाधि तो जब तक कार्य होता है तब तक रहती है साथ में अपने धर्मि में अन्वित नहीं रहती है। जैसे श्रोत्रत्वस्य कर्णशष्कुली उपाधि है तो जब अज्ञान को उपाधि मान लेंगे तो अज्ञानाभाव के होने पर भी वस्तु में आत्मामें प्रमेयत्व संपन्न नहीं होता है। जैसे कर्णशष्कुली के अभाव से श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि नहीं होती। औपाधिक धर्म का यह नियम है कि उपाधि के न रहने पर औपाधिक धर्म भी नहीं रहता है। इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं—

उपाध्यभावे न भवेदुपाधिमत्
तटस्थमज्ञानमुपाधिरिष्यते।।
प्रमाणबुद्धेर्न तदात्मवस्तुनि
स्वयंप्रकाशे न ततोऽत्र मानधीः।।११५।।

अन्वयः= अपाध्यभावे उपाधिमत् न भवेत्। तटस्थं अज्ञानं प्रमाणबुद्धेः उपाधिरिष्यते, तत्स्वयं प्रकाशे आत्मवस्तुनि न। ततोऽत्र मानधीः न।।११५।।

अन्वयार्थः= उपाधि के न होने पर औपाधिक का भी अभाव होता है। तटस्थ अज्ञान ही प्रमाण बुद्धि की उपाधि माना गया है। वह अज्ञान स्वयं प्रकाश आत्मवस्तु में है नहीं। इसलिये आत्मा में प्रमाण बुद्धि भी नहीं हो सकती।।

उपाध्यभाव इति। कर्णशष्कुल्याद्यभाव इत्यर्थः। उपाधिमत्तत्प्रयुक्तश्रोत्रत्वादि। तटस्थं प्रमेयाद्बहिर्भूतम्। किं तदुपलक्षणं नेत्याह उपाधिरिति। अत्र तटस्थमित्यनेन विशेषणादुपाधे-र्विशेषो दर्शितः, उपाध्यभाव इत्यादिनोपलक्षणादिति द्रष्टव्यम्। प्रमाणबुद्धेरूपाधिरितिसंबन्धः। अज्ञानस्योपाधित्वे फलितमाह—न तदात्मेति। तदज्ञानं स्वयंप्रकाश आत्मवस्तुनि न ताटस्थ्येनाप्युपाधिः संगच्छत इत्यर्थः। यत एवमज्ञानासंभव आत्मनि ततो हेतोरत्रात्मनि न मानधीः संभाव्यत इत्युपसंहारः।।११५।।

उपाध्यभाव= कर्णशष्कुलि आदि का अभाव। उपाधियुक्त— उपाधि प्रयुक्त श्रोत्रत्वादि इन्द्रियां तटस्थं= प्रमेय से बहिर्भूत।। अर्थात् कर्णशष्कुली आदि उपाधि के अभाव से आकाशम् श्रोत्रत्वादि इन्द्रिय की सिद्धि नहीं होती। अज्ञान उपाधि मानने से वह तटस्थ प्रमेय से

बहिर्भूत होने के कारण उस उपाधि के होने से अथवा न होने से कोई अन्तर नहीं पडता है। क्या अज्ञान उपलक्षण है– कहते हैं, न उपाधिरिति=अज्ञान उपाधि है', तटस्थ कह देने से विशेषण से पृथक उपाधि की विशेषता बताई कि उपाधि तटस्थ (प्रमेय से बहिर्भूर्त है।) तो अज्ञान को प्रमाण बुध्देः= प्रमाण बुद्धि का उपाधि मान लिया। अज्ञान को प्रमाण की उपाधि मान लेने पर फल क्या मिलेगा।

न तदात्मेति– वह अज्ञान स्वयं प्रकाश आत्मा की तटस्थ भाव से भी उपाधि नहीं हो सकता। फिर तो आत्मा में अज्ञान की संभावना समाप्त हुई। इसके कारण प्रमाण बुद्धि भी आत्मा में संभावित नहीं हो सकती।।

किं चाद्वैतब्रह्मवादिना वेदान्तार्थावगन्ता प्रमाता वेदान्ताः प्रमाणं तदुपदेष्टा गुरुस्त-दुपकरणं युक्त्याद्यभ्युपगम्यते न वा, आद्ये व्याहतिः, द्वितीये न प्रमेयसिद्धिः, एवं स्वप्रकाशं स्वातिरिक्त प्रमाणगम्यमित्यपि प्रमाणविरुध्दमित्याह।

शंका= इसी प्रकार से अद्वैतब्रह्मवादियों से हम पूछेंगे कि वेदान्तार्थ का अवगमन करने वाला प्रमाता, वेदान्त प्रमाण, उपदेशक गुरु, उपदेश की सामग्री, युक्ति, तर्क, आदि इनको स्वीकार करते हो कि नहीं। यदि इनको स्वीकार करेंगे तो व्याघात दोष होगा। "मम मुखे जिह्वा नास्ति" कोई कहता है कि मेरे मुख में जीभ नहीं है। वैसे ही यहां स्वप्रकाश आत्मा को सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाणादि बातों को मान लेना यही वदतोव्याघात दोष है। यदि आप उपरोक्त बातों को नहीं मानते फिर तो प्रेमय जो आत्मा (ब्रह्म) उसकी सिद्धि नहीं होती। तो स्वप्रकाश आत्मा और फिर वह प्रमाण गम्य है यह विरुद्ध बात है– इसी को स्पष्ट कर रहे हैं–

अद्वैतमात्मपदमाहुरनन्यमानं
द्वैतं प्रमाणमिह च प्रतिपादयन्ति।।
वाक्ये निजे पदविरोधनीक्षमाणाः
पाण्डित्यमप्रतिहतं प्रतिलभ्य धीराः।।११६।।

अन्वयः= निजे वाक्ये पदविरोधं अनीक्षमाणः धीराः अप्रतिहतं पाण्डित्यं प्रतिलभ्य आत्मपदं अनन्यमानं अद्वैतं आहुः। इह च द्वैतं प्रमाणं प्रतिपादयन्ति।।११६।।

अन्वायार्थः= अपने वाक्य में पद विरोध को न देखने वाले साहसी व्यक्ति अप्रतिहत पाण्डित्य पाकर आत्मा को अद्वैत तथा प्रमाणातीत कहते हैं, साथ में द्वैत प्रमाण को दिखाते भी जाते हैं।

अद्वैतमिति। आहुः वेदान्तिन इति शेषः। द्वैतमुक्तप्रमात्रादिप्रमाणं प्रमितिसाधनं चेति

संबन्धः। पाण्डित्यमित्याद्युपहासः।।११६।।

अद्वैतमात्मपदम्= आत्मतत्त्व अद्वैत स्वरूप है, उसे सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह खुद ही अपने लिये अनन्यमानं प्रमाणभूत है। और फिर कहते हैं द्वैतं प्रमाणमिह- प्रमाता, प्रमाण, तथा प्रमितिका साधन आदि का उस आत्मा के लिये स्वीकार करना यह दोनों बातें बड़ी हास्यास्पद है। वाक्ये निजे=अपने ही वाक्य में "सत्यंज्ञानमनन्तं" विरोध को नहीं देख रहे हैं। पाण्डित्यमप्रतिहतं प्रतिलभ्य धीराः= आपके जैसे वेदान्तियों ने धीर बुद्धिमान पुरूषों ने ऐसा अप्रतिहत- बिना रूकावट का यथेष्ट पाण्डित्य प्राप्त किया है। अर्थात् आपके ऐसे पाण्डित्य पर उपहास करना ही उचित है।

ननु प्रमात्रादिविभागः सर्वोऽप्यस्त्येव, न चैवमद्वैतक्षतिः, अद्वैतब्रह्मण एव निखिल-प्रपञ्चपरिणामितया मात्रादेस्तदभिन्नत्वादित्येवं वदन्तं बौद्धगन्धिनमेकदेशिनं प्रत्याह।

शिष्य शंका— अब बौद्ध के साथ थोडा सा मिलते जुलते एकदेशी वेदान्ती मत का भी निरूपण करके दोष प्रदान कर रहे हैं— बौध्दमत की छाप लेकर वेदान्त एक देशी यदि यह कहे कि मैं तो प्रमाता प्रमिति प्रमाण प्रमेयादि सब भेद मानता हूँ। इस अद्वैत सिद्धान्त की हानि नहीं होगी। क्योंकि सकल प्रपञ्च अद्वैत ब्रह्म का ही परिणाम है, प्रमाता प्रमिति, प्रमाणादि सब ब्रह्म से अभिन्न ही है। ऐसा यदि कोई बौद्धछाया को लेकर एक देशी वेदान्ती कहता है तो उसके लिये यह उत्तर है—

मातृप्रमाणमितिमेयविभागभिन्नं
ब्रह्मैव चेद् भवति तत्र च वर्णयामः।।
कूटस्थतापहतिरेकरसत्वहानिः
शाक्यैश्च सन्धिरिति दूषणमन्यदत्र।।११७।।

अन्वयः= चेत् ब्रह्मैव मातृप्रमाणमिति मेयविभागभिन्नं भवति, तत्र च वर्णयामः कूटस्थतापहतिः, एकरसत्वहानिश्च। अत्र शाक्यैः सन्धिरिति अन्यद् दूषणम्।।११७।।

अन्वयार्थः यदि ब्रह्म ही प्रमाता, प्रमाण, प्रमीति प्रमेय आदि विभागों के रूप में आकर विभक्त हो जाता है (यह माना जाय) इस पर यह दोष दिखाते हैं। कूटस्थत्व की हानि, एकरसत्वं की हानि आदि दोष है। तथा बौद्ध के साथ सम्मति यह भी दोष है।।

मातृप्रमाणेति। मितिः प्रमा। तत्र च वर्णयामो दूषणमिति सबन्धः। तदेवाह कूटस्थतापहतिरिति। निर्विकारस्य ब्रह्मणः प्रमात्रादिविकाराभ्युपगमे निर्विकारश्रुतिविरोध

एवमनेकात्मप्रपञ्चाभेदे विज्ञानघन एवेत्यादिश्रुत्यवगतैकरसत्वहानिरेवं ज्ञानात्मनो ब्रह्मणः स्वावभास्यप्रप्रञ्चाकारत्वे शाक्यैर्विज्ञानवादिभिः सन्धिः कृतः स्यात्तन्मतप्रवेशापत्तिरिति यावत्। चकारदर्शितं दूषणान्तरमप्याह अन्यदत्रेति। युगपदेकत्र भेदाभेदविरोधादित्यर्थः।।११७।।

मातृ प्रमाणमिति= मातृप्रमामिति— प्रमा, उसका कारण प्रमाण प्रमेय आदि विभाग ब्रह्म से अभिन्न ही है। अभिन्न ब्रह्म चेत्=। तब तो=तत्र च= वर्णयामः= इसमें हम आपके इस मत पर अच्छा दोष प्रदान करेंगे। कैसे। सुनिये= कूटस्थतापहतिरेकरसत्वहानिः= निर्विकार ब्रह्म को प्रमातादि विभाग के विकार से युक्त मानने से निर्विकार श्रुति वचन का विरोध हो जाता है। इसी प्रकार अनेकाकाराकारित प्रपञ्च के साथ ब्रह्म का अभेद मानने से ब्रह्म "विज्ञानघन" ही है। ऐसी श्रुति से प्रतिपादित उस ब्रह्म को ब्रह्म से भासित जो प्रपञ्च उससे आकाराकारित मानने पर बौद्ध विज्ञानवादियों की साथ आप की सांठगांठ सिद्ध हो जाती है। अर्थात् आप बौद्धविज्ञानवादी के मतान्तर्गत आ जायेंगे। च= और भी बहुत से दोष आयेंगे। कौन सा। अन्यदत्र= एक साथ (युगपत) भेद और अभेद दोनों विरुद्ध का समावेशरूपी दोष भी आयेगा।

ननु प्रमात्रादिविभागः सत्यो न भवति येनोक्तदूषणं स्यात्, किं तु दृश्यत्वाच्छुक्ति-रजतवत्तत्राज्ञानकल्पित इति न कोऽपि दोष इत्याशङ्क्याह।

शंका= यदि हे वेदान्तीजी महाराज आप कहेंगे कि प्रमातादि विभाग सत्य तो है नहीं। वह तो विभाजन कल्पित ही है, जैसे शुक्ति में रजत। तो ऐसे कल्पित प्रमातादि विभाग से कोई दोष नहीं आयेगा। इस पर उत्तर यह है—

अज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमिष्टं
मात्रादि मानफलपर्यवसानमेतत्।।
इत्युच्यते यदि तदा परमात्मनोऽपि
मेयत्वतो भवति कल्पितताप्रसङ्गः।।११८।।

अन्वयः=एतत मात्रादिमानफलपर्यवसानं अज्ञानकल्पितं अनिर्वचनीयमिष्टं इति। यद्युच्यते, तदा मेयत्वतः परमात्मनोऽपि कल्पितता प्रसंगो भवति।।११८।।

अन्वयार्थः= यह प्रमातादि मान फलपर्यन्त प्रपञ्च, अज्ञान कल्पित अनिर्वचनीय माना जाता है। ऐसा यदि कहा जाय, तब तो प्रेमय होने के कारण परमात्मा में भी कल्पितत्वापत्ति होगी।।११८।।

अज्ञानकल्पितमिति। ननु तदपि सच्चेत्कथं नोक्तदोषस्तत्राह अनिर्वचनीयमिति। सदसद्विलक्षणमिति नोक्तदोष इत्यर्थः। एतन्मात्राद्यज्ञानकल्पितमिति सम्बन्धः। माता आदिर्यस्य मानफलं पर्यवसाने च यस्य तत्तथोक्तम्। दृश्यत्वेन प्रमात्रादेः कल्पितत्त्वे ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्गस्तस्यापि वेदान्तवेद्यतया दृश्यत्वादित्याह तदेत्यादिना।।११८।।

अज्ञानकल्पितमिति= प्रमातादि अज्ञान से कल्पित है। लेकिन वह प्रमातादि कल्पित भी सत्य हो तो फिर उक्त दोष कैसे नहीं आयेगा, आयेगा जरूर। अतः मैं वेदान्ती प्रमातादि विभाग अनिर्वचनीय ही मानता हूँ। अनिर्वचनीयमिष्टं= सद् असद्विलक्षण ही इसे मानूंगा फिर कोई दोष नहीं आयेगा। तो प्रमातादि सब अज्ञान से कल्पित है लेकिन ये सब अनिर्वचनीय है।। तो प्रमातादि दृष्य होने से कल्पित है तो ब्रह्म भी वेदान्त वेद्य होने से उसे भी कल्पित मानना उचित रहेगा। क्योंकि उस ब्रह्म में भी वेदान्त वेद्यत्व आने से उसमें भी दृश्यत्व आ ही जाता है। यद्यद् दृश्यं तत्तद् कल्पितं "इस व्याप्ति के अनुसार ब्रह्म भी कल्पित हो जायेगा। यह उत्तर आपके लिये प्रदान किया जाता है।।११८।।

ननु नास्ति ब्रह्मणो दृश्यत्वं स्वप्रकाशत्वादिति चेत्तर्हि तत एव वेदान्तप्रमेयमपि न स्यात्, अदृश्यस्य मानविषयत्वानुपपत्तेरित्याह।

शंका- यदि वेदान्ती यह कहे कि नहीं नहीं। ब्रह्म में दृश्यत्व नहीं है। क्योंकि वह स्वप्रकाश स्वरूप है। फिर तो वेदान्ती जी महाराज वह ब्रह्म वेदान्त का प्रमेय की नहीं बनेगा क्योंकि जो दृश्य होता है वही प्रमेय होता है। ब्रह्म में दृश्यत्व नहीं है तो उसमें प्रमेयत्व भी नहीं है यह मान लेवो।

ब्रह्म प्रमेयमथ नेष्टमिह प्रमाणं
वेदान्तवाक्यमिति पक्षपराहतिर्वः।।
न ह्यप्रमेयमवबोधयदस्ति मानं
नादाह्यदाहक इति प्रथितः कृशानुः।।११६।।

अन्वयः= अथ ब्रह्म प्रमेयं नेष्ट, वेदान्त वाक्यं प्रमाणं इति वः पक्षपराहतिः। हि अप्रमेयं अवबोधयत् मानं नास्ति। अदाह्य दाहकः कृशानुरिति न प्रथितः।।११६।।

अन्वयार्थः= यदि ब्रह्म प्रमेय नहीं माना जाता (तब) वेदान्त वाक्य प्रमाण है। यह आपका सिद्धान्त भंग हो जाता है। क्योंकि अप्रमेय के बोधक वैसे ही प्रमाण नहीं होते, जैसे कि अदाह्य की अग्निदाहक नहीं होती है।।

ब्रह्मेति। अथ चेदित्यर्थः, ब्रह्म प्रमेयं नेष्टं चेत्तर्हि इह= ब्रह्मणीति संबन्धः। पक्षपराहतिमेव सदृष्टान्तं व्यनक्ति न ह्यप्रमेयमिति। अदाह्यं गगनादि तस्य दाहक इत्यर्थः।।११६।।

ब्रह्मेति— यदि ब्रह्म प्रमेय नहीं है तब तो इह ब्रह्म में प्रमाणवेदान्तवाक्यमिति पक्षपराहतिर्यः— वेदान्त वाक्य प्रमाण हैः इस आपके पक्ष का अपने आप खण्डन हो जाता है। क्योंकि— न ह्यप्रमेयमबोधयदस्ति= जो ब्रह्म प्रमेय नहीं है उसी का अवबोध=(ज्ञान) कराने के लिये किसी प्रमाण की जरूरत नहीं है।

जैसे- नादाह्यदाहक इति= जो आकाश (अदाह्य) जलने योग्य नहीं है उसको जलाने वाला कृशानुः अग्नि है यह बात कैसी होगी। कथमपि नहीं इसी प्रकार जो अप्रेमय है वह प्रमेय किसी भी प्रकार से हो नहीं सकता।

अज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमित्यत्रोक्तं मात्रादेरनिर्वचनीयत्वमुपेत्य ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति दूषितम्, इदानीं तदेवासंप्रतिपन्नमित्याह।

अब तक तो अज्ञान कल्पित प्रमातादि सब अनिर्वचनीय है, कहकर ब्रह्म में भी कल्पितत्व आयेगा यह सब बातें बताई। अब शिष्य जी महाराज अनिर्वचनीयत्व ही अप्रसिद्ध वस्तु है इस कह रहे हैं— कैसे। तो देखिये

किं चाप्रसिद्धमिदमत्र जगत्त्रयेऽपि
स्वाज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमेकम्।।
निःशेषतीर्थदृगुदीरिततन्त्रमार्गे
सिद्धे यतः सदसती सकलेऽपि तन्त्रे।।१२०।।

अन्वयः= किञ्च अत्र जगत् त्रयेऽपि इदमप्रसिद्धं स्वाज्ञानकल्पितं अनिर्वचनीयं एकं (वस्तुअस्ति), यतः निःशेषतीर्थदृगुदीरिततन्त्रमार्गे सकलेऽपि तंत्रे सदसती प्रसिद्धे।।१२०।।

अन्वयार्थः= इस त्रिलोकी में यह बात बिलकुल अप्रसिद्ध है कि कोई भी वस्तु स्वाज्ञान कल्पित अनिर्वचनीय (सदसद्विलक्षण) है, क्योंकि निखिल शास्त्र कार प्रणीत सम्पूर्ण दर्शनों में या तो सत् अथवा असत् दो ही भेद प्रसिद्ध है। (सद्असद्विलक्षण अनिर्वचनीय नहीं है।)

किं चाप्रसद्धिमिति। इदंशब्दार्थमाह स्वाज्ञानेति। एकमेकमपि वस्त्वित्ति शेषः। ननु लोकाप्रसिद्धमपि कस्मिंश्चिच्छास्त्रे वैशेषिकाभिमतविशेषवत्सिद्धं स्यान्नेत्याह निःशेषेति। तीर्थदृशः शास्त्रार्थविदः, वैशेषिकादिनिखिलशास्त्रार्थविद्भिरुदीरिततन्त्रमार्गे। तन्त्र्यत इति, तन्त्रं

शस्त्रार्थस्तत्प्रतिपत्त्युपाये सकलेऽपि तन्त्रं शास्त्रे सदसती एव सिद्धे यत इति संबन्धः। वैशेषिकादिभिर्हि स्वशास्त्रे सदसद्वस्तुनी एव निरूपिते न तु तदुभयविलक्षणमपि किञ्चत्, विशेषस्तु लोकाप्रसिद्धोऽपि प्रमाणबलात्तैरभ्युपेत इति न तद्वदिदमभ्युपगन्तुमुचितमिति भावः।।१२०।।

किं चाप्रसिद्धमिति= अप्रसिद्ध है, इदं= शब्दार्थ, क्या? स्वाज्ञानत-अज्ञान से कल्पित है। एकम्= एक भी वस्तु अर्थात् अज्ञान के द्वारा कल्पित एक भी वस्तु अनिर्वचीय है ऐसा तो, जगत्त्रयेऽपि तीनों लोक में प्रसिद्ध नहीं है। अब यदि वेदान्ती जी आप इस पर यह कहे कि तीनों लोक में बेशक प्रसिद्ध नहीं हो तो भी जैसे वैशेषिकों का विशेष पदार्थों तीनों लोक में प्रसिद्ध नहीं है तो भी वैशेषिक और नैय्यायिकों ने उसे विशेष को मान लिया। तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि निःशेषेति– तीर्थद्दशः= शास्त्रवेत्ता विद्वान् वैशेषिकादि सम्पूर्ण शास्त्रार्थ जानकार विद्वानों के द्वारा ग्रथित (रचित) ग्रन्थों में, सकलेऽपि तन्त्रे= सकल शास्त्रों मेंः, तन्त्रे= तन्त्रण किया जाय वह। तन्त्र शास्त्रार्थ उसके प्राप्ति का उपाय भूत सकल शास्त्र उस में। सदसती एव सिद्धे वैशेषिकादिकों ने सबने अपने अपने शास्त्रों में सद् या असद्, दो रूप से ही वस्तुओं का निरूपण किया है। न कि इन दोनों से विलक्षण किसी तीसरे वस्तु का वर्णन किया है। विशेष पदार्थ को मानना यह उनके लिये जरूरी है। यद्यपि लोक में उसकी प्रसिद्धि नहीं है। लेकिन प्रमाणं बल से उसको मानना पडता है। कौन सा प्रमाण बल? (पक्ष) परमाणुओं का परस्परभेद, (साध्य) किसी हेतु के द्वारा ज्ञाप्य है (हेतु) भेदत्वात्।। (उदाहरण) घटपटभेदवत्= परमाणुभेदः किञ्चिल्लिङ्गज्ञाप्यो भेदत्वात् घटपटभेदवत् इस अनुमानाकार से मानना ही पडता है। लेकिन यहां तो वह भी मानाना उचित नहीं है। अनिर्वचनीय की कल्पना करना ठीक नहीं।

ननु वैशेषिकादिभिराज्ञानानभ्युपगमात्तत्कल्पितमनिर्वचनीयं नाभ्युपेतम् सिद्धान्ते तु तत्सत्त्वात्कथं तत्कृतमनिर्वचनीयं नाभ्युपेयमित्याशङ्क्याज्ञानकल्पितत्वमेव न संभवतीत्याह।

शंका– यदि वेदान्ती यह कहे कि वैशेषिकों ने अज्ञान को नहीं माना इसलिये उनको अनिर्वचनीय भी मानने की जरूरत नहीं है। लेकिन हमने वेदान्तीयों ने तो अज्ञान को स्वीकार किया है अतः अज्ञान कृत अनिर्वचनीय भाव को भी मानना ही पडेगा। लेकिन आपका यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि अज्ञान कल्पित हो ही नहीं सकता। इसे स्पष्ट कर रहे हैं–

अज्ञानमप्यसदभावतया प्रसिध्दे-
द्वैतप्रसूतिकृदतो न तदभ्युपेयम्।।
नासत्कदाचिदपि सज्जनने समर्थं
वन्ध्यासुता न खलु पुत्त्रशतं प्रसूते।।१२१।।

अन्वयः= अज्ञानमपि असत् अभावतया प्रसिद्धः। अतः तत् द्वैतप्रसूतिकृत् नाभ्युपेयम्। असत् कदाचिदपि सज्जनने समर्थं न, बन्ध्यासुता पुत्रशतं न खलु प्रसूते।।

अन्वयार्थः= अज्ञान भी असत् पदार्थ है, क्यों कि वह अभाव (ज्ञानाभाव) रूप से प्रसिद्ध है। अतः इस अज्ञान के द्वैत का जनक नहीं माना जाना चाहिये। क्योंकि असत् पदार्थ कभी भी सत् पदार्थ का जन्म देने लायक नहीं होता। वन्ध्यापुत्र सौ पुत्रों को जन्म देने वाला नहीं होता हैं।

अज्ञानमिति। असत्सन्न भवति। तत्र हेतुः—अभावतया प्रसिद्धेरिति। अज्ञानमिति नत्रा ज्ञानाभावतयाऽज्ञानं प्रतीयते अभावश्च न सन् तत्र सत्ताजातेरभावात्, अभावत्वादिस्वरूपस्यापि दुर्निरूपत्वादित्यर्थः। अज्ञानस्यासत्त्वसमर्थनफलमाह—द्वैतेति। यतोऽसदज्ञानमतो द्वैतस्योत्पत्तिकृत्तदज्ञानं नाभ्युपेयम्। असदपि तत्प्रागभाववत्कथं न द्वैतं जनयेदित्याशङ्क्य तद्दृष्टान्तासंमत्याऽसतोऽकारणत्वं सद्दृष्टान्तमाह—नासदिति। न हि ज्ञानाभावोऽज्ञानं सतो भावस्य प्रपञ्चस्योपादानं भवितुमर्हतीतिभावः।।१२१।।

अज्ञानमिति= असत् कभी सत् नहीं हो सकता? इसमें हेतु= अभावतया प्रसिद्धेरिति= अज्ञान कहने से ही ज्ञान के अभाव का बोध होता है। और अभाव तो सत् नहीं होता है क्योंकि उसमें सत्ताजाति का अभाव है। अभावत्वादि स्वरूप का निरूपण भी दुस्तर है। तो अज्ञान असत् होने से इसका फल क्या? तो- द्वैतेति= जब अज्ञान असत् स्वरूप है तब वह द्वैत प्रपञ्च का कैसे उत्पादन कर सकेगा। यदि इस पर आप वेदान्ती जी शंका कहें कि जैसे किसी वस्तु का उत्पन्न होने के पहिले जो प्रागभाव (असत् स्वरूप है) है वह कारण माना जाता है इसी प्रकार से ज्ञानाभाव भी प्रपञ्च का कारण माना जाय। तो इसका उत्तर यह है कि "नासदिति=ज्ञानाभाव रूप अज्ञान सत् जो प्रपञ्च उसका वह कारण नहीं बन सकता। अन्यथा वन्ध्या का पुत्र सौ पुत्रों को जन्म देने लगेगा। तो जैसे यह दृष्टान्त अनुचित है वैसे दार्ष्टान्त में भी अनौचित्य ही है।

किं चेतोऽपि वेदान्तानां नापरोक्षे ब्रह्मणि प्रामाण्यं संभवतीत्याह

इसके बाद भी अपरोक्ष ब्रह्म में वेदान्त कैसे प्रमाण नहीं हो सकता? यह समझा रहे है—

वाक्यप्रसूतमतिरिन्द्रियजन्यधीव-
न्नार्थापरोक्ष्यजननी भवितुं समर्था।
तेनास्तु वाक्यजनितात्मपरोक्षबुद्धि
र्भ्रान्तिः सदाऽजडतयाऽनुभवेऽपरोक्षे।।१२२।।

अन्वयः=वाक्यप्रसूतमतिः इन्द्रिय जन्यधीवत् अपरोक्ष्यजननी भवितुं समर्था न। तेन सदा अजडतयाअपरोक्षाऽनुभवे वाक्यजनितात्मपरोक्षबुद्धिर्भ्रान्तिः अस्तु।।

अन्वयार्थ= वाक्यजन्य बुद्धि इन्द्रियजन्य बुद्धि के समान अपरोक्षता की जनक नहीं हो सकती। इसलिये सदा प्रकाशमान अपरोक्षानुभवरूप आत्मा में वाक्य जनित है परोक्ष बुद्धि को भ्रान्त ही मानना पडेगा।

वाक्यप्रसृतेति। किं वेदान्ता ब्रह्मणि अपरोक्षां धियं जनयन्ति किं वा परोक्षां, नाद्य इत्याह– इन्द्रियेति। इन्द्रियजन्यज्ञानवद्वाक्यजन्या मतिरर्थापरोक्ष्यस्यार्थाभिव्यक्तेर्जननी भवितुं समर्था न वाक्यजन्यत्वान्नापरोक्षेत्यर्थः। ततो द्वितीयः परिशिष्यत इत्याह–तेनेति। तत्र दोषमाह भ्रान्तिरिति। तदर्थं ब्रह्मात्मानं विशिनष्ठि–सदेति। सदाऽपरोक्ष इति संबन्धः। तदर्थमाह–अनुभव इति। अनुभवोऽपि वेद्यश्चेन्न तस्य सदाऽऽपरोक्ष्यं, तदर्थमाह–अजडतयेति तथा च वेदान्तानां तत्राप्रामाण्यमेव स्यादिति भावः।।१२२।।

वाक्यप्रसूतेति= वेदान्त ब्रह्म में अपरोक्ष बुद्धि को जन्म देता है या परोक्ष बुद्धि को जन्म देता है? इसमें पहिला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि। इन्द्रियजन्येति= इन्द्रिय जन्य ज्ञान के समान वाक्य जन्य बुद्धि भी अपरोक्षार्थ की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ है क्योंकि– यह बुद्धि वाक्य जन्य होने के कारण अपरोक्ष बुद्धि तो वाक्य जन्य ज्ञान पैदा नहीं कर सकता। अब रह गया दूसरा विकल्प परोक्ष बुद्धि को जन्म देने विषयक। तेनेति– इससे तो वाक्य जन्य आत्मज्ञान परोक्ष बुद्धि को जन्म देगा। इसमें तो बडा दोष है क्या? भ्रान्तिः- ऐसा परोक्ष ज्ञान तो भ्रान्ति ही माना जायेगा। क्योंकि सदेति= आत्मा (ब्रह्म) हमेशा ही अपरोक्ष है। इसमें, अनुभवेति- अनुभव प्रमाण है। अनुभव भी यदि वेद्य होगा तब वह हमेशा अपरोक्ष नहीं हो सकेगा। अतः कहते हैं अजडतया= वेद्य होगा जड पदार्थ, आत्मा अजड होने से उसमें वेद्यत्व नहीं आ सकता। इसलिये वेदान्त तो आत्मा में (ब्रह्म में) अप्रमाण ही है यह बात सिद्ध हुई

नन्वात्मा चेन्नित्यापरोक्षस्तर्हि घटादाविन्द्रियजन्यज्ञानमिव वेदान्तजन्यमपि नत्रा-परोक्षमस्तु मास्तु वेदान्ताप्रामाण्यमिति नेत्याह।

शंका= आत्मा को नित्य अपरोक्ष मान लेते हैं, तथापि जैसे घटपटादि पदार्थों का

इन्द्रियजन्य ज्ञान मानते हैं, इसी प्रकार से वेदान्त जन्य अपरोक्ष ज्ञान आत्मा का मानने से वेदान्त में प्रामाण्यता आयेगी। लेकिन यह मत भी ठीक नहीं है। क्योंकि—

नित्यापरोक्षमपि वस्तु परोक्षरूपं
वेदान्तवाक्यमवबोधयति स्वभावात्।।
प्रामाण्यमत्र कथमस्य वदोपपन्नं
न ह्यन्यदन्यदिति बोधयतः प्रमात्वम्।।१२३।।

अन्वयः= वेदान्तवाक्यं स्वभावात् नित्यापरोक्षं वस्तु अपि परोक्षरूपं अवबोधयति। वद अस्य अत्र कथं प्रामाण्यमुपपन्नम्। हि अन्यद् अन्यद् बोधयतः न प्रमात्वम्।।१२३।।

अन्वयाथः= स्वभावतः वेदान्त वाक्य नित्य अपरोक्षवस्तु का भी परोक्ष रूप से बोध कराता है। फिर यह कैसे होगा कि वह अपरोक्ष ब्रह्म में प्रमाण हो। क्योंकि पदार्थ को अन्यथा रूप से बताने वाले को प्रमाण नहीं कहते हैं।

नित्यापरोक्षमिति। स्वभावाच्छब्दस्वभावात्। शब्दो हि लोके घटादिगोचरो वेदे चाग्निहोत्रादिगोचरस्तत्र परोक्षज्ञानमेव जनयतीति शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वमेव स्वभावो न त्विन्द्रियस्येवापरोक्षज्ञानजनकत्वमिति कथं वेदान्तानामपरोक्षे वस्तुनि परोक्षज्ञानं जनयतामप्रामाण्यं न स्यादित्याह- प्रामाण्यमिति। नन्वपरोक्षं सत्यज्ञानादिस्वभावं ब्रह्म तथैव बोधयन्ति वेदान्ता न विपरीततया, तच्च ज्ञानं शब्दस्वभावात् परोक्षमित्येतावन्मात्रमिति कथं प्रामाण्यं न स्यादित्यत आह—न ह्यन्यदिति। वेदान्तजन्यज्ञानस्य परोक्षत्वे तद्विषयब्रह्मापि परोक्षं वाच्यं परोक्षार्थविषयस्यैव ज्ञानस्य परोक्षत्वदर्शनात्, एवं च परोक्षं ब्रह्म यत्- साक्षादपरोक्षादहं ब्रह्मास्मीति वाक्यमपरोक्षतया प्रतिपादयत्कथं प्रमाणम्, न च परोक्षज्ञानविषयः परोक्षं ब्रह्मास्ति येन सदर्थतया वाक्यजन्यं परोक्षज्ञानं प्रमाणं भवेदित्यर्थः। अन्यत्परोक्षं ब्रह्म अन्यदिति अपरोक्षमिति बोधयत इत्यर्थः।।१२३।।

नित्यापरोक्षमिति— आत्मा सदैव अपरोक्ष स्वरुप है। वेदान्तवाक्यमवबोधयति वस्तु परोक्षरूपं स्वभावात्= शब्द का यह स्वभाव है कि वह हमेशा परोक्ष ज्ञान को ही उत्पन्न कराता है। इन्द्रियों के समान अपरोक्ष ज्ञान जनकत्व शब्द में कभी भी स्वीकार नहीं किया जाता। तो फिर अपरोक्ष आत्मा का यदि वेदान्त वाक्य परोक्षज्ञान उत्पन्न करा दे— और फिर वह प्रमाण भी हो सकें यह तो सम्भव नहीं है। क्योकिं प्रामाण्यमिति= वेदान्त वाक्य में प्रामाण्यता नहीं आ सकती क्योंकि वस्तु हो अन्यथा स्वरूप उसे बतावें अन्यथा प्रकार से, आत्मा अपरोक्ष है, उसे वेदान्त वाक्य परोक्ष रूप से बताता है इससे वेदान्त वाक्य

में प्रामाण्यता सम्भव नहीं हो सकती। यदि आप वेदान्ती यह कहें कि सत्यज्ञानादिस्वभावक ब्रह्म तो अपरोक्ष है वेदान्त भी इसके विपरीत बोध नहीं कराता है तथापि शब्द के स्वभाव से वह शब्द जन्य। (वाक्य जन्य) ज्ञान परोक्षबोध कराता है। इससे वेदान्त की अप्रामाण्यता नहीं सिद्ध होती है किन्तु प्रामाण्यता ही सिद्ध होती है। इसका समाधान– न ह्यन्यदिति= यदि वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान परोक्ष स्वरूप है तो उस ज्ञान का विषय आत्मा (ब्रह्म) भी परोक्ष ही माना जायेगा। क्योंकि परोक्ष विषयक ज्ञान ही परोक्ष ज्ञान होता है यह नियम है। इस प्रकार ब्रह्म परोक्ष है ऐसा वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान हुवा जबकि "यत्साक्षादपरोक्षादहं ब्रह्मास्मीति" यह वाक्य ब्रह्म को अपरोक्ष रूप से प्रतिपादित करता है। इस अवस्था में वेदान्त के वाक्य को परोक्ष विषयक को कैसे प्रमाण माना जाय? कथमपि नहीं। यदि इस पर आप यह कहो कि अपरोक्ष ज्ञान का विषय ब्रह्म (अपरोक्ष रूप से प्रतिपादित ब्रह्म) परोक्ष है, वह ब्रह्म सदर्थक (अबाधितार्थक) है। तो वेदान्त वाक्य जन्य परोक्ष ज्ञान से इस परोक्ष ब्रह्म में अबाधितार्थ कत्व आने से वेदान्त वाक्य को प्रमाण मानना उचित है। इसका समाधान–अन्यत्= परोक्ष ब्रह्म अन्य है। अन्यदिति= अपरोक्ष ब्रह्म का परोक्ष रूप से प्रतिपादन करने वाला वेदान्त वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता।

नन्वग्निहोत्रादिवाक्यस्य परोक्षज्ञानजनकत्वेऽपि शब्दस्य न तत्स्वभावः कल्पनीयः, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वात्, अन्यथा तत्रापरोक्षोऽदशमत्वभ्रमस्ततो न निवर्तेत्याशङ्क्य दृष्टान्तासंप्रतिपत्त्या दूषयति–

शंका– यदि वेदान्ती जी महाराज आप यह कहे कि "अग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादि वाक्यों में परोक्ष ज्ञान जनकत्व होने पर भी सभी शब्दों के लिये यह नियम नहीं बनाया जायेगा कि शब्द से परोक्ष बोध ही होता है। अन्यथा "दशमस्त्वमसि" तू दसवाँ है- इस शब्द से अपरोक्ष बोध नहीं होता? यदि तू दसवाँ है यह अपरोक्ष बोध नहीं होवे तो दसवाँ मर चुका है या गायब हो चुका है इस भ्रम की निवृत्ति ही नहीं होती। यदि आप ऐसा मुझे समझायेंगे तो इसका समाधान दृष्टान्त बराबर नहीं है-। क्योंकि–

वस्त्वस्तु नित्यमपरोक्षमिदं तु वाक्यं
तद्वस्तु वक्तुमपरोक्षमशक्तमेव।।
न ह्यस्ति शब्दजनिताऽत्र जगत्त्रयेऽपि
बुद्धिः करोति खलु या विषयापरोक्ष्यम्।।१२४।।

अन्वयः= वस्तु नित्यमपरोक्षमस्तु, इदं वाक्यं तु तद्वस्तु अपरोक्षं वक्तुं अशक्तमेव। अत्र जगत्त्रयेऽपि

शब्द जनिता (एतादृशी) बुद्धिः नास्ति, या खलु विषयापरोक्ष्यं करोति।

अन्वयार्थः= आत्मवस्तु भले ही नित्यापरोक्ष रहे, यह वाक्य तो उस वस्तु को अपरोक्ष बताने में अशक्त ही है। इस त्रैलोक्य में भी शब्द जन्य ऐसी कोई बुद्धि नहीं है जो विषयगत अपरोक्षता बताती हो।।

वस्त्वस्त्विति। अपरोक्षं यथा स्यात्तथा तद्वस्तु वक्तुमशक्तमित्यर्थः। अदशमत्वादिभ्रमस्य तत्रेन्द्रियजन्यसाक्षात्कारादेव निवृत्तेः शब्दस्य तत्रापि परोक्षज्ञानजनकत्वमेवेति न तत्स्वभावभङ्ग इति भावः।।१२४।।

वस्त्वस्त्विति= वस्तु जैसी अपरोक्ष है उसको वैसे ही रहने दो। बाकी यदि वस्तु अपरोक्ष है तो शब्द में यह शक्ति नहीं है कि जो उस वस्तु का अपरोक्ष बोध (ज्ञान) करा देवे। रह गई दृष्टान्त की बात दसवाँ तर चुका है डूब चुका है या नहीं है- ऐसा जो भ्रम हुवा था उसकी निवृत्ति तो दशमस्त्वमसि शब्द से नहीं हुई। किन्तु उसकी निवृत्ति तो नेत्रेन्द्रिय जन्यसाक्षात्कार से हुई। यदि यह शक्ति वाक्य में मानो और सामने वाला सुनने वाला अन्धा हो तो उसको भी अपरोक्ष बोध होना चाहिये। तो बात यह है कि शब्द हमेशा परोक्ष ज्ञान को उत्पन्न कराता है। न कि अपरोक्ष ज्ञान को। न ह्यस्ति- तीनों लोक के अन्दर ऐसा कहीं भी नहीं देखा गया कि। बुद्धिःकरोतिखलुयाविषयापरोक्ष्यम्= वाक्य विषय का अपरोक्ष बोध (ज्ञान) कराता है।–

पूर्वं घटादौ चक्षुरादिप्रमाणस्य स्वप्रकाशस्फुरणाधीनवच्चिदात्मनि वेदान्तानां तदसंभवान्न प्रामाण्यसंभव इत्युक्तम्, इदानीं वेदान्तजन्यवृत्त्या तत्र स्फुरणाजननेऽपि न वेदान्तानामानर्थक्यमविद्यानिवृत्तेस्तत्साध्यत्वेन तत्र वेदान्तप्रामाण्यसंभवादिति सिद्धान्तिशङ्कां दूषयितुमनुवदति–

शंका= पहिले पूर्वपक्षी ने घटादि विषयों में चक्षुरादि को प्रमाण मान लिया क्योंकि उन पदार्थों में स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा के स्फुरण का आधान करा दिया। लेकिन ज्ञानस्वरूप आत्मा में यह भी सम्भव नहीं है, यह कहा। अब वेदान्त वाक्य जन्य वृत्ति आत्मा में स्फुरण का आधान नहीं कर पायेगी क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। तथापि आत्मापर जो अविद्या का आवरण है उसकी निवृत्ति तो वेदान्त वाक्य से होगी। इसलिये अविद्या के निवृत्यर्थ वेदान्त की प्रामाण्यता सिद्ध हो जाती है। ऐसा यदि सिद्धान्ती वेदान्ती कहें तो उसका खण्डन करते हैं–

अत्राह यद्यपि किमप्युपनेयमत्र
चैतन्यवस्तुनि न संभवति प्रमाणैः।।
अस्त्येव तत्र भवभीतिनिदानभूत
मज्ञानमात्रमपनेयमनन्यमाने।।१२५।।

अन्वयः= अत्राह यद्यपि अत्र चैतन्यवस्तुनि प्रमाणैः किमपि उपनेयमत्र न सम्भवति। तथापि तत्र अनन्यमाने भवभीतिनिदानभूतं अज्ञानं अपनेयं अस्त्येव।।

अन्वायर्थः= कोई शंका करता है कि यद्यपि इस चैतन्य वस्तु में प्रमाणों के द्वारा कुछ आधेय नहीं (तथापि) उस स्वप्रकाश स्वयंप्रभ ब्रह्म में संसार भ्रम का कारण अज्ञान हटाना जरूरी है।

अत्राहेति। उपनेयमाधेयं स्फुरणम्। अनन्यमाने स्वप्रकाशं। तत्रास्त्येवेति सम्बन्धः। ज्ञानमज्ञानमात्रं निवर्तयति प्रपञ्चस्तु तन्निवृत्त्या निवर्त्तते, अथ वा प्रपञ्चोऽपि तद्विकारस्तदात्मक एवेति मात्रमित्युक्तम्।।१२५।।

अत्राह– उपनेयम्= घटपदादि विषयों में स्फुरण का आधान किया जाता है। अनन्यमाने= स्वप्रकाश आत्मा में यह भी संभव नहीं है। घट पटादि तो जड है आत्मा अजड है। तथापि अविद्या के (अज्ञान के) निवृत्ति के लिये ज्ञानमात्रमपनेयम्= ज्ञान तो अज्ञान मात्र को ही हटाता है। बाकी, भवभीति= संसार भय, निदानभूत= उसका कारण अज्ञान, अज्ञानमात्रमपनेयम्= उसके निवृत्ति के अधीन ही संसार भय की निवृत्ति होगी। अथवा यह समझें कि संसार भी अज्ञानस्वरूप ही है तो अज्ञान निवृत्ति के साथ संसार के भय की निवृत्ति हो जाती है अतः इस अज्ञान के निवृत्ति के लिए वेदान्त वाक्य ज्ञान की आवश्यकता है इससे उसकी प्रमाणता सिद्ध होती है।।१२५।।

एतद् दूषयति–

इस पर दूषण प्रदान करते हैं–

नैतत्प्रमाणमपनेतृ सतो न ताव
न्नेतन्नियोज्यमसतोऽप्युपघातसिद्धौ।।
नाप्यन्यदस्ति सदसद्यदनेन हेयं
तस्मात् प्रमाणमपनेतृ न कस्यचिद्वः।।१२६।।

अन्वयः= नैतत् प्रमाणं तावत् सतो नापनेतृ। असतोऽपि उपघातसिद्ध्यै एतत् नियोज्यं न अन्यत् सदसत् अपि। यत् अनेन हेयम्। तस्मात् वः प्रमाणं कस्यचित् अपनेतृ न।

अन्वयार्थः= उक्त आशंका उचित नहीं है। उक्त वेदान्त प्रमाण सत्अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता। असत् अज्ञान की निवृत्ति के लिये तो प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त अज्ञान सदसत् रूप है नहीं, जिसे इस प्रमाण से हटाया जा सकें। इसलिये आपका प्रमाण किसी पदार्थ का निवर्तक नहीं है।।

नैतदिति। त्वदुक्तं। कुतस्तत्राह–प्रमाणमिति। न तावत्प्रमाणं सतोऽज्ञानस्यापनेतृ

निवर्तकं सत आत्मवदनिवर्त्त्यत्वात्, एतत्प्रमाणमसतोऽप्यज्ञानस्योपघातसिद्ध्यै निवृत्तिसिध्द्यै नियोज्यं योजनीयं न, असतो निवृत्त्यनुपत्तेः, नाप्येतत्पक्षद्वयादन्यत् सदसदात्मकमज्ञानमस्ति यदनेन प्रमाणेन हेयं स्यात, विरोधेनैकस्य सदसदात्मकत्वायोगात्। यस्मादज्ञानस्योक्तकल्पत्रयेऽपि निवृत्तिर्न संभवति तस्माद्वो युष्माकं मते प्रमाणं वेदान्तवाक्यं कस्यापि न ज्ञानद्वाराऽपनेत्रिति वेदान्तानर्थक्यं तदवस्थमेवेति भावः।।१२६।।

नैतदिति= सिद्धान्ती वेदान्ती जी आपका उपरोक्त कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रमाणमिति= वेदान्त को प्रमाण हम मान भी लेंगे तो भी हम आपसे पूछना चाहते हैं कि उसे वेदान्त वाक्य प्रमाण ने सत् अज्ञान की निवृत्ति की कि असत् अज्ञान की निवृत्ति की? यदि आप कहें कि सत् अज्ञान की निवृत्ति वेदान्त प्रमाण ने की वह तो सम्भव नहीं क्योंकि जैसा आत्मा सत् होने से उसकी निवृत्ति वेदान्त प्रमाण ने की वह तो सम्भव नहीं वैसा अज्ञान भी सत् है तो उसकी निवृत्ति हो नहीं सकती। अब रह गया दूसरा विकल्प कि वेदान्त प्रमाण से असत् अज्ञान् की निवृत्ति वेदान्त प्रमाण करेगा। तो जो असत् है बन्ध्यापुत्रादि उनकी निवृत्ति करेगा। तो जो असत् है वन्ध्या पुत्रादि उनकी निवृत्ति करना, उनको हटाना ये तो असम्भव ही है। तो जो है नहीं उसे हटाना कैसे? इन दोनों पक्षों को छोडकर और तीसरा पक्ष है नहीं, जिसके अन्तर्गत अज्ञान मानकर उसे वेदान्त प्रमाण से हटाया जावे। तो तीसरा विकल्प यही है कि अज्ञान को सद्असत् उभय परक मानें। लेकिन यह तो सम्भव नहीं। जैसे सूर्य और अन्धेरा दोनों एकत्र नहीं रह सकते। इसलिये अज्ञान की निवृत्ति तो तीनों काल में सम्भव नहीं है। इसलिये वेदान्ती जी महाराज आपका यह कथन कि वेदान्त प्रमाण है और उसके वाक्य के ज्ञान द्वारा किसी अज्ञान की निवृत्ति हुई बिलकुल गलत है। इसलिये वेदान्त प्रमाण नहीं है यह बात ज्यों की त्यों रह गई। इसी प्रकार से त्वं निष्ठ अपरोक्षत्व, सद्वयत्व और तत् निष्ठ परोक्षत्व अद्वयत्व यह विरोध भी ज्यों का त्यों है।

किं चाविद्यानिवृत्तिरसती चेन्न प्रमाणाज्जायेत, सती चेत्तज्जनकमानस्य कारकतापत्तिः, जड़क्रियापर्यवसायिनस्तन्नियमान्न च तदुपपन्नं, मानस्य व्यञ्जकतयाऽकारकत्वव्याप्ति-विरोधादित्यभिप्रेत्याह—

शंका= अच्छा सिद्धान्तीजी वेदान्ती जी महाराज आप यह भी बतायें कि अविद्या की निवृत्ति (अज्ञान की निवृत्ति) असत् है सत्।। यदि अविद्यानिवृत्ति असत् है तो फिर प्रमाण से वह जन्य नहीं है। यदि सत् है तो सत् अविद्यानिवृत्ति का जनकरूप प्रमाण में कारकत्व आयेगा। अर्थात् वह प्रमाण क्रियावान् होगा। जैसे अग्निहोत्रादिक क्रिया युक्त

होना। अथवा- क्रियायुक्तं क्रिया का जनक उसे कारक कहते हैं। तो जडक्रिया का निर्वाह करने के दृष्टि से कारकत्व होने से उसमें प्रमाणता नहीं आयेगी। क्योंकि प्रमाण हमेशा (ज्ञापक) व्यञ्जक होता है न कि उसमें कारकत्व होता। पक्ष- प्रमाणम् (साध्य) व्यञ्जकवत् (हेतु) अकारकत्वात्। यह व्याप्ति है तो वेद को प्रमाण मानने से व्याप्तिका विरोध हो जाता है-

मानं न कारकमिति प्रथितं पृथिव्यां
स्याच्चेत्क्रियावदिदमुज्झति मानभावम्।।
जन्यं न मानफलमित्यपि युष्मदीयाः
संविद्रते न खलु जातु चिदक्षरेऽस्मिन्।।१२७।।

अन्वयः= मानं कारकं नेति पृथिव्यां प्रथितम्। चेत् स्यात्। क्रियावत् मानभावं उज्झति। मानफलं जन्यं नेत्यपि युष्मदीयाः संविद्रते। अस्मिन् चिदक्षरे खलु न जातु (मानंफलम्)।।१२७।।

अन्वयार्थः= इस लोक में प्रसिद्ध है कि कोई भी प्रमाण उत्पादक नहीं होता है। यदि प्रमाण ऐसा हो तो जैसे क्रियामें प्रमाण भाव नहीं इसी प्रकार प्रमाण भी प्रमाण भाव से रहित हो जायेगा। प्रमाण का फल कभी भी जन्य नहीं होता है यह भी वेदान्ती जानते हैं। चिदात्मा में तो किसी प्रकार प्रमाण फल नहीं हो सकता।।

मानं न कारकमिति। एवं नोचेत् तदा कारकस्यामानत्वं (?) व्याप्तिविरोधं चाह- स्याच्चेदिति। कारकमित्यनुषङ्गः। क्रियावदग्निहोत्रादिक्रियावत्। अथ वा क्रियावत् क्रियाजनकं कारकमिति यावत् स्यादिति सम्बन्धः। इदं मानम्। उज्झति- त्यजेदित्यर्थः। ननु चक्षुरादेः प्रमाणस्य जड़ज्ञानक्रियाजनकत्वं सर्वसंमतमित्याशङ्क्य तदपि न भवतां संमतमित्याह-जन्यं न मानफलमिति। संविद्रते संजानते अङ्गीकुर्वते इति यावत्। अजड़ाजन्याभिव्यक्तानुभवस्यैव सर्वप्रमाणफलत्वेन ब्रह्मवादिभिरङ्गीकाराज्जड़वृत्तिमात्रनिष्ठं न चक्षुरादिप्रामाण्यमिति भावः।

अथ वा यथा मानं न कारकमिति नियममाहुरेवं जन्यं न मानफलमित्यपि, स्वरूपानुभवस्यैव सर्वप्रमाणफलत्वमिच्छन्तो वार्तिककृत्प्रभृतयोऽङ्गीकुर्वते तदप्येवं सति विरुद्धं स्यादित्याह-जन्यं न मानफलमिति। अस्तु तर्हि घटादाविव ब्रह्मण्यभिव्यक्तं चैतन्यं प्रमाणफलमित्याशङ्क्य ब्रह्मणः फलाव्याप्यत्वान्नेतदित्याह- न खल्विति। जातु कदाचिद- प्यस्मिन्नक्षरेऽभिव्यक्ता चिन्न खल्विति सम्बन्धः। वेदान्ताभिव्यक्तचैतन्यस्य निष्प्रपञ्चात्मस्वरूपतया तत्फलत्वासंभवादिति भावः।।१२७।।

मानं न कारकमिति-जो प्रमाण होता है वह कारक नहीं होता, और जो कारक

होता है वह प्रमाण नहीं होता है। यदि इसके विरुद्ध में जायेंगे तो– स्याच्चेदिति। जो क्रियावद्– कारक होगा वह, मानभावम् उज्झति= प्रमाण भाव को छोड देता है- अर्थात् प्रमाण भाव को वह प्राप्त नहीं हो सकता। यदि इस पर आप सिद्धान्ती कहें कि– चक्षुरादि प्रमाण में घटपटादि जड पदार्थ विषयक ज्ञान तदर्थ क्रिया जनकत्व इनमें चक्षुरादि प्रमाण में है– और यह बात सर्वसम्मत है। लेकिन यह बात आपके सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है क्योंकि– जन्यं न मानफलमिति= संविद्रते= आपके सिद्धान्तानुरागी विद्वान् ब्रह्मवादि- अजड, अजन्य अभिव्यक्त अनुभव को ही सब प्रमाणों का फल मानते हैं। चक्षुरादि भी जड वृत्तिमात्र निष्ठ होने से प्रमाण भूत ये हैं नहीं ऐसा वे मानते हैं।

अथवा इस श्लोक का अर्थ ऐसा करें– प्रमाण कारक नहीं होता है। इसी प्रकार जो जन्य होवे वह प्रमाण फल नहीं है। यह भी नियम मानते है। स्वरूपानुभव ही सब प्रमाणों का फल है, ऐसा वार्तिककार मानते हैं। तो प्रमाण को कारक मानने से उनका यह कथन भी विरुद्ध हो जायेगा। अतः कहते हैं– जन्यं न मानफलमिति।। अच्छा चलो अब मैं शिष्य सिद्धान्ती की यह बात मानता हूँ कि अविद्या निवृत्ति प्रमाण का फल नहीं है। तो भी घटादि पदार्थ में अभिव्यक्त ब्रह्म चैतन्य वह तो प्रमाण फल माना जायेगा। तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म में फल व्याप्ति नहीं मानी जाती है। जैसे घडे के अन्दर दीप जल रहा है। तो दीपक के प्रकाश के लिये फल व्याप्ति नहीं है। किन्तु वृत्ति व्याप्ति आवरण भङ्ग करना ही पर्याप्त है। तो ब्रह्म में फल व्याप्ति है नकि वृत्ति व्याप्ति है। अत, कहते हैं–

न खल्विति= इस अक्षर स्वरूप ब्रह्म (आत्मा में) ज्ञान की अभिव्यक्ति कभी भी निश्चित रूप से नहीं मानी जाती वेदान्त में अभिव्यक्त चैतन्य निष्प्रपञ्च स्वरूप होने से वह वेदान्त का फल नहीं हो सकता।

नन्वज्ञानस्य सदादिविकल्पेनानिवर्त्यत्वमुक्तमनुपपन्नमनिर्वचनीयत्वात्तस्य ज्ञान-निवर्त्यत्वसंभवतात्, न चैवं मानस्य कारकत्व प्रसङ्गोऽपि, अनिर्वाच्यस्य निवृत्तेरधिष्ठान-चिन्मात्रतया तत्पर्यवसायिमानस्य व्यञ्जकतयाऽकारकत्वादित्याशङ्क्याह–

शंका– वेदान्ती जी यदि आप यह कहेंगे कि अज्ञान, सदसद् विकल्प से निवृत्ति योग्य नहीं है सो ठीक है। लेकिन अज्ञान तो अनिर्वचनीय है। इसलिये उसकी ज्ञान से निवृत्ति भी हो जायेगी। अज्ञान ज्ञान निवर्त्य मानने पर प्रमाण को कारकत्व प्रसंग भी नहीं प्राप्त होगा। क्योंकि अनिर्वचनीय अज्ञान की निवृत्ति भी चिन्मात्र आत्मा तत्स्वरूप

अधिष्ठानस्वरुप हो जाने से चिन्मात्र स्वरूप ही वह निवृत्ति हो जाने के कारण वह निवृत्ति बोधक वेदान्त प्रमाण व्यञ्जक मात्र ही माना गया। कारकत्व उसमें नहीं आया। अतः वेदान्त प्रमाण सिद्ध हो जाता है। उसका समाधान

नाद्यापि वेद्म्यहमनिर्वचनीयभाषां
सर्वप्रवादहृदयान्यपि गाहमानः।।
तात्पर्यतो न च तथाविधमस्ति किं चि-
ल्लोकप्रसिद्धमपि यद्विषयेयमिष्टा।।१२८।।

अन्वयः= सर्वप्रवादहृदयानि तात्पर्यतः गाहमानोऽपि अहं अद्यापि अनिर्वचनीयभाषां न वेद्मि। तथा-विधं किञ्चित् नास्ति। यद्विषया इयम् इष्टा।।

अन्वयार्थः= समस्त दर्शनों का हृदय भलीभांति देखने के बाद भी मैं आज तक इस अनिर्वचनीय परिभाषा को समझ नहीं पाया हूं। ऐसा कोई लोक में पदार्थ है भी नहीं जिसका प्रतिपादन यह अनिर्वचनीय परिभाषा करती हो।

नाद्यापीति। वैशेषिकादिनिखिलशास्त्राभ्यासानन्तरमपीत्यर्थः। अनिर्वचनीयभाषां सद-सद्विलक्षणरूपां ताम्। तर्हि सम्यक्शास्त्रान्तराऽनभ्यासात्तदज्ञानं नेत्याह—सर्वेति। सर्वशास्त्र-तात्पर्याणि गाहमानो विचारयन्नपीति सम्बन्धः। तात्पर्यतस्तद्गतमनसा। ततश्च तदभावादेव तदज्ञानं नान्यनिमित्तं तदिति दर्शयन् लोकेऽपि तदप्रसिद्धिं दर्शयति—न चेति। तथाविधं सदसद्विलक्षणरूपानिर्वचनीयम्। इयमनिर्वचनीयभाषा। लौकिकरजतादिभ्रमस्याप्यन्यथा-ख्यात्यादिरूपत्वेन लोकेऽपि तदप्रसिद्धिरिति भावः।।१२८।।

नाद्यापि- मैंने पूर्वपक्षी ने समस्त न्यायवैशेषिकादि शास्त्रों का अध्ययन कर लिया है इस के बाद भी। वेद्मि= मैं जान नहीं पा रहा हूँ। क्या? अनिर्वचनीय परिभाषां- सदसद्विलक्षण रूप इस भाषा को इत्यादि को मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। इस पर यदि आप सिद्धान्ती कहें कि मैंने सम्यक् रूप से उन शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया इसलिये अनिर्वचनीय पदार्थ का अज्ञान है सो भी नहीं। सर्वेति= सभी शास्त्रों के तात्पर्य का अवगाहन करने के बावजूद भी। उनके तात्पर्य को जाना, खूब उन उन शास्त्रों का मनन भी किया। इसके बावजूद भी मैं अनिर्वचनीय परिभाषा को समझ नहीं पा रहा हूँ। न चेति= लोक में भी अनिर्वचनीय परिभाषा नाम की कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है। जो सदसद्विलक्षण स्वरूपा है। जो लोक में रजतादि भ्रम उत्पन्न होते हैं उनकी उन उत्पत्ति तो हम, आत्मख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति, सत् ख्याति आदि ख्यातियों से लगाते हैं। बाकी यह अनिर्वचनीय परिभाषा तो आप ही जानते

है यह तो मैं तथा अन्य शास्त्र एवं लोक भी जानते नहीं। आप धन्य है जो आप ऐसे विलक्षण ख्याति को जानते है– (उपहास किया)

एवं वेदान्तानामुक्तन्यायैर्ब्रह्मणि प्रामाण्यासंभवसमर्थनमुपसंहरति–

इस प्रकार वेदान्त का उक्त न्याय, उक्त युक्तियों द्वारा प्रामाण्य संभव नहीं है इसका अब उपसंहार करते हैं–

तस्मात् प्रमाणफलमत्र निरूप्यमाणं
ब्रह्मात्मवस्तुनि न संभवतीह किंचित्।।
कृत्यं विना न च निरूपपितुं प्रमाणं
वेदान्तवाक्यमिह शक्यमनर्थकत्वात्।।१२६।।

अन्वयः= तस्माद् अत्र निरूप्यमाणं किञ्चिदपि ब्रह्मात्मवस्तुनि प्रमाणफलं न सम्भवति। कृत्यं विना वेदान्तवाक्यं प्रमाणं निरूपयितुं न च शक्यम् अनर्थकत्वात्।।

अन्वयार्थः= इसलिये इस ब्रह्मात्म वस्तु में (ज्ञान तथा अविद्यानिवृत्ति में कोई भी निरूप्यमाण) प्रमाण फल नहीं हो सकता और फल के बिना वेदान्त वाक्य रूप प्रमाण का निरूपण नहीं हो सकता। इसमें हेतु यह है कि वेदान्त वाक्य व्यर्थ है।।१२६।।

तस्मादिति। अत्र स्फुरणाविद्यानिवृत्त्योर्मध्ये किंचिदपि निरूप्यमाणमिह ब्रह्मात्मवस्तुनि न संभवतीति सम्बन्धः। चोऽवधारणे, नैव शक्यमिति सम्बन्धः। एतच्च पारोक्ष्यसद्वयत्वादिकृत विरोधादेरप्युपलक्षणम्।।१२६।।

तस्मादिति= ब्रह्म में न बोधस्फुरण सम्भव है, न अविद्यानिवृत्ति ही सम्भव है। च= निश्चित रूप से। इसका सम्बन्ध– परोक्षता, अपरोक्षता, सद्वयता, अद्वयतादि कृत विरोध के द्वारा भी समझ लेना। तो वेदान्त वाक्य को किसी प्रकार प्रमाण नहीं माना जा सकता यह सिद्ध हुवा।

एवं वेदान्तानां मानान्तरविरोधादिभिर्न सिद्धोदासीनप्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि प्रामाण्यमित्युक्तम्, इदानीं सर्वस्य वेदस्य कार्यपरत्वनियमान्न शुद्धे ब्रह्मणि प्रामाण्यम्, लोके शब्दानां कार्यव्युत्पत्तिबलेन वेदस्यापि तदर्थत्वादित्यभिप्रेत्य कार्ये सर्वशब्दशक्तिग्रहं लोके दर्शयति–

इस प्रकार से वेदान्त का अन्य प्रमाणों के साथ विरोध होने से एवं ब्रह्मसिद्ध होने से तथा वह ब्रह्म उदासीन होने के कारण वेदान्त ब्रह्म में प्रमाण नहीं है यह बात सिद्ध

हुई। अब तो हम यही कहेंगे कि सभी वेद कार्य परक ही है इस नियम के अनुसार शुद्ध ब्रह्म में वेद की प्रामाण्यता ही नहीं है। लोक में जितने भी शब्द है सब कार्य व्युत्पत्ति के बल से ही प्रमाण है तो वेद को कार्य व्युत्पत्ति बल से ही प्रमाण मानेंगे। इसलिये सभी शब्दों की शक्ति कार्य में है यह बात लोक में सिद्ध कर रहे हैं—

कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्तिं
श्रोतुः प्रवर्त्तकधियं परिकल्प्य बालः।।
चेष्टावशात् पुनरपि प्रविभज्य भागं
भागस्य वाचकमिति स्वयमेव वेत्ति।।१३०।।

अन्वयः= बालः श्रोतुः चेष्टावशात् प्रवर्तकधियं परिकल्प्य कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्तिं (वेत्ति) पुनरपि प्रविभज्य भागं भागस्य वाचकमिति स्वयमेव वेत्ति।।

अन्वयार्थ= बालक श्रोता (मध्यमवृद्ध) की चेष्टा (प्रवृत्तिनिवृत्ति) के द्वारा। उसके प्रवर्तक ज्ञान का अनुमान करके कार्यान्वयान्वयी पदार्थ में पूरे वाक्य की शक्ति का (निश्चय करता है)। पुनः (विभिन्न प्रवृत्तियां देखकर) वाक्य का उचित विभाग करके अमुक भाग अमुक कार्यका वाचक है, ऐसा स्वयं ही समझ लेता है।

कार्यान्वयेति। बालो व्युत्पत्सुर्गामानयेत्यभियुक्तवाक्यश्रवणानन्तरं प्रवर्त्तमानस्य श्रोतुर्गवानयनादिचेष्टावशात् प्रवर्तकधियं गवानयनादि कार्यमिति ज्ञानं विमता प्रवृत्तिरेतत्कार्यज्ञान पूर्विका एतत्प्रवृत्तित्वाद्यदेवं तदेवं यथा मम स्तनपानादिप्रवृत्तिरिति परिकल्प्य तस्य कारणमालोचयन् गामानयेत्यादिशब्दान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दजन्यत्वं निश्चित्य तद्गोचरे वस्तुनि कार्ये प्रस्तुतवाक्यसामर्थ्यं स्वयमेव वेत्तीत्यनुषङ्गः। तत्किं वाक्ये प्रयुक्तसर्वपदानामविशिष्टार्थे शक्तिः, तथा सति पर्यायता स्यात्, न, वक्ष्यमाणन्यायेन पृथगर्थत्वादित्याह-पुनरपीति। सम्मुग्धतया वाक्यसामर्थ्यग्रहणानन्तरं वाक्यभागं-पदानि प्रविभज्य तत्तत्पदं भागस्य-कार्यान्वितत्तदर्थस्य वाचकमित्यपि वेत्तीत्यर्थः। लोके हि शब्दानां वृद्धव्यवहारानुसारेण सामर्थ्यमवगम्यते, वृद्धव्यवहारश्च प्रवर्तकवाक्याधीनः, अन्यस्मात्प्रवृत्तिहेतुज्ञानासंभवात्, न हि गौस्तिष्ठतीति वाक्यात्कश्चित्प्रवर्तत इति वाक्ये प्रथमं सामर्थ्यं ग्राह्यम्, प्रवर्तकं च तदयुद्ध्वा प्रवर्तते, तच्च स्वस्मिन्कार्यमिति निर्णीतमतस्तज्ज्ञानमेव गामानयेतिवाक्यश्रणानन्तरं मध्यमवृद्धस्य गवानयनादिप्रवृत्त्याऽनुमीयते, तच्च तस्य गवानयनादिवाक्यजन्यमिति च, ततस्तद्गोचरे विशिष्टकार्ये तद्वाक्यं समर्थमिति निश्चीयते, प्रवर्त्तकवाक्यस्य तदन्यज्ञानस्य जनकत्वासंभवेन तदशक्तत्वात्, एवं संमुग्धतया पदसमुदायस्य विशिष्टकार्ये सामर्थ्यमवगत्य

पश्चात् गां बधान वात्समानयेत्यादौ विभज्य। तत्तत्पदं शक्तमिति वेत्तीति सर्वशब्दानां कार्यमर्थः। न च पर्यायता कार्यविशेषस्य व्यभिचारेऽपि कार्यसामान्यस्य तदभावेन तदन्वितस्य शब्दार्थत्वोपपत्तेरिति। नन्वेवं कार्यपदस्य कथं शक्तिः, कार्यान्तराभावेन तदन्वितकार्यासंभवात्, नापि गवादौ तच्छक्तिरस्ति। न च कार्यपदं कार्यमात्रे शक्तमिति वाच्यम्, शब्दार्थस्यानेकरूपत्वप्रसङ्गादिति तत्राह– अन्वयेति। कार्यस्य योऽन्वयः संबन्धस्तदन्वयिनि तदाश्रये, कार्यस्य हि सिद्धेनान्वयः सिद्धे कार्ये च वर्ततेऽन्वयस्य द्विनिष्ठत्वादिति न शब्द शक्तिप्रयोजकरूपस्यानेकरूपत्वमिति।।१३०।।

कार्यान्वयेति= जो बालक शब्द बोध सीखना चाहता है– वह बालक "गामानय" गौ को ले आवो- ऐसा वाक्य अभियुक्त का श्रवण करके गौ को लाने के लिये दूसरा व्यक्ति प्रवृत्त होता है उसका गौ को लाने के लिये चेष्टा या प्रयत्न शुरू हो जाता है। तो जो प्ररेक है उसका ज्ञान प्रवर्तकधियं- गवानयनादिकार्य है यह ज्ञान अब बालक को हो जाता है। कैसे? (पक्ष) विमता प्रवृत्तिः (साध्य-) एतत् ज्ञान पूर्विका, (हेतु-) एतत् प्रवृत्तित्वात्। यदेवं तदेवं। यथा मम स्तनपानादि प्रवृत्तीति। (पक्ष) मध्यम वृद्ध की गौ को लाने में प्रवृत्ति, (साध्य)-, गामानय गौ को लावो इस कार्य ज्ञान पूर्वक है, (हेतु) गौ को लाने में इस में मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति होने से। उत्तम वृद्ध ने ऐसा बोला तो मध्यम वृद्ध ने ऐसा किया। (उदाहरण) जैसे मेरे छोटे बालक की दुग्ध पान में प्रवृत्ति, दुग्धपानकार्य ज्ञान पूर्वक है, दुग्ध पान प्रवृत्ति होने से। तो गामानय इस वाक्य के होने से मध्यम वृद्ध के प्रवृत्ति को बालक देखता है और न बोलने से मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति होती नहीं है। इस प्रकार से मध्यम वृद्ध के प्रवृत्ति में उत्तम वृद्ध शब्द जन्यत्व निश्चित हुवा। तो इस प्रवृत्ति का गोचर (आश्रय) गौ में कार्य में प्रस्तुत वाक्य सामर्थ्य अपने आप इस बालक को हो जाता है। यहां शंका करें कि क्या वाक्यान्तर्गत सभी पद– अथवा क्या एक सामान्यार्थ को कहते हैं? यदि ऐसा हो तो फिर सभी शब्दों की (पदों की) पर्याय वाचिता सिद्ध होगी। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि हर एक पदका पृथक पृथकृ अर्थ है। पुनरपि वह तटस्थ बालक जो शाब्द बोध सीखने के लिये इच्छुक है पहिले उसको वाक्य का सामर्थ्य ग्रहण हुवा बाद में। भागम्– वाक्य के भाग स्वरूप अलग अलग तत्तद्पद, भागस्य– आनयनादि कार्यान्वित तत्तदर्थ का वाचक है ऐसा यह सम्मुग्ध बालक जान जाता है।

लोक में भी शब्दों का वृद्धव्यवहार के अनुसार सामर्थ्य का ग्रहण किया जाता है। वृद्धों का व्यवहार उत्तमवृद्ध जो प्रवर्तक है उसके वाक्याधीन है। अन्य किसी हेतु के द्वारा प्रवृत्ति हेतु ज्ञान नहीं हो सकता। गाय बैठी है इस वाक्य के कहने पर कोई प्रवृत्त नहीं

होता है। इसलिये वाक्य में पहिले ही सामर्थ्य का ग्रहण करना पडता है। उत्तम वृद्ध प्रवर्तक को इस बात का पूर्ण ज्ञान होने के कारण ही वह ऐसे ऐसे वाक्यों का जैसा गामानय इत्यादि वाक्यों का प्रयोग मध्यम वृद्ध के प्रति (प्रयोज्य वृद्ध के प्रति) करता है। वह सामर्थ्यः– वाक्य तो अपने में कार्यरूप है। इसलिये वाक्य कार्य के प्रति सामर्थ्य युक्त है ऐसे निश्चय के कारण ही गामानय इस वाक्य के श्रवण के बाद मध्यमवृद्ध गवानयनादि कार्य में प्रवृत्त होता है इससे यही अनुमान होता है कि वाक्य के अन्दर गामानयनादि- वाक्यगोचर विशिष्ट कार्य प्रतिपादक सामर्थ्य है। प्रवर्तक वाक्य गामानय इत्यादि वाक्य में अन्य ज्ञान जनकत्व नहीं आ सकता। इसलिये अन्यकार्य के प्रति वह असमर्थ है। तो इस प्रकार जो बालक शाब्द बोध सीखने के लिये इच्छुक भी है वह बालक वाक्यान्तर्गत पद समुदायका विशिष्टकार्य में सामर्थ्य जानकर बाद में गां बधान वत्समानय, गाय को बांधो, बछडे को लावो, अवाप उद्वाप द्वारा इत्यादि वाक्यों का तत्तत् विशिष्ट कार्य में सामर्थ्य जानकर, बाद में तत्तत्पद के प्रयोग के अन्वय व्यतिरेक से कार्यान्वित तत्तदर्थ में शक्ति जानता है। तत्तत् स्थल में (वाक्य में) तत्तत् कार्य विशेष ज्ञान जन्य होने के कारण व्यभिचार नहीं है। या यह समझे कि, तत्तत्वाक्य अन्य कार्यान्वित तत्तदर्थ में शक्त न होने पर भी कार्य सामान्य का वहां व्यभिचार नहीं है। तो कार्य सामान्यान्वित तत्तदर्थ में शब्दार्थता स्वीकृत हो जाती है।

शंका= कार्यान्वितार्थ में शक्ति मानने से लिङादि जो कार्य परक है उनके अन्दर शक्ति बोध कैसे होगा। क्योंकि लिङादिरुप कार्य के अन्वय के लिये अन्य कार्यान्तर होना चाहिये वह तो है नहीं। तो फिर उस कार्यान्वित इस कार्य का अन्वय सम्भव नहीं होगा। और जो गावादिपद है उनमें यह नहीं है जो कि लिङादि कार्य का अपने में अन्वय करा लेवे। यदि इस पर आप कहे कि कार्यपद कार्यपरक ही शक्त है तो फिर प्रत्येक शब्द अलग अलग अर्थ में नियुक्त होने से शब्द के अर्थ भी अनेक रूप हो जायेंगे।

सामाधान– अन्वयेति= कार्य का जो सम्बन्ध– उस सम्बन्ध का आश्रय कार्य-अन्वय अन्वयिनि अर्थ करेंगे। कार्य का सिद्ध के साथ अन्वय (सम्बन्ध) होता है। अन्वय (सम्बन्ध) सिद्ध तथा कार्य दो में होता है। इसलिये शब्द शक्ति का प्रयोजक रूप= जो कार्यान्वयान्वित्व का अनेक रूपत्व नहीं हो सकता।–टिप्पणी (जैसे गामानयन में वाक्य में गो पदार्थ आनयन कार्य से अन्वित किन्तु आनय पद केवल अपने ही क्रिया स्वरुप का बोधन कर रहा है इसलिये शब्द शक्ति समानता नहीं तदर्थ कार्यान्वयी हुई गौ उससे अन्वित हुवा आनयन गौ अनुयोगी और प्रतियोगी आनयन क्रिया)

ननु कार्यान्वयान्वयित्वापेक्षयाऽन्वितत्वस्य लघुशरीरत्वात्तत्रैव शक्तिरस्तु, अन्यथा

गौरवात्, न चैवमतिलाघवेनतत्तदर्थ मात्रे शक्तिरस्त्विति वाच्यम्, अन्वितस्यैव शब्दश्रवणानन्तरं नियमेन प्रतीतेरित्याशङ्क्य पूर्वपक्षी तदनुमोदते–

शंका– शब्द की शक्ति कार्यान्वयान्वयी में मानने के अपेक्षा अन्वितत्व में ही माने (आश्रय में माने), अन्यथा कार्यान्वयान्वयित्व गौरव दोष ग्रस्त होगा। इस पर यदि आप कहे कि जब लाघव ही देखना है तो फिर तत्तदपद की तत्तदर्थ में ही शक्ति रहने दो। लेकिन यह ठीक नहीं। क्योंकि तत्तदर्थ का बोध शब्द श्रवणान्तर नहीं होता है किन्तु अन्वितका ही (सम्बन्धाश्रयका ही) बोध नियम से होता है। ऐसी आशंका करने के बाद पूर्वपक्षी अन्वितत्व में शब्द शक्ति मानने के लिये तैयार होता है–

त्यक्तः कार्यान्वितार्थं वदितुमलमयं शब्द इत्येष पक्षो
नोक्तो योग्येतरार्थान्वितमिति तु पुनः पूर्वमप्येष पक्षः।।
किं तु स्यादस्य शक्तिर्निजसहजवशादन्वितार्थाभिधाने
योग्यत्वादेस्तु पश्चात्स्वयमुपनिपतत्यस्य कार्यैदमर्थ्यम्।।१३१।।

अन्वयः= अयं शब्दः कार्यान्वितार्थं वदितुमलं इत्येव पक्षः त्यक्तः। योग्येतरार्थान्वितं, इत्येष पक्षस्तु पुनः पूर्वमपि नोक्तः। किन्तु निजसहजवशाद् अस्य अन्वितार्थाभिधाने शक्तिः। पश्चाद् योग्यत्वादेः (वशात्) अस्थ कार्यैदमर्थ्यं। स्वयं उपनिपतति।।

अन्वयार्थः यह शब्द कार्यान्वित अर्थ को कहने में समर्थ है, इस पक्ष को छोड दिया। "योग्य इतरार्थ के अन्वित (स्वार्थ को शब्द कहते हैं) यह पक्ष तो पहले भी नहीं कहा है। किन्तु अपने सहज स्वभाववश इस (शब्द) की केवल अन्वितार्थक अभिधान में शक्ति (माननी उचित है)। बाद में योग्यतादिके आधार पर इस शब्द के कार्यार्थ परता अपने आप आ जाती है।

त्यक्त इति। एष पक्ष इत्यनेन सम्बन्धः। अलं समर्थः। तर्हि किं योग्यतरान्विते शक्तिराश्रिता, तदपि न, अतिगौरवादित्यमिप्रेम्याह–नोक्त इति। अस्माभिरिति शेषः। कस्तर्हि तव शब्दार्थस्तत्राह–किं तु स्यादिति। अस्य शब्दस्य निजसहजवशान्नैसर्गिकस्वभावाद-न्वितार्थाभिधाने शक्तिरिति सम्बन्धाः। तर्हि सिद्धोऽपि शब्दार्थः स्यादिति नेष्टसिद्धिस्तत्राह– योग्यत्वादेरिति। उपनिपतति आयाति आगच्छेदित्यर्थः। सिद्धपदार्थानां साध्येन कार्येणैवान्वयो न तु सिद्धेन, सिद्धसाध्ययोरेवान्वये आकाङ्क्षायोग्यतासंभवादन्वितमात्रे शक्तादपि गवादि-पदाद्योग्यतादिमहिम्ना गवादेः कार्यान्वय एव सिद्ध्येदिति सर्वस्य शब्दस्य कार्यैदमर्थ्यं= कार्यशेषत्वं कार्यप्रतिपादकत्वमिति।।१३१।।

त्यक्तः– कार्यान्वयान्वितार्थ में शब्द शक्ति के मत का परित्याग करके। अलं= समर्थ।

योग्येतरान्वितमिति नोक्तो= योग्येतरान्वितमिति= इतर जो योग्य उससे अन्वित– (सम्बन्ध से सम्बन्धित) जो "गामानय" आनय का सम्बन्ध गौ से इस सम्बन्ध से सम्बन्धित (सम्बन्धाश्रय में) शब्द शक्ति मानेंगे तो अतिगौरव हेगा। क्योंकि कार्यान्वयित्व के अपेक्षा योग्येतरान्वयित्व शब्दशः भी गौरव युक्त है तथा अर्थशः भी गौरव ग्रस्त है। ऐसा यह पूर्वपक्ष हुवा। फिर शब्दार्थ क्या होगा। तो प्रकृति और प्रत्यय दोनों अलग अलग अर्थ की उपस्थिति नहीं करा सकते। मिलित होकर ही करा सकते। इसी का नाम "अन्वितार्थ अभिधान" किंतु स्यादिति– शब्द की अपनी अपनी नैसर्गिक स्वभाव से अन्वितार्थाभिधान में शक्ति है। तो फिर सिद्ध अर्थ का शाब्द बोध होगा? नहीं। योग्यत्वादेस्तु- उपनिपतति= अपने आप आ जाता है। क्या? सिद्ध पदार्थ का साध्य के साथ कार्य के साथ अन्वय होता है, न कि सिद्ध का सिद्ध के साथ अन्वय होता है। सिद्ध और साध्य का ही अन्वय (सम्बन्ध) होने पर भी, आकाङ्क्षा योग्यता ये भी जरूरी है अतः अन्वित मात्र में ही शक्ति मानने पर भी गौ आदि पद से योग्यतादि के प्रभाव से गौ आदि शब्द की शक्ति कार्यान्वय में ही सिद्ध होती है। इसलिये सभी शब्दों की कार्यैदमर्थ्यम्– कार्यप्रतिपादकता है यह बात सिद्ध हुई।

ननु किमिदं कार्यं? योग्यतादिबलाद्यदन्वयः पदार्थानामुपनिपतेत्, न तावद्धात्वर्थः, तस्य स्वर्गासाधनस्य स्वर्गकामिकार्यत्वाऽसंभवेनान्येषां तदैदमर्थ्यायोगात् नापि नियोरूपं तत्, लोके तदभावात्, च चोभयसाधारणकृतिसाध्यत्वविशिष्टं तदिति वाच्यम्, स्वर्गघटादेरपि नियोगवत्परम्परया तत्सम्भवेन तदन्वयस्यापि शब्दार्थत्वप्रसङ्गेन मतान्तरादविशेषादतो लोक-वेदयोरनुगतं शब्दार्थताप्रयोजकं न सिध्येदित्याशङ्क्याह–

कार्य क्या है इसकी व्याख्या करने जा रहे हैं– योग्यतादि के बल से पदार्थों के अन्वय को कार्य कहेंगे अब वह कार्य क्या धात्वर्य रूप है? "यजेत्" इत्यादिरूप है क्या? नहीं। क्योंकि धात्त्वर्थ स्वर्ग का साधन नहीं है इसी प्रकार स्वर्ग की कामना करने वाला पुरुष का वह कार्यत्व रूप भी नहीं है इसी प्रकार जो अस्वर्ग का भी है उनके प्रति ध ाात्वर्थ रूप शेषत्व रूप नहीं हो पायेगा। अतः कार्य को धात्वर्थरूप नहीं मान सकते। अतः यदि कार्य को नियोगरूप मानें तो भी ठीक नहीं क्योंकि लोक में तो इस नियोग की जरूरत नहीं है। अब यदि यह कहें कि कार्य का स्वरूप धात्त्वर्थ रूप तथा नियोग रूप (कृति-साध्यत्वविशिष्ट स्वरूप अपूर्व स्वरूप मानें तो भी ठीक नहीं। क्योंकि "स्वर्ग कामोयजेत्" इत्यादि वाक्यान्तर्गत स्वर्ग, घटादि पदार्थ भी धात्वर्थ, नियोग के कृति का साध्यत्व विशिष्ट परम्परा सम्बन्ध से हो जायेगा। तो स्वर्ग घटादि पदार्थ का जो अन्वय (सम्बन्ध) वह भी शब्दार्थ होने लगेगा। अतः कार्य का लक्षण अन्य मतों के साथ मिलता जुलता हो जाने से अपनी

कोई विशेषता नहीं रहेगी। अतः लोक और वेद दोनों के अनुरूप कार्य का लक्षण, तथा शब्द और अर्थ का प्रयोजक रूप सिद्ध नहीं हो सकता ऐसी शंका उत्पन्न होने पर कहते हैं—

प्रवृत्त्यभावस्य विरोधि कार्यं कालत्रयानन्वितमाहुरेके।।
स्वगोचरस्येप्सितसाधनत्वं विज्ञापयत् प्रेरकमाहुरन्ये।।१३२।।

अन्वयः—एके कालत्रयानन्वितं प्रवृत्त्यभावस्य विरोधि कार्यं आहुः। अन्ये स्वगोचरस्येप्सित साधनत्वं विज्ञापयत् प्रेरकं (कार्यम्) आहुः।

अन्वयार्थः— गरूमत के कतिपय आचार्य सम्बन्धी जो उदासीनता (प्रवृत्त्यभाव) को विरोधी पदार्थ (नियोग) है। उसे कार्य कहते हैं। दूसरे आचार्य जो अपने विषयीभूत (यागादि) पदार्थों में इष्ट साधनता का भी ज्ञापक होकर प्रेरक हो उसे कार्य कहते हैं।।

प्रवृत्तीति। यन्निमित्तं पुरुषस्य कामनादियुक्तस्य नियमेन प्रवृत्त्यभावो न भवेत्तत्। रागादावतिव्याप्तिवारणाय तद्विशिनष्टि—कालत्रयेति। भूतभविष्यद्वर्त्तमानान्यतमकालान्विततयाऽ-प्रतीयमानम्, स्वरूपेण कार्यस्य भविष्यत्कालान्वयित्वादित्यर्थः। यत्कालत्रयानन्वितं प्रवृत्त्वभावस्य विरोधी तत्कार्यम्, रागादौ घटादिपदात्प्रतीयमानघटादौ चातिव्याप्तिवारणाय दलद्वय्। एके-गुरु मतैकदेशिनः। अन्येषां तन्मतानुसारिणां नियोगकार्यलक्षणमाह—स्वगोचरस्येति। अत्र प्रेरकं कार्यमित्युक्ते रागेऽतिव्याप्तिरत उक्तम्। स्वगोचरस्येत्यादि। तावति विज्ञापयदित्यन्ते उक्ते इष्टसाधनत्वबोधकप्रमाणेऽतिप्रसङ्गः स्यादित्यत उक्तम्। प्रेरकत्वमिति। प्रमाणस्य बोधकत्वादेव न प्रेरकत्वमिति ततो व्यावृत्तिसिद्धिः। इदं तु लक्षणं धात्वर्थकार्यविलक्षणनियोगाख्यकार्य-विषयम्, स्वगोचरस्येष्टसाधनत्वज्ञापकत्वनिर्देशात्। न च नित्यनियोगेऽव्याप्तिः, तद्विषयस्येप्सित-साधनत्वानङ्गीकारादिति वाच्यम्। तत्रापि नियोगस्यैव कृत्युदेश्यतयेष्टत्वातत्र धात्वर्थस्यापीष्ट-साधनत्वोपपत्तेस्तत्रापि लक्षणसंभवादिति द्रष्टव्यम्। एवं च सति कृतिसाध्यत्वादिना येन केन चन विशेषणेन विशिष्टयतेष्टसाधनत्वज्ञानस्य प्रेरकत्वकल्पनेऽपि न कार्यलक्षणं तत्र गच्छति, इष्टसाधनत्वज्ञापकत्वस्येष्टसाधनत्वज्ञानेऽभावादिति भावः। स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ लिङादिना लोके कार्यव्युत्पत्त्यनुसारेण कार्यमवगम्यते, तच्च कार्य धात्वर्थातिरिक्तमेव, काम्यमानस्वर्गसाधनस्यैव तत्कामिकार्यत्वात् यागस्य च तदभावात्, तच्च शब्दात्प्रतीयमानं कार्यं कस्य कुत्रेति नियोज्यविषयावपेक्षते,, कृतिसाध्यत्वरूपेण शब्दात्प्रतीयमानस्य किमाश्रय-विषयकृतिसाध्यं तदिति कृत्याश्रयविषययोः कृतिनिरूपकतयाऽपेक्षित्वात्, तत्र स्वर्गकामः कार्यं स्वकृतिसाध्यतयावगच्छतीति नियोज्यः, धात्वर्थश्चाव्यवधानेन कृतिसाध्यः कृत्यवच्छेदद्वारा

नियोगमवच्छिनत्ति यागविषयकृतिसाध्यं तदिति प्रतीतेरिति स तद्विषयः, एवं च कार्यस्य धात्वर्थातिरिक्तस्य स्वतः कार्यत्वासंभवात् स्वस्य कृतिसाध्यत्वनिर्वाहार्थं स्वविषयस्य धात्वर्थस्य कृतिसाध्यत्वमाक्षिपति, तच्च परम्परया काम्यस्वर्गसाधनत्वाभावेऽनुपपन्नम्, न हि कामी कश्चित्तदसाधनं करोतीति तदेव कार्यं धात्वर्थस्येप्सितसाधनुत्वमप्याक्षिपत्तत्र पुरुषं प्रेरयतीति तदेवैके प्रेरकंकार्यमाहुरित्यर्थः।।१३२।।

प्रवृत्तीति= कार्यं= न तो धात्वर्थ कार्य रूप है और न ही नियोग रूप है, किन्तु पदार्थान्तर है। इस बात को लेकर (अन्ये) एक मतावलम्बी कार्य का लक्षण कर रहे हैं। स्वर्गादिक की कामनायुक्त पुरुष की जिस निमित्त से नियम से प्रवृत्ति का अभाव न हो उसे कार्य कहते हैं। रागादिक भी तो प्रवृत्यभाव के विरोधी है। लक्षण किया कार्य का और गया रागादि दोषों में उनके अन्दर इस लक्षण को हटाने के लिये कहते हैं— कालत्रयानन्वितमाहुरेके= जो भूत, भविष्य वर्तमान इन तीन कालों में से किसी भी काल में अप्रतीयमान हो। प्रवृत्ति में भविष्यादि काल प्रयोजक नहीं है जैसे वह्नि को साध्य मानने पर पिङ्गलधूम हेतु या प्रयोजक नहीं होता है। रागादि दोष वर्तमान काल को लेकर ही प्रवृत्ति के जनक होते हैं। इसलिये रागादि तो वर्तमान कालान्वित हो गये। लक्षण नहीं गया अतिव्याप्ति दोष नहीं हुवा। तो कार्य का लक्षण अब यह हुवा- जो तीनों काल में अनन्वित हो, और प्रवृत्ति अभाव का विरोधी हो उसे कार्य कहते हैं। रागादिक की निवृत्ति पहिले पद से हुई। अब रह गई घट पद से घटार्थ की प्रतीति उसमें अतिव्याप्ति हटाने के लिये कहते है, प्रवृत्त्यभावस्य विरोधी, घट पद से घटार्थ की प्रतीति प्रवृत्ति अभाव की विरोधी नहीं है- घट पद से घटार्थ की उपस्थिति अकेली क्या करेगी। इस प्रकार दोनों दलों से राग और घटादिक में लक्षण की अतिव्याप्ति निवृत्त हुई ऐसे एके= कुमारिल मतानुसारी कोई कहते हैं। अब और दूसरे भी तो कुमारिलभट्ट- मतानुसारी हैं= कार्य लक्षण करते हैं—

स्वगोचरस्येति= स्वपद-धातु परम् तद्गोचर- धात्वर्थ गोचर। नियोग रूप ही कार्य का लक्षण मानेंगे। केवल प्रेरक को ही कार्य मानेंगे तो राग में अतिव्याप्ति हो जायेगी। स्वगोचरस्येति— धात्वर्थ गोचर को, इप्सितसाधनत्व=विज्ञापयन्— इतना ही कार्य का लक्षण करेंगे तो इष्ट साधनता बोधक प्रमाण में अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति को हटाने के लिये कहते हैं। प्रेरकमिति— प्रमाण बोधक होता है प्रेरक नहीं होता है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो यह कार्य का लक्षण अब ऐसा होगा यह लक्षण, (पक्ष) धात्वर्थ, (साध्य) कार्य विलक्षण नियोगाख्य कार्य विषयक, (हेतु) स्वगोचरेष्ट- साधनत्वज्ञापकत्व निर्देशात्।।

अब यह लक्षण नियोग मात्र में जायेगा। हां। लेकिन नित्यनियोग जैसे अहरहसन्ध्यामुपासीदित्यादि स्थल में तो अव्याप्ति आयेगी। क्योंकि नित्य सन्ध्या में अभिप्सित साधनत्व का अङ्गीकार नहीं किया गया। "नित्य सन्ध्या मदिष्टसाधिका" ऐसा नहीं लिखा।

समाधान— यहां की कृतिउद्देश्यतया इष्टसाधनता इस (वाक्य में) नियोग भी है। "अहरह सन्ध्यां उपासीत" उपासीत् धात्वर्थ के अन्दर इष्ट साधनत्व की उपपत्ति आ ही जाती है। (अकरणे प्रत्यवाय:) इस प्रकार से लक्षण करने के बाद अब "इदं मदीष्टं साधनम्" इदं बलवदनिष्टानुबन्धित्वादि रूप परम्परा सम्बन्धादिक से इनमें इष्ट साधनत्व ज्ञान का प्रेरकत्व मानने पर भी इन वाक्यों में इष्ट साधन ज्ञापक वाक्यों में यह लक्षण नहीं जायेगा क्योंकि इष्ट साधनता ज्ञापकत्व इष्ट साधनता ज्ञान में संभव नहीं है।

टिप्पणी—स्वर्ग कामो यजेत् इत्यादि स्थल में लिङ् से लोक में कार्य व्युत्पत्ति के अनुसार कार्य का ग्रहण किया जाता है। वह कार्य धात्वर्थ से अतिरिक्त है। काम्यमान स्वर्ग साधन के ही अन्दर अधिकारी कामी पुरुष का कार्य रूप वह है। याग तो वह हो नहीं सकता। वह कार्य शब्द के प्रतीयमान है। किसका? कहां? ऐसा वह नियोज्य को भी चाहता है। नियोग का आश्रय भी तो है। कृति साध्यत्वरूप से शब्द से प्रतीयमान् इसका आश्रय और विषय जो कृति के साध्य है तो इन दोनों का कृति के आश्रय रूप से नियोज्य में आवश्यक है। अब आश्रय और विषय दोनों कैसे ढूंढे जायेंगे— तो बताते हैं—

स्वर्ग कामना वाला पुरुष, इसका कार्य स्वकृतिसाध्यता रूप से नियोज्य को आश्रय रूप से कराती है। और धात्वर्थ तो तुरन्त याग के कृति का अवच्छेदक (यागकृति इसमें कृति का अवच्छेदक हुआ याग) द्वारा विषय बना लेता है। इस प्रकार कार्य धात्वर्थातिरिक्त है, खुद वह कार्य स्वरूप नहीं है अब वह अपने आप को कृति साध्यत्व निर्वाह भी कराता है= अत: अपने विषय को धात्वर्थ का विषय बने तदर्थ धात्वर्थ के साध्यत्व के रूप में आक्षेप कराके विषय बनाता है। यह जो याग है वह, काम्य स्वर्गादिक का साधन न होने से उसमें यह नियोज्यत्व नहीं जायेगा। क्योंकि सकाम पुरुष ऐसा कोई भी फल का अजनक असाधन नहीं करेगा। तो वही धात्वर्थ का कार्य है (नियोगरूप) जो कार्य धात्वर्थ में इप्सित साधनत्व का आक्षेप करके पुरुष को प्रवृत्त कराता है वही तो प्रेरक है उसे कार्य कहते हैं। पुरुष और याग दोनों के अन्दर कृतिसाध्यत्व रूप कार्यत्व का लक्षण गया।

अनन्योद्दिष्टकृतसाध्यत्वं कार्यत्वमिति तदभियुक्तसंगतं। लक्षणमाह—

अवतरणिका= जो कृति अन्यपरक न होकर जिसका साध्य केवल कार्यत्व हो उसे

कार्य कहेंगे इस अभिप्राय से कार्य के लक्षण को कहते हैं।

> या नान्यमुद्दिश्य कृतिः प्रवृत्ता।
> तथैव यद्व्याप्यतया प्रतीतम्।।
> तदेव कार्यं कथयन्ति केचिद्
> विचक्षणाः कार्यनिरूपणायाम्।।१३३।।

अन्वयः— या कृति अन्यमुद्दिश्य न प्रवृत्ता, तयैव यत् व्याप्यतया प्रतीतम्, तदेव कार्यम्। इत्थं प्रकारेण केचित् कार्यनिरूपणायां विचक्षणाः कथयन्ति।।

अन्वयार्थः— जो कृति अन्य के उद्देश्य से प्रवृत्त न हो, उसी का जो व्याप्य (साध्य) रूप से प्रतीत हो, वही कार्य है ऐसा कतिपय प्राभाकरादि कार्य निरूपण में निपुण विदान् कहते हैं।।

या नान्यमिति। प्राभाकरा हि इत्थं वदन्ति—कार्यमेव कृतिसाध्यस्वभावं पुरुषार्थः न तु स्वर्गादिः स्वतस्तथा, तस्य कार्यं प्रत्येव तत्साध्यस्यापि गर्भदासवच्छेषत्वादतः कार्यमुद्दिश्यैव तत्कृतिः प्रवृत्तेति या नान्यमुद्दिश्येत्युक्तम्। व्याप्यतया साध्यतया।।१३३।।

या नान्यमिति- प्राभाकर इस प्रकार से कहते हैं कृति का साध्य स्वरूप कार्य ही है अर्थात् लिडर्थ कार्य है। वही साध्य स्वरूप पुरुषार्थ है न कि स्वर्गादि। स्वर्ग भी कृति का दास ही है। क्योंकि स्वर्ग कृति का साधन है। कर्म ही कृति साध्य है। यजेत् इसमें याग कृति का विषय होने से वह कृति का साध्य है। यजेत् इसमें याग कृति का विषय होने से वह कृति का साधन होगा। अपूर्व ही मुख्य वेदार्थ लिङ्गर्थ है। ऐसे अपूर्व को निर्माण कराने के लिये (निष्पन्न कराने के लिये) स्वर्ग भी अपूर्व का साधन ही होगा। अतः स्वर्ग कृति का गर्भदास है अर्थात् जन्म से ही कृति का दास है क्योंकि कृति कार्य रूप अपूर्व के लिये और स्वर्ग कृति के लिये। जैसे नौकर राजा के लिये और नौकर का गर्भस्थ शिशु भी राजा के लिये, नौकर रूप में है। इसी प्रकार यहां भी है। तो तात्पर्यार्थ यह हुवा "स्वर्गकामो यजेत्" का अर्थ हुवा स्वर्गार्थिनः यागः कार्यः— स्वर्गार्थि याग को करें। कार्य हुवा कृति का विषय। लोक में धात्वर्थ ही कृति का विषय होता है, किन्तु वेद में स्वर्गादिक लिये याग के साक्षात् कृत्ति का विषय नहीं माना जा सकता। क्योंकि याग और स्वर्ग दोनों के काल में वैय्यधिकरण्य है। इसलिये याग से इतर कृतिका विषय मान रहे है, जिसे अपूर्व कहते है। वही मुख्य पुरुषार्थ है। स्वर्ग भी इसी का साधन है। जो पुरुष को प्रवृत्त कराता है। तो स्वर्ग का साध्य अपूर्व ही हुवा। यह बात सिद्ध हुई। जिसमें कार्य तथा स्वर्ग दोनों भी साधन कोटि में आ जाते हैं।

ननु लोके राग एव धात्वर्थ गोचरः प्रवर्त्तको दृष्टो न कार्यं तदतिरिक्तं किंचिद्दृष्टमस्तीत्याशङ्क्य तस्य रागव्यावर्त्तकं रूपं तावदाह–

शिष्य शंका– लोक में राग ही धात्वर्थगोचर होकर प्रवर्तक होता है। जैसे यजेत् इसमें याग विषयक राग ही यज धात्वर्थ गोचर होकर प्रवर्तक होता है। लेकिन कार्य तो प्रवर्तक नहीं माना जाता इस आशंका की निवृत्ति के लिये राग को हटाने के लिये कह रहे हैं–

भूत्वा रागः कारणं पुम्प्रवृत्तेर्नैवं कार्यं कार्यरूपं विहाय।।
रूपेणान्येनेष्यतेऽस्या निमित्तं भिन्दन्त्येवं रागकार्ये बहुज्ञाः।।१३४।।

अन्वयः= रागः भूत्वा पुंप्रवृत्तेः कारणं भवति, एवं कार्यं कार्यरूपं विहाय अन्येन रूपेण अस्या निमित्तं न इष्यते। एवं बहुज्ञाः रागकार्ये भिन्दन्ति।

अन्वयार्थः= राग उत्पन्न होकर पुरुष प्रवृत्ति का कारण होता है। इस प्रकार कार्य (नियोग) कार्य रुपता को छोडकर अन्य (नियोग) को भिन्न भिन्न सिद्ध करते हैं।

भूत्वेति। पूर्वक्षणे स्थित्वेत्यर्थः। कार्यरूपं- कृत्युद्देश्यस्वरूपम्। अन्येन स्वरूपेण-सिद्धस्वरूपेण। अस्याः- पुंप्रवृत्तेः। रागो हि निष्पन्नः सर्वत्र प्रवृत्तौ कारणं न ह्यसिद्धो रागः क्वचित्प्रवर्त्तयति। कार्यं तु विपरीतमसिद्धावस्थस्यैव कृत्युद्देश्यत्वात्तस्यैव च स्वसिद्ध्यर्थं पुंप्रवर्त्तकत्वात्सिद्धस्य कार्यस्य कृत्युद्देश्यत्वायोगेन तदयोगात्। न च लोके रागातिरिक्तं न प्रवर्त्तकं दृष्टमिति वाच्यम्, न तावत्फलरागस्य साक्षाद्धात्वर्थे प्रवर्त्तकत्वं भिन्नविषयत्वात्, धात्वर्थगोचरेच्छायाश्च कृतिसाध्यत्वप्रकारिकायास्तद्गोचरकर्त्तव्यताज्ञानं विनाऽसंभवात्, न च समानाकारज्ञानं विना तदाकारेच्छा भवति, तस्य कर्त्तव्यताज्ञानस्यावलम्बनान्तराभावात् धात्वर्थ एव तदालम्बनमिति तदेव लोके कार्यमित्यभिप्रेत्याह भिन्दन्तीति। भेदेच्छायाश्च कृतिसाध्यत्व-प्रकारिकायास्तद्गोचरकर्त्तव्यताज्ञानं विनाऽसम्भवात्, न च समानाकारज्ञानं विना तदाकरेच्छा भवति तस्य च कर्त्तव्यताज्ञानस्यावलम्बनान्तराभावात् धात्वर्थ एव तदालम्बनमिति तदेव लोके कार्यमित्यभिप्रेत्याह- भिन्दन्तीति। भेदेनावगच्छन्तीत्यर्थः।।१३४।।

अन्येन स्वरूपेण= राग निष्पन्न होकर ही प्रवृत्ति का कारण होता है न कि अनिष्पन्न होकर। अस्याः= मनुष्य के प्रवृत्ति का कारण राग कृति उद्देश्य रूप कार्य से निष्पन्न होकर ही प्रवृत्ति का कारण होता है। न कि अनिष्पन्न होकर पुरुष प्रवृत्ति का कारण होता है। और कार्य तो अनिष्पन्न (असिद्ध) होकर ही कृति का उद्देश्य बनकर अपने कार्य के सिद्धि के लिये वह कार्य मनुष्य के प्रवृत्ति कारण बन जाता है। यदि कार्य को सिद्ध मान लिया

जाय अर्थात् राग को प्रवर्तक माना जाय तब तो कार्य में कृति उद्देश्यता नहीं आयेगी। इसलिये राग ही मनुष्य प्रवृत्ति का प्रेरक है यह सिद्धान्त उचित नहीं है।

शंका– लोक में तो राग से अतिरिक्त किसी को प्रवर्तक नहीं देखा गया।

समाधान– फलविषयक राग साक्षात्धात्वर्थ का प्रवर्तक नहीं हो सकता। क्योंकि राग का विषय अलग है जब की धात्वर्थ का विषय अलग है। यजेत् इत्यादि धात्वर्थ गोचर इच्छा की सिद्धि कृति साध्यत्व प्रकारक धात्वर्थ गोचर ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। "कृति साध्य याग-" इस ज्ञान के बिना "यागः मदीष्ट साधनम्" ऐसी इच्छा नहीं हो सकती, समानाकारक ज्ञान के बिना समानाकारक इच्छा पैदा नहीं हो सकती। कर्तव्यता ज्ञान का धात्वर्थ ही आलम्बन है। अन्य कोई कर्तव्य ज्ञान का आलम्बन नहीं हो सकता। जो आलम्बन है वही धात्वर्थ है उसे ही कार्य कहते हैं– इसलिये कहा "भिन्दन्तीति"= तो राग अलग है और धात्वर्थ गोचर इच्छा अलग है, यह बात सिद्ध हुई।।

एवं कार्यान्विते गवादिपदगतशक्तिनिर्वाहाय लौकिकवैदिककार्यस्वरूपं निरूप्येदानीं भागं भागस्य वाचकमिति स्वयमेव वेत्तीति प्रागुक्तं कार्यान्विते तत्तदर्थविशेषे गवादि-पदशक्तिनियममुपपादयति–

शंका= इस प्रकार कार्यान्वित में गवादिपदों के शक्ति के निर्वाह के लिये लौकिक और वैदिक कार्यस्वरूप का विवेचन करने के बाद यह पद इस अर्थ का वाचक है यह पद इस अर्थ का वाचक है यह पार्श्ववर्ती बालक अपने आप ही जान जाता है। यह भी बताया। अब कार्यान्वित तत्तदर्थ विशेष में गवादि पदों की शक्ति है यह नियम प्रतिपादित कर रहे हैं–

आवापोद्वापहेतोः पदमिदममुकस्याभिधाने समर्थं
स्वोत्पत्त्यैवेति शक्तिप्रतिनियममिमं पार्श्ववर्ती तटस्थः।।
जानात्यालोच्य भूयो नयनिपुणमतिर्भागशः कार्ययुक्ते
वस्तुन्येतस्य हेतोरुपनिषदखिला कार्यशेषे प्रमाणम्।।१३५।।

अन्वयः= नयनिपुणमतिः पार्श्वस्थः तटस्थः भूय आलोच्य आवापोद्वापहेतोः इदं पदं अमुकस्याभिधाने स्वोत्पत्यैव समर्थे, इति विभागशः कार्ययुक्ते वस्तुनि शक्ति प्रतिनियमं जानाति एतस्य हेतोः अखिला उपनिषद् कार्यशेषे प्रमाणम्।।

अन्वयार्थः= अन्वय व्यतिरेक में निपुण बालक, जो पास में बैठा हुवा है। जो बार बार प्रयोजक उत्तम वृद्ध के शब्द प्रयोगों और प्रयोज्य जो मध्यम् वृद्ध की प्रवृत्तियों की आलोचना करके आवाप पदान्तर

को लाना उद्वाप प्रयुक्त पद के परित्याग के द्वारा यह पद अमुक अर्थ के अभिधान में स्वभावतः समर्थ है। इस प्रकार प्रत्येक पद की कार्यान्वित अर्थ में शक्ति व्यवस्था कर लेता है। अत': सम्पूर्ण उपनिषद् कार्याङ्गभूत अर्थ में ही प्रमाण है।।

आवापोद्वापहेतोरिति। नयनिपुणमतिः नये निपुणा मतिर्यस्य सः। तटस्थः उदासीनः। पाश्ववर्ती व्युत्पित्सुः। भूयो- बहुश आलोच्यार्थादन्वयमिति सिध्यति। आवापोद्वापहेतोः, इदं गवादिपदममुकस्य गोत्वादेः कार्यान्वितस्याभिधाने कथने स्वोत्पत्त्यैव स्वभावत एव समर्थमिति। भागशः- प्रतिपदमिमं। शक्तिप्रतिनियमं- प्रतिपदार्थनियतशक्तिं कार्ययुक्ते वस्तुनि जानातीति सम्बन्धः।

पार्श्ववर्ती व्युत्पित्सुर्हि मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्त्या प्रवर्तकं गवाद्यानयनकार्यताज्ञानमनुमाय तत्र गामानयेत्यादिवाक्यस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमप्यनुमाय तद्वाक्यस्य तस्मिन्प्रवर्तके संमुग्धतया शक्तिमवगच्छतीत्युक्तम, तदनन्तरं गां बधानेत्यादिप्रयोगान्तरे गोपदस्यावापे प्रयोगे तदर्थं प्रागवमनं पश्यन्वत्समानयेति प्रयोगान्तरे तदभावात्तदर्थं चापश्यन्नन्वयव्यतिरेकाभ्यां गोपदं यत्किंचित्कार्यान्वितगोत्वे शक्तं कार्यसामान्यस्याव्यभिचारात् एवमानयनादिपदमपि यत्किञ्चित्कारकान्वितानयनादौ एवं कारकपदान्तरं क्रियापदान्तरमपि तत्तत्पदावापोद्वापाद्धेतोस्तत्तत्कार्यान्वितेऽर्थे शक्तमिति प्रतिपदं शक्तिप्रतिनियमं जानाति, प्राथमिककार्यान्वयान्वितगृहीतसङ्गतिभङ्गप्रसङ्गेन केवले वस्तुनि सङ्गतिग्रहायोगात्सोऽयं नयनिपुणमतिरित्यनेनोक्तो नयः, अन्योऽपि प्रवर्तकवाक्याधीना व्युत्पत्तिः प्रवर्तकं च कार्यज्ञानमित्येवमादिर्नयो भूप आलोच्येति दर्शितः, ततो न्यायसिद्धा गवादिपदानां कार्यान्विते शक्तिरिति वेदान्तानामपि कार्यशेष एव ब्रह्मणि प्रामाण्यमित्यर्थः।।१३५।।

आवापोद्वापहेतोरिति= शाब्द बोध प्राप्त करने का इच्छुक बालक, आवाप लावो, उद्वाप ले जावो इत्यादि का हेतु गामानय, गां नय इत्यादि पद, यह पद इस अर्थ परक है यह पद उस अर्थ परक है। ऐसा पार्श्ववर्ती तटस्थः- बगल में खडा रहने वाला शब्द बोध प्राप्त करने वाला इच्छुक बालक भूयो=बारं बार शब्द प्रयोग के द्वारा शाब्द बोध को समझ लेता है। अर्थात्–यह गवादिपद कार्यान्वित गवादि अर्थ का अभिधान करने में समर्थ है यह स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार भागशः– प्रत्येक पद प्रत्येक पदार्थ के प्रति नियत शक्ति धारण करता है लेकिन कार्ययुक्त पदार्थ में ही पद की शक्ति है यह वह बालक जान जाता है।

अब इसे हम ऐसे समझेंगे बगल में व्युत्पत्सु बालक खडा है। उत्तम वृद्ध ने कहा "गामानय" गौ को ले आवो, इस वाक्य को सुनकर मध्यमवृद्ध की आनयन कार्य में प्रवृत्ति

हुई इसी प्रकार से बाद में उत्तम वृद्ध में कहा "गां नय" तो मध्यम वृध्दि की उस गौ को ले जाने में प्रवृत्ति हुई इसी प्रकार गां बधान– ऐसे अनेक प्रयोगों को पाश्ववर्ती बालक सुनता है मध्यमवृद्ध की प्रवृत्ति होती है। कहीं कहीं पहिले प्रवृत्ति का अभाव है– व्यतिरेक है और कहीं कहीं जैसे गोपद का अन्वय है तो वह बालक यह समझता है कि गो पद यत्किंचित् कार्यान्वित गो रूप अर्थ में शक्त है, इससे कार्य सामान्य का कहीं भी व्यभिचार तो है नहीं। कहीं बधान, कहीं आनय, कही नय, तो भी कार्य सामन्य तो है ही। इसी प्रकार आनयन, नयन, बधान, इत्यादि पद भी यत्किंचित् कारकान्वित है ही, तो ये पद इन इन विशेष अर्थ में तथा सामान्यतः यत्किंचित् कारकान्वित में शक्त है, इसी प्रकार कारक पद, क्रियापद आदि पद भी लाना, ले जाना इत्यादि आवापोद्वाप हेतु भूत तत्तत्कार्यान्वित अर्थ में शक्त है, अर्थात् प्रत्येक पद तत्तदर्थ में शक्त है ऐसा जाना जाता है। प्रारंभ में कार्यान्वयान्वित गृहीत संगति क़ा भङ्ग न हो इसलिये केवल वस्तु में संगति ग्रह नहीं माना जाता। किन्तु तत्तत् कार्यान्वित अर्थ में तत्तत् पद शक्त है। इच्छुक बालक इस मार्ग को पकड लेता है। इस प्रकार और प्रकार का भी बोध वह तटस्थ बालक को इसे प्रवर्तक वाक्यके अधीन शाब्द बोध हो जाता है और इस शाब्द बोधका प्रवर्तक है कार्यज्ञान, ऐसा बार बार वह बालक अवलोकन करत्ता है इस प्रकार अब यह नियम बन गया कि गवादि पदों की कार्यान्वित में शक्ति है। इसी प्रकार वेदान्त की कार्यान्वित ब्रह्म में ही शक्ति है इसी में वेदान्त को प्रामाण्यता है यह बात सिद्ध हुई।।

नन्वस्त्वेवं गवादिपदानां शक्तिग्रहः, कार्यपदस्य कथं शक्तिग्रहः, नियोगस्य मानान्तरागोचरतया तत्र लिङादेः शक्तिग्रहायोगात्। न च लिङादिनैवोपस्थिते तस्मिन्शक्ति ग्रह इति वाच्यम्। शक्तिग्रहात् पूर्वं लिङादेस्तदुपस्थापकत्वायोगदित्याशङ्क्य प्राभाकाराणां मतभेदेन लिङादिसङ्गतिग्रहप्रकारान्दर्शयति। तत्र तावल्लोके आज्ञादय एव प्रवर्तकाः। वेदे तु स्थायि कार्यं प्रवर्तकम्। उभयत्र च प्रवर्तकत्वसामान्यमेकमस्ति तत्र लिङादेः सङ्गतिग्रह इति केचितन्मतमाह–

शिष्य शंका– गवादिपदों का शक्ति ग्रह कार्यान्वित गवादिअर्थ में है यह तो मान लेंगे। लेकिन कार्यपद (लिङादि) इनका शक्ति ग्रह कैसे हो पायेगा। क्योंकि "नियोग" तो प्रमाणान्तर का विषय न होने कारण उसमें नियोग में लिङ् का शक्ति ग्रह नहीं माना जा सकता।

शंका– लिङ् से ही नियोग की उपस्थिति होने से उसी में लिङ् का शक्ति ग्रह मानें।

समाधान— शक्ति ग्रह से पूर्व लिङादिक नियोग को उपस्थापित नहीं कर सकते। ऐसी आशंका और समाधान के बाद— प्रभाकरों के मतावलम्बी दूसरे प्रकार से लिङादिक का संगति ग्रह का प्रकार बता रहे हैं। तो भी आज्ञा ही प्रवर्तक मानी जाती है। बाकी वेद में तो स्थायी रूप से (कार्य ही नियोग ही प्रवर्तक है) दोनों जगह प्रवर्तक सामान्यत्व तो है ही। तो नियोग में लिङादिक की संगति ग्रह (शक्तिग्रह) मानते हैं। ऐसा किसी का (प्राभाकर के शिष्य का) मत है उसका उल्लेख करते हैं। लोक जगत् तथा वेद में दोनों में लिङादि प्रवर्तकत्व है तथापि लोक में आज्ञा द्वारा और वेद में नियोग (अपूर्व) द्वारा है।। इतना भेद है।।

आज्ञादिभेदेऽप्यनुवर्त्तमाने
प्रवत्त्यभावस्य विरोधिमात्रे।।
लिङादिशब्दस्य स वेत्ति शक्तिं
प्रवर्त्तकाख्याविषयत्वयोग्ये।।१३६।।

अन्वयः—स आज्ञादिभेदेषु अनुवर्त्तमाने प्रवर्त्तकाख्याविषयत्वयोग्ये प्रवृत्त्यभावस्य विरोधिमात्रे लिङादि शब्दस्य शक्तिं वेत्ति।।

अन्वयार्थः— बालक आज्ञादिपदार्थों अनुस्यूत प्रवर्त्तक शब्द वाच्य, प्रवृत्यभाव विरोधी पदार्थ में लिङादि शब्दों की शक्ति जान लेता है।

आज्ञादीति। उत्कृष्टस्य पुरुषस्य निकृष्टपुरुषप्रेरणा आज्ञा, आदिपदेन याञ्चा निकृष्टस्य उत्कृष्टप्रेरणा। समस्य समप्रेरणानुज्ञा च गृह्येते। प्रवर्त्तकशब्दाभिधेयत्वयोग्ये प्रवृत्त्यभावस्य विरोधिमात्रे प्रवर्त्तकत्वसामान्ये। एवं च गोत्वादिसामान्यशक्ताद्गवादिपदात्तद्व्यक्तिरिव लिङादिपदादभिहितप्रवर्त्तकसामान्यापर्यसानादाज्ञादयो नियोगश्च सिध्यतीति भावः।।१३६।।

आज्ञादीति।— उत्तम वृद्ध मध्यमवृद्ध को प्रेरणा देता है वही आज्ञा है। आदि पद से याचना आदि ग्रहण करना। इसमें निकृष्ट वृद्ध को उत्तम वृद्ध के प्रति आज्ञा पालन है। दोनों वृद्ध समसमान ही तो उसे अनुज्ञा कहते हैं। उत्तम वृद्ध के द्वारा प्रवर्तक शब्द के उच्चारण के साथ "प्रवृत्त्यभावस्य विरोधिकार्ये" प्रवृत्त्यभाव की विरोधिता तो उत्तम वृद्ध के वाक्य में आ जाती है। लेकिन वेद में पुरुष न होने के कारण प्रवृत्त्यभाव विरोधिता ही लिङर्थ में (अपूर्व में) माननी पडती है।

अन्ये त्वस्ति लोकेऽपि नियोगः स च सोपाधिको, वेदे तु स स्वतन्त्र एव

तत्रोभयानुगतनियोगत्वसामान्ये लिङादिसङ्गतिग्रह इत्याहुः, तन्मतमाह—

शंका— कुछ विद्वान् यह कहते है कि लोक में भी नियोग है। बाकी वह सोपाधिक है और वेद में यही नियोग स्वतन्त्र अर्थात् निरुपाधिक है। अब दोनों नियोगो का अनुगत रूप से संग्रह हो जाय इसलिये कहते हैं—

अन्ये वदन्ति निरुपाधिनियोगरूपं
वेदे भवत्यपुरुषप्रभवे स्वतन्त्रम्।
लोके पुनः पुरुषधीरचितेषु कार्यं
सोपाधिकं तदिति कारणतो वचःसु।।१३७।।

अन्वयः=अन्ये वेदे नियोगरूपं निरूपाधिः, अपुरुषप्रभवे स्वतन्त्रं भवति। लोके पुनः पुरुष धीरचितेषु वचःसु तत् कारणतः सोपाधिकमिति वदन्ति।।

अन्वयार्थः= अन्य आचार्य वेद में नियोग निरूपाधिक है, पुरुष जन्य न होने के कारण स्वतन्त्र है। और यही नियोग पुरुष बुद्धि रचित वाक्यों में वह कारण होने से सोपाधिक है ऐसा कहते हैं।

अन्ये इति। वैदिकनियोगस्य निरुपाधित्वे युक्तिमाह। अपुरुषप्रभव इति। अपोरुषेय इत्यर्थः, अतस्तत्राज्ञाद्यसम्भवान्न नियोगस्तदुपाधिक इत्यर्थः। अत एव स्वतन्त्रम्। लोके तु वैपरीत्यमाह लोक इति। पुनः शब्दो विशेषद्योती। विशेषमेवाह। सोपाधिकमिति। वक्ष्यमाणोपाधियुक्तमिति। तत्कार्यं वदन्तीति सम्बन्धः। तदुपपादनाय कारणत इत्युक्तं। तदेव विवृण्वन्वचांसि विशिनष्टि पुरुषधीरचितेष्विति। पुरुषसम्बन्धाल्लौकिकवचसामित्यर्थः।।१३७।।

अन्ये= वैदिक नियोग निरूपाधिक है इसे युक्ति के साथ बता रहे हैं। अपुरुषप्रभव इति= वेद अपौरूषेय है। इसलिये वहां आज्ञादिक की संभावना नहीं होने से वैदिक नियोग निरूपाधिक है, सोपाधिक नहीं है। लोक में इसके विपरीत है लोक इति— पुनः= पुनः शब्द विशेषता बताता है। क्या विशेषता? सोपाधिक इति— पुरुष उपाधि से आज्ञादि युक्त होने से लौकिक नियोग सोपाधिक है। किन्तु लौकिक वाक्य पौरुषेय है। पुरूषधीरचितेषु= लौकिक नियोग लौकिक पुरुष निष्ठ रागादि आक्रान्त बुद्धि से आज्ञादि के द्वारा प्रयोज्य है। अर्थात् लौकिक नियोग पुरुष सम्बन्ध से लौकिक वचन द्वारा होता हे। वेद में इसके विपरीत है।

लोके कोऽयमुपाधिरिति जिज्ञासायामाह—

शंका— लौकिक नियोग में कौन सी उपाधि है ऐसी जिज्ञासा को शांत करने के

लिये कह रहे है–

आज्ञायाञ्चाद्युपाधिप्रणिपतिततवपुः साधनेहानुबद्धं
विज्ञातोपायभावं विषयमनुसरत् पौरुषेयीषु वाक्षु।।
वेदे कर्तृस्थरागाद्युपधिविरहितं कर्तुशून्ये ततोऽस्मि-
न्सर्वत्रैकस्वभावस्थिततवपुषि भवेल्लब्धशक्तिर्लिङादिः।।१३८।।

अन्वयः= पौरुषेयीषु वाक्षु (कार्यम) आज्ञायाञ्चाद्युपाधिप्रणिपतिततवपुः साधनेहानुबद्धम् विज्ञातोपायभावं विषयं अनुसरन् (भवति)। कतृशून्ये वेदे कर्तृरथरागाद्युपराधिरहितं (भवति)। ततः सर्वत्रैकस्वभावस्थिततवपुषि अस्मिन् लिङादिः लब्धशक्तिः भवति।।

अन्वयार्थः= पौरुषेय शब्दों में नियोग आज्ञादि उपाधियों से व्यंग्य है, साधनेहा (करने की इच्छा चिकीर्षा) से विशिष्ट तथा ज्ञात है उपायभाव (इष्ट साधनता) जिसमें ऐसे धात्वर्थ रूप विषय का अनुसरण करने वाला होता है। कर्तृशून्य (अपौरुषेय) वेद तो कर्तृगत रागादि उपाधियों से रहित होता है। अतः सर्वत्र एक नियोगकत्व रूप में स्थित इस कार्य में लिङादि का शक्ति ग्रह हो जाता है।।

आज्ञायाञ्चादीति। माणवकादिर्ह्युपाध्यायाद्याज्ञादिनैव गवानयनादौ प्रवर्तते, तथा चाज्ञादिरूपो य उपाधिर्निमित्तं तस्मिन्प्रणिपतितं तेन सम्बद्धं वपुर्यस्याः फलसाधनेहायाः साऽनुबन्धो यस्य तत्, अथ वा वपुस्तं साधनेहानुबद्धत्वं च पृथगेव विशेषणम्। तस्य वैदिककार्याद्वैलक्षण्यान्तरमप्याह विज्ञातोपायभावमिति। नियोगप्रतीतेः प्रागेव यस्य हितोपायत्वमवगतं तं विषयं धात्वर्थमनुसरद्धात्वर्थो यत्फलसाधनत्वेन प्रागवगतस्तदनुसरस्तदनुकूलं, न तु धात्वर्थस्य तदधीनं फलसाधनत्वमित्यर्थः। कार्यमिति पूर्वश्लोकादनुषञ्जनीयम्, भवतीति च शेषः। पौरुषेयीषु वाक्षु आज्ञायाञ्चेत्यादेः सम्बन्धः। वेदे निरुपाधिनियोग रूपमित्युक्तमुपपादयति। कर्तृस्थरागादीति। वेदे कर्तृराज्ञाद्युपाधिरहितमित्यर्थः। कुत इत्यत आहः। कर्त्तृशून्य इति। अपोरुषेये वेदे कर्तुरभावातदाज्ञादिकमपि नास्ति यस्मात्तत्र तन्निरुपाधिकमित्यर्थः। नन्वेवं लोकवेदयोर्नियोगवैलक्षण्ये कथं लिङाद्यर्थत्वं तत्राह ततोऽस्मिन्सर्वत्रेति। लोकवेदयोरेकस्वभावतया नियोगत्वरूपेण स्थितवपुषि तस्मिन्नियोगे नियोगत्वं इति यावत्। लिङादिर्लब्धशक्तिर्भवेदिति तदैकार्थ्यं युक्तमेवेति भावः।।१३८।।

आज्ञायात्र्चादीति= मध्यमवृद्ध, या बालकादि उपाध्याय अथवा उत्तम वृद्ध के आज्ञा का परिपालन करता हुवा "गवानयनादिक" में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार आज्ञादिरूप जो उपाधि उसके निमित्त से इस आज्ञा के सम्बन्ध से सम्बन्धित। प्रणिपतिततवपुः= जिसका अर्थात् फल साधनेच्छा यही अनुबन्ध है इस आज्ञा का, अर्थात् मुझे इस आज्ञा का परिपालन

अपने भलाई के लिये करना चाहिये यही अनुबन्ध है अथवा– वपुः- फल तथा, साधनेहानुबद्धत्वञ्च= साधन दोनों अलग अलग है। इसी प्रकार वैदिक कार्य से और लौकिक नियोग में विलक्षणता है– विज्ञातोपायभावमिति= नियोग। प्रतीति के पहिले ही अपने हित का उपाय जान लिया है- उस उपाय को विषय को धात्वर्थ के द्वारा स्मरण करके प्रवृत्त होता है जैसे गामानय उपाय आनयनादि धात्वर्थ के द्वारा जान लेता है, अथवा यह समझे कि धात्वर्थ बधान नय आदि गां नय, आनय आदि। फल रूप के साधन के रूप में पहिले ही स्मरण है बाद में प्रवृत्ति होती है अर्थात् फल के साधनीभूत धात्वर्थ का स्मरण करते हुये प्रवृत्ति होती है। न कि धात्वर्थ की कार्यार्थमिति- फलसाधन के रूप में प्रतीति होती है। कार्यमिति= पूर्व श्लोक से उद्धृत कर लेना। पौरुषेयी वाक्षु= अर्थात् पौरुषेय वाक्यों में आज्ञादि उपाधि है यह बात सिद्ध हुई।

वेदे में निरूपाधिक नियोग है यह बता रहे है–

कर्तृस्थ राग– वेद में कर्ता का राग आदि सबका अभाव है। क्योंकि वेद का कोई कर्ता ही नहीं है। कर्तृशून्य इति= वेद अपौरुषेय होने के कारण कर्तृगत रागादिक का अपने आप अभाव ही है। इसलिये वैदिक नियोग निरुपाधिक है। प्रश्न– लौकिक वैदिक दोनों नियोग भिन्न भिन्न हैं। फिर वह नियोग लिङाद्यर्थपरक है यह कैसे?

ततोऽस्मिन् सर्वत्रेति– लोक और वेद दोनों ही नियोगत्व रूप से एक स्वभाव वाले होने के कारण। लिङादि से दोनों नियोग लब्धशक्तिक है। यह भाव है।

अभिनवगुरुमतमाह–

शंका– अभिनव गुरूमत का उल्लेख कर रहें हैं। प्रभाकर के आधुनिक अनुयायी का मत।

अन्ये भिन्नस्वभावं विविधमभिदधत्यानुरूप्येण कार्यं
लोके धात्वर्थरूपं श्रुतिवचसि पुनस्तन्नियोगाख्यमेव।।
संमुग्धे तत्र शक्तिं शिशुरयमवगम्यादितो न्यायचक्षुः
पश्चाद्वेदैकवेद्यं वदति लिङिति च प्रेक्षते निश्चयेन।।१३६।।

अन्वयः= अन्ये आनुरूप्येण भिन्नस्वभावं विविधं कार्यं अभिदधति। लोके धात्वर्धरूपं श्रुतिवचसि पुनः तत् नियोगाख्यमेव। तत्र अयं शिशुः आदितः संमुग्धे शक्तिमवगम्य पश्चात् च न्यायचक्षुः (सन्) लिङ् वेदैकवेद्यं वदतीति निश्चयेन प्रेक्षते।।

अन्वयार्थः= अन्य आचार्य अभिनव गुरुमत यथा योग्य का भिन्न स्वभाव के द्विविधकार्य कहते हैं। लोक में वह कार्य धात्वर्थ रूप है और श्रुति वाक्यों में वह नियोग पद वाच्य होता है। लोक में यह बालक प्रथमतः सम्मुग्ध (अस्पष्ट रूप से) कार्य में शक्ति ग्रहण करता है। बाद में शक्ति ग्रह में निपुण होने पर वह वैदिक लिङ् एकमात्र वेद से बोध्य अर्थ को कहता है। ऐसा निश्चय कर लेता है।।

अन्य इति। विविधमित्यस्य विवरणं भिन्नस्वभावमिति। आनुरूप्येण योग्यतामहिम्ना। वैविध्यमेवाह। लोक इति। सम्मुग्धे धात्वर्थे नियोगस्वरूपेणाविवक्षितविशेषे। तत्र- कार्यमात्रे। आदितः- प्रथमतः। न्यायचक्षुः- वक्ष्यमाणन्यायज्ञः।।१३६।।

अन्ये= अभिनव गुरुमत यह है कि लोक में तथा वेद में कार्य विभिन्न प्रकार का मानना चाहिये, लोक में धात्वर्थ रूप माना जाय तथा वेद में नियोग रूप (अपूर्वरूप) माना जाय। समुग्धे- नियोग रूप से स्वीकार न किये जाने पर शब्द बोध कैसा होगा। आदिताः- प्रथम आवापोद्वाप इत्यादि व्यवहार को देखकर धात्वर्थ रूप, तत्र कार्यमात्र में शक्ति का ग्रहण वह बालक कर लेता है। और वेद में तो नियोग रूप है ही-

तमेव न्यायं दर्शयति—

अब इस न्याय को बता रहे हैं अर्थात् नियोग को सिद्ध कर रहे हैं।

धात्वर्थाख्यानशक्तो यदि भवति गुणाद्वर्त्तितुं वैदिकेऽयं
सम्बन्धाज्ञानहेतोरनलमथ पुनर्वैदिके शक्तिमान्स्यात्।।
तत्सम्बन्धात्क्रियामप्यभिवदितुमलं लक्षणावृत्तितोऽयं लि-
ङ्शब्दस्तेन कार्ये श्रुतिवचनगते शक्त इत्यध्यवस्येत्।।१४०।।

अन्वयः= यदि अयं धात्वर्थाख्यानशक्तो भवति (तदा) सम्बन्धाज्ञानहेतोः वैदिके गुणाद् वर्तितुं नालम्। अथ पुनः वैदिके शक्तिमान् स्यात् (तदा) तत्सम्बन्धात् लक्षणवृत्तितः क्रियाम् अभिवदितुं अलम्। तेन अयं लिङ् शब्दः श्रुतिवचनगते शक्तं इत्यध्यवसेत्।।

अन्वयार्थः= यदि यह लिङ् यागादि रूप धात्वर्थ को ही मुख्यवृत्ति से कहेगा तब सम्बन्ध ज्ञान न होने के कारण वैदिक नियोग में गौणी वृत्ति से प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। यदि वैदिक (नियोग) में शक्त माना जाय (तब) उसके सम्बन्ध से लक्षणा वृत्ति का सहारा लेकर (लौकिक) क्रिया को कहने में समर्थ हो जाता है। अतः यह लिङ् शब्द वैदिक नियोग में ही मुख्य रूप से शक्त है ऐसा निश्चय बालक कर लेगा।।

धात्वर्थेति। लोके हि प्रवर्त्तकवाक्यात्कार्ये प्रथमं लिङादेःसङ्गतिग्रहः, कार्ये च लोकवेदयोर्विलक्षणम्, न च लिङादेरनेकार्थत्वं न्याय्यम्, न च कार्यत्वसामान्यं लिङर्थ इति

नोक्तदोषस्तदपर्यवसानाच्च कार्यप्रतीतिर्गवादिपदाद्गवादेरिवोभयत्रापि भविष्यतीति वाच्यम्। वैदिकस्यापि कार्यस्य गवादिव्यक्तेरिवाशब्दार्थत्वापत्तेर्मानान्तरेणाभिधेयसामान्यसम्बन्धितयाऽवगतस्यैव गवादेरिवापर्यवसानलभ्यत्वाच्च, तस्मादेकत्र लिङ् लाक्षणिक इति कुत्र लक्षणा कुत्र शक्तिरिति विचारणीयम्, यदि धात्वर्थे लिङादिपदं शक्तं तदा गुणाल्लक्षणया वैदिकं कार्येऽयं लिङादिर्वर्तितुमनलमसमर्थः। कुतः सम्बन्धाज्ञानहेतोः। वाच्यार्थसम्बन्धितया मानान्तरावगते तीरादौ गङ्गादिपदस्य लक्षणा दृष्टा, न च धात्वर्थसम्बन्धितया वैदिकं कार्यं मानान्तरेणावगतम्, अपूर्वरूपस्य तस्य तदयोग्यत्वात्, अतः सम्बन्धाज्ञानात्तस्मिन्न लिङादिपदस्य लक्षणेत्यर्थः। अथ यदि शक्तिमान्स्यादयमित्यनुषङ्गः। तत्सम्बन्धान्मुख्यार्थनियोगसम्बन्धात्। क्रिया-धात्वर्थम्। यदि लिङादिना वैदिकं कार्यमभिधीयते तदा विषयभूतधात्वर्थसम्बन्धितयैव लिङादि-नाऽभिधानाद्वाच्यार्थ सम्बन्धितया ज्ञाते धात्वर्थे लक्षणा युक्ता। यद्यपि लौकिकी क्रिया न तत्सम्बन्धितयाऽवगता, तथापि तत्सम्बन्धिधात्वर्थजातीयेति तत्रैव लक्षणा। वैदिककार्ये तु लोके सङ्गतिग्रहणकालेऽनवगतेऽपि कामिनियोज्यसमभिव्याहारादवगते शक्तिरेवोचितेत्याशयेनाह तेनेति।।१४०।।

धात्वर्थेति= लोक में प्रवर्तक वाक्य से "गामानय" इत्यादि वाक्य से प्रथम लिङ् से संगतिग्रह होता है, वैदिक कार्य अलग है तथा लौकिक अलग है लिङ् के अनेकार्थ तो नहीं कर सकते क्योंकि वह न्यायसंगत तर्कसंगत नहीं है।

शंका– लिङ् का अर्थ कार्यत्वसामान्यपरक करें तो लोक और वेद दोनों जगह अलग अलग कार्य मानना नहीं पडेगा। क्योंकि जैसे लोक में गौ पद से कार्यप्रतीति होती है वैसे प्रतीति वेद में भी हो सकती है। तो क्या दोष है? जैसे गवादि अवपर्यवसान् लभ्य है इसी प्रकार कार्य भी अवपर्यवसान् लभ्य होने से उसमें शक्ति ग्रह नहीं माना जायेगा।

वैदिक कार्य भी गवादि पद के द्वारा बोधित हो जाने से भी शाब्दिक हो जायेगा। क्योंकि चक्षुरादि प्रमाणान्तर से प्राप्त जो अभिधेय सामान्य गोत्वादि है उसके सम्बन्धी वह कार्य हो जायेगा। तो अवगत ही कार्य होगा, वैसे वेद में यह सम्भव नहीं है। अतः लिङ् का अर्थ कार्यत्व सामान्य परक नहीं ले सकते। इसलिये अब, यह कहना पडेगा कि एक जगह लिङ् लाक्षणिक है तो वहाँ लक्षणा करनी पडेगी दूसरी जगह वही लिङ् शक्तिपरक है ऐसा विभाजन करना पडेगा। अर्थात् जहां धात्वर्थ में लिङादिपद शक्त हो तब तो गौणी भाव से अथवा लक्षणा भाव से वेद में कार्यपरक लिङादि हो नहीं सकते। क्यों? सम्बन्धाज्ञानहेतोः– वाच्यार्थसम्बन्धितया प्रमाणान्तरसे गृहीत तीरादिपदार्थ में ही गंगादि पद की

लक्षणा होती है। न कि धात्वर्थ सम्बन्धि में लक्षणा होती है। और वैदिक कार्य प्रमाणान्तर से गृहीत भी नहीं है। क्योंकि वैदिक कार्य तो "अपूर्वरूप" ही है– उसकी तो अभी तक किसी भी इन्द्रिय के द्वारा विषयता सिद्ध नहीं हुई तो फिर वह अपूर्व किस प्रमाणान्तर का गोचर बनेगा, अर्थात् नहीं बनेगा। इसलिये सम्बन्ध का ज्ञान होने से कार्य में लिङादि पद की लक्षणा नहीं हो सकती। यदि कार्य में लिङ् की शक्ति मानें तो इसका अनुषङ्ग कर लेना। तत्सम्बन्धात्–मुख्यार्थ नियोग सम्बन्ध होने से। क्रियांधात्वर्थ रूप है। यदि लिङ् से वैदिक कार्य का भी निर्वाह हो जाता है। तब धात्वर्थ का विषयभूत पदार्थ सम्बन्धी लिङ् होकर कार्य का अभिधान करेगा तब तो वाच्यार्थ सम्बन्धि रूप से ज्ञात धात्वर्थ में लिङ् की लक्षणा करनी है। यद्यपि लौकिक क्रिया वाच्यार्थ सम्बन्धितया अवगत नहीं है तथापि वाच्यार्थ सम्बन्धी धात्वर्थ जातीय वाच्यार्थ सम्बन्धी में लक्षणा युक्त है।

वैदिक कार्य में तथा लौकिक कार्य में संगतिग्रहण काल में शक्ति का ग्रहण कार्यरूप अर्थ में लिङादि का नहीं हो पाता तथापि "कामिनियोग्यसमभिव्याहारात्" प्रेयसी द्वारा प्रेरित्त होकर जैसे चलना है वैसे कार्य में लिङादिक की शक्ति मानना ही उचित है। जिससे वेद का प्रामाण्य अक्षुण्ण रहे।।

ननु लिङादिपदसमभिव्याहारमन्तरेणापि प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्यादौ प्रसिद्धपदसमभिव्याहारेण मधुकरादिपदानां शक्तिर्गृह्यते तत्र कुतः सर्वपदानां कार्यान्विते शक्तिरित्यत आह–

शंका– लिङादिपद का समाभिव्याहार न होने पर भी "प्रभिन्नकमलोदरे मधुनि मधुकरः पिबति" इत्यादि स्थलो में– खिले हुय कमलों के उदर में स्थित पुष्परस भौंरा पी रहा है।" तो यहां कहां है सभी पदों की कार्यान्वित में शक्ति? अन्य पदों के समभिव्याहर से मधुकर पद भ्रमर अर्थ में शक्त है, इसका ज्ञान हुवा। न कि कार्यान्वितता की आवश्यकता पडी, तो यह नियम कैसे कि सभी पद कार्यान्वित में शक्त है? उत्तर=

एवं शद्धान्तराणां नयनिपुणमतिः शक्तिवित्स क्रमेण
प्रक्षेपोद्धारदर्शी भवति कतिपयैर्वासरैस्तत्र तत्र।।
तस्मात्कार्यान्वितार्थे सकलमपि पदं शक्तिमद्बुध्यमानो
भूतोद्यर्थप्रतीतिं प्रति विमुखमनाश्शास्त्रतस्स्यान्मनुष्यः।।१४१।।

अन्वयः=एवं क्रमेण नयनिपुणमतिः तत्र तत्र शब्दान्तराणां प्रक्षेपोद्धारदर्शी सन् कतिपयैः वासरैः शक्तिवित् भवति। तस्मात् सकलमपि पदं कार्यान्वितार्थे शक्तिमत् बुध्यमानो मनुष्यः शास्त्रतः भूताद्यर्थप्रतीतिं प्रति विमुखमनाः

स्यात।।१४१।।

अन्वयार्थः= इस पूर्वकथित प्रकार से शक्ति ग्रहण नीति में निपुण व्यक्ति विभिन्न व्यवहारों में अन्यान्य शब्दों का प्रक्षेप (निवेश) तथा उध्दार (परित्याग) देख देख पर कतिपय दिनों में शक्ति (शब्द सामथ्यी) का ज्ञाता हो जाता है। इसलिए सकल पदों की कार्यान्वित अर्थ में शक्ति निष्चित करके मनुष्य शास्त्र से सिद्धार्थ प्रतीति के प्रति विमुख हो जायेगा।

एवमिति। शब्दान्तराणां भ्रमरादिशब्दानां शक्तिविद्भवतीति सम्बन्धः। स व्युत्पित्सुः। तत्रापि हि प्रवर्त्तकवाक्यात्कार्यान्विते गृहीतसङ्गतिकपदप्रयोगादेव भ्रमरादिपदानां शक्तिग्रह इत्युपजीव्यकार्यव्युत्पत्त्यनुरोधेनाध्याहृतकार्यान्वित एव तदर्थ इति जानातीति नास्ति क्वचिद्व्यभिचार इत्यर्थः। तदिदमुक्तं नयनिपुणेति। प्रक्षेपोद्धारदर्शी। भ्रमरादिपदप्रयोगस्य तत्र तदितरपदाप्रयोगस्य च दर्शीत्यर्थः। तत्र तत्र। कार्यान्वित इति शेषः। फलितमाह। तस्मादिति। भूताद्यर्थेति। भूतमतीतमादिपदाद्वर्तमानभविष्यतोर्ग्रहणम्। शास्त्रतो भूताद्यर्थप्रतीतिं सम्बन्धः।।१४१।।

एवमिति= शब्दान्तराणां= भ्रमर द्विरेफ, आदि शब्दों का भौंरा ही (भ्रमर) अर्थ है। स इति लिङ् बोध का जिज्ञासु व्यक्ति। इसमें भी वह व्यक्ति प्रवर्तक वाक्य को कार्यान्वित में संगति ग्रह है ऐसे पद प्रयोग से भ्रमरादि पदों का कार्यान्वित भावों में शक्ति ग्रह है, यह जानने वाला व्यक्ति इस प्रयोग में भी लिङादि प्रयोज्य हुई कार्य व्युत्पत्ति उसके अनुरोध से उसका अध्याहार करके कार्यान्वित में भ्रमरादिपदों की शक्ति है, ऐसा वह जानता है। इसलिये कोई व्यभिचार नहीं है। इसलिये कहा कि– प्रकृत स्थल में प्राथमिक शक्ति ग्रह के अनुरोध से कार्य का आक्षेप करके भ्रमर पदका भी शक्ति ग्रह स्वीकार करेंगे। विकसित कमल के मध्य में भंवरा रस पान कर रहा है इसे देखो (उपजिव्य इत्यादि) नयनिपुणेति– प्रक्षेपोद्धारदर्शी= अर्थात् भ्रमरादि पदों का प्रयोग तथा तदितर पदों का अप्रयोग इसको देखने वाला प्रत्यक्षदर्शी, व्युत्पत्सु बालक, तत्र तत्र= कार्यान्वित में ही शक्ति है ऐसा जान जाता है। फलितार्थ बताते हैं तस्मादिति भूताद्यर्थेति= भूतकाल से वर्तमान, भविष्यादि तीनों काल का संग्रह अभीष्ट है। शास्त्र से भूताद्यर्थ की प्रतीति नहीं होती है, यह बात है।

तो सभी पदों की कार्यान्वितार्थ में शक्ति है, यह बात सिद्ध हुई।।

विमुखमनाश्शास्त्रतस्स्यान्मनुष्याः– कार्यप्रतीति के प्रति मनुष्य उन्मुख (हताश) हो जायेगा क्योंकि कार्य अलौकिक होने के कारण वह भूत भविष्य वर्तमानादि से बहिर्भूत है। अतः केवल शास्त्र के भरोसे अतीताद्यर्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी। तो सभी पदों की कार्यान्वितार्थ में शक्ति है, यह बात निष्चित हुई।

ननु न प्रवर्तकवाक्याधीनः प्राथमिकसङ्गतिग्रहो येनैवं स्याकिंतु पुत्रस्ते जात इत्यादि-वाक्यादेरपि प्रथमं सङ्गतिसम्वेदनं स्यात्तच्छ्रवणानन्तरं पितुर्मुखप्रसादादिलिङ्गेन पार्श्वस्थश्रोतरि तद्वाक्यार्थ- ज्ञानोन्नयनसम्भवात्तत्र वाक्यस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वावगमसंभवाच्चान्वित एव पदानां शक्तिरस्तु, नापि योग्यतादिमहिम्नान्वित गृहीतसम्बन्धानां कार्यैदमर्थ्यमिति तत्राह—

शंका— प्रवर्तक वाक्य के अधीन प्राथमिक संगतिग्रह होकर प्रवर्तक वाक्य के अन्दर शब्दबोध जनकत्व मानने की जरूरत नहीं है। क्योंकि "पुत्रस्ते जातः" इत्यादि वाक्य के द्वारा भी प्रारम्भिक संगतिज्ञान संभव हो सकेगा क्योंकि इस वाक्य के श्रवण के बाद पिता का मुख प्रसन्न हो जाता है, तो बगल में बैठकर इस वाक्य को सुनने वाले को वाक्यार्थज्ञान की प्राप्ति संभव हो जाती है। तो इस प्रकार के वाक्यार्थ बोध के प्रति पुत्रस्ते जातः= इसके अन्वय व्यतिरेक से वाक्यार्थ बोध का अन्वय और व्यतिरेक हो जाता है इसलिये अन्वित में ही पदों की शक्ति मानी जाय। न कि योग्यता, आकाङ्क्षादि के महिमा से युक्त गृहीत सम्बन्ध कार्यपरक पदों की शक्ति मानी जाय।

वाक्याद्भूतार्थनिष्ठाद्भवति न तु नृणां शब्दशक्तिप्रतीति
लिङ्गं श्रोतृस्थबुद्धेर्न हि किमपि भवेदत्र बालोपलभ्यम्।।
न ह्येतत्पुत्रजन्माद्यवगतिनियतं नित्यवन्निश्चितं नो
यद्वक्त्रादिप्रसादक्षितितललुठनादीक्ष्यते श्रोतृदेहे।।१४२।।

अन्वयः= भूतार्थ निष्ठात् वाक्यात् नृणां शब्दशक्तिप्रतीतिरस्तु न भवति। अत्रहि श्रोतृस्थ बुद्धेः किमपि बालोपलभ्यं लिङ्गं न भवेत्। यत् श्रोतृ देहे वक्त्रादि प्रसादक्षितितललुठनादि ईक्ष्यते। तत् पुत्र जन्माद्यवगतिनियतं नित्यवत् नो निश्चित् न हि।।

अन्वयार्थः= (पुत्रस्ते जातः पुत्रस्ते मृतः) सिद्धार्थपरक वाक्यों से मनुष्यों में शब्द शक्ति प्रतीत नहीं होती। क्योंकि वहां श्रोतागत ज्ञान का (अनुमापक) कोई लिङ्ग बालक को उपलब्ध नहीं होता। श्रोता की देह में जो मुख विकास या पृथिवी पर लेटना ऐसे हर्षशोक के चिह्न देखे जाते हैं। यह पुत्र जन्मादि ज्ञान से अव्यभिचरित रूप से नियत रूप में है नहीं।

वाक्यादिति। भूतार्थनिष्ठाद्वाक्यान्नृणां शब्दशक्तिप्रतीतिर्नैव सम्भवति, कुतो नियतलिङ्गाभावेन तदर्थज्ञानानुमानासम्भवादित्याह लिङ्गमिति। अत्र- श्रोतरि लोके वा। ननूक्तं पितुर्मुखप्रसादादि लिङ्गमिति। तत्राह न ह्येतदिति। एतच्छब्दार्थमाह यद्वक्त्रादीति। क्षितितललुठनादि शोककार्यं तच्च पुत्रस्ते मृत इत्यादिवाक्यार्थज्ञाने लिङ्गमितिवदन्तं प्रत्युक्तम्। मुखप्रसादादेर्भार्यासुखप्रसवधनप्राप्तितद्वियोगादिज्ञानादपि सम्भवेन पुत्रजन्माद्यवगतिनैयत्याभावेन

ततस्तदनु-मानासम्भवान्न सिद्धान्वितः शब्दार्थ इति भावः।।१४२।।

वाक्यादिति— भूतार्थ निष्ठ वाक्यों के द्वारा शब्द शक्ति का ज्ञान सम्भव नहीं है। क्योंकि कोई निष्चित हेतु तो है नहीं। कभी मुख पर हँसी, कभी नहीं, कभी गंभीरता आदि विभिन्न हेतु है। एक हेतु तो है नहीं। इस लिये वाक्यार्थज्ञान होना मनुष्य को सम्भव नहीं है। इसलिये कहा लिङ्गमिति=अत्र= श्रोता के अथवा लोक में, समीपस्थ बालक जिसने इस वाक्य का श्रवण किया है उसके उपयोगी एक भी ऐसा नियत लिङ्ग (हेतु) नहीं है।

शंका— पिता का मुख प्रसादादिक ही हेतु मानें तो? न ह्येतदिति= इसी शब्द के अर्थ को स्पष्ट कर रहे हैं— यद्वक्त्रादीति= कभी हँसना, कभी शोक के मारे जमीन पर लेटना यह केवल पुत्र जन्म के निमित्त अथवा पुत्र वियोग के निमित्त ही नहीं हो सकता। पत्नी सुख पूर्वक प्रसूता हुई, अथवा धन प्राप्ति में मुख की प्रसन्नता होगी। इसी प्रकार पत्नी सुखपूर्वक प्रसूता नहीं हुई धन लूट गया आदि के कारण जमीन पर लेटना आदि हो सकता है। इसलिये पुत्र जन्म तथा पिता के हँसमुख का आपस में कोई व्याप्य व्यापक भाव रूप व्याप्ति नहीं होने से तद्विषयक अनुमान भी संभव न होने से सिद्धान्वित शब्दार्थ ज्ञान नहीं है किन्तु कार्यान्वित शब्दार्थ है, यह बात सिद्ध हुई। केवल अन्वित से काम नहीं चलेगा किन्तु योग्यतादि से युक्त कार्यान्वित में ही शब्द शक्ति माननी पडेगी।

तस्माल्लोके सर्वपदानां कार्यान्वित एव सङ्गतिग्रह इति वेदेऽपि तेषां स एवार्थो न्याय्यो लोकवेदयोः पदतदर्थभेदाभावात्, एवं च वेदान्तानामपि कार्यान्विते ब्रह्मण्येव प्रामाण्यं वक्तव्यमिति न कार्यशून्ये स्वप्रधाने परब्रह्मणि कथमपि प्रामाण्यं सम्भवतीत्याह। तस्मादिति—

शंका— इसलिये लोक में सभी पदों की कार्यान्वित में ही शक्ति है (संगतिग्रह है) इसलिये वेद में भी यही प्रणाली अपनानी पडेगी। क्योंकि लोक और वेद में पद और उसका अर्थ दोनों एक प्रकार के ही है। इस प्रकार वेदान्त की भी कार्यान्वित ब्रह्म में ही प्रामाण्यता है ऐसा बोलना चाहिये, न कि कार्य शून्य स्वप्रधान भूत पर ब्रह्म में किसी प्रकार वेदान्त की प्रामाण्यता सिद्ध होगी। इसलिये—

तस्मादाध्वं निराशाः श्रुतिशिरसि न तस्यास्ति निष्पन्नरूपे
प्रामाण्यं कार्यशून्ये कथमपि च परब्रह्मणि स्वप्रधाने।।
भूतं भव्यप्रधानं भवति हि न पुनः स्वप्रधानं कदाचि-
च्छास्त्रस्थाः शब्दशक्तिस्थितिनिपुणधियो विस्तरादेवमाहुः।।१४३।।

अन्वयः=तस्मात् श्रुतिशिरसि निराशाः आध्वम् (तिष्टत) तस्य निष्पन्न रूपे कार्य शून्ये स्वप्रधाने पर ब्रह्मणि कथमपि प्रामाण्य नास्ति। "भूतं हि भव्य प्रधानं भवति" न पुनः कदाचित् स्वप्रधानं भवति, एवं शास्त्रस्थाः शब्दशक्तिस्थिति निपुणधियो विस्तराद् आहुः।।

अन्वयार्थ= अब वेदान्त वाक्यों से निराश होकर बैठियेगा (क्योंकि) वेदान्त सिद्ध रूप कार्य अनन्वित स्वप्रधान पर बोध में कदापि प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता। सिद्ध पदार्थ हमेशा साध्य का अङ्ग रहा करता है। स्वयं प्रधान कदापि नहीं होता, ऐसा शब्द शक्ति ग्रहण में निपुण आचार्यो ने विस्तार से कहा है।।

श्रुतिशिरसि निराशा आध्वं भवतेति सम्बन्धः। किं च तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः, भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यत इति जैमिनिशबरस्वाभिनोर्मतं, तौ च वेदार्थनिर्णयेऽधिकृताविति तदुक्तमेव ग्रहीतुमुचितमित्यमिप्रेत्याह भूतमिति। सिद्धमित्यर्थः। भव्यं साध्यं प्रधानं यस्य भव्यशेषमित्यर्थः। स्वप्रधानं- भव्यानन्वयि सच्छास्त्राप्रतिपाद्यमित्यर्थः। शास्त्रस्था जैमिन्यादय एवमाहुः। एवमित्येतद्विवृतं भूतं भव्येत्यादिना। शब्दशक्तीति। वैदिकशब्दशक्तिव्यवस्थायां निपुणधियोऽबाधितमतय इति यावत्।।१४३।।

तस्मादाध्वं= इसलिये वेदान्ती जी महाराज आपके हाथ में निराशाः- निराशा ही लगेगी। इसी प्रकार से भूतार्थ (सिद्धार्थ) साध्य के साथ समन्वित है। भूतभव्य का जहां एक साथ प्रयोग होता हैं। वहां जैसे जैमिनीजी ने तथा शबरस्वामी ने कहा है। भूतं भव्याय उपदिश्यते "सिद्धार्थ (भूत) भव्य के लिये साध्य के लिये साध्य के लिये ऐसा शबर स्वामी ने तथा जैमिनी ने कहा है। इस प्रकार इन दोनों आचार्यो ने वेदार्थ का निर्णय किया है।" इसलिये यही स्वीकृत करना उचित है। भूतमिति– सिद्धमित्यर्थः। सिद्ध वस्तु। भव्य का अर्थ साध्य, वहीं है प्रधान जिसका "भव्यप्रधान" ऐसा ही मानना उचित है। न कि "न पुनः स्वप्रधानं कदाचित्= स्वप्रधान जो ब्रह्म जो कि भव्य से मतलब नहीं रखता। उसका निरूपण शास्त्र भी नहीं कर सकता न वेदान्त उसमें प्रमाण भी हो सकता है। जैसे जैमिनी शबर स्वामी आदि कहते हैं। इस प्रकार यह "भूतं भव्येत्यादिना शब्दशक्तीति– वैदिक शब्द शक्ति व्यवस्था में भी यही शबर स्वामी आचार्य जैमिनीजी इन निपुणबुद्धिमानों का सिद्धान्त अपनाना पडेगा। अर्थात् "भूतं न भूताय किन्तु भव्याय कल्पते" यह बात निश्चित हुई

एवं वर्णितन्यायबलाज्जैमिन्यादिवचनबलाच्च कार्यान्विते श्रुतितात्पर्यमित्यद्वयस्व-प्रधानस्य ब्रह्मणो वाक्यप्रमाणकत्वं भवदुक्तमसङ्गतमिति पूर्वपक्षमुपसंहरति–

इस प्रकार "भूतं भव्याय कल्पते" इस न्याय के अनुसार एवं शबर स्वामी जैमिनी इनके वचन के अनुसार भी (सामर्थ्य से भी) कार्यान्वित में ही श्रुतितात्पर्य हैं इसलिये अद्वय स्वप्रधान ब्रह्म में वाक्य प्रामाण्यता वेदान्त मतावलम्बीयों की अनुचित है इसी बात

का अब उपसंहार करते है।

तस्मादसंगतमिदं प्रतिभाति यन्मे
वाक्यप्रमाणकमुदीरितमद्वयत्वम्।।
इत्येवमेषा मम बुद्धिपथं विरोधः
प्राप्तः प्रभो परिहरैनमनुग्रहाय।।१४४।।

अन्वयः= तस्मात् मे इदं असङ्गतं पतिभाति, यत् अद्वयत्वं वाक्यप्रमाणकं उदीरितं, इत्येवं एष विरोधः ममबुद्धिपथं प्राप्तः प्रभो– अनुग्रहाय एनं परिहर।।१४४।।

अन्वयार्थ= इसलिये मुझे यह असंगत प्रतीत होता है जो कि यह अद्वयतत्व वाक्य प्रमाणक कहा गया है। इस प्रकार का विरोध मेरे वृद्धि में आ गया है। गुरूदेव मुझ पर कृपा करके इसका आप परिहार कीजियेगा।।१४४।।

तस्मादसङ्गतमिति। इदंशब्दार्थमाह। यद्वाक्यप्रमाणकमिति। एवंविधपूर्वपक्षकरणेन स्वस्मिन्गुरूणां व्युत्थितत्वभ्रममपनयन्प्रार्थयते। इत्येवमिति। इति- यत एवमुक्तप्रकारैर्विरोधो वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रमाण्यासम्भवो मम बुद्धिपथं प्राप्तोऽतो ममैव बुद्धिदोषादसङ्गतमिव भवदुक्तं वाक्यप्रमाणकमद्वयं प्रतिभाति, न तु भवताऽसङ्गतमुक्तमित्यर्थः। प्रभो इति तत्परिहारे गुरोरनायासं द्योतयति। एनं- विरोधम्।।१४४।।

तस्मादसंगतमिति– इसलिये मुझे यह जीव ब्रह्म की एकता आदि सब असंगत ही लग रहा है। इदं का अर्थ बताते हैं– वाक्य प्रमाणकमिति= अद्वय ब्रह्म में वेदान्त वाक्य प्रमाण है ये सब बातें मुझे असंगत ही लग रही है इत्येवमिति–इति जबकि मेरे बुद्धि में वेदान्त की अप्रमाणता, मेरे बुद्धि के दोष के कारण ही छा गई है। आपका वाक्य भी असङ्गत ही लगता है। लेकिन आपका वाक्य असंगत नहीं है। यह भी उतना ही सत्य है। आपने असङ्गत नहीं बोला। इसलिये प्रभो आप इसका परिहार अनायास ही करा सकेंगे, मुझे पूर्ण विश्वास है। परिहारैनम् अनुग्रहाय- मेरे ऊपर हे गुरु देव अनुग्रह कृपा करने के लिये इस असङ्गतीको हटा दीजिये। आपकी बडी कृपा होगी।

एवं प्रत्यगभिन्नेऽद्वये स्वप्रधाने ब्रह्मणि वेदान्तप्रमाण्याऽसम्भवे चोदिते, किं जीवब्रह्मणोस्तत्त्वं पदवाच्ययोरभेदो न सम्भवतीति चोदयसि, उत तदुभयलक्ष्ययोः, तत्राद्यमङ्गीकरोति।

सिद्धान्त= इस प्रकार प्रत्यगभिन्न अद्वय स्वभाव ब्रह्म में वेदान्त प्रामाण्य संभव न होने के कारण क्या जीवब्रह्म की अर्थात् तत् वाच्य का तथा त्वं के वाच्य का अभेद

संभव नहीं है यह कहते हो कि तत त्वं के दोनों के लक्ष्य का और अभेद संभव नहीं है इसमें पहिले पक्ष का अङ्गीकार करते हैं–

रात्यं यदाह गुरुमान् यदि वाक्यगम्यं
संसर्गरूपमिह वेदशिरःस्वभीष्टम्।।
अस्त्येव तत्र पदयोरुभयोर्विरोधः
पारोक्ष्यसद्वयविरोधकृतस्तदानीम्।।१४५।।

अन्वयः= गुरुमान् यदाह सत्यम, यदि इह वेदशिरःसु वाक्यगम्यं संसर्गरूपं अभीष्टं, तदानीं तत्र पदयोः पारोक्ष्यसद्वयकृतः विरोधः अस्त्येव।।

अन्वयार्थ= हे गुरूभक्त जो तुने कहा है वह सत्य है। यदि यहां वेदान्त वाक्य (तत्त्वमसि) में संसर्गरूप वाक्यार्थ अभीष्ट हो, तब उन (तत् ओर त्वम्) पदों का परोक्षत्वादि विरुद्धार्थ प्रतिपादन होने से विरोध है ही। (किन्तु यह विरोध अभिमत नहीं है)

सत्यमिति। यदाह-भवानिति शेषः। गुरुमान्- शिक्षितमतिः। अन्यस्य सूक्ष्मेऽर्थे एवंविधाक्षेपायोगात्। संसर्गरूपं मुख्यार्थयोस्तादात्म्यमङ्गीकृतमेव दर्शयति—अस्त्येवेति। तत्र वाच्यार्थभेदे।।१४५।।

सत्यं यदाह शिक्षितमतिः= गुरुमान् हे शिक्षित मति शिष्य, आपने जो भी कहा (यदाह) वह सब ठीक ही है। गुरुमान् से शिक्षितमति का ग्रहण करना है क्योंकि सूक्ष्म बुद्धिवाला व्यक्ति ही ऐसा प्रश्न कर सकता है। और सूक्ष्ममति वही होगा। जो शिक्षित मति होगा। वही गुरुमान् है। तुने उस परम्परा से अध्ययन किया है। संसर्गरूपमिति= तत् और त्वं के मुख्यार्थ के तादात्म्य को लेकर भेद तो है ही। कैसे? पारोक्ष्यसद्वयविरोधकृतस्तदानीम्= तत्र= वाच्यार्थ के अभेद प्रसंग में दोनों में परोक्षत्व, सद्वयत्वादि विरोध माना ही है। अर्थात् वाच्यार्थ का तो अभेद होता नहीं है, यह बात सिद्ध हुई। तत्र- पद से दोनों पद का भी विरोध है और दोनों पद के अर्थों का भी विरोध है, यह रहस्य है। सत्यं यदाह= इससे उपहास सिद्ध होता है, एक तरफ शिष्य तुने निकल्प किया है इससे प्रतीत होता है कि तू गुरु से शिक्षितमति नहीं है। लेकिन विषय के सूक्ष्मता को देखकर तू शिक्षित है यह बात सिद्ध होती है। बाकी तो पूर्ववत् ही है।

ननु संसर्गो का विशिष्टो या वाक्यार्थ इति विद्वद्भिरङ्गीकृतमिति वेदान्तवाक्यस्यापि तदन्यतरोऽर्थः स्वीकर्तव्यः, तत्र चेत्पदतदर्थयोर्विरोधोऽङ्गीकृतस्तर्हि कथं तद्वाक्यार्थः

सिध्दयेदित्याशङ्क्य वेदान्तव्यतिरिक्तानामेवार्थस्तथाऽभ्युपेयो न तु वेदान्तानां वेदमात्रस्य वाऽतस्तद्विरोधोऽत्र न दोषायेत्याह—

शंका— वाक्यार्थ बोध संसर्गावगाहि अथवा (विशिष्टावगाहि) संसर्गानवगाहि दो ही प्रकार का विद्वानों ने माना है। वेदान्त वाक्य से भी इन दोनों प्रकार में से किसी एक प्रकार का लेना चाहिये।

समाधान—यदि इन दोनों वाक्यार्थ बोध में से एक को हम स्वीकार करें और उसमें तत् और त्वं पद दोनों का अर्थ भिन्न भिन्न विरूद्ध हो तब तो अखण्ड वाक्यार्थ बोध विषयक शंका हो सकती है। लेकिन ये दोनों प्रकार के वाक्यार्थ बोध वेदान्त से अतिरिक्त दार्शनिकों का है। लेकिन हम वेदान्ती अथवा वेद मात्र को ही ये दोनों वाक्यार्थ बोध अभीष्ट न होने के कारण तथा दोनों पदार्थो में कोई विरोध नहीं होने के कारण भवदुक्त वाक्यार्थ लक्षण मेरे वेदान्ती के यहां दोषावह नहीं है। इसको स्पष्ट कर रहे हैं—

एत् कर्मकाण्डनिपुणैरुदितं पुरस्ताद्
वाक्यार्थलक्षणमदः पुनरत्र नेष्टम्।।
भेदादिवर्जितमखण्डमुशन्ति यस्मा-
च्छ्रीबादरायणमतानुगता महान्तः।।१४६।।

अन्वयः= कर्मकाण्डनिपुणैः पुरस्तात् यत् वाक्यार्थलक्षणं उदितम्। अन्तः पुन अदः इष्टं न, यस्मात् श्री बादरायणमतानुगताः महान्तः भेदादिवर्जितं अखण्डं (वाक्यार्थं) उशन्ति (इच्छन्ति)

अन्वयार्थः= कर्मकाण्डप्रवीण पूर्वमीमांसक के आचार्यों ने पहले पूर्वमीमांसा में जो वाक्यार्थ का लक्षण किया है, वह यहाँ उत्तर मीमांसा में अभीष्ट नहीं है। क्योंकि श्री बादरायण मतावलम्बी आचार्य भेदादि रहित अखण्ड वाक्यार्थ को चाहते हैं।

यत्कर्मकाण्डनिपुणैरिति। यद्वाक्यार्थलक्षणमिति सम्बन्धः। पुरस्तात्पूर्वतन्त्रे। अदस्तल्लक्ष--णम्। अत्र-वेदान्ते। वाक्यविशेषार्थलक्षणं वाक्यविशेषार्थे नाङ्गीकृतं चेन्न कापि क्षतिरिति भावः। ननु वाक्यार्थसामान्यलक्षणमेव तदस्तु, अन्यस्य सामान्यलक्षणस्यासम्भवादन्यथा वेदान्त-वाक्यविशेषस्य कीदृशोऽर्थः स्यादिति लक्षणान्तरासम्भवं मन्वानं प्रत्याह। भेदादीति। भेदः संसर्गः। आदिपदाद्विशिष्टग्रहणम्। अखण्डमपर्यायानेकपदप्रतिपाद्यमसंसृष्टमेकप्रातिपदिकार्थ-मात्रं वा उशन्ति कमनीयतया कथयन्ति यस्मादभेदादीति सम्बन्धः। श्रीबादरायणमतानुगता इति। भगवद्बादरायणः खलु 'तत्तु समन्वयादिति सूत्रेणाखण्डैकरसे ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यं

न्यरूपयत्। अतस्तन्मतानुसारिणः शङ्करभगवत्पादस्तच्छिष्याश्च तथैवोशन्तीति न वेदान्तवाक्यार्थलक्षणान्तरासम्भवः। बादारायणमतानुगतानां महत्त्वं पक्षपातराहित्येन श्रुत्यर्थविचारकौशल्यम्। नापि सामान्यलक्षणासम्भवो वाक्यप्रतिपाद्यत्वस्यैव हि तत्सामान्यलक्षणत्वं न संसर्गत्वादिरूपस्याननुगमादिति भावः।।१४६।।

यत्कर्मकाण्डनिपुणैरिति— (अभिहितान्वयवाद) संसर्गावगाहि तथा संसर्ग विशिष्टावगाहि हि (अन्विताभिधानवाद) रूप जो वाक्यार्थ का लक्षण पुरस्ताद्— पूर्वमीमांसाकोंने, जैमिनी, शबरस्वामी ने आदियों ने। अदः= वाक्यार्थ लक्षण जो सामान्य रूप से किया है। पुनरत्र= वह हमें यही वेदान्त में अभीष्ट नहीं है। वाक्यविशेष का लक्षण अन्यवाक्यविशेष में न जाने से कोई दोष नहीं माना जाता।

शंका— संसर्गावगाहित्वादि वाक्य का सामान्य लक्षण ही मान लेंगे। कोई और दूसरा तो वाक्यार्थ का सामान्य लक्षण हो नहीं पायेगा। वाक्य के सामान्य लक्षण के अभाव में वेदान्त के वाक्य विशेषका अर्थ भी सम्भव नहीं हो पायेगा। क्योंकि और तो कोई वाक्यार्थ लक्षण सम्भव नहीं है इस पर कहते हैं। भेदादीति— भेद= संसर्गावगाहि, आदि- विशिष्टावगाहि, इन दोनों वाक्यार्थ बोध से अतिरिक्त (वर्जितम्)। अखण्डमुशन्ति= अखण्डार्थ का बोध वेदान्त वाक्य कराता है। (अखण्डत्व क्या है? अपर्यायवाचि अनेक पदों से प्रतिपाद्य एक अर्थ, अथवा- संसर्गानवगाहि एक प्रातिपदिकार्थ मात्र ही अखण्डार्थ बोध है)। उशन्ति= व्यास आदि बडे सुन्दर ढंग से कहते हैं। इसलिये कर्मकाण्डवादियों ने जो वाक्यार्थ लक्षण किया है वे तो भेदवादि है। लेकिन व्यास आदि अभेदवादि हैं तथा कर्मकाण्ड से बहिर्भूत हैं अतः इन दोनों का भेद है।

श्रीबादरायणमतानुगता इति= भगवान् बादरायणजी ने "तत्तुसमन्वयात्" इस सूत्र में अखण्ड एक रस ब्रह्म में वेदान्त की प्रमाणता बताई है। उन्हीं के पद चिन्हों पर चलने वाले आचार्य भगवान् शंकर, और उनके शिष्य तथा अनुयायी उसी मार्ग का अनुसरण करते हुये वेदान्त वाक्यार्थ का लक्षण असम्भव नहीं है यह बताकर, महत्त्व- पक्षपातरहित होकर वेदार्थ के विचार की कुशलता बताते हैं। दूसरी बात यह भी है कि वाक्यार्थ का सामान्य लक्षण असम्भव भी नहीं है। वाक्यप्रतिपाद्यत्वमेव वाक्यार्थ सामान्यलक्षणम्" जो वाक्य से प्रतिपाद्य है उसे ही वाक्यार्थ कहते है। बाकी संसर्गादि रूप वाक्यार्थ लक्षण मानना उचित नहीं है। क्योंकि वह लक्षण सर्वत्र अभिमत नहीं है। लक्षण वह हो जो सब वाक्यों में अनुस्यूत हो।

ननु उक्तवाक्यार्थलक्षणावान्तरभेदव्यवस्थायां किं मानमित्याशङ्क्य तत्तद्वाक्यार्थे तस्य तस्य वाक्यस्य तात्पर्यग्राहक मानमेव तत्र प्रमाणमिति श्लोकद्वयेनाह, तत्र प्रथमं

यत्कर्मकाण्डनिपुणैरित्यनेन भेदादिवाक्यार्थस्योक्तं लक्षणं स्वीकरोति—

शंका— यदि वेदान्तियों ने अन्य ही वाक्यार्थ लक्षण किया इसमें क्या प्रमाण है ऐसा पूछते हो तो इसका उत्तर है— उस उस वाक्यार्थ में उस उस वाक्य की तात्पर्य ग्राहकता ही इसमें प्रमाण है। इसी बात का उल्लेख अग्रिम दो श्लोकों से कर रहे हैं। इसमें प्रथम तो कर्मकाण्ड के निपुण आचार्यों ने भेदादि से युक्त (संसर्गावगाहि) वाक्यार्थ लक्षण को स्वीकृत किया है—

भेदादिरूपमवबोधयितुं समर्थं
यद्वाक्यमस्ति तदखण्डविलक्षणार्थम्।।
तल्लौकिकं भवतु वैदिकमेव वाऽस्तु
नास्माकमत्र विषये विमतिः कदाचित्।।१४७।।

अन्वयः= यत् वाक्यं भेदादिरूपं अवबोधयितुं समर्थं तत् अखडविलक्षणार्थं अस्ति। तल्लौकिकं भवतु वैदिकमेव वा (भवतु) अस्तु, अत्र विषये अस्माकं कदाचित् विमतिः न (अस्ति)।।१४७।।

अन्वयार्थः= जो वाक्य भेदादिरूप अर्थ का बोध कराने में समर्थ है वह वाक्य अखण्ड विलक्षणार्थक ही है वह वाक्य चाहे लौकिक हो या वैदिक हो। इस विषय में हमारा कोई मतभेद नहीं है।।१४७।।

भेदादीति। लौकिकं गामानेयत्यादि वैदिकमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादि च। अत्रोक्तविषये भेदादिरूपे वाक्यार्थे नाऽस्माकं कदाचिदपि विमतिरस्ति, न हि व्यसनितयाऽखण्डार्थत्वं वयमिच्छाम इति भावः।।१४७।।

भेदादीति= लौकिक में जैसे "गामानय" "गां बधान" इत्यादि वाक्यों में तथा वैदिक वाक्य जैसे अग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादि भेद रूप वाक्यार्थ में (संसर्गावगाहि वाक्यार्थ में) तो कोई वैमत्य है ही नहीं। क्योंकि ये लौकिक तथा वैदिक दोनों ही वाक्य अखण्डार्थ से विलक्षण ही है। बाकी एक बात यह भी है ("तत्त्वमसि" इत्यादि जगह अखण्डार्थ बोध करना हमारा व्यसन भी नहीं है। किन्तु यह स्वाभाविक है, यह बात भी "विमति शब्द से स्पष्ट होती है।")

इदानीं भेदादिवर्जितमित्यनेन कथितं वेदान्तवाक्यार्थस्वरूपं सोपपत्तिकमुच्यत इत्याह—

अब आगे भेदादि से रहित वेदान्त वाक्यार्थ का स्वरूप युक्ति के साथ प्रतिपादित कर रहे हैं—

यद्वाक्यजातमथ वेदशिरोनिविष्टं
यद्वापि लौकिकमखण्डमपास्य नान्यत्।।
शक्नोति वस्तु वदितुं तदशेषमेव
ब्रूयादखण्डमिति तु प्रतिपादयामः।।१४८।।

अन्वयः= अथ वेदशिरोनिविष्टं यद्वा लौकिकं यत् वाक्यजातं अखण्डं अपास्य अन्यद् वस्तु वदितुं न शक्नोति, तदशेषम् अखण्डमेव ब्रूयादिति तु प्रतिपादयामः।।

अन्वयार्थः= और वेदान्तगत (तत्त्वमस्यादि) अथवा लौकिक (सोऽयं देवदत्तः) जो वाक्य अखण्डार्थ, छोडकर अन्य (संसर्गावगाहि) अर्थ को नहीं कह सकते, ये सभी वाक्य अखण्डार्थ का ही (बोध) कथन करते हैं यह हम कहते हैं।।

यद्वाक्येति। अथेति पक्षान्तरोपक्रमार्थः। वेदशिरोनिविष्टं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म तत्त्वमसीत्यादिवेदान्तवाक्यं लौकिकं प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः सोऽयमित्यादिवाक्यमन्यद्वस्तु वदितुं न शक्नोति तदशेषमखण्डमेव ब्रूयादित्यनन्तरमेवोपपादयिष्यत इत्यर्थः।।१४८।।

यद्वाक्येति= भेदघटित वाक्य से भिन्न वाक्यार्थ बोध भी अलग ही करेगा इस पक्षान्तर की स्थापना हेतु कहा यद्वाक्येति। वेदशिरोनिविष्टं= वेद का सिर है वेदान्त, उसमें निविष्ट वाक्य है, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", तत्त्वमसि इत्यादि वेदान्त वाक्य, इसी प्रकार लौकिक वाक्य भी है प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः।। "सोऽयं देवदत्तः" ये वाक्य भेदावगाहिबोध न करा सकते। अतः ये सम्पूर्ण की सम्पूर्ण वाक्य अखण्डार्थ का ही बोधन कराते हैं। इसका तो हम विशद विचार आगे ही करेंगे।

ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यं द्विविधम्, एकमहंकारादिसाक्षिणः प्रत्यक्चैतन्यस्य निरतिशयानन्दाद्वयनित्यमुक्तब्रह्माभेदपरम्, यथा तत्त्वमसीत्यादि, एतच्च परमपुरुषार्थ प्रत्यग् ब्रह्मैक्यनिष्ठत्वान्महावाक्यम्, अपरं तत्त्वम्पदार्थस्वरूपपरम्, यथा विज्ञानमानन्दं ब्रह्म योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्वित्यादि, एतच्च पदार्थनिष्ठत्वादवान्तरवाक्यम्, तत्र महावाक्यस्याखण्डार्थत्वे लोके सोऽयमिति वाक्यमुदाहरणम्, इतरस्य प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति, तत्र सोऽयमिति वाक्यस्याखण्डार्थत्वं प्रमाणाभावान्नास्तीत्याशङ्क्याह—

ब्रह्म में वेदान्त वाक्य दो प्रकार के हैं एक तो महावाक्य जो परम पुरुषार्थ रूप जीव ब्रह्मैक्य निष्ठ है– जैसे "अहं ब्रह्मास्मि" इसमे अहंकारादिक का साक्षी प्रत्यक्चैतन्य उसका निरतिशानन्द स्वरूप अद्वय स्वरूप नित्य मुक्त बुद्ध स्वरूप ब्रह्म के साथ अभेद परक यह वाक्य है। अथवा तत्त्वमस्यादि वाक्य। दूसरा है- अवान्तर वाक्य जो पदार्थ निष्ठ

है जैसे विज्ञानमानन्दं ब्रह्म योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्वति इत्यादि" इस वाक्य के द्वारा पदार्थ ब्रह्म, जीव आदि का विवेचन किया गया है। इसे अवान्तर वाक्य कहते हैं। इसमें महावाक्य अखण्डार्थ बोध परक है इसका लौकिक उदाहरण है सोऽयं देवदत्तः" और अवान्तर वाक्य का लैकिक उदाहरण है "प्रकृष्टः प्रकाशश्चन्द्र "सोऽयं पुमानिति" इस पर शंका करें कि "सोऽयं देवदत्तः" यह वाक्य अखण्डार्थ बोध परक नहीं है। ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं—

सोऽयं पुमानिति हि मुख्यपदार्थयुक्त
वाक्यार्थबुद्धिजननस्य न वाक्यमेतत्।।
ईशीत वाच्यशबलस्थपदद्वयेन
संसृष्टबुद्धिजनने पदयोर्विरोधात् ।।१४६।।

अन्वयः="सोऽयं पुमान्" इत्येतत् हि वाक्यं मुख्यार्थयुक्तवाक्यार्थबुद्धिजननस्य न ईशीत, वाच्यशबलस्थं पदद्वयेन संसृष्टबुद्धिजनने पदयोः विरोधात्।।१४६।।

अन्वयार्थः= "सोऽयं पुमान् यह वाक्य विरूद्ध देशकालविशिष्ट रूप मुख्य पदार्थ घटित वाक्यार्थ बुद्धि को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं, क्योंकि (विरूद्ध देश कालादि रूप) विशिष्ट अर्थों के वाचक दोनों पदों से संसर्गावगाहि बोध के उत्पादन में दोनों पदों का विरोध है।

सोऽयमिति। मुख्यपदार्थेति। तदिदंशब्दयोर्यौ मुख्यार्थौ तदेतद्देशकालवैशिष्ट्य-रूपतत्तेदन्ताविशिष्टौ तद्युक्तस्तन्निरूपितो यो वाक्यार्थोऽभेदस्तद्बुद्धिजननस्यैतत्सोऽयमिति वाक्यं नेशीतेति सम्बन्धः। सोऽयमिति हि वाक्यं समानाधिकरणवाक्यत्वादेकार्थनिष्ठं वाच्यम, तत्र यदि मुख्यपदार्थयोरैक्यं तदा तदेतद्देशकालविशिष्टद्वयस्य विरोधेनाभेदासम्भवादितीदं-वाक्यं तत्प्रतिपादयितुमसमर्थमिति भावः।

ननु देवदत्तस्तत्तेदन्ताभ्यामुक्तरूपाभ्यां संसृष्टः, देवदत्ते तत्तेदन्ते वा वाक्यार्थोऽस्तु न विरोध इति तत्राह। वाच्यशबलेति। वाच्यं यच्छबलं विशिष्टं, तन्निष्ठपदद्वयेनेत्यर्थः। सः अयमिति पदाभ्यां तत्तेदन्तयोः पुरूपविशेषणतथोपस्थितयोः स्वातन्त्र्यासम्भवेन पुरूषे च प्रथमान्तपदेनोपस्थिते सप्तम्यर्थासम्भवेन चोक्तप्रकारद्वयासम्भवः। किं च देवदत्ते तत्तेदन्ते इति ज्ञानेन न भेदभ्रमनिवृत्तिः सम्भवति, इदं च वाक्यं तदर्थमेव वृद्धैः प्रयुज्यते, देवदत्तभेदेऽपि तत्सम्भवात्। न चैकस्मिन्देवदत्ते तत्तेदन्ते इति ज्ञानाद्भेदभ्रमनिवृत्तिसम्भव इति वाच्यम्। समानाधिकृतपदद्वयव्यतिरेकेण तदेकत्वे प्रमाणाभावात्, तस्मादर्थान्तरासम्भवाद् वाच्यशबलस्थ-पदद्वयेन संसृष्टबृद्धिजननमेव वाच्यं तच्च न सम्भवति पदयोर्विरुद्धार्थत्वादित्यर्थः।।१४६।।

सोयं— मुख्यपदार्थेति= सःरूप है तत् का, अयं रूप है इदं का। दोनों शब्द, मुख्यपदार्थेति= दोनों मुख्यार्थ को तत् देश तत् काल, एतद्देश एतद्काल विशिष्ट तत् और इदं के माध्यम से देवदत्त को बताते हैं। इससे निरूपित वाक्यार्थ अखण्ड तो (अभेद स्वरूप हो) इसके लिये सोऽयं देवदत्तः वाक्य समर्थ नहीं हो सकता। "सोऽयमिति" यह वाक्य समानाधिकरणत्वादेकार्थ निष्ठ मानें तो। (अर्थात् देवदत्त में ही तत् देश तत्काल एतद्देश एतत्काल दोनों ही रहे हैं)। यह भी ठीक नहीं क्योंकि मुख्य पदार्थ देवदत्त उसी का अभेद मान लिया लेकिन उसका विशेषणीभूत तद्देश तत्काल इनका तो आपस में विरोध होने से विशेष्य का अभेद नहीं हो सकता। इसलिये सोऽयं यह वाक्य अखण्डार्थ बोध परक है यह नहीं कह सकते।

शंका— देवदत्त तत्ता और इदन्ता दोनों रूप से सम्बन्धित है। अथवा देवदत्त में तत्ता और इदन्ता दोनों रूप है ऐसा वाक्यार्थ मानें तो कहते हैं। वाच्य शबलेति— वाच्य हुवा देवदत्त, शबल हुवा तत्ता विशिष्ट देवदत्त अथवा इदन्ता विशिष्ट देवदत्त। शबलवाची दोनों पद अलग अलग है। तो "सोऽयमिति" दोनों पदों से तत्ता और इदन्ता देवदत्त के विशेषण रूप से स्फुरित हो रहे हैं। इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, इसी प्रकार "सोऽयं देवदत्तः" देवदत्त का प्रथमा विभक्ति से भान है, अब इसमें देवदत्ते तत्ता इदन्ते "देवदत्त में तत्ता और इदन्ता है यह सप्तम्यन्त प्रयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार देवदत्त तत्ता इदन्ता से संसृष्ट है— सोऽयं में अयं का प्रयोग प्रथमान्त है तृतीयान्त नहीं हो सकता। इस प्रकार ये दोनों प्रयोग सोयं देवदत्तः तथा प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्र है। इसलिये अखण्डार्थ बोध का यह उदाहरण गलत है। इसी प्रकार देवदत्त में तत्ता इदन्ता रहने पर भी इस ज्ञान से भेद भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि यह कोई वृद्धों का नियम नहीं है कि "सोऽयं देवदत्त" वाक्य अभेद में ही प्रयुक्त हो। भेद में भी प्रयुक्त हो सकता है। जैसे कोई पुराना व्यक्ति सामर्थ्य प्राप्त होने पर अथवा वह पागल होने पर वह हमारी बात नहीं मानता है। तब भी तो हम कहते है "सोऽयं" यह वही है जो हमारे पास याचना करने आया करता था। तो भेदार्थ में भी इस वाक्य का प्रयोग हो सकता है।

इसी प्रकार एक ही देवदत्त तत्ता और इदन्ता के ज्ञान से भेदभ्रम की निवृत्ति होगी यह भी संभव नहीं है तत्ता और इदन्ता दोनों पद समान अधिकार वाले होने से और आपस में विरोधी होने से एक जगह वे आ सकेंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिये अर्थान्तर की सम्भावना करना व्यर्थ है। वाच्य और शबल दोनो पदों से सम्मिलित बोध उस देश काल का देवदत्त वही इस देश इस काल का देवदत्त है ऐसा बोध वह

भी संभव नहीं है। क्योंकि दोनों पद परस्पर विरोधी है। अतः अखण्डार्थ बोध ही मानना पडेगा। अर्थात् दोनों पदो में लक्षणा माननी पडेगी।

अस्तु तर्ह्येकस्मिन्नेव पदे लक्षणा तथा च न विरोधः प्रतियोग्यन्तराभावात्, नाप्यखण्डार्थता देवदत्ते एकस्य विशिष्टस्यानेन तादात्म्यप्रतिपादनादित्याशङ्क्याह—

आशंका— "सोऽयं" इत्यादि स्थलों में एक पद में ही लक्षणा मानें, फिर तो कोई विरोध नहीं होगा। क्योंकि एक पद वाचक रहा, एक लक्षक रहा। और ऐसा करने से अखण्डार्थ बोध की जरूरत भी नहीं है। क्योंकि एक कोई भी विशिष्ट जैसे तत्ताविशिष्ट देवदत्त में (इद) अयं का लक्ष्यार्थ देवदत्तः हो जानेसे उसके साथ विशिष्ट का तादात्म्य हो जायेगा। ऐसी आशंका होने पर उत्तर देते हैं—

एतद्धि सोऽयमिति वाक्यमखण्डनिष्ठं
वक्तव्यमत्र गतिरस्ति न काचिदन्या।।
तद्देशकालमनुकृष्य स इत्यनेन
नायं पदार्थमुपढौकयते हि नैतत्।।१५०।।

अन्वयः= सोऽयं इत्येतद् वाक्यं हि अखण्डनिष्ठं वक्तव्यम्। अत्र हि काचिद् अन्या गतिः न अस्ति,। (सोऽयमिति वाक्ये) हि स इत्यनेन तद् देश कालं (अपेक्ष) अनुकृष्य अयं पदार्थं उपढौकयते, नैतत्।।

अन्वयार्थः= (सोऽयं पुमान्) इस वाक्य को अखण्डार्थ बोधक ही कहना होगा। क्योंकि यहां और गति नहीं। स पद से अतीतकाल तथा परोक्ष देश एवं अयं पद से वर्तमानकाल एवं अपरोक्ष देश, इनमें से एक भी पद ऐसा नहीं है जो कि दूसरे के साथ जुडकर विशिष्टार्थ का बोध करा सकें। अतः यहां अखण्डार्थ ही गति है।।

एतद्धीति। अखण्डनिष्ठं पदद्वयलक्षणयेति शेषः। अत्र अस्मिन्वाक्ये। मतिः, त्वदुक्तप्रकारावगतिः। कुत इति चेत्तत्राह। तद्देशकालमिति। स इत्यनेन स इति पदेन तद्‌देशकालविशिष्टमनुकृष्यादाय। अयंपदार्थम् अयमिति पदस्य लक्षितमर्थं नोपढौकयते-प्रापयितुं न शक्नोति इत्यर्थः। सोऽयमिति। वाक्यमिति शेषः। हीति दृष्टान्तार्थम्। यथा तत्पदं स्ववाच्यमिदंपदलक्ष्यं न प्रथयति, एवमेतत्पदमपि स्ववाच्यं नोपढौकयते, तत्पदलक्ष्यमितिशेषः। एकपदलक्षितस्वरूपस्य पदान्तरवाच्याद्भेदनिष्ठत्वे वाक्यस्य यावद्देवदत्त-स्वरूपं तत्तद्विशिष्टमेव स्यात्, अन्यथा वर्तमानसमयस्थदेवदत्ते तद्भेदसंशयादिनिवर्त्तकताऽस्य

वाक्यस्य न स्यान्निवर्त्तते चास्माद्वाक्यात्तत्संशयादिरिति पदद्वयलक्षणया तदेतद्देशकालद्वय-वृत्तिदेवदत्ताभेदपरमितीदं वाक्यमखण्डार्थनिष्ठमेव। न चैवं तत्स्वरूपस्यैकैकपदादपि प्रतीतेरेकपदार्थज्ञानादपि तन्निवृत्तिप्रसङ्गः, वक्तव्यं वा पदार्थस्वरूपादधिकं वाक्यप्रमेयमन्यथा वाक्यादपि तदयोगादिति वाच्यम्। पदद्वयलक्ष्यवाक्यार्थयोरन्यूनानतिरिक्तत्वेऽपि वाक्यात्तदेतद्देशकालपरामर्शपूर्वमखण्डदेवदत्तस्वरूपाऽभेद प्रतिपादने भवति तज्ज्ञानं निश्चयरूपमतस्ततः संशयादि- निवृत्तिरुपपद्यते नैवमेकैकपदलक्ष्यज्ञानमिति न ततः संशयनिवृत्तिः, एवं च सोऽयमित्यादेरर्थान्तरासंभवादबाधाच्चाखण्डार्थतैवेति भावः।।१५०।।

एतध्दीति— अखण्डार्थ बोधक के लिये दोनों पदों की लक्षणा करनी पडेगी। अत्र=सोऽयं देवदत्त इस वाक्य में। गति= मीमांसक की प्रकारावगाहि गति= संसर्ग बोधादि सम्भव नहीं हैं। क्यों। तद्देशकालमिति= स इत्यनेन= स इस पद से तद्देश तत् काल विशिष्ट, अनुकृष्य= का ग्रहण करके। अयं पदार्थम् अयमिति— इस पद के लक्षित अर्थ को, नोपढौकयते= प्राप्त नहीं करा सकता। अर्थात् विशिष्टार्थ लक्ष्यार्थ को प्राप्त नहीं करा सकता। सोऽयमिति— इस वाक्य से। हीति- दृष्टान्त जिस प्रकार तत्पदका वाच्य तद्देश काल विशिष्ट देवदत्त इदं पद के (अयं पद के) लक्ष्य को प्राप्त नहीं करा सकता। इसी प्रकार से अयं पद का वाच्य भी तत्पदलक्ष्य को प्राप्त नहीं करा सकता। एक पद लक्षितस्वरूप को पदान्तर के वाच्य से अभिन्न मानने से तो जब तक देवदत्त है तब तक उस वाक्य को तद् तद् देश का विशिष्ट परक ही मानना पडेगा। तो प्रकृत में सोऽयं इत्यादि वाक्य में तत् एतद् देश काल वृत्ति देवदत्त में अभेद न मानने पर वर्तमान समय में स्थित देवदत्त में उस काल उस देश का यह देवदत्त है या नहीं इस संशय की निवर्तकता सोऽयं देवदत्तः इस वाक्य में नहीं आयेगी। लेकिन इस वाक्य से ऐसे ऐसे संशयों की निवृत्ति हो ही जाती है। अतः मानना पडेगा कि दोनों पदों की लक्षणा की गई और उससे तदेतद्देश तथा तदेतत्काल द्वयवृत्ति देवदत्त के साथ होने से अभेद परक यह वाक्य है। इसी का नाम अखण्डार्थ बोध है।

शंका= फिर तो देवदत्त स्वरूप की तो एक पद से ही उपस्थिति हो जाने से एक पद के पदार्थ ज्ञान से ही तत् देश काल विशिष्ट देवदत्त विषयक संशय की निवृत्ति होगी। या यह कहिये कि संशय को हटाने के लिये पदार्थ स्वरूप से अतिरिक्त वाक्यार्थ बोध मानेंगे अन्यथा वाक्य से भी संशय की निवृत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान= यह शंका ठीक नहीं। दोनों पदों के लक्ष्यार्थ की तथा वाक्यार्थ की उपस्थिति न अधिक न कम (अन्यूनानतिरिक्ति) होने पर भी, सोऽयं देवदत्तः इस वाक्य से तद् एतद्देश

तद्‌एतद् काल परामर्शपूर्वक अखण्ड देवदत्त स्वरूप का अभेद का प्रतिपादन वाक्यार्थज्ञान निश्चित रूप से करायेगा। इसलिये संशय की निवृत्ति उपपन्न हो जाती है। एक पद में लक्षण मानने से संशय की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये "सोऽयं" इत्यादि वाक्य इसका अन्य कोई अर्थान्तर न होने से इसे अखण्डार्थपरक ही मानना पडेगा। अर्थात् दोनों पदों में लक्षणा वृत्ति माननी होगी।

दार्ष्टान्तिकेऽपि तदाह—

दार्ष्टान्त में भी उसे घटा रहे हैं-

एवं सतीदमपि तत्त्वमसीति वाक्य-
माश्रित्य लाक्षणिकवृत्तिमखण्डनिष्ठम्।।
सोऽयं पुमानिति यथा वचनं तथाऽस्तु
नो चेत्समं हि तदलाबुनिमज्जनोक्त्या।।१५१।।

अन्वयः= एवं सति यथा "सोऽयं" पुमान् "इति वचनं तथा इदं तत्त्वमसि" इति वाक्यमपि लाक्षणिकवृत्तिं आश्रित्य अखण्डनिष्ठं अस्तु। नो चेत् अलाबुनिमज्जनोक्त्या तत् समम्।।

अन्वयार्थ- इस प्रकार (समस्त वाक्यों में संसर्गार्थकरत्व है इस नियम के व्यभिचारित हो जाने पर) जैसे सोऽयं पुमान्- यह वाक्य अखण्डार्थक है, वैसे ही यह तत्त्वमसि लाक्षणिक वृत्ति के द्वारा अखण्डार्थपरक है नहीं तो "अतिशुष्कमाच्छिद्रं केवलमाबुनिमज्जति अतिशुष्क, छिद्ररहित अकेली लौकी पानीमें डूब रही है इस वाक्य के समान यह तत्त्वमसि वाक्य भी अप्रामाणिक हो जायेगा।

एवं सतीति- लोके पदद्वयलक्षणया सोऽयमितिवाक्यस्याखण्डार्थत्वे सतीत्यर्थः। तथा च नास्माकमलौकिककल्पनेति भावः। लाक्षणिकवृत्तिं पदद्वयेऽपीति शेषः। तत्त्वमसीति वाक्यमखण्डार्थनिष्ठम् अकार्यकारणद्रव्यमात्रविषयकसमानाधिकरणवाक्यत्वात् यथा सोऽयं पुमानिति वचनमित्याशयेन दृष्टान्तमाह। सोऽयं पुमानिति। तथेदं तत्त्वमसीति वाक्यमखण्डार्थनिष्ठमस्त्विवति सम्बन्धः। पदद्वयलक्षणयाऽखण्डार्थत्वाङ्गीकारे पूर्वपक्षदशाया-मुक्तवाक्याप्रामाण्यमाह- नो चेदिति। अतिशुष्कमच्छिद्रं केवलम् अलाबु अप्सु निमज्जतीतिवचनं यथाऽप्रमाणं तथेदमपि स्यादित्यर्थः। तत्त्वमसीतिवाक्यस्यापि वक्ष्यमाणविरोधेन संसर्गादि-वाक्यार्थासम्भवेन पदद्वयलक्षणयाऽखण्डार्थतैवोचितेति भावः। एतेन सिद्धान्तोपक्रमे उत तदुभलक्ष्ययोरिति द्वितीयकल्पे विरोधबीजाभावात्तचौद्यमनुपपन्नमित्युक्तमिति द्रष्टव्यम्।।१५१।।

एवं सतीति- (लोक में दोनों पदों में लक्षणा करनी पडी) सोऽयं देवदत्तः जिससे

अखण्डार्थ बोध हुआ। इससे हमने वेदान्तीयों ने कोई आलौकिक कल्पना नहीं की। लाक्षणिक वृत्ति दोनों पदों में सः तथा अयं पद में दोनों में करनी पडेगी। प्रकृत में (पक्ष) तत्त्वमसीति वाक्य (साध्य) अखण्डर्थ निष्ठ है (हेतु) अकार्यकारणद्रव्यमात्रविषयकसमानाधिकरण वाक्यत्वात्।। उदाहरण सोऽयं पुमानिति"। पुमान् रूप अधिकरण में स की तथा अन्यं की दोनों की वृत्ति रही। और दोनों में सो में तथा अयं में कार्यकारण भाव सम्बन्ध नहीं हैं। अकार्यकारण द्रव्य मात्र विषयक है। इसीप्रकार से तत्त्वमसीति महावाक्य में भी समझ लेना। तो यह तत्त्वमसीति वाक्य अखण्डार्थ निष्ठ ही है। यह बात सिद्ध हुई।

"यदि दोनों पदों में लक्षणा नहीं मानेगें तो-

नोचेदिति- अलाबु कहते है तुम्बे को, वह भी बिलकुल सूखा हुआ, छेदरहित है, क्या वह पानी में डालने से डूब सकेगा? कभी नहीं। इसपर कोई कहे सूखा, छिद्ररहित तूम्बा पानी में डूब रहा है। यह वाक्य जैसे अप्रमाणभूत है वैसे ही तत्त्वमसीति- वाक्यका संसर्ग- बोधसम्भव नहीं होने से (इसे आगे बतायेगें) तो हठात्- पदद्वय में लक्षणा करके अखण्डार्थ- बोध मानना ही पडेगा। इस प्रकार सिद्धान्त में दोनों पदों की लक्षणा मानने पर कोई विरोध नहीं रहने से वेदान्त वाक्य प्रतिपाद्य अखण्डार्थ बोध अनुचित है यह कहना अयोग्य है यह बातं सिद्ध हुई।।

यत्तु पूर्वपक्षावसरे वाच्यार्थसम्बन्धितया मानान्तराधिगतिर्लक्षणाबीजमिति तथाऽनवगते ब्रह्मणि न लक्षणा स्यादित्युक्तं, तदनूद्य दूषयति-

यत्तु- किसी ने पूर्व पक्ष करते समय यह कहा था कि वाच्यार्थ सम्बन्धितया लक्षणा होती है जैसे गंगायां घोषः, यहां गंगा जो वाच्यार्थ उसका सम्बन्धी हुआ तीर उसमें गंगा पद की लक्षणा है- वहां घोष- (ग्वालों के) घर है। ऐसा कहा था लेकिन वाच्यार्थ सम्बन्धी लक्षणा मानने से ब्रह्म में वह बात नहीं बन सकती यह कहा था उसका खण्डन करते है—

मानान्तराधिगतगोचरगामिनी स्या
च्छब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरिति प्रलापः।।
सिद्धत्वमात्रमिह लाक्षणिकप्रवृत्ते
र्निर्वाहकारणमनङ्गमतोऽन्यदस्याः।।१५२।।

अन्वयः—शब्दस्य लक्षणवृत्तिः मानान्तराधिगतगोचरा स्यात् इति प्रलापः। इह सिद्धत्वमात्रं लाक्षणिकप्रवृत्तेः, निर्वाहकारणम् अतोऽन्यन्द् अस्याः अनङ्गम्।

अन्वयार्थे= शब्द की लक्षणावृत्ति प्रमाणान्तराधिगत विषयिणी ही होती है यह प्रलापमात्र है। यहां सिद्धत्वमात्र ही लक्षणावृत्ति के निर्वाहक कारण है, इससे भिन्न इस लक्षणावृत्ति का कोई अङ्ग नहीं है। (मानान्तर सिद्धत्व नहीं)

मानान्तरेति। अधिगतेति भावे निष्ठा, अधिगतिरित्यर्थः। प्रलापोऽसदभिलापः। ननु लाक्षणिकपदस्य लक्ष्येण साक्षात्सम्बन्धानवगमात्स्वार्थप्रनाड्यैव तदुपस्थापकत्वं वाच्यं तच्च मानान्तरेण तथावगमं विना नेति कथमयं प्रलाप इति चेत्। सत्यम्। मानान्तरं विनापि तदर्थसम्बन्धितयाऽवगममात्रेण सा सिध्यति स चावगमस्त्वमहमादिपदलक्ष्येऽहंकारादिसाक्षिणि स्वप्रकाशे तद्बलात्सिद्ध्यति ब्रह्मादिपदलक्ष्यं चाद्वयं ब्रह्मादिपदवाच्यं शबलं वस्तुतः स्वसंसर्गशून्ये चैतन्ये कल्पितं शबलत्वादध्यस्तत्वाद्वा शबलान्तरवद्रजतादिवदिति तर्केण तत्सम्बन्धितया सिध्यतीति न मानान्तरापेक्षेत्याह सिद्धत्वेति। ज्ञातत्वमात्रमित्यर्थः। इह लक्ष्ये।।१५२।।

मानान्तरेति=अधिगतेति= प्रमाणान्तर से उस विषय का ग्रहण होना चाहिये जो विषय लक्षित होने जा रहा है ऐसा कहा था और शब्दकी लाक्षणिक वृत्ति भी वहां ही होती है जो प्रमाणान्तर का विषय हो। यह प्रलापः= असद् प्रलाप है। व्यर्थ का बोलना है।

शंका— लाक्षणिक पद का लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने से स्वार्थ प्रकाशन के द्वारा ही लक्ष्यार्थ का बोध हो सकेगा। लक्ष्यार्थ को लाक्षणिक पद बता सकेगा। यदि इस लक्ष्यार्थ- का प्रमाणान्तर से ग्रहण नहीं है- तो इस लक्ष्यार्थ का अवगमन नहीं हो पायेगा इसलिये शक्यार्थ सम्बन्धी लक्षणा यह व्यर्थ प्रलाप नहीं होगा।

समाधान— आपकी बात सही है। लेकिन सुनिये, प्रमाणन्तर के बिना भी वाच्यार्थ सम्बन्धी के रूप से वाच्यार्थ सम्बन्धी ग्रहणमात्र से ही लक्षणा वृत्ति सम्भव हो जाती है। उस ब्रह्म का आत्मा का अवगमन तो त्वं अहं, आदि पदों की लक्षणावृत्ति लक्ष्यीभूत अहंकारका साक्षी स्वप्रकाश आत्मा में अपने आप सिद्ध होती है। इसी प्रकार से ब्रह्म पद का लक्ष्यीभूत अद्वय ब्रह्मतत्त्व भी ब्रह्म पद का वाच्य हुआ। शबल ब्रह्म (माया विशिष्ट ब्रह्म) वस्तुतः, शबलब्रह्म तो हुआ संसर्गवाला, उसका भी सम्बन्धी हुआ संसर्ग शून्य केवल चैतन्य, उसमें शबल ब्रह्म अध्यस्त है, जैसे शुक्ति में रजत अध्यस्त है। इस तर्क के द्वारा शबल ब्रह्म सम्बन्धी रूप से शुद्ध ब्रह्म की सिद्धि होती है। इसके लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। इसलिये कहते हैं- सिद्धत्वमात्रेति- इह= लक्ष्यार्थ में केवल ज्ञातत्वमात्र होना चाहिये न कि उनमें प्रमाणान्तर विषयत्व होना चाहिये इत्यादि।

ननु तीरादेर्गङ्गादिपदलक्ष्यस्य मानान्तरेण तथाधिगतिर्नियमेन दृष्टा तत्कथं सा तत्राप्रयोजिकेति चेत्तत्राह-

शंका— तीरादि जो लक्ष्यार्थ है और गंगा पद का लक्ष्य है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से गृहीत है यह नियम सर्वत्र देखा गया है फिर मानान्तराधिगतता लक्ष्यार्थ में अप्रयोजक कैसी हो सकती है। समाधान—

मानान्तराधिगतता हि न लक्षणायां
किंचित्करी भवति पिङ्गलतावदग्नेः।
धूमस्य जन्मनि हि पिङ्गलता न हेतु
र्यद्यप्यवस्थितवती हुतभुक्शरीरे।।१५३।।

अन्वयः= अग्ने पिङ्गलतावत् मानान्तराधिगतता लक्षणायां किञ्चित्करी न हि भवति। यद्यपि हुतभुक्शरीरे पिङ्गलता अवस्थिवती, धूमस्य जन्मनि हेतुः न।

अन्वयार्थ= अग्निगत पिङ्गलता के समान प्रमाणान्तराधिगत लक्षणा कुछ काम देने वाली नहीं है। यद्यपि अग्नि के शरीर में पिङ्गलता विद्यमान है। तथापि वह पिङ्गलता धूम उत्पत्ति में हेतु नहीं होती है।

मानान्तराधिगततेति हीतिद्वयं प्रसिद्धौ, किंचित्करीनिमित्तं न भवतीति सम्बन्धः। नियमेन तत्र विद्यमानस्यापि गौरवेणाप्रयोजकत्वे दृष्टान्तमाह-पिङ्गलतावदिति। अग्ने रूपमिव किंचित्करी न भवतीति सम्बन्धः। दृष्टान्तं विवृणोति-धूमस्येति। न हेतुर्हीति सम्बन्धः। अग्नित्वमेव हि धमूजनकतायामग्नेः प्रयोजकं न तु पिङ्गलाग्नित्वमपि गौरवादिति भावः। शुक्तिरजतादेरपि इदमित्यादिपदान्तरेण लक्ष्यत्वसम्भवान्मानान्तेरण तस्यावगत्यभावात्र मानान्तरगम्यत्वं तत्प्रयोजकमिति भावः।।१५३।।

मानान्तराधिगततेति= मानान्तर तथा अधिगतता ये दोनों लक्ष्यार्थ में होने चाहिये यह नियम नहीं। किंचित्करी न भवति= लक्ष्यार्थ के लिये ये दोनों नियमित रूप से निमित्त नहीं बन सकते। कहीं-कहीं नियम से ऐसा कारण रहने पर भी उसकी कार्य की प्रति अप्रयोजकता देखी गई। है। जैस-पिङ्गलतावदिति= धूम के प्रति अग्नि कारण है न कि पीला अग्नि धूम का कारण होता है। क्योंकि अग्नि से ही काम चल जाता है। पीले अग्नि को धूम के प्रति प्रयोजक मानने से व्यर्थ का गौरव ही होगा। न हेतुर्हीति= अग्नित्वेन रूपेण अग्नि ही धूम का प्रयोजक है न कि पिङ्गलाग्नित्वेन रूपेण अग्नि- धूम का प्रयोजक माना जाता है क्योंकि इसमें गौरव होता है।

शुक्रिरजतादि स्थलमें- "इदं रजतम्" इसमें इदं पदार्थ सम्बन्धी "रज्जु" (रस्सी) का

भान हो जाता है। अन्य किसी प्रमाण से रस्सी का अवगम (ज्ञान) नहीं होता है। इसीलिये प्रमाणान्तर गम्यत्व लक्ष्यार्थ में होना चाहिये यह कोई बात नहीं है। यह सिद्धान्त नहीं है।

ननु ब्रह्मादिशब्दानामन्यत्र संगत्यसंभवात्तत्रैव शक्तिः कल्पनीया, एवं च कथं तत्रैव तेषां लक्षणा, तच्छक्तपदलक्षितार्थोपादाने चेदिमपि शास्त्रमनात्मनिष्ठं स्यादित्याशङ्कां परिहर्तुं लक्षणात्रैविध्यमाह-

शंका— ब्रह्मादि शब्दों का अन्यत्र कहीं भी संगति नहीं होने से ब्रह्म में ही उनकी शक्ति माननी चाहिये, फिर इन्हीं ब्रह्मादि पदों की- ब्रह्मार्थ में लक्षणा कैसी? यदि ब्रह्म पद की ब्रह्म में (ब्रह्मरूप अर्थ में) शक्ति है इसके बाद भी ब्रह्म पद लक्षित (ब्रह्म भिन्न) अर्थ का उपपादन यदि ब्रह्म पद करता है तब तो वेदान्त शास्त्र लक्ष्यार्थ को लेकर (ब्रह्म भिन्न) पदार्थ का प्रतिपादन करने के कारण) अनात्मनिष्ठ ही होगा। इस आशंका के निराकरण के लिये- लक्षणा के तीन प्रकार बता रहे हैं—

शब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरपि त्रिधैषा
का चिज्जहाति न जहाति च वाच्यमन्या।।
भागं जहाति न जहाति च भागमन्या
सोऽयं त्रिधा भवति लाक्षणिकप्रकारः।।१५४।।

अन्वयः— एषा शब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरपि त्रिधा काचित् वाच्यं जहाति, अन्या च न जहाति, अन्या च भागं जहाति न जहाति। सोऽयं लाक्षणिकप्रकारः त्रिधा भवति।।

अन्वयार्थः—शब्द की लाक्षणिक वृत्ति तीन प्रकार की १) वाच्यार्थ का परित्याग रूपा है। दूसरी वाच्यार्थ का त्याग न करने वाली, ३) तीसरी एक भाग का त्याग करती है लेकिन अन्य भाग का त्याग नहीं करती है। इस प्रकार लाक्षणिक वृत्ति भेद तीन प्रकार की होती है।

अथवा लोके लक्षणाऽनेकविधा। तत्र काऽसौ लक्षणा तत्त्वमसिवाक्ये संमतेत्याशङ्क्य तां विवेक्तुं लोके प्रसिद्धं लक्षणाभेदं मत्वाह शब्दस्येति। एषा लाक्षणिकवृत्तिरिति संबन्धः। त्रैविध्यमेवाह का चिदित्यादिना। का चिद्वाच्यं जहाति जहल्लक्षणेत्यर्थः। अन्या वाच्यं न जहाति अजहल्लक्षर्णेत्यर्थः।। अन्या भागं वाच्यार्थाशं जहाति अन्यं भागं न जहाति च जहदजहल्लक्षणेत्यर्थः। तत्रैविध्यमुपसंहरति। सोऽयमिति।।१५४।।

अथवा यह समझो कि लोक में लक्षणा अनेक प्रकार की है। तो इसमें से तत्त्वमसि महावाक्य के लिये कौन-सी लक्षणा स्वीकृत करनी होगी। इसके लिये लोक में प्रसिद्ध

लक्षणाओं का भेद निरूपित कर रहे हैं। शब्दस्येति- शब्द की लोक में तीन प्रकार की लक्षणावृत्ति है। कौन-कौन-सी— काचिज्जहाति= जहल्लक्षणा= इस लक्षणा में वाच्यार्थ का परित्याग होता है। अजहल्लक्षणा दूसरी है- न जहाति च वाच्यमन्या- दूसरी लक्षणा वृत्ति में वाच्यार्थ का परित्याग नहीं होता है।। तीसरी लक्षणा है भागं जहाति न जहाति च भागमन्या- तीसरी लक्षणावृत्ति ऐसी है जो वाच्यार्थ का कुछ भाग छोड़ देती है, और कुछ भाग नहीं छोड़ती है। इसे कहते हैं जहदजहल्लक्षणा इसे भागत्याग लक्षणा भी कहा जाता है। इस प्रकार से सोऽयं त्रिधा भवति लाक्षणिक प्रकार= इस प्रकार लक्षणा के तीन प्रकार माने जाते हैं।

लोके क्रमेण तासामुदाहरणमाह-

लोक में क्रम से इन लक्षणाओं को उदाहरण के द्वारा बताते हैं-

गङ्गापदं हि निजमर्थमपास्य तीरे
यद्वर्त्तते भवति सा जहती प्रसिद्धा।।
शोणः स्थितो बहिरितीह तु लक्षणाया
मादाय शोणिमगुणं तुरगे प्रवृत्तिः।।१५५।।

अन्वयः— यत् गंगापदं निजमर्थं अपास्य तीरे वर्तते, तत् जहती प्रसिद्धा। शोणो बहिः स्थितः इतीह लक्षणायां तु शोणिमगुणं आदाय तुरगे प्रवृत्तिः।

अन्वयार्थः— जो गंगा पद अपने प्रवाहरूप अर्थ को छोड़कर तीर अर्थ का बोधन कराता है वह जहती लक्षणा प्रसिद्ध है। "शोणो बहिः स्थितः" लाल बाहर खड़ा है यहां अजहतीलक्षणा में शोणत्व गुण का (लाल गुण का) परित्याग न करके ही अश्व में प्रवृत्ति मानी जाती है।

गङ्गापदमितिद्वयेन। निजमर्थं स्ववाच्यप्रवाहमपास्य त्यक्त्वा। यद्यस्मात्। शोणः शोणिमगुणोऽश्वत्वनियतः।।१५५।।

गङ्गापदमिति= गङ्गायां घोषः इस जहतीलक्षणा में वाच्यार्थ गंगा प्रवाह उसका परित्याग (अपास्य) करके तीरे-तीर का ग्रहण किया जाता है। इसे जहल्लक्षणा कहते हैं। दूसरी है- अजहती लक्षणा-शोणः स्थितो बहिरिति= लाल बाहर बंधा हुआ है- अर्थात् लाल घोड़ा बाहर बंधा हुआ है। लाल रंग (गुण) गुणी अश्व के बिना रह नहीं सकता। तो लाल रंगा का वाच्यार्थ का त्याग न करते हुय गुणी अश्व का ग्रहण किया गया इसे कहते हैं अजहल्लक्षणा,

तुरगे प्रवृत्तिः= घोड़े में दूसरे व्यक्ति की प्रवृत्ति अजह लक्षणा से होती है।

अब तृतीय लक्षणा के विषय में उदाहरण कह रहे हैं–

सोऽयं पुमानितिवचस्युभयप्रकारा
देशादिभागपरिवर्जनतः प्रसिद्धा।।
पुंसश्च केवलमुपात्ततया पदाभ्या
मेवं त्रिधा भवति लाक्षणिकी प्रवृत्तिः।।१५६।।

सोऽयमिति उभयप्रकाश जहदजहद्रूपा। तदेवोपपादयति। देशादीति। तदेतद्देशकाल-वैशिष्ट्यरूपभागवर्जनात्केवलं यथा स्यात्तथा तदिदंपदाभ्यां पुंस उपात्ततया चेत्यर्थः। उपसंहरति। एवं त्रिधेति। गंगायां घोष इत्यत्र हि वस्तुतो गंगासंबन्धि यत्तीरं घोषान्वययोग्यं तदेव लक्षणया प्रतीयते न तु गंगाविशिष्टतीरं तस्य तेन रूपेण घोषान्वयायोग्यत्त्वादतो गंगापदे जहल्लक्षणैव, एवं बहिः शोणस्तिष्ठतीत्यादौ निष्कृष्टद्रव्यगुणमात्रस्य बहिर्देश-स्थित्यनुपत्तेः शोणगुणविशिष्टस्यैवाश्वस्य नियमेन- स्थित्यवगमात्साऽजहल्लक्षणा स्वार्थमुपादायैव तस्य द्रव्ये वृत्तेः, सोऽयमित्यादौ तु प्रागुक्तन्यायेनाभेदविरूद्धदेशादिपदार्थभागं परित्यज्य धर्मिस्वरूपं पदार्थभागमुपादायेदं वाक्यमभेदं प्रतिपादतीति तत्र सा जहदजहद्रूपेति लाक्षणिकी वृत्तिस्त्रिधा भवतीत्यर्थः।।१५६।।

सोऽयमिति= "सोऽयं देवदत्तः" इसमें, उभय प्रकारा= जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा दोनों का समावेश हे। इसी का उपपादन कर रहे हैं- देशादिभागेति= तद्देश, तत्काल, एतद्देश, एतत्काल वैशिष्ट्यका देवदत्तमें विशेषणीभूत इन दोनों का परित्याग करके, केवलम्- पदाभ्याम्- सोऽयं देवदत्तः इन दोनों पदों से स, अयं इन दोनों पदों से केवल देवदत्त का पुरूष का ही ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार, एवं त्रिधा= तीन प्रकार की लक्षणा लोक में मानी जाती है।

भावार्थ– गंगायां घोषः यहां वस्तुतः गंगा सम्बन्धी जो तीर है वही घोष के अन्वय योग्य होने से वही तीर लक्षणावृत्ति के द्वारा जाना जाता है। न कि गंगा जी के धारा से विशिष्ट तीर, क्योंकि ऐसे तीर के साथ घोष का अन्वय ही नहीं हो पाएगा। इसलिये गंगा पद में जहल्लक्षणा मानते हैं। इसी प्रकार से बहिः शोणः तिष्ठति= बाहर लाल (बंधा) है। इसमें छोटे-से-छोटे द्रव्य का भी गुण बाहर देश में नहीं रह सकता। इस का तात्पर्य यह हुवा कि लाल गुण विशिष्ट घोड़ा ही नियमित रूप से बाहर है,

यह ज्ञान हो जाता है। इसी का नाम है अजहल्लक्षणा। अर्थात् अपने अर्थ को भी साथ में लेकर उसी द्रव्य में वृत्ति सिद्ध कराता है। "स्वार्थमुपादायैव तस्य द्रव्ये वृत्तिः" सोऽयमित्यादि स्थल में अभेद अभिमत है उसके विरोधी जो देशकालादि भाग हैं उनको छोड़कर केवल धर्मिस्वरूप का देवदत्त का ग्रहण करना अभीष्ट है। अर्थात् अभेद का प्रतिपादन करना ही जहदजहल्लक्षणा का मुख्य प्रयोजन है।

एवं वेदेऽपि तत्त्रैविध्यमुदाहरणेनाह—

जैसे लोक में तीन प्रकार की लक्षणा है वैसी वेद में भी तीन प्रकार की लक्षणा है।

वेदेऽपि लाक्षणिकवृत्तिरियं त्रिधैषा
यज्ञायुधीतिवचने तु जहत्प्रवृत्तिः।।
वैश्वानरादिवचनेष्वजहत्प्रवृत्ति:।।
स्तत्त्वंगिरोरुभयरूपतया प्रवृत्तिः।।१५७।।

अन्वय— इयं लाक्षणिक वृत्तिः वेदेऽपि त्रिधा इष्टा, यज्ञायुधी इति वचने तु जहत्प्रवृत्तिः, वैश्वानरादि वचनेषु अजहत् प्रवृत्तिः, तत्त्वं गिरोः उभयरूपतया प्रवृत्तिः।

अन्वयार्थः= वेद में भी यह लक्षणा तीन प्रकार की है स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति (श.ब्रा.१२/५/२/८) इस वाक्य में जहती लक्षणा है, वैश्वानरमुपासते (छा. ५/१८/२) आदि वाक्यों में अजहती लक्षणा तथा तत्त्वमसि आदि में तत् और त्वं पद में जहदजहल्लक्षणा है।

वेदेऽपीति। यज्ञायुधी यजमानः स्वर्गंलोकमेतीतिवाक्येऽन्त्येष्टिप्रकरणस्येऽग्निहोत्र-कपालादिपात्रैर्विशिष्टो यजमानः स्वर्गं गच्छतीति प्रतीयते तदनुपपन्नम्। अग्निहोत्रपात्राणां पत्यक्षेणैव दाहात्, यजमानस्याग्निहोत्रकपालादियज्ञायुधविशिष्टस्य स्वर्गगमनायोगाद्यज्ञा-युधीशब्दः तस्मिन्स्वार्थं परित्यज्य वर्तत इति सा जहल्लक्षणा, मत्वर्थप्रत्ययस्य संबन्धमात्रनिष्ठत्वमभिप्रेत्य सबन्धिनि यजमाने जहल्लक्षणेत्युक्तम्, विशिष्टात्केवलमन्य-दित्याशयेन वा। जहत्प्रवृत्तिः जहल्लक्षणा वृत्तिः। वैश्वानरादिवचनेष्विति। प्रादेश-मात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमित्यत्र वैश्वानरशब्दो जाठरेऽग्नौ रूढ़स्तदवच्छिन्ने आत्मनि वर्त्तते, अन्यथा आत्मानं वैश्वानरमिति सामानाधिकरण्यायोगात्, तथा च स्वार्थापरित्यागेन स आत्मनि वर्त्तते इति तस्य तत्राऽजहल्लक्षणा। आदिशब्देन सृष्टिरूपदधातीत्यत्र सृष्ट्यसृष्टीष्टकासु वर्त्तमानः सृष्टिशब्दो गृहीतः। तत्त्वंगिरोरिति। तत्त्वमसिवाक्य-

स्थतत्त्वंपदयोरित्यर्थः। उभयरूपतया जहदजहद्रूपतया। पदद्वयार्थेप्यभेदविरोधिविशेषणांश-परित्यागेनापरोक्षचैतन्याद्वयानन्दे पदद्वयप्रवृत्तेः सा जहदजहल्लक्षणेत्यर्थः। एतेन ब्रह्मात्मनि शक्तब्रह्मादिपदस्य कथं तत्र लक्षणा ब्रह्मादिपदलक्ष्यस्य शास्त्रार्थत्वे इदमपि शास्त्रमनात्मनिष्ठमितिदूषणद्वयं परिहृतम्। शबले ब्रह्मणि परिगृहीत-संगतिकस्य शुद्धे ब्रह्मात्मनि लक्षणोपपत्तेरिति।।१५७।।

वेदेऽपीति= "यज्ञायुधी यजमानः स्वर्गलोकमेतीति" यज्ञपात्रों के साथ यजमान स्वर्ग में जाता है। यहां अन्त्येष्टि संस्कार के समय अग्निहोत्र के पात्र कपालादिक का सामने ही विनाश किया जाता है। क्योंकि अग्निहोत्र स्थित अग्नि से ही अन्त्येष्टी संस्कार (चिता को जलाया जाता है) किया जाता है। साथ में अग्निहोत्र पात्र भी नष्ट कर दिये जाते है। तो इस अवस्था में उन पात्रों के साथ यजमान का स्वर्ग में जाना सम्भव है नहीं। और कहा है- "यज्ञायुधी तो यहां जहल्लक्षणा लेनी होगी। "यज्ञायुधी" आयुधमानः वह जो मत्वर्थ प्रत्यय है उसका अर्थ आयुध का सम्बन्धी यजमान उसका ग्रहण करना है।

अथवा- "विशिष्टात् केवलं अन्यदिति" विशिष्ट शुध्दि से अतिरिक्त है इस न्याय के ग्रहण से यज्ञायुधी विशिष्ट यजमान से शुद्ध यजमान अतिरिक्त है इस न्याय से यहां जहल्लक्षणा ही लेनी होगी। जहत्प्रवृत्तिः= जहल्लक्षणा स्वीकृत की गई।

वैश्वानरादिवचनेष्विति— यहां आत्मा का स्थान जठराग्नि बताया है। यद्यपि वैश्वानर शब्द जाठराग्नि का वाचक होने पर भी वैश्वानर शब्द का रूढ्यर्थ है- जठराग्नि अवच्छिन्न आत्मा। अन्यथा "अहं वैश्वानरो भूत्वा" आत्मा और वैश्वानर का सामानाधिकरण्य नहीं होगा। और वैश्वानर पद से आत्मा का बोध नहीं होगा। ऐसा करने से रूढ्यर्थ मानने से आत्मा भी जठराग्नि में रहा और वैश्वानर अग्नि भी जठराग्नि में रहा। इस प्रकार वैश्वानर शब्द ने अपने स्वार्थ को नहीं छोड़ा साथ में आत्मामें भी उसकी वृत्ति है, इसी का नाम है- अजहल्लक्षणा वृत्ति। आदि शब्द से सृष्टिरूपदधातीत्यत्र= सृष्टी रूप धारण कर रही है। यहां सृष्टि शब्द सृष्टि-असृष्ट इष्टका (ईंट) दोनों का ग्रहण करता है। क्योंकि केवल सृष्टि तो जड़ होने से कैसे रूप धारण कर सकेगी। अतः जो सृष्टि का सम्बन्धी है- असृष्ट= ईंट है उनका भी ग्रहण किया जाता है। अथवा दीवार बढिया है तो दीवार शब्द दीवार तथा ईंट दोनों का ग्रहण करता है। इसे कहते हैं अजहल्लक्षणा। तत्त्वंगिरोरिति तत्त्वमसि वाक्यान्तर्गत तत् और त्वं पद दोनों के अन्दर भाग त्याग लक्षणा माननी पड़ती है। उभयरूपतया- जहदजहल्लक्षणा स्वीकार करनी पड़ेगी। तत् और त्वं दोनों पदों के पदार्थ में अभेद है, लेकिन उस अभेद का विरोध करने वाला है- विशेषणांश भाग, उसका परित्याग। साथ में अपरोक्ष चैतन्य जो

अद्वयआनन्दस्वरूप है- ये दोनों कार्यविशेषण भाग का परित्याग तथा धर्मिभाग का ग्रहण ये दोनों की काम तत् और त्वं दोनों पद जहजहल्लक्षणा के द्वारा संपादन करते हैं। इससे ब्रह्म, आत्मा आदि में शक्त जो ब्रह्म, आत्मा पद इनकी लक्षणावृत्ति कैसे मानें तथा ब्रह्म और आत्मादिक को लक्ष्यार्थ कैसे मानें? और शास्त्र भी ब्रह्म का बोध लक्ष्यार्थ रूप से करेगा तो शास्त्र अनात्मनिष्ठ होगा ये दोनों दोष निवृत्त हो जाते हैं। सबल ब्रह्म में ब्रह्म पद शक्त है, लेकिन शुद्ध ब्रह्म में ब्रह्मपद लक्षणावृत्ति वाला है। (लाक्षणिक पद है।) यह बात है।

ननु कथं तर्हि ब्रह्मशब्दस्य पूर्णब्रह्मार्थत्वं ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्य परिच्छिन्नत्वेन तच्छबले पूर्णतारूपबृहत्त्वासम्भावादित्याशङ्क्याह-

शंका- यदि ब्रह्म पद की शबल ब्रह्म में शक्ति स्वीकार की गई तो ब्रह्म शब्द तो पूर्ण ब्रह्मपरक ही हुआ। ब्रह्म से अतिरिक्त सभी परिच्छिन होने से अनित्य भी है। तो शबल ब्रह्म में पूर्णतारूप बृंहत्व (व्यापकत्व) तो नहीं आ सकता। इस आशंका के समधानार्थ कहते हैं—

ब्रह्माऽज्ञाने ह्यद्वितीयत्वमेकं
ब्रह्मण्यन्यच्चाद्वितीयत्वमस्ति।।
तत्संपर्कात्तत्र चाद्वैतताऽन्या
व्युत्पन्नोऽयं ब्रह्मशब्दस्तु तत्र।।१५८।।

अन्वयः— ब्रह्मज्ञाने हि एकं अद्वितीयत्वं, ब्रह्मणि अन्यद् अद्वितीयत्वं अस्ति। तत्संपर्कात् तत्र अन्या अद्वैतता। अयं "ब्रह्म" शब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः।

अन्वयार्थ- ब्रह्मगत अज्ञान में एक अद्वैतता है, ब्रह्म में दूसरी अद्वैतता है। उन दोनों (ब्रह्म और अज्ञान) के सम्पर्क से युक्त (विशिष्ट) अन्य अद्वैतता है। यह ब्रह्म शब्द तो उस (विशिष्ट) अर्थ में रूढ़ है।

ब्रह्माऽज्ञानेति। ब्रह्माश्रयविषयाऽज्ञान इत्यर्थः। हि यस्माद्ब्रह्माऽज्ञान एकमद्वितीयत्वमस्ति तस्य सकलप्रपञ्चविवर्त्ताश्रयतया, ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन तदन्तर्भूततया च सजातीयादिभेदशून्यत्वात्। ब्रह्मणि शुद्धे चान्यदद्वितीयवमस्ति तदतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वेन जीवानां च तन्मात्रत्वेन सजातीयादिभेदशून्यत्वात्। तत्संपर्कात्तयोः परस्परमधिष्ठानाध्यस्ततया तादात्म्यात्संवृत्ते तत्र तदुभयात्मके शबले अन्याऽद्वैतताऽस्ति अद्वितीयद्वयात्मकस्य तस्याप्यद्वैततानियमात्। एवं सति ब्रह्मशब्दस्य वेदान्तेषु जगत्कारणे बहुशः प्रयोगाज्जगत्कारणत्वस्य केवलेऽसंभवान् "मायां तु प्रकृतिं" "देवात्मशक्ति" मियादिवचनैबृहति शबले व्युत्पत्तिरविरुद्धेत्याह-व्युत्पन्न इति।।१५८।।

ब्रह्माऽज्ञानेति= अज्ञान ब्रह्मविषयक है तथा ब्रह्माश्रित रहता है। ब्रह्मविषयक अज्ञान रहता है तब भी ब्रह्म की अद्वितीयता है ही। उस अवस्था में ब्रह्म सम्पूर्ण प्रपञ्च का विवर्त का आश्रय है, अज्ञान ब्रह्म में अध्यस्त है, तो अज्ञान का आश्रयरूप ब्रह्म वह सजातीयादि भेदशून्य होने से अद्वितीय तो वह है ही। इसी प्रकार से जब शुद्ध ब्रह्म को जान लिया तब उस शुद्ध ब्रह्म में अद्वितीयत्व अलग है। शुद्ध ब्रह्म से अतिरिक्त सभी पदार्थ मिथ्या होने के कारण जीव भी मिथ्या कोटि में आ जाते हैं- इसलिये ब्रह्म के साथ सजातीयादि भेद नहीं हो सकता। इसलिये शुद्ध ब्रह्म भी अद्वितीय है। तो शबल ब्रह्म में अधिष्ठान या आश्रयरूप से अद्वैतता है जबकि अद्वैत शुद्ध ब्रह्म में अद्वैतता सर्वभेद राहित्यत्वेन है, दोनों में अद्वैतता है। इसी कारण जगत् कारण के प्रसंग में अनेक बार ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया क्योंकि केवल ब्रह्म में जगत्कारणत्व संपन्न नहीं हो सकता। अतः "मायांतु प्रकृतिं विद्धि" "देवात्मशक्तिं" इत्यादि वचनों से व्यापक शबल ब्रह्म वाचक ब्रह्म पद का प्रयोग किया है। इसलिये ब्रह्म पद का प्रयोग शबल ब्रह्म वाच्यार्थ में करने से किसी दोष की आपत्ति नहीं है।

एवं महावाक्यस्थब्रह्मादिपदवाच्यं शबलं तत्र शब्दस्य शक्तिं व्युत्पत्तिं च दर्शयित्वा तद्वाक्यस्थाहमादिपदवाच्यशबलं तत्राहमादिपदसम्बन्धग्रहं च दर्शयति-

सिद्धान्त रूप से महावाक्य "तत्त्वमसि" आदि के अन्तर्गत ब्रह्म पद वाच्य शबल ब्रह्म बता दिया है अर्थात् शबल ब्रह्मरूप अर्थ में ब्रह्म शब्द शक्त है इसी प्रकार महावाक्यान्तर्गत अहं शब्द का वाच्य सबल अहं आत्मा है इस बात को समझाते हैं-

प्रत्यग्भावस्तावदेकोऽस्ति बुद्धौ
प्रत्यग्भावः कश्चिदन्यः प्रतीति।।
प्रत्यग्भावस्तत्कृतस्त्र चान्यो
व्युत्पन्नोऽयं तत्र चात्मेति शब्दः।।१५६।।

अन्वय– बुद्धौ तावत् एको प्रत्यग्भावः, प्रतीचि कश्चित् अन्य प्रत्यग्भावः। तत्र तत्कृतः चान्यःप्रत्यग्भावः। तत्र आत्मा इत्ययं शब्दो व्युत्पन्नः।

अन्वयार्थः= अन्तःकरण में एक (अपारमार्थिक) प्रत्यग्रूपता प्रसिद्ध है। प्रत्यगात्मा में दूसरी पारमार्थिक प्रत्यग्रूपता (प्रसिद्ध) है। उस (विशिष्ट अर्थ) में अध्यासकृत अन्य ही प्रत्यग्रूपता है- (उस विशिष्ट अर्थ में) यह आत्मा शब्द रूढ़ है।

प्रत्यग्भाव इति। आन्तरत्वमिति यावत्। बुद्धौ अन्तःकरणे। शरीरेन्द्रियाद्यपेक्षया हि तदधिष्टात्रन्तःकरणमान्तरमित्यर्थः। अन्य आपेक्षिकादन्तःकरणनिष्ठप्रत्यक्त्वादन्यः। प्रतीचि

साक्षिणि। तस्य "य आत्मा सर्वान्तर" इति श्रुतेः सर्वान्तरत्वमन्यः प्रत्यग्भावोऽस्तीत्यर्थः। तत्कृतस्ताभ्यां प्रत्यक्त्वाभ्यां कृतस्तत्र- तदुभये शबलेऽन्यः ताभ्यां प्रत्यक्त्वाभ्यामन्यः प्रत्यग्भावोऽस्तीत्यनुषङ्गः। ततः किं तत्राह- व्युत्पन्नोयमिति। तत्र- शबले। आत्मेतिशब्दः- त्वमहमादिशब्दः। यद्यप्यहमादिशब्दसङ्गतिग्रहसमये तदर्थे शबलत्वं न प्रतीयते तथापि तस्मिन्विचारकाले तत्सिद्ध्यतीति वक्ष्यति ततस्तदापि तयुभयात्मकमेवेत्येवमुक्तम्।।१५६।।

प्रत्यग्भाव इति= आश्रयरूप से आभ्यन्तररूप से तो आत्मा ही है। बुद्धौ= अन्तःकरण में। अन्तःकरण में आत्मा शब्द प्रसिद्ध है, ऐसा मानते हैं। क्योंकि शरीर इन्द्रिय इनके अपेक्षा इनका अधिठान (आश्रय) अन्तःकरण और अन्दर है- भीतर है। अन्य इति- अन्तःकरण के भी अपेक्षा अन्य ऐसा प्रतीचि= साक्षी में, आत्मा पद की शक्ति है। क्योंकि कहा भी है श्रुतिभगवती ने "य आत्मा सर्वान्तर" इति सबके अभ्यन्तर भीतर रहने वाला आत्मा अन्य है, ऐसा कहा है। इन दोनों प्रतीतियों में आत्मभाव है- प्रत्यग्भाव है। अर्थात् अहं प्रतीति के दोनों ही अन्तःकरण तथा साक्षी वाच्य है। इससे क्या फल मिलेगा?- व्युत्पन्नोयमिति-तत्-शबल में। आत्मेति शब्दे= अहं शब्द वाच्यार्थता शबल आत्मा में तथा साक्षी आत्मा में दोनों में आई। यह बात एक अलग है कि जब हम महावाक्य में अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। तब सबल आत्मा की प्रतीति नहीं होती है लेकिन जब हम महावाक्य का विचार करेंगे तब उस समय शबल आत्माकी तथा शबल ब्रह्म की दोनों की सिद्धि होगी। इसलिए जैसे ब्रह्म शब्द जैसे शबल ब्रह्मपरक तथा केवल ब्रह्मपरक है इसी प्रकार आत्म शब्द भी शबल आत्मा तथा शुद्ध आत्मापरक है यह बात सिद्ध हुई।

एवं पदद्वयवाच्यशबलं तत्र ब्रह्मादिपदसङ्गतिग्रहं चोक्त्वा वाक्यस्य जहद-जल्लक्षणयाऽखण्डार्थ प्रतिपादनप्रकारमाह-

इस प्रकार तत् और त्वं इन दोनों पदों के शबल पदार्थ के निरूपण के बाद अर्थात् ब्रह्म और आत्मा इन दोनों पदों के वाच्यार्थ के बाद इन पदों के लक्ष्यार्थ का जहदजहल्लक्षणा से अखण्ड वाक्यार्थ बोध का प्रकार बता रहे हैं।

तच्छद्बवाच्यगतमद्वयभागमेकं
प्रत्यक्त्वमात्रमविरोधमपेक्षमाणः।।
त्वंशद्बवाच्यशबलस्थमुपाददानो
वाक्यादखण्डमथ तत्त्वमसीति विद्यात्।।१६०।।

अन्वयः= तच्छब्दंवाच्यगतं एकं अद्वयभागं (तत्पदेन) (तथा) त्वं शब्द वाच्यशबलस्थं प्रत्यक्त्वमात्रं (त्वं

पदेन) उपाददाना अविरोधं अपेक्षमाणः "तत्त्वमसि" इति वाक्यात् अखण्डं विद्यात्।

अन्वयार्थः= "तत्" शब्द के वाच्यार्थ में से एक अद्वय भाग के (तत्पद से) तथा त्वं शब्द से वाच्य विशिष्ट पदार्थ में से प्रत्यक्त्वमात्र को (त्वं पद से) ग्रहण कर और (दोनों के अन्वय में) अविरोध देखकर "तत्त्वमसि" इस वाक्य से अखण्डार्थ का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

तच्छब्दवाच्यगतमिति। वाक्यार्थे अविरोधमपेक्षमाणोऽधिकारी तच्छब्दवाच्यशबलगतः प्रविष्टमेकमद्वयभागं पारमार्थिकाद्वयभागं त्वंशब्दवाच्यशबलस्थं प्रत्यक्त्वं सर्वान्तरत्वं, जहदजहल्लक्षणयो-पाददानोऽनन्तरं तत्त्वमसीतिवाक्यादखण्डं विद्यादिति संबन्धः।।१६०।।

तच्छब्दवाच्यगतमिति= जो अधिकारी वाक्यार्थ में विरोध नहीं देखना चाहता है वास्तविक अधिकारी भी वही है जो वाक्यार्थ में विरोध नहीं देखें। वह अधिकारी क्या करता है?- तत् शब्द का वाच्य हुआ शबल ब्रह्मान्तर्गत, अद्वय ब्रह्म वहां है ही क्योंकि वहां भी किसी प्रकार का भेद नहीं यह तो वाच्यार्थ तथा (बहुव्रीहिःसमास से मायाविशिष्टं ब्रह्म यस्य सः, तत्- तदिति सः) शुद्ध ब्रह्म तो है ही अद्वय स्वरूप क्योंकि वहां भी किसी प्रकार का भेद नहीं है, यह पहिले कर दिया है- यह तत् पद का हुआ लक्ष्यार्थ। यह जो अद्वयत्व है- यह परमार्थिक है, इसी प्रकार से त्वं शब्द का वाच्य शबल आत्मा उसमें सर्वान्तर रूप से आत्मा (अन्तःकरणपरक है) यह हुआ वाच्यार्थ, और लक्षणावृत्ति (अन्तःकरण के भी भीतर) साक्षी आत्मा जो सर्वान्तररूप से है उसका बोध आत्म शब्द से अहं शब्द से हुआ। अतः उधर जो अद्वयभाग इधर जो सर्वान्तरत्व भाग दोनों का जहदजहल्लक्षणा से अखण्ड वाक्यार्थ बोध हो जाता है।

ननु तत्त्वंपदयोरेकार्थत्वमनुपपन्नं तथा सति पर्यायतापत्तेरत्यन्तभिन्नार्थत्वे च सामानाधिकरण्यायोगादिति भेदाभेदनिष्ठं तद्वाक्यमित्याशङ्क्याह।

शंका- तत् और त्वं दोनों पदों के द्वारा एकार्थ की (प्रमिति) उपलब्धि नहीं हो सकती। यदि दोनों पद एक ही अर्थ का निरूपण करें तब तो दोनों पदों में पर्यायवाचकता आयेगी, जैसे जलं, तोयं इत्यादि। यदि यह कहें कि दोनों पदों के वाच्यार्थ अलग-अलग है तब तो दोनों पदों का एकार्थ लेकर समानाधिकरण्य नहीं हो सकता। अतः इस वाक्य को भेदाभेद परक मानना चाहिये। ऐसी आशंका होने पर समाधान देते हैं-

आदेयांशे नाणुमात्रोऽपि भेदो
यद्यप्येवं भिन्नमादाय शब्दौ।।
वर्तेते त्वय्यद्वयात्मप्रकाशे
बाह्यं हेतुं जामिता नास्ति तस्मात्।।१६१।।

अन्वयः= यद्यपि आदेयांशे अणुमात्रोऽपि भेदो नास्ति। (तथापि) शब्दौ बाह्यं भिन्नं हेतुं आदाय अद्वय आत्मप्रकाशे त्वयि वर्तते। तस्मात् जामिता नास्ति।

अन्वयार्थः= यद्यपि उपादेय (अद्वयत्व तथा प्रत्यक्त्व) अंशों में लेशमात्र भी भेद नहीं। तथापि तत् तथा त्वम् दोनों शब्द बाह्य (वाक्यार्थ प्रविष्ट) भिन्न हेतु (प्रवृत्तिनिमित्त) को लेकर प्रवृत्त होते हैं। अतः पुनरुक्ति दोष भी नहीं।

आदेयेति। तात्पर्यविषये लक्ष्ये अपरोक्षचैतन्याद्वयभाग इत्यर्थः। अणुमात्रोऽपि ईषदपि। चैतन्यानन्दयोरत्यन्तमभेदात्। अन्यथानन्दस्याभानप्रसंगात्, चैतन्ये वा कल्पितत्वं स्यात् अन्यथा तदसंबन्धात्। एवं चैतन्यस्याप्यानन्दभेद उपेक्षणीयतापत्तिः। भेदाभेदौ च विरूद्धाविति तदुभयमेकरसं न तु भिन्नाभिन्नमित्यर्थः। एवं चेत्कथमपर्यायता पदयोरित्याशंक्योक्तानुवादेन तामुपपायति। यद्यप्येवमिति। भिन्नं परस्परमिति शेषः। शब्दौ तत्त्वमादिशब्दौ। बाह्यं वाक्यार्थद्वहिर्भूतम् हेतुं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं वाच्यमिति यावत्। जामिता पर्यायता। पदद्वयलक्ष्यस्यैकरसत्वेपि वाच्यभेदादपर्यायतेत्यर्थः।।१६१।।

आदेयांशे- तत्त्वमसि महावाक्य में ग्रहण करने योग्य जो अंश है अर्थात् जो तात्पर्य-विषयीभूत लक्ष्यार्थ अपरोक्षचैतन्य तथा अद्वय भाग। इनमें नाणुमात्रोऽपि= चैतन्य और आनन्द इन दोनों में तत् से अद्वय आनन्द भाग और त्वं से अपरोक्ष चैतन्य भाग दोनों में यत्किञ्चित् भी भेद नहीं है। यदि आनन्द अपरोक्ष चैतन्य से अलग हो। तब तो आनन्द का भान नहीं हो पायेगा। अथवा आनन्द भी अपरोक्ष चैतन्य में त्वं पद लक्ष्यार्थ में कल्पित हो सो ठीक नहीं, दोनों को एक माने बिना चैतन्य और आनन्द की संगति नहीं बन सकती। यदि चैतन्य को ही आनंद से भिन्न माना जाए तो भी चैतन्य में उपेक्षता आयेगी क्योंकि आनन्द स्वरूप न होने से। अब रह गई भेदाभेद की बात ये दोनों परस्पर में विरूद्ध होने से संगत ही नहीं है। अतः दोनों तत् और त्वं एक रस ही है। भिन्ना भिन्न नहीं है। तो भी दोनों पदों की पर्यायवाचकता कैसे नहीं? उसे समझाते हैं। यद्याप्येवमिति- दोनों शब्द भिन्न भिन्न वाच्यार्थ के वाचक होने पर भी शब्दौ= तत्त्वमादि शब्द बाह्यं- वाक्यार्थ से बहिर्भूत हेतुं- शब्द प्रवृत्तिनिमित्त वाच्यार्थ को लेकर ये दोनों शब्द अलग अलग अर्थ के वाचक होने से, जामिता- पर्यायवाचकता दोनों में नहीं है। तथा दोनों पदों की लक्ष्यार्थ को एक रसता को लेकर भी दोनों के वाच्यार्थ अलग अलग होने से पर्यायवाचकता दोनों-शब्दों में- पदों में नहीं आ सकती, यह बात सिद्ध हुई

नंनु जीवब्रह्मणोरत्यन्तमभेद घटकुटशब्दवत्त्वंपदसामानाधिकरण्यं न स्यात्। नीलमुत्पल-मित्यादावीषद्भेदे सत्येव सामानाधिकरण्यदर्शादित्याङ्क्याह।

शंका- यदि जीव और ब्रह्म का अत्यन्त अभेद मानेंगे तो जैसे घट-कुट शब्द के समान सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार से तत् और त्वं का सामानाधिकरण्य नहीं होगा। क्योंकि जैसे घट-शब्द से घटार्थ का बोध होता है इसी प्रकार कुट शब्द से भी घटार्थ का बोधन होता है। अतः जैसे नीलमुत्पलम् नीलकमल यहाँ नील गुण है और कमल गुणी (द्रव्य) है- दोनों का सामानधिकरण्य हो सकता है- क्योंकि दोनो का आपसमें विशेषण विशेष्य भाव रूप थोडा सा भेद है ही। ऐसी आशंका करने के बाद उत्तर देते हैं-

अद्वैतेऽर्थे प्रत्यगर्थोऽस्ति तद्वत्
प्रत्यक्तत्त्वे चाद्वयस्यापि भावः।।
यद्यप्येवं नातिरेकावकाशः
पूर्णे तत्त्वे तत्त्वमर्थोपपत्तेः।।१६२।।

अन्वयः= अद्वैतं अर्थे प्रत्यगर्थो अस्त्रि, तद्वत् प्रत्यक्तत्त्वे च अद्वयस्य भावोऽपि। यद्यपि एवं (तथापि) अतिरेकावकाशो न, पूर्णे तत्त्वे तत्त्वमर्थोपपत्तेः

अन्वयार्थ- अद्वैत अर्थ में प्रत्यगर्थ (अभेद रूप से) है, वैसे ही प्रत्यगर्थ में अद्वय रूपता भी (अभेद रूपसे) रहती है। यद्यपि एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न निरूपकों से निरूपित अद्वयत्व और प्रत्यक्तत्व दो धर्म है। तथापि उनका भेद नहीं है, क्योंकि एक ही पूर्णतत्त्व में "तत्" तथा "त्वम्" दोनों पदों की लक्ष्यता बन जाती है।।

अद्वैतेऽर्थ इति। शुद्धाद्वयानन्द इत्यर्थः। प्रत्यगर्थः केवलसाक्षी सर्वान्तरोऽस्ति तदभिन्न इति यावत्। तद्वतप्रत्यगभिन्नाद्वयवत्प्रत्यक्तत्त्वे उक्तसाक्षिणि अद्वयस्यापि भावः अस्त्येवेति सम्बन्धः। अद्वयार्थोऽपि प्रंत्यगभिन्न इत्यर्थः। यद्यपि शब्दौ सतीत्यस्यार्थे एवं सतीत्यर्थः। अतिरेकः ईषद्भेदः। अथ वाऽद्वैतेत्यादिना प्रत्यगद्वयाभेदो दर्शितः, यद्यपीत्यादिना सामानाधिकरण्यनिमित्तं भेदमनूद्य दूषयति एवमपि सामानाधिकरण्यादतिरेकावकाश इति यदि तन्नेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह। पूर्णे तत्त्व इति। तदा खलु ब्रह्म प्रतीचो व्यावर्त्तेत प्रत्यगपि ब्रह्मणः। एवं च तदर्थब्रह्मणो निरवधिकबृहत्त्वं त्वमर्थस्य च प्रतीचः सर्वान्तरत्त्वं न स्यात्। पूर्णे तत्त्वे सत्येव तत्त्वमर्थ-योस्तदुपपत्तेरित्यर्थः।।१६२।।

अद्वैतेऽर्थे-शुद्ध अद्वयानन्द अर्थ में (तत्पदलक्ष्यार्थ में) प्रत्यगर्थोऽस्ति-त्वं पद लक्ष्यार्थ केवल साक्षी सर्वान्तरभूत अभिन्न है। तद्वत्= इसी प्रकार से प्रत्यक्तत्त्व से अभिन्न अद्वय तत्त्व है, प्रत्यक्तत्त्वे= केवल साक्षी में अद्वय अवस्था का तत् पद लक्ष्यार्थ का अभेद है। अर्थात् अद्वयार्थ

भी प्रत्यक् तत्त्व से साक्षी से अभिन्न है। यद्यपि= यद्यपि यह बात है तो भी। नातिरेकावकाशः— इन दोनों पदों के अर्थ में थोडा भी भेद नहीं है।

अथवा- अद्वैतेति= अद्वय शब्द ने प्रत्यग् का तथा अद्वय का अभेद दिखाया है। यद्यपि- सामानाधिकरण्य होने के लिये भेद की जरूरत है- इस बात का अनुवाद करके सिद्धान्ती कहते हैं कि तत् और त्वं के सामानाधिकरण्य के लिये भेद की जरूरत नहीं है। तन्न= इसका अध्याहार- यद्यपि के बाद कर लेना जी। क्योंकि भेद नहीं है ।इसका कारण (हेतु) बता रहे हैं— पूर्णे तत्त्वे इति- भेद का स्वीकार करने पर ब्रह्म जीव से प्रत्यगर्थ से भिन्न होगा। इस प्रकार तत् का लक्ष्यार्थ ब्रह्म इसमें निरवधिक बृहत्व (निरवधिक व्यापकत्व) तथा पद का लक्ष्यार्थ सर्वान्तरत्वं संपन्न नहीं हो पायेगा। क्योकि दोनों का भेद होने से। इसलिये जब हम ब्रह्म को निरवधिक व्यापक मानेंगे तथा आत्मा को सर्वान्तरत्व स्वरूप मानेंगे तभी दोनों का अभेद बनेगा और दोनों में यत्किंञ्चित् भी भेद नहीं है, यह भी सिद्ध हुआ।

नन्वेकस्मिन् वाक्ये प्रयुक्तनिखिलपदलक्षणाऽनुपपन्ना लोके तथाऽदर्शनात् शक्तपदं विना वाक्यार्थाऽनुभवायोगाच्च तस्यैव तज्जनकत्वादिति चेन्न, न तावल्लोके तददर्शनं विषं भुंक्ष्वेत्यादौ तद्दर्शनात्, तेन हि वाक्येन शत्रुगृहान्नोदकादिभक्षणपानादीष्टसाधनं न भवतीति प्रतीयत इति सर्वपदलक्षणा, एवमर्थवादवाक्यस्थसर्वपदेऽपि प्राशस्त्ये लक्षणा दृष्टा, किं च तात्पर्यानुपपत्तिर्हि लक्षणाबीजं नान्वयानुपपत्तिः क्रय्येयं गौर्यतो बहुक्षीरेत्यर्थवादवाक्ये तदभावात्, एवं च यथा तात्पर्यमेकस्मिन्सर्वस्मिन्वा पदे लक्षणा न विरुद्धा, अत एव सोयमित्यत्रापि पदद्वयलक्षणैव न्याय्या, शब्दस्य वाक्यार्थानुभवजनकत्वे चान्वीयमानोपस्थापकत्वमेव तन्त्रं, न तु शक्तया तदुपस्थापकत्वं गौरवादित्युपक्रमाद्यनुरोधेन प्रत्यगद्वयमात्र-पर्यवसायितत्त्वमसिवाक्यस्थपदद्वयलक्षणा न विरुद्ध्यते, आवश्यकी च, अन्यथा श्रुति-तात्पर्यानिर्वाहादितिन्यायसिद्धेऽर्थेऽविनिगमनतर्कमप्यनुग्राहकमाह।

शंका= एक वाक्य के अन्दर सभी पदों की लक्षण करना अनुचित है। लोक में भी ऐसा देखा नहीं गया। शक्तपद के बिना वाक्यार्थ का अनुभव नहीं हो सकता शक्त पद ही वाक्यार्थ का जनक माना जाता है। यदि ऐसी शंका हो तो ठीक नहीं "विषं भुंक्ष्व" इस प्रयोग में वाक्यान्तर्गत सम्पूर्ण पदों में लक्षणा देखी गई हैं। यह प्रयोग- स्वसजातीय प्रतियोगित्व सम्बन्ध से किया गया। स्वपद से विष भोजन का ग्रहण करें, तत्सजातीय- उसका सजातीय हुवा शत्रुगृह भोजन, तत्प्रतियोगिकत्व शत्रु गृह भोजन में है। अर्थात् शत्रु के घर में भोजन नहीं करो। तो यहां सर्व पद लक्षणा देखी गई है। इसी प्रकार आयुर्वै घृतमित्यादि प्रयोग

में। दूसरी बात यह भी है कि लक्षणा का बीज तात्पर्यानुपपत्तिः है नकि अन्वयानुपपत्ति "क्रय्येयं गौर्यतो बहुक्षीरेत्यर्थ वाद वाक्य में, यह गौ जरूर खरीदनी चाहिये क्योंकि बहुत दूध देने वाली है। इसमें लक्षणा करनी है, लेकिन यहां लक्षणा तात्पर्यानुपपत्ति से है। अन्वयानुपत्ति से नहीं। और इसमें सभी पदों की लक्षणा की गई।। इस प्रकार तात्पर्यानुपपति लक्षणा का बीज हुवा। वह तात्पर्य एक पद में हो चाहे सभी पदों में हो लक्षणा का विरोध नहीं होगा। इस लिये "सोऽयम्" इस वाक्य के सभी दोनों पदों में लक्षणा न्यायोचित ही है। शब्द के अन्दर वाक्यार्थानुभव जनकत्व भी अन्वीयमान् पदार्थों की उपस्थिति करने मात्र से ही है न कि शब्द के (पद के) शक्ति द्वारा पदार्थों की उपस्थिति करने से इसमें गौरव है। अर्थ गौरव तथा शब्द गौरव दोनों ही इसमें आते हैं। अतः उपक्रम उपसंहारादि के अनुरोध से प्रत्यग् तत्त्व तथा अद्वय तत्त्व मात्र में पर्यवसित होने वाली तत्त्वमसि महावाक्यस्थ दोनों पदों की लक्षणा उचित ही है, विरोध नहीं और दोनों पदों की लक्षणा आवश्यक भी है। यदि दोनों पदों में लक्षणा नहीं- मानेंगे तो श्रुति तात्पर्य का निर्वाह नहीं हो पायेगा। फिर तर्क के द्वारा युक्ति के द्वारा सिद्ध अर्थ में एक पद में लक्षणा की जाय इत्यादि। विनिगमन भी (एकतरपक्षपाती तर्क) हो सकता है- तो विनिगमन् परक तर्क का अनुग्राहकरूप में निरूपण कर रहे हैं—

न च विनिगमनायां कारणं किंचिदस्ति
स्फुटमुभयपदस्था लक्षणा शस्यतेऽतः
न हि विनिगमनायां हेत्वभावे कदाचित्
क्वचिदियमुपलब्धा सोऽयमित्यादिवाक्ये।।१६३।।

अन्वयः= विनिगमनायां किञ्चित् स्फुटं कारणं च न अस्ति। अतः उभमपदस्था लक्षणा शस्यते। विनिगमनायां हेत्वभावे सोऽयमित्यादिवाक्ये क्वचित् (अपि) इयं कदाचित् नोपलब्धा।।१६३।।

अन्वयार्थः= विनिगमना (एक पद लक्षणा) में कोई स्पष्ट कारण नहीं है। अतः उभय पद लक्षणा मानी जाती है। क्योंकि विनिगमना में हेतु होने के कारण "सोऽयंपुमान्" आदि वाक्यों में कहीं भी यह (एक पद लक्षणा) कभी नहीं पाई जाती है।

न च विनिगमनायामिति। चकारेणोक्तं न्यायं समुच्चिनोति। अस्मिन्नेव पदे लक्षणा नान्यत्रेति निर्धारणायामित्यर्थः। शस्यते प्रशस्यस्ते। यतो विनिगमनायां किमपि स्फुट कारणं नास्ति अत उभयपदस्थेत्यादिसम्बन्धः। ननु तिष्ठतु कारणान्तरगवेषणं श्रोतुरिच्छैव तन्निमित्तमित्याशङ्क्य तर्हि वाक्यार्थव्यवस्था न सिद्ध्येत्सर्वेषामेकस्य वा श्रोतुर्नियतेच्छा-भावादित्याशयेनाह। न हीति। इयमेकपदलक्षणा।।१६३।।

न च विनिगमनायमिति= तत् की लक्षणा करें कि त्वम् की लक्षणा करें? तथा चकार से किस पद में लक्षणा करें। इस पद में ही लक्षणा करें अन्यत्र नहीं करें ऐसा निर्धारण करने में कोई कारण नहीं है। शस्यते= प्रशंसित की आती है। क्या? स्फुटमुभयपदस्था लक्षणा= उभय पद की लक्षणा की जाती है। क्योंकि कौन से एक पद में लक्षणा की जाय इसके लिये कोई भी स्फुट- स्पष्ट कारणं नास्ति (विनिगम के) कारण नहीं होने से।। प्रश्न= एक पद में लक्षणा होने के लिये कारण श्रोता की इच्छा ही मानें तो? फिर तो वाक्यार्थ व्यवस्था ही नहीं बन पायेगी। श्रोता की इच्छा ही सारा काम करेगी। दूसरी बात यह भी है कि सभी श्रोताओं की तथा एक श्रोता की कोई नियत इच्छा तो है नहीं कि इसी पद की लक्षणा मानी जाय दूसरे की नहीं। इसलिये कहा- नहि विनिगमनायां= एकपद लक्षणा मानने में हेतु के न होने से सोऽयं इत्यादि वाक्य में एकपद लक्षणा कदाचित= कभी भी, क्वचित्= कहीं भी नहीं मानी जा सकती।।

ननु यस्मिन्वाक्ये यत्पदं प्रथमं श्रूयते तदसंजातविरोधितया प्रबलं स्वार्थनिष्ठं तद्विरुद्धार्थं द्वितीयं तदनुकूलं लक्षयिष्यतीति तत्र कारणाभावोऽसिद्ध इत्याशङ्क्यात्रापि वाक्यार्थाव्यवस्थैव दोषः प्राथम्यादेरपि शाखाभेदेनाव्यवस्थितत्वादित्याह।

शंका– जिस वाक्य में जो पद पहिला सुना गया। उसका पहिला तो कोई विरोधी नहीं होने से (असंजात विरोधितया) वह पद प्रबल और स्वार्थनिष्ठ है, इसके विरोध में जो दूसरा पद है- वह पहिले पद के अर्थ के अनुसार ही लक्ष्यार्थ को लक्षित करेगा। अर्थात् दूसरे पद की लक्षणा मानें (पहिला पद वाच्यार्थ परक तथा दूसरा लक्ष्यार्थ परक यह भाव है) इस प्रकार एक पद में लक्षणा मानने में कारणाभाव नहीं हैं। ऐसी आशङ्का होने पर वाक्यार्थ की अव्यवस्था ही दोष है। और प्रथम पद का भी शाखा भेद से नियत रूप नहीं है। यह समझा रहे हैं–

प्रथमचरमभावो निर्णये कारणं चे
दयमपि नियमो न ह्यन्यथाऽप्यस्यदृष्टेः।
प्रथम पठितमासीत्तत्पदं सामवेदे।
चरम पठितमेतद् दृष्टमध्वर्युवेदे।।१६४।।

अन्वयः= चेत् प्रथमचरमभावो निर्णये कारणम्, अयं नियमोऽपि नहि, अस्य अन्यथाऽपि दृष्टेः, तत् पदं सामवेदे प्रथमं पठितम् असीत्, एतत् अध्वर्युवेदे चरमपठितम्।।

अन्वयार्थ= यदि कहें है कि प्रथम तथा अन्तिम पाठ को निर्णय में कारण मान लिया जाय, तो

यह नियम भी नहीं है। क्योंकि इसका विपर्यय देखा गया है, जैसे कि सामवेद में तत् प्रथम पठित है और वही यजुर्वेद में (बृहदारण्यकमें) अहं ब्रह्मास्मि वाक्य में अन्त में पठित हैं।

प्रथमेति। निर्णये लक्षणानिर्णये। अस्य प्रथमचरमभावस्य। अन्यथादर्शनमेवाह प्रथमेति। तत्पदमद्वयब्रह्मबोधकम्। सामवेदे तत्त्वमसिवाक्य इत्यर्थः। अध्वर्युवेदे यजुर्वेद "अहं ब्रह्मास्मीति" वाक्ये। एतत्तत्पदार्थबोधकम् ब्रह्मपदमित्यर्थः। एवञ्च तत्त्वमसिवाक्येन जगत्कारणत्वादिविशिष्टस्य ब्रह्मणस्त्वंपदलक्ष्यसाक्ष्यभेदः प्रतिपाद्यते, यजुर्वेदेन तु अहंकारकर्तृत्वादिविशिष्टस्य शुद्धाऽद्वयाऽभेदः प्रतिपादनीय इति सर्वेषामेकरूपं ब्रह्म न सिध्द्येत्तच्चायुक्तमेकस्य वैरूप्यायोगाद्वस्तुनि विकल्पासंभवाच्चेति भावः।।१६४।।

प्रथमेति= एक पद में लक्षणा का निर्णय करने के लिये। प्रथमचरमभावस्य= यह पद पहिला है यह दूसरा है- यह आखिरी वाला है। यह भी कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रथमेति= सामवेद के महावाक्य तत्त्वमसि में- तत्पदमद्वय जो ब्रह्म हैं उसका निवेश पहिले है। यजुर्वेद के अहं ब्रह्मास्मि के महावाक्य में त्वं पद वाचक अहं प्रत्यगात्मा का निवेश पहिले हुआ और ब्रह्म का निवेश आखिरी में हुवा। इस प्रकार एक पद लक्षणा मानने से अब यह सिद्ध हुवा कि तत्त्वमसि महावाक्यसे जगत्कारणत्वादिविशिष्ट ब्रह्म का त्वं पद का लक्ष्यार्थ भूत साक्षी के साथ अभेद है, इसी प्रकार अहं ब्रह्मास्मि इस यजुर्वेद के महावाक्य से अहंकार कर्तृत्वविशिष्ट जीव का शुद्ध अद्वय ब्रह्म के साथ अभेद ऐसा प्रतिपादित करना पड़ेगा। इस प्रकार करने से ब्रह्म का एक रूप सिद्ध नहीं होगा और यह ठीक नहीं है। एक ही ब्रह्म को नाना प्रकार से बताना ठीक भी नहीं। और ऐसा वह ब्रह्म हो भी नहीं सकता। निर्विकल्प ब्रह्म में ऐसे विकल्प संभव भी नहीं हैं।

प्रथमचरमभावस्यानिर्णायकत्वं सोऽयमित्यादिलौकिकवाक्येऽप्याह।

प्रथम तथा चरमभाव का निर्णय "सोऽयम्" इत्यादि लौकिक वाक्य में भी संभव नहीं है इसे बता रहे हैं-

सोऽयं पुमानयमसाविति पौरुषेये
वाक्ये तथाव्यतिहृतेऽत्र विशेषहेतुः।।
पूर्वापरत्वमिति शक्यमिदं न वक्तुं
मुख्यत्वलाक्षणिकते प्रति शब्दवृत्त्योः।।१६५।।

अन्वयः= "सोऽयं पुमान्" अयं असौ" इति तथा व्यवहृते अत्र पौरुषेये वाक्ये शब्द वृत्त्योः मुख्यत्वलाक्षणिकते प्रति इदं पूर्वापरत्वम् विशेषहेतुरिति न वक्तुं शक्यम्।

अन्वयार्थः= "सोऽयं पुमान्" "अयं असौ" इस प्रकार वैसे (विपरीत) पढे इस लौकिक वाक्यों में शब्द वृत्ति के मुख्यत्व तथा लाक्षणित्व के प्रति यह पूर्वापरत्वभाव विशेष निर्णायक नहीं कहा जा सकता है।

सोऽयं पुमानिति। अत्र वाक्ये तच्छब्दः पूर्वोऽयंशब्दः पश्चात्प्रयुक्तः अयमसाविविवाक्ये तु विपरीतः प्रयोगस्तदिदमाह। व्यतिहृत इति। व्यत्यस्त इत्यर्थः। सोऽयं पुमान् तथा तथा विधे अयमसाविति च व्यतिहृतेऽत्र पौरुषेये वाक्ये शब्दवृत्त्योर्मुख्यत्वलाक्षणिकते प्रति इदं पूर्वापरत्वं विशेषहेतुर्विनिगमनाहेतुरिति वक्तुं न शक्यमिति सम्बन्धः। अत्रापि वाक्यप्रयोक्तृणा-मुच्चारणे पूर्वापरत्वनियमादर्शनादिति भावः।।१६५।।

सोऽयमिति= सोऽयं (देवदत्तः) पुमान् इस वाक्य में। अत्र- इस वाक्य में। अयमसाविति पौरुषेये=अयं-स यह वही मनुष्य है। पहिले में तच्छब्द (स) पहिले है- बाद में- (असौ) अयम् यह हैं। और अयमसौ इस वाक्य में पहिले तो है अयं, और बाद में आया तच्छब्द का रूप असौ, दोनों प्रयोग एक दूसरे से विपरीत है। व्यतिहृत=व्यतिक्रम से उद्धृत किये गये हैं। तो सोऽयं पुमान् इस वाक्य में शब्द की दो वृत्ति है मुख्य तथा लक्षाणिक, इन वृत्तियों के लिये शब्दों का या पदों का पूर्वापर भाव कारण है- विनिगमन हेतु है- ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यहां भी "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य में भी वाक्य का उच्चारण करने वाले प्रयोक्ता का पूर्वापर नियम नहीं है। अतः एक पद लक्षणा की बात व्यर्थ है।

एवमखण्डे ब्रह्मणि तात्पर्यानुपपत्त्या विनिगमनाभावेन च पदद्वयलक्षणेत्युक्तम्, इदानीं मुख्यार्थयोरभेदान्वयानुपपत्त्याप्यविनिगमोपोद्बलिततया सा वक्तव्येत्याह।

इस प्रकार ब्रह्म में तात्पर्यानुपपत्ति होने के कारण तथा एक पद लक्षणा करने में कोई विनिगमक (एकतर पक्षपातिनी युक्ति) न "होने के कारण तत्त्वमसि" आदि महावाक्य के दोनों पदों में लक्षणा करनी पंडती है, यह कह दिया। अब दोनों पदों के मुख्यार्थ के, अभेदअन्वय की उपपत्ति सम्भव नहीं होने से तथा दोनों पदों के मुख्यार्थ के विरोध को हटाने के लिये भी दोनों पदों की लक्षणा करना जरूरी है-

न च भवति विरोधस्योत्थितस्यापनीतिः
पदयुगलनिविष्टां लक्षणामन्तरेण।।
न हि भवति कदाचित् सद्वयस्याद्वयत्वं
न च भवति परोक्षः प्रत्यगर्थोऽपि तद्वत्।।१६६।।

अन्वयः= पदयुगलनिविष्टां लक्षणां अन्तेरण उत्थितस्य विरोधस्य अपनीतिश्च न भवति, न हि सद्वयत्वं

कदाचित् अद्वयत्वं भवति, न च परोक्षः तद्वत् प्रत्यगर्थोऽपि भवति।।

अन्वयार्थ= उभय पद लक्षणा के बिना उठे विरोध की निवृत्ति भी नहीं होती है। क्योंकि न तो सद्वयत्व कदाचित् अद्वयत्व ही हो सकता है, और न परोक्ष वस्तु, कदाचित् प्रत्यग्रूप ही हो सकती है।

न च भवतीति। विरोधस्याभेदे विरोधस्योत्थितस्य ज्ञातस्यापनीतिर्निराकरणं पदद्वय-लक्षणामन्तरेण न च नैव भवतीति संबन्धः। विरोधमेव व्यनक्ति न हीति। तद्वत्सद्वयस्याद्वयाभेद इव। एतेन तदादिशब्दस्योपस्थितवाचकत्वात् शुद्धस्य च तात्पर्यविषयतयोपस्थितत्वाद्धिनैव लक्षणां ततः शुद्धोपस्थितिसंभव इति प्रत्युक्तम्, उपस्थितिविशिष्टस्य शुद्धत्वाऽसभ्भवात्, तदादिपदघटितवाक्य-गर्भमहावाक्यातिरिक्तावान्तरवाक्यस्य शुद्धे तात्पर्यासभवाच्च। न हि महावाक्यतदर्थप्रतिसन्धानं विना वाक्यैकदेशस्य शुद्धे तात्पर्यासंभवाच्च। नहि महावाक्यतदर्थ-प्रतिसन्धानं विना वाक्यैकदेशस्य शुध्दे तात्पर्यनिरूपणं संभवति, महावाक्यतदर्थप्रतिसन्धानं तु तत्पदतदर्थप्रतिसन्धानमृते न भवतीति तात्पर्यनिरूपणात्यागेन तत्पदार्थनिर्णयो वाच्य इति सृष्ट्यादिवाक्यानुरोधेन विशिष्टमेव तत्पदार्थ इति तत्रापि लक्षणा आवश्यकीति भावः। अत्र त्वमर्थगतसद्वितीयत्वांशपरित्यागवदापरोक्ष्यस्यापि परित्यागो वक्तव्यस्तस्मिन्सत्येव विरोधस्य परिहारादुद्देश्यविशेषणत्वेन तस्यापि परित्याज्यत्वाच्चेति न शङ्कास्पदत्वम्। प्रत्यङ्मात्रस्य त्वंपदे लक्षणयोपादेयस्य चैतन्यमात्रस्यापरोक्ष्यस्वभावत्वात्स्वभावात्यागे च भावत्यागापत्तेः। न हि ग्रहगतमेकत्वमविवक्षितमिति ग्रहत्वमप्युद्देश्यविशेषणत्वादविवक्षितं भवति, तस्य तत्स्वभावत्वात्। न च स्वयं चात्मा परोक्षश्चेति कस्य चिदनुभवः संभाव्यते। तस्मात्पारोक्ष्यसद्वयत्व-परिहारायोभयपदे लक्षणावश्यग्राह्येति भावः।।१६६।।

न च भवति= विरोधस्य= अभेद के विरोधी का उत्थितस्य= जो ज्ञात है। उस विरोधी का निराकरण पदद्वय लक्षणा के बिना सम्भव नहीं है। यह बात है। विरोध को बताते हैं- न हि भवति= सद्वय का अद्वय के साथ अभेद संभव नहीं है। इसके सदृश जो परोक्ष है वह अपरोक्ष से अभिन्न कैसे हो सकता है। अतः उभय पद लक्षणा जरूरी है- इससे तदादि शब्द से उपस्थित जो वाच्यार्थ- वह शबल है, शुद्ध का बोध तो तात्पर्य विषय भूत होकर लक्षणा के द्वारा ही होगा। तदादि पद से शुद्ध की उपस्थिति लक्षणा के बिना नहीं हो सकती यह बात सिद्ध हुई। वाचक पद से उपस्थित जो विशिष्ट वाच्यार्थ है वह शुद्ध से अतिरिक्त है। तदादि पद के युक्त अवान्तर वाक्य से भी शुद्ध में तात्पर्य नहीं आ सकता। क्योंकि महावाक्य के अर्थ के प्रतिसन्धान बिना महावाक्य के एक देश का (एक पद का) शुद्ध में तात्पर्य है, यह निरुपित नहीं किया जा सकता। महावाक्य के अर्थ का प्रतिसन्धान तो वाक्यान्तर्गत तत्तत्पद, तत्तदर्थ के अनुसन्धान बिना नहीं हो सकता। तो अवान्तर

वाक्य में जो तदादिपद है- उसमें तात्पर्य निरूपणं के पहिले ही तत्पदार्थ का निर्णय करना पडेगा। वह भी सृष्ट्यादि वाक्यों के अनुरोध से विशिष्ट (शबलब्रह्म) परक लेना पड़ेगा। वहां भी लक्षणा आवश्यक है।

शंका— त्वमर्थगत सद्वितीयत्वांश के समान अपरोक्ष अंश का भी परित्याग करना चाहिये क्योंकि ऐसा होने से ही अभेद विरोध का परिहार होगा। उद्देश्य हुवा अपरोक्षत्व उसका विशेषण हुवा सद्वयत्व, तो विशेषण के साथ अपरोक्ष रूप उद्देश्य का भी परित्याग किया जाय।

समाधान— त्वं पद की लक्षणा तो केवल चैतन्य मात्र में जो अपरोक्ष स्वरूप है, उसमें है। अर्थात् त्वं पद का लक्षणा का उपादेय स्वभाव से अपरोक्ष स्वाभाविक चैतन्य है। यदि स्वभाव को छोड देंगे, तत्तद्वस्तु में धर्म का ही परित्याग करना पडेगा, सो ठीक नहीं। क्योंकि प्रयोग होता है- ग्रहं "संमार्ष्टीति" ग्रहगतमेकत्वमविवक्षितमिति= एक भी विवक्षित नहीं है यज्ञपात्र के एकत्व की विवक्षा नहीं है। क्योंकि सभी सोलह यज्ञ पात्रों का मार्ञ्जना विवक्षित है बाकी ग्रहत्व तो पात्रत्व उद्देश्य विवक्षित है। अर्थात् यज्ञ पात्र की सफाई करनी है। इसमें जैसे एकत्व ग्रहे का विशेषण उद्देश्य का है इसी प्रकार ग्रहत्व भी तो ग्रह का विशेषण है। क्या वह भी अविवक्षित होता है? नहीं। क्योंकि ग्रहत्व तो गृह का स्वभाव ही है। इसी प्रकार से त्वं पद के लक्षणा से अपरोक्ष स्वरूप चैतन्य का ग्रहण करना, यह इसका स्वभाव हे। इसलिये अपरोक्ष का भी परित्याग करना चाहिये, यह उचित नहीं है, और यदि अपरोक्ष का परित्याग कर देंगे तो अनुभव ऐसा होना चाहिये कि आत्मा है और परोक्ष है। लेकिन ऐसा अनुभव किसी को भी होता नहीं है। इसलिये पारोक्ष्य तथा सद्वयता इन दोनों के परिहार के लिये तत् और त्वं दोनों पदों में लक्षणा आवश्यक है।

नन्वेकपदेऽपि लक्षणा व्यर्था, एकस्यैव ब्रह्मणो विशेषणद्वयविशिष्टतया पदद्वयवाच्यत्वेन दण्डी कुण्डलीतिप्रयोगादिवदभेदप्रतीत्युपपत्तेरिति चेन्न, विशिष्टाभ्यां तदुभयाश्रय केवलस्वरूपस्यान्यत्वे न लक्षणां विना तात्पदाभ्यामुपस्थित्यसम्भवात्, तथा हि इदानीमयं दण्डी न भवतीति हि दण्डिनो देवदत्तात्केवले तस्मिन् भेदः प्रतीयते, अभेदनिषेधस्य भेदविषयतयाऽन्यत्र क्लृप्तस्य विशेषणमात्रसंसर्गाभावविषयत्वायोगात्, अन्यथा घटः पटो न भवतीतिप्रतीतेरपि घटत्वात्यन्ताभावविषयत्वप्रसङ्गेन क्वापि भेदो न सिद्ध्येत्, न च प्राग् दण्ड्येवायमिति प्रत्यभिज्ञया तदभेदे सिद्धे निषेधधियोविशेषणाभावविषयतेति वाच्यम्, भेदबुद्ध्यनुरोधेन प्रत्यभिज्ञाया एव तज्जातीयविषयतयोपपतत्तेः, आत्मैवेदं सर्वमित्यादिना

सर्वाभेदसिद्धेः घटाद्यभेदनिषेधोऽपि न स्यात्, विशिष्टभेदस्तूभयत्रापि समान एव, अभेद बुद्धिरपि स्वरूपमात्राभेदविषयैवेति तयोर्भिन्नविषयतैव, एवं सति दण्डिकुण्डलिनोरपि परस्परं स्वसमानसत्ताकभेदबलात्त्रापि लक्षणयैव तदुभयाश्रयाऽभेदसिद्धिः, एवमेकदैकत्राविरुद्ध-विशेषणद्वयविशिष्टयोरपि परस्परभेदेन यदैकता न घटते तदा किमु वक्तव्यं विरुद्ध-विशेषणद्वयविशिष्टयोर्जीवेश्वरयोरित्याह।

पूर्वपक्ष-दोनों पदों में लक्षणा करना तो दूर की बात है, एक पदमें भी लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं है। एक ब्रह्म का ही निरूपण दो विषेषणों से विशिष्ट होकर- दो पदों के द्वारा वाच्य होकर- हो सकेगा- जैसे दण्डी कुण्डली (दण्डवान् कुण्डलवान्) प्रयोग होता है- इसमें अभेद प्रतीति ही तो होती है। यदि ऐसी कोई शंक करें तो।

समाधान= दण्डी (पुरुष), कुण्डली (पुरुष), (दण्डी कुण्डली) अर्थात् दण्डविशिष्ट पुरुष और कुण्डल विशिष्ट (दण्डवान्-पुरुष, कुण्डवान् पुरुष) ऐसे जो दो विशिष्ट बोध है। इन दोनों विशिष्ट बोधों का आश्रय जो केवल पुरुष है अर्थात् जिसमें दण्ड अथवा कुण्डल विशेषण नहीं है वह तो केवल पुरुष इन दोनों विशिष्ट बोधों से अलग होने के कारण-लक्षणा के बिना इन दोनों पदों के द्वारा-दण्डी (पुरुष) कुण्डली (पुरुष) केवल पुरुष की उपस्थिति नहीं कर सकते। क्योंकि जैसे समझिये- इदानीमयं दण्डी न भवति" इस समय यह पुरुष देवदत्त दण्डी नहीं है- अर्थात् दण्डवान् नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि दण्डरहित देवदत्त में-दण्डी देवदत्त का भेद-प्रतीत हो रहा है। जो देवदत्त पहिले दण्डी भी था तथा कुण्डली था। लेकिन इस समय वह दण्ड रहित होने के कारण दण्डी नहीं है। तो फिर दण्डी और कुण्डली दोनों का अभेद भी देवदत्त में नहीं आया। किन्तु अभेद का निषेध- (अभेद अभाव ही) है- जो भेदविषयक होगा। अर्थात् केवल देवदत्त में तो देवदत्त का दण्डवान् का भेद आया। तो इस समय में देवदत्त में अन्यत्र क्लृप्त स्पष्ट दण्डरूप विशेषण जो दण्डाभाववान् देवदत्त में है।- उस विशेषण रूप दण्ड के संसर्गाभाव का विषयत्व देवदत्त में नहीं मानते। क्योंकि विशिष्ट से या विशिष्टाभाव से केवल देवदत्त अन्य है। यदि देवदत्त में- देवदत्त निष्ठदण्डनिष्ठसंसर्ग-उसके अभाव की विषयता मानेंगे तो "घटः पटो न भवति" घट पट नहीं हैं। पटभेदवान् घटः इसमें घट में विशेषण हुआ पटभेदान्तर्गत पट, घटत्वाभाव अन्यत्र क्लृप्त विशेषण हुआ घटत्व क्योंकि, घटत्व तो अन्य घटों में है ही उसका संसर्गाभाव घटत्वाभावरूप, (घटत्व तो अन्य घटों में रहेगा)- अतः पटभेद-पटवान्भेद का अर्थ हुआ- घटत्वात्यन्ताभाववान् भेद- तो फिर कहीं भी भेद की सिद्धि नहीं हो पायेगी अर्थात् घटः पटो न यह प्रतीति भी सिद्ध नहीं हो

रही है।

शंका– पहिला यह यज्ञदत्त दण्डवान् था ऐसी प्रतिभिज्ञा से अभेद ही मानेंगे। अभेद निषेध नही करेंगे। और यदि हम अभेद का निषेध करें तो भी इदानीयं दण्डीनेति इस समय यह दण्डी नहीं है इसमें दण्डाभाव का विशेषण हुआ दण्ड-उसके अभाव को हम विषय प्रतिभिज्ञा के बल से मान लेंगे। क्योंकि प्रतिभिज्ञा तो अभेद परक है।

समाधान– दण्डवान् देवदत्त और दण्डरहित देवदत्त के अथवा दण्डी कुण्डली देवदत्त, तथा दण्डरहित कुण्डली यज्ञदत्त इसमें भेद होने से दण्डी कुण्डली यज्ञदत्त विषयक प्रतिभिज्ञा भी भेद बुद्धि के अनुसार, प्रतिभिज्ञा ही, पहिले यह दण्डी था, ऐसे ज्ञान की विषय बनेगी। न कि प्रतिभिज्ञा के आधार पर अभेद सिद्ध होने पर निषेध बुद्धि "इदानीमयं न दण्डी" इसमें दण्डाभाव विषय नहीं बनेगा। जैसा ज्ञान होता है– तज्जातीय पदार्थ को ही विषय बनाता है जैसे घट ज्ञान घट को इत्यादि। इस प्रकार दोनो विशिष्ट बुद्धियों से केवल देवदत्त अलग है। अब यदि इन विशिष्टार्थावगाहि पदों से केवल देवदत्त की प्रतीति करानी है- अर्थात् अभेद कराना है तब तो भागत्याग लक्षणा (जहदजल्लक्षणा) माननी ही पड़ेगी।

दूसरी बात "आत्मैवेदं सर्वं" यह सब आत्मा ही है। सबके साथ आत्मा का अभेद हुआ फिर घटादि पदार्थ के अभेद का निषेध भी आत्मा के साथ नहीं हो पायेगा। जबकि घटत्वेन घट आत्मा से अभिन्न नहीं है। घटत्वेन घट बुद्धि, आत्मत्वेन आत्म बुद्धि, दण्डी बुद्धि कुण्डली बुद्धि तत्ता बुद्धि तथा त्वं बुद्धि, ये सब दोनो जगह ही समान ही है। अर्थात् इन विशिष्ट बुद्धियों का भेद तो समान समान ही सर्वत्र है। अभेद बुद्धि की बात तो तभी बनेगी जब स्वरूपमात्र अभेद को विषय बनाया जाय। क्योंकि विशिष्ट विषय बुद्धि अलग है और केवल विषयक बुद्धि अलग है। तो अब देखिये दण्डीकुण्डली-दोनों परस्पर स्वसमान सत्तावाले, भेद वाले होने से वहां भी लक्षणा के द्वारा ही दोनों के आश्रय देवदत्त का बोध अभेद रूप से हुआ। अर्थात् एक देश में, एक काल में अविरूद्ध दो विशेषणों के द्वारा दो विशिष्ट बोधों का परस्पर भेद होने से लक्षणा के बिना एकता संभव नहीं है। फिर जहां दोनों विशेषण अत्यन्त विरूद्ध हो, अन्यत्र अन्यत्र हो, और उनसे विशिष्ट जीव और ईश्वर भी अलग अलग हो तो उनकी एकता बताइये लक्षणा के बिना कैसे संभव होगी। अर्थात् भाग त्याग (जहदजहल्लक्षणा) माननी ही पड़ेगी।

अविरूद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः।।
घटते न यदैकता तदा नितरां तद्विपरीतरूपयोः।।१६७।।

अन्वय– यदा अविरूद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि द्वयोः विशिष्टयोः एकता न घटते, तदा तद्विपरीतरूपयोः नितराम्।।

अन्वयार्थ– जबकि दो अविरूद्ध विशेषण वाले दो विशिष्ट पदार्थों की एकता नहीं घटती, तब तो विरूद्ध विशेषण वाले दो विशिष्टों की सुतराम (एकता नहीं हो सकती है)

अविरूद्धेति। स्पष्टम्।।१६७।।

अविरूद्ध= एक देश में तथा एक काल में देवदत्त में रहने वाले दण्ड कुण्डल विशेषण से युक्त जो विशिष्ट बोध दण्डवान् देवदत्त= (दण्डी देवदत्तः) तथा कुण्डलवान् देवदत्तः (कुण्डली देवदत्तः) जब इन विशिष्ट वाचक पदों के द्वारा केवल देवदत्त का (विशेषण रहित देवदत्त का) बोध लक्षणा के बिना संभव नहीं हो सकता। फिर जीव और ईश्वर जो एकदेशादि एकस्थानादि से युक्त नहीं है, ऐसे दो विशिष्टार्थावगाहि दो विशिष्ट पदों से शुद्ध चैतन्य, जो इनका आश्रय है, उसका बोध लक्षणा के बिना संभव नहीं हो सकता। यह तो कहने की जरूरत भी नहीं है। अर्थात् लक्षणा जरूरी है।

ननु विरूद्धरूपयोरपि जीवेश्वरयोः सत्त्वादिना केन चित्स्वरूपेणैकत्वसम्भवा-त्तत्वमादिवचनं कथं लक्षणां विना नैव प्रतिपादयेदिति शङ्कते-

शंका– जीव और ईश्वर दोनों भिन्न भिन्न हैं तथा इनका परस्पर भेद होने पर भी सत्ता स्वरूप से दोनों की एकता मानेंगे। जैसे घट और पट दोनों परस्पर में विरूद्ध हैं तथापि पृथिवित्वरूप से दोनों का अभेद हो सकता है। तो ऐसा ही यहां जीव और ईश्वर के विषय में संभव हो सकता है। फिर क्यों ऐसा कहा जाय कि लक्षणा के बिना तत्त्वमसि वाक्य के द्वारा एकता का बोध संभव नहीं होता है। ऐसी आशंका तथा समाधान दोनों ही इस श्लोक में दे रहे हैं-

**अथ केनचिदात्मनैकता वचनेन प्रतिपाद्यते तयोः।।
तदसुन्दरमस्तमेति हि स्फुटमेव त्रिविधापि लक्षणा।।१६८।।**

अन्वयः= अथ वचनेन तयोः केनचिदात्मना एकता प्रतिपाद्यते तद् असुन्दरम, एवं हि त्रिविधा अपि लक्षणा स्फुटं अस्तमेति।।

अन्वयार्थः– यदि वाक्य के द्वारा उन दोनों की किञ्चिद्रूप से एकता का प्रतिपादन किया जाय, तो वह उचित नहीं होगा। इस प्रकार से तो तीनों लक्षणाओं की समाप्ति ही हो जाती है।

अथेति। किं तत्स्वरूपं पदेन केन चिदुपस्थापनीयम् उत न। आद्ये तद्वाचकपदाभावेन ब्रह्माहंपदयोस्तत्र लक्षणाप्रसंगः। द्वितीये शब्दानुपस्थितस्यापि वाक्यप्रतिपाद्यत्वे गंगासम्ब-

न्धिनस्तत्पदादनुपस्थिततीरादावपि घोषान्वयित्वप्रतीत्युपपत्तेः, एवं शोणादिना लक्षणामन्तरेणाश्वादे-र्बहिस्थित्यन्वयसम्भवात्, तथा सोऽयमित्यत्रापि शुद्धस्य वाक्यार्थत्वसम्भवात्प्रसिद्धलक्षणोच्छेद-प्रसंगः। तस्मात्पदोपस्थितपदार्थयोरन्वयो वाच्य इत्यभेदयोग्यस्वरूपोपस्थितये पदद्वयलक्षणाऽवश्यं वाच्येत्याशयेनाह तदसुन्दरमिति। एवमेवं सति स्फुटमस्त्तमेतीति सम्बन्धः।।१६८।।

अथेति= जीव और ईश्वर का (तत् और त्वम् का) एक अभेद स्वरूप किसी पद से शब्द से प्रतिपादनीय है या नहीं। यदि कहो कि है, तो दोनों की एकता प्रतिपादक कोई शब्द है तो बताइये। वह तो है नहीं। इसलिये दोनों की एकता का प्रतिपादन के लिये लक्षणा की ही आवश्यकत्ता है। यदि दूसरा विकल्प करें कि दोनों की एकता बताने के लिये कोई पद या शब्द नहीं है, तथा तत्त्वमसि वाक्य से अभेद बोध हो जाता है, तब तो ''गंगायां घोषः'' यहां भी ऐसा मानना होगा कि गंगा सम्बन्धी तीर की उपस्थिति "गंगा पद से नहीं हुई और वहां तीर में घोषों का (मकानों का) अन्वय होगा। इससे जहदलक्षणा का उच्छेद होगा। इसी प्रकार से "शोणो धावति" लाल दौड़ रहा है-यहां भी शोण पद के लक्षणा के बिना ही घोड़े का दौड़ना तथा बाहर स्थित होने का अनुभव होने लगेगा इससे अजहल्लक्षणा का उच्छेद होगा। तथा प्रकृत में सोऽयं देवदत्तः इत्यादि स्थल में लक्षणा के बिना ही शुद्ध देवदत्त का वाक्यार्थ बोध हो जाने से सर्वत्र लक्षणा का उच्छेद ही होगा। अतः तत् त्वं दोनों पदों से उपस्थित पदार्थों का अन्वय जरूर कहना पड़ेगा। अब दोनों का अन्वय भी अभेदरूप है। तदर्थ- दोनों पदों में लक्षणा ही माननी पड़ेगी। इसलिये कहा कि तदसुन्दरमस्त्तमेति- यदि किसी अन्य पद के बिना शब्द के बिना ऐसा ऐसा बोध मानेंगे तो तीनों लक्षणायें निरर्थक हो जायेगी। अतः यह उपरोक्त शंका ठीक नहीं है।

एवं ब्रह्माहंपदयोर्लोकवेदव्यवहारानुरोधेन शबलवाचकयोर्जहदजल्लक्षणयाऽखण्डार्थ-त्वमुक्तम्, इदानीमज्ञानमात्रवाची ब्रह्मशब्दः मम योनिर्महद्ब्रह्मेत्यत्र केवलाज्ञाने ब्रह्मशब्द-प्रयोगात्, एवमहं- शब्दोऽपि व्यवहारबलेन लाघवाच्च केवलाहंकारवाची भवत्विति ताभ्यां जहल्लक्षणयैवाऽखण्डवस्तुप्रतिपत्तिरिति पक्षान्तरमाह-

इस प्रकार ईश्वर वाची (ब्रह्मवाची) तथा जीव वाची तत् और त्वं पद का लौकिक तथा वैदिक मतानुसार पहिले तो ये दोनों शब्द शबल के वाचक हैं, बाद में ये ही दोनों शब्द लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ के बोधक हैं- यह कहा। अब यहां एक विचार बहुत बढ़िया कर रहे हैं- ब्रह्म शब्द अज्ञानमात्र वाचक भी बताया है- जैसे गीता में कहा है- "मम योनिर्महद्ब्रह्म" यहां केवल अज्ञानवाचक ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार से अहं शब्द भी अहंकारवाची मानने से ब्रह्म और अहं शब्द की केवल जहल्लक्षणा

के द्वारा भी अखण्ड वस्तु प्रतिपादकता संभव हो सकती है। इसके लिये जहदजहल्लक्षणा की जरूरत नहीं है, ऐसा भी एक पक्ष उपस्थित कर रहे हैं-

साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाऽहं
शब्दोऽहंकारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे।।
नौरेषा रौति लोहं दहति विषधरो रज्जुरग्रे तवासा-
वित्यत्रेवात्मवस्तुन्यपि भवतु जहल्लक्षणा को विरोधः।।१६६।।

अन्वयः— यदि पुनः ब्रह्मशब्द साभासाज्ञानवाची भवति, तथा अहं शब्दो अहंकारवाची, तत्र च पक्षे तु जहती लक्षणा भवति, "एषानौः रौति" लोहं दहति" तवाग्रे असौ विषधरो रज्जुः" इत्यत्रेव आत्मवस्तुन्यपि जहल्लक्षणा भवतु को विरोध?

अन्वयार्थ= यदि ब्रह्म शब्द साभास अज्ञान वाची हो तो अहं शब्द अहंकारवाची, इस पक्ष में तो जहती लक्षणा होती है। यह नौका रोती है, लोह पिण्ड जलाता है, आपके सामने यह सर्प रज्जु है, इत्यादि स्थलों के समान ही आत्मवस्तु में भी जहल्लक्षणा हो सकती है, विरोध क्या है?

सामासाज्ञानेति। चिच्छायायुक्ताज्ञानवाचीत्यर्थः। यदीति निश्चयार्थे। जहल्लक्षणाया अतिप्रसिद्धतया प्रस्तुते (प्रवृत्ते) तदौचित्यार्थं दृष्टान्तमाह। नौरित। रौति शब्दंकरोति। नावः शब्दकर्तृत्वानुपपत्तेस्तया तत्स्थः पुरुषो लक्ष्यते एवमुत्तरत्रापि लोहरज्जुशब्दाभ्यां वह्निसर्पयोर्लक्षणा। रज्जुर्विषधर इतिलोकप्रसिद्धप्रयोगानुवादत्वाद् ग्रन्थकर्त्तुर्न विलिङ्गप्रयोग-दोषः। विषधरा उ इति छेदो वाऽस्तु। विषधरपदं वा दीर्घद्रव्यलक्षकं तथा च न विलिङ्गता। दार्ष्टान्तिकमुपसंहरति। आत्मवस्तुनीति।

अत्रानिश्चितार्थयदिशब्दस्वारस्येन प्रौढिवादोऽन्यं ग्रन्थकारस्येति केचित्। तत्र च बीजं, ब्रह्मशब्दस्य जगत्कारणे प्रचुरप्रयोगानुरोधः, अज्ञाने तत्प्रयोगस्य क्वाचित्कत्वात्, एवमात्म-वचनाहंशब्दस्यापि नियमेन शबल एव प्रयोग इति।।१६६।।

सामासाज्ञानेति= ब्रह्म शब्द महद्ब्रह्मपरक, चिच्छायायुक्त अज्ञानवाची, मान लिया। यदि= निश्चित रूप से मान लिया। फिर तो जीव और ब्रह्म की एकता कराने के लिये केवल जहल्लक्षणा से ही काम चलेगा। इसके लिये अत्यन्त प्रसिद्ध दृष्टान्त प्रदान कर रहे हैं। नौरिति= नौका। रौति= शब्द कर रही है। नैय्या जड़ होने से शब्द नहीं कर सकती किन्तु नौका में स्थित पुरुष शब्द कर रहे हैं- तो नौका बोलती है, इससे पुरुष का बोध होता है। इसी प्रकार इसे "लोहं दहति" लौहखंड जला रहा है-इससे अग्नि का बोध इसीप्रकार से विषधरो रज्जुरग्रे- विषधर रज्जु सामने है। इससे सर्प में लक्षणा देखी

जाती है। विषधरो= यहा विषधरा उ इति वितर्क उ देने से इससे स्त्रीलिंग मानने से समान लिंगता आयेगी। ऐसा छेद करके प्रयोग करें। विषधरो "अथवा रज्जुर्विषधर= ऐसा लौकिक प्रयोग होता है इसलिये ग्रन्थकार पर विभिन्न लिंग प्रयोग दोष नहीं है।

अथवा– विषधर पद दीर्घ द्रव्यलक्षणपरक है अतः विलिंगता नहीं है। विषधरो रज्जुः= इसका बोध होगा, "दीर्घद्रव्याभिन्न रज्जुरिति" दीर्घद्रव्य से अभिन्न रज्जु है ऐसा बोध होता है। अस्तु तो जैसे ऊपर के उदाहरण बताये है वैसे यहां भी ''आत्मवस्तुन्यपि= ब्रह्म और अहं में जहल्लक्षणा को प्रयोग करने से शुद्ध अद्वितीय अखण्डार्थ का बोध सम्भव होगा। अर्थात् ब्रह्म शब्द से अज्ञान सम्बन्धी चैतन्य तथा अहं शब्द से अहंकार सम्बन्धी चैतन्य का बोध करेंगे।

कुछ विद्वान् इस श्लोक में प्रथम जो यदि पद आया है। उससे ग्रन्थकार का यह एक प्रौढ़ीवाद मानते हैं। इसमें क्या कारण हैं, तो बताते है ब्रह्म शब्द का प्रयोग जगत् कारणत्व में है न कि अज्ञान में, अज्ञान में ब्रह्म शब्द का प्रयोग कहीं कहीं देखा गया, सार्वत्रिक नहीं है। इसी प्रकार से अहं शब्द के द्वारा अविद्याविशिष्टचैतन्य शबल का प्रयोग सार्वत्रिक नियम से देखा गया है, न कि अहंकारवाची- यह प्रयोग शुद्ध ब्रह्मपरक देखा जाता है। ऐसा कुछ विद्वान् ग्रन्थकार की प्रौढ़ी मानकर इस श्लोक का अर्थ करते हैं।

निर्गुणे कस्यापि गुणस्याभावात्प्रौढ़िवादेनैव पक्षान्तरमाह-

निर्गुण ब्रह्म में किसी भी गुण की सम्भावना नहीं है। इसलिये प्रौढ़ीवाद को लेकर और एक पक्षान्तर जीव ब्रह्म के अखण्डार्थ बोध के लिये बता रहे हैं-

प्रत्यक्त्वादिगुणान्वयेन यदि वा गौण्यस्तु वृत्तिस्तयो
र्ब्रह्माहंपदयोः परेतरदृशोर्मुख्ये विरोधो यतः।।
मुख्यार्थाऽनुपपत्तिहेतुकतया गौण्यस्ति वृत्तिर्यतो
लोके माणवको विभावसुरसौ सिंहः पुमानित्यपि।।१७०।।

अन्वयः= यदि वा यतः परेतरदृशोः ब्रह्माहम् पदयोः मुख्ये विरोधः अतः तयोः प्रत्यक्त्वादिगुणान्वयेन गौणीवृत्तिरस्तु। यतः लोके "विभावसुः माणवकः" सिंहः पुमान् इत्यादि मुख्यार्थानुपपत्तिकतया गौणी वृत्तिरस्तु।

अन्वयार्थः= अथवा पर अपर चैतन्य ज्ञानजनक जो ब्रह्मपद तथा अहं पद इनके मुख्यार्थ के अभेद में विरोध है, अतः उक्त दोनो पदो की प्रत्यक्त्वादिगुणान्वयन के द्वारा गौणी वृत्ति होती है। क्योंकि लोक में भी "अग्निर्माणक" सिंह पुमान् आदि स्थलों में मुख्यार्थानुपपत्ति के कारण ही गौणी वृत्ति मानी गई है।

प्रत्यक्त्वादीति। आदिपदेन बृहत्त्वं गृह्यते। तयोः परेतरदृशोः, ईश्वरजीवयोरिति सप्तम्यौ। यदि प्रत्यक्त्वादिगुणान्वयेन वृत्तिस्तर्हि गौण्यस्त्विति सम्बन्धः। तयोर्ब्रह्माहंपदयोरिति वान्वयः। किंलक्षणयोः परेतरदृशोः परापरयोर्ब्रह्मप्रत्यगात्मनोर्दृग्ज्ञानं याभ्यां तयोरिति विग्रहः। तत्र हेतुर्मुख्य इति। ननु लक्षणामन्तरेण गौणी का चिदमुख्यवृत्तिर्न लोके सिद्धेत्याशंक्याह। मुख्यार्थेति। मुख्यार्थान्वयानुपपत्तिर्हेतुर्यस्मिन्नमुख्यसंबन्धे स तथा तस्य भावस्तत्ता तयेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमेव हेतुमाह यत इति। विभावसुरग्निः। अग्निर्माणवकः सिंहो देवदत्त इत्यादौ अग्न्यादिशब्दस्य स्वार्थगुणयोगेन माणवकादावनेकत्र प्रयोगाल्लोके गौणी वृत्तिर्यतः प्रसिद्धतमेत्यर्थः।।१७०।।

प्रत्यक्त्वादि इति= प्रत्यक्त्व रूप से तथा आदि पद से बृहत्व रूप से। तयोःपरेतरदृशोः= ईश्वर और जीव में। अर्थात् जीव में प्रत्यक्त्वादि गुण तथा ब्रह्म में बृहत्वादि गुण की वृत्ति मानते हो तो फिर, गौण्यस्तु= ब्रह्म और अहं पद की तत् और त्वं पद की गौणी वृत्ति ही मान लो।

यहां गौणी वृत्ति मानें तो? जीव और ईश्वर जो क्रम से अपरोक्ष तथा अद्वय स्वरूप होने से दोनों भिन्न भिन्न है। अर्थात् इनके मुख्यार्थ के विरोध हैं। अब मुख्यार्थ की अनुपपत्ति नहीं हो। अर्थात् दोनों का अखण्ड वाक्यार्थ बोध हो एतदर्थ गौणीवृत्ति का प्रयोग करना पड़ेगा।

शंका— लक्षणा के बिना गौणी तो अमुख्यवृत्ति होने से लोक में प्रचलित नहीं है।

समाधान- मुख्यार्थेति= जहां मुख्यार्थ ऐक्यार्थ बोध की उपपत्ति संभव न हो वहां गौणी सम्बन्ध या गौणी वृत्ति मुख्य न होने पर भी उपयुक्त है। दृष्टान्त के द्वारा इसका उपपादन कर रहे हैं- विभावसुरग्निः- अग्निर्माणवकः सिंहोदेवदत्तः इत्यादौ- अग्न्यादिशब्द स्वार्थगुण के योग से माणवक में (मनुष्य के बालक में) लोक में प्रयुक्त होते हैं इसलिये लोक में इसे गौणीवृत्ति कहते हैं।

ननु स्वार्थं विहायार्थान्तरे वृत्तिर्गौण्यप्यस्ति चेत्कस्तर्हि लक्षणागौण्योर्भेद इति शंकामनूद्य तयोरवान्तरभेदोऽस्तीत्याह-

गौणी वृत्ति भी स्वार्थ अग्नि अर्थ को छोड़कर माणवक में प्रवृत्त है इसी प्रकार लक्षणावृत्ति भी है। तो दोनों वृत्तियों में क्या भेद है? तो भेद बताते हैं—

परशब्दवृत्तिरपरत्र भवेदिति यद्यपीदमुभयोः सदृशम्।।

अनयोस्तथापितु विभागकरं स्फुटमस्ति लक्षणमवान्तरकम्।।१७१।।

अन्वय– परशब्दवृत्तिः अपरत्र भवेत्, इति यद्यपि उभयोः सदृशम्, तथापि अनयोः विभागकरं स्फुटम्, अवान्तरलक्षणं अस्ति।

अन्वयार्थः= अन्यार्थ वाचक शब्द की अन्य अर्थ में वृत्ति, यह लक्षण यद्यपि दोनों लक्षणा और गौणी में समान है तथापि इन दोनों का भेदक स्पष्ट रूप से अवान्तर लक्षण है।

परशब्दवृत्तिरिति। परस्य लक्ष्यमाणादन्यस्य वृत्तिरित्यर्थः। अपरत्र स्वार्थादन्यत्रोभया-र्लक्षणागौण्योः सदृशं यद्यपीति सम्बन्धः। अनयोरित्यादि स्पष्टम्।।१७१।।

परस्येति= लक्षणा तथा गौणी वृत्ति दोनों ही स्वार्थ से हटकर दूसरे का बोध कराते हैं यह समानता दोनों में बराबर है। अपरत्र= स्वार्थ से अन्यत्र लक्षणा तथा गौणी वृत्तियों में समानता है। लेकिन इनका भेद करने के लिये-अवान्तर लक्षण-स्पष्ट कर रहे हैं। जिससे लक्षणा वृत्ति तथा गौणी वृत्तियों में भेद स्पष्ट हो सकें।

अवान्तरभेदमेव दर्शयति-

दोनों में अवान्तर भेद कैसे हैं– इसे बताते हैं-

गुणतो गुणवृत्तिरिष्यते ह्यपरा लक्षणिकी तु सङ्गतेः।।
इति भेदकमस्ति लक्षणा गुणवृत्त्योरिति वेदवादिनः।।१७२।।

अन्वय– गुणतः हि गुणवृत्तिः इष्यते, संगतेस्तु अपरा लाक्षणिकी, इति लक्षणागुणवृत्त्योः भेदकं अस्तीति वेदवादिनः।।

अन्वयार्थ– गुण योग से गुणवृत्ति मानी जाती है, और सम्बन्धमात्र से दूसरी लक्षणावृत्ति, यह लक्षणावृत्ति और गुणवृत्ति का भेदक है, ऐसा वेदवादी कहते हैं।

गुणत इति। लक्ष्यमाणगुणयोगेन स्वार्थादन्यत्र वृत्तिर्गौणी। लाक्षणिकी तु अपराऽन्या, सा संगतेः- स्वार्थसम्बन्धमात्रादर्थान्तरे वृत्तिर्न तु गुणयोगादित्यर्थः। इत्यनेन प्रकारेण लक्षणागुण- वृत्त्योर्भेदकमस्तीति वेदवादिनो मीमांसकाः।

"अभिधेयाऽविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।

लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणतेत्याहुरित्यर्थः।

गङ्गादिपदं हि स्वार्थान्वयानुपपत्तौ सत्यां तद्विहाय तत्सम्बन्धिनि वस्तुनि वर्तते न तु तद्गुणयोगमपेक्षते तीरे गङ्गासादृश्याप्रतीतेः। ज्वलनादिपदं तु स्वार्थासम्बन्धिन्यपि माणवकादौ लक्षितस्वार्थेशुचित्वादिगुणयोगेन वर्तते, अत एवाग्निसदृशो माणवक इति ततः

प्रतीयते इति तयोः स्फुटमस्ति भेदकमित्यर्थः।।१७२।।

गुणत इति– लक्ष्यमाण गुण के योग से (सादृश्य सम्बन्ध से) स्वार्थ से अन्यत्र जो वृत्ति उसे गौणी वृत्ति कहते हैं। लेकिन लाक्षणिक वृत्ति तो स्वार्थ सम्बन्ध मात्र से (सादृश्येतर सम्बन्ध से) अर्थान्तर में रहती है, गौणीवृत्ति के समान गुण योग से लक्षणावृत्ति नहीं रहती। इस प्रकार लक्षणावृत्ति तथा गुण गुण के आधार पर गौणीवृत्ति दोनों का भेद है, ऐसे वेदवादी मीमांसक भी कहते हैं- ''अभिधेयाऽविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।

लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणतेत्याहुरित्यर्थः''

अर्थात् गंगायां घोषः- इस प्रतीति में गंगा पद का स्वार्थ गंगा प्रवाह उसमें घोष की अन्वय की उपपत्ति नहीं हो सकती इसलिये प्रवाहरूप अर्थ को छोड़कर तीर अर्थ का ग्रहण लक्षणा वृत्ति से किया जाता है जहां ग्वालों के घर हैं। लेकिन तीर में गंगा पद की गौणी वृत्ति नहीं मानी जाती क्योंकि वहां तीर में गंगा के प्रवाह के सदृश कुछ भी तो है नहीं इसलिये वहां गौणी वृत्ति नहीं है। यहां प्रवाह तथा तीर में संयोग सम्बन्ध से ही लक्षणा बनेगी। "अग्निर्माणवकः" यहां ज्वलनादि पद अपने अर्थ के असम्बन्धी मनुष्य के बालक में अग्निनिष्ठ शौर्यत्वादिगुण का योग प्रदान गौणीवृत्ति से करता है। इसलिये "अग्निर्माणवकः में गौणीवृत्ति ''तद्भिन्नत्वे सति तद्गत भूयोधर्मवत्वम् तथा "गंगायांघोषः" में लक्षणा वृत्ति स्वीकृत करते हैं। दोनों में भेद स्पष्ट ही है।

एवं जहदजहल्लक्षणया तत्त्वम्पदाभ्यामुपात्तप्रत्यग्ब्रह्माभेदनिष्ठं महावाक्यमित्युक्तम्, इदानीं तदनुवदन्नुपादेयप्रत्यग्ब्रह्मणोरवान्तरश्रुतितात्पर्यगोचरस्वरूपमाह-

इस प्रकार जहदजहल्लक्षणा से तत्त्वमसि महावाक्यस्थित तत् और त्वं पद से जीव ब्रह्म का अभेद बता दिया है। अब अवान्तर वाक्य को इस बात का अनुमोदन करते हुये जीवब्रह्मैक्य की एकता को अपना अवान्तर श्रुति का तात्पर्य भी इसी में है बताते हैं- अर्थात् जीव ब्रह्म का अभेद बताने में ये तत्पर हैं–

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः
सत्यः सूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः।।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि
प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति।।१७३।।

अन्वयः:— यः नित्यः शुद्धः बुध्दमुक्तस्वभावः, सत्यः, सूक्ष्मः सन्विभुः, अद्वितीयः, आनन्दाब्धिः, अहं प्रत्यग्धातुः सोऽस्मि, अत्र संशीति नास्ति।।१७३।।

अन्वयार्थः:— जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप, सत्य, सूक्ष्म, ऐसा अद्वितीय परमानन्द रूप परमात्मा है, मैं प्रत्यगात्मा वही हूँ, इसमें कोई संशय नहीं।।१७३।।

नित्य इत्यादिना। वस्तुतः कालत्रयापरिच्छेद्यो नित्यः। शुद्धः- अविद्याकलंकरहितः। बुद्धः- स्वप्रकाशबोधो न तु विषयः। मुक्तो- रागद्वेषादिबन्धरहितः। सत्यः- त्रिकालाबाध्यः। सूक्ष्मः- स्थौल्यरहितो दुर्विज्ञेयो वा। सन् विद्यमानो भावस्वरूप इति वा। विभुः- देशापरिच्छिन्नः स्वतन्त्र इति वा। अद्वितीयः- वस्त्वन्तररहितः। आनन्दाब्धिः- अनवच्छिन्नानन्दः। परः- परमात्मेति विशेष्यम्। एवं तत्पदलक्ष्यस्वरूपं निर्दिश्य त्वंपदलक्ष्यस्वरूपमाह। प्रत्यग्धातुरिति। अहमनुभवे प्रकाशमानोऽहंकारादिसाक्षी प्रत्यग्धातुशब्दः स्वरूपवाची। सोऽपि उक्तलक्षण एवातो न किं चिदपि तदुभयवैलक्षण्यमिति तदत्यन्तभिन्नमेवेत्याशयेन वाक्यार्थमाह। सोऽहमस्मीति। विद्धीति शेषः। अस्यार्थस्य प्रागुपपादितत्वाच्चाग्रे चोपपादयिष्यमाणत्वात्संशयं मा कुर्वित्याशयेनाह। नात्रेति। अथ वाऽस्मीत्यविवक्षितम् य एतादृशः परमात्मा सोऽहंपदलक्ष्य-प्रत्यक्चैतन्यमित्यर्थः। यथा चिदेकरसमपि ब्रह्म वस्तु स्वभावतः सत्यज्ञानादिपदैरपर्यायैस्तात्पर्येण प्रतिपादनाच्च सत्यज्ञानान्दात्मकमित्युच्यते, एवं नित्यो नित्यानामज आत्मा महान् अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः असङ्गो ह्ययं पुरुषः अकामं रूपं शोकान्तरम् विमुक्तश्च विमुच्यते सत्यं ज्ञानं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं सदेव सौम्येदम् एकमेवाद्वितीयम् एषोऽस्य परम आनन्द इत्येवमादितत्तद्वाक्यस्थैरपर्यायैर्नित्यादिशब्दैस्तात्पर्यतः प्रतिपादनात्तन्नित्यशुद्धादिस्वभाव-मित्युच्यत इति।।१७३।।

नित्यइत्यादिना-परः- परमात्मा कैसा है? तो नित्य-अर्थात् जिसका तीनों काल में परिच्छेद नहीं कर सकते। कालत्रय से जो अपरिच्छिन्न है उसे नित्य कहते हैं।

शुद्ध- परमात्मा-अविद्या कलंक से रहित है, ब्रह्म - स्वप्रकाशबोध स्वरुप वह है, न कि बोध का विषय वह है। मुक्तो- राग द्वेषादिबंधन से रहित वह है। सत्य- तीन कालों में जिसका बाध नहीं होता त्रिकालाबाध्यत्व रूप वह है। सन् भावस्वरूप विद्यमान वह है, विभु- देश से अपरिच्छेद्य वह है अर्थात् स्वतन्त्र वह परमात्मा है, अद्वितीयः- अन्य किसी वस्तु के साथ नहीं है। इसी प्रकार से आनन्दाब्धि- जिसका आनन्द अनवच्छिन्न है। अखण्ड आनन्द स्वरूप वह परमात्मा है, इस प्रकार तत्पद लक्ष्य के स्वरुप का विवेचन करने के बाद अब त्वं पद लक्ष्य के स्वरूप को बता रहे हैं। प्रत्यग्धातुरिति— अहं इस अनुभव में

प्रकाशमान अहंकार का भी साक्षी ही प्रत्यग्धातु, प्रत्यग्शब्द का स्वरूप बाकी है तो यह साक्षी भी परमात्मा के स्वरूप वाला ही तो हुवे। इस प्रकार दोनों में कोई भी विलक्षणता रही नहीं। इसलिये दोनों के लक्ष्यार्थ में यत्किञ्चिदपि भेद न होने से अभेद ही है इस आशय से वाक्यार्थ कह रहे हैं। सोऽहमस्मि ऐसा समझें जीव ब्रह्म के अभेदपरक पहिले भी बोल चुके हैं। आगे भी बोलेंगे अतः अब अभेद परक संशय नहीं करो।

नात्रेति अथवा अस्मि इस क्रिया पद की विवक्षा नहीं है तो उक्तदोष जो परमात्मा "सोऽहं" वह मैं प्रत्यक्चैतन्य अहं पद का लक्ष्य है। जिस प्रकार ज्ञानस्वरूप एक रस ब्रह्म की स्वभाव से सत्य ज्ञानादि अपर्यायवाचिपदों के द्वारा तात्पर्य से प्रतिपादित होता है। इसलिये "सत्यज्ञानानन्दात्मकम्" ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार "नित्यो नित्यानामज आत्मा महान्" आत्मा नित्यों का नित्य है, महान् है, अज है। अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः यहां यह आत्मा स्वयं ज्योतिस्वरूप है।

नित्यत्वादीनामभावरूपाणं न भावरूपब्रह्मस्वरूपत्वमितिमन्वानानां मतभेदमाह-

नित्यत्वादि जो अभावरूप होने के कारण उनको भावस्वरूप ब्रह्मरूप में नहीं माना जा सकता। ऐसे मानने वालों के मत भेद बता रहे हैं-

> सच्चित्सुखाद्वयवपुः कथयन्ति केचित्
> सच्चित्सुखात्मकमिति प्रथयन्ति केचित्।।
> ब्रह्मेतराणि किल नास्य वपूंषि तेषां
> बुद्धौ स्फुरन्त्यपररूपनिवृत्तिभावात्।।१७४।।

अन्वयः= सच्चितसुखाद्वयवपुः (ब्रह्मेति) केचित् कथयन्ति। केचित् सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्मेति प्रथयन्ति। तेषां इतराणि किल "अस्य वपूंषि बुद्धौ न परिस्फुरन्ति। अपररूपनिवृत्तिभावात्"।

अन्वयार्थ= सत्, चित् और अद्वयादि सभी ब्रह्म के स्वरूप हैं। ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। सत्, चित्, और सुख ही ब्रह्म के स्वरूप हैं, ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं। इनके मत से अन्य (अद्वयादि) ब्रह्म के स्वरूप प्रतीत नहीं होते। क्योंकि वे (अद्वयादि) केवल अन्य (द्वयादि) रूपों की निवृत्ति स्वरूप होते हैं।।

सच्चिदिति। सच्चिदद्वयानन्दस्वरूपं ब्रह्मेति केचित्। अद्वयत्वं च द्वयाभावोपलक्षितं भावस्वरूपम्। एतच्चानन्दपदार्थः। अपरे त्वद्वयत्वमपि मुक्त्वा सदादिकमेव ब्रह्मेति वर्णयन्ति। नित्वत्वादीनां ब्रह्मस्वरूपत्वे तेषामरुचिनिमित्तमाह। इतराणीति। अस्य ब्रह्मण इतराणि नित्यत्वादीनि न वपूंषि सन्ति वपुष्ट्वेन बुद्धौ न स्फुरन्तिकिल। कुतः तेषां

नित्यत्वादीनामपररूपस्य कालपरिच्छेद्यत्वादेर्निवृत्तिभावरूपत्वादित्यर्थः। ब्रह्मणो भावरूपत्वाद-भावरूपमेव सदानन्दादिकं स्वरूपं भवतुमर्हति न नित्यत्वादिकमप्यभावरूपम् विरोघात्, किन्तु तेषां तद्धर्मत्वमेवेति तदाशयः।

अत्रकेचित् किल शब्दाभ्यामस्वारस्यं द्योतितम्। तत्र चेदं निमित्तम् यथा सदादिशब्दैर्लक्षणया भावरूपं ब्रह्म प्रतिपाद्यते एवं नित्यादि शब्दैरपि तत्तच्छबलशक्तैस्तद-धिष्ठानं ब्रह्मैव लक्षणया प्रतिपाद्यत इति तन्नित्यादिस्वभावमिति व्यवह्रियत इति न ब्रह्मणोऽभावात्मतापत्तिः, नाप्यभावधर्मकत्वमद्वये धर्मधर्मिभावायोगादभावस्य दुर्निरूपस्य श्रुति-प्रतिपाद्यत्वानुपपत्तेश्चेति।।१७४।।

सच्चिदितिः= सत्, चित् अद्वय आनन्द स्वरूप ब्रह्म है, इति केचित् ऐसा कहते हैं। अद्वयत्व तो द्वय अभाव से उपलक्षित होने के कारण भावस्वरूप है ऐसा केचित् कहते हैं। इसी प्रकार से आनन्द पदार्थ भी है। दूसरे (अपरे) तो अद्वयत्व भी छोडकर ब्रह्म सत् आदि स्वरूपात्मक ही है ऐसा वर्णन करते हैं। नित्यत्वादि स्वरूप ब्रह्म है- इसमें इनकी अरूचि है- उसका कारण बताते हैं। इतराणीति= ब्रह्म से अन्य जो भी हो वह ब्रह्म का स्वरूप नहीं हो सकता। अस्य= ब्रह्म से, इतराणि= नित्यत्वादि न वपूंषि (सन्ति)= ब्रह्म के ये स्वरूप नहीं हो सकते। ब्रह्म के स्वरूप से, बुद्धौ न स्फुरन्ति किल= यथार्थ रूप से बुद्धि में ऐसा स्फुरण नहीं होता है।

आशंका= ऐसा क्यों?

सामाधान तेषां= नित्यत्वादि जो अपर रुप (ब्रह्म से अतिरिक्तरूप) है। जो कालपरिच्छेद्यत्वादि का, निवृत्तिभावात्= अभाव रूप होने के कारण ये ब्रह्म स्वरूप नहीं हो सकते। ब्रह्म तो भाव रूप होने के कारण भाव रूप ही सत्, आनन्दादिक स्वरूपात्मक हो सकते हैं। लेकिन नित्यत्वादि को अभाव रूप नहीं माना जा सकता क्योंकि विरोध होता है। (ब्रह्म भाव रूप है- और नित्यवादि अभाव रूप सो- विरोध होगा ही)। नित्यत्व अभाव रूप इस प्रकार से जो अनित्यत्वाभावरूप होने से, अतः ऐसा अभाव रूप नित्यत्व ब्रह्म स्वरूप नहीं हो सकता। भावरूप ही नित्यत्वादि ब्रह्म स्वरूप हो सकता है। किन्तु अभाव रूप नित्यत्वादि ब्रह्म धर्म है। ऐसा (अपरे) दूसरे कहते हैं।

अत्र- यहां केचित् शब्द दो बार आया है। इससे इसमें अस्वारस्य द्योतित होता है। इसमें यह कारण है कि जैस सद्, आदि शब्दों से लक्षणा से भावरूप ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है। इसीप्रकार से ब्रह्म नित्यत्वादि शब्दों से भी तत् तत् विशिष्ट

वाचक शक्त पदों से इनका अधिष्ठान ब्रह्म ही लक्षणा से प्रतिपादित किया जाता है, इस प्रकार ब्रह्म, नित्यत्वादि स्वभाव वाला है ऐसा व्यवहार किया जाता है, न कि ब्रह्म की अभावात्मकता सिद्ध होगी। अभाव रूप धर्म अद्वय ब्रह्म में धर्मधर्मिभाव को प्राप्त भी नहीं होने के कारण, अभाव तो दुर्निरूपणीय है ऐसा जो श्रुति ने कहा है उसकी अनुपपत्ति भी होगी। अर्थात् अभाव रूप नित्यत्व का आश्रय भी ब्रह्म नहीं बन पाता है। ऐसा श्रुति का अभिप्राय है। यदि अभाव का आश्रय ब्रह्म मानें तो ब्रह्म किसी अभाव का आश्रय नहीं है इस प्रकार के श्रुति की अनुपपत्ति हो जायेगी। क्योंकि श्रुति कहती है= "केवलो निर्गुणश्च"। इसी प्रकार से अभाव धर्म भी अद्वय ब्रह्म में सम्भव नहीं है। क्योंकि केवल निर्गुण ब्रह्म में धर्म धर्मि भाव रूप गुण नहीं आ सकता अभाव का निरूपण अशक्य है और दूसरा श्रुति ने जो कहा है केवलो निर्गुणश्च इसकी अनुपपत्ति भी होगी। (वास्त वमें अभाव अधिकरण से अतिरिक्ति कुछ भी नहीं होने से स्वतंत्र रूप से उसका निरूपण नहीं हो सकता यह भाव है)

इदानीमवान्तरवाक्यस्याखण्डार्थत्वं वक्तुं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मलक्षणवाक्ये लक्ष्यलक्षणविभागमाह-

अब अवान्तर वाक्य के द्वारा भी अखण्डार्थ बोध होता है इस बात को कहने-के लिये- सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म के लक्षण वाक्य में- लक्ष्य लक्षण का विभाजन करके बता रहे हैं

ब्रह्मेति शेषिपदमत्र हि लक्ष्यमेकं
शेषाणि लक्षणसमर्पणमस्य कुर्युः।।
लक्ष्यार्पणेन सह लक्षणवाचि सर्वं
संगच्छतेऽरुणपदं क्रयवाचिनेव।।१७५।।

अन्वयः= अत्रहि ब्रह्मत्येकं पदं शेषि लक्ष्यम्, शेषाणि अस्य लक्षणसमर्पणं कुर्युः क्रयवाचिना अरुणपदं सर्वं लक्षणवाचि लक्ष्यार्पणेन सङ्गच्छते।।१७५।।

अन्वयार्थ= इस सत्यंज्ञानमनन्तं वाक्य में ब्रह्म यह एक पद प्रधान लक्ष्यार्थक है। शेष सत्यादि पद उस लक्ष्य का समर्थन करते हैं, जैसे (अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहान्या सोमं क्रीणाति इस वाक्य में) क्रयण वाचक (क्रीणाति) पदके साथ अरुणादि (पद अन्वयी होते हैं) वैसे ही सब लक्षण वाचक (सत्यादि) पद लक्ष्यार्थक (ब्रह्म) पद के साथ अन्वयी होते हैं।

ब्रह्म। ब्रह्मेतिपदं शेषीति सम्बन्धः शेषिणः प्रधानस्य पदमिति वा। ननु ज्ञानान्दादेरपि

ब्रह्मस्वरूपत्वात्तत्पदमपि तथाविधं किं न स्यात्तत्राह अत्र हीति। अस्मिन्वाक्ये एकं पदं लक्ष्यं हि यतः अतः शेषाणि सत्यादिपदान्यस्य ब्रह्मणो लक्षणसमर्पणं कुर्युरित्यर्थः। एकस्मिन्वाक्ये एकमेव पदं लक्ष्यमुद्देश्यं समर्पयतीति वक्तव्यं सर्वपदार्थानामुद्देश्यत्वे तेषां परस्परानन्वयेन वाक्यमनर्थकं स्यात्, विधेयं विना सर्वोद्देशानर्थक्यात्तच्चैकं ब्रह्मपदोपस्थितमेव भवितुमर्हति तस्यैव ज्ञातस्य पूर्ववाक्ये ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यत्र परमपुरुषार्थसाधनत्वदर्शनात्, यच्च पुरुषार्थसाधनं तदेवाधिकारिणा जिज्ञास्यं तदेव च लक्षणेनापि निरूप्यम्, एवं च ब्रह्मपदसामर्थ्याद्यतो वा इमानि भूतानि जायन्त इतिवाक्ये भूतसृष्टिस्थित्यादिकारणे ब्रह्मशब्दप्रयोगाच्च जगत्कारणमद्वयं ब्रह्मैव कार्यानुमानेन सामान्यतोऽवगतं विशिष्य जिज्ञास्यमिति तदेव लक्ष्यं शेषीति ज्ञानादिपदान्यस्य लक्षणं प्रतिपादयेयुरिति भावः। ततः किं तत्राह लक्ष्यार्पणेनेति। पदेनेति शेषः। लक्षणवाचि पदमिति शेषः। सङ्गच्छते= यद्ब्रह्म तत्सत्य-ज्ञानाद्यात्मकमितिवाक्यभावेन सङ्गतं भवति। ज्ञानाद्यात्मकतयाऽज्ञातब्रह्मण एव तथा प्रतिपाद्यतया प्रधानत्वात्तत्पदेन लक्षणवाचिपदानां तद्गुणभूतार्थानां सम्बन्धो वक्तव्यः, अन्यथा प्रतिपिपादयिषितार्थासिद्धेरिति भावः। प्रधानेनेतरेषामन्वये दृष्टान्तमाह अरुणपदमिति। 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणाती' त्यत्र तृतीयान्तारुणादिपदानि क्रयसाधनार्थानि क्रीणातीत्य-नेनान्वीयन्ते आरुण्यादिविशिष्टक्रयस्यैव विधेयत्वादिति यद्वत्तद्वदित्यर्थः।।१७५।।

ब्रह्मेति= ब्रह्म यह शेषि पद है, प्रधान पद है, शेषाणि लक्षणरूमर्पणमस्यकुर्युः- बाकी ब्रह्म के लक्षण वाचक पद प्रधान शेषि ब्रह्म में समर्पित हो जाते हैं।

शंका= ज्ञान, आनन्दादि पद भी ब्रह्मस्वरूप होने के कारण जैसे ब्रह्मपद लक्ष्य ब्रह्म परक है। इसी प्रकार ज्ञान, आनन्दादि पद की लक्ष्य ब्रह्म परक मानना चाहिये।

समाधान— अत्र हीति= "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य में एक पद लक्ष्य परक ब्रह्म परक होता है बाकी जितने पद है- शेषाणि= सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि जो पद है वे- अस्य-लक्ष्य ब्रह्म के, लक्षणसमर्पणं कुर्युः= ब्रह्म के लक्षण का निरूपण करेंगे। (लक्षणमें समर्पित होंगे)

तात्पर्य= एक वाक्य में एक ही पद लक्ष्य वाचक होता है, उद्देश्य को बताता है। यदि सभी पदार्थों को उद्देश्य मान लिया जाय तो उद्देश्यों का परस्पर अन्वय न होने के कारण वाक्य ही निरर्थक हो जायेगा। विधेय तो एक ब्रह्म ही है इसलिये सबको उद्देश्य मानना अनुचित है। अब एक वह विधेय ब्रह्म पद से उपस्थित मानना ही श्रेष्ठकर है। इसी ब्रह्म में पहिले निरूपण आया है- "ब्रह्मविदाप्नोतिपरमित्यत्र" परम पुरुषार्थ साधनत्व इस ब्रह्म

में आया है। जो पुरुषार्थ का साधन है वही अधिकारी पुरूष के लिये जिज्ञासा योग्य भी है। जो जिज्ञासा के योग्य लक्ष्य है। उसी का लक्षणों से भी निरूपण किया जाता है। इसप्रकार ब्रह्मपद के सामर्थ्य से ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' इत्यादि वाक्य में सृष्टि उत्पत्ति स्थिति के कारणरूप में ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् जगत कारण अद्वय ब्रह्म ही कार्य के द्वारा कारणानुमान रूप से (न्याय से) जगत् कार्य का ब्रह्म कारण है। यह सामान्य रूप से जाना गया। लेकिन विशेष रूप से जानने के लिये ''तद्विजिज्ञासस्व'' उस लक्ष्य ब्रह्म जो शेषि है। उसी का निरूपण लक्षणों के द्वारा ज्ञान, आनन्दादि पद करते हैं। यह भाव है इससे क्या फायदा?- लक्ष्यार्पर्णनेति= लक्ष्यार्पण पद से यह शेषि हुवा, लक्षणवाचि पद है। यह शेष हुवा। सङ्गच्छते= यद्तद्ब्रह्म= तत्सत्यज्ञानाद्यात्मकमिति वाक्य भाव से संगत होता है। विशेष रूप से ब्रह्म ज्ञात नहीं है- इसीलिये ज्ञान रूप से अज्ञात ब्रह्म का ही प्रतिपादन प्रधान होने के कारण अज्ञात ब्रह्म पद के साथ लक्षणवाचि पदों का लक्ष्य ब्रह्म के लक्षणवाचक (गुणवाचक) पदों का सम्बन्ध मानना होगा। नहीं तो ब्रह्म रूप लक्ष्यार्थ की सिद्धि करनी है- वह नहीं हो पायेगी। प्रधान पद के साथ इतर पदों का अन्वय होता है इसके लिये दृष्टान्त प्रदान कर रहे हैं—

अरूणपदमिति= अरूणया पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणाति।। यहां तृतीया विभक्त्यन्त अरूणादिपद (लालपद) आदि है-, लाल रंग वाली, तथा पीले आंख वाली गौ के बदले में सोम रस खरीदा जा रहा है। इस वाक्य में खरीदने के साधन जितने भी है उसका सब का अन्वय "क्रीणाति के" साथ खरीदने के साथ हो रहा है। क्योंकि खदीदना भी है तो वह गौ के माघ्यम से, गौ भी कैसी हो? तो आरूण्यादिविशिष्ट गौ ही सोम खरीदने का साधन गौ उसके साथ एक रूप होकर सोम को ले पाता है। यहां प्रधान हुवा खरीदना क्रीणाति, उसके साथ अन्वय हुवा गौ का, लाल पीले आंख का इत्यादि।

नन्वेवं सत्यारुण्यादीनां यथा प्रत्येकमेव क्रयेणान्वयः प्रत्येकं निरपेक्षकरणविभक्तिश्रवणात्, एवं यद्ब्रह्म तत्सत्यं तज् ज्ञानं तदनन्तमिति सत्यादिपदानामन्योन्यं निरपेक्षमेव ब्रह्मणान्वयः स्यान्न तु परस्परमेलनमिति नास्माद्वाक्यात्सत्यज्ञानात्मकं ब्रह्म सिद्ध्येत्, अनेकरूपं च तत्स्यादिति तत्राह-

शंका= अरूणादि पदों का प्रत्येक का ही क्रय के साथ अन्वय होगा। क्योंकि प्रत्येक अरूण के साथ, पिङ्गाक्षा के साथ गौ के साथ स्वतन्त्र विभक्ति का प्रयोग हुवा है। इसी प्रकार से यद् ब्रह्म, तत्सत्यं, तज्ज्ञानं तदनन्तम् वह सत्य है वह ज्ञानस्वरूप है, वह अनन्त स्वरूप है- ऐसा प्रत्येक का निरपेक्ष होकर ब्रह्म के साथ अन्वय होने दो। न कि परस्पर मिलकर

ब्रह्म के साथ अन्वित हो। तो फिर एक ही वाक्य से सत्य ज्ञान आनन्दात्मक अनन्त रूप एक ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो पायेगी। किन्तु अनेक रूप वह ब्रह्म सिद्ध होगा, एक रूप नहीं।

समाधान—

पृष्ठात्परस्परयुजाप्रतिपत्तिरेषा-
मेवंविधत्वमुपपादयितुं समर्था।।
लक्ष्यस्य तस्य महतः क्रयवस्तुवत् स्यात्
सर्वस्य कारकपदस्य परस्परेण।।१७६।।

अन्वयः— एषां पश्चात् परस्परयुजा प्रतिपत्तिः लक्ष्यस्य तस्य महतः एवं विधत्वं उपपादपितुं सर्वस्य कारकपदस्य परस्परेण क्रयवस्तुवत् समर्था।।१७६।।

अन्वयार्थ= इन (सत्यादि) पदों के पारस्परिक अन्वय से लक्ष्यभूत उस महान् ब्रह्म की तद्रूपता (अखण्डएकरसता) का उपपादन सभी (अरुणादि) कारक पदों के परस्पर अन्वित होने में क्रयवस्तु प्रतिपादन के समान ही हो सकता है।।१७६।।

पृष्ठादिति। सत्यादीनां प्रत्येकं ब्रह्मान्वयप्रतिपत्तेः पश्चादेषां सत्यादीनां परस्परयुजा अन्योन्यं सम्बन्धः अभेद इति यावत्। तस्याः प्रतिपत्तिर्लक्ष्यस्य तस्य महतो ब्रह्मण एवं-विधत्वं सत्यज्ञानाद्यखण्डैकरसत्वमुपपादयितुं समर्था स्यादिति सम्बन्धः। इममप्यर्थमुक्तदृष्टान्तेनाह क्रयवस्तुवदिति। क्रयवस्तुन इवेत्यर्थः। कारकपदस्यारुणादिपदस्य। यथा क्रयेण प्रत्येक-मन्वितारूण्यादिगुणानां साक्षात्क्रयसाधनत्वायोगादेकहायनीद्रव्यावच्छेदकत्वेनान्वीयमानानां परस्परमन्वयः प्राप्नोति, एवं निरवधिकमहत्त्वशालिब्रह्मणा लक्ष्येणाभेदानुपपत्त्यैकस्यानेक-स्वरूपतानुपपत्तेश्च परस्परं मेलनादभिप्रेतब्रह्मस्वरूपसिद्धिरिति।।१७६।।

पृष्ठादिति= बाद में, अर्थात् सत्यादि पदों की प्रत्येक की ब्रह्म के साथ बोध की उपपत्ति होने के बाद सत्यादिपद परस्पर में मिलकर ब्रह्म के साथ साथ उनका अभेद ही होगा। "सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस प्रतिपत्ति का ज्ञान का मुख्य लक्ष्य है। ब्रह्म वह सत्य, ज्ञान, अनन्त, अखण्ड एकरस है। इसका बोध करने में सत्यज्ञानादि वाक्यसमर्थ हो जाता है। इस अर्थ को दृष्टान्त के द्वारा समझा रहे हैं—

क्रयवस्तुवदिति= क्रयवस्तु के समान। कारकपदस्य= अरुणादिपद का। जिस प्रकार गौ का क्रय करना बेचना है- तो गौ के साथ अन्वित (सम्बन्धित) होगा। आरुण्यादिभाव, तो इन गुणों के अन्दर क्रय साधनत्व तो गौ के बिना संपन्न नहीं हो पायेगा। फिर जैसे

एक हायनी द्रव्यावच्छेदक के द्वारा, एक वर्ष की या दो वर्ष की गौ के साथ अवच्छेदक या प्रकार विशेषण पीङ्गाक्षा तथा लालिमा होनी चाहिये। ये द्रव्य के साथ अन्वित होते हैं। इसी प्रकार निरवधिक महत्वशाली ब्रह्म वह हमारा लक्ष्य है उसके साथ सत्यादिक का प्रत्येक के सम्बन्ध से अभेद अन्वय संपन्न नहीं हो पायेगा। और ब्रह्म में अनेक स्वरूप मानने में कोई फायदा भी नहीं। इसलिये ये सारे लक्षण वाचक पद परस्पर में मिलकर लक्ष्य के साथ ब्रह्म के साथ सम्बन्धित हो जाते हैं।

ननु सत्यादिपदवाच्यार्थोपादाने नोक्तब्रह्मस्वरूपलाभस्तेषामवश्यं परस्परं भेदात् सत्यादिपदलक्षणायां च तस्यासत्याद्यात्मतापत्तिरित्याशङ्क्याह—

शंका= यदि सत्यादिपदवाच्यार्थ का ग्रहण करेंगे तो शुद्ध ब्रह्म का लाभ तो हो नहीं पायेगा। क्योंकि सत्यज्ञानादि पदों का अवश्यमेव आपस में भेद है। यदि सत्यादि पदों की लक्षणा ब्रह्मपरक मानें तो वह ब्रह्म सत्य परक न होकर असत्यादिपरक हो जायेगा। क्योंकि ब्रह्म वाच्यार्थ तो हुवा नहीं इसलिये वह असत्य हो जायेगा। इसका समाधान—

तत्त्वंपदार्थविषयो नय एव योज्यः
सत्यादिवस्तुषु न तत्र विशेषकल्पः।।
सत्यादिशब्दविषयाः शबलास्तदर्थ-
भागेषु लाक्षणिकवृत्तिरपीह तुल्या।।१७७।।

अन्वयः= सत्यादिवस्तुषु तत्त्वं पदार्थविषयोनय एव योज्यः, तत्र विशेषकल्पो न, सत्यादिशब्दविषयाः शबलाः तदर्थभोगेषु लाक्षणिक वृत्तिरपि इह तुल्याता

अन्वयार्थः= सत्यादि पदार्थों में भी तत्त्वम्पदार्थ विषयक न्याय ही लगा लेना चाहिए, अन्य कोई प्रकार सत्यादि पदों के अन्वय बोध में नहीं है। सत्यादि शब्दों के वाच्यार्थ शबल (विशिष्ट है) और (उनकी) अपने वाच्यार्थ के एकदेश में लक्षणावृत्ति भी (तत्त्वं पद के) समानही होती है।।

तत्त्वंपदार्थेति। सत्यादिवस्तुषु सत्यादिपदार्थेषु। ननु सत्यादिपदार्थस्य ब्रह्म-पदार्थेनान्वयात्तत्र च गुणगुणिभावेन नीलोत्पलवन्मुख्यार्थस्यैवान्वयसंभवात् किं तत्त्वंपदयोरिव लक्षणया येन तद्विषयो नयोऽत्रातिदिश्यते तत्राह न तत्रेति। सत्यादिपदार्थेषु तत्त्वंपदार्थाभ्यां सकाशदन्वये विशेषप्रकारो नेत्यर्थः। सत्यादिपदार्थानां मुख्यब्रह्मान्वयानुपपत्तेर्लक्षणाऽवश्यं वाच्येति भावः। यदुक्तं ब्रह्मण एवं सति असत्याद्यात्मतापत्तिरिति तदपि तदीयन्यायान्तरातिदेशेन परिहरति सत्यादीति। शबला इति। तांश्च शबलाननुपदमेव वक्ष्यति। सत्यादिपदानामपि

तत्त्वंपदयोरिव शबले शक्तिः, ततो जहदजहल्लक्षणया च वक्ष्यमाणन्यायेन तेषामभिमतात्मनि वृत्तिरिति न त्वदुक्तदोष इत्यर्थः।।१७७।।

तत्त्वं पदार्थेति। सत्यादिवस्तुषु= सत्यादिपदार्थ में भी। जो न्याय तत्त्वं पदार्थ के विषय में लगाया वही सत्यादि पदार्थ विषय में लगाया जायेगा।

शंका= सत्यादि पदार्थ का ब्रह्म के साथ अन्वय मान लेने से- गुण गुणी भाव होगा। जैसे "नीलोत्पलम्" यहां जैसे नील गुण है और उत्पन्न गुणी है वैसे यहां भी सत्यं ब्रह्म= सत्यवान् ब्रह्म= गुणालय, गुणी ब्रह्म ऐसा बोध होगा तो मुख्य पदार्थ का ही अन्वय संभव हो गया। फिर इस कार्य को संपादन करने के लिये लक्षणा की जरूरत नहीं है। फिर क्यों व्यर्थ ही कहा कि तत्त्वं पदार्थ वाला लक्षणा का न्याय ही यहां लगाना होगा?

समाधान= इस पर कहते है- न तत्रेति- सत्यादिपद प्रतिपाद्य पदार्थ में तथा तत्त्वंपदार्थ में दोनों के लिये एक न्याय एक ही प्रकार मानना उचित है। अर्थात् सत्यादि पदार्थों का मुख्य जो निष्कल शुद्ध ब्रह्म उसके साथ अन्वय कराने के लिये अवश्यमेव लक्षणा का स्वीकार करना पडेगा। और ऊपर जो आपने पूर्ववक्षी ने दोष दिया था कि ब्रह्म में असत्यत्वापत्ति- होगी यदि सत्यादि पदों की लक्षणा मानेंगे तो वह भी ठीक नहीं है। लक्षणा का स्वीकर करने से यह दोष नहीं लगेगा। सत्यादीति। शबला इति। सत्यादि पदों की भी पद के समान शबल में ही शक्ति है। यह सब पहले कह चुके हैं इसलिये जहदजहल्लक्षणा का स्वीकार करते हुये- इनका अभिमत शुद्ध बुह्म में अन्वय संपन्न होगा इसमें कोई दोष नहीं है अर्थात् ब्रह्म में असत्यात्मत्व की दोषाक्रान्तता नहीं होगी। पूर्वपक्षी का तात्पर्य लक्षणाकरके अजहल्लक्षणा का ग्रहण करना है जबकि सिद्धान्ती जहदजल्लक्षणा का ग्रहण करते हैं।

ननु किं तत्सत्यादिवाच्यं शबलं कथं वा तत्र व्युत्पत्तिरिति जिज्ञासायां तदाह-

शंका= सत्यादि पद वाच्य कैसे शबलब्रह्म होता है। एवं कैसे सत्यादि पदों की शबल ब्रह्म में शक्ति है- इस जिज्ञासा की शांति के लिये कह रहे हैं—

आकाशादौ सत्यता तावदेका
प्रत्यङ्मात्रे सत्यता का चिदन्या।।

तत्संपर्कात्सत्यता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र।।१७८।।

अन्वयः= आकशादौ तावत् एका सत्यता प्रत्यङ्मात्रे काचिद् अन्या सत्यता। तत्संपर्कात् तत्र च अन्या सत्यता। अयं सत्यशब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः।।

अन्वयार्थ= आकाशादि में तो एक (व्यवहारिकी) सत्यता है। प्रत्यगात्मा में कोई अन्य (पारमार्थिक) सत्यता है, उन दोनों सत्यों के सम्पर्क से (परस्पर तादात्म्य से) निष्पन्न (विशिष्ट) में अन्य (समुदाय रूपा) सत्यता है। यह सत्य शब्द उसी (समुदाय) सत्यता में व्युत्पन्न है।।१७८।।

आकाशादौ सत्यतेत्यारभ्याकाशादावस्तितेत्यन्तैः सप्तभिः श्लोकैः आकाशघटादौ सत्यता व्यावहारिकसत्यता। व्यावहारिकसत्यत्वं च परमार्थसत्यत्वात् कल्पितभेदमस्त्येव सत्यं चानृतं च सत्यमभवदितिश्रुतेः, आकाशादेरात्मकार्यस्यार्थाक्रियाकारित्वदर्शनाच्च, परमार्थसत्यतातिरिक्ता वियदादिसत्यताऽस्तीत्यर्थः। प्रत्यङ्मात्रे शुद्धात्मनि। सत्यता पारमार्थिकी सत्यता। अन्याऽऽकाशादिसत्यत्वाद्विलक्षणाऽत्यन्ताबाध्यार्थलक्षणा। व्यावहारिकसत्यमाकाशद्यस्ति परमार्थसत्यं च प्रत्यग्रूपन्यदस्तीत्यर्थः। ततः किं तत्राह तत्संपर्कात् तयोः सत्ययोः परस्परं तादात्म्यात्, निष्पन्नेति शेषः। तत्रेत्यनुषङ्गः। सत्यता तत्र चान्या समुदायात्मिका। ततोऽपि किं तत्राह व्युत्पन्न इति। तत्र सति शबले प्रत्यक्षादिसिद्धे सत्यशब्दस्य व्यवहारानुरोधेन शक्तिग्रह इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्।।१७८।।

आकाशादौ सत्यता= आकाशादिक में अस्तिता है ऐसे ये सात श्लोक हैं। तो आकाश घट पटादि पदार्थो में व्यावहारिक सत्यता है। आकाशादिक में व्यावहारिक सत्ता इसलिये है क्योंकि परमार्थ सत्ता से अलग होने से व्यावहारिक सत्ता है। परमार्थ सत्ता से व्यावहारिक सत्ता का काल्पनिक भेद मानते हैं। "सत्यं चानृतं च सत्यमभवदितिश्रुतेः।। परमार्थ सत्तायुक्त आत्मा ही (अनृत) व्यावहारिक सत्तावाला तथा वास्तविक सत्ता वाला हो जाता है। व्यावहारिक सत्ता वाले आकाशादि पदार्थों में अर्थक्रियाकारित्व देखने में आता है। जैसे घटादि अर्थ को उत्पन्न करने में अर्थक्रियाकारित्व जलाहरणादि घटादि पदार्थो में आकाश के कारण आता है। लेकिन परमार्थ सत्तावाले आत्मा में अर्थक्रियाकारित्व नहीं आता है। इसलिये दोनों अलग अलग है।

यदी क्रय आगे के श्लोकों में भी लगाना।

बुद्धेर्वृत्तौ ज्ञानता तावदेका
प्रत्यग्बोधे ज्ञानता का चिदन्या।।

तत्संपर्काज् ज्ञानता तत्र चान्या

व्युत्पन्नोऽयं ज्ञानशब्दस्तु तत्र।।१७६।।

अन्वयः= बुद्धेर्वृत्तौ तावद् एका ज्ञानता, प्रत्यग्बोधे काचिद् अन्या ज्ञानता। तत्सम्पर्कात् तत्र चान्या ज्ञानता। अयं ज्ञानशब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः।।१७६।।

अन्वयार्थः= बुद्धि वृत्ति में एक (व्यावहारिकी) ज्ञानता है, प्रत्यग् बोध में तात्त्विक ज्ञानता है, इन दोनों के तादात्म्य से निष्पन्न शबलार्थ में अन्य (समुदाय रूप) ज्ञानता है। यह ज्ञान शब्द इस विशिष्ट अर्थ में गृहीत शक्तिवाला है।।१७६।।

बुद्धेर्वृत्तौ चक्षुरादिजन्यान्तःकरणवृत्तौ। ज्ञानता चैतन्याभिव्यञ्जकत्वरूपा ज्ञानता। प्रत्यग्बोधे प्रत्यक्चैतन्ये। ज्ञानता स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूपता।।१७६।।

बुद्धेर्वृत्तौ= चक्षुरादिजन्य अन्तःकरणवृत्ति में। ज्ञानता= चैतन्याभिव्यञ्जकत्वरूप ज्ञानता अलग है। विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमाण वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य दोनों के अभेद होने से विषय का ज्ञान होता है। तथा चक्षुरादि इन्द्रिय से जन्य अन्तःकरण वृत्ति चैतन्य की अभिव्यञ्जक होने के कारण उसमें ज्ञानता है। इसी प्रकार प्रत्यग् बोधे= प्रत्यग् चैतन्य में ज्ञानता-स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूपता अलग अलग है। दोनों मिलकर रूप व्यावहारिक अलग होगा, वहां ज्ञानता शब्द से (पद से) शबल का बोध होगा। "मैं देखता हूँ" "अहं पश्यामि" इत्यादि शबल अर्थ में ज्ञानता की शक्ति माननी होगी।

बुद्धेर्वृत्तौ तावदानन्दतैका,

प्रत्यङ्गमात्रे का चिदानन्दताऽन्या।।

तत्संपर्कात्तत्र चानन्दताऽन्या,

व्युत्पन्नोऽयं तत्र चानन्दशब्दः।।१८०।।

अन्वयः= बुद्धेः वृत्तो तावत् एका आनन्दता, प्रत्यङ् मात्रे काचित् अन्या आनन्दता, तत्सम्पर्कात् तत्र च अन्या आनन्दता अयं "आनन्द" शब्द तत्र व्युत्पन्नः।।१८०।।

अन्वयार्थः= बुद्धि की (सुखव्यञ्जक) वृत्ति में एक (व्यावहारिकी) आनन्दता तथा प्रत्यक् चैतन्य में अन्य (परमप्रेमास्पद रूपा परमार्थिक) आनन्दता है। इन दोनों की तादात्म्य से निष्पन्न वस्तु आनन्द पद की वाच्य है।।१८०।।

आनन्दता आनन्दपदव्यवहारयोग्यता प्रथमा। परमप्रेमास्पदत्वयोग्यतारुपानन्दता द्वितीया।।१८०।।

बुद्धेर्वृत्तौ आनन्दता- चक्षुरादि जन्य अन्तः करण वृत्ति में आनन्द पद व्यवहार योग्यता अलग है (इच्छित विषय की प्राप्ति, अन्य इच्छाओं की निवृत्ति, अन्तः करण की स्थिरता, तथा चिदाभास की स्पष्टता ये चारों चीजें एकत्रित होती हैं तब आनन्द होता है) अतः कहा कि बुद्धे वृत्तौ चक्षुरादिजन्य अन्तःकरण वृत्ति में आनन्द अलग है। इसी प्रकार से परम प्रेमास्पद रूप आनन्दता वह तो शुद्ध आत्मा में हैं- वह अलग है। दोनों का सम्मिश्रित रूप- दर्शनानन्द, स्पर्षानन्द, चाक्षुषानन्द आदि के आनन्द शब्द से शबल आनन्द का बोध ग्रहित करना है।

आकाशादौ नित्यता तावदेका
प्रत्यङ्मात्रे नित्यता का चिदन्या।।
तत्संपर्कान्नित्यता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं नित्यशब्दस्तु तत्र।।१८१।।

अन्वयः= आकाशादौ तावद् एका नित्यता, प्रत्यङ्मात्रे काचिद् अन्या नित्यता। तत्सम्पर्कात् तत्र च तत्र च अन्या नित्यता। अयं नित्यशब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः।।१८१।।

अन्वयार्थः= आकाशादि में एक (कल्पस्थायी व्यावहारिक) नित्यता है, एक शुद्ध चेतन में अन्य (त्रिकालापरिच्छेद्यत्व रूप पारमार्थिकी) नित्यता है इन दोनों के सम्पर्क से परिनिष्पन्न इस विशिष्ट तत्त्व में है नित्य शब्द शक्त है।।१८१।।

नित्यताऽऽकल्पस्थायितारूपा नित्यतेत्यर्थः। त्रिकालापरिच्छेद्यत्वरूपा द्वितीया नित्यता द्रष्टव्या।।१८१।।

कल्प तक स्थायी रहनेवाली आकाश में नित्यता अलग है। प्रत्यङ्मात्रे= शुद्धात्मामें नित्यता जो तीनों काल से परिच्छेद्य नहीं है वह अलग है। दोनों के सम्पर्क से "आकाशं नित्यं" यहां नित्य शब्दसे शबल का बोध होगा। इत्यादि।।

आकाशादौ शुद्धता तावदेका।
प्रत्यङ्मात्रे शुद्धता काचिदन्या।
तत्संपर्कच्छुद्धता तत्र चान्या।
व्युत्पन्नोऽयं शुद्धशब्दस्तु तत्र।।१८२।।

अन्वयः= आकाशादौ तावद् शुद्धता, प्रत्यङ्मात्रे च काचिदन्या शुद्धता। तत्संपर्कात् तत्र चान्या शुद्धता, अयं शुद्धशब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः।।१८२।।

अन्वयार्थः= आकाशादि में एक मलादिलेप रहितत्वरूप व्यावहारिक शुद्धता है। शुद्ध चैतन्य में अन्य (असङ्गत्वरूप परमार्थिक) शुद्धता है। उन दोनों के तादात्म्य से बने विशिष्ट पदार्थ में यह शुद्ध शब्द गृहीत शक्तिक है।।१८२।।

शुध्दता- अस्पृश्यताप्रयौजकरूपरहितितारूपा पङ्कादिमलबद्द्रव्यसम्बन्धरहित्यरूपा वा, प्रतीचि तु सा सर्वप्रकाराऽशुचित्वाभावोपलक्षितस्वरूपात्मिकाऽविद्याराहित्यरूपा वेत्यर्थः।।१८२।।

आकाशादौ= शुद्धता= कीचडादि जो मल है उनके सम्बन्ध से रहित रहना- यह शुद्धता अलग हैं। तथा= प्रत्यङ् मात्रे= प्रत्यगात्मा में शुद्धता अविद्यारहित रूपा है अर्थात् सब प्रकार के अशुचित्वाभाव आत्मा में है यह शुद्धता अलग है। दोनों के मिश्रित रूप में- आकाशं शुद्धं में आकाश शुद्ध है- यहां शुद्ध शब्द शबल परक है इत्यादि-

गोवत्सादौ मुक्तता तावदेका
प्रत्यङ्मात्रे मुक्तता का चिदन्या।।
तत्संपर्कात् मुक्तता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं मुक्तशब्दस्तु तत्र।।१८३।।

अन्वयः= आकाशादौ तावत् एका मुक्तता, प्रत्यङ्मात्रे च काचिद् अन्या मुक्तता। तत्संम्पर्कात् तत्र च अन्या मुक्तता, अयं मुक्तशब्दस्तु तत्र व्युत्पन्नः।।१८३।।

अन्वयार्थः= आकाशादि में एक (बन्धन रहित रूप व्यावहारिक) मुक्तता है, शुद्ध चैतन्य में कोई अन्य (संसार रहित रूप पारमार्थिक) मुक्तता है इन दोनों के सम्पर्क से (तादात्म्य से) उत्पन्न विशिष्ट अर्थ में यह मुक्त शब्द शक्ति युक्त है।।१८३।।

मुक्तता बन्धनरहिततारूपा। प्रतीचि तु संसारानर्थस्य नित्यनिवृत्तिरूपा सा।।१८३।।

गोवत्सादौ मुक्तता= गौ का बछडा मुक्त हो गया। अर्थात् बन्धन रहित हो गया, यहां मुक्तता अलग है। आत्मा में भी संसार अनर्थ की निवृत्ति हो जाने से आत्मा से मुक्तता है। लेकिन ये दोनों मुक्ताता अलग अलग हैं। दोनों के संपर्क से वत्सः मुक्तः- बछडा मुक्त हुआ यहां मुक्त शब्द से शबलार्थ का ग्रहण करना है।

आकाशादावस्तिता तावदेका
प्रत्यक्तत्वे चास्तिता का चिदन्या।।
तत्संपर्कादस्तिता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं तत्र चास्तीति शब्दः।।१८४।।

अन्वयः= आकाशादौ तावद् एका अस्तिता, प्रत्यक्तत्वे काचिद् अन्या अस्तिता। तत्संसम्पर्कात् तत्र चान्या अस्तिता। तत्र अयं अस्तीति शब्दः व्युत्पन्नोऽस्ति।।१८४।।

अन्वयर्थः= आकाशादि में एक (व्यावहारिक सत्ता) अस्तिता है, शुद्ध चेतना में कोई अलग (पारमार्थिक सत्ता) अस्तिता है। इन दोनों के सम्पर्क से उत्पन्न (विशिष्ट) शब्द में अन्य अस्तिता शब्द शक्त है। यह अस्ति शब्द विशिष्ट अर्थ में शक्त है।।१८४।।

अस्तिता विद्यमानता नञर्थानुल्लिखितधीविषयतारूपभावता वा। प्रतीचि तु सा सदिति-प्रतीतियोग्यतारूपा। एवं सूक्ष्मविभ्वादिपदानां केशाकाशादिशबले व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या।।१८४।।

अस्तिता= विद्यमानता अर्थात् जहां नञर्थ= (अभाव) का उल्लेख नहीं होता है ऐसी भाव रूपता आकाशादि में अलग है। अत्मामें- (सत्ता रूप में-) सद्रूप में विद्यमानता अस्तिता अलग है। अब दोनों के सम्पर्क से आकाश विद्यमान है- (आकाशं विद्यमानमस्ति) ऐसे प्रयोग में विद्यमानता अस्तिता के पद की शक्ति सबल परक माननी है। इसी प्रकार से सूक्ष्म शब्द केश में (बालों में) अलग हैं आत्मा में अलग है। दोनों के सम्पर्क से "केशाः "सूक्ष्माः" यहाँ शब्द सबलवाची लेना। इसी प्रकार से- विभु शब्द आकाश में अलग, आत्मा में निरपेक्ष भाव में अलग हें दोनों के संपर्क से- आकाशं विभु यहां विभु शब्द शबलार्थवाचक है- ऐसा समझ लेना जी।

नन्वेवं भवतु सत्यादिवाच्यस्वरूपम् तत्र च सत्यादिशब्दस्य व्युत्पत्तिः, तथापि कथं तल्लक्ष्यस्य निर्णयः तद्वाच्ये भागद्वयसत्त्वेन हेयोपादेयभागविभागासंभवादित्याशङ्क्याह-

शंका- सत्यादिपदों का वाच्य स्वरूप आकाश तथा आत्मा में है। लेकिन उसी पद के लक्ष्यार्थ का निर्णय कैसे हो? क्योंकि उस सत्यादि पद के दो वाच्य हुये एक तो आकाशादि में सत्यता दूसरी हुई आत्मा का सत्यता। अब इनमें से किसे हेय- (हटायें) जिसका उपादेय (ग्रहण) न करें: यह विभाग तो होगा नहीं। फिर लक्षणा कैसी बनेगी। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर समाधान देते हैं—

यो यः शब्दो यत्कृतेऽर्थे निरुढ-
स्तत्रैवार्थे लक्षणा वृत्तिरस्य।।
वक्तव्या स्यात् पण्डितैरेवमेतत्
प्रत्यक् पूर्णं ब्रह्म वेदान्तवेद्यम्।।१८५।।

अन्वयः= यो यः शब्दः यत्कृते अर्थे निरूढः, तत्रैवार्थेऽस्म लक्षणावृत्तिः पण्डितैः वक्तव्या स्यात। एवं एतत् प्रत्यक्पूर्णं ब्रह्म वेदान्तवेद्यम्।।१८५।।

अन्वयार्थः= जो जो शब्द जिस निमित्त को लेकर किसी अर्थ का वाचक होता है। उस निमित्तभूत अर्थ में उस पद की लक्षणा वृत्ति पण्डित मानते हैं। इस प्रकार यह प्रत्यक् पूर्ण ब्रह्म वेद्य होता है।।१८५।।

यो य इति। येन कृतं यत्कृतं तस्मिन्नर्थे= सत्यादिशबले निरूढो वाचकत्वेन प्रसिद्धस्तत्रैव निमित्तभूते परमार्थसत्यादिस्वभावेऽस्य सत्यादिपदस्य लक्षणेति सम्बन्धः। यद्यपि सत्यादिपद-वाच्यमात्मानात्मभागद्वयं कृतम् तथापि गगनादेस्तद्वाच्यभागस्य यत्सत्यत्वाद्युक्तं तत्सत्यत्वादिस्वभवाधिष्ठाननिरपेक्षं न भवति तदात्मनैव तस्यार्थक्रियाजनकत्वादिरूपवत्त्वादन्यथा निरात्मनस्तस्य तदयोगादेवं चात्माकाशादिस्वरूपं भूत्वैव तेन शबलितः सन्सत्यादिशब्दवाच्यतां लभते इति निरपेक्षतत्कृत एव सत्यादिपदवाच्यतार्होऽर्थ इति स एव निरपेक्षः सत्यादिस्वभावो लक्षणायोपादीयत इति न तस्मिन्निर्णयकारणशून्यतेत्यर्थः। एतच्च पण्डितैरित्यनेन द्योतितम्। एवमद्वयब्रह्माभेदप्रमितिबलादपि लक्ष्यनियमसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह। एवमेतदिति। वेदान्तवेद्य-मेतत्प्रत्यग्ब्रह्म एवं सति पूर्णं स्यादित्यत्रापि सम्बन्धः। वियदादेर्वाच्यभागस्य ब्रह्माभेदनुपपत्तेश्च न तल्लक्षणा व्यर्था न च न ब्रह्मपुर्णं सिद्ध्येदिति भावः।।१८५।।

यो यः इति— "आकाशं सत्यं" आकाशसत्य है' ऐसा सत्यपद का शबलार्थ में वाचकत्व प्रसिद्ध है। लेकिन यह प्रसिद्धि चैतन्य आत्मनिष्ठ सत्यता के कारण ही शबलार्थ में भी आई। तो सत्य पद जो शबलार्थ वाची है। उसकी लक्षणा परमार्थ सत्य परक करनी होगी। यद्यपि सत्य पद के वाच्य दो पदार्थ हुये, एक आत्मा तथा दूसरा अनात्मा आकाशादि। तो भी आकाशादिक में जो सत्यत्वादिक का प्रतिपादन किया है वह भी तो वास्तविक सत्यतास्वरूप अधिष्ठान के बिना नहीं हो सकता। उस वास्तविक सत्यता के कारण ही तो आकाशादिक में अर्थ क्रिया जनकत्वादि आता है अन्यथा उस वास्तविक सत्यता के अधिष्ठान के अभाव में अर्थक्रियाकारित्व भी संभव नहीं हो सकेगा। इस प्रकार आत्मा का सत्यत्व ही आकाशादि स्वरूप को प्राप्त होकर आकाश के साथ मिलकर (शबलित होकर) शबलार्थ सत्य पद का वाच्य बन जाता है। इसलिये जो निरपेक्ष सत्यार्थ है': जो आत्म निष्ठ सत्य पद का वाच्य है। वही निरपेक्ष सत्य स्वभावयुक्त है। उसका ग्रहण शबल वाचक पद से लक्षणा के द्वारा ही संपन्न होगा। इसलिये लक्षणा करने में कोई बाधा नहीं है। इस बात को पण्डितैः= पाण्डितों ने भी स्वीकार किया है इसी प्रकार अद्वय ब्रह्माभेद ज्ञान के बल से भी लक्ष्य ब्रह्म की सिद्धि होती है।

एवमेतदिति= इसी प्रकार से वेदान्त वेद्य प्रत्यगात्मा और ब्रह्म पूर्ण है इसमें भी लक्षणा को स्वीकार करना पडेगा। आकाशादिक के वाच्य भाग का ब्रह्म के साथ अभेद तो हो नहीं सकता अतः वहां लक्षणा की जरूरत माननी होगी अन्यथा आकाश की सत्यता

के साथ अभेद संभव नहीं हो पायेगा। और यदि लक्षणज्ञ नहीं मानेंगे तो ब्रह्म में पूर्णता नहीं सम्पन्न होगी। क्योंकि लक्षणा के अभाव में और ही सत्यता सिद्ध होगी। तो इससे ब्रह्म परिपूर्ण नहीं हो पायेगा।

ननु सत्यादिवाक्यस्यैकरसब्रह्मार्थत्वे तत्पदानां पर्यायतापत्तिरित्याशङ्क्य किं सत्यादिपदनामपर्यायत्वेन तदर्थभेदः सिषाधयिषितः, उत सिद्धान्ते तत्परिहाजिज्ञासामात्रमिति विकल्प्याद्येऽत्यन्तभेदवादिनं प्रत्याह-

शंका= सत्यादि वाक्य यदि एकरस ब्रह्मरसपरक है तो वाक्यान्तर्गत जितने भी पद ज्ञानादि हैं वे सब पर्यायवाची होंगे।

समाधान= यदि कहे कि सत्य ज्ञानादि पद अपर्यायवाची है- तो उन उन पदों के वाच्यार्थ का भेद अपने आप सिद्ध होगा यह आपको कहना है कि दोनों के अर्थ विभाग को कैसे हटाया जाय, ये दो विकल्प है, इसमें पहिले विकल्प को हटाते है' पहिला विकल्प दोनों के अर्थ सत्य ज्ञानादिक अलग अलग है- इसका समाधान दे रहे है-

सत्येऽप्यस्ति ज्ञानता ज्ञानतायां
सत्यत्वं च स्पष्टमस्त्येव तद्वत्।।
सत्यप्येवं नातिरेकावकाशः
पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसत्योपपत्तेः।।१८६।।

अन्वय= सत्येऽपि ज्ञानता अस्ति, तद्वत् ज्ञानतायां सत्यत्वं स्पष्टमस्त्येव। एवं सत्ययि अतिरेकावकाशो न पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसत्योपपत्तेः।।१५६।।

अन्वयार्थ= सत्य में भी ज्ञानता है, उसी प्रकार ज्ञानता की सत्यता स्पष्ट है। इस प्रकार (औपाधिक धर्म भेद होने पर) भी (लक्ष्यार्थ में) भेद का अवकाश कभी नहीं, क्यों कि पूर्णतत्त्व में ज्ञानत्व और सत्यत्व दोनों रह सकते हैं।।१८६।।

सत्येऽपीत्यादिना- सत्यपदलक्ष्येऽपीत्यर्थः। ज्ञानता ज्ञानाभेदः। तर्हि किं रजताधिष्ठानशुक्तिरिव स्वाभिन्नाद्रजतात् सत्यमपि स्वाभिन्नाज्ञानाद्भिद्यते नेत्याह ज्ञानतायामिति। ज्ञाने यथा ज्ञानं सत्याभिन्नं तथा स्पष्टं सत्यत्वं च ज्ञानाभिन्नम्, सत्यज्ञानयोरत्यन्तमभेद इत्यर्थः। ननु भवतु सत्यज्ञानयोरभेदस्तथाप्यतिरेकरूपेषद्भेदोऽपि वाच्यः अन्यथा तत्पदद्वयसामानाधिकरण्यायोगादिति न तदुभयलक्ष्यमत्यन्ताभिन्नमिति भेदाभेदमाशङ्क्याह सत्यप्येवमिति। एवं सत्यप्यतिरेकावकाश इति यत्तन्नेति सम्बन्धः। कुतस्तत्वे ज्ञानानन्दात्मके वस्तुनि पूर्णेऽत्यन्तभिन्नै

सति ज्ञानसत्योपपत्तेः ज्ञानस्य ज्ञानत्वं सत्यस्य सत्यत्वं चोपपद्यते इत्यर्थः। यदि सत्य ज्ञानाद्भिन्नं स्यात्तदा तस्य दृश्यतया सत्यत्वं न स्यात्, एकदेशिमते ज्ञानाभेदोऽप्यस्तीति चेज्ज्ञानभेदस्यापि सत्वे तदपरिहारात्, अन्यथा तदस्फुरणात्, एवं ज्ञानमपि सतो भिन्नं चेदसदेवेति न ज्ञानं स्यादिति तयोरत्यन्तमभेद एव। शब्दापर्यायत्वं सामानाधिकरण्यं च लक्ष्यैक्येऽपि वाच्यभेदादुपपन्नतरमिति द्वितीयकल्पोऽपि निरस्त इति भावः। एवमुत्तरश्लोकयोरपि द्रष्टव्यम्।।१८६।।

सत्येऽपीत्यादिना= सत्य पद के लक्ष्यार्थ में। ज्ञानत- ज्ञान का अभेद हैं।

शंका— फिर तो जैसे रजत का अधिष्ठान शुक्ति होने से जैसे शुक्ति से अभिन्न रजत उससे शुक्ति का अलग भान नहीं होता है- इसी प्रकार सत्य का भी उससे अभिन्न ज्ञान से अलग भान नहीं होने से उससे भेद सिद्ध नहीं होगा। इस पर कहते है- जैसे ज्ञान सत्य से अभिन्न है। अर्थात् सत्य और ज्ञान दोनों का अत्यन्त अभेद है।

भेदाभेदवादी शंका- सत्य और ज्ञान दोनों का अत्यन्त अभेद होने पर भी थोडा सा भेद तो मानना ही चाहिये। नहीं तो दोनों पदों का सामानाधिकरण्य भी एक ब्रह्म में संभव नहीं हो पायेगा। यदि इषद् भेद मानें तो फिर दोनों का अत्यन्त अभेद संभव भी नहीं हो सकता ऐसा प्रश्न भेदाभेदवादी कर रहे हैं—

समाधान— सत्यप्येवमिति= ऐसा होने पर भी दोनों का सामानाधिकरण्य होने पर भी दोनों सत्य ज्ञानादिक का परस्पर भेद नहीं है। क्योंकि तत्त्वे= ज्ञान आनन्दात्मक ब्रह्म वस्तु में जो पूर्ण है, उसमें अत्यन्त अभिन्न रूप के सत्य ज्ञानादि रहते हैं। ज्ञान की ज्ञानता और सत्य की सत्यता उसी में ब्रह्म में अत्यन्त अभिन्न रूप से रहते हैं। मानो कि सत्य और ज्ञान का थोडा भी भेद मानें तो सत्य ज्ञान से भिन्न होगा, जब वह ज्ञान से भिन्न सत्य होगा तो घटादिक के समान वह भी दृश्य होगा और उसमें फिर सत्यता नहीं रहेगी।

एकदेशी मतानुसार- सत्य का ज्ञान से अभेद भी है। तो भी ज्ञान से थोडा भेद होने से उपरोक्त दोष आ जायेगा। यदि सत्य को ज्ञान से भिन्न मानें तो सत्य का स्फुरण भी नहीं होगा। इसी प्रकार यदि ज्ञान को सत्य से भिन्न मानें तो वह ज्ञान असत् हो जायेगा। फिर वह ज्ञान, ज्ञान नहीं रहेगा। इसलिये ज्ञान और सत्य दोनों का अत्यन्त अभेद ही अभीष्ट है। शब्द पर्याचवाची भी नहीं है। और इन दोनों में अधिक भेद भी नहीं है। तो भी लक्ष्य एक होने से सामानाधिकरण्य भी है क्योंकि वाच्य का भेद मानना

चाहिये यह कहा था। यद्धि= द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है। यही पूर्वोक्तदोष आयेगा यही क्रम उत्तरवर्ती श्लोकों में भी लगाना।। प्रश्नकर्ता के दोनों विकल्पों का समाधान इसमें आ गया है। व्यवहार में सत्य तथा ज्ञान दोनों अलग अलग हैं लेकिन लक्ष्यार्थ पूर्ण ब्रह्म में दोनों अभिन्न हैं।।

आनन्दत्वे ज्ञानता ज्ञानताया
मानन्दत्वं विद्यते निर्विशङ्कम्।।
सत्यप्येवं नातिरेकावकाशः
पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसौख्योपपत्तेः।।१८७।।

अन्वायः= आनन्दत्वे ज्ञानता, ज्ञानतायां आनन्दत्वं निर्विशङ्कं विद्यते। एवं सत्यपि अतिरेकावकाशो न पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसौख्य उपपत्तेः।।

अन्वयार्थः= आनन्दत्व में (अभिन्नभाव में) ज्ञानता एवं ज्ञानता में आनन्दत्व भी निःसन्दिग्धरूप से विद्यमान हैं इस प्रकार (औपाधिक) लक्ष्यार्थ में भेद को कोई स्थान नहीं है।।१८७।।

आनन्दत्वे आनन्दे। ज्ञानसुखयोर्भेदे सुखस्य दृश्यत्वादिदोषो ज्ञानस्य प्रेक्षावदुपेक्ष्यतापत्तिरिति भावः।।१८७।।

आनन्दत्वे= आनन्द में ज्ञान और ज्ञान में आनन्द अत्यन्त अभिन्न है, यदि भिन्न भिन्न होगें तो आनन्द दृश्य होगा। इसी प्रकार ज्ञान आनन्द से भिन्न हो तो वह भी दृश्य होगा। अतः पूर्ववत् संगति लगानी है।

आनन्दत्वे सत्यता सत्यताया
मानन्दत्वं निर्विवादं प्रसिद्धम्
सत्यप्येवं नातिरेकावकाशः
पूर्णे तत्त्वे सत्यसौख्योपपत्तेः।।१८८।।

अन्वयः= आनन्दत्वे सत्यता सत्यतायां आनन्दत्वं निर्विनादं प्रसिद्धम्। एवं सत्यपि आतरेकावकाशो न, पूर्णेतत्त्वे सत्यसौख्योपपत्तेः।।१८८।।

अन्वयार्थः= आनन्द में सत्यता और सत्यत्व में आनन्दत्व निर्विवाद रूप से प्रसिद्ध है। और (औपाधिक भेद होने पर) लक्ष्य स्वरूप में भेद की कोई सम्भावना नहीं है। क्योंकि पूर्ण लक्ष्य में सत्यत्व तथा सौख्य (आनन्दत्व) दोनों उपपन्न है।

आनन्दत्व इति श्लोकान्तरं स्पष्टम्।।१८८।।

आनन्दत्वः= आनन्द सत्य से भिन्न हो तो दृश्य होगा यदि सत्यता आनन्द से भिन्न होगी तो उपेक्षणीय होगी आदि अर्थ के रूप में अर्थ करें।

ननु भवतु सत्यादीनामत्यन्तमभेद एकस्मिन्वाक्ये समानाधिकरणपदैस्तेषामुपादानात्। नित्यशुद्धत्वादीनां तु तत्रतत्र वाक्ये पृथक्पृथगुपात्तानामत्यन्ताऽभेद न किं चित्प्रमाणमित्याङ्क्य तेषामपि पूर्णब्रह्माभेदानुपपत्त्या परस्परभेदे तेषामशुद्ध्याद्यापत्तेश्चात्यन्ताभेद एवोचित इत्याह–

शंका– सत्यादि पदों का अत्यन्त अभेद एक ही वाक्यान्तर्गत दोनों पदों का ब्रह्मरूप समानाधिकरण प्रतिपादकत्व होने से मान लिया। लेकिन नित्य शुद्धत्वादि पदों का अलग अलग वाक्यों में अलग अलग इनका अस्तित्व है, इन दोनों पदों का अत्यन्त अभेद है- इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी अशंका होने पर

समाधान– पूर्णब्रह्म के साथ अभेद की अनुपपत्ति हो जायेगी। पदों का परस्पर भेद मानने से, नित्य शुद्ध आदिपदों की अनित्य अशुद्धतापत्ति हो जायेगी इसलिये इनका अत्यन्त अभेद ही मानना उचित है।

शेषेऽप्यूह्यं न्यायसाम्यादशेष-
मन्योऽन्यस्मिन्नस्तिता पूर्णता च।।
अन्योऽन्यस्याजामिता शब्दशक्ते-
रेवं सुस्थं सर्वमुक्तोपपत्तेः।।१८६।।

अन्वयः= शेषेऽपि न्यायसाम्यात् अशेषं उह्यं अन्योऽन्यस्य अन्योन्यस्मिन् अस्तिता पूर्णता, शब्दशक्तेः अजामिता च एवं उक्तोपपत्तेः सर्वं सुस्थम्।

अन्वयार्थः= शेष भूत् नित्यत्वादि धर्मो में भी उक्त न्याय की समानता के कारण अशेष (अभेदादि) पदार्थो की कल्पना कर लेनी चहिये। जैसे कि धर्मो के परस्पर एक दूसरे में रहना, लक्ष्य की पूर्णता तथा शब्द शक्ति की अपुनरुक्तता। इस प्रकार उक्त मार्ग से सर्वोपपत्ति है। जिससे सब सिद्धान्त सुस्थिर हो जाते हैं।

शेषेऽपीति। सत्यज्ञानानन्दातिरिक्तेषु नित्यादिपदार्थेषु, अशेषं सत्यादिपदार्थेषु यदुक्तं लक्ष्यैक्यादि तत्सर्वमुक्तन्यायसाम्यादूह्यम्। अशेषमित्युक्तमेव विशदयति। अन्योऽन्यस्मिन्नित्यादिना। अन्योन्यस्यान्योन्यस्मिन्नस्तितेति सम्बन्धः। चकारात्सामानाधिकरण्यं सूचयति। शब्द-शक्तेरजामितेति सम्बन्धः। जामिता पुनरुक्तता कार्यन्तराभावेनाप्रयोजकता वा नास्तीत्यर्थः।

उपसंहरति। एवं सुस्थमिति।।१८६।।

शेषेऽपीति= सत्यज्ञान– आनन्दातिरिक्त नित्य शुद्धादि पदार्थो में भी, अशेष सत्यादि पदार्थों के लिये जैसे लक्ष्य ब्रह्म एकता की युक्ति अपनाई, वहां जैसे उनका अत्यन्त अभेद मान लिया वही पद्धति यहां भी स्वीकृत करनी है। अन्योऽन्यस्मिन्नित्यादिना- नित्य में शुद्ध रहता है। नित्यता में शुद्धता तथा शुद्धता में नित्यता मानना ही उचित है। च कारसे दोनों का एक ब्रह्म को लेकर सामानाधिकरण्य है। एक दूसर में समर्पित होने के कारण दोनों पदों की पुनरुक्तता नहीं है। अथवा सामानाधिकरण्य को लेकर अन्य कोई इन दोनों पदों का प्रयोजन न होने से अप्रयोजकत्वं भी नहीं है। अर्थात् सामानाधिकरण्य को लेकर दोनों पदों में परस्पर प्रयोजकत्व भी है। इस प्रकार उपसंहार कर रहे हैं– 'एवं सुस्थमिति= इस प्रकार सत्यंज्ञानं आदि, तथा नित्यत्व शुद्धत्वादि सभी पदों का समन्वय हो जाने पर समस्त सिद्धान्त सुस्थिर हो जाते हैं।'

ननु शबलं ब्रह्मात्मादिपदानां वाच्यमित्युक्तं तदनुपपन्नं मूलग्रन्थे तथाऽदर्शनात्, अत एव प्रत्यक्त्वं बोधत्वं च बुद्धेरित्यप्ययुक्तमित्याशङ्क्य नैष्कर्म्यसिद्धावाचार्यैस्तदुभयमप्युक्तमित्याह–

शंका– ब्रह्म आत्मादि शब्दों का शबल ब्रह्म, अथवा शबल आत्मा अर्थ है यह बात उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा कहीं देखने में नहीं आता। इसी प्रकार से प्रत्यक्त्वं, बोधत्वं, बुद्धि में शब्द प्रयुक्त होते हैं। यह भी अयुक्त है।

समाधान नैष्कर्म्य सिद्धि में आचार्यजी ने ये दोनों ही उचित बता दिये हैं–

बोधात्मत्वे निर्निमित्ते प्रतीचो
बोधात्मत्वे तन्निमित्ते च बुद्धेः।।
बोधात्मत्वे बुद्धिधर्मौ च बुद्धे-
रुक्ते साक्षाद्वेदसिद्धान्तविद्भिः।।१६०।।

अन्वयः= वेदसिद्धान्तविद्भिः प्रतीचः निर्निमित्ते बोधात्मत्वे बुद्धेस्तु तन्निमित्ते बोधात्मत्वे साक्षात् उक्ते, बुद्धेः, बोधात्मत्वे बुद्धिधर्मौ एव।।१६०।।

अन्वयार्थः= वेदान्त सिद्धान्तवेत्ता आचार्यो ने प्रत्यगात्मा में स्वाभाविक बोधत्व तथा आत्मत्व कहा है। और बुद्धि में बोधत्व एवं आत्मत्व तन्निमित्तक (आत्मनिमित्तक) कहा है। बुद्धिगत बोधत्व तथा आत्मत्व दोनों ही बुद्धि के धर्म ही है, स्वरूप नहीं।।१६०।।

बोधात्मत्वे इति। निर्निमित्ते स्वाभाविके। तन्निमित्ते स्वाभाविकप्रत्यग्बोधात्मनिमित्ते

बुद्धेरिति सम्बन्धः। बुद्धेर्बोधात्मत्वे बुद्धिधर्माविव न त्वात्मन इव स्वरूपभूते, आत्मनो हि सर्वान्तर-स्वप्रकाशस्य प्रत्यक्त्वं बोधत्वं च स्वाभाविकं बुद्धेस्तु तदध्यासात्तद्धर्मसम्बन्ध इति ते स्वाभाविके नेत्यर्थः। तदुक्तमाचार्यैः-

कूटस्थबोध प्रत्यक्त्वमनिमित्तं तदात्मनः।
बोद्धृताहन्तयोर्हेतुस्ताभ्यां तेनोपलक्ष्यते।

बुद्धेरित्युत्तरश्लोके लभ्यते। एवं च बुद्धेरपि बोद्धृताऽहन्तयोरन्यनिमित्तयोरभिधानादात्मनश्च तदुपलक्ष्यत्वोक्तेर्वास्तवावास्तवप्रत्यक्त्वद्वयशबलस्यैवाऽहंपदवाच्यत्वं बुद्धेश्च बोधात्मत्वादिधर्मवत्त्वं तत्सम्मतमिति नाऽस्माभिः स्वेच्छया कल्पितमिति भावः। एवं च ब्रह्मादिपदस्यापि शबले संगतिरविरुद्धेति द्रष्टव्यम्।।१६०।।

बोधात्मत्वे इति= बोधत्व और आत्मत्व ये शब्द आत्मा में निर्निर्मित्ते= स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त होते हैं। लेकिन बुद्धि के अन्दर। बुद्धेः= तन्निमित्ते बोधात्मत्वे= ये ही प्रत्यक् आत्मा में बोधत्व, तथा आत्मत्व शब्द आत्मा के स्वाभाविक आत्मत्व तथा बोधत्व के कारण हैं। अर्थात् बुद्धि के अन्दर जो बोधत्व तथा आत्मत्व धर्म है ये तो बुद्धि के धर्म माने जायेंगे लेकिन आत्मा के समान स्वरूपभूत ये बुद्धि के नहीं है। अर्थात् आत्मा में तो सर्वान्तरत्व, स्वप्रकाशत्व, आत्मत्व, प्रत्यक्त्व, बोधत्व स्वाभाविक हैं, और बुद्धि में तो उनका अध्यास है। अर्थात् आत्मा में बुद्धि अध्यस्त होने के कारण आत्मत्व तथा बोधत्व धर्म से बुद्धि का सम्बन्ध हो जाता है। अतः बोधत्व और आत्मत्व यह बुद्धि का स्वरूप नहीं है आचार्यजी ने इसीलिये उल्लेख किया है-

कूटस्थबोध प्रत्यक्त्वमनिमित्तं तदात्मनः।
बोद्धृताहन्तर्योहेतुस्ताभ्यां तेनोपक्ष्यते।।

आत्मा के अन्दर कूटस्थत्व, बोधत्व, प्रत्यक्त्व आदि अनिमित्तक स्वाभाविक है। बुद्धि में बोद्धृता तथा अंहकारता ये ही दोनों हेतु होकर इन दोनों से उपलक्षित होकर बुद्धि में भासते हैं। इस प्रकार बुद्धि के अन्दर जो बोद्धृता तथा अहन्ता का भान है वह अन्यनिमित के कारण है। अब आत्मा के अन्दर अहन्ता का प्रयोग तथा बोद्धृता का प्रयोग होता है- मैं हूँ, मैं ज्ञानी हूँ- इत्यादि प्रयोग होता है इसमें- बोद्धृता तथा अहन्ता दोनों उपलक्षित है- अर्थात्, इसमें वास्तव और अवास्तव, आत्मत्व, बोद्धृत्व, अहन्तादि का सम्मिश्रण हो जाता है। तो अहं पद से (अहंकारदिवान् अहं) आत्म अनात्म= (आत्मा तथा बुद्धि) वाच्यार्थ का बोध होता है- जो बुद्धिवान् मैं हूँ पद के वाच्य हैं। इस प्रकार से बुद्धि के अन्दर जो आत्मत्वादि धर्म है, वे शबलार्थ परक है। जो बुद्धिवान् मैं हूँ पदके वाच्य है। इसी प्रकार

से ब्रह्म पद, आत्म पद भी शबल ब्रह्मपरक तथा सबल आत्म परक है यह अविरूद्ध ही है।

तत्त्वंपदयोरिव सत्यादिपदेष्वपि जहदहल्लक्षणोपपादिता, इदानीं तद्वदत्रापि लक्षणान्तरं वृत्त्यन्तरं चातिदिशाति—

"तत्त्वं" पद में तथा सत्यादि पद में भी जहदजहल्लक्षणाका प्रतिपादन किया है। अब क्या अन्य लक्षणा भी यहां उपयुक्त हो सकती है या नहीं इसका विवेचन कर रहे हैं।

जहतीह च लक्षणामता
गुणवृत्तिश्च तथाऽभ्युपेयते।।
न विशेषविनिर्णयक्षमं
किमपीहास्ति विशेषकारणम्।।१६१।।

अन्वायः= इह जहती लक्षणा च मता, तथा गुणवृत्तिश्च अभ्युपेयते, इह विशेषनिर्णयक्षमं किमपि विशेषकारणं नास्ति।।१६१।।

अन्वायर्थः= यहां (सत्यादि पदों में) जहती लक्षणा भी मानी गई है तथा गौणी वृत्ति भी स्वीकार की जाती है, क्योंकि इन (सत्यादि पदों में तत्त्वं पदों से) विशेषता को बताने वाला कोई हेतु नहीं है।।

जहतीति। इह अवान्तरवाक्ये जहती लक्षणा च मतेष्टेत्यर्थः। तथा तत्त्वं पदार्थयोर्यथेत्यर्थः तथा प्राणाः इति वद्व्यवहितपरामर्शस्यापि सम्भवात् तथेह जहतीति योजनीयम्। यथा जहतीमता तथैव वृत्त्यन्तरं चास्तु। विशेषविनिर्णयक्षमं जहदजहल्लक्षणैव सत्यादिपदेषु न वृत्त्यन्तरमिति न निर्णययोग्यमित्यर्थः। विशेषकारणं विशेषप्रमाणम्। एतदपि प्रोढ्यैवोक्तं वृद्धानां सत्यादिपदव्यवहारस्य गगनादिशबल एव नियमेन दर्शनात्। गगनं सत्यमित्यादि-प्रयोगाद्धि, गगने सत्यादिशब्दसङ्गतिग्रहो वाच्यः, स च प्रयोग आत्मानात्म-समुदायगोचरः, आत्माऽन्यस्य सत्यपदार्थस्यासम्भवात्। यद्यपि व्यावहारिकी सत्यता गगना-दावप्यस्ति तथापि सा तथा गृह्यमाणाऽऽत्मानं व्यावर्त्तयेन्न तु सत्यत्वादिरूपेण गृह्यमाणा। वक्ष्यमाणरीत्या व्युत्पत्तिकाले तस्या विविच्य ज्ञातुमशक्यत्वाच्च विचारदशायामेव तत्कल्पनात्। ततश्चाधिष्ठानव्यावृत्तरूपेण गगनादिस्फुरणाभावान्न केवलतद्गोचरः शक्तिग्रहः। न चैवमपि विशिष्टादन्यस्मिन्केवले जहल्लक्षणैव पदानां युक्तेति वाच्यम्। विशिष्टस्वरूपस्य विशिष्टरूपेण स्वस्मात्कल्पितभेदेऽपि तत्त्वतस्तदभावेन विशिष्टरूपस्य केवलाभिन्नस्य त्यागासंभवेन जहदजहल्लक्षणया तस्योपादेयत्वात्। एतच्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति। एवं वाक्यार्थे कस्यापि

गुणस्य योगाप्रतीतेर्गौण्यपि न सम्भवतीति।।१६१।।

जहतीह= महावाक्यों की बात तो हो चुकी है लेकिन अवान्तर वाक्यों में जहल्लक्षणा को स्वीकार करेंगे। तथा= तत्त्वंपदार्थ के विषय में जैसी जहदहल्लक्षणा स्वीकार की गई। उसी प्रकार यहां अवान्तर वाक्य में जहल्लक्षणा स्वीकृत की जाय। "तथा प्राणाः" इति= इस सूत्र में जो व्यवहित (दूर) आत्मा है उसका भी परामर्श होता है। इसी प्रकार से अवान्तर वाक्य में जहल्लक्षणा स्वीकार करें तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

विशेषनिर्णयक्षमम्= जहदजहल्लणा ही सत्यादिपदों में निर्णय करने योग्य हैं, अन्य वृत्यन्तर नहीं है ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता। विशेष कारण= कोई ऐसा जहदहल्लक्षणा के विषय में विशष प्रमाण नहीं है। यह भी जो कहा है वह प्रौढीवाद को लेकर ही कहा है। (क्योंकि विशिष्ट बुद्धि भेदाभेदपरक होती है। विशिष्ट बुद्धि में भेद और अभेद दोनों है) निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि सत्यादि पदों का व्यवहार वृद्ध लोग तो गगनादि शबल में प्रयुक्त करते है। "गगनं सत्यं"- इस प्रयोग का तात्पर्य सबलार्थक ही मानते हैं। (गगनं सत्यं) गगन सत्य है इस वाक्य प्रयोग से- गगन में सत्यादि शब्द का संगति ग्रह कहना पडेगा। तो इसमें आत्म, अनात्म समुदायगोचर परक ही यह प्रयोग हुवा। क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त अन्य पदार्थ सत्य रूप में हो नहीं सकता।

यह बात अलग है कि गगन में व्यावहारिक सत्यता है, तथापि व्यावहारिक सत्ता व्यावहारिक सत्तात्वेन आत्मा को भले ही अलग कर देवे। तो भी सत्यत्वेन रूपेण आत्मा को अलग नहीं कर सकती। आगे हम बतायेंगे कि "गगनं सत्यं" इस प्रयोग के व्युत्पत्तिकाल में व्यावहारिक सत्यता को अलग रूप से जाना जा सकता है। विचार काल में ही व्यावहारिक सत्यता को अलग रूप से जाना जा सकता है। इसलिये अधिष्ठान आत्मसत्यता को हटाकर गगनादि सत्य है इस प्रयोग का स्फुरण ही नहीं हो सकता। इस अवस्था में गगनं सत्यं- यह प्रयोग केवल गगनपरक नहीं हो सकता। अर्थात् यह प्रयोग विशिष्ट परक (शबल परक) है यह बात सिद्ध हुई।

शंका– विशिष्ट प्रयोग से अतिरिक्त प्रयोग में जहल्लक्षणा को ही मानकर पदों का प्रयोग करें। तो।?

समाधान– विशिष्ट स्वरूप का विशिष्टस्वरूपत्वेन केवल स्वरूप से भेद होने पर भी वास्तविक तो भेद नहीं है। विशिष्ट रूप में केवल स्वरूप तो है ही। फिर विशिष्ट रूप से केवल रूप का त्याग संभव नहीं हो सकता। तो इस अवस्था में जहदहल्लक्षणा की जरूरत पडेगी। जिससे विशेषण भाग गगनादि छोडकर विशेष्यभाग सत्यतादिक का ग्रहण किया

जायेगा। इस बात को आगे स्वयं ही कहेंगे। इसी प्रकार से "गगनं सत्यं" गगन सत्य इस वाक्यार्थ में किसी भी गुण की उपस्थिति नहीं है न वैसी प्रतीति भी हो रही है। इसलिये जैसी जहल्लक्षणा सम्भव नहीं वैसी गौणी वृत्ति भी संभव नहीं है।

ननु यथा सत्यादिवाक्यसामर्थ्यात्तत्तत्पदेषु भागत्यागोपादानलक्षणया सदाद्यात्मकं ब्रह्मेत्यङ्गीकृतम्, एवमेष सर्वेश्वर इति श्रुतिसामर्थ्यादैश्वर्यमप्यात्मस्वरूपं जहदजहल्लक्षणया किमिति नाङ्गीक्रियते तस्यापि ज्ञानाद्यविशेषादिति शङ्कते-

शंका= जैसे सत्यादि वाक्य सामर्थ्य से तत्तत्पदों में भागत्यागलक्षणा के द्वारा सत् स्वरूप ब्रह्म का अङ्गीकार किया जाता है। इसीप्रकार से "एवमेष सर्वेश्वर" इति ऐसे श्रुति के सामर्थ्य से ऐश्वर्यादि भी जहदजहल्लक्षण के द्वारा आत्मा में क्यों स्वीकार नहीं करते है? क्योंकि ऐश्वर्यादिस्वरूप भी आत्मा को मानना चाहिये। ऐसा प्रश्न करते हैं-

ऐश्वर्यमप्नुभवादिवदात्मरूपं
तस्मादबोधगतमस्य च तानि कस्मात्।।
नेष्टानि पूर्ववदिति ब्रुवत्तो मुखस्य
सद्यः पिधानमनुसृत्य वचांसि कुर्मः।।१६२।।

अन्वयः= अनुभवादिवत् ऐश्वर्यमपि आत्मगतं। तस्मात् अबोधगतं अस्य च। तानि पूर्ववत् कस्मात् नेष्टानीति ब्रुवतो मुखस्य सद्यः पिधानमनुसृत्य वचांसि कुर्मः।।१६२।।

अन्वयार्थः= ज्ञानादि के समान ही ऐश्वर्य भी (एक) आत्मगत, उससे (प्रयुक्त) अज्ञानगत (दूसरा) ऐश्वर्य तथा इन से विशिष्ट ये तीसरा, इस प्रकार पूर्ववत् (तीन ऐश्चर्य) क्यों नहीं माने जाते, इस प्रकार शंकावादी का तुरन्त मुंह बन्द करने के लिये हम विशेषता कह रहे हैं।।१६२।।

ऐश्वर्यमिति। आत्मरूपमेकम्। तस्मात् अबोधगतं मायागतमन्यदिति शेषः, मायायामपि तत्र तत्र पुराणे दुर्गादिरूपायामीश्वरी शब्दप्रयोगात्। अस्य तदुभयशबलस्य चापरम्। तानि त्रिविधान्यैश्वर्याणि। पूर्ववत्त्रिविधसत्यत्वादिवत्। तद्दूषणं प्रतिजानीते इति ब्रुवत इति। वचांस्यनुसृत्येति सम्बन्धः। तस्मै निरुत्तरमुत्तरं दद्म इत्यर्थः।।१६२।।

ऐश्वर्यमिति= ऐश्वर्य को भी आत्म स्वरूप मानना चाहिये। जैसे आत्मा अनुभव स्वरूप है वैसा ऐश्वर्य स्वरूप मानना चाहिये। क्योंकि= तस्मात्= अबोधगतमस्य च तानि कस्मात= अबोध-माया= अर्थात् माया गत ऐश्वर्य से अतिरिक्त ऐसे ऐश्वर्य स्वरूप आत्मा के होने में कोई दोष नहीं है। माया अवस्था में अन्य अन्य पुराणों में दुर्गा, विष्णु, शिवादिक में ईश्वरी

या ईश्वर शब्द का प्रयोग किया हैं। आत्मा में तो अनुभव शक्ति का प्रयोग है ही। अब दोनों को मिलाकर शबल विशिष्ट बोध होगा, जो निकृष्ट है। तो अब तीन ऐश्वर्य हुवे। आत्म ऐश्वर्य, दुर्गा ऐश्वर्य तथा शबल ऐश्वर्य। अब यहां भी वही पहिले वाली प्रक्रिया- आकाश में सत्यता अलग, आत्मा में सत्यता अलग, शबल में अलग-, फिर भागत्याग लक्षणाके द्वारा विशिष्ट में से शुद्ध सत्यता का बोध, आदि आदि वही प्रक्रिया अपना कर आत्मा को भी ऐश्वर्य स्वरूप माना जाय। इस का खंडन- इति ब्रुवतो= ऐसे वचन बोलने वाले का मुख हम जल्दी ही बन्द करा देते हैं–

तदेव विवृणोति–

इसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं–

ऐश्वर्यवर्णनमतिस्फुटमेव कृत्वा।
नेतीत्यवादि बहुशः श्रुतिभिः प्रयत्नात्।।
सत्यादिवस्तुनि पुनर्न तथास्ति पूर्व
मुक्त्वा निषेधनमितीह विशेषयुक्तिः।।१६३।।

अन्वयः= अतिस्फुटमेव ऐश्वर्यवर्णनं कृत्वा श्रुतिभिः बहुशः प्रयत्नात् नेतीति नेतीति अवादि सत्यादिवस्तुनि पुनः तथा पूर्वं उक्त्वा निषेधनं नास्ति, इति विशेषयुक्तिः।।१६३।।

अन्वयार्थः= अत्यन्त स्पष्ट ऐश्वर्य वर्णन करके बहुत दृढता से श्रुतियों ने नेति नेति, कहा है। (लेकिन) सत्यादि पदार्थों में वैसा (पूर्व वर्णन करके निषेध) नहीं किया। यही यहां विशेषता है।।१६३।।

ऐश्वर्यवर्णनमिति। किमैश्वर्यशब्देनानुभवादिगतनिरतिशयत्वादिविशेषः कथ्यते, किं वा स्वातन्त्र्येण निखिलजगत्सर्जनपालनादिव्यापारः। आद्योऽस्मदिष्ट एव, ज्ञानादिपदैरेव निरतिशयज्ञानादेर्लक्षितत्वेन पदान्तरेणापि तस्य प्रतिपाद्यत्वात्। न द्वितीयः, यतः "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः, स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वरः" इत्यादिवचनेन ऐश्वर्यं, निरङ्कुशं तस्योक्त्वा "स एष नेति नेत्यात्मा" इति श्रुतिरेव तत्प्रतिषेधति। एवमन्तर्यामिब्राह्मणेऽपि "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादिना बहुप्रकारेण तस्य निखिलजन्नियन्तृत्वरूपमैश्वर्यमुपवर्ण्य अन्ते "अतोन्यदार्तम्" इति तत्प्रतिषेधति। एवं मूर्तामूर्तब्राह्मणेऽपि पञ्चमहाभूतवासनात्मकतद्रूपाण्युक्त्वा "अथात आदेशो नेतिनेति" इति श्रुतिस्तात्पर्येणापवदति। तदिदमाह- बहुश इति। ततः श्रुतिभिरेव तस्य निराकृतत्वान्न तद् अनुभवादिवदात्मरूपतया श्रुतिप्रतिपाद्यम्। सत्यादिवस्तुनि तु न तथा पूर्वं, प्रतिपाद्य

निषेधनमस्तीत्यस्ति तयोर्महान्विशेषः। अतः सत्यादिकमेवात्मरूपमिति भावः।।१६३।।

ऐश्वर्यवर्णनमिति= क्या ऐश्वर्यपद से अनुभवादिगत निरतिशय विशेष ऐश्वर्य का ग्रहण करना है कि स्वतन्त्र सम्पूर्ण जगत्सर्जन पालनादि व्यापार लेना है। यदि निरतिशय विशेष ऐश्वर्य कहते हो तो वह हमें अभीष्ट है। क्योंकि जैसे ज्ञान पद से लक्षणावृत्ति से निरतिशय ज्ञान प्रतिपादित होता है। इसी प्रकार अनुभव शब्द से ऐश्वर्य शब्द से भी निरतिशय ज्ञान प्रतिपादित हो जायेगा। अब रह गई दूसरे विकल्प की बात यह अभीष्ट नहीं है। क्योंकि श्रुति ने पहिले कहा- सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वरः" सबको वश में रखने वाला, सबका निमन्त्रण करने वाला, सबका अधिपति परमात्मा न तो वह अच्छे कर्म से श्रेष्ठ होता है नहीं निकृष्ट कर्म से कनिष्ठ होता है। ऐसा निरङ्कुशं ऐश्वर्य आत्मा का बताकर बाद में कहते हैं "स एष नेति नेत्यात्मा" यह श्रुति इन सब बातों का प्रतिषेध करती है। इसी प्रकार से अन्तर्यामि ब्राह्मण में भी ऐसा ही है "य पृथिव्यां तिष्ठन्" जो पृथिवी में रहता है आदि अनेक मन्त्रों से उस आत्मा में सम्पूर्ण जगत्का नियन्तृत्व रूप ऐश्वर्य का निरूपण करके बाद में कहते हैं "अतोऽन्यदार्तम्" यह सब शुद्धात्मा में संभव नहीं करके सबका प्रतिषेध किया जाता है। इसी प्रकार मूर्ताऽमूर्त ब्राह्मण में भी पञ्चमहाभूतों से निर्मित रूपों का वर्णन करके "अथात आदेशो नेतिनेति" श्रुति बाद में सबका ही अपवाद कर देती है। पहिले अध्यारोप किया, बाद में सबका ही अपवाद कर दिया इसलिये कहा- बहुश इति= श्रुति के द्वारा ही ऐसा जगत् कर्तृत्वादि रूप ऐश्वर्य का निराकरण किया है इसलिये अनुभव के समान वह श्रुति का प्रतिपाद्य स्वरूप नहीं हो सकता। सत्यादि वस्तुओं के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता अर्थात् पहिले प्रतिपादन करके बाद में उनका निषेध नहीं किया। तो सत्यता, तथा ऐश्वर्यादिकता में बडा ही अन्तर है। इसलिये सत्यादिस्वरूप ही आत्मा है- न कि ऐश्वर्यादि स्वरूप इत्यादि।।

ननु विचारेण शुद्धोपस्थितिमन्तरेण तत्र लक्षणानवतारात्साऽवश्यं वाच्या, एवञ्च तत्र सत्यादिपदानां शक्तिरेवास्तु किं लक्षणयेति चेत्, न। सर्वपदस्य तत्र शक्तौ पदान्तरवैयर्थ्यादिदोष-प्रसङ्गात्। किंच लक्षणा परिहारार्थं तत्र शक्तिः कल्पनीया, उत तत्प्रतीतये? नाद्यः, तथा सति लोकप्रसिद्धवृत्त्यन्तरविलोपप्रसंगात्, स चान्याय्य इत्यभिप्रेत्याह-

शंका= विचार से (इत्यादि अवान्तर वाक्य से शुद्ध ब्रह्म की बोधकता सिद्ध होती है) शुद्धपदार्थ की उपस्थिति के बिना लक्षणा भी नहीं हो सकती। इसलिये शुद्ध पदार्थ की उपस्थिति विचार से लक्षणा के पहिले माननी पडेगी। और जब विचार से पूर्व शुद्ध पदार्थ

की उपस्थिति हो ही गई तो फिर लक्षणा की आवश्यकता भी नहीं रही। इस अवस्था में सत्यादि पदों की शक्ति वृत्ति ही शुद्ध सत्यादि अर्थ में मान लेंगे। ऐसी आशंका भी ठीक नहीं है। क्योंकि शुद्ध पदार्थ (सत्यादि) उसमें यदि सत्यादि पदों की शक्ति मानेंगे तो अन्य जो सत्य के साथ ज्ञानादि पद हैं उनकी व्यर्थता सिद्ध हो जायेगी। दूसरी बात यह भी है कि- क्या आप पूर्वपक्षी जी लक्षणा को हटाने के लिये शुद्ध पदार्थपरक शक्ति की कल्पना करते हो अथवा शुद्ध पदार्थ के ज्ञान के लिये शक्ति की कल्पना करते हो। इसमें पहिला आपका विकल्प ठीक नहीं है- क्योंकि लक्षणा का परिहार करने के लिये यदि शक्ति की कल्पना की गई तो- लोक प्रसिद्ध लक्षणावृत्ति का ही विलोप हो जायेगा। और यह एक अन्याय होगा।

शब्दस्य लाक्षणिकमुख्यविभागभिन्ना
वृत्तिर्हि लौकिकवचस्युपलब्धपूर्वा।।
यस्मादतो न घटते यदि मुख्यवृत्ति
राश्रीयतामिह गिरश्चरमाऽपि वृत्तिः।।१६४।।

अन्वयः= यस्मात् लोकिकवचसि हि शब्दस्य लाक्षणिकमुख्यविभागभिन्ना वृत्तिः उपलब्धपूर्वा, अतः यदि इह गिरः, मुख्यवृत्तिः न घटते चरमा वृत्तिरपि आश्रीयताम्।।१६४।।

अन्वयार्थः= लौकिक वचनों में शब्द की मुख्य तथा लक्षणा वृत्ति के भेद से दो प्रकार की वृत्ति पाई जाती है। यहां मुख्य वृत्ति सम्भव न होने पर लक्षणावृत्ति स्वीकृत कर लेनी चाहिये।।१६४।।

शब्छस्येति। उपलब्धपूर्वा पूर्व निश्चिता। साऽप्येवं सति न स्यात्तीरादावपि गङ्गादिपदस्यैव शक्तिः प्रसङ्गो यस्मादतो मुख्यत्वनिर्वाहाय लक्ष्ये न शक्तिः कल्पनीयेति शेषः। न द्वितीयः, प्रथमक्लृप्तशक्त्यनुरोधेन मुख्यार्थासंभवे लोक इव लक्षणया तत्प्रतीत्युपपत्तेरित्याह- न घटते यदीति।।१६४।।

शब्दस्येति= शब्द की दो वृत्तियां शक्ति तथा लक्षणा वृत्ति, लौकिक वचसि= लौकिक वचनों में (पदों में) उपलब्धपूर्वा= पूर्व से ही निश्चित है। यदि ऐसा मानें कि लक्षणा वृत्ति माननी नहीं है, लेकिन इससे शब्द की जो मर्यादा है- वह समाप्त हो जायेगी। क्योंकि फिर तो गङ्गादि पद से ही तीरादिक का बोध शक्तिवृत्ति से हो जायेगा। इसका मतलब होगा कि शक्ति वृत्ति का निर्वाह करने के लिये लक्षणा वृत्ति को न माना जाय। ऐसी कल्पना करनी पडेगी। रह गया दूसरा विकल्प— शुद्धपदार्थ की उपस्थिति जब प्रथम स्पष्टोच्चारित शब्द से नहीं हो सकी- अर्थात् शब्द के शक्तिवृत्ति से जब मुख्यार्थ की उपस्थिति नहीं हो सकी। तभी तो लक्षणा वृत्ति का स्वीकार लोक के समान वेद में भी करना ही

पडेगा। न घटते यदीति= मुख्यवृत्ति घटित नहीं होती है तो लक्षणा वृत्ति का स्वीकार करना ही पडेगा।

ननु सर्वेषां पदानां यद्येकप्रातिपदिकार्थे लक्षणा तर्ह्येकपदादेव तत्प्रतीतिसंभवाल्लक्षणापक्षेऽपि पदान्तरं व्यर्थमिति शङ्कां निराकुर्वन्नुपसंहरति—

शंका= जब सभी पदों की एक ही प्रातिपदिकार्थ में लक्षणा है तब तो एक पद से ही एक प्रातिपदिकार्थ की प्रतीति हो गई फिर तो लक्षणा मानने वाले भी अन्य पदों को निरर्थक ही मानेंगे। ऐसी आशंका भी ठीक नहीं है—

तस्मादखण्डमवबोधयितुं समर्थो
वेदान्तभूमिगतशब्दसमन्वयोऽतः।।
संसर्गलक्षणमपास्य विरोधहेतो-
र्वाक्यार्थमद्वयमखण्डमिहाश्रयस्व।।१६५।।

अन्वयः= तस्मात् वेदान्तभूमिगतशब्दसमन्वयः अखण्डं अवबोधयितुं समर्थः, अतः इह विरोध हेतोः संसर्गलक्षणं वाक्यार्थं अपास्य अद्वयं अखण्डं आश्रयस्व।।१६५।।

अन्वयार्थः= अतः (हे शिष्य) वेदान्त भूमि के शब्द समन्वय (वाक्य) अखण्डार्थ का बोध कराने में समर्थ है। इसलिये यहां (वाच्यार्थ को लेकर) विरोध होने के कारण संसर्गस्वरूप वाक्यार्थ को छोडकर अद्वय अखण्ड रूप (संसर्गानवगाहि) वाक्यार्थ का आश्रय ले।।१६५।।

तस्मादिति। शब्दसमन्वयो वाक्यम्। लक्षणयां हि सर्वमपि पदमर्थवदेव, अन्यथा यदेव पदं न प्रयुज्येत, ब्रह्मणस्तदर्थात्मताकारसंशयो न निवर्तेत तदभेदस्यान्यतोऽनवगमात्। एवं तदा लक्षणाबीजान्वयानुपपत्तिप्रतिसंधानाभावाल्लक्षणापि न स्यात्। न ह्येकपदप्रयोगेऽपि क्वचिल्लक्षणाऽवतरतीति न शक्तिसाम्यमिति भावः। फलितमाह— अतः संसर्गलक्षणमिति। तादात्म्यलक्षणमित्यर्थः। विरोधहेतोः सत्यादिपदवाच्याभेदविरोधादित्यर्थः। इह ब्रह्मवाक्ये।।१६५।।

तस्मादखण्ड बोधेति= वेदान्त शास्त्रान्तर्गत, शब्द समन्वयो= वाक्य है। तो जब लक्षणा की जाती है तब वाक्यान्तर्गत सभी पद सार्थक ही माने जाते हैं। यदि एक ही पद के द्वारा लक्षणा वृत्ति से एक प्रातिपादिकार्थ की उपस्थिति मानी जाय तब तो जिस पद की लक्षणावृत्ति तात्पर्यभूत अर्थ में स्वीकृत नहीं की गई तो फिर तदर्थ विषयक संशय तो लक्ष्यार्थभूत (तात्पर्यार्थ में) वैसा ही बना रहेगा। और नहीं उसका अभेदान्वय तात्पर्य भूतार्थ के साथ संभव ही हो पायेगा। और एक बात और भी है कि एक पद की लक्षणा मानने से लक्षणा का मूलकारण है- अन्वय की अनुसन्धान अनुपपत्ति तो फिर रहेगी नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि एक पद के प्रयोग के द्वारा कहीं भी लक्षणा स्वीकृत नहीं की जाती। इसलिये लक्षणा की शक्ति के साथ किसी प्रकार से साम्यता नहीं हो सकती। फलितार्थ बताते हैं— अतः संसर्गलक्षणमिति-तादात्म्य लक्षण से (तादात्म्य सम्बन्ध से) सत्यादि पदों के वाच्य का अभेद सम्भव नहीं हो पाता है, विरोध है, तो- तादात्म्य सम्बन्ध जो सत्यादि पद के वाच्य का तात्पर्यार्थ ब्रह्म उसके साथ अभेद होने में विरोधी है। उस विरोध को हटाने के लिये लक्षणा की। इह- ब्रह्म वाक्य में लक्षणा की आवश्यकता है।।

वेदान्तानामखण्डार्थप्रतिपादनक्रममाह—

वेदान्त का अखण्डार्थ प्रतिपादन क्रम तो बताते है—

सामानाधिकरण्यमत्र भवति प्राथम्यभागन्वयः
पश्चादेष विशेषणेतरतया पश्चाद्विरोधोद्भवः।।
उत्पन्ने च विरोध एकरसके वस्तुन्यखण्डात्मके
वृत्तिर्लक्षणया भवत्ययमिह ज्ञेयः क्रमः सूरिभिः।।१६६।।

अन्वयः= अत्र सामानाधिकरण्यं अन्वयः, प्राथम्यभाक् भवति, पश्चात् विशेषणेतरतया एव, पश्चात् विरोधोद्भवः, विरोधे उत्पन्ने च अखण्डात्मके एकरसे वस्तुनि लक्षणया वृत्तिः भवति, अयं क्रमः इह सूरिभिः ज्ञेयः।।

अन्वयार्थः= प्रकृत में सामानाधिकारण्यरूप अन्वय प्रथम है, बाद में विशेष्य विशेषणभाव, इसके बाद विरोध का उद्भव होता है। विरोध के उपस्थित होने पर अखण्ड एकरस वस्तु में लक्षणा वृत्ति होती है। इस प्रकार का क्रम विद्वानों को यहां समझ लेना चाहिये।।

सामानाधिकरण्यमिति। सामानाधिकरण्यदीनामुत्तरश्लोके संबन्धिनः स्पष्टं निर्देक्ष्यन्ते। अत्र ब्रह्मवाक्ये सामानाधिकरण्याख्योऽन्वयः प्राथम्यभाक् प्रथमं भवति, पश्चाद्विशेषणेतरतया विशेषणविशेष्यभावेनाभेदेनेति यावत्। एषः अन्वयो भवति, पश्चात्तत्र विरोधोद्भवः विरोधस्फूर्तिः, ततो विरोधे उत्पन्ने ज्ञाते एकरसकेऽखडात्मके वस्तुनि लक्षणया वृत्तिर्भवति, ततो वाक्यार्थधीर्भवतीत्यखण्डार्थ प्रतिपत्तिक्रमः सूरिभिर्ज्ञेय इत्यर्थः।।१६६।।

सामानाधिकरण्यमिति= इसका विवेचन अग्रिम श्लोक में आ रहा है- अत्र= तत्त्वमस्यादि वाक्य में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध पहिला होता है। अपर्यायपदानामेकार्थवृत्तित्वं (एकस्मिन्नर्थे वृत्तिः)। इसे सामानाधिकरण्य कहते हैं। बाद में विशेषणतरया- विशेषण विशेष्य भाव से अभेद रूप से भान होता है- तत् कभी त्वं का विशेषण होता है तो कभी त्वं तत् का विशेषण होता है। इसलिये दोनों का अभेद सम्बन्ध होता है। एव= अन्वय होता है।

पश्चाद्विरोधोद्भवः= बाद में दोनों में आपस में विरोध का उद्भव होता है। ततो= विरोध के उत्पन्न होने पर उस विरोध को हटाने के लिये= लक्षणा वृत्ति के द्वारा अखण्ड एकरस ब्रह्मतत्त्व का बोध होता है। उसके बाद "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यार्थ बुद्धि जो अखण्डार्थ स्वरूपा है ऐसा यह क्रम विद्वानों को अभीष्ट है।

ननु कस्य सामानाधिकरण्यान्वयः कस्य वा विशेषणतादिरित्याकाङ्क्षायामाह-

शंका— किसका सामानाधिकरण्यान्वय है, किसका विशेषणविशेष्य अन्वय है? ऐसी आशंका होने पर समझाते हैं—

सामानाधिकरण्यमत्र पदयोर्ज्ञेयस्तदीयार्थयोः
संबन्धस्तु विशेषणेतरतया ताभ्यां सहास्यात्मनः।।
संबन्धोऽप्यर्थ लक्ष्यलक्षणतया विज्ञेय एवं बुधै-
रेतान्यर्थपदानि बुद्धिपदवीमारोहणीयानि तु।।१६७।।

अन्वयः= अत्र सामानादिकण्यं पदयोः, विशेषणतरतया तु सम्बन्धः तदीयार्थयोः, अथ ताभ्यां सह अस्य आत्मनः लक्ष्यलक्षणतया अपिसम्बन्धो विज्ञेयः। एवं एतानि अर्थ पदानि— बुधैः बुद्धिपदवीं आरोहणीयानि तु।।

अन्वयार्थः= यहां सामानाधिकरण्य (सम्बन्ध) उन पदों के अर्थों का तथा उन (विशेषण तथा विशेष्य) के साथ इस आत्मा का लक्ष्य लक्षणता का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार से इन अर्थ पदों की विद्वानों को अपनी बुद्धि में अवश्य स्थापना कर लेनी चाहिये।।१६७।।

सामानाधिकरण्यमत्र पदयोरिति। सामानाधिकरण्यं संबन्धः पदयोर्ज्ञेयः। पदयोरिति द्विवचनं तत्वमस्यभिप्रायं बहूनामप्युपलक्षणम्। अपर्यायपदानामेकार्थवृत्तित्वं सामानाधिकरण्यान्वय इति पदानामेव स इत्यर्थः। विशेषणेतरतया तु संबन्धस्तत्त्वंपदार्थयोः, तत्त्वमादिवाक्यश्रवणानन्तरं हि तदर्थयोरहं ब्रह्मेतिविशिष्टाभेदो ज्ञायते, अन्यथा सामानाधिकरण्यायोगात्। एतच्च उद्भिदा' यजेतेत्यप्यत्रोद्भिद्यागपदयोरप्यस्ति सामानाधिकरण्यं न चाखण्डार्थतेति तद्व्यावृत्तय उक्तम्। तथापि नीलमुत्पलमित्यादौ नाखण्डार्थता तत्राह- ताभ्यां सहेति। अत्र विरोधोद्भवे सतीति द्रष्टव्यम्, अन्यथा लक्षणानवतारात्। तत्त्वंपदार्थाभ्यां विशेषणविशेष्याभ्यामस्यात्मनो लक्ष्यलक्षणतया संबन्धो विज्ञेयः। लक्ष्यं शुद्धात्मस्वरूपं लक्षको वाच्योऽर्थः, एतच्च पदार्थलक्षणापक्षमादायोक्तम्। उपसंहरति— एवमिति। अर्थपदान्यर्थप्रतिपत्तिसाधनानि बुद्धिपदवीमारोहणीयानि बुद्धौ धारणीयानि, तुरवधारणे। नैव विस्मर्तव्यानीत्यर्थः। यत्तु जीवपरयोरशांशिभावेन शरीरतदवयवयोदीर्घबाहुर्देवदत्त इतिवत्, कार्यकारणभावेन वा मृद् घट

इतिवत् अभेदप्रतीत्युपत्तेर्न विरोधोद्भवो न वा लक्षणेति क्वाखण्डार्थतेति। तत्, न। "न जायते-म्रियते" इत्यादिनिखिलविकारनिषेधश्रुतेः। अन्यथा जीवस्यापि घटादिवन्नाशप्रसंगात्। निष्कलं निष्क्रियमित्यादिश्रुतेश्च न वस्तुतोऽशांशिता। अन्यथा तदंशिनो ब्रह्मणो देवदत्तवत्सावयवतयाऽनित्यत्वापत्तिः। अतोऽत्यन्ताभेद एव पदार्थयोर्वाक्यार्थो वक्तव्योऽस्ति। तत्र चास्त्येव विरोध इति कथं न लक्षणा कथं वा वाक्यस्य नाखण्डार्थतेति।

इदमिहाचार्याभिप्रेतम्। तत्त्वंपदयोरपर्याययोः समानविभक्तिकयोः परस्पराकाङ्क्षयोरर्थान्तरासंभवादेकार्थवृत्तित्वं वक्तव्यमिति प्रथममधिकारिणाऽनुसंधेयम्। ततस्तद्बलात्तदर्थयोरत्यन्ताभेदः, अन्यथा तयोः सामानाधिकरण्यायोगादिति चानुसंधेयम् ततस्तत्र विरोधोऽपि प्रतिसंधेयः, तदनन्तरं नेदं वाक्यं प्रमत्तगीतं वाक्यान्तरतुल्यत्वात्, नाप्यदृष्टार्थं तदध्ययनं, दृश्टे संभवति तदयोगादिति विचारयतो लोकसिद्धमर्यादया पदद्वयलक्षणया तत्त्वमितिवाक्यमखण्डमेव ब्रह्म प्रतिपादयेत्। एवं सत्यज्ञानादिवाक्यमपीति।।१६७।।

सामानाधिकरण्यं= सामानाधिकरण्य सम्बन्ध पदों का ग्रहण करना है।

पदयोः= द्विवचन यह तो तत्त्वमसि को लेकर प्रयुक्त हुवा है। जैसा जैसा वाक्य होगा वैसे वैसे वचन का प्रयोग होगा। बहुवचन का भी प्रयोग हो सकता है। तो द्विवचन यह उपलक्षण परक है। "अपर्यायपदानामेकार्थवृत्तित्वं सामानाधिकरण्यान्वयः" अपर्याय अनेक पदों की एकार्थ वृत्तित्व को सामानाधिकरण्य कहते हैं। विशेषणेतरतया-विशेषण से इतर ऐसा सम्बन्ध अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध तत्त्वं पदार्थ का है तत् त्वं में विशेषण, त्वं तत् में विशेषण आदि। इसमें दोनों का अत्यन्त अभेद हो जाता है। तत्त्वं आदि वाक्य श्रवण करने के बाद में इस वाक्य के अर्थ का ''अहं ब्रह्म'' मैं ब्रह्म ऐसा (विशिष्टाभेद) विशिष्टों का अभेद जाना जाता है। (अहं विशिष्ट ब्रह्म ब्रह्म विशिष्ट अहं, तत् विशिष्ट त्वं त्वं विशिष्ट तत्) या तत् विशिष्ट त्वं, तथा अहं विशिष्ट ब्रह्म इन विशिष्टों का अभेद बोध हो जाता है यदि इन विशिष्टों का आपस में अभेद न हो तो- तो इनके पदों का समान अधिकरण्य नहीं हो पायेगा। अपर्यायपदानामेकार्थवृत्तित्वं सामानाधिकरण्यम्= यह लक्षण तो उद्भिदा यजेत् इस वाक्यान्तर्गत उद्भिद और याग पद दोनों में भी है। लेकिन अखण्ड वाक्यार्थता नहीं है। इसीलिये कहा विशेषणेतरतया ऐसा कहा। नीलमुत्पलमित्यादौ= नीलकमल इसमें अखण्डार्थता नहीं है इसलिये कहा= ताभ्यां सहेति= तत् और त्वं दोनों पदों के द्वारा शुद्ध आत्मा या ब्रह्म का बोध होता है। लेकिन नील-कमल के द्वारा वैसा नहीं है। अतः दोष नहीं है। अब दोनों के विशिष्ट अर्थ में वाच्यार्थ में जब विरोध उत्पन्न होता है तब लक्षणा को अवतरित करते हैं। यदि दोनों के अर्थ में

विरोध उत्पन्न न हो तब तो सारा काम शक्ति से ही संपन्न होने पर लक्षणा की आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि तत् त्वं दोनां पदार्थो का विशेषण विशेष्यभाव परस्पर में है- इससे अभिन्नार्थ लक्ष्य और प्रतिपादक हुवा तत् और त्वं का लक्षणभाव, तो दोनों का सम्बन्ध होगा लक्ष्य लक्षण भाव सम्बन्ध। लक्ष्य हुवा शुद्धात्मा, लक्षक (लक्षणक) हुवा वाच्यार्थ। यह जो भी कहा वह पदार्थ लक्षणा के पक्ष को लेकर कहा गया। न कि पद पक्ष लक्षणा को लेकर कहा गया।

अब उपसंहार करते हैं– एवमिति= अर्थपदानि= अर्थ के ज्ञान को या बोध को बताने वाले इन साधनों को, बुद्धिपदवीमारोहणीयानि= इन-साधनों को बुद्धि में धारण करना है विस्मृत नही होना है। तु= निश्चित रूप से इसको नहीं भूलना यह तात्पर्य है।

यत्तु= कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा का अंशाशिभाव सम्बन्ध है ब्रह्म (परमात्मा) अंशी है (जीवात्मा) आत्मा अंश है (शुद्धाद्वैतवाद) जैसे शरीर अंशी और अवयव अंश है, या देवदत्त अंशी (अवयवी) और (हस्तपादादि) अंश अवयव है (रामानुज के) यहां प्रयोग होता है "दीर्धबाहुर्देवदत्त" देवदत्त दीर्धबाहु (बलशाली बाहुवाला) है। अथवा कार्यकारणभाव को लेकर मृद्घट= मिट्टी का घडा- (भेदाभेदवादी) ऐसा प्रयोग करते हैं। तो इन सभी प्रयोगों में अभेद प्रतीति होती है। नं तो यहां विरोध उत्पन्न होता है और नहीं यहां विरोध उत्पन्न होता है और नहीं वहां लक्षणा की आवश्यकता हैं और न वहां अखण्डार्थत भी है। इसी प्रकार यहां "तत्त्वमसि" में भी ऐसा ही मानें। यदि ऐसी यत्तु की आशंका हो तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि ‘‘न जायते म्रियते वा कदाचिन्नेति’’ इत्यादि प्रमाण संपूर्ण विकारों का निषेध करते हैं। वह ब्रह्म निष्कल, निष्क्रिय है। ऐसा निरूपण किया गया है, वस्तुतः न अंशांशिता है न कार्य कारण भाव है। अन्यथा अंश (परमात्मा) ब्रह्म भी देवदत्तादिक के समान सावयव होकर अनित्य हो जायेगा। इसलिये दोनों पदार्थो का अत्यन्त अभेद ही वाक्यार्थ के द्वारा अभीष्ट है। और लक्षणा के बिना वहां विरोध दिखाई देता है। इसलिये इस विरोध को हटाने के लिये लक्षणा की आवश्यकता है' और इसी लक्षणा के द्वारा (जहदजहल्लक्षणा के द्वारा) दोनों पदार्थों का अत्यन्ताभेद स्थापित होकर वाक्य अखण्डार्थ बोध परक होता है।

अब आचार्यजी का अभिप्राय बताते हैं–

समानविभक्ति वाले, तत् और त्वं पद का जो अपर्यायवाची है, उनकी परस्पर आकाङ्क्षा भी है, साथ में अन्य कोई अर्थ भी अभीष्ट नहीं है- अतः दोनों पदों की एकार्थवृत्ति (शक्ति वृत्ति) एकार्थ में लेनी पडती है। यह अधिकारी को प्रथम ही ग्रहण करना पडता है। दोनों

पदों की एकार्थवृत्ति होने से दोनों के अर्थ का अत्यन्त अभेद मानना ही पडता है। नहीं तो दोनों का सामानाधिकरण्य ही नहीं हो पायेगा, इत्यादि जब दोनों में सामानाधिकरण्य आया-तो दोनों के अर्थ में विरोध भी दिखाई देने लग जाता है-। अब वहां अधिकारी पुरूष विचार करता है कि "तत्त्वमसि" आदि वाक्य किसी प्रमत्त व्यक्ति ने नहीं कहे हैं जिससे इनका परित्याग किया जाय। और मान भी लिया कि यह वाक्य वैदिक होने से अध्ययन योग्य हैं तो वह अध्ययन योग्यता किसी पुण्य के बल से प्रार्थ्य भी नहीं है। क्योंकि जब दृष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है तो अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना अनुचित है। इसलिये ऐसा विचार करने वाला अधिकारी पुरूष लोक सिद्ध मर्यादा का पालन करते हुय' दोनों पदों की लक्षणा के द्वारा "तत्त्वमसि" महावाक्य अखण्डार्थपरक ही है, ऐसा जान जाता है। इसी प्रकार सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादि स्थलों में भी लक्षणा का अङ्गीकार करके इस वाक्य को भी अखण्डार्थ परक वह ग्रहण कर लेता है।

ननु भवतु लक्षणया वाक्यस्याखण्डार्थता, तथापि जहदजहल्लक्षणेति न सम्यगिव। शबले संगतौ हि सा स्यात्सा चानुपपन्ना, लाघवादेकत्रैवांशे शक्तेर्न्याय्यत्वात्, अन्यथा गौरवात्। तत्र यद्यप्यात्मांशे सा न संभवत्युक्तदोषात्, अनात्मांशे तु शक्तौ न किंचिद्बाधकमित्याङ्क्य संगतिग्रहवेलायां लाघवाद्यनवताराच्छबलव्युत्पत्तौ न किं चिद्बाधकमस्तीति वक्तुमुपस्थित्यु-नुराधेन शबले संगतिग्रहमाह–

शंका= लक्षणा के द्वारा वाक्य की अखण्डार्थता मान ली है। तथापि जहदजहल्लक्षणा भी माननी चाहिये यह बात उचित नहीं है। क्योंकि शबल में पद की शक्ति मानने पर ही जहदजहल्लक्षणा भी स्वीकृत की जाती है। वह लक्षणा ही अनुपपन्न है। लाघव की दृष्टि से एक अंश में शक्ति मान लेने से काम बन जायेगा। अन्यथा गौरव होगा क्योंकि पहिले विशिष्ट में शक्ति माननी फिर लक्षणा स्वीकार करनी फिर अखंडार्थ बोध। इसके अपेक्षा पद की सीधी शक्ति मानने से गौरव नहीं होगा। यद्यपि आत्मा में वह पद शक्ति काम नहीं करेगी क्योंकि वाक्य स्थित एक पद के द्वारा आत्मा की उपस्थिति हो जायेगी। तो अन्य पद व्यर्थ हो जायेंगे। लेकिन आत्म पद से अनात्मा की उपस्थिति होने में (विशेषण की उपस्थिति में) कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अर्थात् अनात्म वाचक आत्मशब्द में शक्ति मानने में कोई दोष नहीं है। ऐसी आशंका करने पर कहते है कि शब्द (पद) की वृत्ति के विचार के समय लाघव गौरव का विचार नहीं किया जाता है। शबल में (शबलार्थ में) पद की शक्ति मानने में कोई बाधक नहीं है। उपस्थिति के अनुसार शबल में शक्ति है। यह बता रहे है–

निःसंधिबन्धनमिदं चिदचित्स्वरूपं
संकीर्णमन्तरपरिस्फुरणेन शून्यम्।।
अचित्तशुद्धिफलतः स्फुरितोपपत्तेः
शब्दार्थसंगतिमिहैव तु गृह्णतेऽज्ञाः।।१६८।।

अन्वयः= आचित्तशुद्धिफलतः स्फुरितोपपत्तेः इदं चिदचित्स्वरूपं निःसन्धिबन्धनं सङ्कीर्णं अन्तरपरिस्फुरणेन शून्यम्। अज्ञाः इहैव शब्दार्थसंगतिं गृह्णते।।१६८।।

अन्वयार्थः= चित्त शुद्धि स्फुरणोपपत्ति से पूर्व यह चिदचित्स्वरूप सन्धि रहित बन्ध में जकडा हुवा, सम्मिश्रित, जड चेतन के भेद भाव से शून्य होता है। इसलिए विशिष्ट अर्थ में ही शब्दार्थ संगति का अज्ञानि जन ग्रहण किया करते हैं।।१६८।।

निःसंधिबन्धनमिति। इदं चिदचित्स्वरूपम्। आचित्तशुद्धिफलतः, आङ् मर्यादायां, चित्तशुद्धिफलरूपायाः स्फुरितोपपत्तेः उपपत्तिस्फुरणपर्यन्तम्। अन्तरपरिस्फुरणेन शून्यम् स्फुटभेदज्ञानशून्यम्। निःसंधिबन्धनं तादात्म्यरहितम्। तत्र हि भेदसहिष्णुरीषदभेदोऽस्तीति-संधिबन्धनपदसूचितस्य तस्यात्र निषेधात्, अतः संकीर्णमध्यस्तात्यन्तिकाऽभेदेन प्रतीयमानं भवतीति शेषः। ततः किं तत्राह- शब्दार्थ संगतिमिति। इह-शबले। अज्ञाः- भागद्वयविवेकशून्याः। ज्ञाते हि संगतिग्रहः, ज्ञानं च प्राक् शबलस्यैव, न तु तदंशयोः स्पष्टमीषद्वा विविच्य संगतिग्रहसमये ग्रहणमस्ति,, इति शबल एव संगतिग्रह इति भावः।।१६८।।

निःसंधिबन्धनमिति= जड चेतन स्वरूप (चिदचित्स्वरूपम्) आचित्तशुद्धिफलतः- आङ् मर्यादार्थ में है। अर्थात् चित्त शुद्धि रूप फल के, स्फुरितोपपत्तेः:- स्फुरणपर्यन्त। अर्थात् जब तक चित्त की शुद्धि नहीं हो जाती तब तक। अन्तरपरिस्फुरणेन शून्यम्= जड और चेतन के भेद का ज्ञान नहीं हो पाता। निःसंधिबन्धनम्= तादात्म्य रहित है। अर्थात् चिदचित् दोनों अलग अलग तो है। लेकिन उसका निषेध किया जाता है। इसी लिये जब तक चित्त शुद्ध नहीं हुई। तब तक चिदचित् दोनों अभिन्न रूप से भासते हैं क्योंकि अध्यास होने से अथवा चित्त शुद्ध न होने से। इस से क्या लाभ शब्दार्थ संगतिमिति= शबलार्थ में पद की शक्ति मानी जाती है। अज्ञाः= चिद् अचिद् का भेद करने में जो असमर्थ है उसे ही अज्ञ कहते हैं। जब शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के बारे में ज्ञान होता है तो पहिले शबलार्थ का ही ज्ञान होता है। न कि विशिष्ट के या शबल के एक-एक अंश का ज्ञान होता है। न तो स्पष्ट रूप से और न तो सूक्ष्म रूप से ही हमें विशिष्टान्तर्गत विशेष्य का भेद रूप से ज्ञान होता है। इसलिये शबलार्थ में ही पद की शक्ति माननी होगी।

नन्वहंकारादेर्दृश्यत्वात्तस्य स्वातिरिक्तद्रष्टृकत्वनियमात् तद्द्रष्टा ततोऽन्यस्तस्माच्च दृश्यमन्यत्, इति कथं तस्य विवेकग्रहासंभवः। एवमहंकारस्य कामाद्याश्रयत्वादपि दृग्रूपाद् द्रष्टुरन्यत्वं द्रष्टुरसंगस्य दृश्याश्रयत्वायोगात् इत्यतोऽपि तद्विवेकः संभवतीति कथं तत्र संगतिग्रहो न भवेदिति चेत्, सत्यमयं विवेकोपायः, परं त्वयमहमादिशब्दार्थसंगतिं जानतः समयान्तरेऽन्तःकरणशुद्धौ सत्यां मुमुक्षोरात्मविचारे प्रवृत्तेऽवतरति न तु प्राक्, अन्यथा वादिनामहंकारद्यात्मत्वभ्रमो न स्यात्, ततस्तत्पूर्वकालीनसंगतिः शबलगोचर एवेत्याह—

पूर्वपक्ष- अहंकारादिक दृश्य है, द्रष्टा उनसे अतिरिक्त है, तो फिर दोनों का दृश्य और द्रष्टा का विवेक का अग्रहण कैसे? इसी प्रकार से अहंकारादिक जो काम क्रोधादिक का आश्रय होने से दृश्य कोटि में होने से द्रष्टा से अन्य है, द्रष्टा तो कामक्रोधादिक से अलिप्त होने से दृश्य कामक्रोधादि, या अहंकारादि उनका तो द्रष्टा आश्रय बन नहीं पायेगा। इस प्रकार तो विवेक का ग्रहण हो ही जाता है, फिर यह कैसे कहा जाता है कि आत्मा पद की शक्ति शुद्धात्मपरक द्रष्टापरक नहीं है। ऐसी आशंका होने पर कहते हैं— यह विवेक का उपाय तो उत्तम है। लेकिन यह उपाय तो उसी के लिये है जो अहं आदि शब्दार्थ तथा शब्द के सम्बन्ध को जानता है। अर्थात् जब अनेक साधना करके अन्तःकरण की शुद्धि होती है तब वह मुमुक्षु आत्म विचार में प्रवृत्त होता है। न कि पहिले ही प्रवृत्त होता है। अर्थात् अन्तःकरण शुद्धि के पहिले विचार में प्रवृत्त नहीं हो पाता। यदि अशुद्धान्तःकरण वाले भी आत्मविचार में प्रवृत्त हो जाय तब तो उन्हें आत्मविषयक भ्रम ही नहीं होना चाहिये- लेकिन आत्मविषयक भ्रम उन्हें होता है। अतः कहना पडेगा कि अन्तःकरण शुद्धि के पहिले अहंकारदिपद की शक्ति विशिष्ट अर्थ में शबलार्थ में है- यह बात निश्चित हुई।।

शब्दार्थसंगतिविदामथ सत्त्वशुद्धे-
रुत्पन्नतर्कदृढलोहशलाकया तु।।
दृश्यं दृशं च निपुणं द्वयमन्तरेण
निक्षिप्तया दृगदृशोः क्रियते विभागः।।१६६।।

अन्वयः— शब्दार्थसंगतिविदां अथ सत्त्वशुद्धेः उत्पन्नतर्कदृढलोहशलाकया दृश्यं दृशं च द्वयमन्तरेण निपुणं निक्षिप्तया तु दृगदृशोः विभागः क्रियते।।१६६।।

अन्वयार्थः— शब्दार्थ संगतिवेत्ता पुरुषों के शुद्धान्तःकरण में उत्पन्न तर्क रूप लोहे की दृढ शलाका, जो कि दृश्य तथा दृक् (देखने वाला) इन दोनों की सन्धि में सावधानी से निक्षिप्त (प्रवेशित) की गई है, के द्वारा ही दृग् और (अदृक) दृश्य का विभाग किया जाता है।।१६६।।

शब्दार्थेति। अथ= संगतिग्रहानन्तरं समयान्तरे। सत्त्वमन्तःकरणम् उत्पन्नतर्कदृढलोहशलाकया उत्पन्नो यो वर्णितस्तर्कः स एव दृढलोहशलाका, यथा दृढलोहशलाका नीरन्ध्रसंस्पृष्टपाषाणादीन्वियोजयति एवं दुर्विवेकचिदचिद्रूपाहंकारग्रन्थेर्विवेचनादबाधाच्चायं तर्को दृढलोहशलाकेत्युक्तः। तया दृश्य दृशं च द्वयमन्तरेण दृग्दृश्ययोर्द्वयोर्मध्ये निक्षिप्तया निवेशितया दृग्दृश्यविभागविषयतया प्रयुक्तयेति यावत्। दृग्दृशोरात्मानात्मनोर्विभागः क्रियते ज्ञायते। ततस्तत्पूर्वमेव शबले संगतिग्रहान्नांशमात्रं तद्गोचरः, अन्यथा प्राक् संगतिसंवेदनमन्तरेण विचारस्यानवताराद्विवेकग्रह एव न स्यादिति भावः।।१६६।।

शब्दार्थेति= अथ= शब्द और अर्थ के संगति ग्रह के बाद, समयान्तर में। जब शुद्ध अन्तःकरण हो जाता है। तब उत्पन्न तर्क दृढ लोह शलाकया= सत्त्वम्= अन्तःकरणं, शुद्धेः= अन्तःकरण की शुद्धि के बाद। जो तर्क हमने पहिले श्लोक में बताये हैं कि अन्तःकरण की अज्ञानावस्था में शबलार्थ परक ही पद की शक्ति माननी पडेगी। इसलिए वही तर्क यहां दृढ शलाका है। क्योंकि जैसे लोहे की शलाका- पक्केपाषाण में भी छेद करा देती है। और उनको अलग अलग कर देती है। इसी प्रकार विवेक के पूर्व चिदचित् रूप अहंकार ग्रन्थि का दृढ शलाका के समान शुद्धान्तःकरण दोनों की दृक् दृश्य को आत्मानात्मा को अलग करके बाद में जिसका बाध नहीं, ऐसा यह तर्क दृढ शलाका का काम करता है। अर्थात् दोनों के बीच में दृग् दृश्य के बीच में आकर यह तर्क दोनों का अलग अलग कर देता है। इसका अर्थ यह हुवा अन्तःकरण शुद्धि के पहिले विशिष्ट में ही पद का शक्ति ग्रह मानना पडता है न कि विशिष्ट का कोई अंश वाच्य होगा। यदि ऐसा न मानें तब विशिष्ट अंश का पहिले ही संगतिग्रह होने से- विचार की जरूर नहीं पडेगी। फिर विवेकग्रह भी नही होगा। तात्पर्य यह कि अन्तःकरण शुद्धि के पहिले संगतिग्रह नहीं होगा- क्योंकि विशिष्टांश में संगतिग्रह संभव नहीं उसके अभाव में विचार के अभाव में विवेक नहीं। अतः अन्तःकरण शुद्धि के पूर्व पद की शक्ति विशिष्टार्थ परक ही माननी होगी।

ननु प्राग् विवेकग्रहाभावे कथं शब्दार्थस्य शबलत्वसिद्धिरित्याशङ्क्य समयान्तरे तद्विवेकादेव प्रागविवेककृतशबल एव संगतिग्रहात्स एव शब्दार्थ इति निश्चीयत इत्याह-

पूर्वपक्ष= अन्तःकरण शुद्धि के पहिले विवेक ग्रह नहीं होने से आत्मा अनात्मा का पृथक्करण न होने से शब्दार्थ को शबलपरक विशिष्टपरक कैसे मानें। ऐसी आशंका ठीक नहीं है- क्योंकि अन्तःकरण शुद्धि के अनन्तर-आत्म-अनात्म-विवेक से पृथक पृथक् विवेक हो जाता है। इसका मतलब ही यह हुवा कि अन्तःकरण शुद्धि के पहिले विवेक शबलार्थ

में विशिष्टार्थ में ही पद और अर्थ की संगति थी, यही शब्दार्थ हुवा। यह निश्चित किया जा रहा है-

शुद्ध्युत्थतर्कजनितं चिद्चिद्विभागं
प्राप्य स्थिताः पुनरिमां गिरमुद्गिरन्ति।।
सत्यादिशब्दगण एष तु तत्र तत्र
व्युत्पत्तिमान् शबलवस्तुनि नो दृशीति।।२००।।

अन्वयः=शुद्ध्युत्थतर्कजनितं चिदचिद्विभागं प्राप्यस्थिताः पुनः इमां गिरं उद्गिरन्ति, एष सत्यादि शब्द गणस्तु तत्र तत्र शबलवस्तुनि व्युत्पत्तिमान्, नो दृशीति।।२००।।

अन्वयार्थः= अन्तःकरण शुद्धि जन्य तर्क से किये गये चिदचिद् विभाग को प्राप्त कर स्थित पुरुषों के ये उद्गार है कि यह सत्यादि शब्द समूह तत् तत् विशिष्ट अर्थ में ही शक्तिमान् होता है। केवल दृगात्मा में नहीं।।२००।।

शुद्ध्युत्थतर्केति। अन्तःकरणशुद्ध्यनन्तरं प्रवृत्ततर्केण जनितं चिदचिद्विभागं तद्विभाग-निश्चयमुद्गिरन्ति वदन्ति। तामेव गिरं दर्शयति- सत्यादीति। अहमादेरप्युपलक्षणम्। दृशि शुद्धात्मनि। नो नेत्यर्थः।।२००।।

शुद्ध्युत्थतर्कजनितं= अन्तःकरण की शुद्धि के बाद प्रवृत्त तर्क से चिद् अचिद् आत्मा अनात्मा का विभाग उत्पन्न होता है। और उस विभाग को निश्चित रूप से कहने में समर्थ भी होते हैं। कौन कहने में समर्थ होते हैं? उस वाणी को बताते हैं- सत्यादीति– "सत्यज्ञानम्" तथा "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि। शबलार्थ के वाचक हैं नकि दृशि= शुद्धात्मा के वाचक है। इत्यादि।।

एवं सति यदुक्तं लाघवादेकत्रैव शक्तिर्न तु शबले गौरवादिति तदप्यसाधु, पूर्वं केवलोपस्थित्यभावेन लाघवादेरनवतारादित्यभिप्रेत्य तदनुवादपूर्वकमाह–

इस प्रकार जो पहिले कहा था कि लाघव से एकार्थ परक ही शक्ति मानें न कि विशिष्टार्थ परक शक्ति मानें गौरव होने से, यह भी मत दूषित है। क्योंकि अन्तःकरण शुद्धि के पूर्व- केवल शुद्ध पदार्थों की उपस्थिति ही नहीं हो पायेगी। इसलिये लाघवादिक का कोई अवसर प्राप्त नहीं होता है- इसी का अनुवाद

एकत्र शक्तिग्रहणोपपत्ता-
वनेकक्लृप्तिः क्रियते किमर्थम्।।

इत्येतदेवं सति नास्ति चोद्यं
पुराऽस्य पुंसः परमाविवेकात्।।२०१।।

अन्वयः= एवं सति एकत्र शक्तिग्रहणोपपत्तौ अनेकक्लृप्तिः किमर्थं क्रियते? इत्येतत् चोद्यं नास्ति, अस्य पुंसः परमाविवेकात्।।२०१।।

अन्वयार्थः= इस प्रकार एक भाग में शक्ति ग्रहण की उपपत्ति हो जाने पर अनेकांशों में शक्ति की कल्पना क्यों की जाती है? यह आक्षेप नहीं हो सकता क्योंकि इस पुरुष को इससे पूर्व आत्मा अनात्मा का भेद ज्ञान नहीं था यही अविवेक था।।२०१।।

एकत्रेति। अनेकक्लृप्तिः अनेकात्मके शबले क्लृप्तिः, शब्दशक्तेरिति शेषः। पुरा असंगति ग्रहसमये। अस्य अधिकारिणः, परमाविवेकात् अत्यन्तमविवेकात्।।२०१।।

एकत्रेति= क्लृप्तिः= अनेकात्मक शबल में विशिष्टार्थ में क्लृप्तिः= पदशक्ति है। क्योंकि पुरा= अन्तःकरण शुद्धि के पहिले। संगति ग्रह हो सकता, अर्थात शुद्ध आत्मा तथा पद का सम्बन्ध उसे ज्ञात ही नहीं हो पायेगा। अतः उसकी उपस्थिति सम्भव न होने से असंगति के समय काल में। अस्य= अधिकारी पुरुष को। परमाविवेकात्= आत्मा अनात्मा का भेद ज्ञान नहीं हो सकने के कारण शबलार्थ विशिष्टार्थपरक ही पद शक्ति माननी पडेगी।

पूर्वं "मानान्तराधिगतगोचरगामिनी स्याच्छब्दस्य लाक्षणिकवृत्ति प्रलापः" (सं शा० अ० १ श्लो० १५२) इत्यादिश्लोकेन वाच्यार्थसंबन्धितया मानान्तराधिगते लक्षणा वाच्या, आत्मा च न तथेति न लक्षणासंभव इत्याशङ्का-तथाऽधिगतिमात्रं लक्ष्यस्यापेक्षितं न तु मानान्तरेणापि, अधिकगतिमात्रं चात्मन्यपि संभवतीतिनिरस्ता। इदानीं प्रकारान्तरेणाखण्डवाक्यार्थं दूषयितुं "किं लाक्षणिकशब्दजन्यज्ञाने लक्ष्यं वाक्यार्थसंबन्धित्वेन विषयो भवति, केवलस्वरूपेण वा" इति विकल्पयति।

अब प्रकारान्तर से अखण्ड वाक्यार्थ को दूषित करने के लिये प्रयास किया जा रहा है।

शंका– "मानान्तराधिगतगोचरगामिनीस्याच्छब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरितिप्रलापः" (स० शा० अ० १· श्लोक १५२) इस श्लोक से वाच्यार्थ सम्बन्धी तथा प्रमाणान्तराधिगत पदार्थ में ही लक्षणा होती है, ऐसा कहा। जैसे गङ्गायां घोषः तो तीर में लक्षणा है क्योंकि वह वाच्यार्थ गंगाप्रवाह उसका सम्बन्धी भी है तथा प्रमाणान्तर चक्षुरादि प्रमाणन्तर का (विषय) अधिकगत भी है। लेकिन आत्मा में लक्षणा नहीं हो सकती। क्योंकि उपर्युक्त लक्षणा का लक्ष्य उसमें जा

नहीं रहा है। ऐसी आशंका ठीक नहीं, क्योंकि लक्ष्य को अधिगतमान होना चाहिये, न कि प्रमाणन्तराधिगततत्व भी। अधिगतिमात्रत्व (ज्ञानविषयता) तो आत्मा में भी संभव है। इसलिये लक्षणा नहीं हो सकती यह शंका निरस्त हो जाती है अब प्रकारान्तर से- अखण्ड वाक्यार्थ को दूषित करने के लिये विकल्प कर रहे हैं। लक्षणा के द्वारा शब्द ज्ञान में जो लक्ष्य है क्या वह वाक्यार्थ सम्बधित्वेन रूपेण विषय होता है? या केवल स्वरूप से विषय होता है। उसी को बता रहे है-

अत्राह वाच्यशबलान्वितवस्तुनीयं
तद्वर्त्मना भवति लाक्षणिकी प्रवृत्तिः।।
किं वा तदन्वितविलक्षणवस्तुनि स्या-
च्छब्दस्य नोभयमपि प्रतिभाति युक्तम्।।२०२।।

अन्वयः= वाच्यशबलान्वितवस्तुनि तद्वर्त्मना इयं लाक्षणिकी वृत्तिः भवति? किं वा तदन्वितविलक्षण–वस्तुनि शब्दस्य (वृत्तिः) स्यात? उभयमपि युक्तं न प्रतिभाति।।२०२।।

अन्वयार्थः= शिष्य कहता है वाच्यभूत विशिष्टार्थ से अन्वित वस्तु में वाच्य द्वारा लक्षणा वृत्ति होती है? अथवा वाच्य से अनन्वित शुद्ध आत्मा में शब्द की (लाक्षणिक) वृत्ति होती है। दोनों ही युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होते।।२०२।।

अत्राहेति। लाक्षणिकी प्रवृत्तिः लक्षणाजन्यशब्दज्ञानमित्यर्थः। तदन्वितविलक्षणवस्तुनीति। शबलान्विताद्विलक्षणं यद्वस्तु तस्मिन् शबलानन्वितवस्तुमात्र इत्यर्थः। शब्दस्य लाक्षणिकी प्रवृत्तिरिति संबन्धः। उभयत्रापि दूषणं संभावयति-नोभयमिति।।२०२।।

अत्राह-लाक्षणिकी प्रवृत्तिः- लक्षणा जन्य शब्द ज्ञान का विषय लक्ष्य वाक्यार्थ सम्बन्धित्वेन विषय है- अथवा- तदन्वित विलक्षण वस्तुनीति= शबलान्वित से विलक्षण, विशिष्ट से विलक्षण (अलग होकर) केवल वस्तुमात्र के रूप में (केवल स्वरूप से विषय रूप में) लक्ष्य विषय बनता है।

दूषणमेवाह–

इन दोनों विकल्पों पर दोष प्रदान कर रहे हैं–

संबन्धिरूपं यदि वस्तु लक्ष्य-
मखण्डवाक्यार्थमतिः कुतस्त्या।।

अनन्वितं वस्तु पदार्थलक्ष्यं
न लक्ष्यते कुत्रचिदत्र लोके।।२०३।।

अन्वयः= यदि सम्बन्धिरूपं वस्तु लक्ष्यं (तदा) अखण्डवाक्यार्थं मतिः कुतस्त्या? अनन्वितं पदार्थलक्ष्यं अत्र लोके कुत्रचित् न लक्ष्यते।।२०३।।

अन्वयार्थः= यदि वाच्यार्थ से सम्बद्ध वस्तु लक्ष्य होगी (तो) अखण्ड वाच्यार्थ बोध कैसे होगा? वाच्यार्थानन्वित वस्तु तो इस लोक में कहीं कभी लक्षित नहीं होती है।।२०३।।

संबन्धिरूपमिति। वाच्यार्थसंबन्धितविशिष्टमित्यर्थः। लोके हि गङ्गापदादिना तीरादि स्वार्थ संबन्धित्वेनैव लक्ष्यते, अन्यथा तत्र ततो नियमेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। एवमिहापि तत्त्वमादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शबलान्वितत्वेन यदि ब्रह्म विषयीकुर्यात्तर्ह्यखण्डार्थता तस्य कुतो भवेत्। द्वितीये तु नायं दोषः, परं तु तदेव न सिद्ध्यति लोके तथाऽदर्शनात्। अन्यथा समुद्रतीरादेरपि गङ्गाशब्दात्प्रतीतिप्रसङ्ग इति भावः।।२०३।।

सम्बन्धिरूपमिति= वाच्यार्थ सम्बन्धित विशिष्ट होकर लक्ष्यार्थ को विषय मानेंगे तो अखण्डार्थ बोध ही संपन्न नहीं होगा। लोक में गंगायां घोष "इत्यादि स्थलों में गंगा पद की लक्षणा तीर अर्थ में वाच्यार्थ सम्बन्धित्व रूप से होती है वैसे यहां भी मानेंगे- "तत्त्वमसि" महावाक्य जन्य ज्ञान यदि वह शबलान्वित (विशिष्ट अन्वित) होकर- ब्रह्म को विषय बनावे तो तब वह ज्ञान अखण्डार्थपरक नहीं हो पायेगा।

अब रह गया दूसरा विकल्प- महावाक्यजन्यज्ञान केवल को विषय मानेंगे तो अखण्डार्थ बोध हो जाता है। लेकिन यह सम्भव नहीं है। यदि विशिष्ट से अनन्वित होकर भी ज्ञान का विषय लक्ष्यार्थ बनें तो गंगायां घोष" इस वाक्य से जैसे गंगातीर का बोध होता है, इसी प्रकार से समुद्र तीर का भी बोध होने लगेगा क्योंकि बिना लक्ष्यार्थ तो शुद्ध तीर है वह तो ज्ञान का विषय होगा फिर वह तीर चाहे गंगा का हो चाहे समुद्र का। इसलिये दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है।

सिद्धान्ती द्वितीय पक्षमादाय समाधत्ते—

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती द्वितीय विकल्प को लेकर समाधान प्रदान कर रहे हैं—

पूर्वक्षणे भवति वाच्यपदार्थभाग-
भागित्वसंगतिरिहात्मनि निर्विभागे।।

मोहोपदर्शितवपुर्घटते ततोऽस्मिन्
शब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरदोषदुष्टा।।२०४।।

अन्वयः= इह निर्विभागे आत्मनि पूर्वक्षणे मोहोपदार्शितवपुः वाच्यपदार्थभागभागित्वसंगतिः भवति। ततः शब्दस्य अस्मिन् अदोषदुष्टा लाक्षणिकवृत्तिः।।

अन्वयार्थः= इस निरंश आत्मा में वाच्यार्थ बोध से पूर्व वाच्यार्थ के साथ अविद्या प्रयुक्त अंशांशिभाव सम्बन्ध होता है। अतः शब्द की आत्मा में निर्दुष्ट लक्षणावृत्ति हो जाती है।।

पूर्वक्षणेति। वाक्यार्थप्रतीतेः पूर्वकाल इत्यर्थः। इह निर्विभागे आत्मनि। मोहोपदर्शितवपुः, मोहेनोपदर्शितं वपुः स्वरूपं यस्याः संगतेः सा तथा। वाच्यपदार्थभागभागित्वसंगतिः, तत्प्रतीतिरिति यावत्। पूर्वक्षणेऽपेक्षिता भवतीति संबन्धः। लक्षणायाः प्रागेव लक्ष्यस्य वाच्यार्थसंबन्धित्वेन ज्ञानमपेक्षितम् अन्यथा तया तदुपस्थित्यसंभवात्। न तु लाक्षणिकशब्दजन्यज्ञानेऽपि तत्तथा प्रतीयते मानाभावात्किं तु स्वस्वरूपेणैव। लोकेऽपि तीरादेः केवलस्यापि गङ्गादि-पदादुपस्थितिः, न चैवमतिप्रसङ्गः, पूर्वक्षणभाविना वाच्यार्थसंबन्धज्ञानेनैव नियततीराद्युपस्थितिसंभवेनान्यत्र तदसंभवात्। न हि समुद्रतीरादि तथोपस्थितं भवति। ततो ब्रह्मणि लक्षणयाऽखण्डार्थप्रतीति-रुपपद्यत इति भाव। निर्विभागात्मनि कथं भागभागित्वमिति शङ्कां निराकर्तुं मोहेत्युक्तम्।।२०४।।

पूर्वक्षणेति= वाक्यार्थबोध के पहिले पूर्वकाल में (पूर्वक्षण में)। इह-निर्विभाग आत्मा में। मोहोपदर्शितवपुः= शब्दार्थ संगति बताने वाला मोह अज्ञान (मलिनान्तःकरण) है। वाच्य कौन है वाचक कौन है ऐसी वाच्यपदार्थ भाग भागित्व संगतिः= उसके प्रतीति की संगति मोह के द्वारा संपन्न होती है। अर्थात् लक्षणा के पहिले लक्ष्य का वाच्यार्थ सम्बन्धित्वेन ज्ञान अपेक्षित है, नहीं तो अर्थात् यदि लक्ष्य का पहिले वाच्यार्थ सम्बन्धित्वेन ज्ञान नहीं मानें तो लक्षणा के द्वारा लक्ष्यार्थ की उपस्थिति नहीं हो पायेगी।।

शंका' लाक्षणिक शब्द जन्य ज्ञान में भी तो लक्ष्य विषय हो ही जाता है।

समाधान= यदि पहिली उपस्थिति नहीं होगी तो बाद में लक्षणा से भी नहीं हो सकती। इसके विरोध में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् वाच्यार्थ से उपस्थिति तो नहीं हुई और लक्षणा से हुई इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् लक्षणा के पहिले लक्ष्य की स्वरूप से उपस्थिति होती है।

शंका= फिर समुद्रतीर की भी उपस्थिति होने लगेगी।

समाधान— नहीं- लक्षणा के पूर्ववर्ति वाच्यार्थ सम्बन्धित्वेन रुपेण वाच्यार्थ गंगाप्रवाह उसके सम्बन्ध ज्ञान से नियत तीर की ही उपस्थिति होगी। न कि समुद्र तीर की।। अतः ब्रह्म

में लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ बोध की संगति ठीक ही है।

शंका= आत्म विभाग रहित है उसमें भाग भागित्व की कल्पना कैसी?

समाधान— मोह से। अज्ञान से। यह सब संभव हो जाता है।

उक्तमेवार्थं सोपत्तिकं प्रपञ्चयति—

इसी अर्थ को स्पष्ट कर रहे हैं—

संबन्धिता भवति लाक्षणिकप्रवृत्तेः
सर्वत्र कारणमितीदमभीष्टमेव।।
संबन्धिताकरणमेव तु लाक्षणिक्या
बुद्धेरनिष्टमिह तद्व्यभिचारदृष्टेः।।२०५।।

अन्वयः= सर्वत्र लाक्षणिकवृत्तेः सम्बन्धिता कारणं भवति, इदं अभीष्टमेव। इह लाक्षणिक्याः बुद्धेः सम्बन्धिताकारणमेव अनिष्टम्, तद्व्यभिचारदृष्टेः।।२०५।।

अन्वयार्थः= सर्वत्र लक्षणावृत्ति में सम्बन्धिता कारण है, यह मानना अभीष्ट ही है। (किन्तु) यहां लाक्षणिक बुद्धि में सम्बन्धिता करण इष्ट नहीं, क्योंकि उसका व्यभिचार देखा गया है।।२०५।।

सम्बन्धितेति। सम्बन्धिताज्ञानमित्यर्थः। सर्वत्र लोके वेदे च। सम्बन्धिताकरणं= वाच्यार्थ-सम्बन्धिताऽऽकारत्वम्। कुतोऽनिष्टमित्यत आह-तद्व्यमिचारेति। तस्य सम्बन्धिताऽऽकारत्वस्य सर्वत लाक्षणिकपदजन्य ज्ञानेऽभावादित्यर्थः। कुत्र तदभाव इति चेदुक्तमेवगङ्गापदजन्यज्ञानस्य शुद्धतीरविषयत्वेन तज्ज्ञाने गङ्गासम्बन्धिताऽऽकारत्वाभावान्नियमेन वाच्यविशिष्टस्यैव लक्ष्यत्वे तात्पर्यगौरवप्रसङ्गात्।।२०५।।

सम्बन्धितेति= वाच्यार्थ सम्बन्धिज्ञान लक्ष्य के लिये लक्षणा के पूर्व आवश्यक है। यह सब लोक में तथा वेद में देखा गया है। और यदि कहे कि सम्बन्धिता करणमेवेति-लक्षणा के पूर्व वाच्यार्थ सम्बन्धिता आकार होना चाहिये ही यह गलत है। क्यों गलत है? तद्व्यभिचारेति= लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ सम्बन्धिता आकारत्व, सभी लाक्षणिक पदजन्यज्ञान में नहीं देखा गया। इसका व्यभिचारी स्थल कहां है?- गंगायां घोषः, इसी स्थल में गंगापदजन्य ज्ञान की विषयता शुद्ध तीर में है, लक्ष्यार्थ ज्ञान में गंगासम्बन्धितीरत्वाकारत्व नहीं है। दूसरी बात यदि यह व्याप्ति मानें कि जो जो लक्ष्यार्थ होगा उसे वाच्यार्थ सम्बन्ध्याकारत्व होना चाहिये तो फिर लक्ष्यार्थ वाच्यार्थविशिष्ट होगा। फिर तो तात्पर्य गौरव प्रसंग होगा। क्योंकि तात्पर्य तो केवल लक्ष्यार्थ में (शुद्ध में) है और उसके ग्रहण करने के लिये

विशिष्ट का भी ग्रहण करण पडेगा, यही तात्पर्य गौरव दोष होगा।

व्यभिचारस्थलान्तरमाह—

सम्बन्धिताकरण का अन्य व्यभिचारी स्थल बता रहे हैं—

यत्रेष काक इदमेव तु देवदत्त-
वेश्मेति लाक्षणिकवृत्तिरिहाभ्युपेता।।
काकास्पदत्वमवधीर्य तथापि वेश्म—
मात्राकृतिर्भवति लाक्षणिकी तु बुद्धिः।।२०६।।

अन्वयः— इह यत्रैष काकः इदमेव तु देवदत्तवेष्म इति लक्षणावृत्तिः अभ्युपेता। तथापि लक्षणिकी बुद्धिस्तु काकास्पदत्वम् अवधीर्य वेश्ममात्राकृतिः भवति।।

अन्वयार्थः— लोक में जिसपर कौआ बैठा है यही तो देवदत्त का घर है, आदि स्थलों पर लक्षणावृत्ति मानी जाती है। वहां भी लक्षणा जन्य बुद्धि काक सम्बन्धित्व को छोड़कर केवल घर को ही विषय करती है।।

यत्रैष इति। देवदत्तगृहं किमिति पृच्छन्तं प्रति कश्चिदाह "यत्रैष काकस्तिष्ठति इदमेव देवदत्तवेश्म" इति। तत्र किं काकाधिकरणत्वविशिष्टं देवदत्तगृमिति वाक्यार्थ उत तदुपलक्षितम्। अन्त्य आह-लाक्षणिकेति। अभ्युपेता, सर्वैरिति शेषः। ततः किं तत्राह-काकास्पदत्वमिति काकाधिकरणत्वमित्यर्थः। तथापि काकास्पदत्वमिति सम्बन्धः। तस्माद्धि वाक्याद् गृहविशेषमात्रमेव देवदत्तीयत्वेन प्रतीयते न तु काकाधिकरणत्वाकारेण, निर्गतेऽपि। काके तद्बुद्धिदर्शनात् एतेन प्रथमपक्षोऽपि निरस्तः। विशिष्टस्य देवदत्तीयगृहत्वे काकापसरणे गृहैकदेशभङ्गबुद्धिप्रसङ्गश्चेति।।२०६।।

यत्रैष— देवदत्त का कौन सा घर है? ऐसे प्रश्न पूछने पर सामने वाले ने समझाया कि "यत्रेष काकस्तिष्ठति इदमेव देवदत्तस्य गृहं" जहां यह काक बैठा हुवा है यही देवदत्त का घर है। अब यहां पूछना यह है कि क्या काकाधिकारणविशिष्ट देवदत्त का घर अभीष्ट है कि काक से उपलक्षित देवदत्त का घर अभीष्ट हैं। तो इसमें उपलक्षित वाला पक्षग्रहण करते हैं- अतः कहा। लाक्षणिकेति= उपलक्षणा का स्वीकार सब अंगीकार करते हैं। इस से क्या हुवा? तो कहते हैं— काकास्पदत्वमिति= काकाधिकरण। अर्थात् उस व्यक्ति के घर तक पहुंचते पहुंचते कौवा तो उड चुका था। अतः काकाधिकरणत्व तो रहा नहीं। विशेषण गया तो विशिष्ट बोध कैसे सम्भव होगा। इसलिये— "काकवन्तं देवदत्तस्य गृहं" इस वाक्य

से गृह विशेष्य जो देवदत्त का है, उसका बोध होता है, न कि काकाधिकरणत्वेन रूप से गृह का बोध होता है। क्योंकि काक उड भी गया तो भी घर का बोध होता ही है। इससे लक्ष्य को वाच्य सम्बन्धी होना चाहिये यह पहिला पक्ष भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि वाच्य हुवा शबलार्थ (विशिष्टार्थ) यदि देवदत्त का घर काक विशिष्ट गृहपरक हो तो घर का (गृह का) विशेषण काक हुवा। जब वह काक उड जायेगा तो विशेषण भाग जो घर का था वह निकल जाने से घर का एक भाग टूटने का खतरा उत्पन्न हो जायेगा। इसलिये वाच्य-सम्बन्धित्वेन (आकारात्वेन) लक्ष्य होना चाहिये, यह सिद्धान्त ठीक नहीं है।

जहल्लक्षणायां लक्ष्यस्य वाच्यसम्बन्धित्वेनैव लाक्षणिकपदजन्यज्ञानमिति नियमं दूषयित्वा जहदजहल्लक्षणायां तदसम्भवमाह—

जहल्लक्षणाके विषय में लक्ष्य वाच्य सम्बन्धि होकर चलना चाहिये बाद में जहल्लक्षणा होगी तब लक्ष्य तीरादि गृह, लाक्षणिकपदजन्य ज्ञान का विषय बनेगा इस नियम के खंडन करने के बाद अब जहदजहल्लक्षणा के अन्दर भी वाच्य सम्बन्धित्व की असम्भावना को बताते हैं—

सोऽयमित्यपि पदार्थरूपकं
लक्षणं यदुपलक्षणं हि तत्।।
अंशिता यदि पदार्थलक्ष्ययो—
र्गृह्यते ननु पुनर्विरोधिता।।२०७।।

अन्वयः— सोऽयमित्यपि यत् पदार्थरूपकं लक्षणम् तदपि हि उपलक्षणम्। यदि पदार्थलक्ष्ययोः अंशिता गृह्यते, पुनर्विरोधिता ननु।।२०७।।

अन्वयार्थः— "सोऽयं देवदत्त" यहां पर भी जो (विशिष्ट) पदार्थस्वरूप लक्षक है, वह भी उपलक्षण ही है। यदि वाच्य तथा लक्ष्य में अंशाशिभाव का ग्रहण होगा, तब तो विरोधिता बनी ही रहेगी।।

सोऽयमिति। पदार्थरूपकम् पदार्थस्वरूपम्। लक्षणम् लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्, लक्षकमिति यावत्। तत्तेदन्ताविशिष्टपदार्थद्वयस्वरूपं शुद्धस्य यल्लक्षणं तदप्युपलक्षणम्। उपलक्षणं हि तटस्थलक्षणमेव, अपिशब्दात्काकवदिति सूचयति। एतावान्विशेषः, काकाधिकरणत्वमन्यदेव गृहस्वरूपं लक्षयति, इदं तु स्वान्तर्भूतमेव देवदत्तादिरूपमिति। ततः किं तत्राह-अंशितेति। पदवाच्याभ्यां लक्ष्ययोरंशिता मुख्यार्थसम्बन्धविशिष्टता यदि सोऽयंपदाभ्यां लक्षणया ज्ञायते तर्हि पुनर्विरोधिता नन्विति सम्बन्धः। यथा वाच्ययोर्विष्टियोरभेदे विरोधः प्रागुक्त एवं यदि वाच्यार्थलक्ष्ययोरशांशिताऽपि लाक्षणिकपदेन ज्ञाप्येत तदा पुनरपि सैव विरोधिता भवेत्

लक्ष्यस्वरूपे तत्तेदन्तावैशिष्ट्यानपायादित्यर्थः।।२०७।।

सोऽयमिति= पदार्थरूपकम्= पदार्थ स्वरूप। लक्षणम्= लक्ष्य की प्राप्ति जिससे की जाती है, उसे लक्षण कहते हैं। तत्ता इदन्ताविशिष्ट दो पदार्थों के स्वरुप का वर्णन किया। ये दोनों ही स्वरूप शुद्ध के ही हैं। तो शुद्ध के ही लक्षण ये किये हैं। उपलक्षणम्- तटस्थलक्षण स्वरूप ही है, अपि- शब्द से काकवन्तं देवदत्तस्य गृहं इसका भी ग्रहण हो जाता है। विशेष बात यह कि= "काकवन्तं देवदत्तस्य गृहं" इसमें काकाधिकरणत्व से अन्य ही गृह का स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है। और सोऽयं देवदत्तः में वाच्यान्तर्भूत ही देवदत्त का बोध हो जाता है। इससे क्या फायदा?

समाधान– अंशितेति= अंशी हुवा लक्ष्यार्थ। और अंश हुवा अंशी का विशेषणीभूत भाग। तो अंशी "सोयं देवदत्त" में देवदत्त हुवा। अब सोऽयं दोनों पदों के वाच्य के साथ रहने वाले लक्ष्य अंशियों का (दो अंशियों का) एवं मुख्यार्थ सम्बन्ध विशिष्टता (शबलार्थता) यदि सोयं पद से लक्षणा के द्वारा सोऽयं पद से ज्ञात होती है तो विरोध फिर भी रहेगा ही। क्योंकि जैसे वाच्यों के विशिष्ट के अभेद में विरोध है इसी प्रकार से वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों की अंशिता यदि लाक्षणिक पद से ज्ञात होती है तो फिर भी वही विरोध बना रहेगा। क्योंकि लक्ष्य स्वरुप देवदत्त में तत्ता और इदन्ता का वैशिष्टय हटाया नहीं जा सकता। क्योंकि वाच्य से सहित होकर लक्षणा अपना कार्य कर रही है। इस प्रकार जहदजहल्लक्षणा के अन्दर भी वाच्य सम्बन्धित्व की सम्भावना नहीं है, यह सिद्ध हुवा।

एवं पदद्वयलक्षणया महावाक्यस्य सत्यादिवाक्यस्यापि समभिव्याहृतनिखिलपद-लक्षणयाऽखण्डे ब्रह्मणि वृत्तिमुक्तामनूद्य विनाऽपि लक्षणां वाक्यं परमतेऽखण्डार्थनिष्ठं यदा तदाऽस्मन्मते लक्षणया तत् किमु वक्तव्यमित्याशयेनाह–

इस प्रकार दोनों पदों में लक्षणा करके महावाक्य के द्वारा इसीप्रकार सत्यंज्ञानमनन्तं "इस अवान्तर वाक्य के द्वारा भी वाक्यान्तर्गत समभिव्याहृतसम्पूर्ण पदों की लक्षणा अखण्ड ब्रह्म में वृत्ति कही है। उसका समर्थन भी किया। अब लक्षणा के बिना भी नैय्यायिक के यहां अखण्डार्थ निष्ठत्व सिद्ध होता है तो हमारे वेदान्त के घर में भी ऐसी व्यवथा हो सकती है। लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है।"

एवं तावल्लक्षणावृत्तिहेतो–
रानीतैषाऽखण्डवाक्यार्थबुद्धिः।।

मुक्त्वाऽपीमां लक्षणावृत्तिमेषा
वक्तुं शक्येत्युच्यतेऽनन्तरेण।।२०८।।

अन्वयः= एवं तावत् लक्षणावृत्तिहेतोः एषा अखण्डार्थबुद्धिः आनीता। इमां लक्षणावृत्तिं मुक्त्वाऽपि एषा वक्तुं शक्या, इत्यनन्तरेण उच्यते।।२०८।।

अन्वयार्थ= इस प्रकार लक्षणावृत्ति रूप हेतु से यह अखण्डार्थ बुद्धि की गई इस लक्षणा वृत्ति को छोडकर भी यह (अखण्डार्थ बुद्धि) सिद्ध की जा सकती है। इस बात को अनन्तर के श्लोक में कहा जा रहा है।।२०८।।

एवं तावदिति। उक्तोपपत्तिपरामर्श्येवंशब्दः। तावच्छब्दोऽपि वक्ष्यमाणपक्षात्प्राथम्यमस्य द्योतयति अनन्तरेण ग्रन्थनेति शेषः।।२०८।।

एवं तावदिति= उक्त उपपत्ति के परामर्श के द्वारा बताने के लिये एवं शब्द का प्रयोग किया गया। तावद्= इस शब्द से पहिले तो हम लक्षणा को मानते हैं। यह बताया मुक्त्वापीमामेति= यह बाद का ग्रन्थ अर्थात् लक्षणा के बिना भी अखण्डार्थ बोध संपन्न हो सकता है।

तदेव दर्शयति–

इसी को बता रहे हैं–

भिन्नाभिन्नरवौ घटादिवचसा साकं समुच्चारिता–
वन्यूनानधिके घटादिविषये तावत्प्रवृत्तौ तव।।
नो चेद्विश्वसृजोऽपि दुष्परिहरा भेदादिमालाऽऽगता
भेदादेरपि तत्र वाच्यमपरं भेदादिकं स्यादिति।।२०६।।

अन्वयः=घटादिवचसा साकं समुच्चारितौ भिन्नाभिन्नरवौ तव अन्यूनानधिके घटादिविषये तावत् प्रवृत्तौ। नोचेद् तत्र भेदादेरपि अपरं भेदादिकं वाच्यं स्यादितिविश्वसृजोऽपि दुष्परिहरा भेदादिमाला आगता।।

अन्वयार्थः= घटादि पद के साथ समुच्चारित भिन्न तथा अभिन्न शब्द आपके मत से न्यूनाधिक रहित घटादि मात्र को ही कहने में प्रवृत्त है। नहीं तो वहां भेद का भेद, तथा उसका भी भेद मानना होगा। तब तो ब्रह्मा भी जिसे नहीं टाल सकते, ऐसी भेदमाला की अनवस्था होगी।

भिन्नाभिन्नेति। रवौ-शब्दौ। भिन्नो घट इत्यभिन्नो घट इति घटादिपदेन सहोच्चारितौ भिन्नाभिन्नशब्दौ घटादिपदस्य यावान्विषयस्तावत्येव तव मते प्रवृत्तौ तावन्मात्रविषयाविति यावत्। परपक्षे हि भेदः स्वरूपमेव वस्तुन इति वक्तव्यम्। एवं च भिन्नघटशब्दयोरेकार्थत्त्वाल्लक्षणां विनैव तावेकप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठाविति तद्वाक्यमखण्डार्थम्। एवमभिन्नो घट इति वाक्यमपि।

ननु भिन्न इति घटादिविशेषणतया प्रतीयमानो भेदः कथं घटादिस्वरूपं स्यादिति चेत् सत्यमस्ति तवेयमनुपपत्तिः, तथापि स्वरूपातिरिक्तो भेदस्त्वन्मते न सिद्ध्यतीत्याशयेनैवमुक्तम्। नन्वतिरिक्त एवं भेदोऽभेदो वाऽस्तु तथा च तद्विशिष्टाभेद एव घटादिर्वाक्यार्थ इति कुतोऽखण्डार्थतेत्याशङ्क्याह– नो चेदिति। स्वरूपमेव भेदादिर्न भवति किं तु तदतिरिक्त एव चेदित्यर्थः। भेदादिमाला, भेदाभेदपरम्परेत्यर्थः। आगतेति छेदः। कथं तत्र भेदादिमालाऽऽगता स्यात्तत्राहः। भेदादेरिति। तत्र तस्मिन्मते। भेदादेर्द्धर्म्यादिभ्यो भेदे भेदे धर्म्यादिभ्यो भेदान्तरमभेदे च स्वाभेदान्तरमेव तत्र तत्रापीति भेदादिमालाप्रसङ्गः। न च भेदादेर्भेदादिः स्वरूपमेवेति वाच्यम्। तर्हि प्रथममेव तथास्तु किमतिरिक्तभेदादिकल्पनया। न च घटो भिन्न इत्यादिविशिष्टप्रतीतिबलाद् घटाद्यतिरिक्तभेदादिसिद्धौ सत्यां पश्चात्कल्प्यमानस्वरूपभेदादेः प्रथमक्लृप्तातिरिक्तभेदबाधकत्वं न युक्तकल्पनमिति वाच्यम्। भेदादिविशेषणतादिप्रतीतेर्द्धर्म्यादिभ्यस्तस्य भेदग्रहसापेक्षत्वेन प्रथममेव घटादिस्वरूप भेदादेः क्लृप्तत्वेन तद्विलक्षणभेदादिकल्पनानुपपत्तेः। न हि विशेषणविशेष्ययोर्भेदज्ञानमृते परस्परविरुद्धविशेषणविशेष्यभावप्रतीतिर्भवति। भावे वा प्रतीतेरन्यथासिद्धत्त्वेनातिरिक्तभेदसाधकत्वं न स्यादिति भावः।।२०६।।

भिन्नाभिन्नेति= रवौ=शब्दौ "भिन्नो घटः अभिन्नो घटः" घट पद के साथ भिन्न और अभिन्न दोनों पदों का उच्चारण एक साथ में किया। अब इसमें विचार करते हैं- "भिन्नो घटः अभिन्नोघटः" इसमें भिन्नाभिन्नशब्द दोनों भी घट पद के वाच्यार्थ भूत विषय घट से अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि दोनों भिन्नाभिन्न पद घट मात्र विषय परक ही है। क्योंकि न्यायमत में भेद वस्तु का स्वरूप ही है। ऐसा ही उनको कहना पडेगा। "तो भिन्नो घटः" ये दो पद है, और इन दोनों पदों का अर्थ एक घट ही हुवा। अब यहां लक्षणा भी नहीं की तो भी दोनों पदों ने घट जो प्रातिपादिक उसके अर्थ को बताया। तो दोनों पदों ने अखण्डार्थ का बोध कराया। इसी प्रकार से "अभिन्नोघट" इस वाक्य में भी ऐसी स्थिति है। यहां भी दोनों पदों के द्वारा प्रातिपदिक घट" तदर्थ का बोध लक्षणा के बिना दोनों पदों ने किया।

शंका– भिन्नो घटः" इसमें भिन्न तो विशेषण है और घट विशेष्य है। तथा विशेषण और विशेष्य दोनों कैसे एक रूप हो सकेंगे।

समाधान– नैय्यायिकजी यह अनुपपत्ति तो आप को ही लगेगी। क्योंकि चाहे आप जितना प्रयत्न करें तो भी भेद (भिन्नत्व) वस्तु स्वरूप से अतिरिक्त सिद्ध नहीं हो सकता।

इसी आशय से मैंने वेदान्ती ने बोला।

शंका– भेद अथवा अभेद घट से अतिरिक्त नहीं है फिर भिन्नो घटः अभिन्नो घटः इससे विशिष्ट का अभेद घट है यह वाक्यार्थ बोध होगा। तो फिर अखण्डार्थ बोध नहीं होगा। क्योंकि अखण्डार्थ में प्रातिपदिकार्थ मात्र की प्रतीति होनी चाहिये। यहां विशिष्टार्थ है अतः अखण्डार्थ बोध यह नहीं माना जायेगा।

समाधान– नो चेदेति= भेदादि घटादिस्वरूप नहीं है किन्तु अतिरिक्त है यदि यह कहते हो तो– भेदादिमाला–भेद की परंपरा तथा अभेद की परंपरा माननी पडेगी आगणता= आ जायेगी।

शंका= भेदादिक की माला कैसी आयेगी?

समाधान– तत्र= न्यायमत में।। भेद धर्मि घटादि से भिन्न मानने पर धर्मि और भेद को सिद्ध करने के लिये और भेद मानना पडेगा। जो इन धर्म भेद और धर्मि घट इन दोनों से भिन्न है। यदि भेद को घट से अभिन्न मानें तो अभिन्न हुवा धर्म और धर्मि हुवा भेद और घट। तो इस अभेद को घट के साथ स्थापित करने के लिये और अभेद लेना पडेगा। इसी प्रकार भेद प्रसङ्ग में भेद माला माननी पडेगी।

शंका– "भिन्नो घटः" यहां भेद तो घट से भिन्न है। लेकिन अब यह जो भेद का भेद घट में है, इस भेद को स्थापित करने के लिये दूसरे भेद की जरूरत नहीं होगी क्योंकि यह भेद-अतिरिक्त स्वरूप नहीं है। किन्तु भेद स्वरूप ही दूसरा भेद है।

समाधान= यदि दूसरा भेद प्रथम भेद स्वरूप है तो फिर पहिले भेद को ही घटस्वरूप मानना ही उचित है।

शंका= "घटो भिन्न" इस विशिष्ट प्रतीति के बल से घटादि से अतिरिक्त भेदादिक मानना उचित है। जब यह बात सत्य है। फिर बाद में उस भेद को घट में बैठाने के लिये और भेद। ऐसी जो भेद कल्पना की बाते की थी, इन भेदों से प्रथम जो क्लृप्त (स्पष्ट) भेद- उसकी, धर्मि घट से जो अतिरिक्तता है, उसमें वह कल्पना बाधक नहीं होगी।

समाधान– भिन्नो घटः इसमें विशेषण भेद है, विशेष्य घट है। विशेषण ग्रहण तो विशेष्य (धर्मि) ग्रह के सापेक्ष है, पराधीन है। जब घटका बोध प्रथम हो जाता है तो उसका विशेषण स्वरूप भेद का भी बोध अपने आप ही हो जाता है। तो भेद घट स्वरूप पहिले ही स्वीकृत हुवा। फिर धर्मि घट से भेद की भिन्नता की कल्पना करना सब

अनुचित है।

यह भी कोई नियम नहीं है कि विशेष्य और विशेषण दोनों भिन्न होंगे तभी विषेष्य विशेषण भाव होगा।

अथवा घटो भिन्नः यह प्रतीति अन्यथा सिद्ध होने के कारण यह प्रतीति भेद को अतिरिक्त स्वरूप से सिद्ध नहीं कर सकती।।

नन्वेवं भिन्नाभिन्नघटशब्दानां पर्यायतापत्तिरिति चेत्तत्किंभेदादौ भिन्नादिशब्दो न प्रवर्त्तते, प्रवर्त्तते चेत्तत्र यः परिहारः स एवान्यत्रापि तवास्तु, एवं सत्यपि परिहारान्तरमाह–

पूर्वपक्ष= यदि भिन्नाभिन्न शब्द घटार्थ परक मानेंगे तो दोनों शब्द पर्यायवाची होंगे।

समाधान, भेद में भिन्न शब्द (भेद शब्द) प्रवृत्त होता है कि नहीं। क्योंकि प्रतीति होती है। "भेदोभिन्न"। यदि प्रवृत्त होता है ऐसा मानते हो तो इसके लिये हम पहिले कह चुके हैं। सत्यज्ञानमनन्तं में सत्यादि शब्द पर्यायवाची नहीं है। यह परिहार है। वही परिहार मैं भी वेदान्ती दे दूंगा। तो भी वेदान्ती इसका परिहार दे रहे हैं–

परस्पराभावमुपाददानो
निमित्तमर्थेषु हि भिन्नशब्दः।।
प्रवर्त्ततेऽन्ये तु घटादिशब्दा
निजं निजं वाच्यमुपाददानाः।।२१०।।

अन्वयः= भिन्नशब्दो हि परस्पराभावं निमित्तं उपाददानः अर्थेषु प्रवर्त्तते। अन्ये घटादि शब्दास्तु निजं निजं वाच्यं उपाददानाः (अर्थेषि प्रवर्तन्ते)।

अन्वयार्थः= भिन्न शब्द अन्योन्याभाव निमित्त को लेकर पदार्थो में प्रवृत्त होते हैं। किन्तु अन्य घटादि शब्द अपने अपने वाच्य (जाति, आकृति, व्यक्ति) को लेकर (घटादि अर्थो में प्रवृत्त होते हैं।)

परस्परेति। ननु कोऽसौ स्वरूपभेदवादे परस्पराभावः, अन्योऽन्याभाव इति चेत्किं तत्र प्रमाणम्, घटात्पटो भिन्न इत्यादिबुद्धेः स्वरूपभेदावलम्बनतयाऽन्यथासिद्धत्वात्। एतेनास्त्येव तन्मतेऽपि परस्पराभावः किं तूक्तदोषात्स भेदो न भवतीति न भेदानन्त्यमिति प्रत्युक्तम्। भेदातिरिक्तपरस्पराभावे प्रमाणाभावस्योक्तत्वादिति चेत्सत्यम्। एवं हि स्वरूपभेदवादिनो "भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया" इति वदन्त आहुः, घटः पटो न भवतीति पटादिसापेक्षतया प्रतीयमानं घटादिस्वरूपं पटादिभ्यो भेदः, एवं पटादिस्वरूपमपि घटादिभ्यो

भेद इति। एवं परस्परस्याभावः। परस्परापेक्षस्वरूपम्, तदुपाददान इत्यर्थः। निमित्तं प्रवृत्तिनिमित्तम्। अर्थेषु घटपटादिषु। निजं निजं स्वीयं स्वीयमन्योऽन्यनिरपेक्षघटत्वादिस्वरूपं वाच्यमुपाददानाः बोधयन्तः। प्रवर्त्तन्ते इति विपरिणतानुषङ्गः। तत्पक्षे हि भिन्नशब्दः। पटादिकमपेक्ष्य घटादिस्वरूपं बोधयति, अथ च पटादिवैशिष्ट्यं घटेन प्रतिपादयति। घटादिशब्दस्तु घटत्वादिकमेव निमित्तीकृत्य तत्र प्रवर्तते इति न तयोः पर्यायता नापि विशिष्टार्थं वाक्यमिति भावः।।२१०।।

परपराभावेति= स्वरूप भेदवादी के यहां परस्पराभावः (अन्योन्याभाव) क्या है, और इसमें क्या प्रमाण? यदि "घटात्पटो भिन्न" घट से पट भिन्न है इत्यादि बुद्धि है। तो यह बुद्धि स्वरूप भेदालम्बनपरक होने से अन्यथा सिद्ध है। क्योंकि भिन्नो घट और घटः इसीसे काम चलता है। और भिन्नो घटः यह फिर अन्यथासिद्ध ही माना जायेगा। स्वरूप भेदवादी के मत में भी "परस्पराभाव" अन्योन्याभाव तो है लेकिन भेदीय परंपरा को मानना पडता है- अतः परस्पराभाव मानते ही नहीं। इससे भेदन्त्य की परंपरा भी नहीं होगी। यह कहने के समान ही है। अस्तु। (स्वरूप भेदातिरिक्त) स्वरूप से भेद अतिरिक्त है यही परस्पराभाव है। लेकिन इसमें कोई प्रमाण नहीं हैं, यह बात सत्य है। भावार्थ= स्वरूपभेद वादी "भावान्तरमभावो" भाव से अभाव अलग मानते हैं। जैसे घटः पटो न भवति" इसमें पटादि के अपेक्षा प्रतीयमान घटादिक का स्वरूप पदादिक से भिन्न है। इसी प्रकार पटादिक का स्वरूप घटादिक से भिन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार से परस्पराभाव, परस्पर सापेक्ष स्वरूप उसका ग्रहण करके परस्पराभाव सिद्ध होता है। निमित्तं= प्रवृत्ति का निमित्तक होता है। अर्थेषु= घटपदादि अर्थ में। निजं निजं= स्वीय स्वीय, अपने अपने स्वरूप की अन्योन्य से निरपेक्ष होकर घटादि शब्द अपने अपने अर्थ का उपपादन करते हैं। स्वरूप भेदवादि के अनुसार भिन्न शब्दः पटके माध्यम से घट के स्वरूप का बोध कराता है, साथ साथ में पट की विशेषता बताता है। (वैशिष्ट्य बताता है) और घटादि शब्द तो घटात्वादिक के माध्यम से घट का बोध करता है। अतः घट पटो न भवति ये शब्द पर्यायवाची नहीं है। और न तो यह एक विशिष्टार्थ परक वाक्य भी है। किन्तु अखण्डार्थबोध परक है।

एवमभिन्नशब्देऽप्याह—

इसी प्रकार अभिन्न शब्द के विषय में भी है—

परस्पराभावविहिनभावा

दभिन्नशब्दस्य घटे प्रवृत्तिः।।

धटस्वरूपैकनिबन्धनात्तु

घटादिशब्दस्य घटे प्रवृत्तिः।।२११।।

अन्वयः= अभिन्नशब्दस्य परस्पराभावविहीनभावाद् घटे प्रवृत्तिः। घटादिशब्दस्य तु घट–स्वरूपैकनिबन्धना घटे प्रवृत्तिः।।२११।।

अन्वयार्थः= अभिन्न शब्द की "अन्योन्याभाव शून्यत्वरूप निमित्त से घट आदि में प्रवृत्ति होती है। लेकिन घटादि शब्द की घटत्व प्रयुक्त घट में प्रवृत्ति होती है।।२११।।

परस्पराभावविहिनभावादिति। भेदशब्दप्रवृत्तिनिमित्तेतरसापेक्षत्वस्याभावः परस्पराभाव-विहीनभावस्तत्सापेक्षवस्तुस्वरूपमिति यावत्। तस्मात्, तथा च तटस्थ एवाभिन्नपदप्रवृत्तिनिमित्तं स इति न घटादिपदेन तत्स्वरूपनिमित्तेन पर्यायतेति भावः।।२११।।

परस्पराभव विहीनभावादिति= अभिन्न शब्द के योग में जैसे भेद शब्द के योग में "घटः पटो न भवति" ऐसे प्रयोग में भेद शब्द प्रवृत्ति निमित्तक इतरेतर सापेक्षता है। पट के भेद सापेक्ष घट, घट के भेद सापेक्ष पट इत्यादि उससे विहीन ''परस्पराभाव विहीनभावादिति'' अर्थात् घटादिस्वरूप सापेक्ष ही घट पद प्रवृत्त होता है। इसलिये अभिन्नोघटः अभिन्न पद (अन्योन्याभावाभाव) तो तटस्थ ही रह जाता है। अर्थात् सापेक्षता भाव को ग्रहण नहीं करता हुवा तटस्थभाव से घट को बोधित करता है और घट शब्द तो घटात्वादि के माध्यम से घट का बोध कराता है। अतः अभिन्न घटः ये दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं है और अखण्डार्थक भी हुये।

इदानीं सिद्धान्त्येकपदलक्षणयापि तदाह–

अब सिद्धान्ती एक पद लक्षणा के द्वारा भी अखण्डार्थ बोध कराते है।–

अबोधनाशश्चितिरित्यमुष्मिन्

पदद्वये त्वेकरसात्मनिष्ठे।।

अगौणमेकं पदमन्यदत्र

द्वितीयवृत्तीतरसंगमाय।।२१२।।

अन्वयः= अबोधनाशः चितिः इत्यमुष्मिन् एक रसात्मनिष्ठे पदद्वये तु एकं पदं अगौणम्। अत्र अन्यत् पदं इतरसंगमाय द्वितीयवृत्तिः।।२१२।।

अन्वयार्थः= अबोधनाशः चितिः" इस वाक्य के एकरसात्मपरक दोनों पदों से एक पद मुख्य वृत्तिवाला

और दूसरा वह इतरार्थ सम्बन्ध (की योग्यता सम्पादन करने) के लिये द्वितीय (लक्षणा) वृत्तिवाला होता है।।२१२।।

अबोधनाश इति। अज्ञाननाश इत्यर्थः। चितिः ज्ञानम्। अगौणम्- मुख्यार्थम्। द्वितीयवृत्ति-लक्षणावृत्तिविशिष्टम्। इतरसङ्गमाय- पदान्तरसम्बन्धाय, तदर्थान्वययोग्यताया इत्यर्थः।।२१२।।

अबोधनाश इति= अज्ञान का नाश करना मुख्य प्रयोजन है। वह प्रयोजन चितिः= ज्ञान के द्वारा संपन्न होगा। "तत्वम्" में, चैतन्य भाग ने अज्ञान की निवृत्ति करा दी। तो (चैतन्य) चिति पद। अगौणम्=मुख्य है- अज्ञान की निवृत्ति कराने के कारण अर्थात् चिति शब्द भाव तथा अभाव दोनों परक है। ज्ञान रूप में भावस्वरूप, अज्ञाननिवृत्ति में अभावस्वरूप हैं। द्वितीय वृत्ति= लक्षणावृत्ति विशिष्ट। जो इतर पद है- तत्ता विशिष्ट, इन्दन्तादि विशिष्ट इन दोनों पदों के, इतर सङ्गमाय= पदान्तरों का सम्बन्ध कराने के लिये अर्थात् इन पदों के वाच्य पदार्थों की अन्वय योग्यता संपादन करने के लिये लक्षणा विशिष्ट वृत्ति का अङ्गीकार किया जाता है। तो यहां अज्ञान नाश पद ने ही अखण्डार्थ बोध करा दिया है। (अर्थात् शुद्ध चैतन्य का बोध करा दिया)

ननु किं पदं तत्रागौणं किं वा लक्षणावृत्तीति तत्राह—

शंका- इसमें अगौण कौन सा पद है और लक्षणावृत्ति कहां है।।

समधान= इस श्लोक से दे रहे हैं—

अज्ञाननाशपदमत्र हि मुख्यमिष्टं
विद्यानिबन्धननिवृत्तिसमर्पकत्वात्।।
तेनान्वयाय चितिवाचि पदं स्ववाच्ये
सौवं समुज्झति मतेः परिणामरूपम्।।२१३।।

अन्वयः= अत्र हि अज्ञाननाशपदं मुख्यं इष्टम्। विद्यानिबन्धनिवृत्तिसमर्पकत्वात्। तेनान्वयाय चितिवाचिपदं स्ववाच्ये सौवं मतेः परिणामरूपं तु समुज्झति।।२१३।।

अन्वयार्थः= उक्त वाक्य में केवल (अबोधनाश) अज्ञाननाश पद मुख्य माना जाता है। क्योंकि वह विद्या प्रयुक्त अविद्या निवृत्ति को कहता है, जो कि आत्म स्वरूप है। उसके साथ अभिप्रेत सम्बन्ध का लाभ करने के लिये "चिति अपने वृत्ति विशिष्ट" चैतन्य रूप वाच्यार्थ में से मति परिणाम (वृत्तिभाग) का भागत्यागलक्षणा द्वारा त्याग करता है।।२१३।।

अज्ञाननाशपदमिति। अत्रास्मिन्वाक्ये। हिरेवार्थे। अज्ञाननाशपदमेवेति सम्बन्धः। मुख्यार्थम् कुत इति चेत्तत्राह-विद्यानिबन्धनेति। विद्या अविद्यानिवर्त्तकसाक्षात्काररूपा वृत्तिस्त-

न्निबन्धना तदुपहिता या निवृत्तिःस्तस्याः समर्पकत्वाद्बोधकत्वादित्यर्थः। अविद्यानिवृत्तिर्हि वक्ष्यमाणन्यायेनाविद्याधिष्ठानात्मैव। अविद्यानिवृत्तिपदं च तामेव निवृत्तिमभिधत्ते। यद्यपि पूर्णात्मन्युक्तवक्ष्यमाणन्यायेन कस्यापि पदस्य वृत्तिर्न सम्भवति, तथापि विद्योपहितात्मरूपाविद्यानिवृत्तौ तत्पदं प्रवर्त्तते, पशुत्वोपहिते दृतिहरिशब्दवत्, तत्र पशुत्वमिवात्र विद्याप्युपाधितया तटस्थैवेति केवलात्मनिष्ठत्वान्मुख्यमेवेदम्। नन्वविद्यानिवृत्तिरिति नैकं पदं निवृत्तिपदं तु घटादिनिवृत्तिसाधारणेन रूपेण तां वदतीति नात्ममात्रनिष्ठमिति चेत्, न। निवृत्तौ भावस्याभावस्य वा साधारणधर्मस्यासम्भवेन तत्तस्वरूपस्यैव तत्पदाभिधेयत्वादविद्यानिवृत्तेश्चात्मैव स्वरूपमिति नोक्तदोषः। ततस्तदन्वयाय चितिवाचि पदं चितिरिति पदं स्ववाच्ये शबले मतेरन्तःकरणस्य परिणामरूपं सौवं स्वकीयं धीपरिणामांश समुज्झति त्यजति। एतच्च भागान्तरोपादानोपलक्षणमिति मुख्यलाक्षणिकपदाभ्यामखण्डसिद्धिरिति भावः। अत्र सौवं समुज्झतीत्यनेनार्थसिद्धानुवाद इति द्रष्टव्यम्।।२१३।।

अज्ञाननाशपदमिति= तत्त्वमसि महावाक्य में हि एव अर्थ में। तत् विशिष्ट चेतन, त्वंशिष्ट चेतन। इसमें चेतन भाग में अविद्या का नाशक (अज्ञान नाश पदमत्र) पद ही मुख्य है। इसे अगौण भी कहते हैं। विद्या= अविद्या की निवर्तक साक्षात्कार रूप वृत्ति, निबन्धना= तन्निबन्धना- वृत्ति उपहिता, या निवृत्तिः= जो अविद्या की निवृत्ति उस निवृत्ति को प्रस्तुत करने वाली वृत्ति को विद्या कहते हैं। अविद्या की निवृत्ति जो अविद्या का अधिष्ठान है तत्परक ही मानी गई है। अविद्यानिवृत्ति पद अविद्याधिष्ठान को शुद्ध चैतन्य को निवृत्ति पद के द्वारा बोधित करता है। चिति पद- अर्थात् ब्रह्माकार चरम वृत्ति वह ब्रह्मार्थ में लक्षणा परक है।

शंका— पूर्ण आत्मा में आगे कहे जाने वाले न्याय से क़िसी भी पद की वृत्ति संभव नहीं है।

समाधान— विद्या उपहित अविद्यानिवृत्ति में चेतन पद प्रकृत होता है। जैसे "पशुत्वोपहिते दृतिहरिशब्दवत्" चर्म बन्धनं हरतीति दृतिहरि" इस प्रयोग में चर्मपात्र का जैसे पशुत्व उपाधि है। पशुत्व चर्मपात्र का उपाधि होने से तटस्थ ही है इसी प्रकार से आत्मा की विद्या उपाधि होने से वह तटस्थ ही मानी जायेगी। अर्थात् विद्या- उपहित आत्मा का अविद्या निवृत्ति करने के लिये "तत् त्वं" में तत् पद प्रकृत होता है। यह पद आत्मनिष्ठ होने के कारण मुख्य ही माना जाता है। जिस प्रकार कर्णशकुली अवच्छिन्न आकाश उपाधि के सत्ता से ही श्रोत्रेन्द्रिय का ग्रहण होता है, इसी प्रकार से पशुत्व तथा विद्या के सत्ता में ही क्रमशः दृति हरि का बोध तथा अविद्या की निवृत्ति मानी जायेगी।

शंका— अविद्या की निवृत्ति- ऐसा एक भी पद वाक्य में है नहीं। जो कि पद घटादि निवृत्ति साधारण परक होकर आत्म निष्ठ होकर आत्मा का बोध करा सकें।

समाधान— अविद्या की निवृत्ति- यहां निवृत्ति भाव स्वरूपा या अभाव स्वरूपा है यह कुछ नहीं हम कहते। अविद्या की निवृत्ति तो आत्मा स्वरूप ही है। और यह बात तत् पद से अभिधेय (वाच्य) होने के कारण अविद्या निवृत्ति शब्द नहीं होने पर भी अविद्यानिवृत्ति स्वरूप आत्म स्वरूप होने से आत्म शब्द "तत्" शब्द तो है ही। अतः उक्त दोष नहीं है।

इसी प्रकार से इस शुद्ध आत्मा का स्वरूप अविद्यानिवृत्ति स्वरूप परक है। इसका बोध अगौण (मुख्य) रूप से कराता है। आगे इसका आत्मा का अन्वय कराने के लिये चितिवाचि पद जो त्वं पद है। वह स्ववाच्य शबलवाची है- (अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य) है इस शबलार्थ के अन्दर से अन्तःकरण का परिणाम रूप, सौवं= स्वकीय बुद्धि का परिणामांशको कर्तृत्व भोक्तृत्व, अल्पज्ञत्वादि को त्वं पद छोड देता है और चैतन्यांश का ग्रहण कर लेता है। यह जो प्रक्रिया है वह एक भाग का ग्रहण करना आदि के उपलक्षण परक है। अर्थात् मुख्य और लाक्षणिक पदों से अखण्डार्थ बोध संपन्न हो जाता है। यहां सौवं समुज्झति= इससे अर्थ सिद्ध बात का अनुवाद मात्र ही हुवा। अज्ञाननिवृत्ति तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप मुख्य है। वृच्यवच्छिन्न चैतन्य वाचि जो चिति पद है वह विद्योपहित शुद्ध ब्रह्म स्वरूप का बोध लक्षणा के द्वारा करा देता है।

ननु विधिपदस्यात्मनि लक्षणा, अभावपदस्य तत्र शक्तिरिति महदेतच्चित्रम्। अविद्यानिवृत्तिर्वा कथमात्मा भवेत्, न हि घटनिवृत्तिर्भूतलं भवतीत्याशङ्क्य सत्यादिपदसाधरण्याच्चितिपदस्य नात्र किञ्चिच्चित्रमित्याशयेनाह—

शंका= विधिपद की तो आत्मा में लक्षणा मानी। और अभाव पद की आत्मा में शक्ति मानी। यह तो अतिविचित्र बात हुई। क्यों तत् पद से अविद्यानिवृत्ति जो आत्माधिष्ठान रूप होने के कारण वह तत् तो वाचक हुवा। और त्वं पद की आत्मा में लक्षणा मानी। क्या अविद्या निवृत्ति भी आत्मा हो सकती है? कभी यह भी होता है क्या? घट निवृत्ति भूतल हो। ऐसी आशंका होने पर सत्यादि पद के समान ही चितिपद चैतन्य पद होने के कारण यहां भी किसी प्रकार की विचित्रता नहीं है।

विधिपदानि हि भागसमर्पणा-
दपरभागनिराकरणादपि।।

अविषयात्ममतिं जनयन्ति नो
न तु, मृषार्थनिवृत्तिगिरस्तथा।।२१४।।

अन्वयः= विधिपदानि हि भागसमर्पणात् अपरभागनिराकरणादपि नः अविषयात्ममतिं जनयन्ति, न तु मृषार्थनिवृत्तिगिरः तथा।।२१४।।

अन्वयार्थः= (मिश्रितार्थक) शबलार्थक भाव रूप वाचक विधि पद (अपने तात्त्विक) भाग का बोधन तथा अपर (अतात्त्विक) भाग का परित्याग करके ही हमारे मत में अवाच्य आत्मा का बोध उत्पन्न करते हैं। अतात्विकार्थ निवृत्ति परक पद वैसा नहीं कर सकते हैं।।२१४।।

विधिपदानीति। भावरूपार्थवाचकपदानीत्यर्थः। निराकरणात्परिवर्ज्जनात्। अविषयात्मतिमवाच्यात्मतिं ब्रह्माकारां वृत्तिम्। नः अस्माकं मते। द्वितीयामाशङ्कां परिहरन्नाह-न त्विति। मृषार्थनिवृत्तिगिरस्तु तथा तद्भागत्यागापरभागाऽर्पणेनाविषयात्ममतिं न जनयन्तीत्यर्थः। मृषार्थनिवृत्तीत्यस्यायमाशयः- यत्र यदध्यस्तं तस्य ततः पृथक्तत्त्वाभावात्तत्र तन्निवृत्तिरत्यन्ताभावोऽधिष्ठानमेव, यथा शुक्तिरजतादेः। घटादेस्तु भूतलादावनध्यस्तत्वेन पृथक्तत्त्वान्निवृत्तिस्ततो भिद्यत। अविद्या चात्मन्यध्यस्तैवेति तन्निवृत्तिः स एव, अतो न किं चिदत्रालौकिकमिति।

विधिपदानि इति= भाव रूप अर्थवाचक पद। भाग समर्पित करते है। निराकरणात्= परविर्जन करते है, हटाते है। अविषयात्ममतिम्= अवाच्य आत्मामति को ब्रह्माकाराकारित वृत्ति को उत्पन्न करते है। नः= हमारे वेदान्ती के सिद्धान्त में यह मत निश्चित है।

दूसरी आशंका का समाधान— न त्विति= मूषार्थनिवृत्तिगिरस्तथा=मिथ्या पदार्थ की निवृत्ति परक पद वैसा काम नहीं करता जैसा विधि पद करता है। अर्थात् एक भाग का त्याग तथा दूसरे भाग का ग्रहण, अविषयात्म बुद्धि का जन्म नहीं, हो पाता। मृषार्थ निवृत्ति का आशय बताते है- जहां जो पदार्थ अध्यस्त है उस अध्यस्त पदार्थ की उस अधिष्ठान से अतिरिक्त सत्ता नहीं हो सकती। इसलिये उस पदार्थ की निवृत्ति या अत्यन्ताभाव अधिष्ठान स्वरूप ही है। जैसे शुक्ति रजतादि" रजत का अत्यन्ताभाव या निवृत्ति शुक्ति स्वरूप ही है। और घटादि पदार्थ भूतलादिक में अध्यस्त नहीं होने के कारण उनका अत्यन्ताभाव भूतल स्वरूप नहीं हो सकता। अविद्या तो आत्मा में अध्यस्त होने के कारण उसकी निवृत्ति अथवा अत्यन्ताभाव आत्मस्वरूप ही है। इसलिये यहां कोई भी अलौकिक बात नहीं है।

पूर्वं भिन्नोऽभिन्नो वा घट इत्याद्युदाहरणेन मुख्यवृत्त्याऽखण्डार्थतायां परसंमतिरुक्ता, तत्र धर्मभेदवादिनोऽसंप्रतिपत्तिं मत्वा तत्संमतोदाहरणेन तामाह-

घटः भिन्नः अभिन्नः इस उदाहरण से मुख्य वृत्ति से अखण्डार्थता में नैय्यायिकों की

सम्मति बताई। अब नैय्यायिक एक देशी जो धर्म हमेशा अपेन धर्मि से भिन्न मानता है। तो उनका मत भिन्न अभिन्न घट के साथ नहीं है। लेकिन उन्हे भी अखण्डार्थ बोध के लिये समझाना जरूरी है। अतः उन्हीं के सम्मत उदाहरण दिया जाता है—

भेदो भिन्नश्चातिरेकोऽतिरिक्तो
भेदोऽभिन्नः संविदः स्वप्रकाशाः
इत्येतस्मिन्विद्यते नार्थभेदो
वेदान्तानामप्यखण्डस्तथार्थः।।२१५।।

अन्वयः= "भेदो भिन्नः अतिरेकोऽतिरिक्तः "भेदोऽभिन्न" संविदः स्वप्रकाशाः" इत्येतस्मिन् अर्थ भेदो न विद्यते, तथा वेदान्तानां अखण्डः अर्थः।।२१५।।

अन्वयार्थः= भेद भिन्न है, अतिरेक अतिरिक्त है, भेद अभिन्न है, संविद् स्वप्रकाश है, आदि स्थलों में अर्थ भेद नहीं। (अपितु एक अखण्डार्थ है) वैसे ही वेदान्त वाक्यों का अखण्डार्थ होता है।

भेदो भिन्न इत्यादिना। एकदेशिनं प्रत्याह— अतिरेकोऽतिरिक्त इति। जीवब्रह्मणो-र्भेदाऽभेदसंपादकः कश्चिद्धर्मोऽतिरेकः। प्राभाकारं प्रत्याह-संविदः स्वप्रकाशा इति। इत्येतस्मिन्नीदृशेऽस्मिन्वाक्य इत्यर्थः। येषां मते भेदो घटादेर्भिद्यते तेषामपि भेदस्य भेदाद्भेदानङ्गीकारात्तत्स्वरूपमेवेति मुख्यार्थयोरपि पदयोरेकार्थत्वम्। एवमतिरेकाद्युदाहरणेऽपि द्रष्टव्यम्। तथा स्वप्रकाशत्वमपि संवित्स्वरूपमेव। तस्य ततो भेदे तेनान्येन वा संबन्धाऽसंभवेनाऽसिद्धिप्रसङ्गः। मानान्तरग्राह्यत्वे च संविदोऽपि तत्प्रसङ्गेन स्वप्रकाशत्वायोगा-दित्यभिप्रेत्य दार्ष्टान्तिकमाह- वेदान्तानामिति।।२१५।।

भेदोभिन्न इति= भेद भिन्न है, अतिरेक अतिरिक्त है। यह एक देशी के लिये कहा है। अब प्रमाकर के लिये कह रहे हैं, जीव ब्रह्म का भेद जो अभेद का संपादक है तो इसके लिये कोई अतिरेक धर्म मानना चाहिये। (अर्थात्) जो जीव और ब्रह्म के भेद को अभेद में परिणत करा देवे। तो प्रभाकर को समझाने के लिये कहा जा रहा है- संविदः स्व प्रकाश इति= संविद् स्वप्रकाश स्वरूप है इस प्रकार के वाक्य में। अब स्पष्ट कर रहे है- जिनके मत से भेद घटादि से भिन्न है, उनके मत में भी भेद को भेद से भिन्न नहीं माना जाता है। किन्तु भेद को भेद से अभिन्न ही माना जाता है। इसी प्रकार मुख्यार्थ वाचक दो पदों के द्वारा भी एकार्थता स्वीकृत की जाती हैं इसी प्रकार से अतिरेकादि उदाहरण में भी ऐसी ही संगती लगा लेनी। अतिरेक अतिरिक्त अतिरिक्त नही है किन्तु अतिरिक्त स्वरूप ही है। इसी प्रकार स्वप्रकाशत्व भी संवित् स्वरूप ही है। यदि संवित् से स्व प्रकाशत्व अलग

मानें तो (भिन्न मानें तो) वह भेद संदित् स्वरूप है कि भिन्न। वह भी भिन्न। उसकी लिये अन्य भेद। अनवस्थादि दोष आ जायेगा। और भेद के साथ अन्य का सम्बन्ध संभव नहीं क्योंकि यह भेद स्वप्रकाशत्व में संभव नहीं है। अतः संविदः स्वप्रकाशः यह उक्ति ही असिद्ध होगी। यदि स्वप्रकाश को किसी अन्य प्रमाणान्तर से ग्राह्य मानेंगे तो संविद् को भी अन्य प्रमाणान्तर से ग्राह्य मानो। फिर तो सविद् में स्वप्रकाशत्व है इसका अपने आप खण्डन हो जाता है। इसलिये इसी अभिप्राय से दार्ष्टान्तिकमें कहते है वेदान्तानामिति= इसी प्रकार वेदान्त में "तत्त्वमसि" तत् और त्वं पदों के द्वारा अखंडार्थ बोध संपन्न हो जाता है।

एवं न्यायबलाल्लोकवादिप्रसिद्धेः सोऽयमित्यादिदृष्टान्तेन च वेदान्तानामखण्डवस्तु-समन्वयं दर्शितमनुवदन्समस्ततीर्थकाराणां संप्रतिपन्नाप्तभावपाणिनिवचनादप्यखण्डार्थत्व-सिद्धेर्वेदान्तेषु तदविरुद्धमित्याशयेनाह–

इस प्रकार न्याय के बल से लौकिक वादियों का प्रसिद्ध दृष्टान्त "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादि दृष्टान्त के माध्यम से वेदान्त का अखण्ड वाक्यार्थ समन्वय बता दिया है। तो भी समस्त तीर्थकार दार्शनिक, विद्वान् तथा आप्तो में श्रेष्ठ पाणिनी जी महाराज इनके भी वचन में अखण्डार्थ बोध सिद्ध होता है। तो वेदान्त में इसका कोई विरोध नहीं है। यह बताते है।

एवं तावदखण्डवस्तुविषयः शब्दान्वयो दर्शितो
लोके दृष्टनयेन पाणिनिवचोऽप्यस्यैव संसूचकम्।।
येनायं स्मरति प्रकृत्यभिहिते वृक्षादिके केवले
तन्मात्रे प्रथमेति सूत्रवचसैवाद्यां विभक्तिं मुनिः।।२१६।।

अन्वयः= एवं लोके दृष्टनयेन तावद् अखण्डवस्तुविषये शब्दान्वयो दर्शितः। पाणिनिवचोऽपि अस्यैव संसूचकः येन अयं मुनिः "तन्मात्रे प्रथमा" इति सूत्रवचसा प्रकृत्यमिहिते केवले वृक्षादि के आद्यां विभक्तिं स्मरति।।

अन्वयार्थः= इसप्रकार लोकिक न्याय के बल पर अखण्ड वस्तु में शब्दान्वय दिखाया गया। पाणिनि आदि वचन भी इसके संसूचक है। क्योंकि यह महामुनि "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (पा० सू० २/३/४६) सूत्र के द्वारा प्रकृत्यर्थ केवल वृक्षादि अर्थो में प्रथमा विभक्ति का विधान करते है।

एवं तावदिति। येन वचसा पाणिनिनाऽखण्डविषयशब्दसमन्वयः सूचितस्तत्सूत्रैकदेशं संक्षिप्य तदर्थकथनपूर्वकमुदाहरति– येनेति। अयं मुनिर्येन सूत्रवचसैव स्मरति तत्पाणिनिवच एवास्य संसूचकमिति संबन्धः। प्रकृत्यभिहिते वृक्षादिपदस्य प्रकृत्यंशाभिहिते। अनेन

प्रातिपदिकार्थेति पदं व्याख्यातम्। केवल इति सौमात्रपदार्थस्योक्तिः ''तन्मात्रे प्रथमा'' इति सूत्रैकदेशोदाहरणम्। आद्यां प्रथमाम् पाणिनिः खलु भगवान् "प्रातिपादिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" इति सूत्रे प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमां विभक्तिं स्मरन्नपर्याययोर्वृक्षादिप्रातिपदिकप्रथमाविभक्त्योरेकार्थत्वं दर्शयति। एतदेव च वाक्यस्याखण्डार्थत्वमिति तत्संमतमिति भावः।।२१६।।

एवं तावदिति= जिस वचन से पाणिनी जी ने अखण्डार्थ विषयक शब्द समन्वय किया है। उस सूत्र के एक देश के एक भाग को लेकर उस एक देश भाग को अर्थ पूर्वक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। येनेति।= पाणिनी जी सूत्र का स्मरण करके ही व्यास आदि मुनि भी अखण्डार्थ बोध का उल्लेख करते हैं। मूल में तो पाणिनिजी है जैसे प्रकृत्यमिहिते प्रकृति से अभिहित वृक्षः पद है। वृक्ष पद प्रकृति अंश को प्रकाशित करता है। क्योंकि वृक्ष जो प्रकृति है वह पद का अंश ही है सुप्तिङ्न्तं पदं" वृक्ष+सु यह पद हुवा उसके एक अंश हुवा वृक्ष। तो वृक्ष पद के अन्दर प्रकृति जो वृक्ष उसकी प्रातिपादकता है। तथा प्रथमा विभक्ति भी उसी का प्रतिपादन करती है। इसी प्रकार प्रातिपादिकार्थ में भी समझ लेना। केवल इति= सूत्र मात्र में बताये हुये पदार्थ की ही उक्ति यहां ली है। तन्मात्रे प्रथमा "यह सूत्र के एक देश का उदाहरण है। आद्यां= प्रथमा विभक्ति को। पाणिनिः वास्तविक भगवान् हैं, सूत्र लिखते हैं। "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण-वचनमात्रे प्रथमा" इस सूत्र से प्रातिपादिकार्थ मात्र का उल्लेख करने के लिये प्रथमा विभक्ति का स्मरण किया है। प्रातिपदिक हुवा वृक्ष, विभक्ति प्रथमा हुई वृक्ष+सु" तो वृक्ष प्रातिपदिक और प्रथमा विभक्ति सु- इन दोनों का अर्थ एक वृक्ष ही हुवा। यही वाक्य का अखण्डार्थ बोध पाणिनी सम्मत है। ऐसा ही अखण्डार्थ बोध वेदान्त को भी मान्य है।

श्रुतितन्मूलन्यायसिद्धं सूचयता भगवता बादरायणेन "तत्तु समन्वयात्" इति सूत्रेण तदिति वेदान्तगम्यत्वेन प्रतिज्ञाते निरतिशयानन्दाद्वये ब्रह्मणि स्वप्रकाशे समन्वयादिति हेतुरुक्तः, तत्र यद्यपि व्यधिकरणान्वयोऽपि लोके वेदे च दृश्यते, तथापि तस्य संबन्धादिनिष्ठतया प्रतिज्ञातब्रह्मनिष्ठत्वासंभवाद् योग्यतया सामानाधिकरण्यान्वय एव तेन विवक्षित इति समन्वयादिति सौत्रोक्तिबलात् वेदान्तानामखण्डे पर्यवसानमित्याह—

श्रुति तथा उसी के आधार को लेकर न्याय से सिद्ध अखण्ड वाक्यार्थ बोध भगवान् बादरायण "तत्तु समन्वयात्" इस सूत्र से "तत् इति वेदान्तगम्यत्वेन प्रतिज्ञा की, बाद में उसी में निरतिशय आनन्दस्वरूप ब्रह्म में स्वप्रकाश का समन्वय करने के लिये समन्वयात् हेतु प्रदर्शित किया। यद्यपि लोक और वेद में व्यधिकरणान्वय भी होता है तथापि वह

व्यधिकरणान्वयराज्ञः पुरुषः सम्बन्धनिष्ठ होने से प्रतिज्ञात ब्रह्मनिष्ठ तो होगा नहीं। इसलिये योग्यता के बलपर सामानाधिकरण्यान्वय ही प्रतिज्ञात ब्रह्म के साथ माना जाता है, इसलिये "समन्वयात्" सूत्र बोला गया। इसी के बल से वेदान्त का अखण्ड बोध में पर्यवसान है, यह बात सिद्ध होती है।

सामानाधिकरण्यमन्वयगिरा हेतुं वदत्यादरात्
तस्यैवाथ विशेषणं समिति च व्यावृत्तये गृह्यते।।
गौणान्मुख्यमयं भिनत्ति भगवान्व्यावर्त्तकेनामुना
नीलेनोत्पलवस्तुवत्स्फुटतरं द्वैविध्यसद्भावतः।।२१७।।

अन्वयः— अयं भगवान् अन्वयगिरा सामानाधिकरण्यं हेतुं वदति। तस्यैव व्यावृत्तये आदरात् "सम्" इति विशेषणं च गृह्यते। द्वैविध्य सद्भावतः नीलेन उत्पलवस्तुवत् गौणात् मुख्यं अनेन व्यावर्त्तकेन स्फुटतरं भिनत्ति।।२१७।।

अन्वयार्थः— हमारे भगवान बादरायण व्यासजी ने (तत्तु समन्वयात् इस सूत्र में) "अन्वय" शब्द से सामानाधिकरण्य को (ब्रह्म की वेदान्त गम्यता में) हेतु बताया है। उस (सामानाधिकरण्य) की व्यावृत्ति करने के लिये आदरार्थक सम् "उपसर्ग" (अन्वय का) विशेषण रखा है। (गौण मुख्य भेद से) दो प्रकार का अन्वय होने से "नील के द्वारा" उत्पल कमल के समान गौण (अन्वय) से मुख्य (अन्वय) को (सम्) व्यावर्त्तक के द्वारा स्पष्टतया व्यावृत्त किया। अर्थात् (गौण सामानाधिकरण्य को हटाने के लिये "सम्" उपसर्ग लगाया है।।२१७।।

सामानाधिकरण्यमिति। अन्वयगिरा समन्वयसूत्र इति शेषः। वदति भगवानित्यनुषङ्गः। आदरादिति तस्य श्रुतिन्यायसूचकत्वं दर्शयति। भवतु तर्हि नीलोत्पलवद् गुणगुणिभावनिष्ठतया मृद्घटवत्कार्यकारणभावनिष्ठतया वा सामानाधिकरण्यमितयाशङ्क्याह— तस्यैवेति। अथेति पूरणार्थे। समिति विशेषणं च गृह्यत इति सम्बन्धः। तत्किं रूपवान्घट इति रूपवत्तेव घटस्यान्वयस्य समितिविशेषणं? नेत्याह- व्यावृत्तय इति। विशेषणस्योत्सर्गतो व्यावृत्त्यर्थत्वात्सम्भवन्त्यां च व्यावृत्तौ रूपवत्ताया इव न स्वरूपमात्रनिष्ठतेति भावः। गृह्यते भगवतेति विपरिणतानुषङ्गः। कुतो व्यावर्त्तयति विशेषणमिति जिज्ञासायां तद्दर्शयन्व्यावृत्तिसंभावनामपि दर्शयति-गौणादिति। अयं भगवान्स्फुटतरं सामानाधिकरण्यद्वै-विध्यस्य सद्भावतो व्यावर्त्तकेनामुना समितिविशेषणेन गौणात्सामानाधिक-रण्यान्मुख्यं नीलेनोत्पलवस्तुवद्भिनत्तीति सम्बन्धः। सूत्रकारो ह्यन्वयस्य समितिविशेषणं प्रयच्छति, तच्च व्यावृत्तिपरमिति गौणात्सामानाधिकरण्यादस्य व्यावृत्तिसिद्धौ मुख्यत्वं सिद्ध्यतीति तद्वाक्यमखण्डपर्यवसायीति वक्ष्यमाणन्यायेन निश्चीयत इति भावः।२१७।।

समानाधिकरण्यमिति= अन्वयगिरा= ततु समन्वयात् इस सूत्र के द्वारा, वदति= भगवान् व्यास जी (बादरायण जी) कह रहे हैं। आदरात्- अर्थात् ततुसमन्वयात् सूत्र के माध्यम से सामानाधिकरण्य अन्वय गिरा जो कही है वह आदर के कारण है क्योंकि श्रुति न्याय सम्मत होने से

शंका= नीलोत्पल के सामन गुणगुणिभावनिष्ठ होकर, अथवा मृद्घटवत् कार्यकारणभाव निष्ठ ही सामानाधिकरण्य माना जाय।

समाधान= तस्यैवेति। अथेति= पादपूर्ण करने के लिये अथ शब्द का प्रयोग किया गया।

समितिविशेषणं च गृह्यते- इति सम्बन्धः= अर्थात् जब विशेषण का प्रयोग किया जाता है तो उसका प्रयोजन होता है कि विशेष्य अर्थ को इतर ये व्यावृत्त करना। तो जैसे रूपवान् घटः इसमें रूप ने घट को इतर से व्यावृत किया, इसी प्रकार से क्या तत्त्वमसि में भी है क्या?

समाधान- नहीं। व्यावृत्तय इति= विशेषणका स्वाभाविक नियम यह है कि इतर से व्यावृत्त करना (हटाना) है। तो रूपवत्ता जो विशेषण है उसका प्रयोजन हुवा व्यावृत्ति, तो रूपवत्ता को स्वरूप निष्ठ घटनिष्ठ परक नहीं माना जाता। लेकिन यहां "तत्त्वमसि" तो आत्मनिष्ठता (ब्रह्ममात्र निष्ठता) विशेषणक विपरीत अभिलषित है।

शंका- विशेषण क्यों व्यावृत्त करता है इस जिज्ञासा के सामधानार्थ कहते हैं समाधान- गौणादिति- दो प्रकार के सामानाधिकरण्य को भगवान् व्यास कहते हैं एक गौण सामानधिकरण्य दूसरा है मुख्य सामानाधिकरण्य। तो भगवान् सूत्रकार स्पष्ट रूप से सामानाधिकरण्य द्वैविध्य का सद्भाव बताने के लिये व्यावर्तक रूप से समिति विशेषण रूप गौण सामानाधिकरण्य उससे भिन्न मुख्य समानाधिकरण्य हैं। "नीलोत्पलम्" यह गौण सामनाधिकरण्य है इससे मुख्य सामानाधिकरण्य भिन्न है। सूत्रकार "ततु समन्वयात्" अन्वय के साथ सम ऐसा विशेषण देते हैं। तो यह अन्वय का समिति विशेषण व्यावृत्यर्थपरक है, उससे भिन्न मुख्य सामानाधिकरण्य है, ऐसा वाक्य अखण्ड पर्यवसायी है यही बात अग्रिम न्यायानुसार सिद्ध करेंगे। (गौण सामानाधिकरण्यव्यावर्तक सम यह बाहुल्य भाव उत्सर्ग, है यह भाव है।)

द्वैविध्यसद्भावमेव दर्शयति-

सामानाधिकरण्य दो प्रकार का है- उसे बताते है-

तद्धि द्विधैकाधिकरण्यमुक्तं
गौणं च मुख्यं च विविच्य सद्भिः।।
संसर्गरूपार्थनिवेशि गौणं
मुख्यं त्वखण्डार्थनिविष्टमाहुः।।२१८।।

अन्वयः—ऐक्याधिकरण्यं गौण च मुख्यं च विविच्य सद्भिः द्विधा उक्तम् संसर्गरूपार्थनिवेशि गौणम्, अखण्डार्थनिविष्टं तु मुख्यम् आहुः।।२१८।।

अन्वयार्थः— वह सामानाधिकरण्य गौण तथा मुख्य रूप से दो प्रकार का विद्वानों ने विभक्त किया है। संसर्गरूप अर्थ विषयक गौण है। और अखण्डार्थ विषयक मुख्य कहा है।।२१७।।

तद्धीति। हिरवधारणे। सद्भिस्तदैकाधिकरण्यं गौणं च मुख्यं चेति द्विधा विविच्य तत्रतत्रोक्तमेवेति सम्बन्धः। गौणमुख्ययोः क्रमेण स्वरूपमाह- संसर्गेति। गुणगुण्यादिसंसर्गरूपेऽर्थे निवेशि तत्पर्यवसायि यत्सामानाधिकरण्यं तद् गौणम्, मुख्यं तु नैवं, किं त्वखण्डार्थनिष्ठमिति सन्त आहुरिति सम्बन्धः।।२१८।।

तद्धि=हि= अवधारणार्थ है। निश्चित रूप से इत्यर्थक हि शब्द है। सज्जनों ने एकाधिकरण्य रूप सामानाधिकरण्य गौण तथा मुख्य रूप से दो प्रकार का विवेचित अनेक जगहों पर किया है। इसमें गौण कौन सा है और मुख्य कौन सा है, तो बताते है संसर्गेति= गुणगुणि, कार्यकारण, आधेय आधारादि संसर्गरूप अर्थ में पर्यवसान पाने वाले सामानाधिकरण्य को गौण सामानाधिकरण्य कहते हैं। बाकी मुख्य सामानाधिकरण्य अखण्डार्थ निष्ठ है इति। आहुः= विद्वान् ऐसा विभाजन करते हैं—

इदानीं मुख्यस्याखण्डे पर्यवसानं दर्शयिष्यंस्तदुभयसाधारणरूपमाह—

अब मुख्य सामानाधिकरण्य अखण्डार्थ में पर्यवसित होता है। यह बताते हुये गौण और मुख्य सामानाधिकरण्य का उभय साधारण स्वरूप बता रहे हैं—

आदाय नानाविधकारणानि
गिरामथैकत्र तु या प्रवृत्तिः।।
तामाहुरैकाधिकरण्यनाम्ना
विपश्चितो वेदशिरःसु विप्राः।।२१९।।

अन्वयः— नानाविधकरणानि आदाय गिरां या तु एकत्र प्रवृत्तिः तां वेदशिरःसुविपश्चितः विप्राः सामानाधिकरण्यनाम्ना आहुः।।२१९।।

अन्वयार्थः= अनेककारण (प्रवृत्तिनिमित्तों को) लेकर प्रवृत्त होने वाले शब्दों की जो एक ही अर्थ में प्रवृत्ति है, उसी को वेदान्त वेत्ता आचार्य सामनाधिकरण्य नाम दिया करते हैं।

आदायेति। कारणानि प्रवृत्तिनिमित्तानि। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकत्रैवार्थे या वृत्तिः तां वेदशिरःसु विपश्चितो विवेकिनो विप्रा ऐकाधिकरण्यनाम्ना आहुरिति सम्बन्धः। अत्र पर्यायपदेषु राज्ञः पुरुषः इत्यादिषु चातिप्रसंगवारणाय भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामेकत्रेति च द्वयमुपात्तम्। तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थनिरूपणं सामानाधिकरण्यायत्तमिति वेदान्तिभिस्तदवश्यं निरूपणीयमिति द्योतयितुं वेदशिरःसु विपश्चित इत्युक्तम्।।२१६।।

आदायेति= कारणानि= प्रवृत्ति निमित्तक। अर्थात् भिन्न भिन्न प्रवृति निमित्तक पदों का (शब्दों का) एकार्थ में जो प्रवृत्ति उसे वेदान्त जगत् के विद्वान् (विवेकी) ऐकाधिकरण्य (सामानाधिकरण्य) नाम से पुकारते हैं। राज्ञः पुरुषः= राजा का पुरुष। इसमें राज्ञः और पुरुषः दोनों शब्द पर्यायवाची है। इन दोनों शब्दों की एक पुरुष रूप अधिकरण में प्रवृत्ति होने से सामानाधिकरण्य लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है उसको हटाने के लिये भिन्न प्रवृत्ति निमित्तक शब्दों का एकत्र (अन्वय) वृत्ति होनी चाहिये। राज्ञः पुरुषः इसमें भिन्न प्रवृत्ति निमित्तक शब्द न होने से लक्षण नहीं गया, अतिव्याप्ति नहीं हुई। क्योंकि जो राजसम्बन्धी है वही पुरुष है। दोनों शब्द पर्यायवाची है। तो समानाधिकरण्य के लक्षण में भिन्न प्रवृत्ति निमित्तकशब्द तथा एकत्र वृत्ति इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। अस्तु। तो प्रकृत में तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थ निरूपण भी सामानाधिकरण्य कोटि में आने के कारण वेदान्त के द्वारा उस वाक्य का निरूपण करना अतिआवश्यक है। इसलिये ऐसे ज्ञानियों को बताने के लिये= विपश्चित- वेदान्त शास्त्र ने ऐसे विद्वानों को विपश्चित शब्द से (विद्वान्) शब्द से पुकारा।

उभयोः क्रमेणोदाहरणमाह—

अब क्रम से गौण सामानाधिकरण्य का तथा मुख्य सामानाधिकरण्य का क्रम से उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

नीलं सुगन्धि महदुत्पलमम्बुशायी-
त्येवंप्रकारमिह गौणमुशन्ति सन्तः।।
सोऽयं पुमानुदशरावगतो विवस्वा-
नाकाशगो रविरसाविति मुख्यमाहुः।।२२०।।

अन्वयः= नीलं सुगन्धि महदुत्पलं अम्बुशायि, इत्येवं प्रकारं इह सन्तः गौणं उशन्ति। "सोऽयं पुमान्"

उदशरावगतो विवस्वान् "आकाशगो रविः" इति मुख्यमाहुः।

अन्वयार्थः= नीलं सुगन्धि महदुत्पलं अम्बुशायि इस प्रकार के सामानाधिकरण्य को यहां विद्वान् गौण मानते हैं और "सोऽयं पुमान्" उदशरावगतो विवस्वान् आकाशगो रविः" इसे मुख्य कहते हैं।

नीलमित्यादिना। उत्पलमिति विशेष्यमुक्तम्। उदशरावगतः जलभाजने प्रतिबिम्बितो विवस्वानाकाशगोऽसौ रविरिति सामानाधिकरण्यं मुख्यमाहुः। विम्बप्रतिबिम्बयोरेकरसत्वादित्यर्थः।।२२०।।

नीलमिति= इसमें नील विशेषण है और उत्पल विशेष्य है। इसे तो गौण सामानाधिकरण्य कहते हैं। और जल से भरे हुये पात्र में सूर्य के प्रतिबिम्ब को देखकर बोलता है कि जल से परिपूर्ण पात्र में यह प्रतिबिम्बित सूर्य (विवस्वान्) है। अथवा "आकाशगोऽसौ रविरिति" आकाश में गतिशील यह सूर्य (है) यहां जो सामान्यधिकरण्य है। वह मुख्य है। पहिले उदाहरण में प्रतिबिम्ब शब्द की वृत्ति सूर्य में रही और सूर्य शब्द की वृत्ति भी सूर्य में रही "भिन्न प्रवृत्ति" इसी प्रकार से "आकाशगामि शब्द की वृत्ति तथा रवि शब्द की वृत्ति रवि रूप सूर्य रूप अखण्डार्थ में होने में मुख्य सामानाधिकरण्य है।

अस्त्वेवं तद्द्वैविध्यं कथमेतावता मुख्यसामानाधिकरण्यस्याखण्डपर्यवसानं तत्राह—

शंका= दो प्रकार का सामानाधिकरण्य मान भी लिया लेकिन मुख्य सामानाधिकरण्य का अखण्डार्थ में पर्यवसान है, इसमें क्या कारण है। बताते हैं—

एकत्र वृत्तिरिति लक्षणमत्र मुख्यं
संसर्गवस्तुनि पुनर्न हि तद् घटेत।।
नानारसे हि विषये वचनां प्रवृत्ति-
र्नीलं सुगन्धि महदुत्पलमित्यमीषाम्।।२२१।।

अन्वयः= एकत्र वृत्तिरिति लक्षणं अत्र मुख्यम्। संसर्गवस्तुनि पुनः तत् न हि घटेत। नीलं सुगन्धि महदुत्पलम् इत्यमीषां वचसां हि नानारसे विषये प्रवृत्तिः।।२२१।।

अन्वयार्थः= "एकत्रैवार्थे वृत्तिः" यह लक्षण यहां (सोऽयं पुमान् अदि वाक्यों में) मुख्य है। संसर्ग वस्तु में वह मुख्यतया नहीं घटता, "नीलं सुगन्धि महदुत्पलम्" आदि वाक्यस्थ पदों की (एकरस वस्तु में प्रवृत्ति नहीं होती) अपितु नानारस (भिन्न) वस्तु (अर्थात् नाना विशेषणों से युक्त सखण्ड वस्तु) में प्रवृत्ति होती है।।२२१।।

एकत्रेति। लक्षणं लक्षणांशः। अत्र- अखण्डे। अखण्डे हि वस्तुनि पर्यवसन्नानामपर्यायपदानामेकत्र वृत्तित्वं मुख्यमनुपचरितम्। नीलोत्पलादिविशिष्टवस्तुनि पुनस्तन्मुख्यमेकनिष्ठत्वं

न हि घटेत। तत्र लोकप्रसिद्धिमेव हेतुमाह-नानारसेति। अमीषां वचसां नानारसे विषये प्रवृत्तिः प्रसिद्धेति संबन्धः।।२२१।।

एकत्रेति= मुख्य सामानाधिकरण्य अखण्डार्थ पर्यवसायी है। अत्र= अखण्डार्थ में। यदि मुख्य सामानाधिकरण्य का अखण्डार्थ में पर्यवसान न मानें तो अपर्यायवाची पदों की एकत्र वृत्ति मुख्यरूप से उपचरित नहीं होगी। तो परिणाम यह होगा कि "नीलोत्पलम्" नीलंसुगन्धि महदुत्पलमिति इत्यादि विशिष्ट वस्तु में मुख्य रूप से एकत्र वृत्ति नहीं होगी। इसलिये मुख्य सामानाधिकरण्य की प्रवृत्ति अखण्डार्थबोधपरक है। उसका अन्तर्भाव संसर्गावगाहि बोधपरक हो नहीं सकता। नानारसे= मुख्य सामानाधिकरण्य का उदाहरण बता रहे हैं– नानारसे हि विषये= अपर्याय वाचि अनेक शब्दों के एकार्थ में (प्रवृत्ति) वृत्ति को अखण्डार्थ बोध परक मानते हैं। नीलं सुगन्धि महदुत्पलंमिति। नीलं सुगन्धीयुक्त महान् यह कमल है। यहां सभी शब्द मुख्य रूप से उत्पल (कमल में) वृत्तिभाव को प्राप्त हो जाते हैं। यहां मुख्य सामानाधिकरण्य है। अतः अखण्डार्थ बोध परक यह वाक्य है।

इदानीमेकत्र वृत्तिरित्येतद्व्यावर्त्त्यव्यधिकरणान्वयस्वरूपमाह–

अभी तक एकत्र वृत्ति होना यह सामानाधिकरण्य का स्वरूप बता दिया है। अब व्यधिकरणान्वय का स्वरूप भी बता रहे हैं–

नानाविधैर्बहुभिरेव निमित्तभेदै-
भिन्नेषु वस्तुषु गिरामथ या प्रवृत्तिः।।
सर्वत्र वैयधिकरण्यमिति प्रसिद्धा
सा शब्दवृत्तिकुशलव्यवहारभूमौ।।२२२।।

अन्वयः= अथ नानाविधैः बहुभिरेव निमित्तभेदैः भिन्नेषु वस्तुषु या गिरां प्रवृत्तिः सा शब्दवृत्तिकुशलव्यवहार–भूमौ सर्वत्र वैयधिकरण्यमिति प्रसिद्धा।।२२२।।

अन्वयार्थः= विविध अनेक निमित्तों को लेकर विभिन्न पदार्थों में जो पदों की वृत्ति है। वह शब्द वृत्ति के पण्डितगण की व्यवहार भूमि में सर्वत्र वैयधिकरण्य नाम से प्रसिद्ध है।।२२२।।

नानाविधैरिति। अत्र बहुत्वमविवक्षितं द्वयोरपि तद्दर्शनात्। निमित्तभेदैः स्वस्वार्थे प्रवर्त्तमानानामिति शेषः। तासां भिन्नेषु गुणप्रधानभूतानेकपदार्थेषु, तन्निरूपितार्थेष्विति यावत्। तत्र या वृत्तिः सा वैयधिकरण्यमित्यन्वयः। सामानाधिकरण्यव्यावृत्तये भिन्नेष्विति।

अत्यन्तभिन्नैष्वित्यर्थः। नानाव्यक्तिनिष्ठपर्यायव्यावृत्तये निमित्तभेदैरिति। शेषं स्वरूपकथनम्। शब्दवृत्तीति। शब्द वृत्ति-विवेचने ये कुशलास्तेषां व्यवहारस्थल इत्यर्थः।।२२२।।

नानाविधैरिति= जहां बहुत्व की विवक्षा नहीं है ऐसा गौण सामानाधिकरण्य तथा मुख्य सामानाधिकरण्य दोनों बता दिये हैं। निमित्त भेदै= अपने अपने अर्थ में प्रवर्त्त जो शब्द। उन शब्दों की विभिन्न गुण प्रधान भूत अर्थों के प्रतिपादन में शक्ति है, तो ऐसे विभिन्नार्थों में जो शब्दों की वृत्ति है उसे वैयधिकरण्य नाम से पुकारते हैं। घटादिनां कपालादौ द्रव्येषु गुण कर्मणोः। तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः। प्रकीर्तितः सामानाधिकरण्य के व्यावृत्तिके लिये भिन्नेषु वस्तुषु ऐसा शब्द प्रयोग किया। अर्थात् अत्यन्त भिन्न अर्थवाचीशब्दों की वृत्ति वैयधिकरण्य कहलाती है। नाना व्यक्ति निष्ठ एक ही शब्द पर्यवसित होता है, उसके व्यावृत्ति के लिये निमित्त भेद यह पद श्लोक में दिया। अर्थात् जैसे पानी शब्द है उसका अर्थ हाथ, जल, इज्जत, सम्मान, शौर्य, कान्ति, ऐसे अनेक अर्थ होते हैं। निमित्त भेद होने से ऐसे शब्दों की व्यावृत्ति हो जाती है। शब्दवृत्तीति= शब्द वृत्ति के विवेचन में कुशल लोग ऐसा विवेचन करते हैं।

इदानीं नानाविधकारणानीत्येतद्व्यावर्त्यपर्यायस्वरूपमाह—

अब नाना प्रकार के कारणों का विचार छोडकर पर्याय का स्वरूप बता रहे हैं—

अभिन्नहेतुर्विषये समाने
विभिन्नवाचामथ या प्रवृत्तिः।।
पर्यायनाम्नाऽभिवदन्ति धीराः
प्रवृत्तिमेतां वचसां बहूनाम्।।२२३।।

अन्वयः= अथ विभिन्नवाचां समाने विषये या अभिन्नहेतुः प्रवृत्तिः एतां बहुनां वचसां प्रवृत्तिं पर्यायनाम्ना धीराः अभिवदन्ति।।२२३।।

अन्वयार्थः= विभिन्न पदों की एक ही अर्थ में जो एक प्रवृत्ति निमित्तक वृत्ति है, इस अनेक पदों की प्रवृत्ति को पर्याय नाम से विद्वान् पुकारा करते हैं।

अभिन्नहेतुरिति। एकप्रवृत्तिनिमित्तेत्यर्थः। समाने एकस्मिन्नभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः पर्यायता इत्यर्थः।।२२३।।

अभिन्नहेतुरिति= एक प्रवृत्तिनिमित्तक इत्यर्थः।। अर्थात् एक ही अर्थ में प्रवृत्ति है जिन शब्दों की उसे पर्यायवाची शब्द कहते हैं। अर्थात् समान रूप से अभिन्न रूप से एक

ही अर्थ में प्रवृत्ति निमित्तक शब्द के वृत्ति को पर्यायवाची कहते हैं।

व्यधिकरणान्वयपर्याययोः क्रमेणोदाहरणमाह—

अब व्यधिकरणान्वय तदा पर्यायअन्वय का उदाहरण बताते हैं—

कुड्यं गृहस्य सरसोऽम्बुजमस्य वस्त्र-
मित्यत्र वैयधिकरण्यमिति प्रसिद्धम्।।
एवं मुखं वदनमाननमित्यमीषां
पर्यायताऽपि विदितैव पुरोक्तहेतोः।।२२४।।

अन्वयः= गृहस्य कुड्यम् "सरसोऽम्बुजम्" अस्य वस्त्रम् इत्यत्र, वैयधिकण्यमिति प्रसिद्धम्। मृवं मुखं वदनमाननम् "इत्यमीषां पूर्वोक्तहेतोः पर्यायताऽपि विदितैव"।।२२४।।

अन्वयार्थः= घर की दीवार, तालाब का कमल, इसका वस्त्र, आदि स्थलों पर वैयधिकरण्य अन्वय प्रसिद्ध है। इसी प्रकार मुख वदन आनन, आदि पदों में पूर्वोक्त हेतु (अभिन्न हेतु) से पर्यायता भी विदित ही है।।२२४।।

कुड्यमित्यादिना। अस्य देवदत्तादेः। पुरोक्तहेतोः "निमित्तभेदैः" "अभिन्नहेतु" इत्यत्र चोक्तहेतोः।।२२४।।

कुड्यं गृहस्य= धर की दीवारें, तालाब के कमल, इसके वस्त्र है, इस प्रयोग में वैयधिकरण्य ही है। एकाधिकरण में विभिन्न पदों की शक्ति नहीं रह पा रही है। इसके विपरीत पर्याय में मुख आनम्=मुख चेहरा, आनन इत्यादि इसमें अभिन्न हेतु है। और वैयाधिकरण्य में निमित्तभेद हेतु है। इति।।

एवं लोकप्रसिद्धान्वयस्वरूपभेदमुक्त्वा इदानीं तत्त्वमसीतिवाक्ये अन्येषामसंभवान्मुख्यमेव सामानाधिकरण्यमखण्डनिष्ठं सिद्ध्यतीत्याह—

इस प्रकार सामनाधिकरण्य तथा व्यधिकरण्य का स्वरूप बता दिया है। अब तत्त्वमसि महावाक्य में गौण सामानाधिकरण, विशेषभावतया व्यधिकरणान्वय सम्भव न होने से मुख्य सामानाधिरण्य को अपनाना जरूरी है। यह समझा रहे हैं—

पर्यायता न खलु तत्त्वमसीति वाक्ये
नापीह संभवति भेदकभेद्यभावः।।
तत्त्वंपदार्थगतमेकरसैकभागं

तत्त्वंपदे समुपलक्षयतो विरोधात्।।२२५।।

अन्वयः= तत्त्वमसीति वाक्ये न खलु पर्यायता सम्भवति, नापि इह भेदकभेद्यभावः, तत्त्वम्पदे तत्त्वम्पदार्थगतम् एकरसम् उपलक्षयतो विरोधात्।।२२५।।

अन्वयार्थः= तत्त्वमसि वाक्य में न तो पर्यायता सम्भव है, और न विशेष्य विशेषण भाव वैयधिकरण्य भी सम्भव है। क्योंकि तत् और त्वं इन दोनों पदों की अखण्डार्थकत्व में लक्षणा मानने वाले के दृष्टि से विरोध ही होता है।।२२५।।

पर्यायतेति। न संभवतीत्यनुषङ्गः। तत्त्वमसीति सत्यादेरुपलक्षणम्, प्रवृत्तिनिमित्तभेदादिति शेषः। पर्यायत्वे सहप्रयोगायोगाच्च। तदुक्तम् "पर्यायाणां प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते" इति। भेदकभेद्यभावः कुड्यं गृहस्य नीलमुत्पलमित्यादाविव तदर्थयोर्विशेषणविशेष्यभावोऽपि न संभवति तस्य तत्र बाधितत्वान्मुख्यार्थयोर्विरोधादित्यर्थः। अविरोधादिति वा तदर्थमित्यर्थः। अतोऽबाधितं मुख्यमेव सामानाधिकरण्यं तत्र समन्वयो भवतीति तदखण्डार्थमिति। फमितमाह— तत्त्वंपदार्थगतमिति। एकरसश्चासावेकभागस्तं चिदेकरसमित्यर्थः।।२२५।।

पर्यायतेति= तत्त्वमसि महावाक्य में पर्यायता संभव नहीं है। तत्त्वमसिवाक्य उपलक्षण है इससे सत्यज्ञानमित्यादि वाक्यों के लिये भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि तत्त्वमसि महावाक्य में प्रवृत्तिनिमित्त का भेद है। यदि तत् और त्वं दोनों पद पर्यायवाची होवें तो उनका सह प्रयोग एक साथ में नहीं होता। जैसे कोई भी व्यक्ति जल, पाणी ऐसा एक साथ नहीं कहता है इसीलिये कहा है "पर्यायाणां प्रयोगो हि योगपद्येन नेष्यते" पर्यायवाची शब्दों का एक साथ प्रयोग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार से भेदकभेद्य भाव जैसे कुड्यं (देवदत्तस्य) गृहस्य= घर की दीवार, इसी प्रकार से नीलमुत्पलम् के समान विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध की संभव नहीं है। क्योंकि तत्त्वमसि महावाक्य में ये दोनों भी सम्भव नहीं है। तत्त्वमसि इन दोनों पदों के द्वारा अविरोधी अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है। इसलिये अबाधित मुख्य सामनाधिकरण्य ही तत्त्वमसि महावाक्य में माना जाता है जिससे अखण्डार्थ बोध ही सम्भव होता है।

फलितार्थ बता रहे हैं— तत्त्वं पदार्थगतमिति- एक रस= एक भागः तम्= चिदेकरस रूप एक भाग में दोनों पद पर्यवसित होकर अखण्डार्थ बोध परक संपन्न होते हैं।

एवं महावाक्यस्याखण्डे वृत्तिं, तत्र दृष्टान्ततया सोऽयमिति वाक्येऽपि लोके तां दर्शयित्वा इदानीं ब्रह्मलक्षणसत्यादिवाक्यस्याखण्डार्थत्वोदाहरणे प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति चन्द्रलक्षणवाक्येप्यखण्डार्थतां दर्शयन्दार्ष्टान्तिकेऽपि न्यायसिद्धां तामनुवदति—

इस प्रकार महावाक्य की अखण्डार्थ में वृत्ति बताने के बाद इस प्रसंग में दृष्टान्त के द्वारा जैसे "सोऽमिति" सोऽयं देवदत्तः इस लौकिक वाक्य में भी अखण्डार्थ को बता दिया, अब ब्रह्म का स्वरूपलक्षण जैसे "सत्यंज्ञानन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य भी अखण्डार्थ बोधपरक है इसके लिये लौकिक उदाहरण है- "प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रःइति- इस चन्द्र के लक्षण वाक्य में अखण्डार्थ बोध बताने के बाद- दार्ष्टान्त में भी उसे न्यायसंगत अनुवादित कर रहे हैं–

प्रकृष्टप्रकाशध्वनी व्यक्तिमेकां
यथा लक्षणावर्त्मनोपक्षिपेताम्।।
शशाङ्कादिशब्दार्थसंकीर्तने स-
च्चिदानन्दशब्दाः परं ब्रह्म तद्वत्।।२२६।।

अन्वयः= यथा शशाङ्कादि शब्दार्थसंकीर्तने प्रकृष्टप्रकाशध्वनी लक्षणावर्त्मना एका व्यक्तिम् उपक्षिपेताम्। तद्वत् सच्चिदानन्दशब्दाः परंब्रह्म।।२२६।।

अन्वयार्थः= जैसे चन्द्रमा रूप अर्थ के प्रतिपादन में "प्रकृष्ट और प्रकाश" दोनों शब्द लक्षणा के द्वारा एक चन्द्र का व्यक्ति का प्रतिपादन करते हैं। वैसे ही सत् चित् आनन्दादिशब्द भी एक परब्रह्म के बोधक है।।२२६।।

प्रकृष्टप्रकाशध्वनी इति। ध्वनी शब्दौ। व्यक्तिं चन्द्रव्यक्तिम्। उपक्षिपेतां प्रतिपादयतः। ननु किमिति प्रकृष्टप्रकाशशब्दयोश्चन्द्रे स्वार्थसंसर्गमविरुद्धं विहाय लक्षणया तत्स्वरूप-बोधकत्वं मुख्ये संभवति लक्षणाया अन्याय्यत्वादिति तत्राह-शशाङ्कादीति आदिति गवादिशब्दं दर्शयति, संकीर्तने उद्देश्य इति शेषः। वक्ष्यमाणरीत्या शशाङ्कादिशब्दार्थसंकीर्तनं ह्यनेन वाक्येन क्रियते, प्रकृष्टप्रकाशादिवैशिष्ट्यं च न तदर्थस्वरूपमिति तद्विहाय विवक्षितशशाङ्करूपमेव पदद्वयं लक्षणया प्रतिपादयतीत्यर्थः। तद्वत्- प्रकृष्टादिशब्दवल्लक्षयतीत्यर्थः।।२२६।।

प्रकृष्टप्रकाशध्वनी इति= ध्वनी, शब्दौ शब्द। व्यक्तिं= चन्द्रव्यक्तिका। उपक्षिपेतां= प्रतिपादित करना। चन्द्रमा के अन्दर प्रकृष्ट प्रकाश है, ऐसे ये दो शब्द प्रकृष्ट और प्रकाश प्रयुक्त किये गये हैं। दोनों ही शब्द एक चन्द्र व्यक्ति में ही निष्ठ है। अतः अखण्डार्थ बोधपरत्व इस वाक्य में है।

प्रश्न= प्रकृष्ट प्रकाश शब्दों की चन्द्ररूप अर्थ में संसर्ग (सम्बन्ध) अविरुद्ध ही है। तो फिर इन पदों की लक्षणा मानकर चन्द्रमा के स्वरूप का बोध कराने की क्या आवश्यकता है? मुख्य वृत्ति से ही यदि काम चलता हो तो लक्षणा मानने की क्या जरूरत है?

समाधान= शशाङ्कादि इति= आदि पद से गवादिक का भी ग्रहण कर लेना संकीर्तने= उद्देश्य इति।। आगे बतायेंगे कि= शशाङ्क= चन्द्रमा रूप शब्दार्थरूप संकीर्तन यहां अभीष्ट है जैसे विष्णु सहस्त्र नामादिक से विष्णु का भी संकीर्तन किया जाता है वैसे यहां भी प्रकृष्ट प्रकाश शब्द से भी शशाङ्कादिस्वरूप को छोडकर नहीं है। इसी अभिप्राय को लेकर इन दोनों पदों में लक्षणा ही करनी पडेगी। इसीप्रकार तद्वत्=। सच्चिदानन्द शब्द भी एक ब्रह्म का ही निरुपण विभिन्न पदों के माध्यम से लक्षणावृत्ति के द्वारा करते हैं। यही अखण्डार्थ बोध है।

ननु संभवन्मुख्यार्थप्रयोगस्यापि लक्षणयाऽखण्डार्थत्वे नीलोत्पलादिवाक्यस्यापि तत्किमिति न भवेदित्याशङ्क्याह—

शंका= मुख्य सामानाधिकरण्य की लक्षणा के भी द्वारा अखण्डार्थ बोध परकता स्वीकृत है तो गौण सामनाधिकरण्य की भी लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ बोध परकता मानकर "नीलोत्पलमित्यादि" वाक्य की भी ऐसी संगति लगाये।

न नीलोत्पलाद्याः गिरो व्यक्तिनिष्ठा'
स्ववाच्यार्थसंसर्गमात्राभिधानात्।।
विरोधे हि वाच्यच्युतिर्नाविरोधे
गिरां लक्षणाऽत्रापि चेदस्तु साम्यम्।।२२७।।

अन्वयः= नीलोत्पलाद्याः गिरः व्यक्तिनिष्ठाः न, स्वावाच्यार्थसंसर्गमात्राभिधानात् गिरां विरोधे हि वाच्यच्युतिः, नाविरोधे। चेत् अत्रापि लक्षणा, साम्यम् अस्तु।।२२७।।

अन्वयार्थः= "नीलमुत्पलम्" आदि (वाक्यस्थ नीलादि) पद किसी एक व्यक्ति को बोध कराने में प्रवृत्त नहीं है। क्योंकि अपने वाच्य अर्थों के संसर्ग मात्र का अभिधान करते हैं। पदों (के वाच्य में भेद) विरोध होने पर ही उनके वाक्यार्थ का परित्याग होता है, वरना नहीं। यदि यहां भी लक्षणा अभीष्ट है, तब तो प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्यों का साम्य ही यहां माना जा सकता है।।२२७।।

न नीलोत्पलाद्या इति। कुतस्तत्राह-स्ववाच्येति। तत्र गुणगुण्यादिसंसर्गमात्रस्यैव ताभ्याम- भिधानादित्यर्थः। ननु तदेव कुतः प्रकृष्टप्रकाशपदयोरिव तयोरपि द्रव्यमात्रनिष्ठतैव किं न स्यात्तत्राह'विरोधे हीति। मुख्यार्थानां गिरां तात्पर्यविषयीभूतार्थबाधे मुख्यार्थच्युतिर्नाविरोधेऽपि। यद्यविरोधेऽपि तत्र लक्षणाऽभ्युपगम्येत तर्हि नीलोत्पलादेरपि प्रकृष्टप्रकाशादि-साम्यमस्तु किं नश्छिन्नमित्याह-लक्षणेति।।२२७।।

न नीलोपलाद्या इति= नीलोत्पलादि शब्द गुणगुण्यादि संसर्ग के वाचक ही हैं क्योंकि

नील और उत्पल इन दोनों पदों से (शब्दों से) इसी का अभिधान हुवा है। ऐसा ही क्यों? तो स्ववाच्येति=

शंका= इन शब्दों को गुणगुण्यादि संसर्ग परक न माना जाय किन्तु द्रव्यपरक ही माना जाय।

समाधान– विरोधे हीति= पदों के द्वारा जब तात्पर्य विषयीभूत अर्थ का बाध हो जाता है तो मुख्यार्थ सम्भव न ही होता है। और तात्पर्य विषयीभूत अर्थ का बाध नहीं होता है तो मुख्यार्थ हो जाता है अर्थात् जहां अर्थ का विरोध हो वहां बाध हो जाता है। जहां एक ही अर्थ हो। अर्थ में विरोध नहीं हो वहां बाध नहीं होता है। तो सुतरां अखण्डार्थ बोध हो जाता है। तो बात यह है कि प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्र यहां मुख्यार्थ का बाध हो जाने से लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ बोध सम्भव हो जाता है लेकिन "नीलोत्पलम्" इत्यादि स्थान में मुख्यार्थ का विरोध तो है नहीं इसलिये यहां लक्षणा की जरूरत भी नहीं है। यदि आप पूर्वपक्षी यह कहे कि अविरोध होने पर भी लक्षणा माननी है तो मानो, और जैसे प्रकृष्ट प्रकाशः प्रयोग है वैसा ही नीलोत्पलम् यह प्रयोग भी खुशी से करते रहो। इसी लिये कहा-लक्षणेति"

तत्र साम्यमेवोपपादयति–

अब इन दोनों उदाहरणों की साम्यता बता रहे हैं–

न नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तितः स्याद्
विभिन्नोत्पलत्वाश्रयव्यक्तिरेषा।।
तथैवोत्पलत्वाश्रयव्यक्तितः स्या-
न्न नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तिरन्या।।२२८।।

अन्वयः= नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तितः एषा उत्पलत्वाश्रयव्यक्तिः विभिन्ना न, तथैव उत्पलत्वाश्रयव्यक्तितः नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तिः अन्या न।।२२८।।

अन्वयार्थः= नीलत्व जाति की आश्रयभूत वस्तु से यह उत्पलत्व जाति का आश्रय वस्तु भिन्न नहीं है। वैसे ही उपलत्वजाति का आश्रयभूतवस्तु से नीलत्वाश्रय वस्तु भी अन्य नहीं है।

न नीलत्वेति। उत्पलत्वस्याश्रय-आश्रयत्वं यस्यां सा तथोक्ता, न विभिन्ना स्यादिति संबन्धः। एवं द्रव्यस्यापि गुणादभेदमाह– तथैवेति। गुणगुणिनोरभेदादित्यर्थः। नीलत्वोत्पलत्वादि-जातिवाचकशब्दाभ्यां लक्षितव्यक्त्योरभेदात्तदप्यखण्डार्थमस्त्विति प्रौढ्याऽभ्युपगमः।।२२८।।

न नीलत्वेति जात्याश्रयेति= उत्पलत्वाश्रयतः= उत्पलव्यक्तिनिष्ठ आश्रयत्व है। द्रव्य और गुण दोनों का अभेद भाव ही है, इस भाव से कहा जा रहा है। तदैवेति– गुण और गुणि दोनों का अभेद है। अर्थात् नीलत्वजाति आश्रय नील (उत्पल), उत्पलत्वजाति आश्रय उत्पल व्यक्ति दोनों एक ही है। क्योंकि दोनों शब्दों से लक्षणा के द्वारा एक ही व्यक्ति की उत्पल की अखण्डार्थ बोध की उपस्थिति हो जाती है, यह भाव है। यह प्रौढिवाद को लेकर कहा गया है।

एवं नीलोत्पलवाक्ये लक्षणामखण्डार्थत्वं चाभ्युपेत्योक्त्वा इदानीं तदुभयं परित्यजति–

इस प्रकार नीलमुत्पलमिति इस वाक्य में अखण्डार्थ बोधकत्व बताने के बाद अब अखण्डार्थ बोधत्व तथा लक्षणा दोनों का ही इस वाक्य में खण्डन कर रहे हैं–

न नीलोत्पलादिप्रदेशेषु किंचिद्
गिरां लक्षणाकारणं तेन तत्र।।
न नीलोत्पलत्वादिकव्यक्तिनिष्ठा।
गिरस्ता भवेयुः प्रमाणादृते नः।।२२६।।

अन्वयः= नीलोत्पलादिप्रेदशेषु गिरां लक्षणाकरणं किञ्चित् न, तेन प्रमाणात् ऋते गिरः नीलोत्पलत्वादिकव्यक्तिनिष्ठाः नः न भवेयुः।।२२६।।

अन्वयार्थः= नीलोत्पलादि वाक्य के नीलादि पदों में लक्षणा का कोई निमित्त नहीं। बिना किसी प्रमाण (निमित्त) के नीलादि पद नीलत्वादि जाति की आश्रयीभूत व्यक्ति के बोधक नहीं हो सकते।।२२६।।

न नीलोत्पलादीतिद्वयेन। "इदमुपेत्य किमप्युदितम्" इत्युत्तरश्लोकस्थमत्रादौ द्रष्टव्यम्। लक्षणाया अपि तत्राभ्युपगमेनोक्ताया अत्र परित्यागात्। प्रदेशेषु वाक्येषु नीलोत्पलाद्यर्थेषु वा लक्षणाकारणं किमपि नेति संबन्धः। न तावदन्वयानुपपत्तिस्तत्रास्ति निमित्तं, तदन्वयस्य सत्त्वात्, नापि तात्पर्यानुपपत्तिः गुणगुणित्वसंसर्गस्यैव तत्राभिप्रेतत्वात्। नचान्यल्लक्षणानिमित्तं प्रसिद्धमस्ति निर्बीजलक्षणायां चातिप्रसङ्ग इत्याशयेनाह तेन तत्रेत्यादिन। नो मते नीलोत्पलत्वादिजातेर्या व्यक्तिस्तन्निष्ठास्ता गिरो न भवेयुः, प्रमाणाभावादित्यर्थः।।२२६।।

न नीलोत्पलादीति द्वयेन= "इदमुपेत्य किमप्युदितम्" यह अग्रिम श्लोक के अन्तर्गत अर्थ का अनुसन्धान पहिले कर लेना। अर्थात् यदि नीलोत्पलम्" इस वाक्य में लक्षणा भी मान ली जाय तो भी अखण्डार्थ बोध इस वाक्य से सम्भव नहीं हो पायेगा। पहिली तो बात यह है कि प्रदेशेषु- वाक्य के अन्दर "नीलोत्पलमिति" इसमें लक्षणा करने के लिये कोई

भी कारण दिखाई नहीं देता है। क्योंकि लक्षणा के दो ही कारण है अन्वयानुपपत्तिः अथवा तात्पर्यानुपपत्तिः= इस वाक्य में दोनों ही सम्भव होने से लक्षणा मानने की आवश्यकता ही नहीं हे। क्योंकि गुण गुणि का संसर्ग दोनों के द्वारा अन्वय के द्वारा तथा तात्पर्य के द्वारा सुगम ही है। इन दोनों कारणों के अतिरिक्त लक्षणा का तीसरा कारण तो है नहीं। यदि बिना कारण की ही लक्षणा माननी है, तो अतिप्रसङ्ग होता। इसलिये कहा— तत्र तत्रेत्यादिना— हमारे वेदान्त मत में नीलत्व उत्पलत्व आदि जातियां नहीं मानी जाती है और नही जातिपरक शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। क्योंकि जाति में कोई प्रमाण नहीं है।

शंका— नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्व ही जाति का लक्षण है=

समाधान— हमारे यहां एक ब्रह्म के अतिरिक्त सब अनित्य होने से यह लक्षण सम्भव नहीं है- इत्यादि।

लक्षणायामपि तस्य वाक्यस्य नाखण्डार्थता लक्ष्यव्यक्त्योरेकरसत्वाभादित्याह—

लक्षणा के द्वारा भी नीलमुत्पलम् स्थल में अखण्डार्थ सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि लक्ष्य व्यक्ति एक रसपरक नहीं है। यह समझा रहे हैं—

इदमुपेत्य किमप्युदितं मया
नतु तयोरभिदा परमार्थतः।।
गुणगुणित्वकृतोऽतिशयस्तयो-
र्भवति लक्षणयाऽपि गृहीतयोः।।२३०।।

अन्वयः= इदमुपेत्य किमपि मया उदितम्, परमार्थतः तु तयोः अभिदा न, लक्षणया गृहीतयोः तयोः अपि गुणगुणित्वकृतः अतिशयः भवति।।२३०।।

अन्वयार्थः= इस बात को मानकर मैंने कुछ अनभिमत भी कह दिया है। वस्तुतः उन दोनों नील और उत्पल (कमल) व्यक्तियों का अभेद नहीं है। क्योंकि लक्षणा के द्वारा प्राप्त उन (नील और उत्पल व्यक्तियों) का गुणगुणित्व प्रयुक्त कुछ ना कुछ भेद तो होता ही है।।२३०।।

इदमुपेत्येति। किमपि अनभिप्रेतमपि। तयोः नीलोत्पलव्यक्त्योः। अभिदा परमार्थतोऽत्यन्तमभेदस्तस्यैव परमार्थत्वादित्यर्थः। कुतो नाभिदा तत्राह-गुणगुणित्वेति। अतिशय इषद्भेदः। अत्यन्ताभेदे गुणगुणित्वायोगान्नैल्योत्पलयोश्च गुणगुणित्वेन प्रसिद्धत्वादत्यन्तभेदाभावेऽपीषद्भेदोऽस्तीति न तदखण्डार्थमित्यर्थः।।२३०।।

इदमुपेत्येति= लक्षणा को स्वीकार करने के बाद भी, किमपि= अखण्डार्थ बोध सम्भव

नहीं है। तयोः= नीलम् उत्पलम् इन शब्दों से। क्योंकि न तु तयोरभिदा परमार्थतः= वास्तविक रूप से उनका गुण गुणी का अभेद संभव नहीं। इसमें कारण है- गुणगुणित्व कृतो= अतिशयः— ईषद्भेद है। गुण और गुणी का अत्यन्त अभेद सम्भव नहीं होता है किन्तु थोडा सा दोनों में भेद रहता ही है। यद्यपि इनका ऊंट ओर घोड़े जैसे अन्यन्त भेद भी नहीं है लेकिन अत्यन्त अभेद भी नहीं है। अतः थोडा सा भेद मानना ही पडता है, इस कारण दोनों के द्वारा अखण्डार्थ बोध सम्भव नहीं है।

तर्हि तद्वदेव प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यमपि चन्द्रेऽबाधितस्वार्थसंसर्गपरमस्त्वित्याशङ्क्याह—

शंका= यदि नीलमुत्पलम् इस वाक्य में यह व्यवस्था है इसी प्रकार प्रकृष्ट प्रकाश इस वाक्य में भी चन्द्र में ऐसी ही अबाधित वाक्यार्थ व्यवस्था रहने दो। अखण्डार्थ बोध वहां भी न माना जाय। किन्तु अबाधित स्वार्थ संसर्ग परक इन वाक्यों को माना जाय।

प्रकृष्टप्रकाशत्वजाती हि लोके
प्रकृष्टप्रकाशाभिधानाभिधेये।।
तयोरन्वये कीर्त्त्यमाने तु ताभ्यां
शशाङ्काभिधानाभिधेयं न लभ्यम्।।२३१।।

अन्वयः= लोके हि प्रकृष्टप्रकाशत्वजाती प्रकृष्टप्रकाशाभिधानाभिधेये। तयोरन्वये कीर्त्यमाने तु ताभ्यां शशांकाभिधानाभिधेयं न लभ्यम्।।२३१।।

अन्वयार्थः= लोक में प्रकृष्टत्व और प्रकाशत्व जातियां प्रकृष्ट और प्रकाश पदों की वाच्य है। उनका अन्वय करने पर प्रकृष्ट और प्रकाश पदों के द्वारा शशाङ्क पद वाच्य (व्यक्ति) का लाभ नहीं हो सकेगा।।

प्रकृष्टप्रकाशेति। प्रकृष्टत्वप्रकाशत्वजाती इत्यर्थः। हिरवाधारणे। प्रकृष्टप्रकाश इत्यभिधानयोः शब्दयोरभिधेये भवत इति शेषः। ततः किं तत्राह— तयोरिति। आक्षिप्तव्यक्तिद्वारा तयोर्जात्योरन्वये ताभ्यां पदाभ्यां प्रतिपाद्यमाने सति, तुरवधारणे। शशाङ्काभिधानाभिधेयं न लभ्यमेव। जातिद्वयतदाश्रयचन्द्रवैशिष्ट्यस्य चन्द्रपदाभिधेयत्वाभावादिति भावः।।२३१।।

प्रकृष्ट प्रकाशेति= प्रकृष्टत्व प्रकाशत्व जाति। हि= निश्चयरूप से। प्रकृष्ट प्रकाश इन दोनों शब्दों के अभिधान से प्रकृष्टत्व प्रकाशत्व जाति ही अभिधेय होगी। इससे क्या होगा? तयोरिति= चन्द्रमा रुप व्यक्ति का आक्षेप करने के पहिले इन दोनों का अन्वय होगा। दोनों पदों के अर्थ का प्रतिपादन होने पर निश्चित रूप से, शशाङ्काभिधानाभिधेयं न लभ्यमेव= चन्द्रमा का बोध सम्भव नहीं होगा। क्योंकि इन दोनों पदों से प्रकृष्टत्व जाततिविशिट

चन्द्रमा, प्रकाशत्व जाति विशिष्ट चन्द्रमा का बोध होगा शुद्ध चन्द्राभिधानत्व सम्भव नहीं है।

ननु प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टस्यैव चन्द्रत्वाद्यः प्रकृष्टप्रकाशः स चन्द्र इति वचनव्यक्त्या किमिति शशङ्काभिधानाभिधेयं न लभ्यमिति तत्राह-

शंका= यदि यह कहो कि प्रकृष्टप्रकाशविशिष्ट ही चन्द्रमा है जो प्रकृष्ट प्रकाशवाला है वही चन्द्रमा है तो फिर कैसे यह सम्भव नहीं होगा कि प्रकृष्ट प्रकाश चन्द्रमा ही है।

शशाङ्काभिधानाभिधेये हि पृष्टे
तदेवोत्तेरेणापि निर्णेयमत्र।।
प्रकृष्टप्रकाशत्वजात्यन्वयोऽयं
तदाक्षिप्ततव्द्यञ्जकव्यक्तिनिष्ठः।।२३२।।

अन्वयः= शशाङ्काभिधानाभिधेये पृष्टे हि उत्तरेणापि तदेव तत्र निर्णेयम्। अयं प्रकृष्ट प्रकाशत्वजात्यन्वयः तदाक्षिप्त तद्व्यञ्जकव्यक्तिनिष्ठः।।२३२।।

अन्वयार्थः= चन्द्रपद वाच्य के पूछे जाने पर उत्तर वाक्य से भी उसी का निर्णय करना होगा। यह प्रकृष्टत्व और प्रकाशत्व जातियों का अन्वय उक्त दोनों पदों से आक्षिप्त (जातियों का) व्यञ्जक व्यक्तियों में पर्यवसित होता है।।२३२।।

शशाङ्काभिधानेति। तदेव न गुणादिवैशिष्ट्यमित्यर्थः। उत्तरेण प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति प्रत्युत्तरवचनेन। अत्र लोके। ननु तदेवोक्तवचनव्यक्त्याऽपि निर्णीयते। प्रकृष्टप्रकाशाश्रयस्यैव तयापि चन्द्रत्वप्रतिपादनाच्चन्द्रत्वाश्रयस्यैव तदभिधानाभिधेयत्वादिति तत्राह-प्रकृष्टप्रकाशत्वेति। तदानीं हि तत्पदद्वयेन मुख्यवृत्त्योपस्थितप्रकृष्टत्वप्रकाशत्वजात्योरन्योऽन्यमन्वयो वाच्यः, पदार्थयोस्तन्नियमात्। स न साक्षान्न संभवतीत्ययं जात्यन्वयस्तदुभयाक्षिप्ततद-भिव्यञ्जकतव्द्यक्तिनिष्ठ इति न केवलचन्द्रव्यक्तिलाभ इति भावः।।२३२।।

शशाङ्काभिधानेति= चन्द्रमाका (शशाङ्क का) ही बोध होगा न कि गुणादि विशिष्ट चन्द्रमा का बोध सम्भव है। क्योंकि पूछने वाले के ऊपर यह निर्भर करता है। पूछने वाला शुद्ध के बारे में पूछता है तो उत्तर प्रदाता को भी वैसा ही समाधान देना उचित होता है।

शंका– प्रकृष्टत्व प्रकाशत्व वचन से भी शशाङ्क बोध ही तो निर्णीत होता है। क्योंकि प्रकृष्टप्रकाश का आश्रय ही तो चन्द्रत्व से प्रतिपादित है। अर्थात् चन्द्रत्वाश्रय चन्द्रमा को ही प्रकृष्टत्व प्रकाशत्व शब्द अभिधेयत्व है।

समाधान— प्रकृष्टप्रकाशत्वेति= प्रकृष्टत्व प्रकाशत्व इन दोनों पदों के द्वारा मुख्यवृत्ति से उपस्थित प्रकृष्टत्व और प्रकाशत्व इन दोनों जातियों का अन्योन्य अन्वय कहना पडेगा। पदप्रतिपाद्य पदार्थो का यह नियम ही है। इन दोनों जातियों का अन्वय साक्षात् तो संभव नहीं है। इन जातियों का अन्वय तो इन दोनों जातियों से आक्षिप्त, इन दोनों जातियों का अभिव्यञ्जक जो चन्द्रमा व्यक्ति है- तन्निष्ठ इन दोनों जातियों का अन्वय सम्भव होगा। इससे केवल चन्द्रमा का तो लाभ नहीं हो पायेगा। किन्तु प्रकाशत्व विशिष्ट प्रकृष्टत्व विशिष्ट चन्द्रमा का ही विशिष्ट बोध जो प्रश्नकर्ता को अभीष्ट नहीं। प्रश्नकर्ता को "कश्चन्द्रमा" इसका उत्तर चाहिये।

ननु स एव शशाङ्क इत्युक्तमिति चेत्सत्यं शशाङ्कस्यासाधारणो धर्मः सः, न तु तत्स्वरुपमित्याशयेनाह—

शंका= "स एव शशाङ्क" प्रकृष्टप्रकाश विशिष्ट ही तो चन्द्रमा है, ऐसा कहा है। तो इस प्रतीति से केवल चन्द्रमा का बोध हो जाता है।

समाधान— प्रकृष्ट प्रकाशादि तो चन्द्रमा का असाधारण धर्म है न कि चन्द्रमाका स्वरूप है। इसलिये इस प्रतीति से केवल चन्द्रमा का बोध सम्भव नहीं हो सकता।

शशाङ्कमिधानाभिधेयो न चेष्टः
शशाङ्कस्य तेजोविशेषत्वहेतोः।।
ततश्चोपपन्ना जहल्लक्षणातः।
पुरोक्ता पदाभ्यामखण्डार्थसिद्धिः।।२३३।।

अन्वयः= शशाङ्काभिधानाभिधेयः न चेष्टः शशाङ्कस्य तेजोविशेषत्वहेतोः। ततश्च जहल्लक्षणा उपपन्ना। अतः पदाभ्यां पुरोक्ता अखण्डार्थसिद्धिः।।२३३।।

अन्वयार्थः= (उक्त व्यक्तियों का अन्वय) शशाङ्क पद वाच्य नहीं हो सकता। क्योंकि शशाङ्क तेजोविशेष स्वरूप होता है। अन्वय स्वरूप नहीं अतः जहल्लक्षणा माननी होगी। अतः पूर्वोक्त पदों से अखण्डार्थ सिद्धि होती है।

शशाङ्काभिधानाभिधेयो न चेष्ट इति। चोऽवधारणे। नैवेष्टः सिद्ध्यतीति शेषः। कुतः? शशाङ्कस्य तेजोविशेषत्वहेतोस्तेजोविशेषमात्रस्यैव तत्स्वरूपत्वान्न जातिद्वयविशिष्टव्यक्तिद्वयतादात्म्यं तत्स्वरूपमिति न ततस्तत्सिद्ध्यतीत्यर्थः।

इदमिह विवक्षितम्। अस्ति तावल्लोके चन्द्रस्वरूपेऽयं चन्द्रोऽयं वेति संशयः। अस्ति

च तदपनयायास्मिन्ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्र इति प्रश्नः। तदुभयं चन्द्रस्वरूपमात्रविषयं तदन्यस्य तद्विषयस्याभावात्।

ननु चन्द्रस्यासाधारणो धर्मः क इति प्रश्नोऽस्त्विति चेत्, न। प्रश्नवाक्ये तत्पदाभावात्। लक्षणायां च न निमित्तमस्ति प्रकष्टप्रकाशस्य प्रत्यक्षेण निर्णीतस्य "स्वरूपेण कः प्रकृष्टप्रकाशः" इति प्रश्नाभावात्। चन्द्रज्ञानं बिना तस्य चन्द्रधर्मत्वाज्ञानायोगेन प्रकृष्टः प्रकाशः किं चन्द्रस्यान्यस्य वेति संप्रश्नासंभवाच्च। यद्यपि चन्द्रमपि प्रत्यक्षेण पश्यति, तथापि तत्संशयानुरोधेन तज्ज्ञानस्यापातज्ञानतया तदज्ञाने नाविरोधः। नैवं प्रकृष्ट-प्रकाशेऽनिश्चयस्तज्ज्ञानम्। अत एव चन्द्रपदवाच्यत्वादिः प्रश्नविषय इति प्रत्युक्तम्। चन्द्र एव चन्द्रपदवाच्य इति सामान्यश्चन्द्रे तस्यापि निर्णीतत्वात्। व्यक्तिविशेषो तदज्ञानस्य पूर्ववच्चन्द्रस्वरूपज्ञानाभावेऽसंभवात्। अतः संशयप्रश्नावज्ञातचन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठौ। अत एव प्रकृष्टप्रकाशः इति प्रतिवचनमपि तन्मात्रगोचरं न तु प्रकाशविशेषवैशिष्ट्यादिगोचरम्। अन्यथाऽऽम्रप्रश्ने कोविदारोत्तरवत्प्रश्नव्यधिकरणप्रतिवचनस्यानवधेयतापत्तेः। यत्तु अपृष्टमपि प्रकाशवैशिष्ट्यं पृष्टार्थनिर्णयोपयोगितया वाक्यं प्रतिपादयति, अन्यथा यः कश्चिच्चन्द्र इत्युत्तरार्थप्रसङ्गेन तदनिर्णयादिति। तन्न। व्यक्तिमात्रतात्पर्ये लाघवेन वाक्यस्य निश्चिते गुणवैशिष्ट्यस्यावाक्यार्थत्वेऽपि लक्षणया नियतव्यक्त्युपस्थित्यर्थत्वेन नियतव्यक्तिविषयतया व्यक्तिमात्रविषयप्रतिवचनेनापि तन्निर्णयोपपत्तेः। गङ्गापदाल्लक्षणया जातं ज्ञानं तीरविशेषे निर्णयः, अतः प्रकृष्टप्रकाशवैशिष्ट्यस्य तत्राबाधिस्यापि तात्पर्यागोचरतया वाक्यं चन्द्रप्राति-पादिकार्थमात्रनिष्ठिम्। तददमुक्तं तदेवोत्तरेणेति। तच्च प्रकृष्टप्रकाशपदाभ्यां मुख्यार्थनिष्ठाभ्यां न शक्यं निर्णेतुमिति पृष्टोऽर्थो नैव सिद्ध्यति, चन्द्रस्य तेजोविशेषमात्रतयाऽविशिष्टत्व-रूपमात्रत्वादिति। फलितमाह-ततश्चेति। लक्षणात इत्येकं पदम्।।२३३।।

शशाङ्कामिधानामिधेयो न चेष्ट इति। च= अवधारणार्थ है। केवल चन्दमा का बोध सम्भव नहीं हैं। क्योंकि शशाङ्क तेज विशेष का हेतु होने के कारण तेज विशेष ही चन्द्रमा का स्वरुप माना जायेगा। न कि प्रकृष्टत्व प्रकाशत्व जाति द्वय विशिष्ट प्रकृष्ट प्रकाश द्वय का तादात्म्य शशाङ्क स्वरूप माना जा सकता है। अतः लक्षणा के बिना प्रकृष्ट प्रकाश वाक्य से शुद्ध चन्द्रमा का बोध सम्भव नहीं है।

यहां यह विवक्षित है- लोक में यह देखा गया है कि चन्द्रस्वरूप में भी यह चन्द्रमा है कि नहीं ऐसा संशय देखने में आता है। इस संशय को हटाने के लिये इस ज्योति

मण्डल में असंख्य तारागणों में कौन सा चन्द्रमा है? ऐसा प्रश्न हो जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में प्रकृष्ट प्रकाश ये दोनों भी चन्द्र स्वरूप मात्र विषयक है इससे अतिरिक्त तो इनका विषय नही है। इस प्रकार केवल चन्द्रमा का बोध हो जाता है।

शंका– चन्द्रमा का असाधारण धर्म क्या है? ऐसा प्रश्न होगा तो?

समाधान– नहीं। प्रश्न तो "कश्चन्द्रमा" चन्द्रमा कौन सा है। न कि चन्द्रमा का असाधारण धर्म कौन है इत्याकार की लक्षणा करने के लिये कोई भी कारण नजर नहीं आता हैं। प्रकृष्ट प्रकाश तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। इस अवस्था में "स्वरूपेण कः प्रकृष्ट प्रकाश" स्वरूप से कौन प्रकृष्ट प्रकाश है ऐसा प्रश्न नहीं बन पाता। दूसरी बात धर्मिज्ञान के बिना धर्म अंश में प्रश्न नहीं हो सकता। अतः चन्द्र ज्ञान के बिना चन्द्रमा के धर्मों का (धर्म का) अज्ञान भी रह नहीं सकता। इसलिये प्रकृष्ट प्रकाश चन्द्रमा का है या अन्य दूसरे का है यह प्रश्न भी नहीं हो सकता।

यद्यपि चन्द्रमा को भी प्रत्यक्ष देखते हैं, तथापि प्रकृष्ट प्रकाश है या नहीं, इस संशय के अनुसार प्रकृष्टप्रकाश का भी आपात ज्ञान मानना पडता है इसलिये ऐसे आपात ज्ञान के साथ अज्ञान का विरोध नहीं हो सकता। बाकी प्रकृष्ट प्रकाश में आपातज्ञान में तो निश्चय स्वरूप होने के कारण प्रकृष्ट प्रकाश विषयक ज्ञान अनिश्चय रूप नहीं हो सकता। यही कारण है कि चन्द्रपद वाच्य प्रकृष्ट प्रकाशत्वादि विषयक प्रश्न नहीं बन सकता। क्योंकि चन्द्रपद वाच्य चन्द्र ही होता है। जब सामान्य रूप से चन्द्रमा का ज्ञान चन्द्र पद से जब हो जाता है। तो प्रकृष्ट प्रकाशक निर्णय अपने आप ही हो जाता है। क्योंकि व्यक्ति विशेष चन्द्रमा में प्रकृष्ट प्रकाशक अज्ञान रह नहीं सकता। अज्ञान को रहने के लिये प्रथम अज्ञान के पूर्ववर्ति चन्द्रमा का सामान्य ज्ञान जरूरी है। वह न होने से विशेष ज्ञान का कारण प्रकृष्ट प्रकाश विषयक अज्ञान नहीं रह सकता। इसलिये संशय, प्रश्न, अज्ञात चन्द्रमादि प्रातिपदिकार्थ चन्द्रमात्र निष्ठ हैं। अतः प्रकृष्ट प्रकाश यह वचन भी प्रातिपदिकार्थ चन्द्रविषयक ही है। न कि प्रकृष्ट प्रकाश विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहि चन्द्रपरक है। अन्यथा आम्रान् पृष्टे कोविदारान् आचष्टे प्रश्न पूछा आम्रविषयक और उत्तर दे रहे हैं कचनारवृक्ष विषयक। उक्ति सार्थक होकर, व्यधिकरण उत्तर होने के कारण उसपर अनवधान हीं होगा।

यत्तु= प्रश्न ने पूछने पर भी प्रकाश वैशिष्ट्य, प्रश्न के निर्णय के लिये उपयोगी होने से वाक्य से उसका प्रतिपादन माना जाता है। नहीं तो "यः कश्चिच्च-चन्द्र" ऐसा कोई चन्द्रमा है-ऐसा उत्तर प्राप्त होगा। तो फिर कौन सा चन्द्रमा है- इस प्रश्न के उत्तर

का निर्णय नहीं हो पायेगा।

तन्न= यह मत भी समीचीन नहीं है। क्योंकि चन्द्रमा व्यक्ति तात्पर्य में लाघव से जब वाक्य निश्चित हो चुका है तब तो गुण वैशिष्ट्य वाक्यार्थन्तर्गत न होने पर भी लक्षणा के द्वारा "नियत व्यक्ति उपस्थिति रूपसे" चन्द्रमा के साथ नियत रूपसे प्रकाश की उपस्थिति होने से प्रकाश विशिष्ट चन्द्रमा विषय बन जाता है। तो चन्द्रमा मात्र (व्यक्ति मात्र) विषयक (प्रतिवचन से) उत्तर से भी प्रकाश वैशिष्ट्य का निर्णय हो सकता है। जैसे गंगा पद से लक्षणा से उत्पन्न ज्ञात ऐसा जो तीर तद्विषयक निर्णय हो जाता है। इसी प्रकार से चन्द्रमा पद से प्रकृष्ट प्रकाश वैशिष्ट्य का निर्णय हो जाता है। इसलिये प्रकाश वैशिष्ट्य का वाक्यार्थ में बाध न होने पर भी चन्द्रमा रूपार्थ का तात्पर्य गोचर न होने से प्रकृष्ट प्रकाशः यह वाक्य प्रातिपदिकार्थ मात्र परक ही है। ऐसा ही यह प्रश्न है और वैसा ही उत्तर भी है तो प्रकृष्ट और प्रकाश इन दोनों पदों से जो मुख्यार्थ परक है इन पदों से मुख्यसामानाधिकरण्य से चन्द्रमा रूप अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता। परिणाम यह हुवा कि प्रश्न किया "कश्चन्द्रमा" चन्द्रमा कौन सा है इसका उत्तर देने पर चन्द्रमा रूप अर्थ की सिद्धि नहीं हो पाई। चन्द्रमा तो तेजो विशेष स्वरूप मात्र है न कि प्रकाशादि तेजो विशिष्ट अर्थात् प्रकाशादि तेजादि से अविशिष्ट चन्द्रमा है।

फलितार्थ बता रहे हैं— ततश्चेति= जहल्लक्षणातः इसलिये अखडार्थ का बोध प्राप्त करने के लिये लक्षणा का (जहदजहल्लक्षणाका) स्वीकार करना अति आवश्यक है।

ननु लक्षणयापि ताभ्यां पदाभ्यां स्वाभिधेयव्यक्तिद्वयमेव लक्षणीयं मुख्यार्थसंबन्धान्न तु चन्द्रव्यक्तिरसंबन्धात्, ततः कथं ताभ्यां तल्लाभ इत्याशङ्क्याह—

शंका= प्रकृष्ट और प्रकाश इन दोनों पदों में लक्षणा करने के बाद भी इन पदों के अभिधय दो व्यक्तियों को ही लक्ष्य माना जायेगा क्योंकि ये दोनों अर्थ ही तो मुख्यार्थ है। न कि चन्द्र व्यक्ति, क्योंकि उसका सम्बन्ध उन पदों के साथ तो है नहीं। अतः चन्द्रमा का बोध कैसे इन दोनों पदों से होगा?

प्रकर्षः प्रकाशातिरिक्तो न चात्र
प्रकाशः प्रकर्षातिरिक्तो न चात्र।।
बहिश्चन्द्रमस्ति स्वरूपातिरेक
स्तयोश्चन्द्रमस्येकतैवातिमात्रम्।।२३४।।

अन्वयः= न च अत्र प्रकर्षः प्रकाशातिरिक्तः, न च अत्र पकाशः, प्रकर्षातिरिक्तः, तयोः बहिश्चन्द्रं स्वरूपातिरेकोऽस्ति, चन्द्रमसि अतिमात्रम् एकतैव।।२३४।।

अन्वयार्थ= यहां प्रकर्ष प्रकाश से अतिरिक्त नहीं है और न तो प्रकाश प्रकर्ष से अतिरिक्त है, इन दोनों का चन्द्रमा से बाहर (अन्धःकार तथा खद्योतादि से) भेद होने पर भी चन्द्रमा के साथ अत्यन्त अभेद है।

प्रकर्ष इति। अत्र- चन्द्रे, प्रकर्षप्रकाशव्यक्त्योश्चन्द्रव्यक्त्या परस्परं चाभेदान्नोक्तदोष इति भावः। ननु खद्योते प्रकाशे सत्यपि न प्रकर्षोऽस्ति तम आदौ प्रकर्षे सत्यपि न प्रकाश इति तयोर्भेदो वाच्यः। एवं च चन्द्रेऽपि तयोर्भेद एवेत्याशङ्क्याह- बहिश्चन्द्र मिति। चन्द्रादन्यत्रेत्यर्थः। तयोः प्रकर्षप्रकाशयोः। अतिमात्रमत्यन्तम्।।२३४।।

प्रकर्ष इति= अत्र चन्द्रमा में प्रकृष्ट चन्द्र और प्रकाशचन्द्र में दोनों व्यक्ति परस्पर में अभिन्न होने से उपरोक्त दोष नहीं आ सकता (जो प्रकृष्ट पदार्थ है वह प्रकाश है जो प्रकाश पदार्थ है वह प्रकृष्ट है)

शंका= खद्योत में (जुगनू में) प्रकाश होने पर भी वह प्रकाश प्रकर्ष स्वरुप नहीं है। तमआदौ। अन्धःकार में प्रकर्ष तो है लेकिन वह प्रकाश नहीं है। इसलिये इन दोनों में भेद करना पडेगा। इसीप्रकार से चन्द्रमा में भी इन दोनों का भेद ही मानना उचित होगा।

समाधान— बहिश्चन्द्रमिति= चन्द्रमा से अतिरिक्त। तयोः प्रकर्ष और प्रकाश का अतिमात्रम् अत्यन्तभेद होने पर भी। चन्द्रमा में इन दोनों का बिलकुल भेद नहीं है।

तत्रानुभवप्रमाणमाह—

इसी प्रसंग मे अनुभव प्रमाण भी दे रहे हैं—

न चन्द्रप्रकाशप्रकर्षं प्रकाशा
तत्तदीयात्पृथक्कश्चिदुत्पश्यतीह।।
तथाऽस्य प्रकर्षप्रकाशं प्रकर्षात्
ततो नानयोऽस्ति भेदे प्रमाणम्।।२३५।।

अन्वयः= कश्चित् इह चन्द्रप्रकाशप्रकर्षं तदीयात् प्रकाशात् तथा प्रकर्षप्रकाशं प्रकर्षात् पृथक् नोत्पश्यति। ततोऽनयोः भेदे प्रमाणं नास्ति।।२३५।।

अन्वयार्थः= कोई भी व्यक्ति यहां चन्द्रगत प्रकाश के प्रकर्ष को चन्द्र के प्रकाश से तथा प्रकाश को प्रकर्ष से पृथक् नहीं देखता। अतएव इन प्रकर्ष और प्रकाश दोनों के भेदमें कोई प्रमाण नहीं है।

न चन्द्रप्रकाशेति। तदीयाच्चन्द्रसंबन्धिनः प्रकाशादिति संबन्धः। पृथग्भिन्नम्।उत्पश्यति स्पष्टं पश्यति। इह- चन्द्रे। यद्यपि खद्योते तमसि च प्रकाशप्रकर्षौ- पृथगनुभूयेते, तथापि चन्द्रे तयोः परस्परं चन्द्राच्च भेदं कोऽपि नानुभवति। न चापर्यायशब्दप्रतिपाद्यतया तत्रापि भेदोऽस्तीति वाच्यम्। वाच्यभेदे सत्यपि लक्षितव्यक्तीनामभेदात्। यथा घटतज्ज्ञानयोः पृथक् प्रवृत्तसत्यज्ञानपदाभ्यां ब्रह्मणि लक्षितव्यक्त्योरभेदः। एवं च खद्योतमन्धकारं च व्यावर्त्त्य प्रकृष्टप्रकाशपदाभ्यां चन्द्रस्वरूपप्रकाशविशेषो जहल्लक्षणया प्रतिपाद्यत इति तद्वाक्यम-खण्डार्थम्। एवं गवादिलक्षणवाक्यमपि द्रष्टव्यम्। तस्यापि तत्तल्लक्ष्यस्वरूपनिश्चयाय प्रवृत्तस्य तदन्यथात्वायोगात्। तथा च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति वाक्यमखण्डार्थं लक्षण-वाक्यत्वात्प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यवत्। न चाप्रयोजकत्वं, चन्द्रस्वरूपमात्रप्रश्नवदिह ब्रह्ममात्रप्रश्नादर्शनने प्रकृष्टादिवाक्यस्येवास्याखण्डार्थत्वाभावे बाधकाभावादिति वाच्यम्। यतो "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति निरतिशयबृहदात्मकब्रह्मज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनत्वं संकीर्त्तितम्। तच्च तज्जिज्ञासामूलप्रश्नार्थमेव। अन्यथा साधनात्फलनिष्पत्तेस्तत्संकीर्त्तन-वैयर्थ्यादिति यावन्मात्रज्ञानात्फलं श्रावयति तावन्मात्रनिर्णयाय प्रवृत्तमिदमपि वाक्यं तावन्मात्रार्थमेवेति कथमप्रयोजकता। ब्रह्मातिरिक्तवैशिष्ट्यस्य ब्रह्मपदार्थेऽसंभवाच्च। नापि लक्षणवाक्यत्वं धर्मधर्मिभावं विनाऽनुपपन्नम्। असाधारणधर्मस्यैव लक्षणत्वादिति विरुद्धमिति वाच्यम्। यतो न लक्षणमसाधारणो धर्म इति नियमोऽस्ति, अन्त्यविशेषलक्षणे तदभावात्। किंतु यद्विषयं सज् ज्ञानं सजातीयादिभ्यः स्वविषयं व्यावर्त्तयति तल्लक्षणम्। तच्च धर्मो धर्मी वा यथा प्रमाणमस्त्विति सर्वमेव लक्षणवाक्यमखण्डार्थमिति ब्रह्मलक्षण-सत्यादिवाक्यमप्यखण्डार्थमिति भावः।।२३५।।

न चन्द्र प्रकाशेति= तदीयात्= चन्द्र सम्बन्धि प्रकाश से। पृथक्= भिन्न उत्पश्यति= स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि वह प्रकाश अलग है। इह चन्द्र में अर्थात् खद्योत में तथा अन्धःकार में क्रमशः प्रकाश तथा प्रकर्ष दोनों अलग अपना भेद बनाये हुये हैं लेकिन चन्द्रमा में प्रकाश और प्रकर्ष दोनों के भेद को कोई भी अनुभूत नहीं करता।

शंका= दोनों पद अपर्याय वाची होने से दोनों के अर्थ का भेद मानना चाहिये।

समाधान= दोनों पदों के वाच्यार्थ का भेद होने पर भी लक्षित व्यक्ति में कोई भेद नहीं है। किन्तु लक्षित व्यक्ति का अभेद ही है।

जैसे घट और घट का ज्ञान दोनों ही घट परक ही है। यद्यपि दोनों भिन्न भिन्न है। और भी सत्यज्ञानादिपद भिन्न भिन्न होने पर भी लक्षित ब्रह्म का अभेद ही है। इसी

प्रकार खद्योत और अन्धःकार दोनों को हटाकर प्रकृष्ट और प्रकाश दोनों पदों के द्वारा भागत्याग लक्षणा से जहदहल्लक्षणा से चन्द्र स्वरूप प्रकाश विशेष का जहदहल्लक्षणा से प्रतिपादन किया जाता है। अतः प्रकृष्ट प्रकाश यह वाक्य अखण्डार्थ बोध परक है, यह बात सिद्ध हुई। इसी प्रकाश से गवादि लक्षण वाक्यों का भी सम्बन्ध करा लेना जैसे बहुदुग्धा कपिला" यहां भी तत्तल्लक्ष्य स्वरूप का निश्चय कराने के लिये प्रवृत्त वाक्य उसका अतिरिक्ति और कोई तात्पर्य नहीं है। तो सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति वाक्य भी अखण्डार्थ परक है, हेतु है, लक्षण वाक्य होने से। जैसे प्रकृष्ट प्रकाश चन्द्रमा का वाक्य है।

शंका= यहां अप्रयोजकत्व शंका करें तो अर्थात् हेतुरस्तु साध्यं मास्तु अर्थात् लक्षण वाक्य रहने दो और साध्य अखण्डार्थत्व मत रहने दो। क्योंकि चन्द्रस्वरूप मात्र प्रश्न के समान ब्रह्म मात्र परक प्रश्न तो यहां है नहीं। जैसे कश्चन्द्रमा वैसे किं तद् ब्रह्म न तो ऐसा प्रश्न ही है। इसलिये जैसे प्रकृष्ट प्रकाश में अखण्डार्थ बोध तो मान लिया वैसे सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म में अखण्डार्थ बोध नहीं माना जा सकता।

समाधान= "बह्मविदाप्नोतिपरम्" ब्रह्मवेत्तापरंतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। ऐसा श्रुतिभगवती ने कहा है अर्थात् निरतिशय बृहदात्मक (व्यापक तत्त्व के) ब्रह्मज्ञान को परमपुरुषार्थ का साधन बताया है। तो यह ब्रह्मज्ञान मूलप्रश्न के अनुसार ही मानना पडेगा नहीं तो साधन से फल की परं भाव की निष्पत्ति तथा उस साधन के प्रशंसा परक संकीर्तन की व्यर्थता सिद्ध हो जायेगी। इसलिये जितने अंश मात्र के ज्ञान से फल को श्रुति वाक्य सुनाता है, उतने अंश मात्र के तात्पर्य निर्णय के लिये प्रवृत्तवाक्य उतने "ब्रह्मअंश" मात्र के लिये ही है। इसलिये अप्रयोजकता शंका नहीं हो सकती। दूसरी बात ब्रह्म से अतिरिक्त वैशिष्ट्य ब्रह्म में आ ही नहीं सकता।

दूसरी बात यह भी है कि लक्षणवाक्य धर्म धर्मि ज्ञान के बिना अनुपपन्न है। असाधारण धर्म को ही लक्षण मानें। इतिवाच्यम् नापि इति। यह मत ठीक नहीं है।

समाधान= असाधारण धर्म को लक्षण मानें तो अन्तिम विशेष पदार्थ के लक्षण में ऐसा कोई असाधारण धर्म नहीं है। इसलिये यही कहना पड़ेगा कि यद्विषयं सज् ज्ञानं सजातीयादिभ्यः स्वविषयं व्यावर्तयति तल्लक्षणम्- जिस विषयक विद्यमान् ज्ञान सजातीय पदार्थों से अपने ज्ञान के विषयीभूत अर्थ को अलग कर देता है उसे ही लक्षण कहते हैं वह अर्थ धर्म हो या धर्मी हो जैसा भी हो। तो सभी ब्रह्म के लक्षण वाक्य अखंडार्थ परक है। इसी प्रकार ब्रह्म का लक्षण सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म वाक्य भी अखण्डार्थ परक ही है, यह सिद्ध हुवा।

एवं तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य वाक्यत्वेन ज्योतिष्टोमादिवाक्यवद्विशिष्टार्थत्वानुमाने व्यभिचारादिना दूषिते तदखण्डार्थमुपाधितो भिन्नयोरभेदवाक्यत्वाद्बिम्बप्रतिबिम्बाभेद-वाक्यवद्ब्रह्मपरवाक्यत्वाद्वा सत्यज्ञादिवाक्यवदित्यभिप्रेत्योपसंहरति—

इस प्रकार तत्त्वमस्यादि वाक्य भी तो वाक्य ही है। तो जैसे ज्योतिष्टोमादिवाक्य विशिष्टार्थ परक है इसी प्रकार से तत्त्वमस्यादि वाक्य भी विशिष्टार्थ परक होने चाहिये। इस नियम का विचार लक्ष्यार्थ को मानने पर हो जाता है। अर्थात् लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ मानना पडता है। औपाधिक तत् और त्वं का भेद होने पर भी अभेद वाक्य के द्वारा बिम्बप्रतिबिम्ब अभेद वाक्य के समान, अथवा ब्रह्म परक वाक्य के द्वारा सत्यज्ञानादि वाक्य के समान तत्त्वमस्यादि वाक्य अखण्डार्थ बोध परक है, ऐसा उपसंहार कहते हैं।

यथा सच्चिदानन्दशब्दास्तदर्थं
तथा तत्त्वमावात्मनो ब्रह्मभावम्।।
विरोधान्मिथो लक्षणावर्त्मनेमौ
किमर्थं न संभूय वक्तुं समर्था।।२३६।।

अन्वयः= यथा सच्चिदानन्दशब्दाः तदर्थं (लक्षणया बोधयन्ति), तथा इमौ तत्त्वमौ मिथो विरोधात् लक्षणावर्त्मना संभूय आत्मनः ब्रह्मभावं वक्तुं किमर्थं न समर्थौ।।२३६।।

अन्वयार्थः= जैसे सत्, चित्, आनन्दादि शब्द तत्पद लक्षणा द्वारा बोध कराते हैं। वैसे ही ये तत् त्वम्, पद (वाच्यार्थो में) परस्पर विरूध्द होने के कारण लक्षणा मार्ग के द्वारा मिलकर आत्मा को ब्रह्म रूप कहने में समर्थ क्यों नहीं होंगे अर्थात् अवश्यमेव होंगे?

यथेति। तदर्थं महावाक्यस्थतत्पदलक्ष्यं लक्षणया बोधयन्तीति शेषः। तत्त्वमौ तत्त्वंशब्दौ मिथो विरोधादित्यन्वयः। मुख्यार्थयोः परस्परमभेदे विरोधाद्धेतोरित्यर्थः। लक्षणावर्त्मना। लक्षणामार्गेण लक्षणयेति यावत्। इमौ तत्त्वमाविति संबन्धः। किमर्थं न संभूय वक्तुं समर्थौ, समर्थावेवेत्यर्थः।।२३६।।

येथेति= जिस प्रकार सच्चिदानन्द शब्द अखण्डभाव से ब्रह्म का बोध कराते हैं। तदर्थं= इसी प्रकार महावाक्यान्तर्गत उन उन पदों के लक्ष्यार्थ को लक्षणा के द्वारा जाना जाता है यह तात्पर्य है तत्त्वमौ= तत् और त्वं शब्द परस्पर में विरोधी ही हैं। अर्थात दोनों पदों के मुख्यार्थ को देख कर चलें तो अभेद होने में, विरोधात्- विरोध ही उत्पन्न होता है। इसलिये= लक्षणावर्त्मना लक्षणा मार्ग से अर्थात् लक्षणा के द्वारा। इमौ तत् ओर त्वं ये दोनों शब्द किमर्थं न संभूय वक्तुं समर्थौ- क्या ये दोनों शब्द (पद मिलकर) एक

अर्थ का (अखण्डार्थ का) बोध नहीं करा सकते हैं? अर्थात बड़े आसानी से लक्षणावृत्ति के द्वारा अखण्डार्थ का बोध करा सकते हैं।

केन पदेन कीदृशेऽर्थो लक्ष्यते येन तदर्थयोर्विरोधः परिह्रियेतेत्याशङ्क्य प्रागुक्तमर्थमुपसंहारे स्मारयति–

अब किस पद से कौन सा अर्थ प्रतिपादित हुवा जिसके कारण दोनों पदों के अन्दर विरोध उत्पन्न हुवा और बाद में उस विरोध का परिहार हुवा। इसके लिये पहिले वाला, प्रसंग स्मरण दिलाते हैं।

प्रत्यक्तत्त्वं लक्षयेत्त्वंपदार्थ-
स्तच्छब्दार्थो लक्षयेदद्वितीयम्।।
एवं पूर्णं प्रत्यगात्मानमेतौ
शब्दौ ब्रुतो लक्षणावर्त्मनैव।।२३७।।

अन्वयः= त्वम्पदार्थः प्रत्यक्तत्वं लक्षयेत्, तच्छब्दार्थः अद्वितीयं लक्षयेत्। एवं एतौ शब्दौ लक्षणावर्त्मना एवं पूर्णं प्रत्यगात्मानं ब्रूतः।।

अन्वयार्थः= त्वं पदार्थ की प्रत्यगात्मा जीव साक्षी में लक्षणा तथा तत् पदार्थ की अद्वितीय ईश्वर साक्षी में लक्षणा होती है। इस प्रकार ये दोनों शब्द लक्षणा द्वारा ही पूर्ण प्रत्यगात्मा को कहते हैं।

प्रत्यक्तत्त्वमिति। अहङ्कारादिसाक्षिसर्वान्तरचैतन्यमात्रमित्यर्थः। त्वंपदार्थ इति। पदार्थस्य लक्षकत्वमाश्रित्योक्तम्। एवमग्रेऽपि। सर्वान्तरस्य साक्षिणः सर्वव्याप्यद्वयाभेदे तत्त्वंपद-सामानाधिकरण्येन सिद्धे निरतिशयबृहत्त्वशालि ब्रह्म सिद्ध्यतीत्याशयेनाह-एवं पूर्णमिति। एवकारेण वृत्त्यन्तरं व्यावर्त्तयति। अत एव गौण्युक्तिर्ग्रन्थकारस्य प्रौढ्येति प्रागवादिषम्।।२३७।।

प्रत्यक्तत्त्वं= त्वं पदार्थ का लक्ष्यार्थ अहङ्कारादिक का साक्षी सर्वान्तर चैतन्य मात्र है। त्वं पदार्थ इति= यह जो अर्थ है वह पदार्थ को लक्षकत्व का आश्रय मानकर हुवा। इसी प्रकार से तत् पदार्थ के बार में भी समझ लेना। सर्वान्तरभूत साक्षी सर्वव्यापी होने से अद्वय के साथ इसका अभेद सिद्ध हो जाता है। इससे तत् और त्वं दोनों पदों का सामानाधिकरण्य सिद्ध हो जाता हैं। इससे बह्म निरतिशय व्यापकत्व से युक्त है यह बात सिद्ध हो जाती है- इसी आशय को लेकर कहते है एवं पूर्णमिति- एव पद देने से लक्षणावृत्ति को छोडकर अन्य वृत्ति को हटाता है। इससे गौणी वृत्ति ग्रन्थकार ने जो कही थी वह एक प्रौढीवाद से कही थी, सैद्धान्तिक नहीं। यह स्पष्ट हुवा। यह बात पहले भी कही थी।।२३७।।

नन्वेवमपि कथं पूर्णवस्तुलाभः परापरयोः पारोक्ष्यदुःखित्वादेरनपायादित्याशङ्क्याह–

शंका= ऐसा मानने पर भी तो पूर्णवस्तु का तो लाभ संभव नहीं हो सकता क्योंकि तत् और त्वं पद के अर्थीभूत क्रम से पारोक्ष्यत्व तथा दुःखित्वादि की तो निवृत्ति नहीं हो पाई। इसका समाधान प्रदान करते हैं–

पारोक्ष्यं च ब्रह्मणि प्रत्यगर्थे
दुःखित्वं च ध्वान्तसम्भूतमाहुः।।
सम्यग्ज्ञानध्वस्तमोहस्य पुंसः
प्रध्वंसेते हेत्वभावेऽफलत्वात्।।२३८।।

अन्वयः= ब्रह्मणि च पारोक्ष्यं प्रत्यगर्थे च दुःखित्वं ध्वान्तसम्भूतं आहुः। सम्यग्ज्ञानध्वस्तमोहस्य पुंसः (ते) प्रध्वंसेते। हेत्वभावेऽफलत्वात्।।२३८।।

अन्वयार्थः= ब्रह्म में परोक्षत्व और प्रत्यगात्मा में दुःखित्व को अज्ञानजन्य कहते हैं। सम्यक्ज्ञान के द्वारा जिस पुरुष का अज्ञान नष्ट हो गया है, उसके (परोक्षत्व तथा दुःखित्व) दोनों ही नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कारण के न रहने पर कार्य (भी) नहीं रह सकता।

पारोक्ष्यं चेति। ब्रह्मणि पारोक्ष्यं चेति जगत्कारणत्वादि समुच्चिनोति। दुःखित्वं चेति-सुखित्वादि समुच्चिनोति। तयोरविद्यासंभूतत्वे किं सिद्धं तदाह-सम्यगिति। प्रध्वंसेते पारोक्ष्यं दुखित्वं चेत्यनुषङ्गः। तत्र सामान्यन्यायमाह-हेत्वभाव इति। अफलत्वादिति छेदः। कारणाभावे कार्याभावादित्यर्थः।।२३८।।

पारोक्ष्यं चेति= ब्रह्म में पारोक्ष्य शब्द का प्रयोग करके इसके साथ साथ ब्रह्म में जगत् कारणत्वादिक का भी संग्रह कर लेना है। इसी प्रकार से जीव में दुःखित्वं चेति-दुःख के साथ साथ सुख का भी संग्रह (समन्वय) कर लेना है। दोनों ही सम्भूतमाहुः-अविद्या से उपलम्भित होते हैं। तो इससे क्या सिद्ध हुआ? तो बताते हैं– सम्यगिति-ब्रह्म में पारोक्ष्यादि तथा जीव में दुःखित्वादि दोनों ही प्रध्वंसित (नष्ट) हो जाते हैं। इसका कारण क्या है? सामान्य न्याय ही इसका कारण है। कौन सा सामान्य न्याय? हेत्वभावेऽफलत्वात्= अर्थात् कारणाभावे कार्याभावः। जब अविद्या ही नहीं रही तो अविद्या का कार्य पारोक्षत्व तथा दुःखित्वादि भी अपने आप नहीं रह पायेंगे।।२३८।।

एवं वेदान्तानां सर्वपदलक्षणयाऽखण्डैकरसे ब्रह्मणि पर्यवसानं न्यायत उपपादितम्, ननु सर्वपदलक्षणाऽनुपपन्ना, लोके लक्षस्य पदान्तरवाच्यत्वनियमदर्शनात्। अन्यथा लाक्षणिक-

पदैरेव लक्ष्यप्रश्नोत्तरदाने तत्रापि लक्ष्यप्रश्न लाक्षणिकपदप्रयोगानवस्थानप्रसङ्गादिति चेत् न। तेन विनापि वाच्यसंबन्धितया विचारादिनाऽवगतात्मतत्त्वस्य योग्यतादिमहिम्ना स्वत एव लक्ष्यज्ञानसंभवेन लक्ष्यप्रश्नोत्तरानन्त्याप्रसङ्गात् न हि तीरादिपदसंगतिग्रहात्पूर्वं प्रवाहादि-संबन्धितया विचारादवगते तीरादौ गङ्गादिपदलक्षणा नावतरति।

किं चेक्षुक्षीरादिमाधुर्यविशेषेऽनुभवसिद्धे कस्यापि पदस्य शक्त्यसंभवान्माधुर्यविशेषादिः सामान्यशब्देन लक्षणयैव प्रतिपादनीयः स इति पदान्तरवाच्यमेव लक्ष्यमिति न नियमो लोकेऽपि वक्तुं शक्यः।

किं च सत्यज्ञानानन्दैकरसे ब्रह्मणि गवादाविव गवादिशब्दः किं जातिनिमित्तो वाचकः शब्दः प्रवर्त्तते, किं वा दण्ड्यादिशब्द इव संबन्धेन सनिमित्तः।

अथवा गुणवचनेभ्यो मतुपो लोपानुशासनात् शुक्लादिशब्द इव पटादौ गुणयोगेन सनिमित्तः। यद्वा याजकादिशब्दवत् क्रियानिमित्तः, उद्भिदादिशब्दवत्स्वरूपमात्रनिमित्तो वा? न सर्वथाऽपीत्याह—

इस प्रकार से वेदान्त की सर्वपदलक्षणा अखण्ड एक रस ब्रह्म में पर्यवसित न्याय सम्मत हो जाती है।

पूर्वपक्ष= सर्वपदलक्षणा करना अनुचित है, क्योंकि लोक में लक्ष्यार्थ पदान्तर वाच्य जरूर होता है। यदि इस नियम को स्वीकार नहीं करें तो लाक्षणिक पदों से ही लक्ष्यार्थ विषयक प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जाता है। इस उत्तर में भी लक्ष्यार्थ विषयक प्रश्न करें तो तत्समाधानार्थ लाक्षणिक पद प्रयोग करें। पुनः प्रश्न, पुनःप्रश्न का समाधान लाक्षणिक पदों के द्वारा, तो अनवस्था दोष आयेगा।

समाधान= यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि लक्ष्यार्थ को पदान्तर से वाच्य जरूर होना चाहिये। ऐसा नियम नहीं मानने पर भी वाच्य सम्बन्धी रूप से विचारादिक के माध्यम से जिस पुरुष को योग्यतादिक के महिमा से बोध प्राप्त होकर लक्ष्य ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। लक्ष्य विषय प्रश्न और उत्तर की अनन्त प्रसङ्गता नहीं आती है। यह कोई नियम थोड़ा ही है कि= तीरादिपद संगति ग्रह के पहिले प्रवाह सम्बन्धी रूप से विचारों से अवगत तीरादिक में गङ्गादिपद लक्षणा अवतरित नहीं होती है।

और भी बात यह है कि इक्षुक्षीरादि माधुर्य विषयके (दूध भी मधुर और गन्ने का रस भी मधुर तो भी माधुर्य विशेष लक्षणा के द्वारा ही जाना जाता है।) अनुभव सिद्ध

होने पर किसी भी एक पद की उसमें शक्ति संभव नहीं है। माधुर्य विशेषादिक तो समान्य शब्द के द्वारा लक्षणा से ही प्रतिपादित करने योग्य है। इस लिये लक्ष्यार्थ को पदान्तर वाच्य जरूर होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है। और भी सत्यज्ञानानन्दैकरस ब्रह्म में क्या यह शब्द गौ में गवादि शब्द, क्या जाति निमित्त वाचक के समान प्रवृत्त होता है या दण्डि आदि शब्द पुरुष में सम्बन्ध के द्वारा स्थित है। अथवा गुणवचन से लोपानुशासन से पदादिक में गुणयोग से सनिमित्तक है। अथवा याजकादि शब्दों के समान क्रिया निमित्तक है। अथवा उद्भिदादि शब्द के समान स्वरूप मात्र का निमित्तक है।

समाधान— ये सब विकल्प संभव नहीं है।

षष्ठी जातिगुणक्रियादिरहिते सर्वस्य विज्ञातरि
प्रत्यक्षे परिवर्जिताखिलजगद्द्वैतप्रपञ्चे दृशौ।।
सन्त्यक्तव्यवधानके परमके विष्णोः पदे शाश्वते
त्वय्यज्ञानविजृम्भिता न हि गिरा मुख्यप्रवृत्तिक्षमाः।।२३६।।

अन्वयः— षष्टीजातिगुणक्रियादिरहिते, सर्वस्य विज्ञातरि, प्रत्यक्षे, परिवर्जिताखिलजगद्द्वैत प्रपञ्चे, दृशौ, संत्यक्तव्यवधानके, विष्णोः परमके पदे, शाश्वते त्वयि अज्ञानविनिर्मिताः गिरः मुख्यप्रवृत्तिक्षमा न हि।।२३६।।

अन्वयार्थ— (हे शिष्य) सम्बन्ध, जाति, गुण, और क्रियादि से रहित सर्वसाक्षी अपरोक्ष, निखिल द्वैतप्रपञ्च शून्य, चैतन्यस्वरूप, व्यवधान रहित विष्णु के परम पद, नित्यस्वरूप तुझ में अज्ञाननिर्मित ये शब्द प्रवृत्तिक्षम नहीं है।

षष्ठीत्यादिना। संबन्धः षष्ठी। ब्रह्मणि तेषामन्यतमस्याप्यसंभावादित्यर्थः। तत्र हेतुमाह— सर्वस्य विज्ञातरीति। सर्वावभासक इत्यर्थः। ननु स्वावभासकत्वे तस्य स्वात्मनि वृत्तिविरोध इति कथं सर्वस्य विज्ञातेति चेत्, न। तस्य स्वप्रकाशतया स्वत एव नित्यापरोक्षत्वादित्याह- प्रत्यक्ष इति। तदुपपादनाय दृशावित्युक्तम्। तथा चावभास्य-घटादेरवभासकेऽभाव इव चेतनाचेतनात्मक- द्विविधप्रपञ्चशून्यत्वात्तस्मिन्न षठ्यादिसंभव इत्याह-परिवर्जितेति। जगदिति चतुर्विधचेतनप्रपञ्चो निर्दिष्टः। द्वैतशब्देन तदितरः, वैपरीत्येन वेति विवेक्तव्यम्। ननु दृग्रूपमपि पुरुषान्तरसंवेदनं न प्रत्यक्षं तद्वद्ब्रह्मापि किं न स्यादित्याशङ्क्य तयोपाध्यन्तरेण व्यवधानात्तथात्त्वं न निरूपाधिब्रह्मणस्तदित्याशयेनाह— सन्त्यक्तव्यवधानक इति। ननु लिखिलप्रपञ्चकारणस्य कथं परिवर्जितेत्याद्युक्तमिति चेन्न। मायाशबलात्मना तस्य तथात्वेऽपि स्वस्वरूपेण परिशुद्धत्वादित्यभिप्रेत्याह-परमके विष्णोः पदे इति। शाश्वते निर्विकारे इति गुणक्रियाराहित्ये हेत्वन्तरमुक्तम्। शिष्येणैवंभूते ब्रह्मणि

प्रत्यगभेदबुद्धिः कर्तव्येति शिक्षयन्नाह-त्वयीति। किञ्चाज्ञानकार्याणां गिरां तादृशेनैवार्थेन संबन्धो युक्तः समस्वभावयोरेव लोक संबन्धदर्शनात्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेति शब्दतदभिधेययोराविद्यकत्वश्रवणाच्च न त्वज्ञानतत्कार्यविरुद्धेन दृग्रूपेण प्रत्यगात्मनेत्याशयेनाह— अज्ञानविजृम्भिता इति। एवं च कोऽपि शब्दस्त्र प्रवर्त्तितुं नार्हतीति सर्वपदलक्षणैवौचितेति भावः।।२३६।।

षष्ठीत्यादिना= "सम्बन्धः षष्ठी" ब्रह्म के अन्दर उपरोक्त किसी भी सम्बन्ध का संभव नहीं हो सकता। इसका कारण है। सर्वस्य विज्ञातरि= सबका ही अवभासक ब्रह्म है।

प्रश्न= यदि ब्रह्म अपना ही अवभासक मान लेवे तो अपने आप में वृत्ति विरोध हो जायेगा, आत्माश्रय दोष आयेगा। अतः यह कैसे मानें कि ब्रह्म सबका ही विज्ञाता है।

समाधान= यह दोष देना उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्म स्वप्रकाश स्वरूप होने से स्वतः वह नित्य अपरोक्ष स्वरूप ही है। वहां वृत्ति की जरूरत नहीं है। इसलिये कहा। प्रत्यक्ष इति= ब्रह्म में नित्यापरोक्ष्यता है यह सिद्ध करने के लिये कहा दृशो= आत्मा द्रष्टा है दृश्य नहीं है। तो बात यह सिद्ध हो गई कि जिस प्रकार घटपदादि पदार्थ अवभास्य है, यदि ब्रह्म को भी अवभास्य ही मान लेवें तो आवभासक का अभाव हो जायेगा। अर्थात् जैसे अवभासक ब्रह्म में घटादि अवभास्य का अभाव है इसी प्रकार से ब्रह्म में भी चेतनाचेतन द्विविध प्रपञ्च का अभाव होने से ब्रह्म में षष्ठ्यादि सम्भव नहीं। इसलिये कहा परिवर्जितेति। जगदिति=चतुर्विध चेतन प्रपञ्च का निर्देश किया है। इनका किसी का भी सम्बन्ध ब्रह्म में है नहीं, द्वैतशब्द से चतुर्विध चेतन प्रपञ्च का भी निर्देश किया गया सारी शब्दावली अज्ञानमूलक होने के कारण ब्रह्म में उनकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है।

शंका= दृग्रूप (आत्मा) ब्रह्म का पुरुषान्तर संवेदन का विषय होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं माना जाता। इसी प्रकार से ब्रह्म को भी ऐसा ही क्यों न माने?

समाधान= यह जो प्रश्न किया है वह उपाधि को लेकर किया गया है। लेकिन निरूपाधि ब्रह्म कभी भी परोक्ष नहीं हो सकता अतः कहा कि सन्त्यक्तव्यवधानके- जब उपाधिरूप व्यवधान नहीं रहा तो पारोक्ष्यत्व भी नहीं रहा।

प्रश्न= ब्रह्म सारे प्रपञ्च का कारण और ब्रह्म में किसी की गति नहीं है, यह तो विरुद्ध बात कहीं।

समाधान= यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि माया विशिष्ट ब्रह्म परोक्ष होने पर भी स्वरूप से तो ब्रह्म परिशुद्ध ही है। इसी अभिप्राय से कहा कि परमके विष्णोः पदे

इति= शाश्वत, निर्विकार अर्थात् गुण क्रिया से रहित ऐसे ब्रह्म में किसी की भी गति नहीं है। तो ऐसे ब्रह्म में शिष्य को अपनी बुद्धि करनी चाहिये। त्वयीति= इसी प्रकार अज्ञान कार्यों की प्रतिपादक गिरा का शब्द का सम्बन्ध ऐसे कार्यों के साथ ही मानना उचित है। समान स्वभाव बाले शब्द और अर्थ का सम्बन्ध लोक में माना जाता है। वह शुद्ध ब्रह्म नाम रूप से (व्याक्रियते) विकसित हो जाता है। तो शब्द और उसका अभिधेय प्रपञ्चादि दोनों ही अविद्या के आश्रित हैं न कि अज्ञान तथा उसके कार्य का विरोधी द्रष्टा स्वरूप आत्मा है। इस अभिप्राय से कहा है अज्ञान विजृम्भिता इति= इस प्रकार कोई भी शब्द शुद्ध ब्रह्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः सर्वपदलक्षणा मानना ही उचित है।

एवं कस्यापि प्रवृत्तिनिमित्तस्य निष्कले आत्मन्यसंभावान्नैकस्यापि शब्दस्य तत्राभिधावृत्तिः संभवतीत्युक्तम्। इदानीं तत्र संगतिग्रहासंभवादपि नाभिधा संभवतीत्याह—

इस प्रकार कोई भी शब्द चाहे प्रवृत्ति वाचक हो चाहे निवृत्ति वाचक हो उसकी अभिधा वृत्ति निष्कल शुद्धात्मा में संभव नहीं हो सकती, यह बता दिया। अब इस निष्कल आत्मा में संगति ग्रह न होने के कारण भी अभिधा वृत्ति संभव नहीं हो सकती है। यह बताने जा रहे है।

आस्तामत्र वचःप्रवृत्तिविरहः प्रत्यक्त्वहेतोर्दृशि
व्यापाराय मनोऽपि न प्रभवति भ्राम्यत्पराग्भूमिषु।।
एवं चेदखिलप्रमाणपदवीः षोढा विभिन्ना भवानुल्लङ्
घ्यव्यवतिष्ठते त्वयि गिरःस्यान्मुख्यवृत्तिः कथम्।।२४०।।

अन्वयः= अत्र वचः प्रवृत्तिविरहः आस्ताम्। परागभुमिषु भ्राम्यत् मनोऽपि दृशि व्यापाराय न प्रभवति, प्रत्यक्त्व हेतोः। एवं चेत्, षोढा विभिन्ना अखिलप्रमाणपदवीः उल्लङ्घ्य भवान् व्यवतिष्ठते। त्वयिगिरः मुख्य वृत्तिः कथम्।।२४०।।

अन्वयार्थ= इस शुद्ध ब्रह्म में शब्द प्रवृत्ति तो दूर रही, बाह्य जगत में घूमने वाला मन भी दृगात्मा में प्रवेश नहीं पा सकता। क्योंकि वह शुद्ध ब्रह्म प्रत्यगात्मा है। ऐसी परिस्थिति में छह भेदों से विभक्त प्रमाणों की कक्षा को पार कर आप विराजमान है। तुम्हारे स्वरूप में शब्दों की मुख्य (अभिधा) वृत्ति कैसे हो सकती है।

आस्तामिति। तिष्ठत्वित्यर्थः। अत्र निष्कलात्मनि प्रवृत्तिनिमित्ताभावादत्र वचसो मुख्यप्रवृत्तिविरह आस्तां नैतावन्मात्रमिहेति भावः किं तर्ह्यन्यत्तदाह- प्रत्यक्त्वहेतोरिति। द्रष्टृत्वाद्धेतोरित्यर्थः। व्यापाराय ज्ञानाय। मनोऽपीत्यपिशब्देन सकलार्थविभासकतया

सूक्ष्मवस्तुनिर्धारकतया वा चक्षुरादिभ्योऽतिशयं तस्य द्योतयति। न प्रभवति न शक्नोति। मनश्चेदात्मनि ज्ञानं जनयेत्तर्हि मनसा करणेन द्रष्टा स एवान्यो वा। अन्यश्चेत्स एवात्मा न विषयः विषयस्यानात्मत्वनियमात्, एकत्र भोक्तृद्वयायोगाच्च। अत एव स एवेत्यप्यनुपपन्नम्। कर्तृकर्मविरोधोऽपि स्यादिति न द्रष्टरि मनोव्यापारः संभवतीत्याशयेनाह- भ्राम्यदिति। पराग्भूमिषु बाह्यविषयेष्वनिच्छयापि पुनः पुनः प्रवर्त्तमानमित्यर्थः। पराग्विषयेष्वित्यनेन ज्ञानविषयस्य पराक्त्वं ज्ञात्रन्यत्वरूपम् भ्रमतीत्यनेन पराग्विषयप्रवृत्तिशीलत्वं च मनसो दर्शितम्। तथा च श्रुतिः तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् इति। ततः किं? तत्राह- एवं चेदिति। मनः आत्मग्रहायोग्यं चेत्प्रत्यक्षादिषट्प्रकारेण भिन्नास्तदधीनव्यापारनिखिल-प्रमाणानां पदवीर्मार्गानुल्लङ्घ्य भवान्व्यवतिष्ठते, मनोऽधीनव्यापाराहांणि हि चक्षुरादिप्रमाणानि तदगोचरे आत्मनि न प्रवर्त्तितुमर्हन्तीति भवांस्तदविषय इत्यर्थः। ततोऽपि किं तत्राह-त्वयि गिर इति। भवान् त्वयीत्यादिशब्दा अधिकारिणा अहमेवंविध इति प्रतिपत्तव्यमिति सूचनायेत्युक्तम्। एवमग्रेऽपि। प्रमाणान्तरेण हि शब्दस्य संगतिग्रहो वाच्यः। आत्मनि च मनोव्यापारागोचरे न प्रमाणान्तरप्रवृत्तिरिति न तदधीनः शब्दार्थसंगतिग्रहः संभवतीति भावः।।२४०।।

आस्तामिति= रहने दो। प्रकृत में निष्फल आत्मा में प्रवृत्ति निमित्ताभाव होने से वाणी का विषय न होने से आत्मा में वाणी की मुख्य प्रवृत्ति विरह रहने दो, इतने से ही विराम नहीं माना जायेगा। किन्तु प्रत्यक्त्व हेतोरिति= आत्मतत्व का दर्शन कराने के लिये। व्यापाराय= आत्मविषयक ज्ञान प्रदान कराने के लिये मनोऽपि= मन भी। अपि शब्द से जो मन सकलार्थ का अवभासक तथा सूक्ष्म वस्तु का निर्धारण करने में समर्थ है। जो मन चक्षुरादिक से अपनी विशेषता रखता है। ऐसा मन भी, न प्रभवति= आत्म ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकता। क्योंकि यदि मन आत्मविषय का ज्ञान को उत्पन्न करावें तो मन रूपी करण से देखने वाला क्या वही आत्मा है कि अन्य आत्मा है। यदि मन करण से देखने वाला आत्मा अन्य है, तो वही आत्मा तो मन जन्य ज्ञान का विषय नहीं बना। क्योंकि जो भी विषय बनता है वह अनात्म स्वरूप ही होता है। अतः पहिला विकल्प ठीक नहीं है। यदि यह कहें कि मन से देखने वाली आत्मा अलग नहीं है तो एकत्र भोक्ताद्वय नहीं रह सकते। अर्थात् मन से ही आत्मा का भान और मन करण से देखने वाला भी आत्मा तो एक मन में भोक्तृद्वय उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि देखने वाला तथा दिखाई देने वाला दोनों एक होने से दोनों भोक्ता एक मन में कैसे आ सकेंगे। इसलिये स एव वही आत्मा है यह उपपत्ति अनुपपन्न है कर्तृ कर्म विरोध भी होगा। जो कर्ता है वह कर्म नहीं बनता। लेकिन यहां दृश्य आत्मा

तथा द्रष्टात्मा दोनों एक मानने से कर्तृ कर्म विरोध उत्पन्न हो जायेगा। अतः द्रष्टात्मा दोनों एक मानने से कर्तृ कर्म विरोध उत्पन्न हो जायेगा। अतः द्रष्टा रूप आत्मा में मनोव्यापार संभव नहीं हो सकता। इस आशय से कहा जा रहा है, ग्राम्यदिति- पराग् भूमिषु-बाह्य विषयों में इच्छा न होने पर बराबर मन प्रवृत्त होता है। पराग् विषयेषु= इस पद से ज्ञान का विषय बाह्य है। ज्ञाता आत्मा से अन्य है। भ्रमति= इस पद से यह निश्चित होता है कि आत्मा से भिन्न बाह्य विषयों में प्रवृत्तिशीलता मन की हैं, वह बता दिया। इसलिये श्रुति ने कहा कि तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् इसीलिये मन अन्तरात्मा को देख नहीं पाता।

प्रश्न= इससे क्या लाभ हुआ?

उत्तर= एवं चेदिति= मन आत्मग्रहण करने योग्य न हो तो फिर प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि छह प्रमाण भिन्न भिन्न हैं लेकिन ये सभी प्रमाण मन के अधीन हैं।, इनके पदवीम्- मार्गों का उल्लंघ्य= अतिक्रमण करके, भवान्- आप वेदान्तीजी व्यवतिष्ठते= खडे हैं। क्योंकि सभी प्रमाण तो मन के व्यापाराधीन है। और आत्मा तो मनका जब विषय नहीं बनेगा। अर्थात् जब आत्मा मनसे अगोचर है तो मन के अधीन इन बिचारें प्रमाणों की तो आत्मा में किसी प्रकार की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। इसलिये भवान् आप वेदान्तीजी आत्मा को विषय न बतलाने में स्थित हैं।

प्रश्न= इससे क्या होगा।

समाधान— त्वयि गिर इति= तो वेदान्ती जी महाराज आपको अपने जो वेदान्त के अधिकारी जिज्ञासु हैं, उनके प्रति यही कहना पडेगा कि ऐसा ही सभी प्रमाणों से रहित, शब्द प्रमाण से रहित ही आत्मा को समझना होगा। इसी प्रकार से आगे भी अखण्डार्थ बोध के प्रति, लक्षणा के प्रति भी ऐसा ही कहना पड़ेगा। छह प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण के द्वारा शब्द की संगति ग्रह आत्मा में माननी पडेगी। लेकिन यह भी संभव नहीं है। क्योंकि जब आत्मा मन व्यापार का जब अगोचर है तो छह प्रमाणों से अतिरिक्त किसी भी प्रमाण का भी वह अगोचर ही है। इसलिये छह प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण की कल्पना करना व्यर्थ है। अतः मन के अधीन शब्दार्थ संगति ग्रह सम्भव नहीं है, यह बात सिद्ध हो गई।

नन्वेवं लक्षणयापि कथमात्मानं वेदान्तः प्रतिपादयेत्, तस्य विषयतयाऽनात्मत्वप्रसंगादिति चेत्, किं फलव्याप्यतारूपविषयत्वेन तस्यानात्मत्वम्, किं वा वृत्तिव्याप्यत्वेन। आद्ये तथैव तत्। अत एव नास्माभिरपि तथा वर्ण्यत इत्याशयेनाह—

समाधान= लक्षणा के द्वारा ही आत्मा का प्रतिपादन वेदान्त करेगा।

पूर्वपक्ष= यदि लक्षणा के द्वारा आत्मा का प्रतिपादन हो तो आत्मा लक्षणा का विषय हो जाने के कारण उसमें आत्मा में अनात्मत्वप्रसंग आयेगा क्योंकि जो जो विषय होगा वह अनात्मस्वरूप ही होगा।

समाधान= क्या आत्मा में जो विषयता आप पूर्वपक्षी लक्षणा के द्वारा कह रहे हो। वह क्या फल व्याप्यता रूप विषयता को लेकर कह रहे हो। अथवा वृत्ति व्याप्यत्वेन रूपेण विषयता कह रहे हो।

पूर्वपक्ष= फल व्याप्यत्वेन रूपणे विषयता हम कह रहे है-

वेदान्त समाधान= यह तो हम कह नहीं रहे हैं। इसलिये हम वेदान्ती आत्मा का निरूपण फल व्याप्यत्वेन रूपेण नहीं कर रहे है। इसी अभिप्राय से अग्रिम श्लोक कह रहे हैं–

आत्मानं न तु कर्मतामुपनयञ्छब्दो वदेल्लक्षणा-
मार्गेणापि यतः पराग्विषयवन्नास्येष्यते कर्मता।।
प्रत्यक्ता हि विरुध्यते यदि भवेदस्यात्मनः कर्मता
यद्यत्कर्म न तस्यतस्य भवति प्रत्यक्स्वभावो यतः।।२४१।।

अन्वयः= शब्दो लक्षणामार्गेणापि आत्मानं कर्मतां उपनयन् न तु वदेत् यतः पराग्विषयवत् अस्य कर्मता न इष्यते। यदि अस्य आत्मनः कर्मता भवेत्, तदा प्रत्यक्ता विरुध्यते, यतः यत् यत् कर्म भवति, तस्यतस्य प्रत्यक्त्वभावो न भवति।।२४१।।

अन्वयार्थः= शब्द लक्षणा के द्वारा भी आत्मा को कर्म बनाकर नहीं कहता, क्योंकि बाह्य विषय के समान इस आत्मा में कर्मता नहीं मानी जाती है। यदि इस आत्मा में कर्मता होगी तो आत्मागत प्रत्यग्रूपता का विरोध होगा। इसका कारण यह है कि जो जो कर्म होता है, वह प्रत्यक् स्वरूप नहीं होता है।२४१।।

आत्मानमिति। कर्मतां फलव्याप्यतामुपनयन्नायञ्छब्द आत्मानं लक्षणावृत्त्यापि कर्मतामुपनयन्नैव वदेदिति संबन्धः। ननु वेदान्तानामात्मन्यपरोक्षज्ञानजनकत्वादिन्द्रियवत् कथं तत्र न फलाधायकत्वमित्याशङ्क्याह– घटादेरिवेत्यर्थः। घटादेर्हि जड़त्वात् प्रमाणाधीनस्फुरणाश्रयत्वं विना न स्फुटता संभवति। आत्मनस्तु स्वतएव स्फुटत्वात्तदतिरिक्तस्फुरणासंभवाच्च न प्रमाणाधेयस्फुरणाश्रयत्वमिति न फलव्याप्येत्यर्थः। न द्वितीयः। तन्त्वौपनिषदमिति श्रुत्याऽऽत्मन्यपि तत्सिद्धेः। न चैवमन्यदेव तद्विदितादिति श्रुतिविरोधः। तस्याः फलव्याप्यत्वमात्रनिषेधपरत्वात् अन्यथाऽनन्यथासिद्धवर्णितश्रुतिविरोधः

स्यादित्याशयेनाह-प्रत्यक्तेति। हिरवधारणे। अस्यात्मनो यदि कर्मता भवेत्तर्ह्येव प्रत्यक्ता विरुद्ध्यत इति संबन्धः। एवं च वृत्तिव्याप्यत्वे न दोष इति भावः। तथैव नियममाह—यद्यदिति। यतो यद्यदिति सम्बन्धः।।२४१।।

आत्मानमिति= कर्मताम्= फलव्याप्यता को लेकर, उपनयन्= फलव्याप्यता को प्राप्त करके, शब्द= शब्द आत्मा का बोध लक्षणावृत्ति के द्वारा आत्मा को कर्म मान करके नहीं करा सकता है।

पूर्वपक्ष= वेदान्त वाक्य से आत्मा में अपरोक्षज्ञानजनकत्व होने से आत्मा में फलव्याप्यत्व मानना चाहिये क्योंकि इन्द्रियों से विषय का प्रत्यक्ष होने पर जैसे विषयों में फलव्याप्यता है। वैसे आत्मा में भी मानी जाय।

समाधान= यत् इति= घटादि आत्मा से भिन्न विषय होने के कारण उनमें फलव्याप्यता है। लेकिन आत्मा स्वतः चेतनस्वरूप स्फुट स्पष्ट होने के कारण आत्मातिरिक्त और कोई स्फुरण कराने वाला न होने से प्रमाणाधीन स्फुरणाश्रयत्व रूप फल व्याप्यत्व आत्मा में नहीं आ सकता। घटादि जड़ पदार्थ होने के कारण प्रमाणाधीन स्फुरणाश्रयत्व उन पदार्थों में होने से उनमें फलव्याप्यता है। आत्मा में वृत्तिव्याप्यता तो है। "तन्तवौपनिषदमिति" इस श्रुति से भी आत्मा में वृत्ति व्याप्यता सिद्ध होती है।

शंका= वृत्तिव्याप्यता का स्वीकार करने पर "अन्यदेव तद्विदितादिति आत्मा जानने से परे है। इत्यादि श्रुति का विरोध होगा।

समाधान— इस श्रुति ने तो फलव्याप्यता का ही निषेध किया है न कि वृत्ति व्याप्यताका।

अन्यथा— वृत्ति व्याप्यत्व का अस्वीकार करने से, अनन्यथा सिद्ध वर्णित पदार्थ के साथ श्रुति विरोध होगा। तात्पर्य यह कि फलव्याप्यता अभिप्रेत नहीं है वृत्तिव्याप्यता अभिप्रेत है। यदि वृत्तिव्याप्यता भी अभिप्रेत नहीं है तो फिर अनन्यथा सिद्ध श्रुति वर्णित विरोध होगा। क्योंकि उस वृत्ति व्याप्यता के बिना काम ही चलने वाला नहीं है। इस आशय से कहा है। प्रत्यक्तेति= हि= अवधारणार्थ। यदि इस आत्मा में कर्मता आवें तभी तो प्रत्यक्तता का विरोध होगा। लेकिन वृत्तिव्याप्यत्व मानने से आत्मा में कर्मता नहीं आती। जिससे आत्मा में प्रत्यक्तता का विरोध भी उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार वृत्ति व्याप्यत्व को मानने से कोई दोष उत्पन्न नहीं होता है। इसके अनुसार नियम भी बता रहे है- "यद्यदिति= जो जो कर्म होता है वह वह प्रत्यक् स्वभाव युक्त नहीं हो सकता।।"

एवं प्रत्यक्षादिसर्वप्रमाणागोचरत्वमुक्त्वा तेनैव चक्षुराद्यगोचरत्वमपि सिद्धवत्कृत्य, अग्राह्यमित्यादिश्रुत्यनुरोधेन न्यूनतापरिहाराय च कर्मेन्द्रियागोचरत्वमप्याह—

इस प्रकार आत्मा प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों का अगोचर बताकर इससे ही आत्मा चक्षुरादि का अगोचर है यह बात भी सिद्धवत् समझकर कही। अग्राह्यं अगोत्रम् इत्यादि श्रुति के अनुरोध से जो थोडी सी कमी रहती है उसे हटाने के लिये आत्मा में कर्मेन्द्रियों की अगोचरता भी बता रहे है-

वागादेः खलु बाह्यस्तु विषये नात्मा यतो नात्मनि
व्यापारं करणस्य कस्यचिदपि प्रेक्षामहे न्यायतः।
यत्किंचित्करणं जगत्त्रयगतं तत्प्रत्यगात्मेक्षितं
बाह्ये वस्तुनि वर्त्ततेऽनुभवनं तत्र प्रमाणं मतम्।।२४२।।

अन्वयः= वागादेः खलु बाह्यवस्तुविषयः न आत्मा, यतः आत्मनि कस्यचिदपि करणस्य व्यापारं न्यायतः न प्रेक्षामहे। जगत्त्रयगतं यत्किञ्चित्करणम्, तत् प्रत्यगात्मेक्षितम्। बाह्ये वस्तुनि अनुभनं न वर्तते। तत्र प्रमाणं मतम्।।२४२।।

अन्वयार्थः= वागादि की निश्चित रूप से बाह्य वस्तु ही विषय होती है, आत्मा नहीं क्योंकि आत्मा में किसी कारण का व्यापार न्यायोचित देखने में नहीं आता है। इसमें त्रैलोक्य वाक्य में जो भी करण जात है वह सब प्रत्यगात्मा से अधिष्ठित होकर बाह्य वस्तु का ही अनुभव कराता है। अतः उसी में प्रमाण भी माना जाता है।

वागादेरिति। आदिपदेन पाण्यादिग्रहणम्। खल्विति सकलवादिप्रसिद्धिमाह-बाह्यवस्त्विति। वक्तव्यादिरूपशब्दादीत्यर्थः। आत्मा विषयो नेत्यनुषङ्गः। कुतस्तत्राह-यत इति। यतो न्यायत आत्मनि कस्यचित्करणस्य वागादिमध्ये कस्यापि करणस्य व्यापारं न प्रेक्षामहे इति सम्बन्धः। किं वागादिः स्वस्य प्रसिद्धप्रवचनादिव्यापारेणात्मानं विषयीकरोति, उत व्यापारान्तरेण। नाद्यः', तस्यात्मन्यसंभवात्। न हि शब्दादिविलक्षणे वागादेर्वचनादानादिगोचरत्वं संभवति। न द्वितीयः, तेन विनाऽनुपपत्त्यभावेन तदसिद्धेरित्यर्थः। किं च जगति यावत् किंचित्करणमस्ति तस्य सर्वस्य नात्मा गोचरः, सर्वं हि करणं प्रत्यगात्माधिष्ठितं बाह्यमेव विषयीकरोतीति सर्वेषामनुभवसिद्धमित्याह-यत्किंचिदिति। ईक्षितम्। अधिष्ठितम्। तत्र-तस्मिन्नर्थे।।२४२।।

वागादेः खल्विति—सम्पूर्ण वादिजनों का अभिमत है। क्या? बाह्यवस्त्विति- वागादिरिति आदि पद से हाथ, पाद आदि कर्मेन्द्रिय का भी ग्रहण कर लेना। जिन जिन पदार्थों का वक्तव्य दिया जाता है ऐसे एक आत्मा को छोडकर सभी पदार्थ बाह्य वस्तु से संगृहीत करनी। ऐसा क्यों है? यत इति= जब कि न्याय ही ऐसा है कि आत्मा में न्यायानुसार

किसी भी करण की (इन्द्रिय की) वाणी आदि के बीच में किसी भी इन्द्रिय का व्यापार आत्मा में देखा नहीं देखा जाता है इसलिये यहां सिद्धान्ती विकल्प कर रहे है कि वाणी आदि अपने अपने प्रसिद्ध प्रवचनादि व्यापार के द्वारा आत्मा को विषय बनायेंगे अथवा अन्य व्यापार के द्वारा आत्मा को विषय बनायेंगे। इसमें पहिला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा तो शब्द से विलक्षण होने के कारण वागादिक के वचनादि गोचरत्व उसमें संभव नहीं होगा। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि दूसरे व्यापार के बिना आत्मा में कोई अनुपपत्ति तो आती नहीं जिससे आत्मा बोध सम्भव न हो। अतः दूसरा व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि जगत् में जितने भी कारण है उन कारणों का आत्मा गोचर (विषय) तो होता नहीं। सभी करणजात प्रत्यगात्मा को अधिष्ठान् बनाकर (प्रत्यगात्मामें अध्यस्त होकर) आत्मा से (भिन्न) बाह्य पदार्थों को ही विषय बनाते हैं, यह बात सबके अनुभव सिद्ध है। यत्किंचिदिति= ईक्षितम्= अधिष्ठितम् (अध्यस्त) है। तत्र= उस अर्थ में ही विषयता है। न कि प्रत्यगात्मा में विषयता है।

मनोव्यापारागोचरत्वेन तदधीनव्यापारनिखिलप्रमाणागोचरे आत्मनि संगतिग्रहासंभवात्प्रवृत्तिनिमित्ताभावाच्च न मुख्यवृत्त्या शब्दप्रवृत्तिरित्युपपादितमुपसंहरति—

इस प्रकार आत्मा मानस व्यापार का (अगोचर) अविषय होने से मनो व्यापाराधीन सम्पूर्ण प्रमाण है उनका भी वह आत्मा अगोचर (अविषय) अपने आप हो जाने से, आत्मा में किसी भी प्रमाण की संगति सिद्ध नहीं होने से प्रवृत्ति भी न होने से शब्द की मुख्य वृत्ति आत्मा में उत्पन्न नहीं हो सकती इसी बात को लेकर उपसंहार कर रहे हैं।

प्रत्यग्रूपमतो न शब्दविषयो बुद्धेरवेद्यं यतो
बुद्धिर्यत्र हि विद्यते स विषयः शब्दस्य नात्मन्यसौ।।
तेनात्मानमसौ न गोचरयितुं शब्दः क्षमो मुख्यया
वृत्त्या वेतरयापि तेन न तया तस्यात्मनः कर्मता।।२४३।।

अन्वयः= अतः प्रत्यग्रूपं शब्दविषयो न, यतः बुद्धेः अवेद्यम्। यत्र हि बुद्धि वर्तते, स शब्दस्य विषयः, असौ आत्मनि न। तेन असौ शब्दः मुख्यया वृत्या आत्मानं गोचरयितुं न क्षमः। तेन इतरया अपि तया मस्य आत्मनः कर्मता नैव।।२४३।।

अन्वयार्थः= इसलिये प्रत्यगात्मा शब्द का विषय नहीं है क्योंकि वह बुद्धि से अवेद्य है। जिस विषय में बुद्धि जाती है वही शब्द का विषय होता है। लेकिन आत्मा को बुद्धि विषय नहीं कर सकती अतः आत्मा शब्द का विषय भी नहीं है। इस कारण से यह शब्द मुख्यवृत्ति से (अभिद्या वृत्ति से) आत्मा को विषय न ही बना सकता। इसलिये अन्य (लक्षणा) वृत्ति से भी शब्द आत्मा को कर्म (विषय) नहीं बना

सकता।।२४३।।

प्रत्यग्रूपमिति। प्रत्यग्रूपं यतो बुद्धेर्मनसोऽवेद्यं ततः शब्दविषयो नेति संबन्धः। बुद्ध्यविषयोऽपि शब्दविषयः किं न स्यादित्याशङ्क्याह– बुद्धिरिति। शब्दस्य बुद्धिवृत्तिकरणत्वात्तद्गोचर एव वृत्तिरित्यर्थः। ततः किं तत्राह-नात्मनीति। असौ बुद्धिः। ततोऽपि किं तत्राह-तेनेति। येन बुद्धिरात्मनि न प्रवर्त्तते तेनोक्तन्यायेन संगतिग्रहासंभवादसौ शब्द आत्मानं मुख्यया वृत्त्येतरया लक्षणया वा गोचरयितुं न क्षम इति सम्बन्धः। लक्षणया तद्गोचरत्वनिषेधश्चात्मनः फलव्याप्यत्वाभावाशयेन। तमेवाह-तेनेति। येनात्मनः सर्वप्रमाणफलरूपत्वान्न फलव्याप्यता तेनेत्यर्थः।।२४३।।

प्रत्यग्रूपमिति= प्रत्यग्रूप जो आत्मा वह जबकि मन से भी अवेद्य है। मन- का विषय नहीं है तो कैमुतिकन्याय से शब्द प्रमाण का भी विषय नहीं बनेगा। अर्थात् शब्द से भी यह आत्मा अवेद्य ही हैं

शंका= बुद्धि का (मनका) विषय आत्मा नहीं रहने पर भी शब्द का विषय यदि आत्मा को मान लेवें तो क्या दोष है?

समाधान= बुद्धिरिति= शब्द की प्रवृत्ति भी बुद्धि के वृत्ति द्वारा (मनके वृत्ति द्वारा) ही संपन्न होती है तो जो मनका (बुद्धि का विषय हो गया वही शब्द का विषय होगा।

यह तात्पर्य है।

शंका= इस कहने से क्या लाभ हुवा?

समाधानः= नात्मनीति= आत्मा शब्द का विषय नहीं बना। असौ= बुद्धि।

शंका= इससे भी क्या लाभ हुवा?

समाधान= तेनेति= जब बुद्धि आत्मा में प्रवृत्त नहीं हो रही है। इसी न्याय को लेकर आत्मा के साथ शब्द की संगति यह सम्भव नहीं होने से शब्द आत्मा को न तो मुख्य वृत्ति से विषय बना सकता है और न ही लक्षणा वृत्ति से आत्मा को विषय बना सकता है। लक्षणावृत्ति का निषेध किया गया है वह आत्मा में फलव्याप्यत्व न होने के कारण किया है। इसी बात को कह रहे हैं तेनेति= जब की आत्मा सभी प्रमाणों का फलस्वरूप है इसलिये आत्मा में फलव्याप्यता नहीं है। अर्थात् आत्मा से प्रमाणों की सत्ता है न कि प्रमाणों से आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। अतः फलव्याप्यत्व नहीं है, यह बात सिद्ध हुई।

नन्वात्मनः फलव्याप्यत्वाभावे शास्त्रजन्यज्ञानविषयत्वं नास्तीत्यज्ञेयं ब्रह्म स्यात्। एवं च तं त्वौपनिषदमिति श्रौती, शास्त्रयोनित्वादिति सौत्री च तस्य शास्त्रप्रमाणकत्वप्रतिज्ञा न सिद्ध्येदिति उक्तां व्यवस्थां द्दढीकर्तुं शङ्कते—

शंका= यदि आत्मा में फलव्याप्यता नहीं है इसका मतलब यही हुआ कि आत्मा में शास्त्रजन्यज्ञान विषयता नहीं है इससे ब्रह्म तो अज्ञेय ही माना जायेगा। फिर तो यह जो कहा है कि "तं त्वौपनिषदमिति श्रौती" मैं हे शिष्य तुझे उपषिद् प्रतिपाद्य आत्मा का स्वरुप बताता हूँ ऐसी श्रुति है। इसी प्रकार से "शास्त्रयोनित्वादिति" यह ब्रह्मसूत्र का सूत्र तथा "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि श्रुति प्रमाण के आधार पर ब्रह्म को सिद्ध करने की शास्त्र की प्रतिज्ञा, श्रुति की प्रतिज्ञा, सिद्ध नहीं होगी। इस प्रश्न को और द्दढ करने के लिये बोल रहे हैं।

नन्वज्ञेयमिदं भवेद्यदि मम प्रत्यक्स्वरुपं ततः
प्रामाण्यं कथमस्य वेदशिरसस्तत्र प्रतिज्ञायते।।
यन्मेयं न भवेत्कदाचिदपि तद्वेदान्तवेद्यं भवे
दित्येतद्वचनं पराहतपदं वक्तुं न युक्तं बुधैः।।२४४।।

अन्वयः= ननु यदि मम प्रत्यक्स्वरुपं अज्ञेयं भवेत्, ततः तत्र अस्य वेदशिरसः प्रामाण्यं कथं प्रतिज्ञायते? यत् कदाचिदपि मेयं न भवेत् तद् वेदान्तवेद्यं भवेत्। इत्येतत् पराहतपदं वचनं बुधैः वक्तुं न युक्तम्।।२४४।।

अन्वयार्थः= यदि मेरा प्रत्यक् स्वरुप अज्ञेय है तो उसमें वेदान्त की प्रमाण्यता की प्रतिज्ञा कैसे होगी? ऐसा संशय होता है। क्योंकि जो कभी भी ज्ञेय है नहीं, वह वेदान्त वेद्य होता है यह विरुद्ध वचन विद्वानों को सुशोभित नहीं करता।।२४४।।

नन्विति चोद्ये। इदं- प्राङ्निर्धारितस्वभावं ममेदं प्रत्यक्स्वरुपमिति सम्बन्धः। ततस्तर्हि।। तत्र इत्थंभूते मम स्वरुपे। प्रतिज्ञायते श्रुतिसूत्रकाराभ्यामिति शेषः। कथंशब्दसूचितं दूषणमेव व्यनक्ति-यन्मेयमित्यादिना। अथवा फलाव्याप्यत्वेऽपि ब्रह्मणो वृत्तिव्याप्यत्वान्न प्रतिज्ञाबाध इत्योशङ्क्य तर्हि धर्मादिवच्छास्त्रोत्थवृत्तिचैतन्यविषयत्वं स्यादन्यथा चिदचित्संवलितप्रमाविषयत्वाभावाद्ब्रह्म मेयं न भवेदिति तत्र प्रामाण्यप्रतिज्ञा कथं न व्याहन्येतेत्याह-यन्मेयं न भवेदिति। कदाचिदपि यन्मेयं नेति संबन्धः। पराहतानि अन्योऽन्यं विरुद्धानि पदानि यस्मिंस्तत्तथा।।२४४।।

नन्विति= जिस आत्मतत्त्व का निरूपण किया है वह तो अज्ञेय ही है। इदं- पहिले जिसके स्वभाव का निर्धारण किया है ऐसा जो मेरे आत्मा का स्वरुप। जिसका श्रुति और सूत्रकार ने निरुपण किया है। लेकिन यहां तो सब दूषण ही दूषण नजर में आ

रहे हैं। अतः श्रुति और सूत्र की भी प्रमाणिकता सिद्ध नहीं हो पाती है। क्योंकि "यन्मेयं न भवेत्"= जो कभी प्रमेय नहीं बन सकता। विषय नहीं बन सकता ऐसा ब्रह्म वेदान्त वेद्य है यह तो विरूद्ध बात है। अथवा इसका अर्थ यह करेंगे= ब्रह्म में फल में व्याप्यत्व न होने पर भी वृत्ति व्याप्यत्व तो है ही। इसलिये शास्त्रोक्ति श्रुति और सूत्रोक्तिका बाध नहीं होगा। यदि ऐसा कोई उत्तर देवे तो उसपर पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि जिस प्रकार धर्मादिक में शास्त्र से उत्पन्न वृत्यवच्छिन्न चैतन्य विषयत्व हैं, फलव्याप्यत्व नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म में भी शास्त्र से उत्पन्न वृत्यवच्छिन्न चैतन्य विषयत्व है, फलव्याप्यत्व नहीं है, ऐसा मानना होगा। यदि शास्त्र से उत्पन्न वृत्यवच्छिन्न विषयत्व ब्रह्म में न माने तो चेतन और जड़ दोनों की सम्मिलित प्रमाविषयता तो बन नहीं पायेगी। दोनों परस्पर विरूद्ध स्वभाव वाले होने के कारण। तो दोनों की सम्मिलित प्रमा उत्पन्न न होने से ब्रह्म में फिर विषयता संभव नहीं हो पायेगी। तो ब्रह्मविषयक प्रामाण्य की प्रतिज्ञा की उसकी दूषकता वैसी ही रह जायेगी, वह दोष नहीं हटेगा। इसलिये कहा- "यन्मेयं नभवेदिति" जो कभी भी विषय (मेय) नहीं बनता वही ब्रह्म वेदान्तवेद्य है। पराहतादि- परस्पर ये विरूद्ध बातें है। और ऐसी विरूद्ध बातें विद्वानों को शोभित नहीं करती हैं।

ब्रह्मणः स्वप्रकाशतया चिदन्तराभावाच्च चैतन्याविषयत्वेऽपि शास्त्रस्य तत्र प्रामाण्य-प्रतिज्ञा न विरूद्ध्यत इति परिहरति-

ब्रह्म स्वप्रकाशस्वरूप होने के कारण अन्य चेतनान्तर की जरूरत नहीं है। अतः ब्रह्म चैतन्य का विषय न होने पर भी तद्विषयक शास्त्र की प्रामाणिकता तो विरूद्ध नहीं है - इस प्रकार से उपरोक्त शंका का समाधान करते हैं–

नैतद्वस्तुनि कल्पितस्य जगतो वाक्यप्रसूतप्रमा
बुद्धिर्मूलधगिष्यते तव निजस्वाकारमात्रग्रहात्।।
कर्मत्वं न करोति वाक्यजनिता बुद्धिः स्वरूपे तव
स्वाकारग्रहणेन केवलमियं संसारमियं संसारमूलं दहेत्।।२४५।।

अन्वयः= एतत् न, वाक्यप्रसूतप्रमाबुद्धिः वस्तुनि कल्पितस्य जगतः मूलधक् इष्यते। वाक्य जनिता बुद्धिः निजस्वाकरमात्रग्रहात् तव कर्मत्वं न करोति। इयं तव स्वरूपे स्वाकारग्रहणेन केवलं संसारमूलं दहेत्।

अन्सयार्थः= शिष्य तेरी यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि वेदान्त वाक्यजन्य प्रमात्मक वृत्ति वह आत्मा में कल्पित जगत् के मूल अज्ञान का दाह करा देती है। वाक्यजन्यवृत्ति अपने स्वाकरमात्र का ग्रहण करने

से तेरे (शुद्ध स्वरूप) को कर्म नहीं बना सकती। यह वाक्यजनित प्रमा तेरे स्वरूप में स्वाकार ग्रहण के द्वारा केवल संसार मूल को भस्मसात् करती है।

नैतदिति। त्वदुक्तं दूषणं नेत्यर्थः। कुतः? यतो वाक्यप्रसूतप्रमारूपा बुद्धिर्वस्तुनि कल्पितस्य जगतो यन्मूलमज्ञानं तद्दहति नाशयतीति मूलधगिष्यते ततश्च निवर्त्तकत्वेन तत्र शास्त्रप्रामाण्यमुपपद्यत इति भावः।

ननु बुद्धिरूपाया अपि प्रमायाः स्वगोचरविषयाज्ञानादिनिवर्त्तकस्वभावत्वाद्ब्रह्मणः शास्त्रीयप्रमाविषयत्वाभावे कथं तस्यास्तन्निवर्त्तकत्वमिति चेत्। न। अस्त्येव हि ब्रह्मणो घटादिवद् वृत्तिविषयत्वं स्वप्रकाशस्याप्यसजातीयविषयत्वस्येच्छाविषयत्ववत् प्रदीपादेर्ज्ञानविषयत्ववच्चाविरोधात्। चैतन्यांशविषयत्वं तु स्वप्रकाशे विरूद्धमेव। न च तव तन्मानमस्ति तथापि प्रकृते न काचित्क्षतिः, अविद्याविषयस्य पूर्णचैतन्यस्यैव प्रकाशमानस्याविद्यानिवर्त्तकत्वापपत्तेः। तदाकारसाक्षात्कारवृत्त्या ह्यनभिव्यक्तिरूपावरणनिवृत्तौ प्रकाशमानचैतन्यस्यैव सर्वत्राविद्यादिनिवर्त्तकत्वमिति वृत्तौ तदवकारतामात्रमपेक्षितं तच्चेहास्तीत्याह-तव निजेति। निजो यः स्वस्वभावभूतश्चैतन्याद्वयानन्दघन आत्मा तदाकारमात्रग्रहादित्यर्थः। मात्रपदेनाहङ्कारादि व्यावर्त्तयति। नन्वज्ञानस्य घटादौ स्वगोचरकर्मकज्ञानान्निवृत्तेरिहाप्यज्ञानत्वेनावृतब्रह्मगोचरज्ञाननिवर्त्यत्वमनुमीयतइत्याशङ्क्य जडगोचरत्वं तन्नोपाधिरित्याशयेनाह-कर्मत्वं न करोतीति। किं चाविद्यानिवृत्तेरविद्याविषयस्य प्रकाशमात्रेण तदाकारवृत्त्यभिव्यक्तेनोपपत्तौ न कर्मत्वं तत्प्रयोजकमित्यप्रयोजकत्वं हेतोरित्यभिप्रत्याह-तव स्वाकारग्रहणेनेति। केवलं कर्मत्वरहितं यथा स्यात्तथेयं तव स्वाकारग्रहणेनेति संबन्धः। एवं च वेदान्तादिजन्यवृत्त्याकारमात्रतया ब्रह्म वृतिव्याप्यमेव न तु घटादिवत्फलव्याप्यं नापि धर्मवद् वृत्तिचैतन्यविषय इति भावः।।२४५।।

नैतदिति= हे पूर्वपक्षी आपका यह दूषण देना उचित नहीं है क्योंकि शास्त्रोक्तवाक्य के द्वारा प्रमारूप बुद्धि का उदय हो जाने पर ब्रह्म में कल्पित ऐसे प्रमा ब्रद्धि को मूलधग् भी कहते हैं। अज्ञान रूपी मूल की जलने वाला उसे कहते हैं। इसलिये जगत् प्रमा उसका कारण अज्ञान दोनों की निर्वतक शास्त्र प्रमा है। तो शास्त्र में प्रामाण्यता निवर्तकत्वेन रूपेण उपपन्न हो जाती है।

शंका= प्रमा बुद्धिस्वरूप होने से जिस विषयक प्रमा होती है उस विषयक अज्ञान की निवृत्ति करना यह प्रमा का स्वभाव हो जाता है। तो प्रकृत में ब्रह्म जब शास्त्रीय प्रमाणविषय नहीं है तो फिर ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति ब्रह्म विषयक प्रमा से कैसे होगी?

समाधान= ब्रह्म में भी घटादिपदार्थ के समान वृत्तिविषयत्व है अर्थात जैसे घटादिपदार्थ वृत्ति के विषय बनते हैं वैसे ब्रह्म भी वृत्ति का विषय हो जाता है। यह कोई नियम नही है कि जो घटपटादि जड पदार्थ ही वृत्ति का विषय बनें। स्वप्रकाश ब्रह्म भी उससे भिन्न असजातीय विषय जैसे इच्छाओं का विषय होता है-, जैसे दीपादि ज्ञान का विषय होते हैं इसीप्रकार स्वप्रकाश ब्रह्म भी वृत्तिका विषय हो जाता है। हां यह बात सच है कि ब्रह्म स्वप्रकाश स्वरूप होने के कारण चैतन्य का विषय नहीं हो सकता। अर्थात् स्वरूप का विषय नहीं बन पाता। ब्रह्म चैतन्य का विषय नहीं बन पाता इसमें यद्यपि कोई प्रमाण नहीं है तथापि ब्रह्म को चैतन्य का विषय न मानने से कोई क्षति भी नहीं है। तो ब्रह्म में वृत्तिविषयता मानने में कोई दोष नहीं है। इससे क्या लाभ होगा? यदि ऐसा प्रश्न कोई करें तो उसका समाधान यह है कि अविद्या अवस्था में जो ब्रह्म वृत्ति का विषय होता है वही ब्रह्म बाद में विद्या अवस्था में वृत्ति का विषय बनकर, अविद्या की निवृत्ति करा देता है। क्योंकि जिस आकाराकारितसाक्षात्कारवृत्ति से अनभिव्यक्त आवरण की निवृत्ति होती है, (अर्थात्) इसलिये प्रकाशमान् चैतन्य ही सर्वत्र अविद्या का निवर्तक होने से ब्रह्म वृत्ति का विषय जरूर होना चाहिये और वह प्रकृत में है इस बात का उल्लेख कर रहे हैं। तच्च निजेति= निज्= स्वयं का जो अपना स्वभाव अर्थात् चेतन आनन्द अद्वय घन ऐसा आत्मा इसके आकाराकारित वृत्ति हो जाती है। अर्थात् ऐसा आत्मा वृत्ति का विषय बन जाता है। मात्र= मात्र पद देने से अहङ्कारादिक की व्यावृत्ति करनी है।

शंका= घट विषयक अज्ञान की निवृत्ति घट (विषयक) गोचर कर्म के ज्ञान से होती है- इसी प्रकार से ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति भी ब्रह्म गोचर कर्म के ज्ञान (विषयक) से माननी चाहिये।

समाधान= घटादि पदार्थ तथा ब्रह्म इन दोनों में जड़ गोचरत्व उपाधि है। अर्थात् घटादि विषय में तो यह नियम चलेगा लेकिन ब्रह्म को लेकर यह नियम नहीं चल सकता। साध्य व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वं उपाधेः लक्षणम्।। इसी आशय से कहा कि कर्मत्वं न करोति इति= ब्रह्म विषयक कर्मत्व नहीं हो सकता इत्यादि तो अविद्या निवृत्ति करने के लिये अविद्या का विषय जो ब्रह्म उस का प्रकाश मात्र होने से अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति में ब्रह्म के अभिव्यक्त होने मात्र ही अविद्या की निवृत्ति होती है। वहां कर्मत्व प्रयोजक नहीं है। क्योंकि ब्रह्म स्वप्रकाशस्वरूप होने से वहां कर्मत्व नहीं है। इसलिये कहा= तत्र स्वाकारग्रहणेनेति= केवल= कर्मत्व से रहित होकर जैसे हो वैसे इसप्रकार वृत्ति का विषय ब्रह्म होगा। तो तात्पर्यार्थ यह हुआ कि वेदान्त वाक्य जन्य वृत्ति का विषय ब्रह्म बन जाने से ब्रह्म में केवल वृत्ति व्याप्यत्व है न कि घटादि जड पदार्थों के समान फल व्याप्यत्व

भी है। और न तो धर्मादिक के समान् वृत्ति चैतन्य विषयत्व ब्रह्म में है यह व्यतिरेकी दृष्टान्त हुवा।। अर्थात् धर्म में वृत्तिव्याप्यत्व है, फल व्याप्यत्व नहीं है, यह भाव हुवा।

ननु तदाकारवृत्तिव्यक्तचैतन्यविषयत्वं विनाऽविद्यादिनिवृत्ति मात्रेण परीक्षकाणां न संमतमित्याशङ्क्य मीमांसकानां तावत्तत्संमतमित्याह—

ब्रह्माकार वृत्ति चैतन्य विषयत्व के बिना केवल अविद्या की निवृत्ति मात्र होने से परीक्षकों के दृष्टि में प्रामाणिकता नहीं आ सकती। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर मीमांसको की भी इस विषयक सम्मति प्रदान कर रहे हैं—

संविद्व्युत्पादकं यद्ववचनमभिमतं कर्ममीमांसकानां
तत्कर्मत्वं न तावत्क्षिपति घटपटाद्यर्थसंवित्स्वरूपे।।
किं त्वज्ञानापनुत्त्या फलवदभिमतं तत्र शिष्यस्य तद्वत्
सर्वं वेदान्तवाक्यं फलवदिदमपि प्रत्यगात्मस्वरूपे।।२४६।।

अन्वयः= कर्ममीमांसकानां यत् संविद्व्युत्पादकं वचनं अभिमतं, तत् तावत् घटपटाद्यर्थसंवित्स्वरूपे कर्मत्वं न क्षिपति। किन्तु शिष्यस्य अज्ञानुपनुत्त्या तत्र फलवद् अभिमतं, तद्वत् इदं सर्वं वेदान्तवाक्यं अपि प्रत्यगात्मस्वरूपे फलवत्।।२४६।।

अन्वयार्थ= कर्म मीमांसकों को जो ज्ञानस्वरूप बोधन "ज्ञानं स्वप्रकाशम्" यह वचन अभिमत है, वह भी घटादि विषयक ज्ञान में कर्मत्व नहीं रखता। किन्तु शिष्य का अज्ञान हटाने के कारण ही वहां वह प्रमाण माना जाता है। इसी प्रकार ये समस्त वेदान्त वाक्य भी प्रत्यगात्मा के स्वरूप में प्रमाण होते हैं।।२४६।।

संविद्युत्पादकमिति। कर्ममीमांसकानां तावत्संविद्व्युत्पादकं तत्स्वरूपज्ञापकं वचनं ज्ञानं ज्ञातता वा स्वप्रकाशमित्यादिवाक्यमभिमतं, तद् घटपटाद्यर्थस्य या संवित्तत्स्वरूपे कर्मत्वं-ज्ञाततां तद्विषयज्ञानं वा न क्षिपति न जनयति। ज्ञातताया ज्ञानस्य च स्वयंप्रकाशत्वेन तत्र ज्ञाततान्तरस्य ज्ञानान्तरस्य वाऽयोगात्। ज्ञानस्य परोक्षज्ञानविषयत्वोपगमे वाऽपरोक्ष-विषयत्वस्वप्रकाशत्वविरोधादित्यर्थः। किं तर्हि तत्र प्रमाणकृत्यमिति तत्राह-किंत्वित्यादिना। तत्र शिष्यस्य तदाकारज्ञानजननद्वारा ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वादिसंशयादेरपनुत्त्या निवृत्त्या फलवद-भिमतमिति यद्वत्तद्वदिति संबन्धः।।२४६।।

संविद्युत्पादकमिति= कर्ममीमांसक मतानुसार अब हम विचार करते हैं— संविद्व्युत्पादकम्= संविद् स्वरूप ज्ञापक ऐसा वचन। कौन सा वचन? (ज्ञानं ज्ञातता वा स्वप्रकाशमिति) ज्ञान प्रभाकार अथवा ज्ञातता भट्ट यह स्वप्रकाश स्वरूप है ऐसा मानते हैं।

इस प्रमाण भूत वाक्य में तो यहां घटपटादि अर्थकी जो संवित् इस संवित् स्वरूप में (ज्ञानमें) कर्मत्वम्= ज्ञातता को, न क्षिपति= घटादि विषयक ज्ञान (संवित्) उत्पन्न नहीं करता है। क्योंकि ज्ञातता और ज्ञान दोनों ही स्वप्रकाश होने से उनके प्रकाशन के लिये अन्य ज्ञातता और अन्य ज्ञानान्तर की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न= ज्ञान को परोक्ष ज्ञान विषयक मानने से अन्य ज्ञानान्तर की जरूरत पडेगी।

समाधान= ज्ञान को परोक्ष ज्ञान विषयक मानने से यह मीमांसा का नियम है कि" सर्वस्यापि प्रत्यक्षानुमित्यादि ज्ञानस्य स्वांशेऽपरोक्षविषयत्वं मीमासकैः स्वीक्रियते= सभी प्रत्यक्ष तथा अनुमित्यात्मक ज्ञान अपने ज्ञानांश में अपरोक्ष विषयक है इसका विरोध होगा।

प्रश्न= ज्ञानं ज्ञातता वा स्वप्रकाशमिति– इस वाक्य को प्रमाण भूत मानने पर कैसी व्यवस्था बनेगी।

समाधान= किंत्वज्ञानापनुत्त्या= इस वाक्य के द्वारा शिष्य को ज्ञान ज्ञाताता वा स्वप्रकाशमिति– ऐसा आकाराकारित ज्ञान हो जाने से ज्ञान में, स्व ज्ञातता में स्वप्रकाशत्वादिक का संशय उत्पन्न नहीं होगा। अर्थात् संशय की निवृत्ति हो जायेगी। यही इस वाक्य का फल है। तो इस वाक्य में वृत्तिव्याप्यत्व है न कि फल व्याप्यत्व है। और नहीं इसमें वाक्य जन्य वृत्ति चैतन्य विषयत्व है। इसी प्रकार ब्रह्मविषयक समझ लेना।

लोकेऽप्याह–

लोक में भी ऐसा व्यवहार देखा जाता है–

अकार्यस्वरूपस्य कार्यत्वमिष्टं
यथा कारकैर्मूर्तमुत्सारयद्भिः।।
तथैवाप्रमेयस्य मेयत्वमस्य
प्रमाणैस्तमस्तज्जमुत्सारयद्भिः।।२४७।।

अन्वयः= यथा मूर्तं उत्सारयद्भिः कारकैः अकार्यस्वरूपस्य कार्यत्वं इष्टम्। तथैव तमः तज्जं उत्सारयद्भिः प्रमाणैः अप्रमेयस्य मेयत्वं इष्टम्।।२४७।।

अन्वयार्थः= जैसे (मिट्टीपाषाणदि) आकार प्रकार वाले द्रव्य के बाहर फेंक देने मात्र से। कूपादि के खनन (कूपाकाशादि) अकार्य है उसे भी कार्य (कृति साध्य) बनाया करते हैं वैसे ही अज्ञान तथा उसका कार्य दोनों की निवृत्ति करा देने से शब्दादि प्रमाण को अप्रेय स्वरूप ब्रह्म को भी प्रमेय बनाता हुवा वह प्रमेय हो जाता है।।२४७।।

अकार्येति- यथाऽसाध्यस्वरूपस्य कूपगगनादेस्तिरोधायकमृत्पाषाणाद्युत्सारयद्भिरपसारयद्भिः कारकैः कर्तृकरणादिभिः कार्यत्वं साध्यत्वमिष्टं तथैवाप्रमेयस्येति संबन्धः। लोके हि देवदत्तादिकर्तृभिः कुद्दालादिभिः कूपः साध्यते। कूपश्चावच्छिन्नं नभ एव तदन्यस्यानिरूपणात्। न च नभसः स्वरूपेणोपाधिद्वारा साध्यता संभवति। मूर्तद्रव्योत्सारण- व्यतिरेकेण प्रयत्नसाध यस्यान्यस्यात्रासंभवात्। एवं च यथा तावतैव कूपाकाशस्य साध्यतावगमः एवमस्याप्रमेयस्याप्यात्मनः प्रमाणैरज्ञानतत्कार्यविलोपात्प्रमेयत्वव्यवहार इति भावः।।२४७।।

आकार्येति= जिस प्रकार से असाध्य रूप होने पर भी जो कूपाकाशादिक को ढकने वाले पाषाण मिट्टी आदि इनको हटा देने से फावड़ा सम्बल टोकरी आदि कारकों में (साधनों में) साधनता का व्यवहार एवं कर्ता पुरुष उसके इन्द्रियों में करण का व्यवहार तथा इससे निष्पन्न कूपाकाश में कार्यत्व का व्यवहार अथवा साध्यत्व का व्यवहार औपचारिक रूप से होता है। इसी प्रकार से ब्रह्म अप्रमेय होने पर भी प्रमेय का व्यवहार औपचारिक हो जाता है। लोक में भी देवदत्तादिक कर्ता की कूदाल आदि से कूप की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् कूप में साध्यत्व आता है। यह औपचारिक ही प्रयोग है। क्योंकि कूप क्या है? तो कूप वह जो एक कूप से अवच्छिन्न आकाश स्वरूप ही है- इससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अब आकाश में तो साध्यता न तो उपाधि द्वारा ही संभव है और न तो स्वरूप से ही साध्यता आकाश में संभव है। तो केवल यहां यह बात हो रही है कि आकाश को ढकने वाले मूर्त द्रव्य मिट्टी पाषाणादि उनको हटाना ही प्रयत्न का मुख्य प्रयोजन है। न कि आकाश को उत्पन्न करना। तो जिस प्रकार कूपाकाश में साध्यता का औपचारिक व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार से अप्रमेय ब्रह्म में भी प्रमाणों के द्वारा अज्ञान तथा उसके कार्य का विलोप करने के कारण ब्रह्म में प्रमेयत्व का व्यवहार हो जाता है।

ननवेवं साङ्गाध्ययनादेवोत्पन्नात्मज्ञानादप्यविद्यानिवृत्तिः स्यादित्याशङ्क्य, दृष्टादृष्टप्रतिबन्धरहितवृत्त्यभिव्यक्तपूर्णचैतन्यस्यैवाविद्यानिवर्त्तकत्वान्नैवमित्याशयेनाह—

प्रश्न= शिक्षा, व्याकरण, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इत्यादि षडङ्ग सहित वेदाध्ययन करने से भी जो आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाता है। तो फिर आत्म ज्ञान से भी अविद्या निवृत्ति होनी चाहिये।

समाधान= दृष्ट अदृष्ट प्रतिबन्ध रहित ऐसी जो वृत्ति उसमें अभिव्यक्त चैतन्य ही अविद्या का निवर्तक है।

वाक्योत्थापितबुद्धिवृत्तिरमला यज्ञादिभिर्निश्चला
वेदान्तश्रवणादिभिः स्फटिकवत्स्वच्छा सती तावकम्।।
रूपं दर्पणवद्बिभर्ति परमं विष्णोः पदं संनिधे
रेतस्मादिह कारणादथ भवेत्संसारबीजक्षयः।।२४८।।

अन्वय= वाक्योत्थापितबुद्धिवृत्तिः यज्ञादिभिः, अमला, वेदान्तश्रवणादिभिः निश्चला स्फटिकवत् सती तावकं रूपं विष्णोः परमं पदं सन्निधेः बिभर्ति। एवस्मात् कारणात् इह संसार बीजक्षयः भवेत्।।२४८।।

अन्वयार्थः= वाक्य से उत्पन्न बुद्धि वृत्ति यज्ञाद्यनुष्ठान से निर्मल होकर, वेदान्त श्रवणादि से निश्चल स्फटिकवत् स्वच्छ होकर (हे शिष्य) तेरा ही स्वरूप (विष्णु के परमपद) की सन्निधी मात्र से धारण कर लेती है इसकारण से इस (आत्मा) में संसार बीज (अज्ञान) का क्षय होता है।

वाक्योत्थापितेति। अमला- प्रक्षीणदुरिता। यज्ञादिभिरमलेति सम्बन्धः। निश्चला- संशयादिरहिता। अत एव स्वच्छा। सन्निधेः- सन्निधानादेव। विष्णोः पदं बिभर्ति। तत्प्रतिबिम्बं गृह्णातीत्येतस्माज् ज्ञानात्सविलासाज्ञाननिवृत्तिरित्यर्थः।।२४८।।

वाक्योत्थापितेति= तत्त्वमस्यादि वाक्य से ज्ञान की वृत्ति उत्पन्न होती है। कौन सी ज्ञान वृत्ति (बुद्धि वृत्ति)? तो बताते हैं अमला= सभी दूरितों से (पापों से दोषों से) रहित निर्मल ऐसी वृत्ति उत्पन्न होती है। बुद्धि की वृत्ति अमल (निर्मल) किससे हुई? तो कहते है, यज्ञादिभिः= निष्काम यज्ञ हवनादि करने से बुद्धि वृत्ति अमल निर्मल हो गई है। इसीलिये निश्चला संशयादिक से रहित बुद्धि वृत्ति हो गई है। अत एव स्फटिकवत्= स्वच्छ-स्फटिक के समान स्वच्छ ऐसी वह वृत्ति हो गई है। इसके द्वारा क्या होता है। बताते हैं रूपं दर्पणवद्बिभर्ति परमं विष्णोः पदं= जैसे निर्मल दर्पण (निर्मल सीसे में) अपना चेहरा दिखाई देता है। इसी प्रकार शुद्धि बुद्धि वृत्ति में, विष्णोः= व्यापक ब्रह्म का प्रतिबिंब का ग्रहण हो जाता है। भवेत् संसारबीजक्षयः= इसी से जन्म मृत्यु रुपी संसार का भी जो अविद्या या अज्ञान सहित उसकी निवृत्ति हो जाती है। सविलास अज्ञान का क्षय हो जाता है अर्थात कारण के सहित कार्य की निवृत्ति हो जाती है।

आर्थक्रमानुरोधेन द्वितीयं पद्यमवतार्यते। एवं फलाव्याप्ये चैतन्याविषये चात्मनि विधिरूपवेदान्तप्रामाण्यमुपपादितमुपसंहरति—

अब अर्थ क्रमानुरोध से दूसरा श्लोक अवतीर्ण कर रहे हैं। कैसे। ब्रह्म में फल व्याप्ति नहीं है अर्थात् फलव्याप्ति का ब्रह्म या चैतन्य विषय नहीं है। तो भी विधि रूप वेदान्त वाक्य की प्रामाणिकता है उसका अब उपसंहार कर रहे है।

एवं वेदशिरः प्रमाणमुदितं प्रत्यक्स्वरूपे तव
कर्मत्वं विरहय्य तत्र न हि नो बाधः प्रतिज्ञागिरः।।
कर्मत्वं न करोति बोधयति च स्पष्टं वचो वैदिकं
रूपं तावकमेवमस्य भवति प्रामाण्यमत्रात्मनि।।२४६।।

अन्वयः= एवं कर्मत्वं विरहय्य तव प्रत्यक्स्वरूपे वेदशिरःप्रमाणं उदितम्। तत्र नः प्रतिज्ञागिरः बाधो न, वैदिकवचः कर्मत्वं न करोति, स्पष्टं च तावकं रूपं बोधयति च एवं अत्र आत्मनि अस्य प्रामाण्यं भवति।।२४६।।

अन्वयार्थः= इस प्रकार वेदान्त वाक्य कर्मता की अपेक्षा के बिना ही तेरे प्रम्यक् स्वरूप से प्रमाण हो जाते है। इससे हमारी जो प्रतिज्ञा थी कि वेदान्त वाक्य प्रमाण है। इसका बाध नहीं हुवा है। और उस वेदान्त वाक्य ने आपका स्वरूप स्पष्ट रूपसे बोधित भी करा दिया। इस प्रकार वेदान्त वाक्य आत्म स्वरूप में प्रमाण हो जाता है।।२४६।।

एवं वेदशिर इति। तावता च श्रुतिसूत्रयोः शास्त्रप्रमाणकत्वप्रतिज्ञापि न विरूध्यत इत्याह-तत्रेति-प्रतिज्ञाविलोपमेव विवृणोति-कर्मत्वं न करोतीत्यादिना।।२४६।।

एवं वेदशिर इति= इससे श्रुति और सूत्रकार व्यासजी के सूत्र शास्त्रयोनित्वात् आदि शास्त्र प्रामाण्य विषय प्रतिज्ञा विरूद्ध नहीं है इसी का स्पष्टीकरण कर रहे है। तत्रेति प्रतिज्ञा वाक्यों का बाध नहीं हो सकता प्रतिज्ञा का विलोप कैसे नहीं होता है उसे स्पष्टकर रहे है। कर्मत्वं न करोतीत्यादिना= फल व्याप्यता नहीं है। बाकी वृत्ति व्याप्यता है इस प्रकार वैदिक वाक्य तथा सूत्रोक्ति यथार्थ सिद्ध हो जाती है।

एवं सर्वेषां विधिमुखप्रवृत्तवेदान्तानाम् "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादि-सर्ववेदस्थ- निर्विशेषात्मोपसंहारैक्यादिना "उदरमन्तरं कुरुते" इत्यादिभेदमात्र निन्दावचनेन "एकधैवानुद्रष्टव्यं तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ" इत्यात्मप्रातिपदिकार्थमात्र-ज्ञेयत्वतदितरपरिहार्यत्वचनेन च वर्णितन्यायोपोब्दलितेनाखण्डैकरसे तात्पर्यं निरूपितम्। इदानीं निषेधवाक्यमपि पदार्थशोधनद्वारा तत्त्वमस्याद्यनुग्राहकतया तत्रैव पर्यवसन्नमिति वक्तुं प्रथमं नेतिनेत्यस्थूलादि वाक्यमपि तत्त्वमस्यादिना समप्रधानं तदेव वा प्रधानमिति भेदेन केषांचिन्मतमुत्थापयति—

इस प्रकार सभी विधिमुख प्रवृत्त वेदान्त वाक्य जैसे "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् "सृष्टि उत्पन्न होने के पहले, प्रलय काल में केवल एक आत्मा ही था इत्यादि सभी वेदान्त वाक्य निर्विशेष आत्मा (ब्रह्म) का ही उपक्रम उपसंहारादि षड्विध लिङ्ग से निर्णय

करते हैं। "उदरमन्तरं कुरूते'' जो थोडा सा भी इसमें भेद करता है, वह भय को प्राप्त हो जाता है इत्यादि वाक्यों से भेद की निन्दा की गई है। इसी प्रकार एकधैवानुद्रष्टव्यं तमवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ'' एक आत्मा को ही जानो अन्य भेद बुद्धि को छोड़ दो इत्यादि वाक्य आत्मा जो प्रातिपदिकार्थ है, तन्मात्र ज्ञेयत्व परक तथा उसके भिन्न का परिहार करने के लिये तत्पर है। इसलिये उक्त न्याय से अनायास ही अखण्ड एक रस ब्रह्म में तात्पर्य निर्णित हो जाता है। अब निषेध वाक्य भी पदार्थ शोधन के द्वारा तत्त्वमस्यादि वाक्यों का अनुग्राहक है, अखण्डैक रस में निषेध वाक्यका तात्पर्य है। इस प्रकार विधिवाक्य तथा निषेधवाक्य दोनों ही समबल ही है। कुछ तो लोग यह कहते हैं कि निषेध वाक्य ही विधिवाक्य से अधिक बलवान् हैं ऐसा किसी का मत है उसका निरूपण कर रहे है–

पृष्ठेन पूर्णवपुषा क्रियते प्रतीति-
नेंतीतिवाक्यजनिता जगतो निषेद्ध्री।।
प्राधान्यमस्तु विधिना सममेव तस्मात्
तस्याथ वा भवतु तद्वचनं प्रधानम्।।२५०।।

अन्वयः= नेतीति वाक्यजनिता जगतो निषेद्ध्री', प्रतीतिः पूर्णवपुषा क्रियते तस्मात् विधिना सममेव तस्य प्राधान्यं अस्तु। अथवा तद्वचनं प्रधानं भवतु।।२५०।।

अन्वयार्थः= नेति नेति इस वाक्य से जन्य जगत् का निषेध करने वाली प्रतीति पश्चात् पूर्णब्रह्माकार बनाई जाती है। इसलिये विधि वाक्यों के समान ही इस निषेध वाक्य की भी प्राधान्यता है। अथवा यह निषेध वाक्य ही प्रधान माना जाय।।२५०।।

पृष्ठेनेति। "स एष नेतिनेत्यात्मा" इत्यादिवाक्यजनिता प्रपञ्चनिषेद्ध्री प्रतीतिः पृष्ठेन पश्चान्निखिलभेदनिषेधानुपपत्त्या पूर्णपुषा क्रियते, पूर्णं ब्रह्माऽहमस्मीत्येवमाकारा भवति यस्मात्तस्मात्तस्य निषेधवाक्यस्य विधिना विधिमुखप्रवृत्तेन तत्त्वमादिना समं प्राधान्यमस्तु। अथवा तद्वचनमेव प्रधानं भवत्विति सम्बन्धः।।२५०।।

पृष्ठेनेति। "स एष नेतिनेत्यात्मा" यह आत्मा यह नहीं यह नहीं। इत्यादि वाक्य से उत्पन्न प्रपञ्च की निषेध ध्री= प्रपञ्च की निषेध प्रतीति होती है पृष्ठेन= बाद में। लेकिन बाद में यह सम्पूर्ण भेद निषेध भी पूर्ण ब्रह्म के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। भेद निषेध का अधिष्ठान तो पूर्ण ब्रह्म ही है। अर्थात् यह भेद निषेध पूर्ण ब्रह्म के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। निषेध बुद्धि द्वारा पूर्ण ब्रह्म मै हूँ "पूर्ण ब्रह्म अहमस्मि इत्याकारक

प्रतीति उत्पन्न होती है। इसलिये यह निषेध वाक्य भी विधि "वाक्य द्वारा प्रवृत्त हुवा है। इसलिये निषेध वाक्य विधि वाक्य से समान बलवान् हो जाता है। अथवा निषेध वाक्य ही विधि वाक्य से भी बलवान् है ऐसा कुछ लोग मानते हैं।

उक्तमेवार्थद्वयं विवृणोति—

इस अर्थ को स्पष्ट कर रहे हैं—

अद्वैतीकरणं निषेधवचनादुत्पन्नबुद्धेरपि
तुल्यं तत्त्वमसीतिवाक्यजनितप्रत्यक्प्रतीत्या सह।।
आर्थं शाब्दमथापि वा भवतु तत्किं तेन यद्वा विधि-
र्नाकर्तुं शबलार्थगोचरतया निर्भेदमर्थं क्षमः।।२५१।।

अन्वयः= निषेधवचनात् उत्पन्नबुद्धेरपि अद्वैतीकरणं तत्त्वमसीति वाक्यजनितप्रत्यक्प्रतीत्या सह तुल्यम् तत् आर्थं भवतु। अथापि का शाब्दम्। किं तेन? विधिः शबलार्थगोचरतया निर्भेदं अर्थम् आकर्तुं न क्षमः।।२५१।।

अन्वयार्थः= निषेध वाक्य जन्य बुद्धि की अद्वैताकारितावत् तत्त्वमसि आदि (महावाक्य जनित) विधि वाक्य जनित प्रत्यगात्मा विषयक प्रतीति के समान ही है। अहं अद्वैतकारित्व आर्थिक हो या शाब्दिक हो इससे क्या? अथवा विधि वाक्य शबलार्थ विषय होने के कारण भेद रहित अर्थ का (अद्वैत तत्त्व का) प्रतिपादक नहीं करा सकता।।२५१।।

अद्वैतीकरणमिति। प्रत्यग्ब्रह्मैक्याकारतेत्यर्थः। अध्यस्तसकलप्रपञ्चनिषेधान्यथानुपपत्त्या तदधिष्ठानमद्वयं ब्रह्माहमेवेत्यर्थात्, प्रतीतिर्भवेत्, यथा तत्त्वमसीतिवाक्यादित्यर्थः। ननु निषेधवाक्यार्थानुपपत्त्यैकत्राद्वयात्माकारं ज्ञानं भवति, अपरत्र शब्दादेवेति कथमनयोः साम्य-मित्याशङ्क्य भवत्येवं विशेषः अविद्यानिवृत्तौ तु तदाकारतामात्रं तस्यापेक्ष्यते तच्चोभयत्रापि सममेवेति किं शाब्दत्वार्थत्वविशेषेणेत्याह शाब्दमिति। अथापि वा अथवेत्यर्थः। द्वितीयपक्षमुप-पादयति यद्वेति। निर्भेदमर्थमाकर्तुं तदाकारज्ञानं जनयितुं न क्षमः। कुतः? शबलार्थगोचरतयेति। तत्त्वमस्यादेः शबलार्थत्वान्नाखण्डार्थज्ञानं ततः उक्तविधया निषेधवाक्यमेव फलवत्प्रधानमिति भावः।।२५१।।

अद्वैती करण= जीव ब्रह्म की एकता ही मुख्यार्थ है। सम्पूर्ण प्रपञ्च अध्यस्त है उसका निषेध जहां किया जाय ऐसा जो अधिष्ठान स्वरुप ब्रह्म वह मैं स्वयं ही हूँ। इसके बिना (अधिष्ठान के बिना) प्रपञ्च निषेध की उपपत्ति संभव नहीं हो सकती। तो जिस प्रकार से तत्त्वमसि महावाक्य से अद्वय ब्रह्माहमिति प्रतीति होती है। इसी प्रकार से "स

एष नेतिनेति" इससे भी अद्वय ब्रह्माहमिति की प्रतीति (बोधोत्पत्ति) होती है।

शंका= निषेध वाक्य में तो अर्थ की अनुपत्ति होने से अद्वयात्माकार ज्ञान होता है। निषेध अर्थापत्ति प्रमाण से निषेधानुपपत्ति के द्वारा ब्रह्म का विधान करता है। लेकिन तत्त्वमसि महावाक्य से तो केवल शब्द से ही अद्वयात्माकार ज्ञान होता है। तो दोनों में समानता कैसे होगी।

समाधान= दोनों में यह थोड़ा सा भेद रहने दो।तथापि दोनों ही बोध द्वारा अविद्या की निवृत्ति तो बराबर होती ही है यही दोनों की फल विषयक समानता है। तो हमें शब्द और अर्थ की इस उलझन में पड़ने की जरूरत नहीं है। इस बात को कह रहे हैं—

आर्थं शाब्दमिति= अथवा दूसरा पक्ष प्रतिपादित कर रहे हैं यद्वेति= निर्भेदमर्थमाकर्तुं= अखण्डार्थ ज्ञान उत्पन्न कराने में वह समर्थ नहीं है। कौन? तत्त्वमसि= विधि वाक्य। क्यों? तो तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्य शबलार्थ का निरूपण करेंगे। न कि अखण्डार्थ का। इसलिये ऐसे शबलार्थ वाक्य के द्वारा अविद्या की निवृत्ति भी संभव नहीं हो सकती। इसलिये निषेध वाक्य ही अखण्डार्थबोधरूपी फल देने में समर्थ होने के कारण बलवान् हैं।

ननु शबलार्थस्यापि प्रागुक्तप्रकारेण तत्त्वमस्यादेर्लक्षणयाऽखण्डार्थत्वमस्त्येवेत्याशङ्क्याऽसङ्गेऽद्वये वाच्यार्थसम्बन्धासम्भवान्न लक्षणा सम्भवतीत्यभिभानेनाह—

शंका= शबलार्थ परक वाक्य भी लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ बोध परक तो हैं ही। फिर क्यों निषेध वाक्य को प्रधानता दे रहे हो।

समाधान= जो ब्रह्म तत्त्व असङ्ग है, अद्वय है, उसके साथ वाक्यार्थ का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता। तो फिर वाच्यार्थ सम्बन्धी लक्षणा भी सम्भव नहीं हो सकती।

सम्बम्धजातविरहान्न च लक्षणाऽस्मिन्
सम्भाव्यते परिहृताखिलदृश्यराशौ।।
ब्रह्मात्मवस्तुनि ततः प्रतिषेधवाक्य-
शेषत्वमेतु विधिरित्यपि केचिदन्ये।।२५२।।

अन्वयः= अस्मिन् परिहृताखिलदृश्यराशौ ब्रह्मात्मवस्तुनि लक्षणा न च संभाव्यते। सम्बन्धजात्विरहात् ततः विधिः प्रतिषेधवाक्यशेषत्वं एतु। इत्यपि केचित् अन्ये।।२५२।।

अन्वयार्थः= इस लिखित दृश्यवर्ग से रहित ब्रह्म वस्तु में लक्षणा भी सम्भावित नहीं हो सकती है। क्योंकि उसमें समस्त सम्बन्धों का अभाव है। अतः विधि वाक्य को निषेध वाक्यों का अङ्ग मानना चाहिये। ऐसा अन्य कुछ आचार्य कहते हैं।।२५२।।

सम्बन्धजातविरहादिति। संयोगसमवायतादात्म्यकार्यकारणतादिसम्बन्धासम्भवादित्यर्थः। ब्रह्मात्मवस्तुनि सम्बन्धजातविरहादस्मिंस्तत्त्वमादिवाक्ये लक्षणा च न सम्भाव्यते। सम्बन्धाभावसिध्द्यर्थं ब्रह्म विशिनष्टि-परिहृतेति। इति यतस्तत इति सम्बन्धः। शेषत्वं शबलार्थतत्त्वमादेरपि निषेध्यभेदाभेदोपस्थापकतया निषेधवाक्यशेषत्वमेतु प्राप्नोतु, अपिना पूर्वोक्तपक्षसमुच्चयं द्योतयति—केचिदन्य इति। वक्तृभेदव्यपदेश उक्तमतभेदाभिप्रायः। अन्य इत्युत्तरार्थो वा।।२५२।।

सम्बन्ध जात विरहादिति= असङ्ग शुद्ध आत्मा के साथ संयोग समवाय, तादात्म्य कार्य कारणादि कोई भी सम्बन्ध वाच्यार्थ के साथ नहीं हो सकता।

ब्रह्मात्मवस्तुनि= ब्रह्मात्मा (जीव ब्रह्मैक्य) में वस्तु में सम्बन्ध मात्र का ही विरह होने के कारण तत्त्वमस्यादि महावाक्य में लक्षणा संभव नहीं हो सकती। सम्बन्ध का अभाव ब्रह्म में कैसे है यह बात स्पष्ट करने के लिये ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट कर रहे हैं।

परिहृतेति= जब की ब्रह्म असङ्ग अद्वय है तब तो किसीप्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। शेषत्वं= शबलार्थ तत्त्वमस्यादि वाक्य निषेध्य कोटि में आने वाले भेद-अभेद दोषों के उपस्थापक होने से निषेध वाक्य के शेषभूत ही है। इससे भी निषेध वाक्य की प्रधानता सिद्ध हो जाती है।

उच्यते। "सम्बन्धजातविरहात्" इत्यसिद्धम्, असंगेऽद्वयेऽप्याध्यासिकनिखिल सम्बन्धस्य यथानुभवं सत्त्वात्। किं चैवं सत्यादिवाक्यात्सत्यज्ञानाद्यात्मकब्रह्मासिद्ध्या स एष नेतिनेत्यादिवाक्येन तत्परामर्शेन निषेधोऽपि न स्यात्। अवान्तरवाक्यस्य तत्र लक्षणाभ्युपगमे च किमपराद्धं महावाक्येन तेनेत्याशयेनाह—

अब इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं-

सम्बन्धजातविरहात्= सम्बन्ध मात्र का ही सम्पर्क ब्रह्मात्मैक्य के साथ सम्भव नहीं है, यह असिद्ध है। क्योंकि जो असंग है, अद्वय है उसके साथ भी अध्यासिक सम्बन्ध हो ही सकता है। इसका अनुभव भी होता है। दूसरी बात यदि सत्यादि विधि परक वाक्य से सत्य ज्ञानात्मक अखण्ड ब्रह्म की सिद्धि न हो तो नेति नेति इस निषेध वाक्य से भी ब्रह्म का ही परामर्श होने से उसमें निषेध भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

क्योंकि सम्बन्ध का जब अभाव हो तो भेद निषेध का भी अभाव माना जायेगा। यदि सत्यं ज्ञानमनन्तं इत्यादि अवान्तर वाक्य में लक्षणा का स्वीकार मानते हो तब तो महावाक्य में लक्षणा मानने में कोई दोष नहीं है। इसी आशय से कह रहे हैं–

वाक्यं मुक्तिफलां धियं जनयति स्पष्टं विधिव्यापृतं
साक्षादेव तव स्वरूपकथनान्नैवं निषेधात्मकम्।।
अध्यारोपितरूपभेदविलयव्यापारनिष्ठं तव
स्वाकारग्रहणक्षमां नहि धियं कर्तुं समर्थं यतः।।२५३।।

अन्वयः= विधिव्यापृतं वाक्यं मुक्तिफलां तिधियं स्पष्टं जनयति साक्षादेव स्वरूपकथनात्। एवं अध्यारोपित–रूपभेदविलयव्यापारनिष्ठं निषेधवाक्यं न यतः तव स्वाकारग्रहणक्षमां धियं कर्त्तुं समर्थनं नहि।।२५३।।

अन्वयार्थः= भावार्थक विधिवाक्य मुक्तिप्रदायक ज्ञान को स्पष्ट रूप से जन्म देता है। क्योंकि वह साक्षात् तेरे स्वरूप को कथित करता है। लेकिन निषेधात्मक वाक्य जो कि कल्पित पदार्थ के निषेध में संलग्न है वह ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि वह तो इसी में फंसा होने के कारण तेरे स्वरूप का बोध कराने में समर्थ नहीं होगा।।२५३।।

वाक्यमिति। विधिमुखेन बोधकं तत्त्वमादिवाक्यमेव भागत्यागलक्षणया तव शुद्ध चैतन्य-स्वरूपानुवादेनाद्वयब्रह्मप्रतिपादनान्मुक्तिफलां धियं स्पष्टं यथा स्यादपरोक्षरूपमिति यावत्। साक्षाज्जनयति नैवं निषेधात्मकमिति सम्बन्धः। साक्षात्तव स्वरूपेति वा योजना। अध्यस्ताहंकारस्वरूप व्यावृत्तये च साक्षादित्युक्तम्। ननु मा भूत्ततः साक्षान्मुक्तिफलज्ञानजन्म, अर्थाद्भविष्यतीति चेत्, न। अधीतिविधिपरिगृहीतोपनिषद्भ्य एव साक्षादुत्पन्नज्ञानस्य मुक्तिसाधनत्वे सम्भवत्यार्थिकस्य तदयोगात्। औपनिषदमितिश्रुत्या ब्रह्मणि प्रमाणान्तरस्य निषिद्धत्वाच्च। किं चार्थादपि किमहं ब्रह्मेति ज्ञानं मुक्तिसाधनं ततो जायते किंवाऽद्वयं ब्रह्मेति। नाद्यः अस्मिन्पक्षे हि तत्त्वमादिना निषेधवाक्येन वा तज्ज्ञानं भवतीति तयोर्वैकल्पिकं साधनत्वं वाच्यम्। एवं च निषेधस्य तत्त्वमादिवाक्यानपेक्षत्वाज्जीवमपि प्रपञ्चवत्तन्निराकुर्यात्। जीवस्वरूप शोधकवाक्यानां त्वंपदशेषणामपि तेनानपेक्षित्वात्ततोऽहं ब्रह्मेत्याकारा धीर्निषेधमात्रपर्यवसिता भवेदित्याशयेनाह- अध्यारोपितेति। आत्मन्यारोपितसप्रपञ्चतारूपभेदस्य विलये निवृत्तौ यो व्यापारस्तन्निष्ठमित्यर्थः। प्रपञ्चाभावमात्रबोधकमिति यावत्। स्वाकार-ग्रहणक्षमाम् अहं ब्रह्मेत्याकाराम्।।२५३।।

वाक्यमिति= विधिमुख से बोधक तत्त्वमस्यादि वाक्य ही भागत्याग लक्षणा के द्वारा है।

निषेधवादि वाक्य तुम्हारे भी मत से शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुवाद करके अद्वय ब्रह्म का प्रतिपादक होकर मुक्ति फलदायक बुद्धि को (ज्ञान को) उत्पन्न करता है। अर्थात् भागत्याग लक्षणा के द्वारा तत्त्वमस्यादि महावाक्य ही ब्रह्म का साक्षात् अपरोक्ष बोध कराते हैं। तो विधि वाक्य भाग त्याग लक्षणा द्वारा साक्षात् मुक्ति फलदायक बुद्धि को उत्पन्न कराता है न कि निषेधात्मक वाक्य। अर्थात् विधि वाक्य ही निषेधवादी (निषेध में निष्ठा रखने वाले) तेरे स्वरूप को शुद्ध ब्रह्म को साक्षात् बताता है।

साक्षादिति= अध्यस्त अहंकार के व्यावृत्ति के लिये साक्षात् शब्द का प्रयोग किया गया। अध्यस्त अहंकार से भी आत्मा का बोध अधिष्ठान रूप में होगा न कि साक्षात्।

शंका= निषेधात्मक वाक्य से साक्षात् मुक्ति रूपी फल को देने वाले ज्ञान का जन्म नहीं होने दो तथापि अर्थापत्तिप्रमाण से मुक्ति रूपी फल को देने वाले 'ज्ञान का जन्म मान लेंगे?

समाधान= जिसने विधि अनुसार उपनिषदों का अध्ययन किया है, ऐसे व्यक्ति के प्रति ही उपनिषदों से उत्पन्न ज्ञान साक्षात् मुक्ति का साधन है तो वहां अर्थापत्ति की कल्पना (आर्थिक कल्पना) करना व्यर्थ है। अर्थात् अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा अर्थ की कल्पना करके निषेध वाक्य को तदर्थ परक लाना अनुचित है। दूसरी बात यह भी है कि "औपनिषदं पुरुषं" इससे ब्रह्म के विषय में उपनिषद् (शब्द) प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का निषेध ही किया है। और भी बात यह कि अर्थात् अर्थ से (अर्थापत्ति से) क्या मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान मुक्ति का साधन उत्पन्न होता है? अथवा अद्वय ब्रह्म यह ज्ञान मुक्ति का साधन उत्पन्न होता है। इसमें पहिला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि इसमें भी हम पूछेंगे कि मुक्ति का साधन जो ज्ञान क्या वह विधि वाक्य से उत्पन्न हुवा कि निषेध वाक्य से? उन दोनों की विकल्प से साधनता बतानी होगी। इसीप्रकार से निषेध वाक्य यदि विधि वाक्य की अपेक्षा न करके प्रपञ्च का निराकरण करता है तो जीव भाव का भी वह निराकरण कर देगा। जिस से जिस जीव को ब्रह्म बनना था वह ही हट जाने से सारा ही प्रयास व्यर्थ हो जायेगा। इससे जीव स्वरूप शोधक वाक्य जो त्वंपद के शेष भूत है, वे भी जीव भाव के हट जाने से अनपेक्षित हो जायेंगे। जिससे मैं ब्रह्म हूँ, अहं ब्रह्मेति इत्याकारक बुद्धि निषेध वाक्य से पर्यवसित नहीं हो सकती। इसी आशय से कहा है। अध्यारोपित= आत्मा में आरोपित प्रपञ्च रूप भेद के विलय हो जाने से (प्रपञ्च रूप भेद के निवृत्त हो जाने से) एतद् प्रकारक- व्यापार निष्ठ ही निषेध वाक्य है। अर्थात् निषेध वाक्य से प्रपञ्चाभाव मात्र का बोध ही होता है। बाकी "स्वाकारग्रहण

क्षमां= अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ इत्याकारक बोध को निषेध वाक्य उत्पन्न नहीं करा सकता।

नापि द्वितीय इत्याह—

क्या निषेध वाक्य से अद्वय ब्रह्म का ज्ञान होता है? इसका भी खण्डन कर रहे हैं-

अस्थूलादिवचः समुत्थितमतिर्नाकारमादास्यते
साक्षादद्वयवस्तुनस्तव विभोरज्ञानविच्छेदिनः।।
अज्ञातस्य हि वस्तुनो न हि धिया स्वाकारसंवेदनं
मुक्त्वातद्विषयस्य विभ्रमकृतो ध्वान्तस्य विध्वंसनम्।।२५४।।

अन्वयः= अस्थूलादिवचः समुत्थितमतिः साक्षादद्वयवस्तुनः अज्ञानविच्छेदिनः विभोः तव आकारं न आदास्यते, अज्ञातस्य वस्तुनः स्वाकारसंवेदनं मुक्त्वा धिया तद्विषयस्य विभ्रमकृतः ध्वान्तस्य विध्वसंनं न नहि।।

अन्वयार्थः= अस्थूलादि निषेध वाक्य से उत्पन्न बुद्धि अद्वयरूप, अज्ञाननाशक, विभुस्वरूप तेरे आकार को ग्रहण नहीं कर सकेंगी। और अज्ञात आत्मवस्तु के अद्वैताकार ग्रहण किये बिना ज्ञान तद्विषयक विभ्रम जनक अज्ञान का विध्वंस नहीं कर सकता।।

अस्थूलादिवच इति। अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमित्यर्थादिसमस्तद्वैतनिषेधवचनादुत्पन्नं ज्ञानमित्यर्थः। साक्षादित्यर्थादित्यस्याप्युपलक्षणम्। अस्थूलादिवचचः समुत्थितमतिरज्ञानविच्छेदिनो विभोरद्वयवस्तुनस्तवाकारं साक्षाद्वा अर्थाद्वा नादास्यते न ग्रहीष्यतीत्यर्थः। वृत्तिव्यक्त-स्वरूपस्यैवाज्ञाननिवर्त्तकत्वमित्याशयेनाज्ञानविच्छेदिन इत्युक्तम्। मा भूत्तदादानमित्याशङ्क्येष्ट-सिद्धिस्तदा न स्यादिति सामान्यन्यायेनाह-अज्ञातस्य हीति। हि यतोऽज्ञातस्य वस्तुनो धियाऽन्तः-करणवृत्त्या स्वाकारसंवेदनम्, आवृतस्वरूपविशेषस्फुरणं मुक्त्वा तद्विषयस्य वस्तुविषयस्य विभ्रमकृतो विभ्रमहेतोर्ध्वान्तस्याज्ञानस्य विध्वंसनं निवृत्तिर्न हि भवति। अज्ञानं हि स्वविषयस्फुरणान्निवर्त्तते न त्वन्यस्फुरणात्। स्फुरणमान्त्रेण वा निषेधमात्रात् अतिप्रसङ्गात्। स्फुरणं च प्रमाणजन्यवृत्त्यधीन-मित्यावृतगोचरप्रमाणवृत्तिरावश्यकीति भावः।।२५४।।

अस्थूलादि वच इति= "अस्थूलमनण्वह्रस्व" ब्रह्म स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है इत्यादि समस्त द्वैतों का निषेध ब्रह्म में किया गया है। तो ऐसे निषेध वाक्य से उत्पन्न ज्ञान, नाकारमादास्यते= अद्वय ब्रह्माकार परक नहीं हो सकता। साक्षादिति— साक्षात् शब्द के द्वारा दोनों का ग्रहण साक्षात् तथा अर्थात् नहीं होता है। अर्थात् अस्थूलादि वचन से उत्पन्न ज्ञान अज्ञान का विच्छेदक होने से अद्वय ब्रह्म का आकार प्रदान कराने में ऐसे वाक्य से उत्पन्न ज्ञान साक्षात् अथवा अर्थात् (अर्थ के द्वारा)

दोनों प्रकारों से उत्पन्न कराने में असमर्थ है। वृत्ति में व्यक्त वस्तु स्वरूप ही अपने विषयक अज्ञान के निवृत्ति में समर्थ होता है इसी आशय से कहा कि अज्ञान विच्छेदिनः। अर्थात् अस्थूलादि वाक्य से साक्षात् या अर्थात् (अर्थ के द्वारा) दोनों प्रकार से अद्वय ब्रह्म का बोध सम्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि वृत्ति में व्यक्त स्वरूप ही अज्ञान का निवर्तक होता है वह इस निषेधात्मक वाक्य से सम्भव नहीं होगा।

शंका= ऐसे वाक्य से इस समय में अद्वय ब्रह्म का ग्रहण नहीं होता है तो मत होने दो।

समाधान= इससे इष्ट सिद्धि नहीं होगी। इस पर सामान्य न्याय के अनुसार कहते है—

अज्ञातस्यहीति= निश्चित रूप से जो वस्तु अज्ञात होती है, उसका धिया= अन्तःकरण वृत्तिसे, स्वाकार संवेदने= जो उस वस्तु का आवृत्त स्वरूप है, उस वस्तु के विशेष स्फुरण को छोड़ कर उस वस्तु के विषयक, विभ्रमकृतो= विभ्रम का हेतु जो अज्ञान, उसकी विध्वंसनम्= निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति तो जिस विषयक अज्ञान होता है उसी विषयक विशेष स्फुरण से होती है। न कि अन्यविषय के स्फुरण से अन्य विषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है। स्फुरण के बिना ही अज्ञान की निवृत्ति मानने से अतिप्रसंग हो जायेगा। और स्फुरण तो प्रमाणजन्यवृत्ति के अधीन होने से जो विषय आवृत्त है तद्गोचर प्रमाण वृत्ति है तो प्रकृत में जो अस्थूलादि वाक्य से प्रवृति होगी वह प्रमाणजन्यवृत्तिस्वरूप है। वह प्रपञ्चाभाव विषयक होगी न कि अद्वय ब्रह्म वस्तु विषयक। अतः दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है।

ततः किमित्याशङ्क्योक्तन्यायस्य विशिष्टं दृष्टान्तं दर्शयन्दार्ष्टान्तिके तदभावे दुःखोपशमो न स्यादित्याह—

इसके बाद क्या होगा इस आशंका के समाधानार्थ उपरोक्त न्यायानुसार विशेष रूप से दृष्टान्तदेकर दार्ष्टान्त में यह न्याय घटित न होने के कारण जीव में दुःखोपशम नहीं हो सकेगा, यह समझा रहे हैं—

रज्ज्वज्ञानविजृम्भितस्य फणिनो रज्जुप्रकाशक्षमं
विज्ञानं विरहय्य न प्रशमनं दृष्टं निषेधे कृते।।
तद्वत्प्रत्यगविद्यया विरचितं संसारदुःखं न तत्

संवित्तिं विरहय्य शाम्यति धिया नेतीति शब्दोत्थया।।२५५।।

अन्वयः= रज्ज्वज्ञानविजृम्भिस्य फणिनःप्रशमनं रज्जुप्रकाशक्षमं ज्ञानं विरहय निषेधे कृते न दृष्टं। तद्वत् प्रत्यगविद्यया विरचितं संसार दुःखं तत्संवित्तिं विरहय्य नेतीति शब्दोत्थया धिया न शाम्यति।।२५५।।

अन्वयार्थः= रज्ज्वज्ञान जन्य सर्प (रज्जुविषक अज्ञान से जन्य सर्प) की निवृत्ति रज्जुविषयक ज्ञान के बिना सर्प निषेध मात्र से नहीं होगी। वैसे ही ब्रह्म के अज्ञान से रचित संसार रूपी दुःख, ब्रह्म ज्ञान को छोड़कर नेति नेति आदि निषेधवाक्यजन्यबुद्धि से शान्त नहीं हो सकती।

रज्ज्वज्ञानेति। रज्ज्वज्ञानादारोपितस्य सर्पस्य नायं सर्प इति निषेधे कृतेऽपि रज्जुरियमिति तदधिष्ठानावृतविशेषज्ञानं विना तदज्ञानस्य प्रशमनं न दृष्टं, नास्ति यद्वत्तद्वदिति सम्बन्धः। जीवस्य नित्यमुक्ताद्वयब्रह्मैक्याज्ञानात्संसार इति तत्प्रकाशं विना तदज्ञानतन्मूल-संसारनिवृत्तिर्न भवेदिति नाद्वयं ब्रह्मेति ज्ञानं मुक्तिसाधनं ततो निषेधस्य न तत्त्वमादिसाम्यम्। एतेन तदेव प्रधानमिति पक्षोऽपि निरस्तो वेदितव्यः।।२५५।।

रज्ज्वज्ञानेति= रज्जु के अज्ञान के कारण आरोपित सर्प की निवृत्ति नायं सर्पः यह सर्प नहीं है, ऐसे निषेध वाक्य के द्वारा करने पर भी "रज्जुरियम्" यह रस्सी (रज्जु है) जब ऐसे अधिष्ठान विषयक विशेष ज्ञान नहीं होगा तब तक रज्जुविषयक अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार से दार्ष्टान्त में भी समझ लेना। केवल निषेध वाक्य से काम नहीं चलेगा। किन्तु विधिवाक्य की आवश्यकता है ही। दूसरी बात यह कि जीव तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाला होने पर भी नित्यमुक्त अद्वय ब्रह्मैक्य के अज्ञान से ही संसार है। अतः जब तक नित्यमुक्त अद्वय ब्रह्मैक्य का प्रकाशन नहीं होता (विशेष ज्ञान नहीं होता) तब तक जीव गत अज्ञान तो संसार का मूल कारण है उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अतः केवल अद्वयब्रह्म ज्ञान भी निषेध वाक्य से उत्पन्न मुक्ति का साधन नहीं हो सकता। इसलिये निषेध वाक्य तत्त्वमस्यादि वाक्य के समान नहीं हो सकते। इसलिये निषेध वाक्य ही प्रधान है यह पक्ष तो अपने आप ही निरस्त हो गया है।

किं तर्ह्यस्थूलादिवचःकृत्यं मुक्तिसाधनज्ञानस्य विधिवाक्यादेव सिद्धत्वादित्याशङ्क्य पदार्थशोधकतया तस्य तत्त्वमादिवाक्यशेषत्वमाह—

फिर क्या सिद्ध हुवा? अस्थूलादि तो निषेधपरक वाक्य है उन वाक्यों की मुक्ति साधनता विधिवाक्य के द्वारा ही सिद्ध होती है। ऐसी आशंका होने पर निषेध वाक्य पदार्थ शोधक होने के तत्त्वमस्यादि विधि वाक्य के ये निषेध वाक्य शेषभूत माने जायेंगे।

अस्थूलादिवचो निषेधकतया भेदस्य संशोधनाद्
वाक्यार्थान्वयसिद्धये तु घटते वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोः।।
एवं तत्त्वमसीति वाक्यगतयोस्तत्त्वंपदोक्तार्थयोः
संशुद्ध्यैव तु नेतिनेति वचनं मोक्षाय साक्षान्न तु।।२५६।।

अन्वयः= अस्थूलादिवचस्तु भेदस्य निषेधकतया वाक्यार्थलक्ष्यार्थयोः संशोधनात् वाक्यार्थान्वसिद्धये तु घटते। एवं तत्त्वमसीतिवाक्यगतयोः तत्त्वपदोक्तार्थयोः संशुद्धया एव तु नेति नेति वचनम्, साक्षात् मोक्षाय तु न।।२५६।।

अन्वयार्थः= अस्थूलादि निषेध वाक्य भेद (द्वैत) का निषेधक होने से वाक्यार्थ और लक्ष्यार्थ के संशोधन करते हुए अखण्डार्थ सिद्धि में उपयोगी होता है। इस प्रकार "तत्त्वमसि" इस वाक्य के घटक "तत्त्वम्" पदार्थ शोधन के द्वारा "नेतिनेति" वाक्य का उपयोगी होता है। साक्षात् मोक्ष में नहीं।।२५६।।

अस्थूलादिवचो निषेधकतयेति। भेदस्य निषेधकतया वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोः संशोधनादस्थूलादिवचो वाक्यार्थान्वयसिद्धये अखण्डवाक्यार्थसिद्धये घटते व्याप्रियत इति सम्बन्धः। वाच्यार्थाभ्यां लक्ष्यौ यावर्थौ प्रत्यग्ब्रह्मस्वरूपभूतौ तयोः संशोधनादित्यर्थः। तत्संशोधनं च चैतन्यानन्दैकरसस्य विनिश्चयः। वाच्यार्थश्च लक्ष्यार्थश्च तयोरिति वा। वाच्यार्थे न वाक्यतात्पर्यमपि तु लक्ष्यमात्र इति निश्चय एव तयोः संशोधनम्। एवं च निषेधवाक्यं विधिवाक्यशेषमेव न विपरीतम्, न वा निषेधवाक्यमपि प्रधानमित्याशयेनाह—एवमिति। मोक्षाय भवतीति शेषः। साक्षान्न तु साक्षान्मोक्षाय नैव भवतीत्यर्थः।।२५६।।

अस्थूलादिवचो निषेधकतयेति= भेद का निषेध होना ही चाहिये। तो वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थका संशोधक निषेध वाक्य है, इसलिये वाक्यार्थान्वयसिद्धये= अखण्ड वाक्यार्थ सिद्धि के लिये। घटते= निषेधवाक्य तत्पर है, सार्थक है, यह बात सिद्ध होती है, वाच्यार्थ से लक्षित जो लक्ष्यार्थ प्रत्यग् और ब्रह्म ये स्वरूप जो लक्ष्यार्थ है। उनके संशोधन करने के लिये निषेध वाक्य सफल है। वह संशोधन क्या है? तो चैतन्य आनन्द एकरसता का निश्चय होना ही संशोधन है। वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों का संशोधक निषेध वाक्य है। अर्थात् वाच्यार्थ में वाक्य का तात्पर्य नहीं है किन्तु लक्ष्यार्थ में ही निश्चय है, यही संशोधन है। इस प्रकार निषेधवाक्य विधिवाक्य का शेष भूत ही है न कि इसके विपरीत। और यह भी नहीं कि निषेध वाक्य प्रधान भी हो। इसी आशय को लेकर कहा है। एवमिति— इस प्रकार तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थ गत तत्त्व पदार्थ के संशोधक "नेति नेति वाक्य होने के कारण साक्षात् वह मोक्ष परक नहीं है, यह बात सिद्ध हो गई।।

एवं निषेधवाक्यस्याज्ञानप्रपञ्चनिषेधप्रतिपादनद्वारा तत्त्वमस्याद्यन्तर्भावो दर्शितः। अन्ये तु तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थज्ञानसामर्थ्यसिद्धद्वैतनिषेधस्यानुवादविधया द्वैतनिषेधवाक्यं महावाक्यानुग्राहकम्। द्वैतनिषेधानुवादादपि महावाक्यस्याद्वैततात्पर्यसिद्धेरित्याहुस्तदप्यनुमोदते—

इस प्रकार निषेध वाक्य से अज्ञान तथा उसका कार्य प्रपञ्च इसके निषेध के प्रतिपादन द्वारा तत्त्वमस्यादि वाक्यान्तर्गत इनका प्रवेश हुवा। अन्य विद्वान् तो यह कहते हैं कि तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थ ज्ञान सामर्थ्य सिद्ध जो द्वैतनिषेध है उसका अनुवादक ही द्वैत निषेध वाक्य होने से महावाक्य का अनुग्राहक मात्र है। द्वैत निषेध का अनुवाद करने मात्र से भी महावाक्य की अद्वैत तात्पर्य परकता सिद्ध होती है, ऐसे कहते हैं। उसका भी अनुमोदन करते हैं—

अन्ये पुनर्विधिवचोजनितात्मबुद्धि-
सामर्थ्यसिद्धमनुवक्ति निषेधवाक्यम्।।
द्वैतोपमर्दमिति शासति शिष्यवर्गं
तच्च प्रशस्तमनवद्यमभीष्टमेव।।२५७।।

अन्वयः= अन्ये पुनः विधिवचोजनितात्मबुद्धिसामर्थ्यम् द्वैतोपमर्दं "निषेध वाक्यम्" अनुवक्ति इति शिष्य वर्गं शासति। तच्च प्रशस्तं अनवद्यम् अभीष्टमेव।।२५७।।

अन्वयार्थः= अन्य पद्मपादाचार्य "विधिवाक्यजनित आत्मबुद्धि के सामर्थ्य सिद्ध द्वैत बाध का अनुवाद निषेध वाक्य करता है, यह अपने शिष्यों को सिखाते हैं, यह अनुशासन प्रशस्त है, निर्दुष्ट है। हमें भी अभीष्ट है।।२५७।।

अन्य इति। सामर्थ्यसिद्धमिति। तत्त्वमस्यादिवाक्येनाहमद्वयानन्दं ब्रह्मेति वाक्यार्थ-बोधे जाते अहं चेदित्थंभूतस्तर्हि कालत्रयेऽपि मयि द्वैतं नास्तीति द्वैताभावो निश्चीयत इति तमनुवदति निषेधवाक्यं न तु तं प्रतिपादयतीत्यर्थः। तत् प्रशासनम्। निषेधवाक्यस्य तत्पक्षे पृथक् तात्पर्याभावेन तात्पर्यलाघवात्प्रशस्तं समीचीनम्। अबाधितत्वाच्चानवद्यम्। प्रपञ्चनिषेधमन्तरेणापि दृश्यत्वादिना सिद्धतन्मिथ्यात्वमात्रेण वाक्यस्याद्वयब्रह्मप्रतिपादकत्वोप-पत्तेः। अत एवाभीष्टमेवेत्यर्थः।।२५७।।

अन्य इति सामर्थ्य सिद्धमिति= तत्त्वमसि महावाक्य के द्वारा "अहं अद्वयानन्द ब्रह्मेति" मैं अद्वयानन्द ब्रह्म स्वरूप हूँ ऐसा वाक्यार्थ बोध होने पर जब मैं ऐसा ऐसा हूँ तब तो तीनों काल में भी मेरे में द्वैत प्रपञ्च नहीं है इस प्रकार द्वैत के अभाव का निश्चय

हो जाता है और इसका अनुवाद मात्र निषेध वाक्य करता है न कि उसका निषेध वाक्य प्रतिपादन करता है। तत्= प्रशासनमें ऐसी व्यवस्था है। इस मत में निषेध वाक्य का स्वतन्त्र कोई तात्पर्य नहीं होने से तात्पर्य में भी लाघव ही हुवा, यही प्रशस्तम्= समीचीन हुवा। अनवद्यम्= यही सिद्ध अबाधित भी है। क्योंकि प्रपञ्च निषेध के बिना ही दृश्यत्वादि हेतु से प्रपञ्च का मिथ्यात्व सिद्ध हो ही जाता है। इसीसे महावाक्य में अद्वय ब्रह्म प्रतिपादकत्त्व अपने आप सिद्ध हो जाता है। इसलिये यह मत अभीष्ट ही है।

विधिसामर्थ्यसिद्धं निषेधानुवादं लौकिकदृष्टान्तेनाप्याह—

विधि वाक्य का सामर्थ्य जिसका अनुवाद निषेध वाक्य करता है लौकिक दृष्टान्त के द्वारा भी बता रहे है—

दृष्टश्च रज्जुविधिनावगतार्थस्तु-
सामर्थ्यसिद्धभुजगप्रशमानुवादः।।
रज्जुस्तवाग्रत इयं न भुजङ्गमोऽय-
मित्यत्र तद्वदिह योजयितव्यमेतत्।।२५८।।

अन्वयः= रज्जुविधिना अवगतार्थवस्तुसामर्थ्यसिद्धभुजङ्गप्रशमानुवादः तवाग्रतः इयं रज्जुः अयं भुजङ्गमो न' इत्यत्र दृष्टश्च। तद्वत् इह एतत् योजयितव्यम्।।२५८।।

अन्वयार्थः= रज्जु के विधान से अवगत वस्तु के सामर्थ्य सिद्ध पदार्थ का निषेध वाक्य से अनुवाद "आप के आगे यह रज्जु है" यह सर्प नहीं, यहां देखा गया है। उसी प्रकार यहां भी घटा लेना है।

दृष्टश्चेति। रज्जुविधिना इयं रज्जुरितिवाक्येन। वस्त्विति स्वरूपपरम्, तवाग्रे स्थितेयं रज्जुर्नायं भुजङ्गम इत्याप्तवाक्यम् इयं रज्जुरिति वाक्यसामर्थ्यसिद्धभुजङ्गाभावस्य नायं भुजङ्गम इत्यनुवादि यद्वत्तद्वदिहापीत्यर्थः।।२५८।।

दृष्टश्चेति= रज्जुविधिवाक्य से यह रज्जु है इस विधि वाक्य से रस्सी रूप अर्थ के सिद्धि के साथ साथ सर्प अपने आप ही प्रशान्त हो जाता है, वस्त्विति— रस्सी के स्वरूप का बोध हो जाता है। तवाग्रेति= तुम्हारे आगे यह रज्जु (रस्सी) है, यह सर्प नहीं है इस आप्त वाक्य से "इयं रज्जुरिति" यह रस्सी है इस वाक्य के सामर्थ्य सिद्ध सर्पाभाव (भुजङ्गाभाव), उसका नायं सर्पः या नायं भुजङ्गः यह सर्प नहीं है इस वाक्य ने तो केवल अनुवाद मात्र ही किया है। और कुछ भी इस निषेध वाक्य में नहीं है।

एवं निषेधवाक्यस्य निर्विशेषे महावाक्यतात्पर्यमित्यिनुकूलतया तच्छेषत्वं, मुक्तिफल-

ज्ञानप्रसवस्तु तत्त्वमादेरेवेत्युक्तम्। अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह–

इस प्रकार निषेध वाक्य को निर्विशेष ब्रह्म जो महावाक्य तात्पर्य भूत है उस निर्विशेष ब्रह्म प्रतिपादक महावाक्य का निषेध वाक्य शेषभूत ही माना जायेगा। मुक्ति प्रदान करने वाला प्रत्यग् ब्रह्माद्वयबोध तो तत्त्वमसि, महावाक्य ही संपन्न होगा। इसी विषय में अन्य भी (उपपत्ति) युक्ति बता रहे हैं–

अस्यैव तत्त्वविनिवेदनशक्तिभाजः
संसारमूलविनिवृत्तिफलप्रसूतौ।।
सामर्थ्यमस्ति पटुभिः परिबृंहितत्वा-
द्वेदान्तभूमिगतपञ्चविधार्थवादैः।।२५६।।

अन्वयः= अस्य तत्त्वविनिवेदनशक्तिभाजः एव संसारमूलविनिवृत्तिफलप्रसूतौ सामर्थ्यं अस्ति। पटुभिः वेदान्तभूमिगतपञ्चविधार्थवादैः परिबृंहितत्वात्।।२५६।।

अन्वयार्थः= इस तत्त्व बोधन शक्ति समन्वित विधि वाक्य से ही संसार मूल निवृत्ति रूप फल के उत्पादन का सामर्थ्य है। क्योंकि वह सबल पांच प्रकार के वक्ष्यमाण अर्थवादों सुसज्जित है।

अस्यैवेति। तत्त्वमादेरेवेत्यर्थः। तत्त्वविनिवेदनशक्तिभाजः तत्त्वं परमार्थसद्वस्तु तद्गर्भ-शबलनिवेदनशक्तिभाज इत्यर्थः। संसारमूलस्य विनिवृत्तिः फलं यस्य ज्ञानस्य तत्प्रसूतावित्यर्थः। अस्यैव तत्सामर्थ्ये युक्तिमाह-पटुभिरिति। समर्थैरित्यर्थः। परिबृंहित्वात् उपोब्दलितत्वात्। वेदान्तभूमिषु गताः अवगताः पठिता इति यावत्। पञ्चविधा ये अर्थवादा भूतार्थवादास्तैरित्यर्थः। अर्थवादानां हि विधिनैवान्वय इति प्रसिद्धं, वेदान्तभागे च सन्ति वक्ष्यमाणाः पञ्च-विधार्थवादास्तैश्च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यैवाज्ञातज्ञापकतया विधिस्थानीयस्योपोब्दलनं दृश्यते, नतु निषेधवाक्यस्येति तत्त्वमादेरेवार्थवादान्वितस्य फलवत्प्रमितिजनकत्वमित्यर्थः।।२५६।।

अस्यैवेति= तत्त्वमसि महावाक्य से। तत्त्वविनिवेदशक्तिभाजः– तत्त्व है परमार्थ सद्‌वस्तु, उस परमार्थ सत् वस्तु के अन्तर्गत आती है शबल सद् वस्तु। उसका विनिवेदन= (कथन) तत् और त्वं पद करते हैं। संसारमूलविनिवृत्तिफलप्रसूतौ- संसार का मूल अज्ञान उसकी निवृत्ति ही ज्ञान का फल है, उस ज्ञान के उत्पत्ति में। अस्यैव= तत्त्वमसि महावाक्य का ही सामर्थ्य है। इसके लिये युक्ति बता रहे हैं पटुभिरिति= सामर्थ्य युक्त पण्डितोंने। परिबृंहितत्वात्= चारों और से इसका अङ्गीकार किया है। पण्डित भी वे ही हैं जो वेदान्त भूमि में अव्याहत गति रखते हैं। ऐसे पंडित लोग युक्ति का चारों ओर से अङ्गीकार करते हैं।

पञ्चविधार्थवादः भूतार्थवादादि पांच अर्थवाद वेदान्त में प्रसिद्ध है। अर्थवादों का विधि वाक्य के साथ ही अन्वय प्रसिद्ध है। वेदान्त शास्त्र में पांच प्रकार के अर्थवाद प्रसिद्ध हैं। उन अर्थवादों के सहयोग से तत्त्वमस्यादि महावाक्य ही अज्ञात वस्तुज्ञापकतया विधि वाक्य के स्थान में रहकर बलवान् होते हैं न कि निषेध वाक्य रक्षा में रहकर। इस प्रकार तत्त्वमस्यादि महावाक्य अर्थवाद के साथ अन्वित होकर फल प्रदायक ज्ञान के जनक है, यह बात सिद्ध हुई।।

तानेवार्थवादान्दर्शयंस्तत्त्वमादेस्तदनुग्रहात्पुरुषार्थसाधनज्ञानहेतुत्वं युज्यते न तु निषेधस्येत्याह—

इन्ही पांचों अर्थवादों को बताते हुये तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का अर्थवाद में (उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, संयमन, प्रवेश में) अनुग्रह के कारण मोक्ष रूपी पुरुषार्थ का साधन ज्ञान तदुत्पादकत्व इन विधि युक्त महावाक्यों में है न कि निषेध वाक्य में।

सृष्टिस्थितिप्रलयसंयमनप्रवेश-
व्यापारजातकथनच्छलतः प्रवृत्तैः।।
सानुग्रहादवगतिः खलु तत्त्वमादे-
र्वाक्यात्परस्य घटते न ततोऽपरस्मात्।।२६०।।

अन्वयः= सृष्टिस्थितिप्रलयसंयमनप्रवेशव्यापारजातकथनाच्छलतः प्रवृत्तैः सानुग्रहादवगतिः खलु परस्य तत्त्वमादेर्वाक्यात् घटते न ततोऽपरस्मात्।।२६०।।

अन्वयार्थः= पांच प्रकार का अर्थवाद बताते है १) सृष्टि, २) स्थिति, ३) प्रलय, ४) निगमन ५) प्रवेश रूप जो व्यापार है उसके कथन के माध्यम से तत्त्वमस्यादि महावाक्यों पर अनुग्रह करके ही अर्थवादात्मक वाक्य सार्थक होते हैं न कि निषेध परक वाक्य।।२६०।।

सृष्टिस्थितीति। सृष्टिर्वियदादेः सर्जनम्, स्थितिस्तस्य तत्रैव स्थितिस्तत्पालनमिति यावत्। प्रलयस्तस्य तत्रैव लयस्तत्संहरणमिति यावत्। संयमनं नियन्तृत्वम्। प्रवेशो जीवरूपेण प्रतिफलनं त एव व्यापारास्तेषां जात- समूहस्तत्कथनच्छलतस्तद्व्याजेन प्रवृत्तैरर्थवादैः कृतो योऽनुग्रहस्तत्सहितात्तत्त्वमादेर्वाक्यादिति योजना। वेदान्तेषु हि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" "स इष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" इत्यादयः श्रूयन्ते। ते चार्थवादा एव। निर्गुण ब्रह्मप्रकरणगतत्वात्, स्वतः प्रयोजनशून्यतया वेदान्तार्थशेषत्वाच्च तत्र सृष्ट्यादित्रयेण कारणस्य ब्रह्मणः प्रपञ्चभेदनिषेधः कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन सिद्ध्यति।

नियमेन नियन्तुः कारणस्य चैतन्यम्, प्रवेशेन तस्य जीवानन्यत्वमित्येभिरद्वयचैतन्यात्मक-प्रत्यग्ब्रह्माभेदपरतत्त्वमादेरेवार्थदृढीकरणात्तस्यैवतत्कृतोपकारभाक्त्वं न तु निषेधवचनस्य कथमपि। तत्र सृष्टिस्थित्योः कथंचित्तत्र निषेध्यप्रसञ्जकतया तदनुग्राहकत्वेऽपि प्रलयादीनां तदनुपयोग एव। एवं संयमनादिविशेषोपन्यासस्येति तत्त्वमादेरेव वाक्या-त्तदर्थस्याद्वयब्रह्मणोऽवगतिर्घटते न ततोऽपरस्मान्निषेधादित्यर्थः।।२६०।।

सृष्टि स्थितीति= आकाशादि पदार्थों की उत्पत्ति, उनकी स्थिति, वहां ही उनकी स्थिति रहना यही पालन। प्रलय उसी ब्रह्म में इन पदार्थो का लय अर्थात् संहार हो जाता है। संयमनम्- नियन्तृत्व (अन्तर्यामिभाव) प्रवेशो- जीव रूप से प्रतिफलित होना। यही एक व्यापार है। उनका जात= समूह, कथन छलतः= इनके बहाने से प्रवृत्त अर्थवाद इन्होंने इसके प्रतिपादन करने से जो अनुग्रह कृपा की है, इस सहयोग से तत्त्वमस्यादि महावाक्य से ही निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि होती है। वेदान्त में "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रत्यभिसंविशन्ति" जिस मायाविशिष्ट ब्रह्म से आकाशादिपञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं, उसी में इनकी स्थिति रहती है तथा इसी में इनका लय होता हैं "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः "हे गार्गि, इसी अक्षर ब्रह्म के अधीन सूर्य चन्द्रमादि स्थिति प्राप्त किये हुये हैं। स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" वह ब्रह्म ही सारे शरीर में आनखान्त प्रविष्ट हुवा हैं ऐसी श्रुतियां हैं। ये सब वाक्य अर्थवाद परक ही तो है। क्योंकि इनका तात्पर्य निर्गुण ब्रह्मपरक ही है इन अर्थवादक वाक्यों का अपना कोई स्वार्थ नहीं है। वेदान्तार्थ जो निर्गुणनिष्कल ब्रह्म उसके ये वाक्य शेषभूत हैं। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति प्रलयादि तीनों से कारणी भूत बह्म में प्रपञ्च भेद का निषेध ही सिद्ध होता है। क्योंकि– कार्य प्रपञ्च उसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय रूप अनन्त कार्य से कारण में (ब्रह्म में) भी आनन्त्यत्व आयेगा इसलिये प्रपञ्च भेद का निषेध करना ही ठीक है। नियम यह है कि नियन्ता जो कारण है वह चैतन्य स्वरूप ही है (ब्रह्म स्वरूप ही है), वही जीव भाव से प्रविष्ट होने के कारण जीव के अनन्त होने से वह भी ब्रह्म अनन्त स्वरुप सा हो जाता है, प्रपञ्च भेद निषेध होने से ही अद्वय चैतन्य के साथ प्रत्यग्ब्रह्म का अभेद परत्व, तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ है। उसका दृढिकरण अर्थवाद वाक्य के द्वारा संपन्न होता है तो अर्थवाद वाक्य महावाक्य का उपकारक ही है। लेकिन निषेध वाक्य किसी प्रकार से न तो उपकार है न ही मोक्ष दायक इत्यादि। कथंचित यह भी मान लेवें कि सृष्टि की स्थिति, तथा उत्पत्ति दोनों का निषेध ब्रह्म में होने के कारण उस निषेध का अनुग्राहक निषेध वाक्य मान भी लेवें तो भी प्रलय विषयक में निषेधवाक्य अनुपयोगी ही है। (क्योंकि प्रलय खुद जीव ब्रह्मैक्य

का समर्थक है। स्वयं निषेध रूप ही प्रलय है अतः कहा) इसी प्रकार संयमनादि विशेष उपन्यास भी तत्त्वमस्यादि वाक्य के द्वारा ही घटित होता है तथा अद्वय ब्रह्म की प्राप्ति भी तत्त्वमस्यादि विधि वाक्य के द्वारा ही घटित होती है न कि निषेध वाक्य के अधीन।

एवं सूत्रकारस्याशयादपि विधिवाक्यस्यैव प्राधान्यं निश्चीयत इत्याह—

इसी प्रकार सूत्रकार के आशय से भी विधिवाक्य की प्रधानता निश्चित होती है। इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं—

सूत्रं तत्तु समन्वयादिति विधिव्यापारनिष्ठं वचो
मोक्षायेति निवेदनाय कृतवान् वेदान्तवेदी मुनिः।।
न्यायेनाकलयन्नशेषवचनव्यापारमूरीकृत—
स्वातन्त्र्यः सकलेऽपि वेदशिरसि स्वैरं चरन्नीश्वरः।।२६१।।

अन्वयः= उरीकृतस्वातंन्त्र्यः, ईश्वरः वेदान्तवेदी मुनिः सकलेऽपि वेदशिरिसि स्वैरं चरन् अशेषवचनव्यापारं न्यायेन आकलयन् विधिव्यापारनिष्ठं वचो मोक्षायेति निवेदनाय तत्तु समन्वयात्।। इति सूत्रं कृतवान्।।२६१।।

अन्वयार्थः= जिन में स्वभाविक स्वातन्त्र्यता है, ईश्वर के अवतार स्वरूप, वेदान्तवेत्ता मुनिव्यासजी महाराज जो सम्पूर्ण वेदान्त में स्वतन्त्र रूप से विचरण में समर्थ है, साथ में जो सम्पूर्ण वेदान्त वचनों का न्यायोचित तात्पर्य बताकर विधिपरक वाक्यों का मोक्ष में साक्षात् उपयोग है, इसे बताने के लिये तत्तुसमन्वयात् यह सूत्र बनाते हैं।।२६१।।

सूत्रमिति। वेदान्तवेदी वेदान्तानां सम्यगर्थवेदनशीलः, अनेनास्य तद्विषयेऽज्ञानादिराहित्यं सूचितम्। मुनिर्बादरायणः "तत्तु समन्वयात्" इति सूत्रं कृतवानिति सम्बन्धः। किमर्थमिति तदाह-विधीत्यादि निवेदनायेत्यन्तम्। स हि भगवांस्तत्तु समन्वयादिति सूत्रे तत्पदेन निर्विशेषाद्वयं सत्यज्ञानानन्दात्मकं ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं प्रतिज्ञाय तत्र समन्वयादिति हेतुं दर्शयति न तु निषेधादिति। न हि निषेधवाक्यसमन्वयमात्रात्सत्यज्ञानानन्तानन्दं ब्रह्म सिद्ध्यतीति विधिव्यापार-मेव वचनं ब्रह्मणि प्रमाणमिति दर्शितवानित्यर्थः। ननु स च केन बलेनैवमुक्तवानित्या-शङ्क्योक्तन्यायेनेत्याह न्यायेनेति। आकलयन्नशेषवाक्यार्थं निश्चिन्वन्, तस्याप्यखिल-वचनव्यापाराकलने सामर्थ्यमाह उरीकृतस्वातन्त्र्यः स्वतः स्वीकृतस्वातन्त्र्यः। अत एव तस्येश्वरत्वं स्मर्यते- "को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद् भवेत्" इति। अत एव सकलेऽपि वेदशिरसि सर्ववेदान्तार्थे स्वैरं चरन् स्वत एवावगच्छन् अशेषवचनेति पूर्वेण सम्बन्धः।।१६१।।

सूत्रमिति= वेदान्त वेदी= वेदान्त का सम्यक् रूप से अर्थ में संवेदन शील होना उसे (वेदान्ती) वेदान्त वेदी कहते हैं। इससे यह बात सिद्ध होती है कि वेदान्त का विषय शुद्ध ब्रह्म में अज्ञानादि नहीं है। मुनिः= बादरायण व्यास जी लिखते हैं "तत्तु समन्वयात्" इस सूत्र का निर्माण व्यास जी ने किया। किसलिये व्यासजी ने यह सूत्र लिखा? वही व्यास जी बादरायण भगवान् "तत्तु समन्वयात्" इस सूत्र में तत् पद के द्वारा निर्विशेष अद्वय सत्य ज्ञान आनन्दात्मक शास्त्र प्रमाण सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करके उस में "समन्वयादिति" समन्वय हेतु को बता रहे हैं, समन्वयात् हेतु बताया है न कि ''निषेधात्" ऐसे हेतु को बता रहे है, समन्वयात् हेतु बताया है न कि निषेधात् ऐसे हेतु का प्रतिपादन किया है। निषेध वाक्य के समन्वय मात्र से सत्यज्ञान आनन्दात्मक ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार विधि व्यापारयुक्त वचन ही ब्रह्म में प्रमाण है। यह बात बादरायण भगवान् ने तत्तु समन्वयादिति सूत्र से बता दी है।

प्रश्न= बादरायण जीने यह निर्णय किस बल से किया?

समाधान= न्यायेनेति– आकलयन् अशेष= सम्पूर्ण वाक्यार्थ का निश्चय करके ही यह निर्णय कर लिया।

प्रश्न= सम्पूर्ण वाक्यार्थ का आकलन करने में उनका सामर्थ्य कैसे?

समाधान– ऊरीकृत स्वातन्त्र्यः= उनमें स्वाभाविक ही यह स्वातन्त्र्यता है। जिसके कारण उन्होंने सम्पूर्ण वाक्यार्थका आकलन कर लिया है। इसी कारण उनमें ईश्वरत्व माना भी जाता है "को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद् भवेत्" महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ के निर्माता भगवान् पुण्डरीकाक्ष के बिना और दूसरा कौन हो सकता है। अर्थात् भगवान् खुद ही इसका निर्माण करा सकते है। इसी लिये सकलेऽपि वेदशिरसि= सम्पूर्ण वेदान्तार्थ का, स्वैरं चरन्- स्वतः खुद ही आकलन कर सकते है। यह पूर्व में सम्बन्धित है।

एवं वाक्यतात्पर्यनिरूपकसमन्वयसूत्रबलाद्विधिप्राधान्यमुक्तम्। संप्रति तत्पदार्थशोधन-प्रस्तावे एव सूत्रकारस्य प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति "ततो ब्रवीति च भूयः" इत्यादिसूत्रेण निषेधवाक्यविचारादपि निषेधवचनं विधिशेष एवेत्याह-

इसप्रकार वाक्यतात्पर्यनिरूपकसमन्वयसूत्र बल के आधार पर विधिवाक्य की बलवत्ता सिद्ध हुई। संप्रति तत्पदार्थ शोधन प्रस्ताव में ही सूत्रकार "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति" ततो ब्रवीति च भूयः इत्यादि सूत्र से भी, निषेध वाक्य विचार से भी, निषेध वचन विधि शेष ही है, इसी अभिप्राय को स्पष्ट कर रहे हैं–

वाक्यार्थान्वयितत्पदार्थकथने नेतीति वाक्यं पुनः
साक्षात्सूचयति स्म सूत्रकृदतस्तत्तत्परं निश्चितम्।।
एवं हस्ततलार्पितामलकवत् तात्पर्यसंवेदने
सत्यन्यादृगुदीरयन्ति यदि तत्क्षन्तुं कथं शक्नुमः।।२६२।।

अन्वयः= पुनः सूत्रकृत् वाक्यार्थान्वयितपदार्थकथने नेतीति वाक्यं साक्षात् सूचयति स्म। अतःतत् तत्परं निश्चितम्। एवं हस्ततलार्पितामलकवत् तात्पर्यसंवदेने सति यदि अन्यादृग् उदीरयन्ति, तत् क्षन्तुं कथं शक्नुमः।।२६२।।

अन्वयार्थः= इसके बाद सूत्रकार व्यास जी ने ही वाक्यार्थान्वयी तत्पदार्थ के कथन (शोधन) में नेतीति इस वाक्य का प्रयोग साक्षात् सूचित कर रहे हैं। अतः नेति यह पद तत्पदार्थ के शोधनपरक ही है, यह निश्चित होता है। (न कि शुद्ध ब्रह्म परक) इस प्रकार हाथ (हस्त) में रखे हुये आँवले के समान तात्पर्य निश्चित हो जाने पर जो उसे अन्यथा कहते हैं उन्हें क्षमा कैसी दी जा सकेगी? (अर्थात नहीं की जा सकेगी)।।२६२।।

वाक्यार्थेति। पुनरपि सूत्रकृन्नेतीति वाक्यं साक्षात्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थान्वयी यस्तत्पदार्थस्तत्कथने तच्छोधनार्थं प्रतिषेधतीत्यनेन सूचयति स्म यतोऽतस्तन्निषेधवाक्यं तत्परं- तत्पदार्थपरं न तु वाक्यार्थ- परमित्यर्थः। सूत्रकारो ह्युदाहृतसूत्रेण "अथात आदेशो नेतिनेति" इति वचनं मूर्तादिकं कारणब्रह्मस्वरूपमेव प्रतिषेधति न तु रूपि ब्रह्मेतिप्रतिपादयंस्तत्पदार्थमेव शोधयामासेति न तत्प्रधानमिति भावः। ननु विधिर्वा प्रधानमस्तु निषेधो वा किं तत् इत्याशङ्क्य निषेधप्राधान्येऽपसिद्धान्तः स्यादित्याशयेनोपसंहरति- एवमिति। स्पष्टम्।।२६२।।

वाक्यार्थेति= इसके बाद भी सूत्रकार ने "नेति नेतीति" वाक्य साक्षात् तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थ का अन्वयी जो तत्पदार्थ, उसके कथन में अथवा शोधन में निषेध वाक्य का प्रतिषेध करते हैं। इसलिये निषेध वाक्य, तत्परं- तत्पदार्थपरक है, न कि शुद्ध ब्रह्मपरक है। सूत्रकार उदाहृत सूत्र के माध्यम से "अथात आदेशो नेति नेति" यह वचन (मूर्तादिक) सगुणब्रह्म का जो कारण रूप सगुण ब्रह्म स्वरूप है उसीका निषेध करता है। न कि (रूपी ब्रह्म का) शुद्धब्रह्म का निषेध करता है तो ''अथातो आदेशो नेति नेति'' यह निषेध वाक्य भी तत्पदार्थ का शोधन मात्र ही करेगा। लेकिन तत्पदार्थ की प्रधानता प्रतिपादित नहीं कर पायेगा। उसकी प्रधानता, तो विधि वाक्य के द्वारा ही संपन्न होगी।

प्रश्न= विधि की प्रधानता हो या निषेध वाक्य की प्रधानता हो इससे क्या लाभ?

समाधान— यदि निषेध वाक्य की प्रधानता मानें तब तो अपसिद्धान्त हो जायेगा।

इस आशय से उपसंहार कर रहे हैं—

एवमिति= जिस प्रकार हाथ (हस्त) में आँवला इस प्रकार यदि निषेध वाक्य भी तत्पर हो जाय तब तो उसे सहन करने में कौन समर्थ होगा? कोई भी नहीं होगा। यह तात्पर्य है।

ननु तत्पदार्थसंशोधनस्य "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्याद्यवान्तरवाक्यैरेव सिद्धत्वात्किं तदर्थं निषेधवाक्यविचारेणेत्याशङ्क्यानन्तपदार्थदृढीकरणाय तदपेक्षितमित्याह—

आशंका= तत्पदार्थ संशोधन तो "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि अवान्तर वाक्य से भी हो सकता है उसके लिये निषेध वाक्य की क्या आवश्यकता है। ऐसी आशंका होने पर तत्पदार्थ के दृढीकरण के लिये निषेध वाक्य की आवश्यकता है यह बता रहे हैं—"

सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यभिहिते संभावनाऽऽनीयते
नास्थूलादिवचःसमुद्भवधिया द्वैतोपमर्दं विना।।
तेनावान्तरवाक्यलक्ष्यविषयां बुद्धिं दृढीकुर्वता
सर्वद्वैतनिषेधकेन वचसा वाक्यार्थधीर्जन्यते।।२६३।।

अन्वयः= अस्थूलादिवचः समुद्भवधिया द्वैतोपमर्दं विना सत्यं ज्ञानमित्यभिहिते असम्भावना न नीयते। तेन अवान्तरवाक्यलक्ष्यविषयां बुद्धिं दृढीकुर्वता सर्वद्वैतनिषेधकेन वचसा वाक्यार्थधीः जन्यते।।२६२।।

अन्वयार्थः= "अस्थूलादि" द्वैत निषेध किये बिना केवल सत्यादि रूप से आत्मतत्त्व का कथन करने पर भी असम्भावना दूर नहीं की जा सकती। अतः' अवान्तर वाक्य लक्ष्यार्थ विषयक बुद्धि को दृढ करते हुय निषेध वाक्य के द्वारा वाक्यार्थ बुद्धि उत्पन्न की जाती है।

सत्यं ज्ञानमनन्तमिति। सत्यादिरूपेणाभिहितेऽपि न संभावनाऽऽनीयते इति संबन्धः। आनीयत इति पदम्। अनन्तमाकाशमितिवत् अन्यथासिद्धिशङ्कासंभवादित्यर्थः। अस्थूलादि-विनान्तमादौ योजनीयम्। फलितमाह-तेनेति। येन निषेधवाक्यानां सत्यादिवाक्यार्थानन्त्यसंभव-बुद्धिहेतुत्वं तेनेत्यर्थः। अवान्तरवाक्येन- सत्यादिवाक्येन या लक्ष्याऽनन्तब्रह्मविषया बुद्धिस्तां दृढीकुर्वता वाक्यार्थधीः तत्त्वमादिवाक्यार्थधीः परंपरया जन्यत इत्यर्थः।।२६३।।

सत्यं ज्ञानमनन्तमिति= सत्यादि रूप से कथन होने पर भी संभावना तो (आशंका तो) लाई जा सकती है। कैसी आशंका? तो बताते हैं जैसे अनन्तमाकाशम्- आकाश में अनन्तता सापेक्षिक है वैसी अनन्तता ब्रह्म में हो ऐसी आशंका की जा सकती है। अस्थूलादि=

अन्तिमादि हटाये बिना, स्थूलादि हटाये बिना, निषेध किये बिना। अन्यथा सिद्धि आशंका हट नहीं सकती. फलितार्थ बता रहे हैं– तेनेति= इसलिये निषेध वाक्यों में सत्यादि जो अवान्तर वाक्य है, न तज्जन्य वाक्यार्थ आनन्त्यत्व, ऐसी संभव बुद्धि की हेतुता है। अवान्तर वाक्येन= सत्यादि वाक्य से उत्पन्न जो लक्ष्यार्थ अनन्त ब्रह्म विषया बुद्धि उसे दृढ करने के लिये वाक्यार्थ बुद्धि जो तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थ बुद्धिस्वरूप है, वह परंपरा से उत्पन्न होती है। पहली निषेध बुद्धि, बाद में अवान्तर वाक्य बुद्धि, अनन्तर तत्त्वमस्यादि महावाक्य बुद्धि इस प्रकार परंपरा से अनन्त ब्रह्म विषया बुद्धि उत्पन्न होती है।

नन्वेवं तत्पदार्थसंशुद्धावप्यवस्थात्रयतद्धर्मकलुषीकृतजीवस्वरूपस्य कथमखण्ड वाक्यार्थप्रवेश इत्याशङ्क्य शुद्धं तत्पदार्थमनुवदंस्तस्यापि ज्योतिर्ब्राह्मणतात्पर्येण जाग्रदाद्य-वस्थातद्धर्मकामकर्तृत्वादिरहितासंगज्ञप्तिमात्रतया सिद्धत्वादखण्डमात्मतत्त्वं वाक्यादवेहीत्याह–

आशंका= तत्पदार्थ के संशोधन होने के बाद भी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थात्रय धर्म से कलुषित जीव भाव हो जाता है उसका अखण्ड वाक्यार्थ बोध में कैसे प्रवेश हो सकता है?

समाधान= तत्पदार्थ का संशोधित रूप शुद्ध ब्रह्म है। इसी प्रकार जीव का भी संशोधित रूप ज्योति स्वरूप ब्रह्म में ही तात्पर्य होने से, जाग्रतादि अवस्था त्रय के धर्म काम, कर्तृत्वादि, उनसे रहित, असंग, ज्ञानमात्र स्वरूप ऐसा जीव का संशोधित स्वरूप सिद्ध हो जाता है जिसके कारण उसका अखण्ड वाक्यार्थ बोध में समावेश हो जाता है। इस बात को समझा रहे हैं–

अस्थूलादिवचोनिरस्तनिखिलद्वैतप्रपञ्चं परं
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्जितमिदं प्रत्यक्स्वरूपं तथा।।
एकीकृत्य परस्परेण पदयोरर्थद्वयं तत्त्वतः
प्रत्यक् चाद्वयमद्वयं च तदिति प्रेक्षस्व निःसंशयम्।।२६४।।

अन्वयः= अस्थूलादिवचोनिरस्तनिखिलद्वैतप्रपञ्चं तथा जागत्स्वप्नसुषुप्तिवर्जितपदं प्रत्यक्स्वरूपं पदयोः अर्थद्वयं परस्परेण तत्त्वतः एकीकृत्य "प्रत्यक् च अद्वयम्" अद्वयम् च तद् इति निःसंशयं प्रेक्षस्व।।२६४।।

अन्वयार्थः= अस्थूलादि वाक्यों से निवृत्त हो गया है द्वैतप्रपञ्च जिसका, ऐसे जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति रहित प्रत्यगात्मा का तत् त्वं दोनों पदों के अर्थों का परस्पर पारमार्थिक एक रूपता करके "प्रत्यगात्मा ही अद्वय ब्रह्म है" तथा अद्वय ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है। इस प्रकार हे शिष्य! तू निःसंशय साक्षात्कार कर ले।।२६४।।

अस्थूलादिवच इति। परं परमात्मतत्त्वम्। तथेति समुच्चये। पदार्थद्वयशोधनफलमाह-

एकीकृत्येति। परस्परेण परस्परम्। पदयोस्तत्त्वंपदयोः। एकी करणप्रकारमेवाह-तत्त्वत इत्यादिना। निःसंशयं यथा स्यात्तथेत्यर्थः।।२६४।।

अस्थूलादिवच इति=परं= परमात्मस्वरूप। तत् पद लक्ष्यमित्यर्थः। तथेति= समुच्चय करना चाहिये। अर्थात् तत् और त्वं दोनों पदार्थों का शोधन करना चाहिये। इसका फल यह कि "एकीकृत्येति= दोनों की एकार्थता सिद्ध होने पर, परस्परेण= आपस में (परस्पर में)। पदयोः= तत् और त्वं दोनों पदों के अर्थ भी दोनों अलग अलग हैं, यह सिद्ध हुवा। दोनों के अर्थ का एकीकरण प्रकार बताते हैं—

तत्त्वत इत्यादिना= तत् और त्वं के संशोधन करने के बाद निःसंशय दोनों का अखण्डार्थ बोध सिद्ध हो जाता है।

नन्वस्तु शुद्धमपि पदार्थद्वयं पृथगेव तत्कथं निःसंशयं प्रेक्षणं स्यादित्याशङ्क्य पदद्वयलक्ष्ये भेदकाभावात् कथमपि भेदो न संभवतीति कथं न निःसंशयं प्रेक्षणमित्याशयेनाह—

आशंका= दोनों ही संशोधित पदार्थ शुद्ध होने पर भी दोनों पदार्थ अलग अलग ही है। फिर निःसंशय दोनों का अखण्डार्थ कैसे?

समाधान= दोनों पदों के लक्ष्यार्थ में कोई भेद नहीं है, किसी भी प्रकार भेद संभव नहीं हो सकता। इसलिये क्यों नहीं दोनों का अखण्डार्थ बोध निःसंशय संभव होगा? अवश्य होगा।

अद्वैतं परिशोधितं भगवतो विष्णोः परं यत्पदं
तच्छब्देन समर्पितं परिगृहीतादेयमात्मप्रभम्।।
यच्चोपाधिविवर्जितं तव निजं साक्षात्स्वरूपं तयो-
रेकत्वं परिवर्जितव्यवधिकं प्रत्यक्षमीक्षस्व भोः।।२६५।।

अन्वयः= भगवतः विष्णोः यत् परं पदं परिशोधितं अद्वैतं आत्मप्रभं तच्छब्देन परिगृहीतादेयं समर्पितं। यच्च उपाधिवर्जितं तव साक्षात् निजं स्वरूपं। तयोः परिवर्जितव्यवधिकं एकत्वं प्रत्यक्षं ईक्षस्व भोः।।

अन्वयार्थः= भगवान् विष्णु का जो परमपद शोधित अद्वैत, स्वयं प्रकाशतत्त्व, भागत्याग लक्षणा द्वारा निर्णित तत्पद से उपादेय है। और जो उपाधिरहित तेरा साक्षात् स्वरूप है, उन दोनों में कोई व्यवधान नहीं, हे शिष्य! तू इन दोनों की एकता का प्रत्यक्ष दर्शन कर।

अद्वैतमिति। भगवतो विष्णोर्यत्परं पदं परिशोधितं सत्यादिवाक्येनेति शेषः। तदेव

भागलक्षणया तत्पदेनोपादेयमित्याशयेनाह- परिगृहीतादेयमिति। परिगृहीतमादेयमुपादेयांशो यथा स्यात्तथा समर्पितमित्यर्थः। उपाधिवर्जितमहंकारादिरहितमत एव साक्षादित्युक्तम्। परिवर्जितव्यवधिकं निरस्तपरस्परभेदकम्। एतच्चैकत्वविशेषणमत्यन्ताभेदाभिप्रायम्।।२६५।।

अद्वैतमिति= भगवान् विष्णु का सगुण का जो, परं पदं- श्रेष्ठ पद जो सत्यादि वाक्य से परिशोधित है। उसी का ग्रहण भागत्यागलक्षणा के द्वारा तत्पद से ग्रहण करने योग्य है। इस आशय से कहा जा रहा है। परिगृहीतादेयमिति- उपादेय अशं का ग्रहण जैसे हो उसका ग्रहण करना चाहिये। साक्षात्= उपाधिवर्जित अहंकारादिक से रहित इसलिये साक्षात् शब्द का प्रयोग किया। परिवर्जितव्यवधिकं-परस्परभेद बिलकुल निरस्त हो चुके हैं। ये सभी एकत्व के ही विशेषण होने से दोनों का अत्यन्तअभेद है, यह बात सिद्ध हो गई।

परिगृहीतादेयमित्यनेन सूचितं सत्याद्यवान्तरवाक्यसिद्धं पदं तत्र सत्यादिपदानामनृतादिव्यवच्छेद एव प्रातिस्विकं प्रयोजनमिति दर्शयन्ननृतादिव्यावृत्तिमुखमखण्डवाक्यार्थ प्रपञ्चनमुपसंहरति–

"परिगृहीतादेयम्" इससे सूचित होता है कि सत्यादि अवान्तर वाक्य सिद्ध "परमं पदं" परम पदं इस अवान्तर वाक्य स्थित सत्यादि पदों का अनृतादिव्यवच्छेदक परक मुख्य अर्थ मानना उचित होगा और यही अनृतादि व्यवच्छदेक परकत्व ही उनका प्रयोजन मानना उचित होगा। इस बात को बताने के लिये अनृतादि व्यावृत्ति प्रधान भूत अखण्ड वाक्यार्थ विस्तार को समाप्त कर रहे हैं–

अनृतजड़विभक्तदुःखतुच्छा-
सहनवपुः परमं पदं मुरारेः।।
परिहृतसकलप्रपञ्चमात्मा
तव तदवेहि तमो निरस्य वाक्यात्।।२६६।।

अन्वयः= तमो निरस्य वाक्यात् मुरारेः अनृतजडविभक्तदुःखतुच्छासहनवपुः परिहृतसकलप्रपञ्चं परमं पदं तव आत्मा, तदवेहि।।२६६।।

अन्वयार्थः= मुरारी का अनृत जड अन्तसहित दुःख और तुच्छ से विलक्षण, सकल प्रपञ्चातीत, परमपद तेरा आत्मा है, उसे विवेकादि की सहायता से अविवेक रूपी तम को हटाकर तत्त्वमसि वाक्य के द्वारा समझ।।२६६।।

अनृतजडेति। विभक्तेत्यनन्तपदव्यवच्छेद्यं परिच्छिन्नमुक्तम्, तुच्छेति सत्पदव्यावर्त्यम्। एतानानृतादीन्न सहत इत्यसहनम् एतद्विलक्षणमिति यावत्। एवं विधं वपुर्यस्य तदित्यर्थः। तमः पदार्थाविवेकं तद्विवेचनेन निरस्य यत्सत्यज्ञानानन्तानन्दसद्रूपं परिह्वतसकलप्रपञ्चमद्वयं मुरारेः परमं पदं तत्तवात्मेति तत्त्वमादिवाक्यादवेहीति सम्बन्धः।।२६६।।

अनृतजडेति= विभक्तेति= अनन्त पद व्यवच्छेद्य परिच्छिन्नत्व है। तुच्छेति= जो सत् पद का व्यावर्त्य है। असहनवपुः= अनृतादि को परं तत्त्व बिलकुल सहन नहीं है। अर्थात् इनसे यह परंपद अतिविलक्षण है, इस प्रकार से। वपुः- शरीर है। जिसका वही तत्पदार्थ है। तमः= पदार्थाविवेक= उस अविवेक को वाक्य द्वारा निरस्त करने पर जो सत्यज्ञानानन्तानन्दसद्रूप जिसने सम्पूर्ण प्रपञ्च को हटा दिया है। ऐसा जो अद्वय मुरारी का परंपद वह पद तेरी स्वयं की आत्मा है। यह बोध तत्त्वमसि महावाक्य से अज्ञान को दूर कराके अपने आप में स्थित करा देता है, ऐसा महावाक्य से बोध उपन्न होता है।

एवमखण्डवाक्यार्थ निरूप्य तस्यातिसूक्ष्मतया पुनः सन्दिहानं प्रति "उपससाद चतुष्टयसाधनः" इत्यनेन साधनसंपन्मध्यस्थतयोक्तायामपि श्रद्धायां तस्याः प्राधान्येन कर्त्तव्यतामभिप्रेत्य तत्र प्रमाणमाह-

इस प्रकार अखण्ड वाक्यार्थ का निरूपण करने के बाद वह अखण्डार्थ वाक्यार्थ बोध अतिसूक्ष्म होने के कारण पुनः पुनः उसमें सन्देह जिसको हो, उसके प्रति कहते हैं। उपससाद चतुष्टयसाधनः" इससे साधन संपन्नता के अन्तर्गत ही श्रद्धा आती है। तथापि उसकी प्रधानता होने के कारण उस श्रद्धा को और मजबूत करना जरूरी है उस पर प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं—

श्रद्धत्स्व सोम्येति हि शास्ति शास्त्रं
श्रद्धाधनत्वश्रुतिरस्ति चान्या।।
श्रद्धा तु यस्येत्यपरं च वाक्य-
मधीयते संशयकुत्सनाय।।२६७।।

अन्वयः= "श्रद्धस्व सौम्य इति हि शास्त्रं शास्ति, अन्या च श्रद्धाधनत्वश्रुतिः अस्ति "श्रध्दा तु यस्य" इत्यपरं वाक्यं च संशयकुत्सनाय अधीयते।।२६७।।

अन्वयार्थः= श्रद्धत्स्व सौम्य (छान्दो० ६/१२/२) ऐसा शास्त्र कहता है। दूसरी और श्रद्धान्वितो भूत्वा (बृ० ४/४/२३) ऐसी श्रुति भी है। यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति (छा० ३/१४/४) ऐसा एक और भी वाक्य संशय मिटाने के लिए पढा जाता है।।२६७।।

श्रद्धत्स्वेति। छान्दोग्ये ''यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयसे एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्य'' इत्यतिसूक्ष्मस्य जगन्मूलस्य ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतया तद्विज्ञानसाधनं श्रद्धामिदं वाक्यं विधत्ते। तथा बृहदारण्यके "श्रद्धावित्तोभूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इत्याह। तदिदमाह-श्रद्धाधनत्वश्रुतिरिति। "एवं यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति" इति संशयनिवृत्तयेऽपरमपि वाक्यं छन्दोगा अधीयते। ततस्त्वं वर्णितेऽखण्डवाक्यार्थे संशयनिवृत्तये श्रद्धां कुर्वित्यर्थः।।२६७।।

श्रद्धत्स्वेति= छान्दोग्योपनिषदमें "यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयसे एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्वसौम्य" हे सोम्य श्वेतकेतु जिस प्रकार से एक वट वृक्ष के बीज में सम्पूर्ण वट वृक्ष छिपा हुवा रहता है इसी प्रकार ये इस परतत्त्व ब्रह्म में जो अतिसूक्ष्म है उसमें सारा विश्व छिपा हुवा रहता है। यह तत्त्व अतिसूक्ष्म होने के कारण इसमें तुम श्रद्धा करो। तो इसमें अत्यन्त सूक्ष्म जगत् का मूलकारण ब्रह्म वह सूक्ष्म होने के कारण दुर्विज्ञेय है। उसको जानने के लिये साधनरूप में श्रद्धा ही है तो यह वाक्य श्रद्धा परक है। इसी प्रकार से बृदारण्यकोपनिषद् में "श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" श्रद्धारूपी धन से युक्त होकर अन्तःकरण में आत्मा का दर्शन करें। इसलिये यह कहा जा रहा है। श्रद्धाधनत्वश्रुतिरिति= "एवं यस्य स्याद्धा न विचिकित्सास्ति इति" जिसे ब्रह्मतत्त्व के बारे में निश्चय हो चुका है उसे किसी प्रकार का संशय नहीं होता है। इस प्रकार संशय निवृत्ति के लिये दूसरा भी वाक्य छान्दोग्योपनिषद् में कहा है। इसलिये हे शिष्य! तुम भी यहां प्रकृत में अखडवाक्यार्थ के अन्दर संशय निवृत्त्यर्थ श्रद्धा धारण करो, यह उत्तम उपाय है।

एवं तमो निरस्येत्यज्ञानस्य, संशयकुत्सनायेति संशयस्य च निवृत्तिं सूचयता तयोरनर्थहेतुत्वं सूचितम्। श्रद्धायाश्चानुष्टेयत्वं सूचयता तदभावस्यापि तत्सूचितं तत्त्रितयं भगवतोऽपि संमतमित्याह-

इस प्रकार तम की (अन्धःकार की) निवृत्ति होने से तमरूप अज्ञान को, इसी प्रकार संशय को हटाने के लिये अर्थात् संशय की निवृत्ति के लिये बताया है। इसका मतलब तम (अज्ञान) तथा संशय दोनों ही अनर्थ के हेतु हैं, यह बात सिद्ध हुई। श्रद्धा का अनुष्ठान करना चाहिये, इस कथन में श्रद्धा का अभाव भी अनर्थ का हेतु है, यह सूचित हो जाता है। तो अज्ञान, संशय, तथा श्रद्धा अभाव ये तीनों भगवान् श्री कृष्ण जी को भी अनर्थ हेतु के रूप में अभिमत हैं ''अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च'' संशयात्मा विनश्यति (भ० गीता)

अज्ञो विनश्यति पुमानतिमूढभावा-
दश्रद्धयोपहतबुद्धिरतोऽपि कष्टः।।
कष्टाच्च कष्टतर एव तु संशयात्मा
दुःखी सदेति भगवानपि वासुदेवः।।२६८।।

अन्वयः= अतिमूढभावात् अज्ञः पुमान् विनश्यति। अतोऽपि कष्टः अश्रद्धया उपहतबुद्धिः। संशयात्मा तु कष्टात् च कष्टतरः सदा दुःखीति भगवान् वासुदेवोऽपि।।२६८।।

अन्वयार्थः= अति मूढ होने के कारण अज्ञानी पुरुष जन्म मरणपरम्परा में पतित होते हैं। लेकिन जो अश्रद्धा वाले व्यक्ति हैं इससे भी अधिक संशय ग्रस्त पुरुष, कष्ट से भी कष्टतर दशा में पडकर सदा दुःखी रहते हैं, ऐसा भगवान् वासुदेव ने भी कह दिया है।।२६८।।

अज्ञो विनश्यतीति। अविवेकी परमपुरुषार्थाद् भ्रश्यतीत्यर्थः। अतिमूढभावात्त्वंपद-पदार्थाविवेकात्। अज्ञोऽपि यदि वैदिकं कर्म श्रद्दध्यात्तस्य कदाचिद्भवेदपि पुरुषार्थो नत्वश्रद्दधानस्य, तस्य नास्तिक्यप्रसङ्गेनानर्थसम्भवादित्याह-अश्रद्धयोपहतबुद्धिरिति। बुद्धिर्वैदिकी। कष्टः अतिदुःखीत्यर्थः। यदि कश्चिच्छ्रद्धामपि संपाद्य विवेकादिसाधनचतुष्टयो भूत्वा संन्यस्यानिश्चयरूपापातज्ञानेन कृतार्थं मन्यमानः श्रवणादिकं नानुतिष्ठति, असावन्ततः सन्दिग्धात्मोभयपुरुषार्थसाधनशून्यत्वात् सर्वथा भ्रष्ट एवेत्याह-कष्टाच्चेति। "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः" इति श्रीभगवान्वासुदेव आहेत्यर्थः।।२६८।।

अज्ञो विनश्यतीति= अविवेकी (अज्ञानी) परमपुरुषार्थ रूप मोक्ष से वंचित रह जाता है। अतिमूढभावात्= त्वं पदार्थ का विवेक न होने के कारण, अज्ञानी व्यक्ति भी यदि वैदिक कर्म श्रद्धा के साथ करें तब तो कभी ना कभी उसकी भी मुक्ति हो सकती है। लेकिन जिस की वैदिक कर्म में भी श्रद्धा नहीं है। उसको तो मोक्ष की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। वह तो नास्तिक होने के कारण उस अनर्थ का ही सामना करता रहेगा। इस बात को कह रहे हैं अश्रद्धयोपहतबुद्धिरिति= जिसकी बुद्धि वैदिक कर्म में श्रद्धाविरहित है। उसके जीवन में। कष्टः= अति कष्ट ही कष्ट है। यदि वैदिक कर्म में कोई श्रद्धा का संपादन करके विवेक, वैराग्य, शमादिषट्क संपत्ति तथा मुमुक्षुत्वादि साधनचतुष्टय संपन्न होकर भी संशय तो अनिश्चित रूप अपात ज्ञान रूप ही है। जो जो ऐसे ज्ञान से अपने को कृतकृत्य मानकर ब्रह्मविद्या का श्रवणादिक नहीं करता है ऐसा व्यक्ति अन्ततः सन्देह तथा सन्देह युक्त आत्मा के ग्रहण के इन दोनों के कारण मोक्ष रूपी परंपुरुषार्थ साधन शून्य होने के कारण सर्वथा

ही नष्ट हो जाता है। इसी बात को कह रहे हैं कष्टाच्चेति। अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति" अज्ञानी श्रद्धारहित तथां संशयापन्न व्यक्ति नष्ट ही हो जाता है। "नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। जो व्यक्ति संशयापन्न होता है, उसे न तो इस लोक के सुख की प्राप्ति होती है और न ही परलोक के सुख की ही प्राप्ति होती है। इस प्रकार भगवान् वासुदेव श्री कृष्ण जी ने कहा है।

नन्वग्निहोत्रादिवाक्यार्थनिश्चयानन्तरमिवाद्वैतवाक्यार्थसाक्षात्कारानन्तरमपि किं कर्त्तव्यतान्तरमस्तीति शङ्कमानं प्रति तदन्तरमेवाद्वयं निरतिशयानन्दं ब्रह्म प्राप्तस्य कर्तृकरणादिसाधनाभावात्तदधिकश्रेयसोऽभावाच्च नैवास्तीत्याह--

आशंका= क्या अग्निहोत्रादि वाक्यार्थ निश्चय के बाद अद्वैतवाक्यार्थ साक्षात्कार रह जाता है, तो क्या अद्वैत साक्षात्कार के बाद भी क्या कोई कर्त्तव्यान्तर रहता है?

समाधान= अग्निहोत्रादि कर्म के बाद ही तो अद्वय निरतिशयानन्द ब्रह्म प्राप्त होता है। तो ऐसे व्यक्ति के प्रति कर्तृकरणादि साधन भाव तो रहता नहीं। इसीप्रकार से ब्रह्म से बढकर और कोई श्रेयस भी रहता नहीं है। इसलिये ऐसे ब्रह्म साक्षात्कार के बाद कर्त्तव्यान्तर रहता नहीं है।

रूपं तावकमुज्झितद्वयमभूदद्वैतमेवाञ्जसा
तच्चाद्वैतमपास्य मोहजनितं पारोक्ष्यमात्मा ह्यभूत्।।
एवं वेदशिरःपदान्वयवशादेकत्वमेकान्ततः
सिद्धं प्रत्यगनन्तयोरिति तव श्रेयः समाप्तिं गतम्।।२६६।।

अन्वयः= तावकं रूपं उज्झितद्वयं अञ्जसा अद्वैतमेव अभूत्। तच्च अद्वैतं मोहजनितं पारोक्ष्यं अपास्य हि आत्मा अभूत्। एवं वेदशिरःपदान्वयवशात् प्रत्यगनन्तयोः एकान्ततः एकत्वं सिद्धम्, इति तव श्रेयः समाप्तिं गतम्।।२६६।।

अन्वयार्थः= हे शिष्य! तेरा रूप द्वैत शून्य साक्षात् अद्वैत ही था। वह अद्वैत मोहजन्य परोक्षता को दूरकर तेरा अपरोक्ष आत्मा हो गया है। इस प्रकार वेदान्त पद समन्वय के द्वारा प्रत्यगात्मा और अनन्त तत्त्व में अत्यन्त अभेद सिद्ध हो गया, इतने मात्र से ही तेरा श्रेय सम्पन्न हो जाता है।।२६६।

रूपं तावकमिति। तावकं रूपं स्वरूपमुज्झितद्वयं- परित्यक्ताहङ्कारतद्धर्मादिद्वैतं यथा स्यात्तथा अञ्जसा स्वभावतोऽद्वैतमेव पूर्णं ब्रह्मैवाभूत्तच्चाद्वैतं मोहजनितं परोक्ष्यमपास्याञ्जसा तदात्माऽभूद्धीति सम्बन्धः। हीति वैदिकप्रसिद्धौ। एवं च सति तत्त्वमस्यादिवाक्यादहं ब्रह्मास्मीति

साक्षात्कार उदिते पूर्णपुरुषार्थलाभ इत्याह एवं वेदशिर इति। तव श्रेय इति। तावतैवेति शेषः। समाप्तिं गतं निरवशेषं प्राप्तमित्यर्थः। प्रतीचः परमानन्दाद्वयब्रह्मप्राप्तेरेव श्रेयः समाप्तित्वात्। "सा काष्ठा सा परा गतिः" इति श्रुतेः। "आत्मलाभान्न परं विद्यते, एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत" इति स्मृतेश्च। अग्निहोत्रादिज्ञानमात्रात्तु नैवंविधपुरुषार्थलाभ इति तत्रानुष्ठानापेक्षेति भावः।।२६६।।

रूपं तावकमिति= हे शिष्य! आपका स्वरूप (त्वं पद का स्वरूप) उज्झितद्वयं= जिसमें से अहंकारादि धर्मादिद्वैत निकल चुका है ऐसा है और अञ्जसा= स्वभाव से, अद्वैतमेव= पूर्ण ब्रह्म ही तेरा स्वरूप है। और अद्वैत ब्रह्म में जो पारोक्ष्यता मोह के कारण है वह हट जाने पर स्वभाव से तेरी आत्मा तत् ब्रह्म स्वरूप ही हो जाती है, ऐसा यह सम्बन्ध है। हीति= वैदिक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इस प्रकार से तत्त्वमस्यादि वाक्य से अहं ब्रह्मास्मीति ऐसा साक्षात्कार होनेपर पूर्ण पुरुषार्थ का लाभ प्राप्त हो जाता है, इसबात को कह रहे हैं। वेदशिर (वेदान्त) इति। इसी से तुम को श्रेय की प्राप्ति हो गई। समाप्तिं गतम्- अब बाकी कुछ भी नहीं रहा। जो प्राप्त करना सो प्राप्त कर लिया है। क्योंकि जीव को परमानन्दाद्वय ब्रह्म की प्राप्ति ही परमश्रेय मानी गई है। इसके आगे और कोई श्रेय नहीं हे। इसीलिये कहा है "सा काष्ठा सा परागतिः" ऐसी श्रुति भी है यही अन्तिम सीमा है यही आखिरी गति है। इसी प्रकार से "आत्मलाभान्न परं विद्यते" आत्म लाभ से बढकर और कोई लाभ नहीं है इसी प्रकार "एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत" जीव ब्रह्मैक्य जो जानने से ही वह बुद्धिमान् माना जाता है अन्यथा नहीं। ऐसी भगवद् गीता भी कहती है।

अग्निहोत्रादि ज्ञान मात्र से इस प्रकार का लाभ होने वाला नहीं है। इसलिये अग्निहोत्रादि कर्म में अनुष्ठान की (अपेक्षा) सापेक्षता है। लेकिन तत्त्वमस्यादि महावाक्य के ज्ञान में अनुष्ठान की सापेक्षता (अपेक्षा) नहीं है, क्योंकि जीव ब्रह्मैक्यरूप ज्ञान से परमपुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

एवं वेदान्तानामखण्डे ब्रह्मणि समन्वयो दर्शितः, अखण्डार्थतायाश्च वाक्यस्य लोकवादिप्रसिद्धिर्दर्शिता। इदानीमन्तेऽपि तद्दाढर्यार्थं वादिप्रसिद्धिं दर्शयति, तत्रादावेकपदलक्षणया वैशेषिकमते तामाह-

इसप्रकार से वेदान्त का अखण्ड ब्रह्म में समन्वय बता दिया है। वाक्य के द्वारा अखण्डार्थ परकता लौकिक उदाहरण- प्रस्तुत भी किये। अब आखिर में अखण्डार्थ के दृढ

करनं के लिये वादिकी प्रसिद्धि बताते हैं। इसमें सर्वप्रथम एक पदलक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ बोध वैशेषिक मत में कैसा होता है, यह बता रहे हैं—

सम्बद्धः समवाये इत्यपि पदे वैशेषिकोच्चारिते
नाखण्डव्यतिरिक्तवस्तु वदितुं शक्तोऽनवस्थाभयात्।।
पञ्चानां समवायितेति वचनव्याघातभीतेरपि
सम्बन्धान्तरमस्य नाभिमनुते वैशेषिकः कातरः।।२७०।।

अन्वयः= सम्बद्धः समवायः इति वैषिषिकोच्चारिते पदे अखण्डव्यतिरिक्तवस्तु वदितुं न शक्तः अनवस्था भयात्। पञ्चानां समवायितेतिवचनंव्याघातभीतेरपि वैशेषिकः कातरः अस्य सम्बन्धान्तरं नाभिमनुते।।२७०।।

अन्वयार्थः= सम्बन्धः समवायः= यह वाक्य वैशषिकों को अखण्डार्थ परक मानना होगा। विशिष्टार्थ परक मानने पर अनवस्था होगी। द्रव्यादीनां पञ्चानां समवायित्वम् (वैशेषिक भा० ६/१) इस प्रकार के प्रशस्तपादोक्त वचन का विरोध होने के कारण भी डरपोक वैशषिक इस समवाय सम्बन्ध का सम्बन्धान्तर नहीं मान सकता।।२७०।।

सम्बद्ध इति। सम्बन्धविशिष्ट इत्यर्थः। समवायपदेन वैशेषिकप्रसिद्धो नित्यः सम्बन्धः कथितः। कुतो न शक्तस्तत्राह- अनवस्थाभयादिति। वैशेषिकैर्ह्यवयवावयव्यादि सम्बन्धः समवाय इत्युच्यते, तत्र समवायस्यासम्बद्धत्वान्न तत्कृतावयवादिविशिष्टबुद्धिः स्यात्। न च समवायस्यापि समवायान्नासम्बद्धत्वमिति वाच्यम्। स्वस्य स्वस्मिँस्तदसम्भवेन समवायान्तराभ्युपगमे तस्य तस्यापि समवायान्तरमभ्युपेयमित्यनवस्था स्यादिति चोद्यपरिहाराय स्वरूपसम्बन्धाभिप्रायेग सम्बद्धःसमवाय इत्युच्येत, तत्र सम्बद्धपदं समवायस्वरूपमात्रे लक्षणया वर्तते समवायपदमपि तत्रैवेति कथं नाखण्डार्थता तदभ्युपेयेति भावः। न केवलं समवायान्तराभ्युपगमेऽनवरथा किं तु तेषामभ्युपगमविरोधोऽपि स्यादित्याह- पञ्चानामिति। वचनस्य स्ववचनस्य व्याघातभयादित्यर्थः। अस्य समवायस्यावयदावयविगुणगुणिक्रियाकियावज्जातिव्यक्तिविशेष नित्यद्रव्याणां पञ्चयुग्मानामेव समवाय इति हि ते वदन्ति, तस्यैवं व्याघातः स्यात् तत्परिहाराय समवाये समवायान्तरं कातरः स्वसिद्धान्तसंरक्षाव्याकुलचित्तो वैशेषिकः कथमङ्गीकुर्यादित्यर्थः।।२७०।।

सम्बन्ध इति= सम्बन्धविशिष्ट- समवाय में अर्थात् सम्बन्धवान् समवायः। बात यह है कि समवाय पद से वैशेषिक मत से नित्य सम्बन्ध का कथन होता है। समवाय पद नित्य-सम्बन्ध में शक्त नहीं है, क्या कारण है इसका? समाधान यदि समवाय पद नित्य-सम्बन्ध में शक्त हो तो अनवस्था दोष आयेगा। कैसे? तो बताते हैं वैशेषिक मत में अवयव

अवयवि आदि का सम्बन्ध समवायसम्बन्ध माना जाता है। घटादिनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः। तेषु जातेश्चसम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः।। यदि अवयव और अवयवि आदि के साथ समवाय का सम्बन्ध न हो तब तो समवाय के कारण उत्पन्न होने वाली अवयववान् अवयवि यह विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न नहीं होगी। यदि यह कहे कि समवाय सम्बन्ध तो समवाय सम्बन्ध रूप होने से वह सम्बन्ध होने से असम्बन्धत्व उसमें आ नहीं सकता। तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि अवयव और अवयवि दोनों खुद ही समवाय रूप है यदि इसमें समवाय रहता है। तो आत्माश्रय दोष होगा। स्व में स्वकी वृत्ति नहीं हो सकती। स्व में स्व के वृत्ति के लिये अन्य समवायान्तर की कल्पना करनी होगी। उसके लिये भी अन्य समवायान्तर की कल्पना इस प्रकार से अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। इसलिये "सम्बन्धः समवाय" इस के दोष को हटाने के लिये स्वरूप सम्बन्ध के अभिप्राय से जो सम्बन्ध है, उसे समवाय कहोगे। इस में सम्बन्ध समवाय इसमें सम्बद्ध पद लक्षणा के द्वारा समवाय के स्वरूप मात्र परक मानना होगा। तथा समवाय पद समवाय स्वरूप मात्र परक मानना होगा। तो फिर कैसी अखण्डर्थता सिद्ध नहीं होगी। अवश्यमेव सिद्ध होगी। दूसरी बात समवायान्तर मानने से ही केवल अनवस्थादि दोष की प्राप्ति वैशेषिक मत में नहीं होगी किन्तु अपने प्रतिपादित सिद्धान्त का विरोध भी होगा। पञ्चानामिति– वचनस्य- अपनी ही उक्ति का, व्याघात- भीतेरिति= व्याघातभय से (वदतो व्याघातभय से) अखण्डार्थ बोध मानना पडेगा। क्योंकि वैशेषिक मत में १) अवयव अवयवि २) गुण गुणी ३) क्रिया क्रियावान् ४) जाति व्यक्ति ५) विशेष तथा नित्य द्रव्य का इस प्रकार इन पांच जोडियों का समवाय माना जाता है। उसका भी व्याघात होगा। क्योंकि यहां भी प्रश्न, करेंगे कि क्या इन पांच जोडियों में समवाय रहता है, कि नहीं यदि नहीं रहता तो फिर अवयववान् अवयवि इत्यादि विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न नहीं होगी। यदि रहता है तो समवाय में समवाय की स्व में स्व की वृत्ति कैसी होगी? आत्माश्रय दोष होगा। इस दोष को हटाने के लिये समवायान्तर की कल्पना। तो फिर वही अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। इसलिये अपने सिद्धान्त की रक्षा हेतु डरपोक वैशेषिक समवायान्तर की कल्पना कैसे कर सकेगा। इसके लिये उसे एक ही करना होगा कि पांच जोडों का लक्षणावृत्ति से समवाय स्वरूप मात्र परक अर्थ है। तथा समवाय का तो है ही समवाय स्वरूप मात्र परक अर्थ इसप्रकार से अखण्डार्थ बोध मानना पडेगा। इसमें सम्बन्ध जो एक पद है उसी की लक्षणा मानकर आगे समवाय पद की लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं, अतः अखण्डार्थ बोध सिद्ध हुवा। यही प्रक्रिया पांच जोडियों में बताई है।

प्राभाकरमतेऽप्यखण्डार्थता प्रसिद्धिमाह-

अब प्रभाकर मत से भी अखण्डार्थता की प्रसिद्धि बता रहे हैं—

शब्दो गकार इति लौकिकमस्ति वाक्यं
विस्पष्टमस्ति च पदद्वयमत्र वाक्ये।
प्राभाकरे च समये न गकारमात्रा-
दन्यत्पदद्वयनिगद्यमभीष्टमस्मिन्।।२७१।।

अन्वयः= शब्दो गकारः इति लौकिकं वाक्यं अस्ति। अत्र वाक्ये च विस्पष्टं पदद्वयं अस्ति। प्राभाकरे समये च गकारमात्रात् अन्यत् पदद्वयनिगद्यं अत्र नाभीष्टम्।।२७१।।

अन्वयार्थः= शब्दा गकारः यह लौकिक वाक्य है। इस वाक्य में निरूपक दो पद हैं। प्रभाकर मत में गकार मात्र से भिन्न दोनों पदों से अन्य अर्थ अभीष्ट नहीं है।।२७१।।

शब्दो गकार इति। अस्त्वेवंविधवाक्यस्य लोकप्रसिद्धिस्तस्यापि संसृष्टार्थतैव किं न स्यात् तत्राह-प्राभाकरे चेति। प्राभाकरे समये चास्मिन्वाक्ये पदद्वयनिगद्यं शब्दो गकार इति पदद्वयप्रतिपाद्यमन्यन्नाभीष्टमिति संबन्धः। अस्मिन्पदद्वयात्मके एतद्वाक्ये शब्दो गकारइति वाक्ये कि प्रयुक्तपदद्वयेन प्राभाकरैर्गकारव्यक्तिमत्रमभिधेयमित्यङ्गीकृतमितीदं वाक्यम-खण्डार्थमभ्युपेयमिति भावः।।२७१।।

शब्दो गकार इति= आशंका= इसप्रकार से लोक प्रसिद्ध वाक्य जो अखण्डार्थ बोध को सिद्ध करता है ऐसा वाक्य होने पर भी वाक्य से बोध संसर्गावगादि क्यों नहीं होना चाहिये ऐसे जो प्राभाकर हैं उनके प्रति कहते हैं— प्राभाकरे चेति- प्राभाकर मत में यह वाक्य है जिसमें दो पद बोले हैं "शब्दो गकार" इति इन दोनों पदों के द्वारा एक ही अर्थ का प्रतिपादन हुवा है अन्य कुछ भी नहीं। यह तो प्राभाकर को भी अभीष्ट अर्थात् "शब्द गकार" इस पद द्वयात्मक वाक्य से शब्दो गकार इस वाक्य में दो पद प्रयुक्त हैं इसमें प्राभाकर ने गकार व्यक्ति मात्र का ही अभिधेय है। तो यह वाक्य अपने आप अखण्डार्थ बोध परक हो गया है।

ननु द्रव्वं घट इति वाक्यमिव शब्दो गकार इति वाक्यमपि परापरजातिद्वयविशिष्टा-भेदं प्रतिपादयिष्यतीति नाखण्डार्थमिति तत्राह-

आशंका= "द्रव्यं घट" द्रव्य (का) घट है इस वाक्य के समान् शब्दो गकार शब्द गकार है यह वाक्य भी पर तथा अपर दोनों जातियों का विशिष्ट अभेद का प्रतिपादन करते हैं। द्रव्यत्व पर जाति है तथा घटत्व अपर जाति है, इसी प्रकार से शब्दत्व परजाति है तथा गकारत्व अपर जाति है। ये दोनों वाक्य पर अपर दोनों जातियों का विशिष्ट अभेद

प्रतिपादित करते हैं लेकिन अखण्डार्थ बोध नहीं प्रतिपादित करते हैं। इस पर कहते है-

शब्दत्वजातिवचनो न हि शब्दशब्दः
श्रोत्रोपलम्भनतया तु निबन्धनेन।।
वर्णान्ब्रवीति न हि जातिरिहाभ्युपेता
साक्षाद्गकारमयमाह गकारशब्दः।।२७२।।

अन्वयः= शब्दशब्दः शब्दत्वजातिवचनो न हि, श्रोयोपलम्भनतया निबन्धनेन वर्णान् ब्रवीति। इह हि जातिः अभ्युपेता न। अयं गकारशब्दः साक्षात् गकारम् आह।।२७२।।

अन्वयर्थः= "शब्द" पद शब्दत्व जाति वाचक नहीं है। वह तो श्रवणेन्द्रिय से उपलब्ध निमित्तक वर्णों को कहता है। इस गकार में जाति नहीं मानी जाती है। यह गकार शब्द साक्षात् गकार वर्ण को कहता है।।२७२।।

शब्दत्वजातिवचनइति। गत्वजातेरप्युपलक्षणम्। शब्दशब्दः शब्द इति शब्दः, एतद् गशब्दस्याप्युपलक्षणम्। शब्दशब्दस्यजातिवचनत्वाभावे व्यक्तिष्वानन्त्यव्यभिचाराभ्यां कथं वृत्तिरित्यतआह-श्रोत्रोपलम्भनतयेति। श्रोत्रोपलभ्यत्वेन तटस्थेनोपाधिनेत्यर्थः। निबन्धनेन निमित्तेन। ननूपाध्यपेक्षया जातिर्लघीयसीति, सत्यं, किं तु जातेः संस्थान व्यङ्ग्यत्वनियमेनाद्रव्ये शब्दे तदसंभव इत्याह- न हि जातिरिति। अत एव गत्वमपि न जातिरिति गकारशब्दोऽपि साक्षाद् गकारव्यक्तिमेवाह। सा च व्यक्तिरेका संभवतीति नानन्त्यव्यभिचारदोषोऽपीत्याशयेनाह-साक्षाद् गकारमिति। प्राभाकरैरद्रव्यवृत्तिजात्यनभ्युपगमाच्छ्रोत्रग्राह्यत्वस्य शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य तच्छब्दाप्रतीतेर्गकारशब्दस्य चैकगकारमात्रनिष्ठत्वादधिकार्थाभावात्तस्याखण्डार्थतैव वक्तव्येति भावः।।२७२।।

शब्दत्व जातिवचन= गत्व जाति का भी यह शब्द उपलक्षण है। शब्द शब्दः= शब्द ऐसा जो शब्द है यह शब्द भी ग शब्द का भी उपलक्षण है।

आशंका= यदि शब्द को जातिपरक नहीं माने तो व्यक्ति अनन्त होने के कारण परस्पर में व्यभिचारावस्था होगी तो इन सभी शब्दों के अन्दर कौन सी वृत्ति होगी।

समाधान— श्रोत्रोपलम्भनतयेति= श्रोत्रोपलम्भत्व तटस्थ उपाधि के द्वारा अर्थात् श्रोत्रगाह्यत्वेन रूपेण अनन्त शब्द व्यक्तियों का ग्रहण हो जायेगा। निबन्धनेन= इसी निमित्त से सभी शब्दों का ग्रहण भी होगा तथा व्यभिचार भी नहीं होगा।

आशंका— श्रोत्रग्राह्यत्व उपाधि की अपेक्षा जाति मानने में लाघव है। अतः शब्दत्वादि

जाति ही मानी जाय?

समाधान— बात तो आपकी सही है। लेकिन जाति तो संस्थान व्यङ्गत्वनियमेन अवयवसन्निवेश को लेकर रहती है। और वह अवयव सन्निवेश द्रव्य में ही संभव है। न कि गुणादिक में। इसलिये शब्द में तो यह शब्दत्व जाति नहीं रह सकती।

नहि जातिरिति= इसी कारण गत्व भी जाति नहीं मानी जा सकती। इसलिये गकार शब्द भी साक्षात् गकार व्यक्ति का ही प्रतिपादन करता है। यह गकार व्यक्ति एक ही है उसमें अनन्त व्यक्ति होने की कोई सम्भवना ही नहीं है। इसीकारण व्यभिचार दोष की प्रसक्ति भी संभव नहीं है। इसी अभिप्राय से कहा जा रहा है- साक्षाद् गकारमिति= प्राभाकरों ने द्रव्य से भिन्न पदार्थो में जाति की वृत्ति स्वीकृत नहीं की है। तो इस अवस्था में श्रोत्रग्राह्यत्व को ही शब्द प्रवृत्ति निमित्तक मानना होगा। तो "शब्दो गकार" इससे शब्द से गकार की प्रतीति नहीं हुई और गकार शब्द से केवल एक गकार अर्थ मात्र की ही प्रतीति हुई। गकार अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं हुई। तो शब्दो गकार इस वाक्य से अखण्डार्थ बोध मानना प्रभाकरके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

प्राभाकरं प्रत्यखण्डार्थप्रसिद्धिसमर्थनमुपसंहरति—

प्राभाकर के यहां अखण्डार्थ प्रसिद्धि बताकर उपसंहार कर रहे है।

तस्मादखण्डविषये वचने विवादं
प्राभाकराः परिहरन्तु न चेदशक्यम्।।
निर्वोढुमेतदिह वाक्यमितोऽन्यथा चे-
दस्यार्थकल्पनमभीप्सितमिष्टहानिः।।२७३।।

अन्वयः= तस्मात् प्राभाकराः अखण्डविषये विवादं परिहरन्तु। न चेत् इह एतत् वाक्यं निर्वोढुं अशक्यम्। इतोऽन्यथा चेत् अस्य अर्थकल्पनम् अभीप्सितम् इष्टहानिः।।२७३।।

अन्वयार्थः= इस कारण प्राभाकर को भी अखण्डार्थ के विषय में विवाद छोड़ देना चाहिये। नहीं तो यहां शब्दों गकार इसका निर्वाह नहीं हो सकता। इससे भिन्न यदि इस वाक्य के अर्थ की कल्पना की जाय तो वह स्वयं की इष्ट हानि होगी।।२७३।।

तस्मादिति। यस्मादुक्तविधयाऽखण्डार्थता तैरभ्युपेया तस्मादित्यर्थः। परिहरन्तु त्यजन्तु। चेद्यदि न परिहरेयुः, इह-तर्ह्येतदुदाहृतवाक्यं निर्वोढुमुपपादयितुमशक्यम्। यदि परापरजाति-निबन्धनं पदद्वयसामानाधिकरण्यं तैरभ्युपगम्येत तर्हि तत्सिद्धान्तक्षतिरित्याह- इत इति। उक्तप्रकारादित्यर्थ। अस्य-प्रस्तुतवाक्यस्य इतोऽन्यार्थकल्पनमभीप्सितं चेदिष्टहानिरिति

सम्बन्धः।।२७३।।

तस्मादिति= इस प्रकार उक्तविधि के अनुसार अखण्डार्थता प्राभाकरों को भी माननी पडती है इस कारण। परिहरन्तु- अखण्डार्थ विषयक विवाद को उन्हें छोडना चाहिये। यदि वे इस विवाद को नहीं छोडते हैं। इह= शब्दो गकार इस वाक्य का वे निर्वाह नहीं कर पायेंगें। यदि कहो कि "शब्दो गकार" यह वाक्य शब्दत्व पर जाति तथा गकारत्व अपर जातिपरक मानकर दोनों जातियों का सामानाधिकरण्य गकार में मान लेवे तो फिर उनके अपने ही सिद्धान्त की क्षति होती है। क्योंकि द्रव्यभिन्न पदार्थों में उनके सिद्धान्तों में जाति का अङ्गीकार नहीं किया जाता। इसलिये कहा इत इति= उक्त प्रकार से यह सब बात सिद्ध हुई और शब्दो गकार" इस वाक्य का अन्यार्थकल्पनम्अभीप्सितम्= अन्य अर्थ की कल्पना करते हो तब तो द्रव्य से अतिरिक्त पदार्थों में भी जाति स्वीकृत करते हो तब तो इष्ट हानिः।। क्योंकि आपके सिद्धान्तों में द्रव्य से भिन्न पदार्थों में जाति नहीं मानते हैं। इस सिद्धान्त का खण्डन होगा। स्वसिद्धान्त का खण्डन होगा। इसलिये आपकी इष्ट हानि ही हो जायेगी। इसलिये अखण्डार्थ बोध मानना ही पडेगा और कोई उपाय नहीं है।

अखण्डार्थत्वे प्रागुदाहृतामपि पाणिनिसंमतिमन्ते पुनरप्युदाहरति तस्यान्यथासिद्धत्व शङ्कानिरासाय-

अखण्डार्थत्व का प्रतिपादन पहले भी कर चुके हैं। तथापि पाणिनि जी कहते है "नहि पर्यायवाचकानां सहप्रयोगः" पर्यायवाची शब्दों का एक साथ प्रयोग नहीं किया जा सकता, ऐसा उनका कथन है। तो अब अन्त है अखण्डार्थ के विषय में जो भी आशंका है उसके निराकरण के लिये कह रहे है-

प्रातिपदिकान्यनतिरिक्तविषयाणि
प्राह भगवान्प्रथमशब्दितविभक्त्या
पाणिनिरतः सकलतर्कसमयज्ञो
वष्टि वचसोरनतिरिक्तविषयत्वम्।।२७४।।

अन्वयः= भगवान् पाणिनिः प्रातिपदिकानि प्रथमशब्दितविभक्त्या अनतिरिक्तविषयाणि प्राह। अतः सकलतर्कसमयज्ञो वचसोऽनतिरिक्तविषयत्वं वष्टि।।२७४।।

अन्वयार्थः= भगवान् पाणिनि ने प्रातिपदिकों को प्रथमा विभक्ति के समानार्थक बताया है। अत सकल न्यायसंगत संकेताभिज्ञ (पाणिनि मुनि) शब्दों में अनतिरिक्त विषयत्व रूप अखण्डार्थत्व चाहते हैं।।२७४।।

प्रातिपदिकेति। भगवान्पाणिनिः प्रातिपदिकानि विभक्तिवर्जितवृक्षादिशब्दान् प्रथम

शब्दितविभक्त्या प्रथमेत्युक्त्या विभक्त्या स्वादिरूपयाऽनतिरिक्तविषयाण्येकार्थविषयाणीति प्राहेति संबन्धः। पाणिनिः खलु "प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा" इति तदर्थे प्रथमां विभक्तिं विधत्त इति प्रकृतिप्रत्ययात्मकं तद्वाक्यमखण्डार्थम्। न चैवं विभक्तेस्तत्पर्यायत्वं तत्सिद्धानुवादत्वं चेति न तयोर्वाक्यतेति वाच्यम्। तया सहैव प्रातिपदिकस्य प्रयोगनियमेन स्वार्थप्रतिपादकत्वेन च तदुभयाभावात्। यस्मादयं पाणिनिः प्रातिपदिकप्रथमयोरेकार्थत्वमाह, अतोऽयं सकलन्याया-भिज्ञोऽन्यत्राप्यपर्यायपदयोस्तादृशपदानां चानतिरिक्तविषयत्वं वष्टीच्छतीत्युपसंहरति-अतइति।।२७४।।

प्रातिपदिकेति= भगवान् पाणिनि जी महाराज प्रातिपदिक जो वृक्ष आदि जो विभक्तियों से वर्जित शब्द है, जैसे, वृक्ष यह प्रातिपदिक शब्द है, इसमें प्रथमा विभक्ति लगा दी, तो रूप बना वृक्षः। वृक्ष+सु वृक्षः का अर्थ भी वृक्ष बना और वृक्ष का अर्थ भी वृक्ष बना। तो दोनों शब्दों के द्वारा वृक्ष ही निरूपित हुवा। पाणिनिजी वास्तव में यह कहते हैं "प्रतिपदिकार्थमात्रे प्रथमा" इति। इसमें वृक्ष अर्थ में सु विभक्ति (प्रत्यायार्थ) सु दोनों शब्द मिलकर वाक्य हुवा। और दोनों का मिलकर एक वृक्ष ऐसा अखण्डार्थ बोध हुवा।

आशंका– विभक्ति के प्रातिपदिक का ही पर्याय मानें अथवा प्रातिपदिकार्थ का विभक्ति को अनुवादक मानें तो क्या दोष है?

समाधान= फिर वह वाक्य ही नहीं माना जायेगा। और यह वाक्य है। प्रातिपदिक+सु अथवा प्रथम+सु वृक्ष+सु

"न हि पर्यायवाचकानां सहप्रयोगः" पर्यायवाची शब्दों का एक साथ प्रयोन नहीं होता है। विभक्ति के साथ ही प्रातिपादिक का नियम से प्रयोग होता है। तो प्रकृत में वृक्षः इस वाक्य से स्वार्थ वृक्ष इसका प्रतिपादन हो गया। न कि प्रथम प्रातिपदिक तथा सुविभक्ति का प्रथम अर्थ इन दोनों के अर्थ का प्रतिपादन हुवा। इसलिये यह पाणिनि जी महाराज प्रातिपदिक और प्रथमा विभक्ति इन दोनों का एक ही अर्थ 'वृक्ष' ऐसा मानते हैं। इसलिये सकल न्याय अभिज्ञ विद्वान् अन्यत्र स्थले में भी अपर्याय वाचि पदों से उन पदों के द्वारा अनतिरिक्त बोध का संपादन करके अखण्डार्थ बोध को स्वीकृत करते हैं– वष्टी= अखण्डार्थ बोध की इच्छा करते हैं। अत इति= इसलिये अखण्डार्थ बोध निर्बाध है।

किं च लोकेऽपर्यायपदवद्वाक्यप्रयोगस्यैकार्थे दर्शनान्नात्र वादिभिर्विवादः कार्य इत्युपसंहरन्नाह–

इसी प्रकार से लोक में अपर्याय वाचि पद के समान् वाक्य प्रयोग का एकार्थ में

प्रयोग बताकर इसमें वादियों को विवाद नहीं करना चाहिये ऐसा उपसंहार कर रहे हैं।

इयं घटव्यक्तिरितीदृशेषु च
प्रसिद्धमेवैकरसार्थगोचरम्।।
पदद्वयं लोकवचःसु तेन च
प्रशस्यते नात्र विवादसंग्रहः'।।२७५।।

अन्वयः= इयं घटव्यक्तिः इतीदृशेषु लोकवचःसु च पदद्वयं एकरसार्थगोचरं प्रसिद्धमेव, तेन च अत्र विवादसंग्रहो न प्रशस्यते।।२७५।।

अन्वयार्थः= इयं घटव्यक्ति यह घटव्यक्ति इस प्रकार के लौकिक वाक्यों में दोनों पद अखण्डार्थ विषयक प्रसिद्ध है। अतः इसविषय में विवाद करना शोभनीय नहीं है।।२७५।।

इयं घटव्यक्तिरिति। इयं घटव्यक्तिरित्येवमादिषु लोकवचःसु पदद्वयमेकरसार्थगोचरमेवेति प्रसिद्धं येन तेनात्रास्मिन्नर्थे विवादसंग्रहो नैव प्रशस्यते न युज्यते वादिनामिति शेषः। इयमिति पुरःस्थितवस्तुमात्रं परामृश्य तस्य घटव्यक्त्यभेदमात्रं विवक्षितमिदं वाक्यं प्रतिपादयतीति तदेकरसार्थमित्यर्थः।।२७५।।

इयं घटव्यक्तिरिति= यह घटव्यक्ति है इत्यादि लौकिक प्रयोगों में इयं तथा घटव्यक्तिः ऐसे दो पद हैं। लेकिन दोनों पदों का अर्थ एक घट व्यक्ति ही है। जब यहां भी ऐसा तब तो "तत्त्वमसि" के अखण्डार्थ में तो विवाद करना वादी को तो एकदम शोभा नहीं देता है। इयमिति= आगे रखे हुये वस्तुमात्र का परामर्श ही इयं पद से द्योतित होता है। और वह आगे वस्तु मात्र कौन है? तो वह है घट व्यक्ति। अर्थात् इयं पद से प्रातिपादिक वस्तुमात्र का घटव्यक्ति से साथ अभेद मात्र ही है। इस बात का प्रतिपादन "इयं घटव्यक्तिः" यह वाक्य करता है। तो यह वाक्य एकरसार्थ प्रतिपादक परक है अर्थात् अखण्डार्थ परक है यह बात सिद्ध हो गई।।

एवं वेदान्तानामखण्डैकरसे श्रुतिन्यायाभ्यां तात्पर्यं निरूपितम्। इदानीं "किं च प्रमान्तरमपेक्ष्य गिरः प्रवृत्तिः सिद्धेषु वस्तुषु जगत्युपलब्धपूर्वा" इत्यनेन सिद्धवस्तु विषयवाक्यस्य मानान्तरसंवादायत्तार्थवत्त्वनिश्चयतया, वेदान्ता यदि सिद्धब्रह्मपराः स्युस्तर्हि मानान्तरसापेक्षाः- स्युः लौकिकसिद्धवाक्यवदिति यदुक्तं, तन्न। मानान्तरयोग्यार्थत्वोपाधेः। न च तदपि सिद्धार्थत्वेन वेदान्तेष्वनुमेयमिति साधनव्यापकतोपाधेरिति वाच्यम्। यतो न यत्परिनिष्ठितं तत्प्रमाणन्तरयोग्यमिति नियमोऽस्ति, येन तत्प्रमाणवेदान्ते मानान्तरसापेक्षतास्यादित्याशयेनाह—

इस प्रकार से वेदान्त का अखण्ड एकरस ब्रह्म में तात्पर्य है यह बात श्रुति से

तथा न्याय से (युक्तिसे) सिद्ध हुई। इसका निरूपण भी किया।

आशंका= "किं च प्रमान्तरमपेक्ष्य गिरः प्रवृत्तिः सिद्धेषु वस्तुषु- जगत्युपलब्धपूर्वा" सिद्धवस्तु में जब किसी प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। तो वह प्रमाणान्तर सापेक्ष होकर ही होती है, यह जगत् में देखा गया है। ऐसा नियम है। तदनुसार सिद्धवस्तु विषयक वाक्य प्रमाणान्तर से प्राप्त अर्थ का निश्चय ही करता है तब तो वेदान्त भी यदि सिद्ध ब्रह्मपरक हो तब तो वेदान्त वाक्य भी प्रमाणान्तर सापेक्ष होकर लौकिक सिद्ध वाक्य के समान ही होगा। उसमें प्रमाणता सिद्ध नहीं होगी।

समाधान– यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें हम आपके मत में मानान्तर योग्यार्थत्व उपाधिप्रदान करेंगे। व्याप्ति यह बनेगी वेदान्त वाक्य यत्र यत्र सिद्ध वस्तु प्रतिपादक है, तत्र तत्र मानान्तर सापेक्ष्यत्वम्, उपाधि उसे कहते हैं जो साध्य व्यापकत्वे सति साध नाव्यापकत्व रूप हो। उपाधि साध्य की व्यापक तथा साधन की अव्यापक उसे उपाधि कहते हैं। जैसे घूमवान् वह्नेः इत्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। जहां जहां धूम है वहां वहां आर्द्रेन्धन संयोग है यह साध्य की व्यापक उपाधि हुई। तथा जहां जहां वह्नि है वहां वहां आर्द्रेन्धन संयोग नहीं है। अत साधन की अव्यापक हुई। यही उपाधि का लक्षण है।

अब प्रकृत में आये जहां जहां वेदान्त वाक्य में सिद्ध वस्तु प्रतिपादकत्व है यह साधन कोटि है वहां वहां मानान्तर योग्यार्थत्व नहीं है लेकिन जहां जहां मानान्तरसापेक्ष्यत्व है वहां वहां मानान्तर योग्यार्थत्व भी है। यह साध्य कोटि है। तो साध्य व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व उपाधि का लक्षण इसमें गया।।

आशंका= यह जो उपाधि मानान्तर योग्यार्थत्व आपने बताई है वह भी सिद्धार्थ परक होने के कारण यत्र यत्र वेदान्त वाक्य रूप सिद्धवस्तु प्रतिपादकत्व वहां वहां मानान्तर योग्यार्थत्व है ऐसा अनुमान करेंगे। तो साधन की यह उपाधि व्यापक ही होगी, अव्यापक नहीं होगी। अतः उपाधि का लक्षण संपन्न नहीं होगा। अतः पूर्वोक्त दोष ज्यों का त्यों रह गया।

समाधान= यह कहना आप का ठीक नहीं है। क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि जो वस्तु परिनिष्ठित (सिद्ध) हो उसमें प्रमाणान्तर ग्राह्यत्व जरूर होना चाहिये। ऐसा कोई नियम नहीं है। जिसके कारण सिद्ध वस्तु विषयक प्रमाण भूत वेदान्त में अन्य प्रमाणान्तर की सापेक्षता की जाय। इसी आशय से कहा जा रहा है–

न च प्रमाणान्तरयोग्यतायां
प्रयोजकं स्यात्परिनिष्ठतत्वम्।।

यतः प्रमाणान्तरयोग्यतायां
प्रयोजकं रूपरसादिमत्त्वम्।।२७६।।

अन्वयः= प्रमाणान्तरयोग्यतायां परिनिष्ठितत्वं प्रयोजकं न च। यतः प्रमाणान्तरयोग्यतायां रूपरसादिमत्त्वं प्रयोजकम्।।२७६।।

अन्वयार्थः= प्रमाणान्तर योग्यता में सिद्धरूपत्व प्रयोजक नहीं है, किन्तु प्रमाणान्तर योग्यता में रूपादिमत्त्व प्रयोजक है।।२७६।।

न च प्रमाणान्तरेति। प्रयोजकं गमकं व्याप्यमिति यावत्। परिनिष्ठतत्वं सिद्धत्वम्। कुत इत्यत आह-यत इति। रसः आदिर्यस्य स्पर्शादेः सः, रूपं च रसादिश्च रूपरसादी, तावस्य स्तः स रूपरसादिमान् तस्य भावस्तत्त्वमित्यतद् गुण संविज्ञानोबहुव्रीहिः। रूपादिविशेषो हि द्रव्ये प्रत्यक्षप्रमाणस्य प्रवृत्तौ मूलं व्याप्त्यादिविशेषश्चानुमानादेरित्यर्थः।।२७६।।

न च प्रमाणान्तरेति= प्रयोजक गमक व्याप्य इत्यर्थ। अर्थात् यह कोई नियम नहीं है कि जहां जहां व्यापक प्रमाणान्तर योग्यत्व हो वहां वहां व्याप्य रूप से परिनिष्ठितत्व भी हो (सिद्धत्व भी हो)। ऐसा क्यों? यत इति= रस है आदि में ऐसे स्पर्शादिक ऐसा स्पर्श, रूप, रसादि। रूप और रस है जिसके आदिमें ऐसा रूप- रसादिमान्। ऐसा भाव है जिसके ऐसा। जिसका ऐसा अतद् गुण संविज्ञान बहुव्रीहिसमास करना। द्रव्य के प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रवृत्ति में रूपादि ही विशेष रूप से मूल कारण है न कि सिद्धत्व कारण है और व्याप्ति विशेष मूलकारण है अनुमानादि में।

फलितमाह—

तो प्रकृत में अब फलितार्थ बता रहे हैं—

ततस्तु रूपादिविहीनरूपे
प्रमान्तरागोचरचित्स्वरूपे।।
वचः प्रमाणान्तरनिस्पृहं सत्
प्रमाणमत्रात्मनि निर्विवादम्।।२७७।।

अन्वयः= ततः अत्र रूपादिविहीनरूपे प्रमाणन्तरागोचरचित्स्वरूपे आत्मनि वचः प्रमाणान्तरनिःस्पृहं सत् निर्विवादं प्रमाणम्।।२७७।।

अन्वयार्थः= इस कारण इस रूपादि रहित प्रमाणान्तर के अविषयभूत चित्स्वरूप आत्मा में वेदान्त वाक्य प्रमाणान्तर निरपेक्ष होकर निर्विवाद रूप से प्रमाण है।।२७७।।

तत इति। यतो रूपादिमत्त्वमेव शब्दातिरिक्तप्रमाणप्रवृत्तौ मूलं ततस्तद्रहिते अत एव प्रमाणान्तरायोग्येऽस्मिन् चैतन्यात्मनि सापेक्षत्वानुमानस्योक्तोपाधिदुष्टत्वेन वेदान्तवाक्यं प्रमाणान्तर-निरपेक्षं सन्निःसंदिग्धं प्रमाणं भवतीत्यर्थः।।२७७।।

तत इति= जबकि रुपादिमत्व ही शब्दप्रमाणातिरिक्त प्रमाण प्रवृत्ति में कारण है लेकिन आत्मा में (ब्रह्म में) तो रूपादिक कुछ भी नहीं होने के कारण प्रमाणान्तर योगयता ही नहीं होने से, चैतन्य रूप सिद्ध आत्मा में मानान्तर सापेक्षत्व होना चाहिये, इस व्याप्ति में उपाधि (मानान्तर योग्यार्थत्व उपाधि) दोष होने से वेदान्त वाक्य प्रमाणान्तरनिरपेक्ष- निःसंदेह रूप से प्रमाण माना जाता है।

किं च लोके मानान्तरस्यान्यथासिद्धत्वान्न तत्सिद्धार्थशब्दप्रमाण्यनिमित्तमित्याह—

दूसरी बात यह भी है कि लोक में प्रमाणान्तर सिद्धि अन्यथा सिद्ध होने से प्रमाणान्तर सिद्धार्थ ही शब्द प्रमाण के लिये लेना चाहिये यह उचित नहीं है। इस बात को बता रहे हैं—

लोकप्रसिद्धपदगोचरतानिमित्त—
मन्यप्रमाणविषयत्वमिह प्रसिद्धम्।।
लोकप्रसिद्धपदगोचरता न चास्मिन्
ब्रह्मात्मनीति च तदत्र निवारणीयम्।।२७८।।

अन्वयः= इह लोकप्रसिद्धपदगोचरता निमित्तं अन्य प्रमाणविषयत्वं प्रसिद्धम्। अस्मिन् ब्रह्मात्मनि च लोकप्रसिद्धपदगोचरता नास्तीति अत्र तत् च निवारणीयम्।।२७८।।

अन्वयार्थः= लोक में प्रसिद्ध पद वाच्यता से प्रयुक्त प्रमाणान्तर विषयता होती है। इस ब्रह्म वस्तु में लोक प्रसिद्ध पद वाच्यता नहीं है। इस पर ब्रह्म में प्रमाणान्तर विषयता का कोई स्थान नहीं है अतः ब्रह्म में प्रमाणान्तर विषयता का निराकरण कर देना चाहिये।।२७८।।

लोकप्रसिध्देति लौकिकमानसिध्दा या पदगोचरता तन्निमित्तं तव्द्यापकमिव्यर्थः। ततः किं तत्राह लोकप्रसिद्ध पदेति। अस्मिन्निर्विशेषे वेदान्तलक्ष्ये। फलितमाह- इतिचेति। तदन्यप्रमाणविषयत्वं सर्वपदलक्ष्ये ब्रह्मणि संगति ग्रहस्यानपेक्षत्वान्न तन्निमिन्तमानान्तरापेक्षा तत्र शब्दस्येति भावः।।२७८।।

लोकप्रसिध्देति= लोक में प्रमाणों से सिध्द पदार्थ में जो पदगोचरता शब्द प्रामाणिकता

है उसका कारण लौकिक प्रमाण सिद्धि है। अर्थात् पदगोचरता का व्यापक लौकिक प्रमाण सिद्धि है। यह बात मानी जाती है। इससे क्या सिद्ध हुवा। लोकप्रसिध्दपदेति= वेदान्त का लक्ष्य जो निर्विशेष ब्रह्म है उसमें लोकप्रसिध्दगोचरता= लोकप्रसिद्ध प्रमाणशक्यता नहीं है। फलितार्थ बता रहे हैं- इतिचेति= लोकप्रसिद्ध प्रमाणशक्यता भिन्न प्रमाणशक्यता विषयत्व संपूर्ण पदों का लक्ष्यार्थभूत ब्रह्म है। उसमें लौकिक प्रमाण ग्रहत्व की अपेक्षा न होने से अन्य प्रमाणों की अपेक्षा तत्त्वमस्यादि महावाक्य में आवश्यक नहीं है।

एवं स्वपक्षे शब्दस्य लक्ष्ये ब्रह्मणि मानान्तरनिरपेक्षं प्रामाण्यमुपपाद्य येषां वादिनां कार्यमेव वेदार्थस्त लिङ्गाद्यभिधेयमिति मतं तेषामिदं सापेक्षत्वदूषणं दुष्परिहरमित्याशयेनाह-

इस प्रकार शब्द का लक्ष्यार्थभूत ब्रह्म में प्रमाणान्तर निरपेक्षता बताने के बाद तत्त्वमस्यादि वेदान्त वाक्य की प्रामाण्यता सिद्ध हो जाती है। लेकिन जिन वादियों के सिद्धान्त में कार्य ही वेदार्थ है, और वह कार्य लिङ्गादि का अभिधेय है तो इस अवस्था में तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थ लिङ्गादार्थभूत कार्य सापेक्ष माने जायेंगे। यह दूषण तो अपरिहार्थ ही रहा। इस आशय को बता रहे हैं–

लोप्रयुक्तपदगोचरताऽस्ति कार्ये
तेनाऽस्तु कार्यपरवाक्यमशेषतस्ते।।
मानान्तरेषु परतन्त्रतयाऽप्रमाणं
स्वार्थे न दूषणमिदं श्रुतिमस्तकेषु।।२७६।।

अन्वयः= कार्ये लोकप्रसिध्दपदगोचरता अस्ति, तेन ते अशेषतः कार्यपरवाक्यं स्वार्थे मानान्तरेषु परतन्त्रतयाऽप्रमाणम् अस्तु, इदं दूषणं श्रुतिमस्तकेषु न।

अन्वयार्थः= कार्यरूप अर्थ में लोकप्रसिध्द पदगोचरता है। अतः प्रभाकर के मत में सब कार्यबोधववाक्य अपने कार्यरूपअर्थ में प्रमाणान्तरों के अधीन होने से प्रमाणभूत नहीं है। यह दोष वेदान्त वाक्य में नहीं है।।

लोकप्रयुक्तेति= मानान्तरसिद्ध एव संगतिग्रहो वक्तव्य इति कार्ये लोक प्रयुक्तपदगोचरताऽस्तीत्युक्तम्। फलितमाह–तेनेति। लोकप्रयुक्तपदगोचरत्वेन ते सापेक्षत्वप्रसङ्गेन सिद्धे वेदाप्रामाण्यमभ्युपेत्य कार्ये तत्प्रामाण्याभ्युपगन्तुस्तवाशेषतोऽशेषेषु मानान्तरेषु परतन्त्रतया मानान्तरापेक्षया स्वार्थेऽप्रमाणमस्तु स्यादिति संबन्धः। अप्रमाणमिति पदच्छेदः। स्वपक्षे चोक्त-विधया नेदं दूषणमस्तीत्याह- न दूषणमिति। मानान्तरायत्तं स्वार्थे प्रामाण्यमित्येवंरूपमिदं दूषणं

श्रुतिमस्तकेषु वेदशिरस्सु न, ब्रह्मपदस्य लिङादिपदवल्लौकिकपदत्वाभावादित्यर्थः।।२७६।।

लोकप्रयुक्तेति= मानान्तरसिद्ध ही संगतिग्रह होना चहिये इसी कारण से कार्य में लोकप्रयुक्त पद वाच्यता (शक्यता) है, ऐसा कहा है। फलितार्थ बता रहे हैं। तेनेति= लोक प्रयुक्त पद गोचरता (कार्यता रूप) सापेक्षता सर्वत्र जरूरी होने के कारण वेद में भी अप्रामाण्यता सिद्ध होगी। क्योंकि सभी प्रमाण अन्य प्रमाणों की अपेक्षा ही करेंगे। परतन्त्रयता मानान्तर की अपेक्षा करेंगे। स्वार्थेऽप्रमाणमस्तु= वेद भी अपने आप में अप्रमाण ही माने जायेंगे।

समाधान= यह दोष मेरे वेदान्ती के यहां नहीं लग सकता। न दूषणमिदं= प्रमाणान्तराधिगम्यत्व रूप दोष। श्रुतिमस्तकेषु वेदशिरस्सु- वेदान्त में नहीं लग सकता। क्योंकि ब्रह्म पद (ब्रह्म तत्त्व) लौकिक लिङ्गादिपद के समान नहीं होने से।

यत्पुनरुक्तं "किं च क्रियापदमपेक्ष्य पदानि वाक्यभावेन सम्यगिह संगतिमाप्नुवन्ति" इत्यादिना वेदान्तेषु क्रियापदाभावान्न तन्निमित्तः पदानां परस्परं समन्वय इति कुतस्ततो वाक्यार्थप्रमितिस्तत्राह—

फिर आशंका करते है- "किंच क्रियापदमपेक्ष्य पदानि वाक्यभावेन सम्यगिह संगतिमाप्नुवन्ति" क्रियापद को लेकर ही सभी पद जात वाक्यभाव को प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा है। और वेदान्त में क्रियापद तो है नहीं। उसके न होने से पदों का परस्पर समन्वय भी संभव नहीं हो पायेगा। तो फिर कैसी वाक्यार्थ प्रमिति भी हो सकती है? इस पर समाधान प्रदान करते हैं—

न च क्रियाकारितसंहतीनि
पदानि लोके नियमेन वक्तुम्।।
समीहते पक्वमतिः पदानां
क्रियां विनाऽप्यन्वयदर्शनेन।।२८०।।

अन्वयः= क्रियां विना अपि पदानां अन्वयदर्शनेन पक्वमतिः लोके क्रियाकारितसंहतीनि नियमेन वक्तुं पदानि न समीहते।।२८०।।

अन्वयार्थः= क्रिया के बिना भी पदों का अन्वय देखा जाता है। अतः पक्वमति युक्त विद्वान् लोक में क्रिया कारित अन्वय वाले पदों का नियम से प्रयोग नहीं करना चाहता।।२८०।।

न च क्रियाकारितेति। क्रिया तिङन्तं पदं तन्निमित्ता संहतिः समन्वयो येषां पदानां तानि, समीहते इच्छति, वक्तुं न समीहत इति सम्बन्धः। पक्वमतिः लौकिन्यायाभिज्ञः।

कुत इत्यत आह-पदानामिति।।२८०।।

न च क्रियाकारितेति= क्रिया उसे कहते हैं जो पद तिङन्त हो। उस तिङन्त के निमित्त, संहति= समन्वय, जिन पदों का है वैसे पद, समीहते= इच्छा करता है, अर्थात् बोलने वाला ऐसी इच्छा नहीं करता है। क्यों? पदानामिति= पदों का क्रिया के बिना ही अन्वय देखने में आ जाता है। अर्थात् बोलने वाले को लिङन्त के बिना भी वाक्य का प्रयोग करते देखा गया है।

तदेव दर्शनमुदाहरति—

कहां?

महीभुजोऽयं पुरुषो मनस्वी
वनस्पतेस्तत्फलमित्यपीह।।
क्रियां विनाऽप्यन्वयवन्ति लोके
पदानि दृष्टानि बहूनि वक्तुः।।२८१।।

अन्वयः= अयं मनस्वी पुरुषो महीभूजः वनस्पतेः तत्फलम् इत्यादि इह लोके वक्तुः बहूनि क्रियां बिना अपि अन्वयवन्ति पदानि दृष्टानि।।२६१।।

अन्वयार्थः= यह मनस्वी पुरुषमहीभुजः वनस्पति का वह फल, इस प्रकार के बहुत से पद क्रिया के बिना इस लोक में अन्वयवाले देखे गये हैं।।२८१।।

महीभुजोऽयमिति। कस्यायं पुरुषः कस्येदं फलमिति तत्संबन्धिविशेषमात्र जिज्ञासायामयं मनस्वी पुरूषो महीभुज इत्यादिना सम्बन्धिविशेषमात्रनिष्ठोऽयं प्रयोग इति क्रियापदापेक्षाभावान्न तन्निमित्तस्तत्पदसमन्वयः। लोके वक्तुः पदानि वक्त्रा प्रयुक्तानि बहूनि पदानीति संबन्धः। आकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिमत्त्वं हि पदानां परस्परान्वये निमित्तं न क्रियापदं न वा तद्विशेषः। तस्याप्याकाङ्क्षादियुक्तस्यैवान्वयित्वेन लाघवेन तावन्मात्रस्यैव तत्प्रयोजकत्वादतो वेदान्तपदानां परस्परान्वये न किंचिद्बाधकमिति भावः।।२८१।।

महीभुजोऽयमिति= यह किसका पुरुष।, यह किस वनस्पति का फल। इसमें पुरुष अथवा फल देखने के बाद इसका सम्बन्धी विशेष रूप से कौन हो सकता है। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे से जबाब मिलता है कि "अयं मनस्वी पुरुषो महीभुज" यह मनस्वी पुरुष राजा, इन वनस्पतियों के ये फल। इत्यादि विशेष सम्बन्धिमात्रनिष्ठ ये प्रयोग उपयुक्त होते हैं। जबकि इन प्रयोगों में क्रियापद की अपेक्षा नहीं है। इसलिये क्रियापद सापेक्षपद

समन्वय भी यहां नहीं है तो भी शब्दबोध होता ही है।

लोके वक्तुः पदानि= वक्ता के द्वारा बहुत से पदों का प्रयोग किया जाता है। वास्तविकता तो यह है कि पदों के परस्पर समन्वय के लिये आकाङ्क्षा योग्यता और सन्निधि ये तीनों ही चाहिये, न कि क्रियापद भी चाहिये। और न तो क्रियापद में ऐसी कोई विशेषता भी है। और भी बात यह है कि क्रियापद तो अपने आप आकाङ्क्षादि से युक्त होकर अन्वित होता है इसलिये लाघव के दृष्टि से भी आकाङ्क्षा मात्र की ही परस्परान्वय में प्रयोजक मानने से काम चल जाता है। अतः वेदान्त पदों का परस्परान्वय में क्रियापद के बिना कोई रुकावट नहीं आती है। यह भाव है।

एवं तात्त्विकं परिहारमुक्त्वा तदभ्युपगम्याप्याह–

तात्त्विक दृष्टि से परिहार तो कर ही दिया है तथापि अब क्रिया पद को मानकर भी समन्वय कर रहे हैं–

क्रियापदं वेदशिरःस्वपीष्यते
विवक्षितार्थानुगुणं तु तन्मतम्।।
विवक्षितार्थप्रतिपत्तिघाति तु
क्रियापदं स्वीकृतमप्यनर्थकम्।।२८२।।

अन्वयः= क्रियापदं वेदशिरःसु अपि इष्यते। तत् विवक्षितार्थानुगुणं तु मतम्। विविक्षतार्थप्रतिघाति तु क्रियापदं स्वीकृतपदं स्वीकृतमपि अनर्थकम्।।२८२।।

अन्वयार्थः= क्रियापद वेदान्त वाक्य में अभीष्ट है। हां, वह विवक्षितार्थ के अनुगुण ही होना चाहिये। विवक्षितार्थ का विरोधी क्रियापद मानना व्यर्थ हे।।२८२।।

क्रियापदमिति। न चैवं वेदान्तानामपि क्रियानिष्ठत्वप्रसङ्ग इत्याह-विवक्षितार्थेति। परं तु तत्क्रियापदं वेदान्तेन प्रतिपिपादयिषितोऽर्थोऽखण्डैकरसं ब्रह्म तदनुगुणं तत्र वेदान्त-प्रामाण्याविरोधीत्यर्थः। अनुगुणपदव्यावर्त्त्यमाह- विवक्षितार्थप्रतिपत्तीति। उपासीतेत्यादि क्रियापदं स्वीकृतं पठितमपि तत्रानर्थकमित्यर्थः।।२८२।।

क्रियामदमिति= इसके वेदान्त भी क्रियापरक होगा ऐसा नहीं समझना चाहिये। विवक्षितार्थेति= किन्तु बात यह है कि यह क्रियापद- वेदान्त प्रतिपाद्य अखण्ड एकरस ब्रह्मरूप अर्थ का, तदनुगुणं= वेदान्त प्रामाण्य का विरोध नहीं होता है। और जो क्रियापद अनुगुण नहीं है- उसको बता रहे हैं– विवक्षितार्थप्रतिपत्तीति= "उपासीत" उपासना करें, इत्यादि क्रियापद

तो पढने में आने के बाद भी वह अनर्थक ही है। अर्थात् ऐसे क्रियापदों से विवक्षितार्थ की सिद्धि होने पर भी वेद की प्रामाण्यता के लिये अनर्थकारी ही है।

विवक्षितार्थानुगुणं क्रियापदं वेदान्ते किमस्तीत्यपेक्षायामाह–

विवक्षितार्थानुगुणक क्रियापद वेदान्त में कौन सा है? इसे बताते हैं–

अस्त्यस्म्यसीति च पदं प्रचुरं क्रियाया
वेदान्तवाक्यगतमादरतः पठन्ति।।
तन्मात्रतः सकलवेदशिरः पदानां
संघातसिद्धिरिति वेदशिरोनिषण्णाः।।२८३।।

अन्वयः= अस्त्यस्म्यसीति वेदान्तवाक्यगतं क्रियायाः पुचुरं पदं आदरतः पठन्ति, तन्मात्रतः सकलवेदशिरः पदानां संघातसिद्धिरिति वेदान्तशिरोनिषण्णः।।

अन्वयार्थः= अस्ति, अस्मि, असि, आदि वेदान्त वाक्यगत चार क्रिया पदों को आदरपूर्वक पढते हैं। उतने मात्र से वेदान्त पदों को आदरपूर्वक पढते हैं, उतने मात्र से सकलवेदान्त पदों का अन्वय सिद्ध हो जांता है, ऐसा वेदान्त निष्ठ विद्वान् मानते हैं।।२८३।।

अस्त्यस्म्यसीति। "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि इत्यादौ क्रियायाः पदमस्तीत्यादितिङन्तपदमित्यर्थः। प्रचुरमनेकमिति पदविशेषणम्। तस्यावेदत्वशङ्कानिवृत्तये आदरत इत्युक्तम्। फलितमाह– मन्मात्रत इति। वेदशिरोनिषण्णाः- समन्वयसूत्रकृद्बादरायण-भगवत्पादप्रभृतयः।।२८३।।

अस्त्यस्म्यसीति= "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद" ब्रह्म है यदि जो ऐसा जानता है, "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ, तत्त्वमसि= वह तुम हो इत्यादि स्थलों में क्रिया का स्वरूप प्रतिपादक पद अस्ति, अस्मि, असि, इत्यादि लिङन्तपरक पद है। प्रचुरम्- अनेक ऐसे पद उपलब्ध हो सकते हैं। उन पदों को अवेदत्व नहीं है किन्तु वेदत्व ही है। अवदेत्व की आशंका हटाने के लिये कहा हैं। आदरत- सम्मान के साथ इन क्रियापदों का अङ्गीकार किया जाता है। फलितार्थ बता रहे है– तन्मात्रतइति- वेदशिरोनिषण्णः वेदान्त शास्त्र निष्णात समन्वय सूत्र को करने वाले "तत्तु समन्वयात्" इस सूत्र की रचना करने वाले बादरायण व्यास जी आदि ने भी तन्मात्रतः विवक्षितार्थ की सिद्धि के दृष्टि से क्रिया पद का अङ्गीकार कर लिया है, यह भाव है।

नन्वेवं वेदान्तानामस्त्यर्थनिष्ठत्वेन सैव मानान्तरसापेक्षता स्यात्, अस्त्यर्थो हि सत्ता,

सा च प्रमाणविषयत्वमेव न तदतिरिक्तसत्ताजात्यादि, सत्तादेरसत्त्वप्रसङ्गात्। ततश्च सदात्मकब्रह्मणो मानान्तरविषयत्वमावश्यकमिति प्राभाकराः तदनुवदति—

आशंका= "तत्त्वमसि" इसमें असि पद अर्थ युक्त होने से वेदान्त वाक्य को भी मानान्तर सापेक्षता है। क्योंकि असि इसकां अर्थ हुवा सत्ता, वह सत्ता प्रमाण का विषय जरूर ही है। इस सत्ता से अतिरिक्ति और कोई जात्यादि नहीं है। सत्ता से अतिरिक्त सत्ता जात्यादि मान लेवें तो मूल सत्ता की असत्ता ही सिद्ध होगी। इस प्रकार सत्तास्वरूप ब्रह्म भी प्रमाणान्तर का विषय निश्चितरूप से है, ऐसा प्रभाकर कहते हैं। इसी का अनुवाद करते हैं—

यत्तु प्रमाणमनुभूतिरिति प्रमाण-
सामान्यलक्षणमनूद्य पुनर्वदन्ति।।
सत्ताप्रमाणघटनां प्रति योग्यताऽतो
नास्त्यर्थनिष्ठवचनेष्वनपेक्षतेति।।२८४।।

अन्वयः= "अनुभूतिः, प्रमाणं" इति प्रमाणसामान्यलक्षणमनूद्य यत्तु पुनः वदन्ति, प्रमाणघटनां प्रति योग्यता सत्ता, अतः अस्त्यर्थनिष्ठवचनेषु अनपेक्षता नास्तीति।।२८४।।

अन्वयार्थः= "अनुभूतिः प्रमाणम्" इस प्रकार प्रमाण सामान्य के लक्षण का अनुवाद करके जो यह कहा करते हैं कि प्रमाण प्रवृत्ति की योग्यता ही सत्ता है, अतः अस्त्यर्थक वेदान्त वचनों में अनपेक्षत्व रूप प्रामाण्य नहीं है।।२८४।।

यत्त्विति। तदुक्तविधया तन्मतमनुपपन्नमिति दूषयितुं तदुक्तं प्रकारमाह- प्रमाण-मनुभूतिरिति। अनुभूतिः प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणमुक्त्वा पश्चात्प्रमाणविषयतां प्रति योग्यता सत्तेति यद्वदन्ति तद् दुर्घटमित्यग्रिमेण सम्बन्धः। तेषामेव वदतामाशयमाह- अतो नेति। अनपेक्षता न स्यादिति संबन्ध।।२८४।।

यत्त्विति= उक्त कथन से प्रभाकर का मत युक्तियुक्त नहीं है। प्रभाकार के मत का खण्डन करने के लिये पहिले प्रभाकरके कथन का प्रकार बता रहे हैं—

प्रमाणमनुभूतिरिति= अनुभूति प्रमाण है ऐसा प्रमाण सामान्य का लक्षण प्रभाकर ने प्रथम किया। बाद में प्रमाणों का जो विषय हो उसमें योग्यता अर्थात् सत्ता होनी चाहिये ऐसा वे कहते हैं यह उनका कहना दुर्घट है- यह अग्रिम सम्बन्ध लगा लेना। उन्हीं प्रभाकरों का बोलने का अभिप्राय बता रहे हैं, अतो नेति= अर्थ निष्ठ वचनों में अनपेक्षता नहीं हो

सकती, किन्तु सापेक्षता हो सकती है ऐसा उनका अभिप्राय है—

दुर्घटत्वमेवाह—

प्रमाण विषयता के प्रति योग्यता अथवा सत्ता दुर्घट कैसी है इसे बता रहे हैं-

तद् दुर्घटं न खलु संविदियं स्वयोग्या
न ह्यात्मनि स्थितिमुपैष्यति योग्यताऽस्याः।।
वस्त्वत्वन्तरोपनिहितस्वपदत्वहेतो-
र्न ह्यात्मरूपदहने दहनस्य शक्तिः।।२८५।।

अन्वयः= तद् दुर्घटम् इस संवित् स्वयोग्या न खलु। अस्याः योग्यता हि आत्मनि स्थितिं नोपैष्यति, वस्त्वन्तरोपनिहितस्वपदत्वहेतोः दहनस्य हि आत्मरूपदहने शक्तिः न।।२८५।।

अन्वयार्थः= उक्त कथन सम्भव नहीं है। क्योंकि अनुभूतिरूप संवित्स्वयोग्य नहीं होती है। इसकी योग्यता अपने में ठहर नहीं सकेंगी। क्योंकि संवित् अपने से भिन्न वस्तु में ही स्वपदत्व (स्वविषयत्व) का उपनिधान किया करती है। अग्नि में अपने आप को जलाने की शक्ति नहीं हुवा करती है।।२८५।।

न खल्विति। किं संविद्विषयत्वं सत्त्वमुत तद्योग्यता। नाद्यः, तत्पूर्वमर्थस्यासत्त्व प्रसङ्गात्। द्वितीये च संविदे साऽस्ति वा न वा। आद्ये किं स्वविषयत्वस्य योग्यता किं वा संविदन्तरविषयत्वस्य। द्वितीये संविदोऽस्वप्रकाशत्वापत्तिरित्यभिप्रेत्याद्याभावे हेतुमाह-न हीति। अस्याः संविदो योग्यता एतन्निरूपितविषयत्वस्य योग्यता आत्मनि- स्वस्मिन् स्थितिं नोपैष्यति- न युज्यत इत्यर्थः। कुतो न युज्यते तत्राह- वस्त्वन्तरेति। स्वस्मादन्यस्मिन्नेव घटादावुपनिहितमुपक्षिप्तं यत्स्वपदत्वं स्वविषयत्वं तस्माद्धेतोरित्यर्थः। संविद्विषयत्वस्य तदन्यवृत्तित्वनियमात्तस्यां तन्न संभवतीत्यर्थः। संविदः स्वगोचरत्वाभावे दृष्टान्तमाह- न हीति। आत्मरूपदहने स्वभस्मीकरण इत्यर्थः।।२८५।।

न ल्विति= जिसे प्रमाण विषयता कहते हैं उसे ही संविद्विषयता कहते हैं। तो अब विकल्प करते हैं क्या संविद् विषययत्व सत्त्व स्वरूप है या संविद्विषयत्व योग्यता स्वरूप है? इसमें संविद्विषयत्व सत्त्वस्वरूप है यह विकल्प नहीं बन सकता। क्योंकि ऐसा मानने से संविद् के पहले यह विषय असत्त्व स्वरूप था ऐसी आपत्ति आयेगी। अब रह गया दूसरा विकल्प संविद्विषयत्व योग्यता स्वरूप है। इसमें भी यदि विकल्प है कि संविद् में यह योग्यता है अथवा संविदन्तरविषयता में योग्यता है। यदि इसमें द्वितीय विकल्प संविदन्तर विषयता में योग्यता मानें तो संविद् को अस्वप्रकाश स्वरूप मानना पडेगा तो संविद् स्वविषयत्व

में स्वप्रकाशत्वरूप रहती है। इस अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं होगी। इसका कारण, नहीति= संविद्‌विषय की योग्यता अथवा संविद् योग्यता निरूपित विषयता आत्मा में संभव नहीं है। आत्मनि– स्वयं में। नोपैष्यति= युक्त नहीं है। संविद् योग्यता निरूपित विषयता आत्मा में नहीं, क्यों? तो इसका समाधान यह कि। वस्त्वन्तरेति– आत्मा से भिन्न घटादि पदार्थ में ही, उपनिहितम्= संविद् योग्यता निरूपित विषयता है। स्वपदत्वं- स्वविषयत्व सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि संविद् विषयता तो संविद् से भिन्न पदार्थो में ही रहती है, न कि संविद् में विषयता संभव है। संविद् में संविद् विषयता का अभाव है इसमें दृष्टान्त दे रहे हैं। न हीति– आत्मरूप दहने- अग्नि खुद अपने को नहीं जलाती। इसी प्रकार से संविद् स्व को विषय नहीं करती है, यह भाव है।

संविदि सा योग्यता नेति द्वितीयं पक्षमनूद्य प्रतिक्षिपति–

संविद् में यह योग्यता नहीं है यह जो द्वितीय विकल्प किया था उसका अनुवाद करके खण्डन कर रहे हैं–

संवित्प्रमाणघटनां प्रति योग्यतां चे-
न्नेयं बिभर्त्ति न सती भवितुं समर्था।।
तद्योग्यतैव यदि मातृघटादिसत्ता
तस्याप्यसत्त्वमिति शून्यमुपाजिहीथाः।।२८६।।

अन्वयः= इयं संवित् प्रमाणघटनां प्रति योग्यतां न विभर्ति चेत्, (तदा) सती भवतिुं न समर्था। मातृघटादिसत्ता यदि तद्योग्यवैव, तस्यापि असत्वमिति शून्यं उपाजिहीथाः।।२८६।।

अन्वयार्थः= यदि यह संवित् प्रमाण विषयता की योग्यता अपने में नहीं रखती है, तब तो वह संवित् सत्ता वाली नहीं होगी। इस प्रकार प्रमाता और प्रमेयादि की सत्ता भी यदि प्रमाण विषयत्व रूप योग्यता रूप है तब तो प्रमाणयोग्यता के अभाव पुरःसर प्रमातादि का अभाव हो जाने से शून्यवाद का प्रसङ्ग आयेगा।।२८६।।

संवित्प्रमाणेति। घटनां संबन्धं विषयत्वमिति यावत्। संविदि प्रमाणविषयत्वयोग्यताऽभावे इयं सती न स्यात्। प्रमाणविषयत्वयोग्यताया एव त्वन्मते वस्तुनः सत्तारूपत्वादित्यर्थः। अस्तु तर्ह्यसती सेति चेन्न। तदननुभवप्रसङ्गात्। किं चैवं तदधीनसत्त्वं सर्वमेवासत्स्यादित्याह- तद्योग्यतैवेति। शून्यमुपाजिहीथाः, त्वमपि शून्यवादी भविष्यसीत्यर्थः।।२८६।।

संवित् प्रमाणेति= संवित् प्रमाण को (घटना-सम्बन्ध) विषयत्वरूप योग्यता चाहिये। तो फिर संविद् में तो प्रमाण विषयत्व रूप योगयता नहीं होने से संविद् सत् नहीं मानी जायेगी।

क्योंकि प्रमाण विषयत्व रूप योग्यता ही आपके प्रभाकर मत में सत्ता रूप है। और वह प्रमाणविषयत्व रूप योग्यता संवित् में न होने से- संवित्- असत् मानी जायेगी। इस पर यदि आप कहोगे कि संविद् को असत् ही रहने दो तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि संविद् और असत् ऐसा अनुभव नहीं होता है। अर्थात् असत् ऐसी संविद् का अनुभव नहीं हो पायेगा। दूसरी बात मान लेवो कि अनुभव के अधीन असत् संविद का अनुभव हुवा तब तो सब असत् ही असत् हो जायेगा। इस बात को कह रहे हैं। तद्योग्यतैवेति= यदि प्रमाण की विषयता रूप योग्यता मानते हो फिर संविद् असत् हो जाने के कारण, शून्यमुपाजिहीथाः= फिर तो प्रभाकर जी आप भी शून्यवादियों के पंक्ति में बैठ गये। क्योंकि संविद् प्रमाण की विषय होने से वह असत् ही हो गई है आदि।।

यतो मानयोग्यता न सत्त्वम् अत इत्युपसंहरति—

इसलिये प्रमाणविषयत्व रूप योग्यता को सत् मान नहीं सकते इसका उपसंहार कर रहे हैं—

वस्तुस्वभाव इति सत्त्वमतो गृहाण
तच्च द्विधेति वितथाऽवितथत्वभेदात्।।
सत्त्वं द्विरूपमितरेतरसंकरेण
सच्छब्दवाच्यमिति च व्यवहारकाले।।२८७।।

अन्वयः= अतः वस्तुस्वभावः सत्त्वमिति गृहाण। तच्च वितथावितथत्वभेदात् द्विधेति गृहाण। व्यवहारकाले इतरेतरसंकरेण द्विरूपं सत्त्वं सच्छब्दवाच्यमिति गृहाण।।२८७।।

अन्वयार्थः— इसलिये वस्तु स्वभाव को ही सत्त्व कहना होगा। वह सत्त्व मिथ्या तथा अमिथ्यारूप से दो प्रकार का है। व्यवहार समय में परस्पराध्यस्त द्विरूप सत्त्व को "सत्" शब्द का वाच्य मानना पडेगा।।२८७।।

वस्तुस्वभावइति। बाधायोग्यवस्तुस्वभाव इत्यर्थः। अतः सत्त्वं वस्तुस्वभाव इति गृहाणाङ्गीकुर्विति संबन्धः। ननु किमात्मवस्तुनः स्वभावः किं वा प्रपञ्चस्योतोभयस्य वा। नाद्यद्वितीयौ प्रपञ्चात्मनोस्तदभावप्रसङ्गात्। तृतीये तु द्वैतापात इत्याशङ्क्याकाशादावस्तितेत्यादावुक्तमनुस्मारयन्नाह-तच्च द्विधेति। गृहाणेत्यनुषङ्गः। द्वैविध्यमेवाह- वितथेति। वितथमसत्यं वस्तुतो व्यवहारकाले सदवितथं- परमार्थसदिति भेदादित्यर्थः। नन्वेवमस्तिशब्दस्यानेकार्थतापत्तिरित्याशङ्क्याह-इतरेतरेति।। संकरेण मिश्रेण। तृतीयेत्थंभावे। शबलात्मना तत्सच्छब्दवाच्यमिति गृहाण अतो नोक्तदोष इत्यर्थः।।२८७।।

सत्त्वं वस्तुस्वभावइति= बाधित न होना ही वस्तु का स्वभाव है। इसलिये सत्त्वं वस्तुस्वभाव= सत्त्वबाधित नहीं होता है ऐसा वस्तु का स्वभाव है, ऐसा ग्रहण करना चाहिये।

आशंका= बाधित नहीं होना यह क्या आत्मा का स्वभाव है या प्रपञ्च का स्वभाव है? अथवा दोनों का मिलकर यह स्वभाव है? इसमें पहिला तथा दूसरा विकल्प तो नहीं हो सकते, क्योंकि प्रपञ्च का यदि वस्तुस्वभाव मानते हैं तब वह आत्मा में नहीं होगा। यदि आत्मा में मानते हैं तो वह प्रपञ्च में नहीं होगा। दोनों में से एक में इसका अभाव माना जायेगा। अब रह गया तीसरा विकल्प दोनों का मिलकर वस्तु स्वभाव है यह पक्ष। यदि तृतीय मत को लेते हैं तब तो द्वैतापत्ति होगी। क्योंकि आत्मा और प्रपञ्च दोनों में वस्तु स्वभाव होने से प्रपञ्च का भी बाध नहीं होने से द्वैतापत्ति होगी। इसी बात का ख्याल करते हुये पहले कहा है आकाश में अस्तिता एक है आत्मा में अस्तिता एक है। दोनों में मिलकर एक अस्तिता है, इत्यादि। उसी के अनुरूप कह रहे हैं कि तच्च द्विधेति= वह वस्तु स्वभाव रूप सत्ता दो प्रकार की है। वितथेति= वितथम्= असत्यस्वरूप। वस्तुतः व्यवहार काल में तो वह सत्ता असत्य स्वरूप है, वास्तविकता से देखा जाय तो वह सत्ता अवितथम्= परमार्थ सत्ता स्वरूप है। इस प्रकार इस सत्ता के दो भेद उत्पन्न हो जाते हैं।

आशंका= इस प्रकार तो (सत्ता शब्द के) अस्ति शब्द के अनेकार्थ हो जायेंगे।

समाधान= इतरेतरेति= इनका आपस में मिश्रण संकर हो जाता है। इस दोष से हटने के लिये तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया है। इतरेतरसंकरेण इति= अर्थात् शबलरूप से सत्त्व सच्छब्द वाच्य है (असत्यस्वरूप) है और निष्कल रूप से सत्त्व सच्छन्द का लक्ष्य सत्य स्वरूप है। ऐसा समन्वय करा लेना है।

तर्ह्यस्त्यर्थ आत्मा द्विरूपः स्यादित्याशङ्क्य प्रागुक्तमेवार्थं स्मरयति—

आशंका= तो फिर आत्मा भी दो प्रकार का होगा।

समाधन= पहले कहे हुए अर्थ को ही स्मरण दिला रहे हैं—

उत्सृज्य तत्र वितथांशमथेतरस्मिन्
संवित्स्वरूपपरमार्थसति स्वरूपे।।
बुद्धिं कुरु प्रणिदधत्प्रणयेन भूम्नि
ब्रह्माहमस्मि परमार्थसदित्यजस्त्रम्।।२८८।।

अन्वयः= तत्र वितथांशं उत्सृज्य अथ इतरस्मिन् संवित्स्वरूपपरमार्थसति स्वरूपे भूम्नि प्रणयेन प्रणिदध्‌ात् अहं परमार्थसत् ब्रह्मास्मीति अजस्त्रं बुद्धिं करु।।२८८।।

अन्वयार्थः= हे शिष्य वहां मिथ्या भाग को छोडकर अन्य संविद्रूप परमार्थ सत् भूमा स्वरूप सत्यअंश में श्रद्धा पूर्वक मन को प्रणिहित कर मैं परमार्थ सत् ब्रह्म हूँ ऐसा सदा निश्चय करले।।२८८।।

उत्सृज्येति। तत्र वाच्ये, इतरस्मिन्स्वरूपे इति संबन्धः। तत्स्वरूपमाह— संवित्स्वरूपेति। एतच्च परमार्थत्वे हेतुतयोक्तम्। एवंभूतस्वरूपे भूम्नि प्रणयेन श्रद्धया प्रणिदधत् चित्तं प्रत्यक्प्रवणं कुर्वन् परमार्थसद्ब्रह्माहमस्मीति बुद्धिमजस्त्रं कुर्विति सम्बन्धः। तथा च नोक्तदूषणमिति भावः।।२८८।।

उत्सृज्येति= तत्र= वाच्य भाग में। वितथांशम्= मिथ्या भाग को छोडना पडेगा। इतरस्मिन्= लक्ष्य भाग में स्वरूप में, संवित् स्वरूपेति= जो परमार्थ सत्य स्वरूप है। इस प्रकार के स्वरूप में, भूम्नि प्रणयेन= श्रद्धा के साथ विनम्र होकर मन को आत्माभिमुख भूमाभिमुख करके परमार्थ सद् ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसी अजस्त्र (अखण्ड) बुद्धि करो। इसप्रकार आत्मा दो प्रकार का होने का दोष नहीं आयेगा!

यच्चोक्तं "मानान्तरं यदि न चेच्छति शब्दशक्तेस्तत्र ग्रहः कथमिति प्रतिपादनीयम्" इति तत्राह-

और पहिले भी पूर्वपक्ष १११ वे श्लोक में किया था कि यदि प्रमाणान्तर का ग्रहण नहीं करोगे तथा शब्द प्रमाण से ब्रह्म में (आत्मा में) शक्ति ग्रह कैसे होगा? इसका प्रतिपादन करो। इस पर हे पूर्वपक्षी मैं अब समाधान प्रदान करता हूँ—

ब्रह्म स्यंप्रभमतः शबलेषु तस्य
मानान्तरानधिगतेष्वपि शब्दशक्तिः।।
रूपेषु वृद्धजनसंव्यवहारहेतोः
शक्या ग्रहीतुमुदितेन पथाऽनभिज्ञैः।।२८९।।

अन्वयः= ब्रह्म स्वयंप्रभम् अतः शबलेषु मानान्तरानधिगतेषु तस्य रूपेषु वृद्धजनव्यवहारहेतोः अनभिज्ञैः प्रागुदितेन पथा शब्दशक्तिः ग्रहीतुं शक्या।।२८९।।

अन्वयार्थः= ब्रह्म स्वप्रकाश है अतः विशिष्ट रूप मानान्तरानधिगत ब्रह्म स्वरूप में वृद्ध जनों के व्यवहार से अनभिज्ञ व्यक्ति भी पूर्व में कहे हुये १६८ मार्ग के द्वारा शब्द शक्ति का ग्रहण कर सकते

हैं।।२८६।।

ब्रह्म स्वयं प्रभमिति। ततः किं तत्राह-अतः शबलेष्विति। एतच्चाहमादिशब्दवाच्य साक्षिभास्याहंकारतद्वृत्ति शबलाभिप्रायम्। सदादिवाच्यघटादिशबलं तु चक्षुरादिग्राह्यम्, ब्रह्मपदवाच्यं च कार्यलिङ्गाख्यतर्केण ब्रह्मपदावयवव्युत्पत्त्या चोपस्थितमेव, तदभिप्रायेणापिशब्दो, मानान्तरानधिगतेषु तस्य रूपेष्विति सम्बन्धः। उदितेन प्रागुक्तेन मार्गेणानभिज्ञैरविवेकिभिः। यद्यपि वाक्यतात्पर्यगम्ये ब्रह्मणि किमपि मानं न प्रवर्त्तते तथापि तस्य शबलेषु यथाप्रमाणं यथानुभवं च सङ्गतिर्ग्रहीतुं शक्यत इति न तदर्थमपेक्षितप्रमाणेन वेदान्तानामनुवादता न वा संगतिग्रहविरह इति भावः।।२८६।।

ब्रह्मस्वयं प्रभमिति= ब्रह्म स्वप्रकाश स्वरूप है।

समाधान– अतः शबलेष्विति= इससे "अहं" आदि शब्द का वाच्य साक्षीभास्य अहंकार, अथवा साक्षीभास्य अहंकार वृत्ति शबलार्थ परक है और ब्रह्म पद वाच्यत्व भी कार्यलिङ्गाख्य तर्क से मायाविशिष्ट रूप से तथा ब्रह्म पद की व्युत्पत्ति व्यापकार्थ रूप में होने से वहीं कारणीभूतब्रह्म ब्रह्म पद का वाच्य है। इस अभिप्राय से भी वाचक शब्द भी अन्य प्रमाणों का जो अर्थ विषय नहीं है। उसका प्रतिपादन करता है उदितेन= पहिले बताये हुये इस मार्ग को न जानने वाले अविवेकी लोक ही मानान्तराधिगत्व शब्द के लिये जरूर होना चाहिये ऐसी ऐसी बातें करते हैं–

यद्यपि वाक्यतात्पर्यगम्य ब्रह्म में किसी भी प्रमाण की आवश्यकता महसूस नहीं होती है तथापि शबलार्थ वाची अहं वाचक अनुभव तथा शब्द प्रमाण रूप से है तथा व्यापकार्थ ब्रह्म वाच्यार्थ परक ब्रह्म शब्द अनुभव तथा प्रमाण रूप से वाचक है तथापि उनके वाच्यार्थ के लिये वेदान्त प्रमाणातिरिक्त अन्य प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं होने से वेदान्त को अनुवादकता नहीं आती है, और न तो वेदान्त वाक्य के साथ संगति ग्रह का अभाव ही होता है। अर्थात् वेदान्त वाक्यों में ब्रह्मविषयक शक्ति ग्रह भी सम्भव है।

ब्रह्मादिपदव्युत्पत्तावुपायान्तरं सदृष्टान्तमाह–

ब्रह्मादि पद के व्युत्पत्ति में दृष्टान्त के साथ उपायान्तर बता रहे हैं।

लोक प्रसिद्धार्थपदान्तराणां
समीपसङ्कीर्तनतोऽपि शक्तिः।।

ब्रह्मादिशब्दस्य सुखावयसेया
यथा हि यूपादिगिरस्तथैव।।२६०।।

अन्वयः= लोकप्रसिद्धार्थपदान्तराणां समीपसंकीर्तनतो ब्रह्मादिशब्दस्य शक्तिः तथैव सुखावसेया, यथा हि यूपादिगिरः।।२६०।।

अन्वयार्थः= लोक प्रसिद्धार्थ वेदो के समीप में पठित होने के कारण (अप्रसिद्धार्थक) ब्रह्मादि पदों का भी शक्ति ग्रह वैसा ही सुबोध्य है जैसे यूपादि पदों का बोध सुबोध्य है।।२६०।।

लोकप्रसिद्धेति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि "तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति" वाक्ये ब्रह्मपदव्यतिरिक्तानां यतो वेत्यादिपदानां लोकप्रसिद्धार्थानां समीपे संकीर्त्तनेनापि तर्कविधयोपस्थिते जगत्कारणरूपेऽद्वयेऽर्थे ब्रह्मादिशब्दस्य शक्तिः सुखावसेया भवति। यथा "यूपं तक्षति यूपमष्टास्त्री करोति" इत्यादिप्रसिद्धार्थतक्षणादिवाचकपदसमभिव्याहारसामर्थ्यात्तक्षणादिसंस्कारविशिष्टो यूपशब्दार्थः। एवमाहवनीयमादधातीत्यादिवाक्य आधानसंस्कारवानग्निराहवनीयब्दार्थ इति निश्चीयते तथैवेत्यर्थः।।२६०।।

लोकप्रसिद्धेति= "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इसी प्रकार "तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति" इन वाक्यों में ब्रह्म पद से अतिरिक्त "यतो वा इमानि" इत्यादि लोक प्रसिद्ध पदार्थों का ब्रह्म पद के समीप ही संकीर्तन हुवा है तो भी तर्क के आधार पर अर्थात् जो जगत् का कारण रूप अद्वय अर्थ रूप है वही ब्रह्म है। ऐसी आसान बुद्धि, ब्रह्मपद की शक्ति ब्रह्म रूप अर्थ में आसानी से हो जाती है।

इसी प्रकार से "यूपं तक्षति यूपमष्टास्त्री करोति" खम्बे को छील रहा है खम्बे को अष्ट कोने वाला बनाया जा रहा है। इत्यादि प्रसिद्धार्थ छीलना तक्षणादिवाचक पदो के समभिव्याहार के सामर्थ्य से तक्षणादि संस्कार विशिष्ट यूप (खम्बे) का शब्द बोध होता है। इसी प्रकार से "आहवनीयमादधाति" आहवनीय को लाया जा रहा है। इस वाक्य से भी, आधान संस्कार युक्त अग्नि ही आहवनीय है ऐसा निश्चय होता है। इसी प्रकार से ब्रह्म का शाब्द बोध होता है। यह स्पष्ट हो जाता है।

इदानीं ब्रह्मादिपदानां शक्तिग्रहाभावेऽपि निखिलप्रपञ्चनिवारकनिषेधवाक्यसामर्थ्यान्निष्प्रपञ्चं ब्रह्म सिध्यतीति स्वासंमतमपि पक्षमाह—

अब यह विचार कह रहे हैं कि ब्रह्मादि पदों की ब्रह्मादि अर्थ परक शक्ति नहीं होने पर भी निखिल प्रपञ्च निवारक नेतिनेति निषेध वाक्य के बल से निष्प्रपञ्च ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है यद्यपि यह मत वेदान्त शास्त्र को अभिमत नहीं है तो भी इस मत

का उल्लेख कर रहे हैं।

विनाऽपि शक्तिग्रहणं पदानां
परात्मनोर्वाचकभावभाजाम्।।
भवेत्परब्रह्मणि वेदवाक्यात्
प्रतीतिरन्यप्रतिषेधनेन।।२६१।।

अन्वयः= परात्मनोः वाचकभावभाजां पदानां शक्तिग्रहणं विना अपि अन्य प्रतिषेधने वेदवाक्यात् परब्रह्मणि प्रतीतिः भवेत्।।२६१।।

अन्वयार्थः= ब्रह्म और जीव के वाचक ब्रह्मादि पदों का शक्ति ग्रह न होने पर भी अनात्म निषेध के द्वारा वेद वाक्य से परब्रह्म की प्रतीति हो सकती है।।२६१।।

विनाऽपीति। परः परमात्मा आत्मा च तयोर्वाचकभावभाजां वाचकत्वयुक्तानां पदानामिति सम्बन्धः। अन्यस्य ब्रह्मातिरिक्तप्रपञ्चस्य नेह नानेत्यादिप्रतिषेधनेनेत्यर्थः।।२६१।।

विनापीति= परः परमात्मा और आत्मा इन दोनों के वाचक शब्दों का (पदों का) अभाव होने पर भी। अन्य= ब्रह्म से अतिरिक्त प्रपञ्च का "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि प्रतिषेध वाक्य से परिशेषन्याय से परब्रह्म की प्रतीति हो जाती है।

ननु न तावद्ब्रह्मणि प्रमाणान्तरेण प्रतिषेधः सम्भवति, शब्दस्तु शक्तिग्रहमपेक्षत इति कथं विनापि शक्तिग्रहणमित्युक्तमित्याशङ्क्य नञादिपदानां लोकप्रसिद्धार्थत्वेन विनापि ब्रह्मणि पदशक्तिग्रहं तदुपपद्यत इत्याह-

आशंका= ब्रह्म में प्रमाणान्तर से निषेध या प्रतिषेध कैसे संभव हो सकेगा। शब्द का नियम है कि वह शक्ति ग्रह को लेकर ही किसी पदार्थ का निरूपण करता है। और यहां यह कैसे नञादि पदों में ब्रह्मार्थ परक शक्ति ग्रह न होने पर भी ऐसे पदों से निष्प्रपञ्च ब्रह्म की सिद्धि संभव होगी।

समाधान= नञादि पदों का लोक प्रसिद्ध अर्थ होने से ही बेशक ब्रह्म में उनका शक्ति ग्रह न होने पर भी प्रतिषेध की उपपत्ति हो ही जाती है। क्योंकि निषेध अधिष्ठान के बिना नहीं है।

नञः प्रपञ्चप्रतिपादकस्य च
प्रतीत्य शक्तिं व्यवहारतः स्थितः।।

पदस्य शक्नोति परं समीक्षितुं
श्रुतेः प्रपञ्चप्रतिषेधमार्गतः।।२६२।।

अन्वयः= प्रपञ्चप्रतिपादकस्य नञः पदस्य च व्यवहारतः प्रतीत्य स्थितः (पुरुषः) श्रुतेः प्रपञ्च–प्रतिषेधमार्गतः पर समीक्षितुं शक्नोति।।२६२।।

अन्वयार्थः= अनात्मवाचक स्थूलादि पदों का तथा नञ् पद का वृद्ध व्यवहार से शक्ति ग्रह करने वाला व्यक्ति नेति नेति आदि श्रुतियों से प्रपञ्च का निषेध करके परब्रह्म का दर्शन कर सकता है।।२६२।।

नञः प्रपञ्चप्रतिपादकस्येति। स्थितः पुमान् नञः पदस्य नाना किं च नेत्यादि-निषेध्यप्रपञ्चप्रतिपादकस्य च पदस्य व्यवहारतः शक्तिं प्रतीत्येति सम्बन्धः। स्थित इति। अर्थाद्व्यवहारभूमाविति लभ्यते। परं परमात्मतत्त्वं श्रुतेर्वेदान्तवाक्यात्प्रपञ्चप्रतिषेधमार्गतः समीक्षितुं शक्नोतीति योजना। अत्र यदि परमात्मनि शक्तिग्रहो नापेक्ष्यते तर्हीह एष इत्यादिपदैः परमात्मानमनूद्य तत्र कथं प्रपञ्चो निषिध्येत, न हि निरधिष्ठानो निषेधः पर्यवस्यति ततो वा कथमात्मा सिध्येत्, नन्वात्मा स्वप्रकाश इति चेत्तर्हिं किं प्रपञ्चनिषेधेनापि। तस्य निष्प्रपञ्चतासिद्धये तन्निषेध इति चेत्, न। तदनूद्य निषेधाभावे कथं तस्य तदपि सिध्येत्। इहेत्यादिपदस्य तत्र सङ्गतिग्रहे किमपराद्धं ब्रह्मात्मादिपदैः। सत्यादिपदलक्षणां विना वर्णितब्रह्मस्वरूपासिद्धेश्चेत्येतन्मतं न ग्रन्थकर्तृसम्मतमिति द्रष्टव्यम्।।२६२।।

नञः प्रपञ्चप्रतिपादकस्येति= तटस्थ व्यक्ति जब नञ् पद का श्रवण करता है "नेह नानास्ति किंच नेति" तो इसमें निषेध्य जो प्रपञ्च उसका प्रतिपादक "नेहनानास्ति" पद के समभिव्याहर से शक्तिग्रहण उस व्यक्ति को अपने आप हो जाता है। स्थित इति= अर्थात् लौकिक व्यवहार में यह देखा गया है इसके बाद परं- परमात्म तत्व के जो श्रुति और वेदान्त वाक्य के निषेधात्मक वाक्य है उनके द्वारा परमात्म तत्त्व को समझ लेता है। क्योंकि बृहत् जगत् के निषेध का अधिष्ठान बृहत् ब्रह्म के बिना दूसरा नहीं हो सकता। अतः वर्णित ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। लेकिन यह वेदान्त को अभिमत नहीं है, क्योंकि यदि परमात्मा में ब्रह्म में ब्रह्मादिपदों का शक्ति ग्रह नहीं है, तो फिर नेह नानास्ति किञ्चनेति" इसमें इहपद से तथा" स एषनेति नेतीति" इसमें एष पद से ब्रह्म का ग्रहण इन पदों से ग्रहण करके उस ब्रह्म में निषेध संपन्न कैसे होगा। निषेध जिसमें किया जाता है वह तो अधिष्ठानभूत होना ही चाहिये। निरधिष्ठान तो निषध भी संभव नहीं हो सकता। फिर तो आत्मा या ब्रह्म की भी सिद्धि संभव ही नहीं हो पायेगी। अतः ब्रह्मादिपदों का ब्रह्मादि अर्थ में शक्तिग्रह मानना ही पडेगा।

आशंका= आत्मा स्वप्रकाश होने से उसकी तो अपने आप ही सिद्धि हो सकती है, तदर्थ शक्ति ग्रह की आवश्यकता नहीं है।

समाधान= तो फिर ब्रह्म की सिद्धि करने के लिये प्रपञ्च निषेध की भी आवश्यकता नहीं होनी चाहिये।

आशंका= ब्रह्म निष्प्रपञ्च रूप है इसके लिये निषेध की आवश्यकता है।

समाधान- ब्रह्म के बिना तो निषेध भी संभव नहीं होगा तो ब्रह्म के बिना प्रपञ्च निषेध भी संभव नहीं होगा। इस अवस्था में ब्रह्म की निष्प्रपञ्चता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। फिर और भी बात है "नेह नानास्ति किंचन" इसमें जब इह आदि पदों की शक्ति तो माननी पडती है। अन्यथा कोई उपाय ही नहीं हैं। जहां निषेध किया जा सके। तो फिर ब्रह्मादि पदों की ब्रह्मादि अर्थ परक शक्ति मानने में क्या अपराध है। अर्थात् ब्रह्मादिपदों की ब्रह्माद्यर्थ परक शक्ति मानना उचित है।

दूसरी बात यह भी है कि अवान्तर वाक्यान्तर्गत सत्यादि पद के द्वारा भी लक्षणा को स्वीकार करने पर ही वर्णित ब्रह्म की सिद्धि हो सकती है। लक्षणा के बिना शुद्ध ब्रह्म की सिद्धि न ही हो पाई। यह तो वेदान्त का सिद्धान्त है। इस अवस्था में ब्रह्मादि पदों को ब्रह्मादि अर्थपरक शक्तियुक्त मानना यह मत भी ग्रन्थकार को अभिमत नहीं है, यह स्पष्ट हो जाती है।

एवमात्मस्वभावस्यैव सत्त्वात्तस्य चोक्तविधया मानान्तरायोग्यत्वात्तच्छबले ब्रह्मादिपदसंगतिग्रहस्यापि सुकरत्वात्प्रत्यग्ब्रह्मणि-वेदान्तप्रमाण्यमबाधितमिति तयोर्मानमेयभावसिद्धिरित्याह–

इस प्रकार आत्मा स्वाभाविक रूप से सत् है। और वह किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है। अतः शबलार्थ वाची ही ब्रह्म आत्मादि पद है यही संगति ग्रह सुलभ है। इस प्रकार प्रत्यग् परब्रह्म में वेदान्त प्रमाण अबाधित है। इस कारण वेदान्त प्रमाण तथा प्रत्यग् ब्रह्म इन दोनों में मान मेयभाव की सिद्धि अपने आप में पर्यवसित हो जाती है।

ब्रह्मास्मीति वचोनिविष्टपदयोर्मानं भवेदन्वयः
साक्षादद्वयवस्तु तस्य च भवेन्मेयं ततस्तद्गतेः।।
यद्यत्र प्रमितिं करोति भवति प्रामाण्यमत्रास्य च
स्पष्टं दृष्टमिदं हि युक्तिघटितं रूपे यथा चक्षुषः।।२६३।।

अन्वयः= ब्रह्मास्मीतिवचोनिविष्टपदयोः अन्वयः मानं भवेत्। तस्य च साक्षात् अद्वयवस्तु मेयं भवेत् ततः तद्गतेः। यत्र प्रमितिं करोति अस्य अत्र प्रामाण्यं भवति यथा चाक्षुषः रूपे, इदं स्पष्टं दृष्टम्।।२६३।।

अन्वयार्थः= अहं ब्रह्मास्मीति इस वाक्य में निविष्ट दोनों पदों का अन्वय प्रमाण है। इसकी साक्षात् अद्वय वस्तु प्रमेय होती हैं क्योंकि उस प्रमाण से उसकी प्रमिति होती है। जो जिस अर्थ की प्रमिति करा देता है वह उस अर्थ में प्रमाण माना जाता है।, जैसे कि चक्षु घटादि अर्थ में प्रमाण है। अतः यह न्याय स्पष्ट रूप से से लोक में देखा जाता है और सयुक्तिक भी हैं।२६३।।

ब्रह्मास्मीति। ब्रह्मास्मीतिपदयोरन्वय इति सम्बन्धः। मानं- मितिजननयोग्यः। साक्षाद-परोक्षं प्रत्यगभिन्नमिति यावत्। तस्य च ब्रह्मास्मीति वचनस्य, चोऽवधारणे, भवेदेति सम्बन्धः। मेयमिति- विषयतायोग्यम्। उभयत्र प्रमाणमाह-तत इति। तस्माद्वचस इत्यर्थः। तस्याद्वयवस्तुनः गतेरवगतेरित्यर्थः। ततश्चायोग्यात् फलानिष्पत्तेः तदुभयं तद्योग्यमित्यर्थः। एतस्याप्रमाणे व्यभिचारमाशङ्क्य प्रमाणसामान्यलक्षणं कथयन् तं परिहरति-यद्यत्रेति। यत्करणं यस्मिन्नर्थे प्रमितिमबाधिताज्ञातार्थावबोधं करोत्यत्रार्थेऽस्य। प्रामाण्यं-प्रमाजननयोग्यत्वं भवत्येव, इदं हि स्पष्टं दृष्टं युक्तिघटितं च। एतदेवोदाहरणविशेषे दर्शयति-रूपे यथा चक्षुष इति। यदनधिगतमबाधितं येन निश्चीयते तत्र तत्प्रमाणमिति हि प्रमाणसामान्यलक्षणं, यथा तादृशरूपादौ चक्षुरादि नैवमप्रमाणमिति भावः।।२६३।।

ब्रह्मास्मीति= अहं ब्रह्मास्मीति इसमें अहं तथा ब्रह्म इन दोनों पदों का अन्वय अथवा ब्रह्म और अस्मि इन दोनों पदों का अन्वय रूप सम्बन्ध। मानम्- इन दोनों पदों का अन्वय ही प्रमिति को उत्पन्न कराने की शक्ति धारण करता है। अर्थात् इस वाक्य से साक्षात्– अपरोक्ष प्रत्यगभिन्न ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा बोध उत्पन्न होता है।। तस्य च= ब्रह्मास्मीति इस वचन से, च=निश्चित रूप से, भवेत्= मेय रूप से यह बोध हो जाता है (अपरोक्ष बोध इत्यर्थ) मेयमिति= ब्रह्मास्मीति वाक्य का यह बोध विषय हो जाता है। ब्रह्म और अस्मि इन दोनों पदों का अन्वय रूप सम्बन्ध होने में तथा इसमें मान भाव आने में प्रमाण बता रहे हैं। तत इति– जब इस वचन से। अद्वय वस्तु की ब्रह्म की तद्गतेः= अवगमन, आकलन हो जाता है। इसलिये इस ब्रह्मास्मीति वाक्य में योग्यता है। ततः= यदि इसमें योग्यता ना हो तो फल की ही निष्पत्ति संभव नहीं हो सकेगी। अतः ब्रह्म और अस्मीति दोनों पदों में यह योग्यता माननी पडती है। यदि ब्रह्मास्मीति वाक्य को अप्रमाण माना जाय तो व्यभिचार आशंका उपस्थित की जाती है। व्यभिचार आशंका उसे कहते हैं "हेतुरस्तु साध्यं मास्तु" पक्ष में हेतु रहने दो साध्य मत रहने दो इस प्रकार के आशंका को व्यभिचार आशंका कहते हैं। तो प्रकृत में प्रमाण रहने दो। तथा प्रमिति नहीं रहने दो। ऐसी आशंका हो जाय तो उसे व्यभिचार आशंका कहते हैं। अर्थात् वेदान्त प्रमाण तो रहने दो। और ब्रह्मास्मीति प्रमिति मत रहने दो, ऐसी आशंका इसे व्यभिचार

आशंका कहते हैं उसका खंडन करते हैं। यद्यत्रेति- जो करण (असाधारण कारण रूप करण) साधन- जिस (अर्थ विषयक बोध को) जिस अबाधित अज्ञातार्थ विषयक बोध को (प्रमिति को) उत्पन्न करता है, उस अर्थ में उसकी करण की (साधन की) प्रामाण्यता मानी जाती है। अर्थात् ऐसा प्रमाण प्रमाज्ञान को उत्पन्न करने वाला होता है। यह नियम स्पष्ट है, देखा गया है और युक्ति युक्त भी है। इसी बात का विशेष उदाहरण स्थल में दिखा रहे हैं। रूपे यथा चक्षुष इति= प्रमाण किसे कहते हैं तो बताते हैं। जिससे अनधिगत, अबाधित अर्थ का निश्चय हो जाता है उस अर्थ में वह प्रमाण माना जाता है। ऐसा यह प्रमाण का सामान्य लक्षण है। जैसे अनधिगत अबाधित रूपार्थ में चक्षु प्रमाण है। इस कारण वेदान्त को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। किन्तु वेदान्त वाक्य प्रमाण है तथा ब्रह्मास्मीति बोध प्रमिति रूप है। यह बात स्पष्ट हो गई।।

प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रकृते दर्शयन्फलमाह–

प्रमाण का सामान्य लक्षण प्रकृत में बताकर उसका फल बता रहे हैं–

मानान्तरानधिगतं परिनिष्ठितं यद्
वेदः समर्पयति चेतसि तत्परः सन्।।
तत्तथ्यमेव भवतीति समाश्रयस्व
श्रेयस्करो विधिगिरोऽवगतो यथैव।।२६४।।

अन्वयः= वेदः तत्परः सन् यत् मानान्तरानधिगतं परिनिष्ठितं चेतसि समर्पयति, तत् तथ्यमेव भवतीति समाश्रयस्व, विधिगिरोऽवगतः श्रेयस्करः।।२६४।।

अन्वयार्थः= वेद तत्परक होकर अज्ञात सिद्धवस्तु को जिस प्रमाणान्तर से चित्त में समर्पित करता है, वह तथ्य ही होता है। ऐसा निश्चय करना चाहिये। जैसे कि विधि वाक्य से अवगत धर्म को।।२६४।।

मानान्तरानधिगतमिति। यद्ब्रह्म तदन्यद्वा वेदस्तत्तात्पर्यवान् भूत्वा मानान्तरानधिगतं परिनिष्ठितमपि यच्चेतसि समर्पयति बोधयति तत्तथ्यमेवाबाध्यमेव भवतीति समाश्रयस्व यथैव विधिवाक्यादवगतो धर्म इति सम्बन्धः। अत्रोपास्यगुणसंसर्गस्य व्यावृत्तये तत्पर इत्युक्तम्। वेदातात्पर्यगोचरविपरीतग्राहिण एवामानत्वात्तदर्थोऽबाधित एवेति वेदस्तत्र प्रमाणमेवेति भावः।।२६४।।

मानान्तरानधिगतम्= जो ब्रह्म अथवा ब्रह्म से अन्य आत्मा। वेद उस अर्थ का तात्पर्य वान् होकर जो ब्रह्म आदि प्रमाणान्तर का विषय नहीं है और जो सिद्ध है, उसका, अन्तःकरण

में, समर्पयति= बोध कराता है। वह तत्तथ्यमेव- यथार्थ बोध अबाध्य ही होता है। समाश्रयस्व= विधिवाक्य के अधीन ऐसा बोध प्रमिति होती है। अवगत धर्मरूप ऐसा सम्बन्ध है। प्रकृत में उपास्य गुण सम्बन्ध को हटाने के लिये तत्पर यह पद दिया। इससे तत्पर पद देने से वेदतात्पर्य गोचर हुवा ब्रह्मास्मीति बोध उसके विपरीत ग्राहि बोध में वेद प्रमाण नहीं है। तो वेद तात्पर्य गोचर जिस अर्थ विषयक बोध है वह अबाधित है उसी में वेदवाक्य प्रमाण भूत है।

ननु कार्ये कार्यवाक्यवद् ब्रह्मवाक्यं तत्र कथं प्रमाणं स्यात्। कार्यत्वस्य शब्दमेयत्वे तद्वचनत्वस्य शब्दप्रमाणत्वे च प्रयोजकत्वात्। न चाकार्यत्वमेव वेदार्थत्वे प्रयोजकम्, एवं वेदस्य प्रमाणत्वेऽपि तद्वचनत्वमेव प्रयोजकमस्तु न कार्यत्वादीति वाच्यम्। प्रयोजक-गौरवापातादिति चेन्न। त्वन्मतेऽपि महाजनाश्रितवेदान्तप्रामाण्यतदर्थबाधप्रङ्गान्नोभयमपि प्रयोजकं किं त्वन्यदेवेत्यभिप्रेत्याह–

आशंका= (चोदना लक्षणो धर्मः इस सूत्र के बल से सम्पूर्ण वेदार्थ कार्यपरक होने से (विधि) चोदना ही प्रमाण है)। तो कार्य में कार्य परक वाक्य प्रमाण माना जाता है, लेकिन ब्रह्म वाक्य कार्यपरक न होने से उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि कार्यत्व ही शब्द मेयत्व है, एवं तत्प्रतिपादक वचनत्व को ही प्रयोजकत्व होने से उसी वचनत्व में कार्यार्थत्व प्रतिपादकत्व रूप प्रयोजकत्व है। यदि वेदान्ती इसमें कहे कि वेदार्थत्व में अकार्यत्व को प्रयोजक मानेंगे तो इससे वेद में सिद्धार्थत्व परक होने से प्रामाणिकता होने से वेदवचनत्व को प्रयोजकता भी आ जायेगी। तो कार्यत्व को प्रयोजक नहीं मानेंगे इति वाच्यम्। न च वाच्यम्। यह भी पक्ष ठीक नहीं है।

प्रयोजक गौरवापातादिति– "चोदना लक्षणो धर्मः" इस सूत्र के अनुसार विधिवाक्य पूर्वमीमांसा में तो कार्यत्व को शब्द के अर्थ रूप प्रमेयत्व में प्रयोजकत्व है एवं कार्यपरक वचनत्व को शब्द प्रमाणता में प्रयोकत्व मानना होगा तथा उत्तर मीमांसा वेदान्त में तो अकार्यत्व को शब्द के अर्थ रूप प्रमेयत्व में एवं अकार्यत्व परक वचनत्व को ही शब्द प्रमाणता का प्रयोजकत्व मानना पडेगा, यही गौरव हुवा। दोनों जगह अलग अलग प्रयोजकत्व मानना पडेगा। तन्न। हे पूर्वपक्षी इस प्रकार के विकल्प से तो कार्यत्व प्रयोजक मानने से वेदान्त के जो महान् ज्ञानी ऐसे बादराणादि उन्होंने जिस वेदान्त का सहारा लिया है। उस वेदान्त का प्रामाण्य तथा वेदान्तार्थ (जीव ब्रह्म की एकता) दोनों का बाध हो जायेगा। अतः कार्यत्व और अकार्यत्व दोनों ही प्रयोजक नहीं है। इसके लिये तीसरा ही रास्ता अपनाना पडेगा। उसे बताते हैं तात्पर्य यह कि कार्यत्व रूप प्रयोजक मानने से (वेदान्त) व्यास वचन में

बाध आता है और अकार्यत्व प्रयोजक मानने से जैमिनि वचन का बाध होता है।

निष्पन्नमेव यदि वा पुरुषप्रयत्न-
निष्पाद्यमस्तु तदनङ्गमिह प्रमेये।।
एवं विधिर्भवतु शब्दसमन्वयो वा
प्रामाण्यकारणमिदं न वदन्ति सन्तः।।२६५।।

अन्वयः= निष्णन्नं यदि वा निष्पाद्यं अस्तु तत् इह प्रमेये अनङ्गं। एवं विधिर्वा भवतु शब्दसमन्वयो वा (भवतु) सन्तः इदं प्रमाण्यकारणं न वदन्ति।।२६५।।

अन्वयार्थः=पदार्थ सिद्ध हो चाहे साध्य हो दोनों ही यहां प्रमेय के अङ्ग नहीं है। इसप्रकार चाहे विधि वाक्य हो या पद समन्वय हो विद्वद्गण इन दोनों को प्रमाण्य का प्रयोजक नहीं मानते।।२६५।।

निष्पन्नमिति। यदि यदित्यर्थः। वाशब्दश्चार्थे। अस्तु स्यात्। यन्निष्पन्नं स्याद् यच्च पुरुषप्रयत्ननिष्पाद्यं तदुभयमिह वेदप्रमेयत्वेऽनङ्गमप्रयोजकम्। एवं विधिर्वा भवतु शब्दसमन्वयः-सिद्धवाक्यं वा इदमुभयं प्रामाण्यकारणमिति सन्तो न वदन्ति। अबाधितानधिगत-निश्चायकशब्दत्वस्यैव तत्प्रयोजकत्वादिति भावः।।

अथवा—चोदनासूत्रबलात् कार्यमेव वेदार्थः, चोदनैव प्रमाणमिति सिद्धं तत्कथं सिद्धवाक्यमपि प्रमाणं तदर्थोऽपि वा वेदार्थ इत्याशङ्क्याह— निष्पन्नमिति। निष्पन्नत्वमित्यर्थः। निपातानामनेकार्थत्वाद्यदि वेतीवार्थे यथा निष्पन्नत्वं वेदप्रमेयत्वेऽनङ्गं तथा तत्पुरुषयत्न-निष्पाद्यत्वमस्त्विति सम्बन्धः। वेत्यपि दृष्टान्तार्थे, शब्दसमन्वयत्वं वेदप्रामाण्यकारणमिति यथा सन्तो न वदन्त्येवमिदं त्वदुक्तमपि न भवतु। इदं शब्दार्थमाह-विधिरिति। विधित्वमित्यर्थः।

यद्वा-चोदनासूत्रबलात्कार्यत्वाद्येवः वेदप्रमेयत्वादौ न प्रयोजकं किंतु वक्ष्यमाणमेवा-बाध्यत्वादि युक्तं प्रमेयम्, प्रमाणमपि तादृगर्थनिश्चायकमेव तच्च सिद्धं कार्यं वा भवतु, न सिद्धत्वादिमात्रं प्रमेयत्वनिमित्तम्, न वा विधित्वादि प्रामाण्यप्रयोजकमित्याशयः। अत्र तन्निष्पन्नत्वादि अनङ्गमेवेति सम्बन्धः। एवमित्यनन्तरं तादृगर्थनिश्चायक इति शेषः। तस्मादबाधितान-धिगतश्रोतृसमीहितमेव वेदतात्पर्यगम्यतादृगर्थनिश्चायकत्वेनैव वेदोऽपि प्रमाणम्। अन्यथा भोजनादिकार्येण विषभक्षणादिना वा तुल्यस्य त्वदभिमतकार्यस्य तद्वाक्यतुल्यचोदनायाश्च प्रमेयत्वाद्यनिर्वाहात्। एवं च लाघवादुक्तमेव वेदप्रमेयत्वादौ प्रयोजकम्, चोदनासूत्राशयस्तु उपरिष्टात् द्रष्टव्य इति।।२६५।।

निष्पन्नमिति= यदि। वा- अर्थ में प्रयुक्त है। अस्तु= रहने दो। तात्पर्य यह जो वस्तु निष्पन्न (सिद्ध) हो अथवा पुरुष प्रयत्न निष्पाद्य हो दोनों ही वस्तु (सिद्ध अथवा साध्य) वेद प्रमेय में, अनङ्गम्= प्रयोजक नहीं है इसी प्रकार से विधिर्वा भवतु= शब्दसमन्वयः= सिद्ध वाक्य हो अथवा साध्य विधि वाक्य हो दोनों ही प्रामाण्य का कारण, "सन्तो न वदन्ति" सज्जन पुरुष नहीं मानते हैं। किन्तु अबाधित अनधिगत निश्चायक शब्दत्व में ही प्रामाण्य प्रयोजकत्व आता है, यह भाव है।

व्याख्यान्तर- चोदना सूत्र के बल से कार्य की वेदार्थ है और चोदना ही प्रमाण है। इस प्रकार ब्रह्मसिद्ध होने से वह वेदार्थ नहीं बन पायेगा। तथा सिद्ध परक वाक्य भी प्रमाण नहीं हो पायेगा। ऐसी आशंका होने पर कहते हैं–

निष्पन्नमिति= निष्पन्नत्व ही निष्पन्न है। निपातों के अनेकार्थ सिद्ध होते हैं। यदि, वा, इति, इव इत्यादि अर्थ उपपन्न होते हैं। तो निष्पन्नत्वं= सिद्धत्व यदि वेद प्रमेयत्व में अनङ्ग है इसी प्रकार से तत्पुरुष प्रयत्न निष्पाद्य वस्तु भी वेद प्रमेयत्व में अनङ्ग है यह सम्बन्ध समझना है। वेति= दृष्टान्तार्थ में वा शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार से शब्दसमन्वयत्वं= सिद्धार्थ परक वेद शब्द यदि प्रामाण्य का कारण नहीं है। ऐसे सन्त कहते हैं तो तुम्हारा शब्द भी विधिवाक्य भी प्रामाण्य का कारण नहीं हो सकता। ऐसे सन्त कहते हैं इसी शब्दार्थ को कह रहे हैं। विधिरिति= विधित्वं इत्यर्थः।।

यद्वा= चोदना सूत्र के बल से कार्यत्वादिवेदप्रमेयत्व में प्रयोजक नहीं है। किन्तु आगे कहा जाने वाला अबाध्यत्वादिक ही प्रयोजक है- अर्थात् वही प्रमेय है इसी प्रकार से अबाधितार्थ निश्चायक को ही प्रमाण माना जायेगा चाहे तो वह सिद्ध हो या (साध्य) कार्य हो इससे क्या लेना है। सिद्धत्वादिमात्र कोई प्रमेयत्व का निमित्त नहीं है। और न ही विधित्वादि प्रामाण्य का प्रयोजक ही है क्योंकि प्रमेयत्व में निष्पन्नत्वादि अनङ्ग ही माने गये हैं। इसीप्रकार से प्रमाणत्व में भी तादृगर्थ निश्चयकत्व रूप से ही अभिमत है। इसलिये अबाधित अनधिगत श्रोता के अतिसमीप ही वेदतात्पर्य गम्य ब्रह्मास्मीति अर्थ निश्चायक वेद भी प्रमाण ही है। नहीं तो अबाधितानधिगतार्थ निश्चायकत्वं प्रमाणत्वं ऐसा यदि नहीं मानें तो भोजनादि कार्य तथा विषभक्षणादि कार्य दोनों ही प्रमेयत्व कोटि में आयेंगे तथा आपको अभिमत प्रतिपादक चोदना रूप वाक्य का तथा प्रमेयत्व का भी निर्वाह नहीं हो। इसलिये सिद्ध वस्तु परक तथा पुरुष प्रयत्न निष्पाद्य दोनों वस्तुपरक लाघव रूप से अनधिगत अबाधितार्थ ही प्रमेयत्व का प्रयोजक मानना चाहिये। चोदना लक्षणो धर्मः चोदना सूत्र का आशय और प्रकार से लगाना चाहिये। जिसमें से कार्यत्व और सिद्धत्वपरक वाक्यत्व

इस लक्षण में भी आ जाय अनधिगताबाधितार्थ निश्चायकं वाक्यं चोदना इति।। इससे भोजनादि में यह लक्षण नहीं जायेगा।

यद्यपि वेदः सिद्धं कार्यं च बोधयति तथापि सिद्धत्वादि वेदबोध्यत्वे न प्रयोजकं न वा तदन्यतरबोधकत्वं वेदस्य प्रामाण्ये प्रयोजकमिति न्यायत उक्तं दृष्टान्तेनाप्याह—

यद्यपि वेद सिद्ध ब्रह्म तथा कार्य ज्योतिष्टोमादि दोनों का बोध करता है तथापि सिद्धत्वादि वेद बोध्यत्व रूप है इसमें सिद्धत्वादि वेदबोध्यत्व के प्रति प्रयोजक नहीं है, और न तो सिद्ध तथा कार्य इन दोनों में से एक का बोधकत्व वेदप्रामाण्य का प्रयोजक ही है। इसी न्याय को दृष्टान्त से भी समझाया जा रहा है—

नीलैकगोचरतया नियतं च चक्षु-
र्नाप्यस्य पीतविषये नियमोऽस्ति शक्तेः।।
तद्वन्न वेदवचसामपि शक्तियोगः
कार्यादिवस्तुषु कथंचन पक्षपाती।।२६६।।

अन्वयः= चक्षुःनीलैकगोचरतया नियतं न, अस्य शक्तेः पीतविषये नियमः अपि नास्ति। तद्वत् वेदवचसां अपि कार्यादिवस्तु पक्षपाती शक्तियोगः कथंचन न।।२६६।।

अन्वयार्थः= चक्षु नीलमात्र के ग्रहण में नियत नहीं है, और न चक्षु की शक्ति पीत विषय के ग्रहण मात्र में नियत है। वैसे ही वेद वाक्यों में कार्यदिवस्तु नियत शक्ति कथमपि नहीं मानी जा सकती।।२६६।।

नीलैकगोचरतयेति। अस्य-चक्षुषः। पक्षपाती- कार्यमात्र गोचरः सिद्धमात्रगोचरो वा नेति सम्बन्धः।।२६६।।

नीलैकगोचरतयेति= अस्य= चक्षुओं के प्रति। नेत्र नीले अथवा पीले वस्तुओं को देखने का काम नियम से नहीं करते। और न तो ऐसी उनमें कोई नियम से शक्ति भी हैं इसी प्रकार से वेदवचन भी सिद्ध वस्तु परक अथवा कार्य वस्तु परक इसके पक्षपाती नहीं है अर्थात् वेदवचन कार्यमात्र गोचर अथवा सिद्धमात्र गोचर परक नहीं है।

उक्तमर्थं जैमिनीयन्यायबलादपि द्रढयति—

यही बात जैमिनीय न्याय बल से भी दृढ करा रहे हैं—

यद्बादायणमतं परिगृह्य पूर्वं
श्रेयस्करेऽनधिगते खलु चोदनायाः।।
प्रामाण्यमुक्तमिदमस्य समन्वयस्य
वस्तुस्वरूपकथनेऽप्यविशिष्टमस्ति।।२६७।।

अन्वयः= यत् पूर्वं वादरायणमतं परिगृह्य अनधिगते श्रेयस्करे खलु चोदनायाः प्रामाण्यं उक्तम्। इदं अस्य शब्दसमन्वयस्य वस्तुस्वरूपकथनेऽपि अविशिष्टं अस्ति।।२६७।।

अन्वयः= आचार्य जैमिनि ने पूर्व मीमांसा में जो बादरायण मत का आश्रय लेकर अनधिगत धर्म में ही विधि वाक्य ही प्रमाण्यता बताई है। वह इस वेदान्त गत शब्द समन्वय के वस्तु स्वरूप कथन में भी समान ही है।।२६७।।

यद्बादरायणमिति। परिगृह्याश्रित्य पूर्वं- पूर्वतन्त्रेऽस्य समन्वयस्य- प्रस्तुतवेदान्तवाक्स्य पूर्वं बादरायणमतमाश्रित्यानधिगते धर्मे चोदनाया यत्प्रामाण्यमुक्तमिदमस्य समन्वयस्य वस्तुस्वरूपकथनेऽप्यविशिष्टमस्ति खल्विति सम्बन्धः।

पूर्वतन्त्रे हि जैमिनिना "अनुपलब्धेऽर्थे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" इति सूत्रांशेनान पेक्षत्वेनैव वेदप्रामाण्यं बादरायणसम्मतमित्याश्रित्य धर्मेऽप्युपदेशस्य तथैव प्रामाण्यं व्यवस्थापितं तदिहालौकिकार्थापौरुषेयवेदान्तेष्वप्यस्तीति कथं न ते ब्रह्मणि प्रमाणम्। चोदनासूत्रं तु स्वस्य विचार्यतया प्रतिज्ञातकर्मवाक्याशयेनैवेति वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रमाण्यं जैमिनेरपि सम्मतमन्यथा धर्मेऽपि तन्न निर्वहेदिति भावः।।२६७।।

यद्बादरायणमिति= परिगृह्य— आश्रय लेकर सहायता लेकर के। पूर्वं- पूर्वतन्त्र में पूर्वमीमांसा में, समन्वयस्य- प्रस्तुत वेदान्त वाक्य के पूर्व बादरायण मत का आश्रय लेकर अनधिगत धर्म में चोदना वाक्य की (लिङ् लोडादि) वाक्य की जो प्रामाण्यता कही है वह भी वस्तु स्वरुप कथन की दृष्टि से बराबर होने से जैमिनि भी इसी के बराबर आ जाते हैं।

पूर्वमीमांसा में जैमिनिजी ने कहा है "अनुपलब्धेऽर्थे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् "इति" इस सूत्र से किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न करना ही वेद में प्रामाण्यता है। ऐसा बादरायण सम्मत मत का आश्रय लेकर "यागादिरेव धर्मः" धर्म के उपदेश प्रसंग में अन्यप्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखते हुये वेद वाक्य की प्रामाणिकता (प्रामाण्यता) स्वीकृत

की गई है। जो इस प्रसंग में अलौकिकार्थ अपौरुषेय वेदान्त में भी ऐसी ही प्रामाण्यता माननी होगी। चोदना सूत्र तो सूत्र से ही विचार्यमान् है। क्योंकि जिन जिन कर्मों की प्रतिज्ञा की है उनके वाक्याशय के अनुसार ही चोदना सूत्र है। तो वेदान्त की ब्रह्म में प्रामाण्यता जैमिनिजी को भी मान्य है। नहीं तो वेद की प्रामाण्यता धर्म में भी नहीं हो सकेगी।

तस्मात्सकलप्रमाणप्रमेयसाधरणमेव रूपं वेदतदर्थयोरप्याश्रयणीयं तच्चात्राप्यस्त्वेवेत्याशयेन सर्वप्रमाणप्रमेयसाधारणरूपमुक्तं भट्टाचार्यप्रभृतीनां सम्मतमित्याह—

इसलिये समस्त प्रमाण प्रमेय साधारण परक वेद तथा वेदार्थ दोनों का ग्रहण हो सकें ऐसा स्वरूप स्वीकृत करना चाहिये। ऐसा स्वरूप भट्टाचार्य प्रभूतियों को सम्मत है, जो सब प्रमाण तथा सभी प्रमेय का साधारण रूप से ग्रहण कर सकें। वह कह रहे हैं—

मानान्तरानधिगतं त्ववगम्यमानं
मेयं भवेदिति हि मेयविदो वदन्ति।।
मानान्तरानधिगते विषयेऽवबोधं
कुर्वत्प्रमाणमिति मानविदां प्रसिद्धिः।।२६८।।

अन्वयः— मानान्तरानधिगतं अवगम्यमानं तु मेयं भवेदिति हि मेयविदो वदन्ति। मानान्तरा–नधिगते विषये अवबोधं कुर्वत् प्रमाणमिति मानविदां प्रसिद्धिः।।२६८।।

अन्वयार्थः— प्रमाणान्तर से अनधिगत तथा अवगम्यमान पदार्थ प्रमेय होता है। ऐसा प्रमेयाभिज्ञ विद्वान् कहते हैं। प्रमाणान्तर से अनधिगत विषय की प्रमा का साधन प्रमाण है ऐसा प्रमाणवेत्ताओं में प्रसिद्ध है।।

मानान्तरेति।।२६८।।

मानान्तरानधिगतं— जो वस्तु प्रमाणान्तरों से ग्राह्य न हो तो भी ग्रहण हो जाय उसे प्रमेय कहते हैं (ऐसे मेयविद् जानते हैं) और जो वस्तु प्रमाणान्तर का विषय न हो और बाधित न हो एवं उसका बोध हो जाय तो ऐसे बोध को प्रमाण रूप से मानविद् कहते है।

एवं प्रमाणप्रमेयत्वप्रयोजकरूपे सत्यपि यदि वेदान्तो ब्रह्मणि न प्रमाणं ब्रह्म च न प्रमेयं स्यात्तर्हि चोदनाधर्मयोरपि न तदुभयं स्यादिति ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यं बाधकमुखेनोपसंहरति—

इस प्रकार वेदान्त में प्रमाण तथा प्रमेयत्व प्रयोजक रूप है तो भी मान लेवो कि वेदान्त ब्रह्म में प्रमाण नहीं है, और न ब्रह्म प्रमेय ही है, तब चोदना धर्म- इन दोनों का भी यही दोष होगा न धर्म प्रमेय होगा न चोदना प्रमाण होगा। इसलिये बाधक मुख से भी वेदान्त को ब्रह्म में प्रमाण मानना ही पडेगा, ऐसा उपसंहार कर रहे हैं।

एवं सतीह यदि वेदशिरो न मानं
श्रेयस्करे विधिगिरोऽपि न मानता स्यात्।।
श्रेयस्करे विधिगिरो यदि मानता स्याद्
वस्तुस्वरूपकथनेऽपि समन्वयस्य।।२६६।।

अन्वयः= एवं सति यदि इह वेदशिरो मानं न, विधिगिरोऽपि श्रेयस्करे मानता न स्यात। यदि विधिगिरः श्रेयस्करे मानता स्यात्। समन्वयस्याऽपि वस्तुस्वरूपकथने (मानता) स्यात्।।२६६।।

अन्वयार्थः= ऐसा मानने पर यदि इस ब्रह्म में वेदान्त वाक्य प्रमाण नहीं तब तो विधि वाक्य भी धर्म में प्रमाण नहीं बन पायेंगे। यदि विधि वाक्य धर्म में प्रमाण है तब तो वेदान्त समन्वय वाक्य को ब्रह्म वस्तु में प्रमाण मानना ही पडेगा।।२६६।।

एवं सतीति। प्रामाण्यप्रयोजकरूपे सतीत्यर्थः। इह ब्रह्मणि न मानता स्यात्ततः प्रयोजनरूपान्तराभावादित्यर्थः। यदि मानता स्यादिति। तेनैव रूपेणेति शेषः। समन्वयस्य मानता स्यादित्यनुषङ्गः।।२६६।।

एवं सतीति= प्रामाण्य का प्रयोजक रूप होने पर भी। यदि इस ब्रह्म में वेदान्त की प्रामाण्यता न मानी जाय तब तो अन्य कोई वेदान्त वाक्य का प्रयोजन न होने से वे निरर्थक होंगे और ब्रह्म भी प्रमेय नहीं होगा। तो धर्म और चोदना के विषय में भी यही दोष होगा। और यदि वेदान्त की प्रामाण्यता है तो ब्रह्म में मेयता सिद्ध होती हे। समन्वयस्य= वेदान्त वाक्य की प्रमाणता सिद्ध होती है। वस्तुस्वरूपकथनेऽपि= सिद्ध वस्तु का बोध करने पर भी वेदान्त वाक्य की प्रामाण्यता की सिध्दि होती है।

एवं सिद्धपरत्वेऽपि वेदान्तानां न सापेक्षत्वप्रसङ्ग इत्युक्तम्। नन्वेवमपि सिद्धवस्तुज्ञानेन प्रयोजनासम्भवादध्ययनविध्युपात्तवेदान्तानां कथं तत्र पर्यवसानं स्यादिति शङ्कते-

इस प्रकार वेदान्तवाक्य सिद्धं ब्रह्म परक होने पर भी उसमें सापेक्षत्व प्रसङ्ग नहीं आता है।

आशंका= सिद्ध वस्तु का ज्ञान होने पर भी किसी प्रयोजन की तो सिद्धि नहीं हो सकती। तो "स्वाध्यायोध्येतव्यः" वेद का अध्ययन करना चाहिये इस विधिवाक्याधीन वेदान्त वाक्य का इसमें कैसा सम्भव हो सकेगा? ऐसी शंका कर रहे हैं—

वस्तुस्वरूपकथने ननु नास्ति पुंसः
किंचित्फलं विधिवचःसुः पुनः प्रवृत्तिः।।
सम्भाव्यते फलमतः किल वस्तुनिष्ठ-
वाक्यं विधिस्तुतिपरं त्विति जैमिनीयाः।।३००।।

अन्वयः= ननु वस्तुस्वरूपकथने पुंसः किञ्चित् फलं नास्ति। विधिवचःसुपुनः प्रवृत्तिः फलं सम्भाव्यते अतः वस्तुनिष्ठं वाक्यं तु विधिस्तुतिपरं किलेति जैमिनीयाः।।३००।।

अन्वयार्थः= वस्तुस्वरूपमात्र कथन में पुरुष का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। विधिवाक्यों का तो पुरुष प्रवृत्ति ही फल सम्भावित है। अतः वस्तु स्वरूप परक वाक्य केवल विधि स्तुति परक ही माने जा सकते हैं ऐसा जैमिनिमतानुयायियों का मत है।।३००।।

वस्तुस्वरूपकथन इति। नन्विति चोद्ये। पुंसोऽध्येतुः। कथं तर्हि फलपर्यवसानमित्याशङ्क्य विध्येकवाक्यत्वेन तत्सिध्यतीत्याशयेन विधीनां स्वतःफलं सम्भावयति-विधिवचःस्विति। प्रवृत्तिरर्थभावना, फलं शब्दभावनाभाव्यम्। ततश्च तस्याः पुरुषार्थभाव्यनिष्ठत्वाद्विधीनां फलवत्त्वमित्यर्थः। कथं तर्हि वेदान्तानां तदेकवाक्यतासिद्धे ब्रह्मणि विध्यसम्भवात्तस्य भावार्थैकगोचरत्वनियमादित्याशङ्क्य कर्मविधिनाऽर्थवादानामिव कर्त्रादिस्तावकतया तदेकवाक्यता-माह-अतः किलेति। यतो वेदान्ताः स्वतोऽफलाः विधिश्च फलवानत इत्यर्थः। तुरवधारणे। परमेवेत्यर्थः। ततश्च सिद्धे ब्रह्मणि प्रमाणाभावान्न तत्सिध्यतीति भावः।।३००।।

वस्तुस्वरूपकथन इति= नन्विति= चोद्ये, प्रेरित करना। पुंसः- अध्ययन करने वाला। तो फिर वेदान्त वाक्य फलपर्यवसायी कैसे हो सकेंगे। ऐसी आशंका के सामाधानार्थ यही उत्तर है कि "विधि एक वाक्यत्वेन" विधि वाक्य के साथ एक रूप होने से वेदान्त वाक्य फलपर्यवसायी हो सकते हैं। और विधि वाक्यों की स्वतः फल सिद्धि है इसे बताते हैं। विधिवचःस्विति= विधिवचन स्वतः फल सिद्धि स्वरूप है। प्रवृत्तिः= अर्थ भावना। फलं= शब्द भावना भाव्यम्। शाब्दीभावना से आर्थी निष्पाद्य हैं तो अर्थ भावना रूपा जो प्रवृत्ति है वह पुरुषार्थ भाव्य निष्ठ स्वर्गादिनिष्ठ होने से विधि वाक्य के फल स्वरूप ही वह हो गइ। (स्वर्गकामोयजेत्)

आशंका= तो भी वेदान्त वाक्य की विधी वाक्य के साथ एक वाक्यता कैसे संभव

होगी?

समाधान= कर्म विधि वाक्य के प्रस्तावक जैसे अर्थवाद वाक्य होते हैं, जैसे अर्थवादात्मक वाक्य कर्म विधि के साथ एकवाक्यतापन्न स्तावकत्वेन रूपेण हो जाते हैं वैसे यहां भी कर्तापुरुष के स्तुति द्वारा वेदान्त वाक्य विधि वाक्य के साथ एक वाक्यतापन्न हो जायेंगे। 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इस विधि के साथ एक वाक्यतापन्न हो जायेंगे। इस बात को कह रहे हैं– अतः किलेति- जब वेदान्त स्वतः फल देने में असमर्थ है और विधि फलवाली है- तो ऐसे विधिवाक्य के साथ एकरूप होने में ही वेदान्त वाक्य का कल्याण है। तु= निश्चित रूप से। यही परम सिद्धान्त है। इस प्रकार सिद्ध ब्रह्म में वेदान्त प्रमाण न होने से ब्रह्म भी सिद्ध नहीं हो सकता।

मैवं, वेदान्तानां स्वातन्त्र्येणैव, निरस्तनिखिलदुःखनिरतिशयानन्दब्रह्मावाप्तिफलसत्त्वादिति परिहरति–

समाधान= यह सब अनुचित है। वेदान्त वाक्य स्वतन्त्र रूप से ही सकलदुःखों को निरस्त कराके निरतिशयानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति रूप फल प्रदान कराने में समर्थ है। अतः उपरोक्त आशंका को हटा रहे हैं–

स्यादेतदेवमनवद्यपुमर्थसिद्धि-
वेंदान्तवेद्यविषयावगतौ न चेत्स्यात्।।
स्वाराज्यमत्र कवलीकृतभोगभूमि
संपूर्णमस्य विदुषो भवतीति दृष्टम्।।३०१।।

अन्वयः= एतत् एवं स्यात् चेत् वेदान्तवेद्यविषयावगतौ अनवद्यपुमर्थसिध्दिः न स्यात्। अत्र विदुषः कवलीकृतभोगभूमि संपूर्णं स्वराज्यं भवतीति दृष्टम्।।३०१।।

अन्वयार्थः= यह आक्षेप तब हो सकता था जबकि वेदान्त गम्य विषय का ज्ञान होने पर विशुद्ध पुरुषार्थ की सिद्धि न होती हो किन्तु केवल इस वेदान्त में ही ब्रह्म को निखिल भोग भूमि सहित सम्पूर्ण जगत् का स्वराज्य प्राप्त हो जाता है, ऐसा देखा गया है।।३०१।।

स्यादेतदिति। वेदान्तवेद्यविषयावगतौ सत्यामनवद्यपुमर्थसिद्धिः साक्षान्न स्याच्चेदेवं त्वदुक्तविधयैतत्कर्मशेषत्वं स्यात्, न चैतदस्तीत्यर्थः।ननु सिद्धज्ञानात्प्रवृत्त्याद्यसंभवात्फलमात्रं न संभवति कुतोऽनवद्यपुमर्थलाभस्तत्राह-स्वाराज्यमिति। स्वस्वरूपसौख्यमित्यर्थः। अत्र सिद्ध-ब्रह्मसाक्षात्कारे सति। तस्य निरतिशयत्वमाह-कवलीकृतेति। ब्रह्मादीनां या भोगभूमयो भोग

इति यावत्, ताः कवलीकृताः' स्वान्तर्गमिता येन स्वाराज्येन तत्तथा अत एव संपूर्णमनवच्छिन्नम्। दृष्टम् "स एको ब्रह्मण आनन्दः" इत्यादिश्रुताविति शेषः। ब्रह्मविद्भिरिति वा। एवं च वेदान्तानां फलप्रतिलम्भार्थं न प्रवृत्त्याद्यपेक्षेति न विध्येकवाक्यत्वं न वाऽद्वैतब्रह्मणो विमानत्वमिति भावः।।३०१।।

स्योदेतदिति= वेदान्तशास्त्र वेद्य निर्विशेष ब्रह्म प्राप्ति, जो अत्यन्त पावन पुरुषार्थ रूप है, वह हो जाती है। लेकिन यदि तुम्हारे कहने के अनुसार हम चलते कि वेदान्त वाक्य को कर्म शेषपरक मानते तो यह पुरुषार्थ फल हमें प्राप्त नहीं होता। इसका मतलब तो यही है, कि वेदान्त वाक्य कर्मशेषपरक नहीं है।

आशंका= सिद्धवस्तु के ज्ञान से प्रवृत्त्यादि भी असंभव होती है तो फल की संभावना तो हो ही नहीं सकती। फिर कैसे वेदान्ती जी आपने कहा कि निरवद्य निष्पाप ऐसे फल की पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है?

समाधान— स्वाराज्यमिति= अपने ही सुख स्वरूप में अपने को पहुंचना है। कहीं बाहर नहीं जाना है। अत्र= यह तभी सम्भव होगा जब सिद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार होगा। वह ब्रह्म कैसे तुलनातीत निरतिशय है, तो समझाते हैं। कवलीकृतेति= ब्रह्मादि देवों की जो भोग भूमियां है। ये सबकी सब जिसने, कवलीकृताः- अपने अन्दर निगल ली है। ऐसा यह अपना स्वरूप है। अर्थात् यह स्वरूप संपूर्ण तथा अनवच्छिन्न अखण्ड एक रस घन है। दृष्टम्= "स एको ब्रह्मण आनन्दः" वह एक ब्रह्म ज्ञानी का आनन्द है ऐसा यह प्रसंग आनन्द श्रुति में है। मानुषानन्द, गन्धर्वानन्द, आदि आदि। तो ऐसा आनन्द ब्रह्म वेत्ता प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये वेदान्त को फल प्राप्त कराने के लिये प्रवृत्ति आदि की अपेक्षा नहीं है। न ही विधि वाक्य के साथ एकीभाव होने की आवश्यकता है। और न ही वेदान्त ब्रह्म में अप्रमाण ही है किन्तु प्रमाण भूत ही है, यह सिद्ध हुवा।

नन्वाज्यावेक्षणादिवदात्मज्ञानमपि ज्ञानत्वात्पराङ्गं वाच्यं तत्कुतस्तावन्मात्रात्पुमर्थलाभस्तत्राह—

आशंका— आज्य (हवन के समय घी को देखना और अपद्रव्य को घासादि को उसमें से निकालना) आवेक्षण के समान आत्मज्ञान भी ज्ञान रूप होने के कारण दूसरे का अङ्ग ही मानना चाहिये। आत्मज्ञान, ज्ञान स्वरूप मात्र होने से उससे कैसे पुरुषार्थ के लाभ की प्राप्ति हो सकेगी?। इस बात को खण्डित कर रहे हैं—

यस्यापि विप्लुषि कृतार्थतया निषण्णाः
शक्रादयो जलचरा इव सागरस्य।।
प्रत्यक्स्वभावकमपास्तसमस्तदुःखं
तद्वैष्णवं सुखमवाप्तवतः किमन्यत्।।३०२।।

अन्वयः= सागरस्य जलचरा इव यस्य विप्लुषि शक्रादयः कृतार्थाः निषण्णाः तत् प्रत्यक्स्वभावकं अपास्तसमस्तदुःखं वैष्णवं सुखं अवाप्तवतः अन्यद् किम्।।३०२।।

अन्वयार्थः= समुद्र के एक कोने में जल जन्तुओं के समान जिस आनन्द समुद्र के एक बिन्दु में इन्द्रादि देवता अपने आप को कृतार्थ मानकर रह रहे हैं, उस प्रत्यक् स्वरूप समस्त दुःखों से रहित व्यापक ब्रह्म सुख को प्राप्त कर लेने पर बाकी रह ही क्या जाता है? (कुछ भी नही)।।३०२।।

यस्यापीति। यस्य ब्रह्मसुखस्य विप्लुषि अतिशूद्रांशेऽपि शक्रादयस्त्रिलोकीश्वरप्रभृतयः कृतार्थतया निषण्णाः स्वरूपानन्दैकलेशभूतं त्रिलोकीशासनादिसंभवं सुखं प्राप्य वयं कृतार्था इति मन्यमाना नान्यदपेक्षन्त इत्यर्थः। तत्प्रत्यक्स्वभावकत्वादिविशिष्टं वैष्णवं विष्णोः परमं पदं सुखमवाप्तवतो विदुषः किमन्यत्कर्तव्यं स्यात्। "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः।।" किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्" इति श्रुतेः। आज्यावेक्षणं तु क्रतुप्रकरणे विहितमिति पराङ्गं, नैवमात्मज्ञानं तत्प्रकरणे विहितमिति स्वतन्त्रम्। एतच्च भट्टपादानामपि संमतम्। "सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।। पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारितम्" इति तदुक्तेरिति भावः। तेषां सुखैकलेशप्राप्तिमात्रेण कार्तार्थ्ये दृष्टान्तमाह-जलचरा इति। सागरस्य विप्लुषि कृतार्थतया निषण्णा जलचरा इवेत्यर्थः।।३०२।।

यस्यापि इति= यस्य= ब्रह्म सुख के, विप्लुषि= एक अति क्षूद्र अंश में भी, शक्रादयः= त्रिलोकी के ईश्वर प्रभृति, कृतार्थतया निषण्णाः- स्वरूपानन्द का एक लेषभूत जो त्रिलोकी का शासन सभालने से सुखी हैं। वह इन इन्द्रादि देवों को प्राप्त होने से, हम कृतार्था= (हम) कृतार्थ हो गये हैं ऐसे ये अपने आपको मानने लग जाते हैं। जो अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा फिर नहीं करते हैं। जब इन्द्रादिदेवताओं की यह स्थिति है फिर तो जिन्होंने प्रत्यक् स्वभावत्वादि विशिष्ट, वैष्णवं= विष्णु का (व्यापक का) पद प्राप्त कर लिया है तत्प्रयुक्त-सुखमवाप्तवतः- जिन्होंने ऐसे प्रत्यक् स्वभाव सुख को प्राप्त कर लिया है। उनके लिये तो बताइये क्या और कोई कर्तव्य बाकी रह पायेगा। कभी नहीं। इसीलिये श्रुति ने कहा है "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।। मैं ही

ब्रह्म हूँ ऐसा जिसने जान लिया है, वह किस कामना को लेकर शरीर के पीछे पीछे दौडेगा। आज्यावेक्षण तु क्रतुप्रकरण में दूसरे का अङ्ग बताया है। लेकिन आत्मज्ञान तो क्रतु प्रकरण में विहित रूप से बताया नहीं है। आत्म ज्ञान हो स्वतन्त्र रूप से उल्लेखित है। यह बात तो भट्टपाद को भी अभिमत है। इसलिये वे कहते हैं– आज्यावेक्षण विधि संस्कारों के कारण अङ्ग सहित है। लेकिन आत्मज्ञान ऐसा संस्कारों के अङ्ग में स्थापित न होने के कारण अङ्गाङ्गी भाव वाला नहीं है। "सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारितम् ''इन्द्रादिक देवता सुख के एक लेषमात्र से ही अपने को कृतार्थ मानते हैं इस पर दृष्टान्त कहते हैं जलचरा इति- सागरस्य- समुद्र के विप्लुषि= एक छोटे से अंश में, कृतार्थतया- हम कृतकृत्य है, ऐसे निषण्णाः- मानने वाले, जलचराः—मछली आदि जलचर जैसे ऐसे मान के बैठते हैं वैसे ही ये मान के बैठते हैं।"

नन्वात्मेत्थं सुखरूपश्चेत् किमित्यस्माभिस्तथा नानुभूयत इत्याशङ्क्याज्ञानेनावृतत्वात् अस्माभिर्नानुभूयते, विद्योत्पत्तिमात्रेणाज्ञाननिवृत्तेः पूर्णसुखानुभव उपपद्यत इत्याशयेनाह—

आशंका– यदि आत्मा इस प्रकार सुख स्वरूप है। तो फिर हम लोग क्यों नहीं उसका इस प्रकार का अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर है।

समाधान= "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं" अज्ञान के द्वारा आत्मा आवृत्त होने के कारण हम लोक ऐसे सुखस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं प्राप्त कर सकतें। विद्या उत्पन्न होने के साथ ही साथ अज्ञान की निवृत्ति होकर पूर्ण सुख का अनुभव प्राप्त हो जाता हैं इस आशय से कहा जा रहा है—

अज्ञानमात्मविषयं भवहेतुभूतं
प्रच्छादकं च परमात्मखुखस्य तूर्णम्।।
त्रय्यन्तवाक्यजनितात्ममतिर्विपाक-
मासाद्य हन्ति यदि तत्र किमर्थनीयम्।।३०३।।

अन्वयः= यदि त्रय्यन्तवाक्यजनितात्ममतिः विपाकं आसाद्य भवहेतुभूतं परमात्मसुखस्य आच्छादकम् आत्मविषयं अज्ञानं हन्ति, तत्र किं अर्थनीयम्।।३०३।।

अन्वयार्थः= यदि वेदान्त वाक्य जन्य आत्मज्ञान दृढता को प्राप्त होकर परमात्मा सुख के आच्छादक आत्मविषयक अज्ञान को तत्काल विध्वंस कर देता है। तब और क्या चाहिये?

अज्ञानमिति। तत्र मानमाह- आत्मेति। आत्मविषयं साक्षिसिद्धम्। तस्यानर्थहेतुत्वमाह— भवहेतुभूतमिति। भवः संसारस्तद्धेतुमित्यर्थः। पुरुषार्थप्रतिबन्धकत्वमाह—प्रच्छादकं चेति। परमात्मसुखस्य प्रच्छादकं चेति संबन्धः। त्रय्यन्तो वेदान्तः। तूर्णं= झटिति हन्तीति संबन्धः। आपातज्ञानं व्यवच्छेत्तुमाह- विपाकमिति। श्रवणादिनिमित्तां स्वविषयप्रतिष्ठामित्यर्थः। तथा च ज्ञानमात्रेण कृतकृत्यतेति भावः।।३०३।।

अज्ञानमिति। इसमें प्रमाण बता रहे हैं। आत्मेति। आत्मविषयम्= साक्षिसिद्ध। यह अज्ञान अनर्थका हेतु है इसे बता रहे हैं। भवहेतु भूतमिति= भव कहते है संसार को, उस संसार का यह अज्ञान हेतु अर्थात् कारण है। यह अज्ञान पुरुषार्थ का प्रतिबन्धक भी है इसे बताते हैं- प्रच्छादकं चेति- यह अज्ञान परमात्मसुख का आच्छादक भी है।= त्रय्यन्त- वेदान्त शास्त्रतूर्णम्-झटपट, हन्तीति= अज्ञान को वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान झटपट समाप्त कर देता है। आपातज्ञान की व्यावृत्ति करने के लिये कह रहे हैं— विपाकमिति= अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासनादि के द्वारा आत्मविषयक प्रतिष्ठाप्राप्त ज्ञान, झटपट अज्ञान को हटा देता है तो ज्ञानमात्र से कृतकृत्यता प्राप्त हो जाती है।

ननु सर्वत्र साध्यस्यैव पुरुषार्थत्वं दृष्टं न तु प्राक्सिद्धस्य, ब्रह्मसुखं च नित्यसिद्धमिति कथं तस्य प्रेक्षावदभिलाषास्पदत्वमित्याशंक्य लोके प्राक्सिद्धस्याप्यज्ञातस्य प्रेक्षाविषयत्वं दृश्यते। ज्ञानेन तदज्ञाननिवृत्तौ चेष्टं प्राप्तमित्यनुभवोऽपि, एवं प्राप्तेऽप्यज्ञाते ब्रह्मसुखे प्रेक्षावतां प्रेप्सा, तन्निवृत्तौ कार्तार्थ्यं चोपपद्यत इति श्लोकद्वयेनाह—

आशंका= सभी जगह साध्य की ही पुरुषार्थता देखी गई है न कि सिद्ध वस्तु की (प्राक् सिद्धवस्तु की) पुरुषार्थता देखी गई है। तो ब्रह्मसुख तो नित्यसिद्ध ही है, ऐसे सुख में प्रेक्षक निष्ठ अभिलाषा विषयत्व नहीं आ सकता।

समाधान— पहिले सिद्ध वस्तु भी अज्ञात होने के कारण प्रेक्षक निष्ठ अभिलाषा का विषय बन जाती है। ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से इच्छित वस्तु की मैंने प्राप्ति कर ली है ऐसा अनुभव भी होता है। इसलिये ब्रह्म सुख प्राप्त होने पर भी अज्ञात होने के कारण प्रेक्षक के अभिलाषा का विषय हो जाता है। अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के कारण कर्ता की कृतार्थता सिद्ध हो जाती है। इसी बात को अग्रिम दो श्लोकों से कहा जा रहा है—

करमुष्टिनिविष्टमुत्तमं।
कनकं प्रस्मरणादलब्धवत्।।
प्रतिभाति तदाप्तवाक्यतः।
प्रतिपत्त्या लभते यथा जनः।।३०४।।
परमात्मपदं पराकृतद्वितयं।
प्राप्तमपि स्वभावतः
अनवाप्तवदेव लिप्सते लभते।
चैवमयं प्रमाणतः।।३०५।।

अन्वयः=यथा करमुष्टिनिविष्टं उत्तमं कनकं प्रस्मरणात् अलब्धवत् प्रतिभाति, आप्तवाक्यतः पतिपत्त्या जनः लभते। एवं स्वभावतः प्राप्तं पराकृतद्वितीयं परमात्मपदं अपि अनवाप्तवदेव अयं लिप्सते प्रमाणतः लभते च।।३०४।।

अन्वयार्थः= जैसे मुट्ठी में स्थित उत्तम सुवर्ण विस्मरण के कारण खोया हुआ सा प्रतीत होता है। आप्त पुरूष के वाक्य से जानकर पुरूष उसे प्राप्त करता है। वैसे ही स्वभाव से प्राप्त द्वैत रहित, परमात्मपर को भी अप्राप्त रूप समझकर यह जन (व्यक्ति) खोजता है, और वेदान्त वाक्य प्रमाणों से उसे प्राप्त भी करता है।।३०४।।

करमुष्टिनिविष्टमित्यादिना। मुष्टौ कृतमित्यर्थः। प्रस्मरणाद् विस्मरणादाप्तवाक्यतो मुष्टिं विमुच्य पश्येत्याप्तवचनात् प्रतिपत्त्या तल्लभत इति संबन्धः।।३०४।।

करमुष्टि निविष्टमित्यादिना– मुट्ठी में सोना ढका हुआ है। प्रस्मरणात्= बन्द मुट्ठी में सोना है, इस बात को जो भुल गया है। उसके प्रति आप्त (यथार्थ वक्ता) कहता है कि तू अपनी मुठ्ठी जरा खोल के तो देख ले? जब वह व्यक्ति आप्त के वाक्य को सुनकर ऐसा ही करता है तो सोने को प्राप्त कर लेता है। तो सिद्ध वस्तु की प्राप्ति हो जाती है, यह बात सिद्ध हो गई।।

परमात्मपदमित्यादि दार्ष्टान्तिकम् एवमित्यादौ योजनीयम्। स्वभावतः प्राप्तमपीति संबन्धः। अनवाप्तवत् अप्राप्तहिरण्यवस्त्रादिवत्। लिप्सते- आप्तुमिच्छति। प्रमाणतः ब्रह्म-साक्षात्कारात्। न हि सुखस्य कृतिसाध्यत्वमपि पुरुषार्थत्वप्रयोजकं, गौरवात्तस्य दुःखादि-साधारणत्वाच्च किं तु स्वस्य प्रकाशमानसुखत्वं, तच्च नित्यसिद्धात्मसुखेऽप्यस्ति। न च ज्ञानवैयर्थ्यं तदावरणनिवृत्तये तदपेक्षणादिति भावः।।३०५।।

परमात्मपदमित्यादि= दार्ष्टान्त में पीछे वाले दृष्टान्त को घटाना है। एवम्= इस प्रकार से इसको योजित करना है। स्वभावतः= प्राप्त होने पर भी ऐसा सम्बन्ध लगाना है। अनवाप्तवत्= जैसे सुवर्ण वस्त्रादि प्राप्त होते हुये भी अप्राप्त से लग जाते हैं। लिप्सते= प्राप्ति हो जाती है। प्रमाणतः ब्रह्मसाक्षाकार से। सुख में कृति साध्यत्व नहीं माना जा सकता। और न तो उसे कृतिसाध्यत्व मानकर पुरुषार्थ का प्रयोगक ही मान सकता है। क्योंकि पुरुषार्थ का प्रयोजक केवल सुख ही मानना उचित है न कि कृति साध्यत्व रूप सुख पुरुषार्थ का प्रयोजक है। अतः ऐसे मानने से एक तो गौरव दोष उत्पन्न होगा और दूसरी बात यह कि कृतिसाध्यत्व सुख और दुःख उभय साधारण है। इसलिये इतना ही काफी है कि "स्वस्य प्रकाशमानसुखत्वं पुरुषार्थप्रयोजकम्" अपना ही प्रकाशमान सुख ही पुरुषार्थ का प्रयोजक है। और ऐसा सुख तो नित्यसिद्ध आत्मसुख में ही है।

आशंका= यदि पुरुषार्थ का प्रयोजक स्वका प्रकाशमान सुख ही है तो फिर ज्ञान की जरूरत ही क्या?

समाधान= अज्ञान कृत आवरण के निवृत्ति के लिये ज्ञान की जरूरत है। इस प्रकार से अबाधित, अनधिगत ब्रह्मप्रतिपादक तथा अनतिशय आनन्दब्रह्म प्राप्ति में पर्यवसित ब्रह्म में होने वाले वेदान्त की ऐसी प्रामाण्यता मिली जैसे धर्म में चोदना को प्रामाण्यता मिली है। ऐसा यह अपवादरहित प्रकरण का प्रतिपादन हुवा।

एवमबाधितानधिगतब्रह्मप्रतिपादकानामनतिशयानन्दब्रह्मप्राप्तिपर्यवसायिनां वेदान्तानां धर्म इव चोदनाया ब्रह्मणि प्रामाण्यमनपवादमित्युपपादितम्।

ननु सत्यमीदृशं ब्रह्म वेदान्तेभ्योऽवगम्यते परं तु कार्यपरेभ्यस्तेभ्यो न तु केवलसिद्धपरेभ्यः। लोके शब्दानां सिद्धे सङ्गतिग्रहासंभवेन वेदस्याप्यतदर्थत्वात्। कार्ये च सङ्गतिग्रहस्योक्तत्वात्। आत्मेत्येवोपासीतेति ह्यात्मोपासनं विधीयते, तत्र च रात्रिसत्रन्यायेन "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्याद्यर्थवादावगतब्रह्मभवनकामो नियोज्यः कल्प्यते। ब्रह्मभवनकामस्य च कर्त्तव्यतयाऽवगत उपासना विषयनियोगः स्वस्य साक्षात्कर्तव्यत्वायोगात्स्वसिद्ध्यर्थं स्वविषयोपासनस्यानुष्ठानमाक्षिपति। तच्चाज्ञातं नानुष्ठातुं शक्यमिति तज्ज्ञानाय विषयतया तन्निरूपकमद्वैतात्मानमप्युपासनानियोगोऽपेक्षते। ततः कोऽसावात्मेति तदाकाङ्क्षायां सत्यादिवाक्यमुपासनानियोगपर्यवसाय्येव मन्त्रा इव विधिपरा देवताविग्रहम्—आत्मानं बोधयतीति तस्य कार्यपरवेदान्तात्सिद्धिरिति। मैवम्। सिद्धेऽपि शब्दानां संबन्धग्रहस्य वक्ष्यमाणत्वान्मोक्षकामं प्रत्युपासनाविध्यसंभवात्। तथा हि-किमुपासनं प्रधानकर्मतया विधीयते, गुणकर्मतया वा? आद्ये

उपासनाजन्यापूर्वस्य क्वोपयोग इति चिन्तनीयम्। न तावद् ब्रह्मैकत्वे तस्योपयोगः, तस्य नित्यसिद्धस्य तदसाध्यत्वात्। नाप्यविद्यानिवृत्तौ, तस्या अपि ज्ञानैकफलत्वात्। नाप्यात्म-साक्षात्कारे, तस्य श्रवणादिविधिफलतया तदफलत्वात्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्साधनत्वसिद्ध्या तत्र प्रवृत्तिसंभवाद्विधिवैयर्थ्याच्च। अवघातादौ च नियमापूर्वमस्तीति न विधिवैयर्थ्यं, प्रकृतेऽपि तथास्त्विति चेत्तर्ह्युपासनाया अपूर्वद्वारा मुक्तिफलता न स्यादिति न प्रधानकर्मता। किं तु सिद्धान्त इव निदिध्यासनस्यात्मज्ञानार्थतयाऽऽत्मशेषतैव स्यात्। अत एव न गुण कर्मतयापि तद्विधिः। किं च गुणकर्मणः फलं प्राप्तिरुत्पत्तिर्वा संस्कारो विकारो वा स्यात्। न चैषामन्यतमोऽपि ब्रह्मण्युपासनया संभवतीति व्यतिरेकदृष्टान्तेन सह दर्शयति—

आशंका— यह बात सत्य है कि इस प्रकार से ब्रह्म की वेदान्त से प्राप्ति होती है परन्तु कार्यपरक वेदान्त से ही ऐसे ब्रह्म की प्राप्ति होगी न कि केवल सिद्धपरक वेदान्त से। लोक में सिद्धवस्तु विषय संगतिग्रह नहीं होता है। अतः वेद को भी कार्य वस्तुपरक ही मानना होगा। क्योंकि कार्य में संगति ग्रह स्वीकृत किया गया है। "आत्मेत्येवोपासीतेति" यहां आत्मोपासना का विधान किया जाता है। इसी प्रसंग में "रात्रिसत्रन्याय से" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति इति" अर्थवाद से प्राप्त ब्रह्म होने की कामना वाला ऐसा नियोज्य कल्पित किया जाता है। ब्रह्म होने की कामना वाले के प्रति कर्तव्यरूप से प्राप्त उपासना विषयक नियोग (प्रेरणा) प्राप्त होता है। ब्रह्म होने की कामना वाला व्यक्ति ब्रह्म होने की कामना रूप अपूर्व को साक्षात् प्राप्त नहीं कर सकता। अतः ब्रह्म होने की कामना की सिद्धि के लिये ब्रह्म होने की कामना वाले व्यक्ति के प्रति आत्मा की ब्रह्म की उपासना का अनुष्ठान का आक्षेप ही किया जाता है।

रात्रिसत्रन्याय इसे कहते कि रात्रिसत्र कामनावाला व्यक्ति रात्रि सत्र का रात्रि सत्ररूप उपासना का अनुष्ठान ही करें- ऐसा आक्षेप किया जाता है। इसी प्रकार "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" यहां भी यही न्याय लगाना उचित है।

टिप्पणीः— रात्री सत्र में यज्ञ में अर्थवाद वाक्य से (य एताः रात्रीः उपयन्ति) अर्थात् जो रात्रीसत्र यज्ञ का अनुष्ठान करता है वह प्रतिष्ठित होता है इस अर्थवाद वाक्य से फलका निर्देश किया गया है उसी तरह "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादि अर्थवाद वाक्य से अवगत जो ब्रह्म भाव है, तत्कामी नियोज्य (अधिकारीकी) कल्पना करते है। ब्रह्म होने की कामना वाले पुरुष के लिये नियोग (अपूर्व की) की जरूरत है वह अपूर्व रात्रिसत्र की उपासना या अनुष्ठान करने से होगा, ऐसा आक्षेप किया जाता है। इसी प्रकार से ब्रह्म भाव का इच्छुक व्यक्ति अपूर्व के लिये (ब्रह्म) आत्मोपासना करें। इस प्रकार वह ब्रह्म भाव

जो अज्ञात है, उसका अनुष्ठान तो सम्भव नहीं होगा। अतः उस ब्रह्म भाव ज्ञान के लिये विषय रूप से ब्रह्म भाव का निरूपक अद्वैत आत्मा भी उपासना नियोग में अपूर्व में अपेक्षित हो जाता है। अब इसमें प्रश्न उत्पन्न होता है कि कौन सा आत्मा ऐसा है जो उपासना नियोग में अपेक्षित है।? इसके समाधान में यही कहा जाता है कि जो सत्यादि वाक्य भी उपासना नियोग अपूर्व पर्यवसायी ही है। "मन्त्रा इव विधिपरा देवताविग्रहम्" जैसे देवता विग्रह परक मन्त्र विधि परक है ऐसे सत्यं ज्ञानमनन्तं" इत्यादि मन्त्र भी विधिपरक ही है। तो आत्मानं बोधयतीति" आत्मा को जानता है तो ऐसे आत्मा की सिद्धि भी कार्यपरक वेदान्त से ही होती है।

मैवम्= समाधान= यह सारी आशंका उचित नहीं है। क्यों कि सिद्ध वस्तुविषय होने पर भी शब्दों का सम्बन्ध ग्रह आगे बता दिया जायेगा। इसलिये मोक्ष के प्रति उपासना विधि नहीं हो सकती।

अब आपसे हम पूछते हैं कि क्या उपासना है—

१) उपासना विधि क्या प्रधान कर्म रूप से मानी जाती है। २) या उपासना विधि गुण कर्म रूप है। यदि इसमें पहिला विकल्प लेते हो तो उपासना से जन्य अपूर्व का कहां उपयोग होगा इसकी चिन्ता करो। क्योंकि उपासना तो प्रधान कर्म होने से उससे अपूर्व उत्पन्न होगा ही। इस अपूर्व का उपयोग ब्रह्मैकत्व में नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्मैकत्व तो नित्य सिद्ध ही है। यदि कहो कि उस अपूर्व का उपयोग अविद्या निवृत्ति के लिये होगा, यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि अविद्या की निवृत्ति तो ज्ञान से ही सम्भव है। यदि कहो कि आत्मसाक्षात्कार में अपूर्व की उपयोगिता मानें? तो या भी ठीक नहीं क्योंकि आत्मसाक्षात्कार तो श्रवणादि बिधि फल के अधीन है। न कि उपासना जो प्रधान कर्मरूप है उसके अपूर्व के अधीन। इसलिये आत्मसाक्षात्कार भी इस अपूर्व का फल नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि जहां जहां अपूर्व है वहां वहां आत्मसाक्षात्कार होता है। और जहां जहां अपूर्व नहीं है वहां वहां आत्म साक्षात्कार होता नहीं है। इसी से प्रवृत्ति सम्भव हो जाने से आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः "इत्यादि विधि वाक्य की व्यर्थता सिद्ध होगी।" यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि अवघात से व्रीहि के छिलके उतारते है न कि नखविदारणसे, तो अवघात में नियमविधि से अपूर्व माना जाता है इससे विधि व्यर्थ नहीं होती। इसी प्रकार से प्रकृत में भी श्रवणादिविधि नियम से अपूर्व उत्पादक होगी। इससे विधि की व्यर्थता सिद्ध नहीं होगी, तो ठीक है। फिर तो श्रवणादि विधि के सार्थक मानने पर उपासना के द्वारा अपूर्व उत्पन्न होकर उस अपूर्व से मुक्तिफल की प्राप्ति होती है, यह बात सिद्ध नहीं होगी।

इसलिये उपासना प्रधान कर्मरूप है, यह बात सिद्ध नहीं होगी। किन्तु जैसे वेदान्त सिद्धान्त में निदिध्यासनादिक भी आत्मज्ञानार्थपरक होने से आत्मा के शेष ही माने जाते है वैसी उपासना विधि भी आत्मशेष भूत ही मानी जायेगी, न कि प्रधान कर्मरूप। इसी कारण जो दूसरा विकल्प कि उपासना विधि गुणकर्म रूप है यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें भी हम पूर्व पक्षी से विकल्प करेंगे कि क्या उपासना से गुणकर्मरूप फल अभिमत है, अथवा गुणकर्म प्राप्ति, गुणकर्म उत्पत्ति, या गुण कर्मरूप संस्कार, या गुण कर्म रूप विकार उपासना से मानते हो। इसमें से एक भी विकल्प सही नहीं है। क्योंकि ब्रह्म के अन्दर उपासना के द्वारा इसमें से एक भी वस्तु उपपन्न नहीं हो सकती। इसका प्रतिपादन व्यतिरेकी दृष्टान्त से करते हैं—

न स्वाध्यायवदाप्यता न च पुनस्त्रेताग्निवज्जन्यता
न व्रीह्यादिवदस्य संस्कृतियुजा नो सोमवद्विक्रिया।
पाठाधानजलोक्षणाभिषवणैः कुटस्थरूपं हि तद्
ब्रह्मापास्तविकारजन्ममरणं निःश्रेयसं साधनैः।।३०६।।

अन्वयः— अस्य न स्वाध्यायवत् आप्यता, न च पुनः त्रेताग्निवत् जन्यता, न व्रीह्यादिवत् संस्कृति युजा, नो सोमवत् विक्रिया। पाठाधानजलोक्षणाभिषवणैः साधनैः अपारत्तजन्ममरणं निःश्रेयसम्, (न साध्यते) तत् हि ब्रह्मापास्तविकार कूटस्थरूपम्।।३०६।।

अन्वयार्थः— मोक्ष न तो स्वाध्याय के समान प्राप्य है, न श्रौत अग्नि के समान जन्य है, न व्रीह्यादि के समान् संस्कार्य है और न सोमरस के समान विकार्य ही है। अब अध्ययन आधान, प्रोक्षण और अभिषव रूप साधनों से जन्म मरणातीत ऐसा मोक्ष साध्य नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म सम्पूर्ण विकारों से रहित कूटस्थ रूप है।

न स्वाध्यायेत्यादिना। अस्य ब्रह्मणः साधनैर्न "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति विहितस्वशाखाध्ययनेन स्वाध्यायस्येवाप्यता प्राप्तिः संभवति। स्वाध्याये च सा अध्येत्रधीनोच्चारणक्षमता। नापि "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" इतिविहिताधानेन गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निरूपाग्नित्रयस्येवोत्पत्तिः। नापि "व्रीहीन्प्रोक्षति" इत्यादिना विहितप्रोक्षणेन व्रीह्युलूखलादेरिव संस्कृतिः संस्कारस्तत्कृतातीन्द्रियातिशयस्तया युजा संबन्धः। नापि "सोममभिषुणोति" इति विहितेन कुट्टनरूपाभिषवणेन सोमस्येव विक्रियाऽन्यथाभावः। पाठोऽध्ययनम्। उक्षणं प्रोक्षणम्। एषां चतुर्णां पाठादीनां यथाक्रमं स्वाध्यायाद्याप्यतादिभिः संबन्धः। अत्र साधनैरिति बहुत्वं पूर्वपक्षे मनोमयादिब्रह्मोपासनाद्यभिप्रायेण। कुतो ब्रह्मणि तदसंभव इत्यत आह-कूटस्थेति। हिर्हेतौ।

यतो ब्रह्म कूटस्थादिरूपमत आप्यताद्यस्य नेति संबन्धः। कूटस्थपदसूचितं निर्विकारत्वमजन्यत्वं च, अपास्तेति दर्शितम्। अन्येऽपि भावविकारा निरस्ता इति सूचयितुं मरणग्रहणम्। ब्रह्मपदेन तस्य सर्वात्मत्वं दर्शयता आप्यत्वं निरस्तम्। निःश्रेयसमिति परमप्रयोजनरूपतयोपयुक्तोपयोक्ष्यमाणताऽभावात्संस्कार्यत्वं निरस्तमिति द्रष्टव्यम्।।३०६।।

न स्वाध्यायेत्यादिना= इस ब्रह्म की साधना के द्वारा कुछ भी नहीं होता है। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधिवाक्य से विहित स्वशाखा के अध्ययन से स्वाध्याय की ही, आप्यता= प्राप्ति संभव होती है। स्वाध्याय में तो जो अध्येता पुरुष है उसके अधीन उच्चारणक्षमता प्राप्त करना होता है। तो ब्रह्म में वह स्वाध्यायोऽध्येतव्यः रूप विधिवाक्य के द्वारा स्वशाखाध्ययन् प्राप्ति संभव नहीं है। इसीप्रकार से ब्रह्म में "नापि= वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" बसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नि के द्वारा आधान करें। इस विहित आधान से गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्निरूप तीन अग्नियों की उत्पत्ति ब्रह्म में सम्भव नहीं है। इसीप्रकार से ब्रह्म में "सोमममिषुणोति" इस विधि से सोम के कुत्सित रूप को हटाना, जो सोमरस में विक्रिया है जो कि सोम रस को अन्य प्रकार से प्रस्तुत करती है। वह भी ब्रह्म में सम्भव नहीं है। पाठो, अध्ययन, उक्षणं, प्रोक्षण। ये चार १) पाठ २) आधान ३) जलाक्षण तथा ४) अमिषवण इनसे क्रम से स्वाध्यायजक्षण आप्यतादि इसमें से एक का भी सम्बन्ध ब्रह्म के साथ सम्भव नहीं है। यहा साधनैः= तृतीयान्त बहुवचन का प्रयोग इसलिये किया है कि पूर्वपक्षी "मनो ब्रह्मेति उपासीत" ऐसी अनेक उपासना कहेगा उन सब उपासना को हटाने के लिये तृतीयान्त बहुवचन का प्रयोग किया। ब्रह्म में इन सबका असम्भव कैसे? कूटस्थेति= हि= इस हेतु से।। जब ब्रह्म कूटस्थ रूप है तभी तो उसमें आप्यतादिभाव नहीं आ सकते, यह भाव है।। कूटस्थ पद से सूचित हो जाता है कि ब्रह्म निर्विकार तथा अजन्य है। विकारत्व जन्यत्वादि से रहित है, यह दर्शित होता है। मरण= और भी जो भावविकार सभी विकारों सी रहित वह ब्रह्म है एतदर्थ जन्म मरण शब्द का प्रयोग किया। ब्रह्मेति ब्रह्म पद से सर्वात्मता परमतत्त्व की होने के कारण उसमें आप्यत्व (प्राप्यत्व) नहीं आ सकता, यह प्रदर्शित होता है। निःश्रेयसमिति= परमप्रयोजन रूप से उपयुक्त तथा अन्य किसी विकार, संस्कारादि से रहितत्व सिद्ध होता है यह बताने के लिये निःश्रेयसमिति शब्द का प्रयोग किया गया।।

ननु "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इति तस्याप्यत्वं श्रूयते। न च ब्रह्मैव सन्निति तस्य प्रागपि सत्त्वान्नाप्तिक्रियासाध्यत्वमिति वाच्यम्। क्रियापदानुरोधने ब्रह्मैवेत्यस्य भाविपरत्वकल्पनात्। न चैवमपि तस्य सर्वगतस्य घटेनाकाशस्येव न क्रिययाऽऽप्यत्वमिति

वाच्यम्। "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इतिश्रुतिसिद्धाविकृतब्रह्मप्रदेश-स्याप्यत्वोपपत्तेरित्याशङ्क्याह—

आशंका= "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" ब्रह्म होता हुवा ब्रह्म को प्राप्त करता है। इससे ब्रह्म में प्राप्यत्व संभव है ही फिर कैसे कहते हो कि ब्रह्म में आप्यत्व नहीं है। यदि सिद्धान्ती यह कहे कि ब्रह्म तो पहिले ही था "ब्रह्मैव सन्निति" तो इसका मतलब यह हुवा कि ब्रह्म तो पहिले भी था फिर तो वह प्राप्ति क्रिया का साध्य तो होगा नहीं अतः उसमें आप्यत्व आयेगा नहीं, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि क्रियापद के अनुसार "ब्रह्मैव" ब्रह्म ही ऐसा निर्देश किया है अतः उसमें आप्यत्व मानना ही पडेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती यह कहे कि ब्रह्म तो सर्वगत होने के कारण जैसे महाकाश घट के साथ प्राप्य नहीं हो सकता, वैसे मानें तो, यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इससे भी ऊपर उत्कृष्ट ज्योति दैदिप्यमान हो रही है। इससे श्रुति सिद्ध अविकृत ब्रह्म की भी प्रदेश कल्पना की गई और उसमें आप्यत्व भी मान लिया। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर समाधान प्रदान कर रहे हैं—

ब्रह्मैव सन्निति वचः प्रथमश्रुतत्वा-
दप्येतिशब्दमुपसंहरणस्थमुच्चैः।।
प्रच्यावयत्स्वविषयादुचिताद् बलीयो
ब्रह्मात्मनोरनतिरेकमसाध्यमाह।।३०७।।

अन्वयः=ब्रह्मैव सन्निति वचः प्रथमश्रुतत्वात् बलीयः उपसंहरणस्थं अप्येति शब्दं उचितात् स्वविषात् उच्चैः प्रच्यावयत् ब्रह्मात्मनो असाध्यं अनतिरेकम् आह।।३०७।।

अन्वयार्थः= ब्रह्मैव सन् "यह वाक्य प्रथम श्रुत होने के कारण प्रबल है। अतः उसंहारस्थ आप्येति इस पद को अपने वाच्यार्थ से बलपूर्वक हटाता हुआ जीव और ब्रह्म का असाध्य स्वरूप अभेद बताता है।।३०७।।

ब्रह्मैव सन्नितीति। उपसंहरणस्थमेतद्वाक्यान्ते श्रूयमाणं प्रच्यावयद् भ्रंशयदुचितान्मुख्याद् ब्रह्मैव सन्निति सावधारणं प्रथमश्रुतत्वात्तथैव बुद्धिमुत्पादयदसंजातविरोधितया बलीयोभूत्वाऽन्ते श्रुतमप्येतिशब्दं मुख्यार्थात्। प्रच्यावयति एकस्मिन्वाक्ये उपक्रमानुरोधेनोपसंहारस्य नेतव्यत्वात्। यथा "त्रयो वेदा अजायन्त" इत्यर्थवादोपक्रमगतवेदशब्दानुरोधेन "उच्चैर्ऋचा क्रियते" इति चरमपठितं विध्युद्देशगतमपि मन्त्रवाचि ऋगादिपदं वेदपरतया नीतमतो ब्रह्मात्मनोरत्यन्तमभेद

इति नानया श्रुत्या तदाप्यत्वसिद्धिरित्यविद्यानिवृत्त्याऽप्राप्तत्वभ्रान्तिध्वंस एव तथोपचर्यते। अविकृतं ब्रह्म च सर्वत्र सदास्त्येवासङ्गत्वेन तस्य सर्वविक्रियाशून्यत्वात् अत एव श्रुतिः– "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इति। तस्योदर्ध्वदेशस्थत्वश्रवणं तूपासनार्थमिति।।३०७।।

ब्रह्मैव सन्निति= उपसंहरणस्थम्= वाक्यार्थ आखिरी में सुना हुवा भी, प्रच्यावयद्- मुख्यप्रकरण से हटा हुवा भी मुख्य ब्रह्म परक ही उस शब्द को यह वाक्य को माना जाता है। प्रथम श्रुतत्वात्– पहिले मुख्य का ही श्रवण होने से बाद में भी वैसी ही बुद्धि को मानना पडता है। क्योंकि पहिले बुद्धि की (विरोधी और कोई न होने से) अजातविरोधी होने से वह पहिले बुद्धि बलवान् होकर अन्त में अप्येति= शब्दम्= मुख्यार्थ से प्रच्यावयति= मुख्यार्थ के साथ एक वाक्यतापन्न हो जाती है। किस बजह से? तो उपक्रण उपसंहारादि के बजह से मुख्यार्थ परक ही इन आखिरी शब्दों को लेना पडता है। यथा जैसे "त्रयो वेदा अजायन्त" इस अर्थ वाद के उपक्रम के वेद शब्द के अनुरोध से उच्चैर्ऋचा क्रियते जैसे अन्त में पढा गया विधि के उद्देश्यगत मन्त्रवाचि ऋगादिपद है वेदपरक ही ले जाना पडता है। इसलिये ब्रह्मात्मा का अत्यन्त अभेद ही अभिमत होने से "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इस श्रुति से आप्यत्व की सिद्धि नहीं होती है किन्तु अविद्या की निवृत्ति हो जाने से अप्राप्तत्व रूप भ्रान्ति का ध्वंस ही इस वाक्य से ब्रह्म मुझे अप्राप्त ही है। ऐसी भ्रान्ति की निवृत्ति ब्रह्मैव सन्निति वाक्य से होती है। उपचरित होती है। अविकृत ब्रह्म तो सर्वत्र और हमेशा तो है ही, तथा वह असङ्ग होने के कारण सभी आप्यत्वादि विक्रियाओं से रहित है। इसलिये श्रुति कहती है– "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इति इस ब्रह्म में जो उर्ध्व देश की कल्पना सुनाई देती है वह उपासना के लिये है न कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिये।

ननु नामपदमाख्यातान्तपदं प्रति गुणभूतं, भूतार्थस्य भव्यशेषत्वेन तत्पदयोरपि तथाभावस्य वक्तव्यत्वात्। एवं "गुणे त्वन्याय्यकल्पना" इति ब्रह्मैव सत् इति नामपद एव लक्षणोचिता न त्वाख्यातान्तेऽप्येतिपदे इत्याशङ्क्य नामपदमपि विधेयसमर्पकं क्रियापदकार्यं कुर्वत् क्रियापदमेवेति न नामत्वं गुणत्वनिमित्तम्। एवमविधेयार्थक्रियापदमप्यर्थान्नामैवेति न प्रधानत्वनिमित्तमित्याशयेन दृष्टान्तं सार्द्धश्लोकेनाह–

आशंका– नामपद आख्यातान्तपद के प्रति गुणभूत ही माना जाता है। क्योंकि भूतार्थ भव्य के लिये होता, अतः भूतवाचक नाम पद तथा भव्य वाचक आख्यातपद इन दोनों का भी यही नियम है। भूतार्थ भव्य शेष परक है। इसप्रकार "गुणे त्वन्याय्यकल्पना" इति, इस प्रकार से ब्रह्मैव सन् इति, यहां नामपद का कार्य करता है, अतः नामपद भी क्रियापद

स्वरूप ही है, नामपद नामत्ववाला अथवा गुणत्व का निमित्तक नहीं है। इसी प्रकार से जो क्रियापद है। ब्रह्म उसी में ही लक्षणा करना उचित है न कि आख्यातान्त पद आप्येति पद में ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर उत्तर देते हैं कि—

समाधान— नाम पद भी विधेय समर्पक होने के कारण क्रियापद अविधेयार्थ परक है वह अर्थात् नाम स्वरुप ही है, इसलिये उसमें प्रधानता नहीं आ सकती। इस आशय से अर्धश्लोक से दृष्टान्त प्रदान कर रहे हैं—

आग्नेय इत्याद्यपि तध्दितान्त-
मष्टाकपालादिसमन्वितं सत्।।
आख्यातशब्दस्य धुरं बिभर्ति
भव्यार्थसंवित्तिनिबन्धनत्वात्।।३०८।।

अन्वयः= आग्नेय इत्यादि तद्धितान्तमपि अष्टाकपालादि समन्वितं सत् आख्यातशब्दश्च धुरं बिभर्ति, भव्यार्थसंवित्तिनिबन्धनत्वात्।।३०८।।

अन्वयार्थ= आग्नेय यह तद्धितान्त नाम पद भी अष्टाकपालादि नाम पदों से युक्त आग्नेयोऽष्टक पालः पुरोडाशः के रूप में होकर, भवति इस आख्यात पद से अपेक्षित मुख्यार्थ का समर्पण करता है, क्योंकि भव्यार्थ बोध का जनक होने से।।३०८।।

आग्नेय इत्यादिना। "आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" अग्नीषोमीयमेकादशकपालम्" इत्यादिवाक्ये "अग्निर्देवतास्य" इत्यादिव्युत्पत्त्याऽग्न्यादिदेवतासंबन्धिद्रव्याभिधायकमाग्नेय इत्यादितद्धितान्तं पदमष्टसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाश इत्यादिव्युत्पत्त्याऽष्टाकपालादिसंयुक्तपुरोडाशवाचकाष्टाकपालादिपदे हविर्विशेषबोधकेनान्वितं सदा ख्यातशब्दस्य विधेयबोधकस्य धुरं कार्यं बिभर्त्ति करोति। कुतस्तत्राह- भव्यार्थेति। साध्यार्थस्य संवित्तिजनकत्वादित्यर्थः। आग्नेयादिपदं हि देवतार्थतद्धितान्तं द्रव्यदेवतासंबन्धममिधत्ते, स च सम्बन्धो याग निष्पाद्य इति यागोऽपि तेन प्रतीयत इति तदेवाख्यातेन विधीयते अतस्तत्प्रधानमित्यर्थः।।३०८।।

आग्नेय इत्यादिना= "आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" आग्नेय अष्टकपाल युक्त होता है तथा "अग्नीषोमीयमेकादशकपालम्" अग्निषोमीय ग्यारह कपाल युक्त होता है। इत्यादि वाक्यों में "अग्निर्देवतास्य" इत्यादि व्युत्पत्ति के अनुसार अग्न्यादिदेवतासम्बन्धि द्रव्य का कथन करने वाला आग्नेय यह तद्धितान्त पद है, वह आग्नेय पद अष्टकपालों में पका हुवा संस्कृत पुरोडाश इत्यादि व्युत्पत्ति के साथ अष्टकपालादि से युक्त अर्थात् पुराडाशवाचक अष्टकपालादि पद के साथ विशेष प्रकार के हवि सामग्री के बोध के साथ अन्वित होता है, अर्थात् आग्नेय पद

तो आख्यात शब्द का काम विधेय का बोध करना उसका सारा का सारा भार निर्वहित करता है। ऐसा क्यों करता है तो बताते हैं। भव्यार्थेति= साध्यार्थ संवित्तिजनक होने के कारण। अर्थात् आग्नेयादिपद जो देवतार्थक तथा तद्धितान्तक होने से द्रव्य और देवता दोनों के सम्बन्धों को बताता है। द्रव्य और देवता का सम्बन्ध जो याग में ही निष्पाद्य है, इस प्रकार आग्नेय इस तद्धितान्त प्रयोग से याग का भी बोध हो जाता है और यही तो बोध आख्यात से जाना जाता है। इसलिये अब तो आग्नेयादि पद ही प्रधान माना जाता है। और भवति शब्द आख्यात पद इसी अर्थ का अनुवादक होने से गौण माना जाता है।

आख्यातमेव सदिदं भवतीति नाम
भव्येतरार्थमपि जन्मनिबन्धनत्वात्।।
अप्येतिशब्दमपि तद्वदिमं प्रतीमो
भव्येतरार्थगतबुद्धिनिबन्धनत्वात्।।३०६।।

अन्वयः= भवतीति इदं आख्यातमपि सत् नामैव भव्येतरार्थमतिजन्मनिबन्धनत्वात्। इदं अप्येति शब्दमपि तद्वत् प्रतीमः भव्येतरार्थगतबुद्धिनिबन्धनत्वात्।।३०६।।

अन्वयार्थः= आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति इसमें "भवति" पद साध्य भिन्न (सिध्द) अर्थ के ज्ञान का जनक है। इधर प्रकृत में ब्रह्माप्येति में अप्येति पद को भी हम वैसा ही समझ रहे हैं, क्योंकि साध्य भिन्न सिध्द अर्थ के ज्ञान का जनक है।।३०६।।

एवं तस्मिन्नेव वाक्ये भवतीतीदं पदं क्रियापदमेव सदर्थतो नाम। तत्र हेतुर्भव्येतरेति। भवत्यर्थस्य सत्ताया अविधेयत्वात् तन्नामसदृशमेवेति न प्रधानमिति भावः। दार्ष्टान्तिकमाह— अप्येतीति। अप्येतिशब्दोऽपि न भव्यार्थः संभवति, ब्रह्मभावस्य जीवे साध्यत्वेऽनित्यत्वेनामृतत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मातिरिक्ततद्भावस्यासंभवाद् ब्रह्मणश्चानाद्यनन्तत्वात्, अतो न प्रधानम्। ब्रह्म तु सकलशेषी तत्पदमेव प्रधानम्। भूतभव्यन्यायोऽपि प्रकृते नावतरति उक्तन्यायेन प्रकृते भव्यासंभवादित्याशयः।।३०६।।

इसी प्रकार से आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति इस वाक्य में भवति जो पद है वह क्रियापद होता हुवा भी नाम परक माना जायेगा। क्योंकि जो काम नाम ने करना है वही काम क्रियापद कर रहा है। यह कैसे? भव्यतरेति-भवति इस क्रियापद से सत्तारूप अर्थ का विधान तो होता नहीं। इसलिये भवति क्रियापद नाम के समान ही होने से वह प्रधान नहीं माना जायेगा। दार्ष्टान्त में भी इसे घटा रहे हैं अप्येतीति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति इसमें अप्येति

शब्द भी भव्यार्थ का प्रतिपादन नहीं कर रहा है। ब्रह्मभाव को जीव में साध्य रूप से स्वीकृत करने पर वह भाव अनित्य होने से अमृतत्व की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। ब्रह्म से अतिरिक्त जीवभाव की संभावना नहीं हो सकती। और ब्रह्म तो अनादिअनन्त है। इसलिये अप्येति शब्दप्रधान नहीं हो सकता, ब्रह्म तो सबका शेषि है। इसलिये ब्रह्म पद ही प्रधान है। भूत भव्य न्याय भी प्रकृत में (अवतरित) चरितार्थ नहीं होता है। क्योंकि इस न्याय से तो प्रकृत में "ब्रह्मैव सन्निति" इस स्थल में भव्य की संभावना है नहीं। यह आशय है।

अप्येतिशब्दस्याभव्यार्थत्वे सिद्धमाह—

अप्येति शब्द का भव्यार्थत्व न होने से सिद्ध अर्थ बता रहे हैं—

ब्रह्मैव सन्निितिगिरं प्रति शेषितायै
नाप्येतिगीरियमलं कथितोपपत्तेः।।
आख्यातमेव खलु नामपदस्य शेषि
नाख्यातमेतदनृतत्वनिवेदकत्वात्।।३१०।।

अन्वयः—ब्रह्मैवसन् इति गिरं प्रति शेषितायै इयं अप्येति गीः अलं न, कथितोपपत्तेः। आख्यातपदमेव, नामपदस्य शेषि। एतत् आख्यातं न, अनृतत्वनिवेदकत्वादिति।।३१०।।

अन्वयार्थः— "ब्रह्मैवसन्" इस शब्द से प्रधान बनने में यह अप्येति वह समर्थ नहीं क्योंकि इसकी उपपत्ति की जा चुकी है। आख्यात पद ही नामपद का शेषि प्रधान होता है। यह अप्येतिपद आख्यात नहीं क्योंकि यह अनृतार्थक प्राप्ति का बोधक है।।

ब्रह्मैव सन्नितीति। शेषितायै नालमिति योजना। शेषिता प्राधान्यम्। अत्र हेतुमाह कथितोपपत्तेरिति। भव्यार्थत्वासंभवादित्युक्तोपपत्तेरित्यर्थः। परोक्तं शेषिताप्रयोजकमनुवदन्नत्र तन्नास्तीत्याह अख्यातमेवेति। एतत् अप्येतिपदम्।।३१०।।

ब्रह्मैव सन्निति= यह वाक्य ही ब्रह्म शेषि (प्रधान) है, इसके लिये पर्याप्त नहीं है किन्तु अप्येति= कथितोपपत्तेः= अप्येति शब्द के द्वारा भव्यार्थत्व संभव न होने से भी ब्रह्म ही शेषि है (प्रधान है) यह बात सिद्ध होती है। पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि आख्यात प्रधान है ऐसा कहा था, उसका खण्डन कर रहे हैं आख्यातमेवेति= आख्यात नाम पद का शेषि है यह सब बाते खण्डित हो जाती है क्योंकि अप्येति= अप्येति पद से भव्यार्थ

का संभव न होने से आख्यात शेषि (प्रधान) नहीं बन पाया किन्तु नाम पद ही (ब्रह्म पर ही) प्रधान शेषि बन पाया।

प्रकृतमुपसंहरति—

अब इस प्रकृत प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मैव सन्निति ततः प्रथमश्रुतं स-
दप्येतिशब्दमपसारयति स्ववाच्यात्।।
अस्याङ्गभावविरहादमुना सहातो
ब्रह्मात्मनोरनतिरेकमुशन्ति धीराः।।३११।।

अन्वयः=ततः "ब्रह्मैव सन्" इति प्रथमश्रुतं सत् अप्येतिशब्दं स्व वाच्यात् अपसारयति, अमूना सह अस्य अङ्गभावविरहात्, अतः धीराः ब्रह्मात्मनो अनतिरेकं उशन्ति।।३११।।

अन्वयार्थ= अतः ब्रह्मैवसन् यह शब्द प्रथम श्रुत होने के कारण अप्येति पद को अपने वाच्य अर्थ से हटाता है। क्योंकि इस (अप्येति) शब्द का इस (ब्रह्मैव) शब्द में अङ्गत्व नहीं बनता। अतः ब्रह्मनिष्ठ आचार्य जीव और ब्रह्म का अभेद ही चाहते हैं।।३११।।

ब्रह्मैव सन्निति। तत इति। अस्य ब्रह्मेतिशब्दस्यामुनाऽप्येतिशब्देन सहाङ्गभावस्य शेषत्वस्य विरहादित्यर्थः। फलितमाह—अतो ब्रह्मात्मनोरिति। अनतिरेकमभेदम्। उशन्ति इच्छन्ति। धीराः- भेदवादिभिर्बहुधाऽभिभूयमाना अपि श्रुतिप्रामाण्यातिदाढर्याद् ब्रह्मैकनिष्ठाः।।३११।।

ब्रह्मैव सन्निति= तत इति= यह जो ब्रह्म पद है इसका अप्येति शब्द के साथ कोई अङ्ग भाव नहीं है। अर्थात् अप्येति पद शेष या अङ्ग नहीं है। फलितार्थ बता रहे हैं। अतो ब्रह्मत्मनोरिति= ब्रह्म और आत्मा दोनो का, अनतिरेकम्— अभेद ही है। उशन्ति—ऐसी इच्छा करते हैं। कौन? धीराः= भेदवादियों के द्वारा प्रायः हार भी जाते हैं तो भी श्रुति प्रामाण्य के दृढता के कारण ब्रह्मैकनिष्ठ ऐसे धीर पुरुष ब्रह्म और आत्मा के अभेद की ही इच्छा रखते हैं। भूतं भव्यायोपदिश्यते इस न्यायानुसार। भूत भव्य के लिये है। इस न्यायानुसार।

भव्यार्थत्वासम्भवादप्येतिशब्दस्य नात्र भूतभव्यन्यायावतार इत्युक्तम्। किं चायं न्यायः कर्मसमभिव्याहृतभूतविषयो न तु सिद्धब्रह्मविषयोऽपि, प्रत्युत विपरीतं, विविदिषा-वाक्यानुसारेण "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः" इति सौत्रन्यायेन च कर्मण एव ब्रह्मशेषत्वावगमा-दित्याशयेनाह—

भव्यार्थत्वासम्भव होने से अप्येति शब्द के लिये "ब्रह्मैव सन्निति" प्रयोग में भूतभव्य न्यायावतण उपयुक्त नहीं है, यह बात कह दी। दूसरी बात यह भी है कि भूतभव्यन्याय भी कर्म से समभिव्याहृत भूत विषयक हो तभी चल पायेगा लेकिन सिद्ध ब्रह्म विषयक यह न्याय नहीं चल पायेगा कि भूत भव्य के लिये होता है। बल्कि इसके विपरीत ही न्यायागम होगा। कैसे? तो बताते हैं- विविदिषावाक्य के अनुसार "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः" यज्ञादि सब कर्म श्रुतियां ब्रह्म की अपेक्षा करती है इस सूत्र के न्याय से कर्म ही ब्रह्म का शेष बना और ब्रह्म बना शेषि। इसी आशय से कहा जा रहा है-

भव्याय भूतमिति किं च विधिप्रधाने
काण्डे नयोऽयमिह तद्विपरीतमाहुः।।
भूताय भव्यमिति भूतपरं हि सर्वं
वेदावसानमिति सूत्रकृदाचचक्षे।।३१२।।

अन्वयः= किञ्च विधिप्रधानकाण्डे "भूतं भव्याय" इत्ययं नयः। इह तद्वपरीतं भूताय भव्यमिति आहुः। सूत्रकृत् हि भूतपरं सर्वं वेदावसानमिति आचचक्षे।।३१२।।

अन्वयार्थः= दूसरी बात और यह भी है कि विविध विधि प्रधान काण्ड में ही भूतभव्यायोपदिश्यते।। यह न्याय लगता है। लेकिन इस ज्ञान काण्ड में इसके विपरीत "भूताय भव्योपदिश्यते" यह न्याय लगता है, क्योंकि सूत्रकार ने सिद्ध ब्रह्म परक ही सम्पूर्ण वेदान्त बताया है।

भव्याय भूतमिति। विधिः प्रधानं प्रतिपिपादयिषितो यस्मिन्काण्डे तस्मिन्। इह ब्रह्मकाण्डे। तद्विपरीतं भूतभव्यन्यायविपरीतम्। तद्वैपरीत्यमेवाह-भूताय भव्यमिति। हिर्हेतौ। यतो भूतपरं सत्यसिद्धबह्मपरं वेदावसानं वेदान्तं सूत्रकृदाचचक्षे समन्वयसूत्रप्रमुखैः सूत्रैरुक्तवान् अतो भाष्यकारादय एवमाहुरित्यर्थः।।३१२।।

भव्याय भूतमिति= जिनके मत में विधि की प्रधानता है उनके मत में भूतं भव्याय कल्पते- कहा जाता है। लेकिन, इह= ब्रह्मकाण्ड में। तद्विपरीतम्= भूतभव्य न्याय के विपरीत ही न्याय का अङ्गीकार करना पडता है। उसे बता रहे हैं भूताय भव्यमिति हि-भव्य भूत के लिए है इस हेतु से। जब कि भूतपरम्= सत्यसिद्ध ब्रह्मपरक, वेदावसानम्= वेदान्त शास्त्र को, सूत्रकार बादरायणजी ने कहा इसी बात को भाष्यकारादिकं भी कहते हैं।

भव्यस्य भूतशेषत्वे सिद्धमाह-

भव्य भूतपरक है इसके लिये सिद्ध प्रयोग बता रहे हैं—

ब्रह्मैव सन्निति ततोऽपि बलिष्ठमेत-
दप्येतिशब्दमवसानगतं व्यपेक्ष्य।।
तस्मादमुष्य परिपीडकमेतदेव
ब्रह्मैव सन्नितिपदं गुणकल्पनायै।।३१३।।

अन्वयः= ततोऽपि ब्रह्मैव सन्नित्येतत् अवसानगतं अप्येतिशब्दं अपेक्ष्य बलिष्ठम्। तस्मात् एतत् ब्रह्मैव सन्निति पदं एव अमुष्य गुणकल्पनायै परिपीडकम्।।३१३।।

अन्वयार्थः= इस (उक्त भूताय भव्योपेदेश) न्याय से भी "ब्रह्मैव सन्" सह शब्द उपसंहारस्थ अप्येति शब्द की अपेक्षा बलवान् है। इसलिये ब्रह्मैवसन् यह पद भी इस (अप्येति शब्द) का गौण अर्थ निकालने के लिये पीडक अर्थात् अप्येति पद को मुख्यार्थ से गिराने वाला है।।३१३।।

ब्रह्मैव सन्निति। ततोऽपीति। ततोऽपि भूताय भव्यमित्युक्तन्यायादपि एतद् ब्रह्मैव सन्नितिपदमवसानगतमप्येतिशब्दमपेक्ष्य बलिष्ठमिति सम्बन्धः। ततः किं तत्राह-तस्मादिति। अमुष्याप्येतिशब्दस्य गौणत्वकल्पनायै एतद् ब्रह्मैव सन्नितिपदमेव परिपीड़कं मुख्यार्थभ्रंशकरं स्यादिति शेषः।।३१३।।

ब्रह्मैव सन्निति= ततोऽपीति।। इसके बाद भी भूताय भव्यम् इस न्याय से भी यह ब्रह्म ही "ब्रह्मैव सन्निति" यह पद अवसान् गत होने पर भी अप्येति शब्द की अपेक्षा बलवान् है। इससे क्या लाभ हुवा? तो बताते है—

तस्माद् ब्रह्मभावस्यासाध्यत्वादुपासनादिक्रियासाध्यत्वं न सम्भवतीति न पराभिमत-समुच्चयस्यापि तत्रावकाश इत्याह—

तस्मादिति= अमुष्य= अप्येति शब्द की गौणत्व कल्पना सिद्ध करने के लिये "ब्रह्मैव सन्निति" यह पद ही परिपीडकम्-मुख्यार्थ से भ्रष्ट कराने वाला होगा। भूतं भव्याय कल्पते "यह जो मुख्यार्थ है, उसका विरोधी ही ब्रह्मैव सन्निति यह पद हो जाता है। यह भाव है।"

इस प्रकार ब्रह्मभाव असाध्य होने के कारण उपासनादिक्रियासाध्यत्व ब्रह्मभाव में नहीं है। यही कारण है कि दूसरे वादियों को अभिमत समुच्चय की भी यहां सम्भावना नहीं हैं। इसको स्पष्ट कर रहे हैं—

निःश्रेयसं न खलु साध्यमतः क्रियाभि-
ज्ञानेन वा द्वयसमुच्चयवर्त्मना वा।।
उत्पत्तिराप्तिविकृती न च संस्कृतिश्च
यस्मान्न सम्भवति वर्णितवर्त्मनेह।।३१४।।

अन्वयः= अतः क्रियाभिः ज्ञानेन वा समुच्चयवर्त्मना वा निश्रेयसं न खलु साध्यम, यस्मात् वर्णितवर्त्मना इह उत्पत्तिः आप्तिविकृती संस्कृतिश्च न सम्भवति।।

अन्वयार्थ= अतः क्रिया से ज्ञान से या ज्ञानकर्म समुच्चय से मोक्ष साध्य नहीं है, क्योंकि उक्त युक्तियों से इस निश्रेयस में उत्पत्ति, आप्ति विकृति और संस्कृति संभव नहीं है।।३१४।।

निःश्रेसयमिति। अत उक्तयुक्तिभिः। क्रियाभिः केवलोपास्त्यादिक्रियाभिः। ज्ञानसाध्यत्वमपि नित्यसिद्धत्वात्तस्य न सम्भवति किमु वक्तव्यं क्रियासाध्यत्वं न सम्भवतीत्याशयेनाह–ज्ञानेन वेति। द्वयसमुच्चयवर्त्मना ज्ञानक्रियासमुच्चयरूपोपायेन। तत्र प्राक्सूचितमेव फलासम्भवं दर्शयति–उत्पत्तिरित्यादिना। उत्पत्तिर्न सम्भवतीत्यनुषङ्गः। आप्तिविकृती न सम्भवत इत्यर्थः। एतच्च "न स्वाध्यायवदाप्यता" इतिश्लोके दर्शितमित्याह- वर्णितवर्त्मनेति।।३१४।।

निःश्रेयसमिति– अतः जो जो युक्तियां बताई है उससे क्रियाभिः= केवल उपास्ति (उपासना) परकादि क्रियाओं के साथ ब्रह्म भाव रूप निःश्रेयसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वास्तविक होता यह है कि ऐसे निःश्रयस मोक्ष की प्राप्ति ज्ञानसाध्य भी नहीं हो सकती क्योंकि वह तो नित्य सिद्ध ही है। फिर ऐसे निश्रेयसत्व में क्रियासाध्यत्व तो किसी भी प्रकार से आ ही नहीं सकता। यह तो कहने की भी जरूरत नहीं है। ज्ञानेन वेति= दोनों के समुच्चय के द्वारा, अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों के समुच्चय से निःश्रेयस की प्रप्ति होती है, यह भी संभव नहीं है। इस प्रसंग में पहिली सूचित की हुई फल असम्भावना की बात बताई जा रही है। उत्पत्तिरिति= निःश्रेयस की उत्पत्ति नहीं होने से, ऐसा अनुषङ्ग करा लेना। आप्तिविकृती= प्राप्ति और विकृति सम्भव न होने से फल का असम्भव है। न तो इसमें "न स्वाध्यायवदाप्यता" ३०६ श्लोक आप्यता आदि है। यह सब पहिले बता चुके हैं। अतः कहा वर्णित वर्त्मनेति= पहिले वर्णित ही युक्तियां वर्णित की जा रही है। किसी प्रकार से ब्रह्म साध्य नहीं है।

एवं किं च "प्रवृत्तिविनिवृत्तिविहीनवस्तुतत्त्वप्रतीतिजननात्" इत्यादिना यत्सिद्धवस्तु-ज्ञानात्प्रवृत्त्याद्यसंभवात्तन्निष्ठवेदान्तानां न फलपर्यवसानमित्युक्तम्। तत्र प्रवृत्त्याद्यभावेऽपि

निरतिशयपुरुषार्थपर्यवसानं तेषामुपपादितम्। इदानीं प्रवृत्त्यादिराहित्यमात्रस्यादोषत्वमुपसंहरन्न केवलं तदभावस्यादोषता अपि तु अनुष्ठानजन्यायासाभावात्स गुण एवेत्याह—

इसी प्रकार से "प्रवृत्तिविनिवृत्तिविहीनवस्तु तत्त्वप्रतीति जननात्" इस न्याय से सिद्धब्रह्म वस्तु के ज्ञान से प्रवृत्त्यादि सम्भव न होने से, ऐसे सिद्ध ब्रह्म परक वेदान्त फल पर्यवसायी नहीं हो सकता। ऐसी आशंका होने पर समाधान किया है कि वेदान्त से प्रवृत्त्यादि सम्भव न होने पर भी निरतिशय पुरुषार्थ का लाभ तो होता है। अतः फल पर्यवसायी वेदान्त शास्त्र है। ऐसा प्रतिपादन पहिले कर दिया है। अब प्रकृत में वेदान्त में प्रवृत्त्यादि का अभाव होने से वेदान्त में दोष नहीं है ऐसा उपसंहार करके, प्रवृत्त्यादिक का अभाव यह दोष वेदान्त में नहीं है— यह तो सही है, साथ में यह भी कहेंगे कि अनुष्ठान जन्य आयास (परिश्रम) उसका भी अभाव वेदान्त में होने से यह वेदान्त का एक महान् गुण ही माना जायेगा। अर्थात् प्रवृत्त्यादिक का अभाव होने से वेदान्त में दोष का अभाव हुवा लेकिन अनुष्ठान जन्य परिश्रम (आयास) का अभाव होने से वेदान्त में यह गुण ही हुवा। इस बात का उल्लेख कर रहे हैं—

तस्मात्प्रवृत्तिविनिवृत्तिविवर्जितत्वं
ब्रह्मात्मवस्तुविषयावगतेर्न दोषः।।
सर्वप्रवर्त्तकनिवर्त्तकमूलदाहात्
स्वाराज्यहेतुरिति भूषणमेव तन्नः।।३१५।।

अन्वयः= तस्मात् ब्रह्मात्मवस्तुविषयावगतेः प्रवृत्तिविनिवृत्तिविवर्जितत्वं दोषो न। सर्वप्रवर्तकनिवर्तकमूलदाहात् स्वाराज्यहेतुरिति तत् नः भूषणमेव।।३१५।।

अन्वयार्थः= इसलिए ब्रह्मात्म वस्तुविषयक ज्ञान में प्रवृत्ति विवृत्ति रहितत्व का तो कोई दोष नहीं है। अपितु संमस्त प्रवर्तक तथा निवर्तक, रागद्वेष के मूल अज्ञान का दाह होने से स्वाराज्य मोक्ष का हेतु है। अतः ऐसा प्रवृत्ति निवृत्ति रहित ब्रह्म ज्ञान हमारा भूषण ही है।।३१५।।

तस्मात्प्रवृत्तीत्यादिना। सर्वे ये प्रवर्त्तका रागादयो निवर्त्तकाश्च द्वेषादयस्तेषां मूलमज्ञानं तदाश्रितवासनादि च तन्निवृत्तेरित्यर्थः। तत् प्रवृत्त्यादिविवर्जितत्वम्। नोऽस्माकं कृतकृत्यानाम्।।३१५।।

तस्मात् प्रवृत्तीत्यादिना= सभी प्रवर्तक रागादिक होते हैं और निवर्तक द्वेषादिक होते हैं। उनका सबका मूल कारण है अज्ञान और उस अज्ञान के आश्रित रहने वाली वासनायें है। उनकी निवृत्ति ब्रह्मात्म वस्तु के ज्ञान से हो जाती है तत्= प्रवृत्त्यादि से वर्जित ऐसा

जो ज्ञानस्वरूप ब्रह्मात्मवस्तु वह तो हमारे लिये तो फिर कृतकृत्य का ही कारण बना। इसी प्रकार वेदान्त शास्त्र भी हमारा कृतकृत्य का कारण बना।।

ननु वेदान्तानामनवगतार्थबोधकत्वमेव न सम्भवति यद्बलात्सिद्धेऽपि तेषां प्रामाण्यं भवेत्, स्वप्रकाशेऽज्ञातताया एवासम्भवादित्याशङ्क्याह—

आशंका= वेदान्त शास्त्र अवगतार्थ बोधपरक है न कि अनवगतार्थ बोधपरक है तो वेदान्त अनवगतार्थ बोध परक न होने से सिद्ध ब्रह्म विषयकार प्रतिपादन करने वाले वेदान्त में भी प्रामाण्यता नहीं आ सकती। और स्वप्रकाश आत्मा में (ब्रह्म में) अज्ञातता आ ही नहीं सकती। जिसके निवृत्ति के लिये वेदान्त शास्त्र की आवश्यकता हो। ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

अज्ञाततऽपि घटतेऽत्रदृशोऽनुभूते-
जार्नामि नाहमिति दृश्यपि दृश्यते हि।।
अज्ञातताऽनुभवनं न च वास्तवं त-
दज्ञाततोद्वहति कल्पिततां हि तस्याः।।३१६।।

अन्वयः= अत्र दृशोऽज्ञातता अपि घटते, अनुभूतेः हि अहं जानामीति दृश्यपि अज्ञातानुभवनं दृश्यते। तत् वास्तवं न च। अज्ञातता तस्याःकल्पिततां उद्वहति।।३१६।।

अन्वयार्थः= हमारे मत से ब्रह्म में अज्ञातता भी (घट जाती समन्वित हो जाती है।) क्योंकि अनुभव आधार पर "नाहं जानामि" इस प्रकार में भी अज्ञातता का दर्शन किया जाता है (अज्ञातत्वानुभव) वास्तविक नहीं क्योंकि उस ब्रह्म में अज्ञातता (अपने में) कल्पितता धारण करती है।।३१६।।

अज्ञाततेति। अत्रास्मन्मते तद्विषयाज्ञाने वेदान्तवेद्यमात्मानं न जानामीत्यनुभवं प्रमाणमाह-अनुभूतेरिति। अज्ञाने प्रमाणव्यापाराभावात्तदनुभवासिद्धिमाशङ्क्याह-जानामीति। दृग्रूपेऽप्यात्मनि नाहं जानामीत्यज्ञाततानुभवनं दृश्यते हीति सम्बन्धः। अस्ति खलु सर्वेषामहमिदं न जानाम्यात्मानं न जानामीति चाज्ञानापरोक्षानुभवः, स च न प्रमाणजन्यः, लिङ्गादेरपरोक्ष-ज्ञानासम्भवात्, चक्षुरादेश्चान्तरज्ञानायोगात्, मनसश्च प्रमातृतयाऽप्रमाणत्वात्। मनोव्यापार-विरहदशायामपि तदनुभवाच्च तत्साक्षिमात्रभास्यमित्यर्थः। साक्षिसाध्यत्वसाधनफलमाह। अथवा, इतोऽपि तत्साक्षिभास्यमेवेत्याह—न च वास्तवमिति। तदज्ञाततानुभवनं वास्तवं प्रमाणं न भवति अतः शुक्तिरजताद्यनुभववदज्ञानुभवनमपि साक्षिरूपमित्यर्थः। ननु विषयबाधं विना कथमनुभवस्याप्रमाणत्वमित्याशङ्क्याह— अज्ञाततेति। तस्या दृशोऽज्ञातता स्वस्यां

कल्पिततामुद्वहति प्रापयतीति सम्बन्धः। अज्ञानस्यापि शुक्तिरजतादिवद् दृश्यत्वात्स्वप्रकाशात्मनि वस्तुतोऽयोगाच्च सा कल्पिता भवतीत्यर्थः।।३१६।।

अज्ञाततेति= इस प्रसंग में, आत्मविषयक अज्ञान में अनुभव ही प्रमाण है। वह इस प्रकर की "वेदान्तवेद्यमात्मानं न जानामि" वेदान्त वेद्य आत्मा को मैं जानता नहीं हूँ। अतः कह रहे हैं– अनुभूतेरिति।।

आशंका– अज्ञान में प्रमाणव्यापार न होने से वेदान्त वेद्य आत्मा को मैं जानता नही हूं ऐसी अनुभव की ही असिद्धि होगी। ऐसी आशंका होने पर।

समाधान– जानामीति= ज्ञानस्वरूप आत्मा में भी मैं उक्त आत्मा को नहीं जानता हूँ ऐसा अनुभव होता ही है ऐसा सम्बन्ध है। और बात है भी ऐसी कि वास्तव में सभी यही कहते हैं कि "अहमिदं न जानामि, आत्मानं न जानामि मैं इस दुनिया को नहीं जानता हूँ, मैं आत्मा को नहीं जानता हूं ऐसा अज्ञान का अपरोक्षानुभव सब को ही हो जाता है। लेकिन यह अनुभव प्रमाण जन्य नहीं है। क्योंकि हेतु के द्वारा अनुमिति हो सकती है न कि अपरोक्ष ज्ञान चक्षुरादि प्रमाणों से- अन्दर का ज्ञान नहीं हो सकता। बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो सकता है। मन तो प्रमाता होने से प्रमाणकोटि में वह नहीं आ सकता। वेदान्त में मन को इन्द्रिय नहीं माना गया है। और मन का व्यापार न रहने पर भी मैं आत्मा को नहीं जानता हूँ "ऐसा अनुभव होता है।" इसलिये अज्ञान तो केवल साक्षीभास्य ही है। तो अज्ञान साक्षी का साध्य है। साक्षी साधन है। इसका फल बता रहे हैं। न च वास्तवमिति= अज्ञान फिर तो वास्तविक होता ही नहीं है। यही इसका फल प्राप्त हुवा। अथवा अज्ञान साक्षी भाष्य ही है। और कुछ भी नहीं है। यह कहा जा रहा है– न च वास्तवमिति= अज्ञातता का अनुभव वास्तविक प्रमाण रूप नहीं है। अतः जिस प्रकार शुक्ति में प्रातिभासिक होने वाले रजत का अनुभव जैसे साक्षी रूप साक्षीभास्य है। वैसे अज्ञान का अनुभव भी साक्षी का ही है (अर्थात् साक्षिभास्यत्व रूप ही है।)

आशंका– जब तक किसी विषय का बाध न होवे तब तक कैसे अज्ञानता को अप्रमाण कहा जायेगा।

समाधान= अज्ञाततेति। आत्मा में अज्ञातता अपने आप की, कल्पिततां उद्वहति= कल्पितता सिद्ध करती है। जैसे शुक्ति में प्रतीयमान रजत अपने आप की कल्पितता शुक्ति में सिद्ध करता है। क्योंकि अज्ञान भी शुक्ति रजत के सामान दृश्य होने से स्वप्रकाश रूप आत्मा

में वस्तुतः उसका सम्बन्ध तो होगा नहीं। इसलिये आत्मा में अज्ञान कल्पित ही है। यह बात सिद्ध होती है।

नन्वात्मानं न जानामीत्यनुभवः सिद्धान्तेऽनुपपन्नः, तस्य हि ज्ञानाभावो विषयः, न चात्मनि स्वप्रकाशतया स्वसत्तानिश्चये ज्ञानाभावः सम्भवति, आत्मनो नित्यत्वात्। न च तद्गोचरवृत्त्यभावोऽस्तीति वाच्यम्। तथापि तज्ज्ञानाभावासम्भवात्। न हि वृत्तिर्ज्ञानं न वाऽऽत्मा तदधीनप्रकाशो येन तदभावादात्मनोऽस्फुरणमज्ञानं भवेत्। अन्यथा वृत्तिं विना नित्यं प्रकाशमाने साक्षिणि शुक्तिरजतादौ च न जानामीत्यनुभवप्रसङ्गः। तस्मादात्मनि सिद्धान्ते न जानामीत्यनुभवो न सम्भवतीति न तद्बलादज्ञानसिद्धिरिति। चेत्, सत्यम्। अस्ति तावदात्मन्यप्यनुभवः सर्वजनप्रसिद्धः स च त्वदुक्तविधयाऽभावविषयो न भवतीति स्वप्रकाशात्मावरणरूपं तद्गोचराज्ञानमनुभवबलादभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा सुषुप्त्यादावात्मनोऽस्फुरणं न स्यात्।

किं च वियदादिसमानस्वभावा तत्प्रकृतिः का चिदभ्युपेया, सा च न पराभिमत-प्रधानादिः, अद्वयात्मपरोपनिषद्विरोधादित्यात्मन्यध्यस्तैव वाच्या, सैवात्मप्रकाशावरणं तदन्यस्मिंस्त-स्मिन् गौरवात् प्रमाणाभावाच्च। अज्ञानमप्यावरणस्वभावमिति सैव प्रकृतिरज्ञानमित्यपि सिद्ध्यतीत्याशयेनाह–

आशंका– "अहं आत्मानं न जानामि" आत्मा को नहीं जानता हूं यह अनुभव सिद्धान्त में (वेदान्त में) अयुक्त है। न जानामि नहीं जानता हूँ इसका विषय हुवा ज्ञानाभाव। आत्मा तो स्वप्रकाश स्वरूप होने के कारण अपनी सत्ता का निश्चय होने से उसमें ज्ञानाभाव हो नहीं सकता। क्योंकि आत्मा तो ज्ञान स्वरूप नित्य है। इसलिये ज्ञानाभाव तो सम्भव हो नहीं सकता।

आशंका= सिद्धान्ती जी यदि आत्मविषयक वृत्ति के अभाव को (ज्ञानाभाव) कहेंगे। इति न च वाच्यम्। वृत्ति का अभाव होने पर भी ज्ञानाभाव तो' सम्भव नहीं होगा। न तो ज्ञान स्वरूप माना जाता है, और न तो वृत्ति के अधीन आत्मप्रकाश ही होता है जिससे यह कहा जावे कि वृत्ति का अभाव होने से आत्मा का अस्फुरण रूप अज्ञान हो। अन्यथा वृत्ति के न रहने पर नित्य प्रकाश स्वरूप साक्षी में शुक्ति में रजतादि स्थान में "न जानामि" मैं नहीं जानता हूँ ऐसा अनुभव होना चाहिये। इसलिये आत्मा में वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार "अहं आत्मानं न जानामि" में आत्मा को नहीं जान रहा हूँ। ऐसा अनुभव सम्भव नहीं हो सकता। जब ऐसा अनुभव ही अयुक्त है तो ऐसे अनुभव के अधीन अज्ञान की सिद्धि भी नहीं हो सकती। ऐसा पूर्व पक्ष उत्पन्न होने पर उत्तर देते हैं–।

सिद्धान्ती समाधान= सभी लोगों को "अहं आत्मानं न जानामि" ऐसा अनुभव होता ही है। अर्थात् अज्ञान का अनुभव सभी लोगों को होता है। लेकिन हे पूर्वपक्षी आपके कथनानुसार (न्यायमतानुसार) अज्ञान अभावविषयक नहीं है। किन्तु स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा का आवरण रूप, भाव रूप आत्मविषयक अज्ञान अनुभव बल से अवश्यमेव स्वीकृत करना चाहिये। यदि अज्ञान को आत्मा के आवरक रूप से न माना जाय तब तो सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में आत्मा का स्फुरण होना चाहिये अर्थात् अस्फुरण नहीं होना चाहिये।

दूसरी बात यह भी कि आकाशादि पदार्थों के समान स्वभाव वाली उनकी जननी (उनकी प्रकृत्ति) कोई तो माननी होगी। वह सांख्याभितम प्रधान तो नहीं हो सकती। क्योंकि सांख्य हुये अद्वयआत्मा के प्रतिपादक जो उपनिषद् उनके विरोधी। अतः आकाशादि पदार्थों की समान स्वभाववाली जो शक्ति वह अज्ञान रूपी शक्ति आत्मा में अध्यस्त ही माननी पडेगी। फिर वही शक्ति आत्म प्रकाश का आवरण करें और, आत्मातिरिक्त पदार्थों की प्रकृति बनें तो गौरव दोष होगा। और अज्ञान आत्मा को ढकें और आत्मातिरिक्त पदार्थों की प्रकृति बनें समान स्वभाव वाली बनें इसमें प्रमाण नहीं है। इसलिये अज्ञान तो आवरण रूप स्वभाव से ही है। वही प्रकृति जिसे अज्ञान भी कहते हैं, यही बात सिद्ध हो रही है। इसी आशयसे कहा जा रहा है—

अज्ञान का लक्षण=

अज्ञानमित्यजड़बोधतिरस्क्रियात्मा
जाड्यं च मौढ्यमिति च प्रकृतिः प्रसिद्धा।।
सा चातिदुस्थितवपुर्दृशमद्वितीया-
मालिङ्गति स्म घृतपिण्ड इवाग्निमिद्धम्।।३१७।।

अन्वयः= अजडबोधतिरस्क्रियात्मा प्रकृतिः अज्ञानं जाड्यं मौढ्यमिति च प्रसिद्धा। सा च अतिदुःस्थितवपुः अद्वितायां दृशं इद्धं अग्निं घृतपिण्डः इव आलिङ्गति।।३१७।।

अन्वयार्थः= चेतन बोध की आवरण रूप प्रकृति ही अज्ञान, जाड्य तथा मौढ्यादि, नामों से प्रसिद्ध है। वह अनिर्वचनीय स्वरूप है। वह अद्वितीय चेतन का वैसे ही आलिङ्गन करती है, जैसे घृतपिण्ड प्रज्वलित अग्नि का।।३१७।।

अज्ञानमित्यजडबोधेति। याऽजडबोधस्य तिरस्क्रियाऽऽत्मावरणस्वरूपा प्रकृतिः साऽज्ञानमिति प्रसिद्धेति संबन्धः। एवं चात्मनि न जानामीत्युनुभवे नानुपपत्तिरिति भावः।

ननु नञर्थतयाऽनुभूयमानमज्ञानं कथं भावरूपं स्यादिति चेत्। न। आत्मन्युक्तविधयाऽभावासंभवेन ज्ञानविरोधिभावरूपमेवाज्ञानमित्यभ्युपगन्तव्यत्वात्, यथा पापमधर्म इत्यभ्युपगम्यते। ननु तत्र पापशब्देन महाजनव्यवहाराद्भावत्वं तस्य निश्चितमिति चेत्तर्हि इहापि भावार्थतया सकलप्रसिद्धजाड्यमौढ्यव्यवहाराभ्यां भावत्वं निश्चीयतामित्याशयेनाह—जाड्यं चेति। प्रकाश-विरोधिस्वरूपविशेष इत्यर्थः। न च ज्ञानान्यत्वं ज्ञात्रन्यत्वं वा जाड्यमिति न तद्भावरूपमिति वाच्यम्। अन्यत्वस्यानुगतस्यैकस्यासंभवेन वक्ष्यमाणजडानुगतबुद्धेरयोगात्। यद्यप्यज्ञानं जडमेव तथापि जडप्रपञ्चानुगततया जाड्यमिति तद्व्यवहार उपपद्यते, मौढ्यमिति च पुरुषगतं मोहात्मका ज्ञानमेव व्यवह्रियत इति तद्भावरूपमिति भावः।

ननु "अजडबोधतिरस्क्रियात्मा" इत्युक्तं न हि प्रकाशमानस्याद्वयस्य द्वितीयेना-प्रकाशमानता संभवतीति चेत्। किं वस्तुभूतेन द्वितीयेन वस्तुसदप्रकाशमानत्वं न संभवतीति वदसि, किं वाऽनिर्वचनीयेनानिर्वचनीयम्। आद्ये मदिष्टसिद्धिः। द्वितीयेऽनुभवविरोधः। अनुभव-सिद्धमप्यनुपपन्नमिति चेत्। अत एवानिर्वचनीयम्, उपपन्नत्वेऽनिर्वचनीयत्वायोगादित्याशयेनाह—साचेति। अतिदुस्थितवपुः दुर्निरूपस्वरूपाऽनिर्वचनीयेति यावत्। यतोऽद्वितीयां दृशमालिङ्गति, आश्रित्यावृणोति स्मेति तदुभयस्य दुर्घटत्वं द्योतयति। नह्यद्वितीये द्वितीयं प्रकाशमाने अप्रकाशनत्वं च वस्तुसद्भवतीति भावः। स्वविरोध्याश्रयणमतिदुस्थितमित्यत्र दृष्टान्तमाह—घृतपिण्ड इति। इद्धं दीप्तं ज्वलन्तमिति यावत्।।३१७।।

अज्ञानमित्यजडबोधेति= जो चेतन बोध स्वरुप का तिरस्कार अर्थात् आत्मा को आवृत्त करना यह (प्रकृति) स्वभाव— यही अज्ञान है, ऐसी प्रसिद्धि है। इस प्रकार से आत्मा में न जानामि मैं नहीं जानता हूँ ऐसे अनुभव की अनुपपत्ति नहीं है। अर्थात् मैं आत्मा को नहीं जानता हूँ। ऐसे अनुभव की उपपत्ति है।

आशंका— अज्ञान में शब्द नञ् अनर्थ वाची अनुभूयमान है तो फिर अज्ञान भावरूप तो नहीं हो सकता। क्योंकि नञर्थ का अर्थ अभाव होता है

समाधान— यह आशंका ठीक नहीं है। नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा में अभाव स्वरूप अज्ञान अर्थात् ज्ञानाभाव तो सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये जो ज्ञान का विरोधी तथा भाव रूप हो ऐसा ही अज्ञान स्वीकृत करना पडता है। जैसे पाप शब्द अधर्म वाची नियुक्त होता है। इसी प्रकार अज्ञान जो ज्ञान विरोधी तथा भावरूप स्वीकृत किया जाता है।

आशंका— अधर्म वाची जहां पाप शब्द का प्रयोग किया जाता है वहां किसी महाजन

के व्यवहार से भावत्व की सिद्धि निश्चित होती है।

समाधान– यहां भी अज्ञान शब्द से भावत्व की सिद्धि जो सब में प्रसिद्ध है कि जाड्य मौढ्य इन व्यवहारों से अज्ञान के भावत्व की सिद्धि निश्चित होती है। इसी आशय से कहा जा रहा है।– जाड्यं चेति। अर्थात् अज्ञान जो भावस्वरूप है वह प्रकाश विरोधी स्वभाव वाला है।

आशंका– अज्ञान को जड रूप नहीं मानेंगे। जडता का अर्थ "ज्ञानान्यत्व" ज्ञानभिन्नत्व करेंगे अथवा ज्ञात्रन्यत्व "ज्ञाता से भिन्न अर्थ करेंगे, तो अज्ञान को जाड्यत्व इस अर्थ परक लेंगे। भावपरक तो नहीं लेंगे। तो अज्ञान फिर भी भावरूप सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान= ज्ञानान्यत्व तथा ज्ञातृ अन्यत्व जाड्यत्व का अर्थ करने पर अन्यत्व, (भिन्नत्व) एकरूप न होने से- ३२२ वे श्लोक में कहा जाने वाला सब में एक अनुगत जड बुद्धि का संग्रह नहीं हो पायेगा। यह बात तो सही है कि यद्यपि अज्ञान तो एक ही है तथापि जड प्रपञ्च में वह अज्ञान अनुगत होने से जाड्यता का व्यवहार भी सभी पुरुषों में मोहात्मक अज्ञान को लेकर किया जाता है। इस प्रकार यह अज्ञान भावरूप ही है यह बात पक्की हो गई।

आशंका= अजड (चेतन) बोध का तिरस्कार स्वरूप है। यह कहना अयुक्त है क्योंकि जो प्रकाशमान स्वरूप ऐसा अद्वय आत्मा उसका दूसरे से अप्रकाशमानता कैसी संभव होगी

समाधान= आत्मा से अतिरिक्त दूसरा, तो वह दूसरा क्या वास्तविक मानकर वह वस्तुतः सद्रूप आत्मा को प्रकाशमान नहीं होने देता। ऐसा कहना है, कि दूसरा जो अनिर्वचनीय है– जिसके कारण आत्मा को प्रकाशमान नहीं होने देता है।

इस में पहिला विकल्प जो मेरी इष्ट सिद्धि करता है। क्योंकि न तो आत्मा से अतिरिक्त वस्तुभूत द्वितीय वस्तु है, और उसके दूसरे वस्तु के न होने से अप्राकाशमानत्व आ नहीं सकता।

अब रह गया दूसरा विकल्प "अनिर्वचनीयेनानिर्वचनीयम्"– क्योंकि अनुभव का विरोध है। क्योंकि अनिर्वचनीय ऐसी आत्मा से भिन्न दूसरी वस्तु, उसने अनिर्वचनीय ने स्वरूप की प्रकाशमानता नहीं होने दी। तो यह विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि अनुभव का विरोध हो जाता है। (टिप्पणी) अनिर्वचनीय अज्ञान से अनिर्वचनीय प्रकाशाभाव को स्वीकार न करने पर अहं आत्मानं न जानामि का विरोध होगा।

आशंका= कई बार अनुभव सिद्ध होने पर भी इसे उपयुक्त नहीं माना जाता है अतः अनुभव विरोध होने पर भी इसे अनुपयुक्त माना जाय।

समाधान= इसी लिये हमने इसको अज्ञान को अनिर्वचनीय कहा है।

आशंका= जो उपपन्न (युक्तियुक्त) होवे उसे अनिर्वचनीय कैसे कहे इस पर कहते हैं—

समाधान= साचेति। अतिदुस्थितवपुः= जिसका निरूपण करना बडा कठिन है उसे ही तो अनिर्वचनीय कहते हैं। क्योंकि जो अद्वितीय ज्ञान स्वरूप को आलिङ्गन देता है, आत्मा का आश्रय लेकर इस आत्मा को ही आवृत्त करता है, ये दोनों बातें बड़ी दुर्घट ही है। और ये दोनों बातें इस अज्ञान में सम्भव हो जाती है। अद्वितीय में द्वितीयभाव प्रकाशमान् आत्मा में अप्रकाशमान् भाव वस्तुतः सत् नहीं हो सकता। लेकिन यह अज्ञान यह सब करा देता है। अपने से अत्यन्त विरोधि पदार्थ का आश्रय लेना यह है तो बडा दुस्थर कार्य तथापि अज्ञान यह सब करने में बडा तत्पर है मायायां सर्वसम्भवात्।। इसलिये दृष्टान्त प्रदान कर रहे हैं। घृतपिण्ड इति। इध्दं प्रज्वलित दीपक को जैसे घी आलिङ्गन देता है जब तक घृत पिण्ड पिघलता नहीं है तब तक ज्योति को ढक देता है। इसी प्रकार से प्रकाश ज्ञान स्वरूप आत्मा को यह अज्ञान ढक देता है।

ननु यद्यज्ञानस्यात्माश्रस्तदा तद्विषयोऽन्यो वाच्य इत्यात्मावरणं तन्न स्यात्। घटादिज्ञानादावाश्रयविषययोर्भेददर्शनादज्ञानेऽपि तस्य वक्तव्यत्वात्, अन्यथाऽऽत्मा तदाश्रयो न स्यादित्याशङ्क्य तमस्त्वाद्बाह्यतमोवत्तदेकाश्रयविषयम्, तमस्त्वं च तस्य श्रुतिपुराणादौ तमःशब्दतत्पर्यायैर्व्यवहारात्सिद्ध्यतीत्याशयेनाह— .

आशंका= यदि अज्ञान का आश्रय आत्मा है। तब तो अज्ञान का विषय दूसरा आत्मातिरिक्त पदार्थ होना चाहिये। इसप्रकार आत्मा का आवरक अज्ञान है यह बात सिद्ध नहीं होती हैं। घटादि ज्ञान प्रसंङ्ग में जैसे वृत्ति ज्ञान का आश्रय अन्तःकरणादि होते हैं और विषय घाटादिपदार्थ होते हैं। तो ये आश्रयत्व और विषयत्व दोनों अलग अलग देखे जाते हैं। इसीप्रकार से अज्ञान के विषय में भी ऐसा ही होना चाहिये कि आत्मा आश्रय हो और आत्मातिरिक्त पदार्थ विषय हो। जो अज्ञान उनको ढक सकें। यदि इस बात को सिद्धान्त को न माना जाय तब तो आत्मा अज्ञान का आश्रय नहीं होगा।

समाधान= जैसे बाह्य अन्धःकार उसका आश्रय और विषय दोनों एक ही घर में रहते हैं। और इस तम की अन्धःकार की सिद्धि श्रुति पुराणादिक में तम शब्द के द्वारा तथा तदर्थ वाचि अनेक पर्यायवाची शब्दों के द्वारा होती है इस आशय से कहा जा रहा है—

चिद्वस्तुनश्चिति भवेत्तिमिरं तमिस्त्रं
तामिस्त्रमन्धतमसं जडिमा तमिस्त्रा।।
माया जगत्प्रकृतिरच्युतशक्तिरान्ध्यं
निद्रा सुषुप्तिरनृतं प्रलयो गुणैक्यम्।।३१८।।

अन्वयः— चिद्वस्तुनः चिति तिमिरं तमिस्त्रं, तामिस्त्रम्, अन्धतमसं, जडिमा, तमिस्त्रा, माया, जगत् प्रकृतिः अच्युत शक्तिः आन्ध्यं निद्रा, सुषुप्तिः, अनृतं, प्रलयः गुणैक्यं भवेत्।।३१८।।

अन्वयार्थः— चिद्वस्तु को विषय करने वाला चिद्वस्तु में ही अज्ञान तिमिर तमिस्त्र तामिस्त्र, अन्ध तमस, जडिमा, तमिस्त्रा, माया, जगत् प्रकृति, अच्युत शक्ति, आन्ध्य, निद्रा, सुषुप्ति अनृत, प्रलय और गुण साम्य शब्दों से प्रसिद्ध हो जाता है।।३१८।।

चिद्वस्तुन इति। चिद्रूपं यद्वस्तु परमार्थसत्तस्य या स्वरूपभूता चित् तस्यां तिमिरं भवेदिति योजना। चितीति विषयसप्तमी चिद्विषयमित्यर्थः। लौकिकात्मज्ञानादावाश्रय-विषयाभेदेन भेदेन सविषयत्वस्य व्यभिचारादज्ञानमेकाश्रयविषयं भवेदिति भावः। ननु मायाऽऽत्मश्रयाऽऽत्मविषया च श्रुत्यादौ प्रसिद्धा, सा किमेतस्मादज्ञानादन्या, नेत्याह—मायेति। एवं प्रकृतिर्विष्णुशक्तिरिति च श्रुतमज्ञानमेवेत्याह—जगत्प्रकृतिरच्युतशक्तिरिति। आन्ध्यमिति। प्रकाशतिरोधायकत्वादज्ञानमुच्यते। निद्रेति। विविधप्रपञ्चहेत्वज्ञानं प्रकर्षेण लीयन्ते सर्वाणि कार्याण्यस्मिन्निति प्रलयः सत्त्वरजस्तमसां गुणानां समुदायरूपं गुणैक्यं च तदेवेत्यर्थः।।३१८।।

चिद्वस्तुन इति। चिद्रूप (ज्ञानस्वरूप) जो आत्म वस्तु है, जो परमार्थ सत्तास्वरूप है जिसका ज्ञान स्वरूप है, उसमें तिमिर— अन्धःकार है। ऐसी योजना करना। चितीति— विषय सप्तमी अर्थात् चैतन्य को विषय बनाता है। श्लोक में जो आत्मा परोक्ष ज्ञानादि से युक्त है, उनमे मैं अज्ञानी हूँ मैं मूढ हूँ इत्यादि स्थल में आत्मा ही इस अज्ञान का आश्रय और विषय दोनों अभेद रूप से माने जाते हैं। या यह कहिये कि मैं अज्ञानी हूँ ऐसा जो लौकिक आत्मा का ज्ञान है उसके विषय और आश्रय दोनो आत्मा ही है। यदि विषय और आश्रय दोनां भिन्न भिन्न मानें जाय तो विषयत्व का व्यभिचार होगा। क्योंकि अज्ञानी जडता मूढता मन्दता आदि विषय तो परस्पर भिन्न भिन्न होने से बदलते रहेंगे जबकि आश्रय आत्मा एक ही रहेगा। अतः आत्मा ही आश्रय और वही विषय है ऐसा मानना पडेगा। व्यभिचार कहते हैं साध्याभाववद् वृत्ति को। प्रकृत में मूढतागतविषयता अभाववान् मन्दता हुई वहां आत्माश्रयत्व दोष हेतु है। अतः अनुमान का आकार अज्ञानम् आत्मविषयकम् आत्माश्रयत्वात् यथा गृहाश्रित्तमः।। आत्मा में अज्ञान विषयता न मानने पर व्यभिवार दोष होगा। वह लिख

दिया है।।

आशंका= माया तो आत्माश्रित रहती है और आत्मा को ही विषय बनाती है यह बात तो श्रुति में प्रसिद्ध है। तो वह माया इस अज्ञान से अतिरिक्त है क्या?

समाधान= नहीं। वह एक ही है। मायेति= माया और अज्ञान दोनों एक ही है। इस प्रकार प्रकृति कहिये, विष्णु शक्ति कहिये, यह सुनाई देने वाले शब्द अज्ञान के ही पर्यायवाची हैं। इसीलिये कहा है जगत् प्रकृतिरच्युतशक्तिरिति= जगत् को बनाने वाली प्रकृति वही अच्युत की शक्ति है। आन्ध्यमिति= प्रकाशावरकत्व से इसे अज्ञान कहते हैं। निद्रेति= इसे निद्रा भी कहते हैं क्योंकि नानाप्रकार के प्रपञ्च की रचना करने वाला अज्ञान उस अज्ञान में प्रकर्षेण रूपेण (विशेष रूप से) सभी कर्म लीन हो जाते हैं। इसे ही तो प्रलय कहते हैं। अर्थात् सत्त्वरज तमोगुण की एक लीन अवस्था उसे निद्रा कहते हैं– तो यह शब्द भी अज्ञान का ही पर्यायवाची है।

नन्वहमज्ञ इति जीवाश्रयं तदनुभयते एवं विषयोपि ब्रह्म न जानामीत्यनुभवात्तस्य ब्रह्मैव, तत्कथं 'चिद्वस्तुनश्चिति भवेत्' इत्युक्तं तत्राह–

आशंका= "अहमज्ञ" मैं अज्ञ हूँ इस प्रतीति से तो अज्ञान का आश्रय जीव ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार से अज्ञान का विषय ब्रह्म होगा क्योंकि न जानामि इस अनुभव से तो ब्रह्म ही इस अज्ञान का विषय होगा। तो फिर यह कैसे कहा कि "चिद्रवस्तुश्चिति भवेत्" आत्मा ही अज्ञान का आश्रय और विषय दोनों ही है। इस पर उत्तर दे रहे हैं–

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी
निर्विभागचितिरेव केवला।।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो
नाश्रयो भवति नापि गोचरः।।३१६।।

अन्वयः= केवला निर्विभागचितिरेव आश्रयत्व विषयत्व भागिनी। पूर्व सिद्धितमसः हि पश्चिमः नाश्रयो भवति, नापि गोचरः।।

अन्वयः= केवल अविभक्त चिति ही (अज्ञान का) आश्रय और विषय होती है। पूर्व सिद्ध विभद् अज्ञान का पश्चाद्भावी (जीव) न तो आश्रय होता है और न विषय।।३१६।।

आश्रयत्वविषयत्वेति। अज्ञानस्येति शेषः। अज्ञानस्याश्रयत्वं विषयत्वं च भजत इत्याश्रयत्वविषयत्वभागिनी। केवला अद्वितीयैव अत एव निर्विभगा जीवेश्वरविभागरहिता।

न चैवं प्रदर्शितानुभवविरोधस्तस्यान्यथासिद्धत्वादन्यथाऽन्योऽन्याश्रयः स्यादित्याशयेनाह— पूर्वसिद्धेति। स्वसत्ताप्रयोजकाज्ञानस्येत्यर्थः। हिर्हेतौ। यतो जीवेश्वरविभागसत्त्वप्रयोजकमज्ञानं ततः पश्चिमस्तत्प्रयोज्यो ब्रह्मविभक्तो जीवस्तद्विभक्तं ब्रह्म च यथाक्रमं नाश्रयो भवति नापि गोचरः। यद्यपि जीवेश्वरविभागादिरनादिस्तथापि स न वास्तवः, मायिकस्तु सोऽद्वयब्रह्मानवभासदशायामेव भवतीति तदज्ञानाधीनसत्ताक एव। अज्ञानं तु स्वसत्तायां विभागादिसत्त्वं नापक्षत इति न तत्प्रयोज्यम्। एवं चानादिभूतोऽपि जीवब्रह्मविभागोऽज्ञानविकार एव। एतदभेप्रेत्य पूर्वसिद्धेत्याद्युक्तम्। ततश्चात्मन्यज्ञानसत्त्वम्, अज्ञानस्य विभक्तजीवे चैतन्याश्रयत्वं तदधीनं सत्त्वमित्यन्योऽन्याश्रयः। अहमज्ञ इत्यादिप्रतीतिस्त्वज्ञानाश्रयपूर्णचैतन्यस्यैवाहंकाराद्युपहितया तत्रापि तत्संभवादुपपद्यते। अत एवैतदनुभवादहंकाराश्रयं ब्रह्मविषयं तदिति प्रत्युक्तम्। अज्ञानस्य केवलजडवृत्तित्वानुपपत्तेश्च। एवं विषयोऽपि पूर्णं ब्रह्मैवेति वक्ष्यत इति चिद्वस्तुनश्चितीत्युपपन्नमिति भावः।।३१६।।

आश्रयत्वविषयत्वेति= अज्ञान का आश्रय और विषय दोनों एक ही है। अर्थात् अज्ञान का आश्रयत्व और विषयत्व दोनों ही उपपन्न हो जाते हैं इसलिये कहा "आश्रयत्वविषयत्व भागिनी"। केवला= अद्वितीय ही। इसी कारण निर्विभागा= जीवेश्वरादि विभाग से रहित ऐसी चिति= (शुद्ध ब्रह्म) ही उक्त अज्ञान का आश्रय तथा विषय दोनों ही है।

आशंका= "अहमज्ञ" इस अनुभव के साथ विरोध होगा। क्योंकि इस में आश्रय तो जीव है और विषय ब्रह्म है यह बताया है।

समाधान= यह अनुभव अन्यथासिद्ध है। यदि इस अनुभव को, प्रमाण माना जाय तब तो "अन्योन्याश्रय" दोष उत्पन्न होगा। वह इस प्रकार पूर्वसिद्धेति= जो अज्ञान पहिले से सिद्ध है उसका आश्रय उत्तरवर्ती जीव नहीं हो सकता। यदि ऐसा मानें तो? जीव के सिद्धि के लिये अज्ञान की आवश्यकता और अज्ञान को अपने सिद्धि के लिये जीव की आवश्यकता, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा। इस अन्योन्याश्रय दोष को हटाने के लिये कहते हैं— पूर्वसिद्धेति।— अपने ही सत्ता के प्रयोजक अज्ञान की। हि= हेतु से। जिस कारण से— जीव और ईश्वर के विभाग के सत्ता का प्रयोजक अज्ञान, उससे, पश्चिमः= इस अज्ञान से प्रयोज्य ब्रह्म से विभक्त जीव, और जीव से विभक्त ब्रह्म, क्रम से जीव न आश्रय बनेगा, और यथा क्रम से ब्रह्म विषय नहीं बनेगा। यह बात अलग है कि जीव और ईश्वर का विभाग वास्तविक नहीं है। यह विभाग तो मायिक होने से, अद्वय ब्रह्म का अवभास न होने की दशा में ही होता है इसलिये जीव और ईश्वर का विभाग तो

अज्ञान के सत्ता की अपेक्षा नहीं करता है। इसलिये अज्ञान अपनी सत्ता में किसी का प्रयोज्य नहीं है। इस प्रकार से जीव ब्रह्म का विभाग अनादिकालीन होने पर भी है तो वह अज्ञान का ही विकार। इसीलिये कहा कि पूर्वसिद्धौ इत्याद्युक्तम्। पूर्वसिद्ध जो अज्ञान उस को अपने सिद्धि के लिये और किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं पड सकती इत्यादि। इस प्रकार आत्मा में अज्ञान की सत्ता स्वीकृत की गई। तो अज्ञान को चैतन्याश्रयत्व ब्रह्म से विभक्त जीव में मान लिया। और जब ऐसा जीव अज्ञान का आश्रय बनेगा तो अज्ञान की स्वीकृति होगी। अर्थात् अज्ञान का आश्रयत्व जीव भाग को लेकर हुवा। और जब जीव में अज्ञान की आश्रयता आई तब अज्ञान की सत्ता सिद्ध हुई यह अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हुआ।

"अहमज्ञ" मैं अज्ञानी हूँ, इत्यादि प्रतीति तो अज्ञान का आश्रय पूर्ण, चैतन्य रूप ब्रह्म मानने पर भी अहंकारादिक के उपाधि द्वारा भी "अहमज्ञः" मैं भी अज्ञानी हूँ ऐसी प्रतीति जीव को आश्रय मानकर हो सकती हे। इसलिये "अहमज्ञ" इस अनुभव के आधार पर अहंकारादिक को आश्रय बनाने वाला तथा ब्रह्म को विषय बनाने वाला अज्ञान ही है यह बता ही दिया है। इस के बराबर है। तो अज्ञान को केवल अहंकारादि आश्रित जडवृत्ति ही नहीं कह सकते। इसी प्रकार से अज्ञान का विषय भी पूर्ण ब्रह्म ही है इसे आगे बतायेंगे इसलिये कहा कि "चिद्वस्तुनश्चिति" यह ठीक ही कहा है।

एवं स्वतःस्फुरणरूपात्मनि ज्ञानाभावासंभवात्तदावरणस्वभावमज्ञानं स न संभवतीत्युक्तम्। इदानीं लोकेऽप्यज्ञानमनुभूयमानं स न संभवति। यद्यपि वृत्त्यधीनप्रकाशस्य घटादेर्वृत्यभावेना-स्फुरणं संभवति तथापि तस्यानावरणत्वादावरणविषयस्य न जानामीत्यनुभवस्य स विषयो न भवितुमर्हतीत्याशयेनाह—

इसप्रकार से स्वतः स्फुरण स्वरूप आत्मा में ज्ञान का अभाव नहीं होने के कारण उस ज्ञान को ढकने वाले स्वभाव वाले अज्ञान को ज्ञानाभाव रूप नहीं मानना चाहिये, यह कह दिया है।

अब इधर श्लोक में हम देखते हैं कि अज्ञान का अनुभव भी होता है तो भी उसे ज्ञानाभाव रूप नहीं माना जा सकता।

यद्यपि वृत्ति के अधीन जहां प्रकाश है, और अंधेरे में घटादि आकार की वृत्ति न होने से घट का अस्फुरण हो जाता है, तो भी ज्ञानाभाव आवरक स्वभाव वाला न होने से, आवरण का विषय का "न जानामि" मैं नहीं जानता हूँ इस अनुभव का वह ज्ञानाभाव विषय नहीं हो सकता इस आशय से कहा जा रहा है—

नाभावताऽस्य घटते वरणात्मकत्वा-
न्नाभावमावरणमाहुरभावशौण्डाः।।
अज्ञानमावरणमाह च वासुदेव-
स्तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः।।३२०।।

अन्वयः= अस्य अभावता न घटते, वरणात्मकत्वात्। अभावशौण्डाः अभावं आवरणं न आहुः। वासुदेवः अज्ञानं आवरणं आह। तेन वयं तत् भावरूपं प्रतीमः।।३२०।।

अन्वयार्थ= अज्ञान में अभावरूपता सम्भव नहीं है। क्योंकि वहां आवरण रूप होने से। तत्त्वाभिज्ञ विद्वान् अभाव को आवरण रूप नहीं कहते। भगवान वासुदेव ने भी अज्ञान आवरण रूप कहा है। अतः अज्ञान भाव रूप है यह मानते हैं।।३२०।।

नाभावतेति। अस्याज्ञानस्य। तत्र हेतुर्वरणात्मकत्वादिति। आवरणस्वभावत्वादित्यर्थः। नन्वभावस्याप्यावरणत्वं किं न स्यात्तत्राह-नाभावमिति। अभावशौण्डाः अभावपदार्थनिरूपणे समर्था वैशेषिकादयः तेऽपि ह्यभावं नावरणमाहुः। आवरणत्वस्य भावधर्मत्वनियमात् मानाभावस्य विशेषतो नावरणम्। यत आवरणस्य ज्ञानाभावो न प्रयोजकः अतस्तत्प्रयोजकमन्यदेवारणं वक्तव्यमित्यर्थः। ननु मा भूदज्ञानमावरणमिति चेत्, तन्न। न जानामीत्यनुभवविरोधात्। किं चाज्ञानेनावृतंज्ञान-मित्यादिभगवद्वचनमपि तदा विरुद्ध्येयतेत्याह- अज्ञानमावरणमिति। ततश्चावरणत्वात् प्रसिद्धमेवाद्यावरणवदज्ञानं भावरूपमिति निगमयति-तद्भावरूपमिति।।३२०।।

नाभावतेति= इस अज्ञान को अभाव रूप नहीं मान सकते। क्योंकि "वरणात्मकत्वादिति अभाव आवरक नहीं होने से। आवरण स्वभाव अभाव का नहीं है।

आशंका= अभाव में आवरण क्यों न माना जाय?

समाधान= नाभावमिति= अभावशौण्डाः= अभाव पदार्थ के निरूपण के समर्थ न्याय वैशिषकादि वे भी अभाव को आवरण शक्ति युक्त नहीं मानते। क्योंकि आवरणता धर्म तो भाव पदार्थ का ही होता है। भाव से भिन्न अभाव पदार्थ में खास करके आवरणता होती ही नहीं है। इसलिये ज्ञानाभाव आवरण का प्रयोजक नहीं होने से इस आवरण का प्रयोजक ज्ञानाभाव से भिन्न ही (अज्ञान) मानना पडेगा।

आशंका= अज्ञान को ही आवरण परक नहीं माना जाय।

समाधान= नहीं, नहीं। अज्ञान तो आवरण धर्मवाला है ही। अन्यथा न जानामि, मैं नहीं जानता हूँ इस अनुभव का ही विरोध होगा। इसी प्रकार— "अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं"

ऐसे भगवान् श्रीकृष्णजी का भगवद् गीता का वचन भी विरूद्ध हो जायेगा। अज्ञानमावरणमिति। इस कारण आवरक होने से प्रसिद्ध ही आवरणरूप आद्यमूल अज्ञान के समान भावरूप अज्ञान को स्वीकार करना पडता है। यत्र निरवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठा मूलाविद्या तत्रसावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठा तूलाविद्या है, ऐसा निगमन कर रहे हैं। तद्भाव रुपमिति—वह अज्ञान भाव स्वरूप ही है, यह सिद्ध हुवा। अर्थात् अज्ञानम्, भावरूपम् चैतन्यावरकत्वात् (आवरणकत्वात्) यथातमः आवरण के स्वभाव युक्त होने से भाव स्वरूप है।

भगवव्द्यासवचनेनापि तस्यावरकत्वमाह—

भगवान् व्यासजीने भी अज्ञान में आवरकत्व शक्ति मानी है।।३२१।।

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रु-
रज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।।
येनावृतः कुरुते संप्रमत्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि।।३२१।।

अन्वयः= राजन् पुरुषस्य एकः शत्रुः अज्ञानतुल्यो द्वितीय शत्रुः नास्ति। आवृत्तः संप्रमत्तः घोराणि सुदारूणानि कर्माणि कुरुते।।

अन्वयार्थः= हे राजन् पुरुष का एक ही शत्रु है वह है अज्ञान इसके समान दूसरा शत्रु नहीं है। जिससे आवृत्त तथा प्रमादी बनकर यह पुरुष घोर सुदारूण कर्मों को कर बैठता है।

एकः शत्रुरिति। येनाज्ञानेनावृतं इत्येतत्पदमत्रोपजीव्यम्। घोराण्यतिगर्हितानि पापादीनि, सुदारुणानि दीनदरिद्रस्वापहरणादीनि।।३२१।।

एकः शत्रुरिति= जिससे यह सिद्ध होता है कि "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं" यह पद यहां उपजीव्य है इस अज्ञान शत्रु के कारण ही तो, घोराणि= अति कुत्सित, निन्दनीय पापादिकर्म जीव करता है, सुदारुणानि= दीन, दरिद्र लोगों के धन को भी हरता है आदि आदि। तो व्यास जी का यह वचन भी प्रमाण है।

एवमजडबोधतिरस्क्रियात्मत्वं नाभावस्य संभवतीति भावरूपाज्ञानस्यैव तदित्युपपादितम्। इदानीं "जाड्य मौढ्यमिति च" इत्युक्तं जाड्यमौढ्यात्मकत्वमपि तस्योपपादयति—

इसी प्रकार से अजडबोध (चेतन बोध) स्वरूप का तिरस्कार करना यह काम भी अभाव का (ज्ञानाभाव का) नहीं हो सकता। यह काम तो भावरूप अज्ञान का ही सम्भव

है। यह प्रतिपादित किया। अब इसी अज्ञान में "जाड्यं च मौढ्यमितिच" जडात्मकता तथा मूढात्मकता दोनों भी है इसका प्रतिपादन भी किया जा रहा है—

जाड्यं जगत्यनुगतं खलु भावरूपं
मौढ्यं च पुंगतमिति प्रतिभाति तादृक्।।
जाड्यं च मौढ्यमिति चानुभवप्रसिद्ध-
मज्ञानमाहुरपवर्गपिधानदक्षम्।।३२२।।

अन्वयः= जगति अनुगतं जाड्यं भावरूपं खलु, पुङ्गतं मौढ्यमपि च तादृक् प्रतिभाति, जाड्यं मौढ्यमिति च अनुभवप्रसिद्धं अज्ञानं अपवर्गाभिधानदक्षं आहुः।।३२२।।

अन्वयार्थः= जगत् में अनुगत जडता भावरूप है, पुरुषगत मौढ्यता भी वैसी ही प्रतीत होती है। जडता और मूढता के रूप में अनुभव सिद्ध अज्ञान ही ब्रह्म का आच्छादक कहा है।।३२२।।

जाड्यं जगतीति। यद् घटपटादिजडप्रपञ्चे इदं जडमिदं जडमित्यनुगतव्यवहारास्पदं जाड्यं तद्भावरूपं चेतनान्यत्वादेर्भावाभावनिखिलजड़ानुगतस्यैकस्यासंभवात्। एवं मौढ्यमपि जीवनिकायानुगतं भावरूपम्। ततः किमित्यत आह-जाड्यं चेति। कारणतया जगत्यनुगता-ज्ञानव्यतिरिक्तानुगतजाड्यकल्पने जीवत्वाद्युपाधितया निखिलजीवसम्बन्ध्यज्ञानान्यमौढ्यकल्पने च प्रमाणाभावादनुभवसिद्धमज्ञानमेव तदुभयमिति तदात्मकमज्ञानं भावरूपमित्यर्थः।।३२२।।

जाड्यं जगतीति= जो घटपटादि जडप्रपञ्च है उसमें यह जड है, यह जड है ऐसे अनुगत व्यवहार के लिये जाड्य जो भावरूप तथा जो चेतन से भिन्न भी है, तो चेतन से भिन्नत्व रूप जाड्य को मानने से भाव अभाव सम्पूर्ण जड प्रपञ्चानुगत एक रूप भाव रूप नहीं हो सकता। क्योंकि कोई अभाव रूप पदार्थ सब में अनुगत नहीं रह सकता। इसी प्रकार से मौढ्यमपि= मूढभाव भी जो सभी जीवों में अनुगत भाव स्वरूप है। इससे क्या लाभ हुवा? उत्तर देते हैं।-- जाड्यं चेति= अज्ञान ही इन सबका कारण है। अतः कारण के दृष्टि से जगत् में अनुगत अज्ञान ही है। और ऐसे अज्ञान के अतिरिक्त और किसी की जगत् में अनुगत की कल्पना करने में, तथा जीवत्वादिक को उपाधि मानना पडेगा। जिससे निलिख जीवों के सम्बन्धी अज्ञान से अतिरिक्त मौढ्य की कल्पना करनी पडेगी। जिसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। इसलिये अनुभव सिद्ध अज्ञान ही जाड्य तथा मौढ्य उभय रूप है। इन दोनों के स्वरूप को संपादित करने वाला अज्ञान भावरूप है, यह निश्चित हुवा।

इदानीं प्रकृतिरिति प्रागुक्तमज्ञानस्य जगत्प्रकृतित्वमुपपादयितुं प्रक्रमते। तत्रेयं शङ्का,

ननु सूत्रकारेण "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्" इति सूत्रेण ब्रह्मैव जगत्प्रकृतिर्वेदान्तार्थ इति निरूपितं तत्कथमज्ञानं प्रकृतिरिति तत्राह—

अब प्रकृति शब्द के ऊपर विचार करते है। अज्ञान को जगत् प्रकृति माना है, अब उसी पर विचार प्रारम्भ करते हैं।

आशंका= "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्" इति इस सूत्र से तो ब्रह्म को ही जगत् की प्रकृति वेदान्त ने स्वीकृत किया है फिर अज्ञान कैसे जगत् की प्रकृति बन सकता है। इस पर उत्तर देते हैं —।

साभासमेतदुपजीव्य चिदद्वितीया
संसारकारणमिति प्रवदन्ति धीराः।।
साभासमेतदिति संसृतिकारणत्वे
द्वारं परं भवति कारणता दृशस्तु।।३२३।।

अन्वयः= साभासं एतद् उपजीव्य अद्वितीया चित् संसार कारणमितिधीराः प्रवदन्ति। संसृति कारणत्वे साभासमेतत् परं द्वारं भवति, कारणता तु दृशः।।३२३।।

अन्वयार्थः= साभास अज्ञान का आश्रयण करके ही अद्वितीय ब्रह्म संसार का कारण बनता है, ऐसा ब्रह्म निष्ठ आचार्य कहते हैं। संसार की कारणता में साभास (आभास सहित) अज्ञान ही द्वार होता है। कारणता तो चेतन में ही रहती है।।३२३।।

साभासमिति। चैतन्यच्छायायुक्तमित्यर्थः। एतदज्ञानमुपजीव्य घटकतयाऽश्रित्य संसारस्य वियदादिप्रपञ्चस्य कारणम्। धीराः कूटस्थब्रह्मनिष्ठाः। ब्रह्म हि स्वरूपनिष्प्रपञ्चतारूपां शुद्धिधीराः कूटस्थब्रह्मनिष्ठाः। ब्रह्म हि स्वस्य निष्प्रपञ्चतारूपां शुद्धिमपरित्यजदेव संसारकारणमिति वक्तव्यं "कूटस्थमचलं ध्रुवं, निष्कलं निष्क्रियम्" इत्यादिश्रवणात्। तादृशकारणत्वं प्रपञ्चविभ्रमाधिष्ठानतयैव निर्वहति, सर्पाधिष्ठानरज्ज्वादेस्तदानीमपि स्वरूपस्थितिदर्शनात्। विभ्रमाधिष्ठानत्वं च विवर्त्तमानाज्ञानमनुपजीव्य न सिद्ध्यति स्वस्यैव तथा परिणामे पूर्वरूपनाशप्रसङ्ग इति ब्रह्मकारणतासिद्ध्यर्थमज्ञानमपि जगत्प्रकृतिरिति स्वीकर्त्तव्यमिति भावः।

नन्वज्ञानं चेज्जगत्प्रकृतिस्तर्हि तदेव जगदुपादानमस्तु, ब्रह्मकारणताश्रुतिस्तु तस्य निमित्ततयाऽप्युपपद्यते इत्याशङ्क्य किं स्वतन्त्रमज्ञानं प्रपञ्चनिदानं स्यात् किंवाऽऽत्मन्य-ध्यस्तम्। नाद्यः, जड़स्य स्वातन्त्र्यायोगात्, तत्तत्कार्ययोः(१) (तत् अज्ञानं तत् कार्यं च

तयोः।) सत्तास्फूर्त्यभावप्रसङ्गाच्चेत्यभिप्रेत्य द्वितीये आह-साभासमेतदिति। आसमन्ताद्भासत इत्याभासं स्वप्रकाशमनवच्छिन्नं ब्रह्म तत्सहितं तत्तादात्म्यापन्नं साभासमज्ञानमित्यर्थ। अध्यस्तस्य हि अधिष्ठानमेव स्वरूपमिति तत्ततो निष्कृष्टं कारणं न भवितुमर्हति किं तु दृशः संसृतिकारणत्वे विवर्त्ताधिष्ठानत्वे परं केवलं द्वारमुक्तविधया घटकं भवति, श्रुतिमत्कारणता तु दृश एवेति भावः।।३२३।।

साभासमिति= चैतन्य, छाया से युक्त। यह अज्ञान, उपजीव्य= घटक द्वार बनाकर होने से चैतन्याश्रित होकर के संसार कारणमिति= आकाशादि प्रपंच का कारण है। ऐसे धीराः प्रवदन्ति= कूटस्थ ब्रह्मनिष्ठ ऐसे धीर लोग अज्ञान को प्रपञ्च का कारण मानते हैं। अर्थात् चैतन्य इस अज्ञान का आश्रय होने के कारण उसे भी धीर लोग जगत् का कारण मानते है। ब्रह्म तो अपने मूल स्वभाव को निष्प्रपञ्चरुपता रूप शुद्धता का परित्याग नहीं करता हुवा संसार का कारण होता है, ऐसा बोलना चाहिये। "कूटस्थमचलं ध्रुवं" निष्कलं निष्कियम् ब्रह्म निष्कल, अचल ध्रुव तथा कूटस्थ एवं निष्क्रिय है, ऐसा श्रुतिप्रमाण है। तो ऐसे ब्रह्म में कारण तो भ्रमात्मक प्रपञ्च के अधिष्ठान रूप से ही हो सकती है। जैसे जिस समय में रस्सी में सर्प दिखाई देता है उस समय में भी रज्जु की (रस्सी की) स्वरूप स्थिति तो है ही।

भ्रमात्मक प्रपञ्च का अधिष्ठानत्व ब्रह्म में तभी संभव होता है, जब ब्रह्म का विवर्त रूप अज्ञान उसमें अनुपजीव्यत्व सिद्ध न होवे। अर्थात् अघटक सिद्ध न होवे (मुख्य सिद्ध न होवे) अर्थात् अज्ञान ब्रह्माश्रित अध्यस्त होवे तभी विभ्रम का अधिष्ठान ब्रह्म होता है। यदि ब्रह्म का परिणाम प्रपञ्च मानें तब तो ब्रह्म के पूर्व स्वरुप का नाश हो जायेगा। इसलिये ब्रह्म में कारणता सिद्ध करने के लिये अज्ञान को जगत् की प्रकृति, मानना पडता है।

आशंका= यदि अज्ञान ही जगत् की प्रकृति है तब तो उस अज्ञान को ही जगत् का उपादान कारण मानो, ब्रह्म में कारणश्रुति तो ब्रह्म को निमित्त कारण मानने से भी सिद्ध हो सकती है।

समाधान= क्या अज्ञान स्वतन्त्र रूप से प्रपञ्च का कारण मानते हो कि आत्मा में अध्यस्त होकर अज्ञान प्रपञ्च का कारण मानते हो? इसमें पहिला विकल्प ठीक नहीं है क्यो कि अज्ञान तो हुवा जड, और जो पदार्थ जड होता है वह स्वतन्त्र होकर किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि उस उस कार्य के प्रति कारण ज्ञान अपनी सत्ता और स्फूर्ति कार्य के पूर्ववर्त्ती नहीं रख सकता, जड होने से। इसलिये दूसरा विकल्प कहना पडेगा- साभासमेतदिति— "आसमन्ताद्भासत इत्याभासं" जो चारों ओर से भासित होता है, उसे आभास

कहते हैं। अर्थात् स्वप्रकाश अनवच्छिन्न ब्रह्म को आभास कहते हैं, उसके सहित अर्थात् उस चैतन्य के साथ तादात्म्यापन्न उसे साभास कहते हैं। अर्थात् अज्ञान ही साभास है तो अध्यस्त हुवा अज्ञान और अधिष्ठान हुवा चैतन्य। तो अध्यस्त का अधिष्ठान ही स्वरूप है। इससे अतिरिक्त अध्यस्त का कोई स्वरूप नहीं हे। फिर वह अध्यस्त अधिष्ठान से अलग हटकर कैसे कारण होगा। अर्थात् नहीं हो सकता। किन्तु चैतन्य ब्रह्म को दृशा स्वरूप को संसार का कारण मानने से यह ब्रह्म विवर्त का अधिष्ठान मानने से, परं= केवल= द्वारम्= उक्तप्रकार से, अज्ञान अध्यास के द्वारा कारण होगा बाकी श्रुति के द्वारा कारणता तो ब्रह्म में ही संपन्न होती है, यह बात है।

ननु सांख्यादिभिः साधर्म्यादिना जड़मेव जगत्कारणमनुमानादङ्गीकृतं तद्वत्त्वयाऽप्यङ्गीकर्त्तुमुचितमित्याशङ्क्य "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इतीक्षितुरेवोपादानत्वविषय-श्रुतिमाश्रित्य बादरायणेन सांख्यवैशेषिकादिपक्षस्य निरस्तत्वान्नैवमित्याह—

आशंका= सांख्यादिक के सिद्धान्तानुसार जो जगत् जड है तो उसका कारण भी जड (प्रकृति) प्रधान ही मानना चाहिये। प्रत्यक्ष से नहीं किन्तु अनुमान प्रमाण से ही अङ्गीकृत करना चाहिये।

समाधान= "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इति जो ईक्षण अवलोकन, संकल्पादिक करेगा वही उपादान कारण भी बनेगा। तो प्रधानादि तथा परमाणुआदि जड होने के कारण उनमें ईक्षणादि क्रिया न होने के कारण ये जगत् का उपादान कारण नहीं बन पायेंगे। इसी का निरूपण कर रहे हैं।

यावद् दृशोऽन्यदिह संसृतिकारणं तद्
वेदान्तवादिसमये न मतं जडत्वात्।।
यद्यज्जडं भवति संसृतिकारणं त-
न्नेति स्फुटं वदति सूत्रकृदत्र यस्मात्।।३२४।।

अन्वयः= दृशोऽन्यत् यावत् संसृतिकरणं, तावद् इह वेदान्तवादिसमये न मतम्। जडत्वात्। यस्मात् यद् यद् जडं भवति, तत् संसृतिकारणं नेति सूत्रकृत् स्फुटं वदति।।३२४।।

अन्वयार्थः= चेतन से भिन्न जो भी संसार कारण प्रसिद्ध है। वह वेदान्त सिद्धान्त में नहीं माना जा सकता। क्योंकि जड होने से। जो जड होता है वह संसार का कारण नहीं हो सकता। ऐसा भगवान् व्यास जी सूत्र में कहते हैं। (ईक्षतेर्नाऽशब्दम्)।।३२४।।

यावद् दृशोऽन्यदिति। इह जगति दृशोऽन्यद् यावत्तद्वेदान्तवादिसमये संसृतिकारणं

मतमिष्टं न, कुतो जडत्वाद्रज्जुसर्पवत्। न चाप्रयोजकम्। श्रुतिन्यायवित्सूत्रकारेणोक्तत्वादित्याशये-नोक्त- श्रुतेरनुग्राहकन्यायमूलं व्याप्तिमाह— यद्यज्जडमिति। स्फुटं वदतीति। "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादिसूत्रैरिति शेषः। अत्र वेदान्तशास्त्रे। अत्र जगति यद्यज्जडमिति वा सम्बन्धः।।३२४।।

यावद् दृशोऽन्यदिति= इस जगत् में ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् का और कोई कारण रूप से वेदान्त स्वीकृत नहीं करता है। संसार का कारण ब्रह्मातिरिक्त कोई भी नहीं हो सकता यह वेदान्त का सिद्धान्त है।

आशंका= इसमें हेतु क्या है?

समाधान= जड होने के कारण। जो वस्तु जड होती है उसमें ईक्षणादि या संकल्पादि नहीं होने के कारण वह कारण नहीं हो सकती। जैसे रज्जुसर्पवत्।

आशंका= इसमें हम अप्रयोजकत्व आशंका करें तो? कार्यमस्तु कारणमास्तु। अथवा हेतुरस्तु साध्यं मास्तु तो प्रकृत में यह होगा कि कारणत्व रहने पर और चेतनत्व मत रहने दो ऐसी आशंका उसे अप्रयोजकत्व आशंका कहेंगे।

समाधान= श्रुति के अनुसार न्याय करने वाले ऐसे व्यास जी महाराज जो श्रुति के न्याय पर अनुग्रह (कृपा) करने वाले हैं वे ही ऐसी व्याप्ति कह रह हैं यद्यज्जडमिति स्फुटंवदति= "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इस सूत्र के द्वारा ब्रह्मातिरिक्त पदार्थो में जगत् कारणता नहीं हो सकती है। अत्र वेदान्त शास्त्र में। अत्र= अथवा इस जगत् में जो पदार्थ जड होता है वह कारण नहीं बन सकता, ऐसा सम्बन्ध लगाना है।

किं च "रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्" इत्यादिना सूत्रकारेण प्राधान्येन जडकारणत्व-निराकरणादपि चेतनं ब्रह्मैवोपादानमुपेयामित्याह—

इसी प्रकार से "रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्" इत्यादि सूत्र से भी व्यास जी महाराजजी ने प्रधान रूप से जड पदार्थों में कारणता नहीं आ सकती, वह बताया है। अर्थात् जड पदार्थो में कारणता का निराकरण प्रधान रूप से व्यासजी ने रचनानुपत्तेश्च सूत्र में किया है। इससे भी चेतन ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है यह बताते हैं—

अजडकारणभावनिबन्धनं
सकलमेव जडं न तु कारणम्।।
इति हि वेदशिरस्सु विचक्षणाः
कपिलपक्षनिराकरणे जगुः।।३२५।।

अन्वय= सकलमेव जडं अजडकारणभावनिबन्धनं, नतु कारणम्, इति हि वेदशिरःस्सु विचक्षणाः कपिलपक्षनिराकरणे जगुः।।३२५।।

अन्वयार्थः= समस्त जड पदार्थ चेतन की कारणता में द्वार मात्र है न कि स्वयं कारण है। ऐसा वेदान्त विचक्षण आचार्यों ने सांख्यमत के खण्डन में कहा है।।३२५।।

अजडकारणेति। अजडकारणस्य भावः सत्ता तया निबद्ध्यते उत्पाद्यते इत्यजडकारण-भावनिबन्धनमित्यर्थः। यद्वाऽजडस्य चिदात्मनः कारणभावे कारणत्वव्यवहारयोग्यत्वे निबन्धनं द्वारं सकलमेव जडमविद्यादि न तु तत्कारणं स्वयमिति शेषः। कपिलादिपक्षनिराकरणे उद्देश्ये इत्यर्थः।।३२५।।

अजडं कारणेति= चेतन में कारणता, भावः= सत्ता इससे निबन्धनम्= निबद्धित है। अर्थात् चेतन ही कारण भाव युक्त है इस नियम से अथवा यह अर्थ करें अजड- चिदात्मा ही कारणस्वरूप होने से, कारणता के व्यवहार योग्य होने, से निबन्धनम्= द्वार, अर्थात् सम्पूर्ण जड अविद्यादि (द्वार) अपने आप स्वयं ही कारण नहीं बन सकते, यह भाव है। अर्थात् निबन्धन द्वारा शब्द से कपिलादि पक्षों का अपने आप ही निराकरण हुवा है।

एवं शुद्धमद्वयं ब्रह्मैवाविद्यातद्विवर्त्ताधिष्ठानतया श्रुतिसंमतं जगन्निदानम् अविद्या तु तद्धटकतयैव जगत्प्रकृतिरिति वेदान्ततन्निष्णातानां मतमुक्त्वा मतान्तरमनुवदति—

इस प्रकार शुद्ध अद्वय ब्रह्म ही अविद्या का तथा प्रपञ्च जो ब्रह्म का विवर्त है इन दोनों का अधिष्ठान ब्रह्म ही श्रुतिसम्मत है, वैसे जगत् का भी कारण अधिष्ठान रूप से ब्रह्म ही हुवा। अविद्या तो ब्रह्म को आश्रय बनाकर ही जगत् की प्रकृति बनी ऐसा वेदान्त का तथा वेदान्तनिष्ठावान् विद्वानों का मत बताकर सब मतान्तरों का (अनुवाद करते है) उल्लेख करते हैं—

शबलमात्मपदेन निगद्यते
सकलमात्मजमित्यपि च श्रुतिः।।
शबलमात्मपदं जगतस्ततः
प्रकृतिरित्यपरे तु जना जगुः।।३२६।।

अन्वयः= आत्मपदेन शबलं निगद्यते, शबलं आत्मजमित्यपि श्रुतिः (दर्शयति) ततः शबलं आत्मपदं जगतः प्रकृतिरिति च अपरे जनाः जगुः।।३२६।।

अन्वयार्थ= आत्मपद से विशिष्ट (अज्ञानविशिष्ट) चेतन कहा जाता है। सम्पूर्ण जगत् आत्मा से जन्य है, यह भी श्रुति कहती है। अतः विशिष्ट चेतन रूप आत्मा ही जगत् की प्रकृति उपादान कारण

हैं, ऐसा अन्य विद्वान् कहते हैं।।३२६।।

शबलमात्मपदेनेति। "आत्मन आकाशः संभूतः" इत्यादिवाक्ये आत्मादिपदेनाविद्याशबलं वस्तु निगद्यतेऽभिधीयते। ततः किं तत्राह— सकलमात्मजमिति। वियदादिसमस्तमात्मजमात्मनः संभूतमित्यपि च श्रुतिर्दर्शयतीति शेषः। ततोऽपि किं तत्राह शबलमात्मपदमिति। शबलात्मस्वरूपमित्यर्थः। यतः श्रुतिः सकलमात्मपदनिगद्याच्छबलात्संभूतमिति दर्शयति ततः शबलमात्मपदं प्रकृतिरिति संबन्धः।।३२६।।

शबलमात्मपदेन= "आत्मनः आकाशः संभूतः" इत्यादि वाक्य से आत्मा से आकाश उत्पन्न हुवा, आकाश से वायु आदि वाक्य में आत्मा शब्द से अविद्या (शबल) विशिष्ट चेतन का ग्रहण किया जाता है, निगद्यते- कथन किया जाता है। इससे क्या लाभ? तो बताते हैं सकलमात्मपदमिति- आकाशादि समस्त प्रपञ्च आत्मज आत्मा से उत्पन्न होता है इस प्रकार, श्रुति भगवती बताती है। इससे भी क्या लाभ हुवा तो बताते हैं शबलमात्मपदमिति। आत्म शब्द शबलार्थ है अर्थात् अविद्या विशिष्ट से है यह बात होती है। तात्पर्य यह कि जबकि श्रुति सम्पूर्ण प्रपञ्च की उत्पत्ति आत्म शब्दवाचि शबल आत्मा से (अविद्याविशिष्ट चैतन्य से) मानती है, तब तो शबल आत्मा ही जगत की प्रकृति है यह बात निश्चित होती है।

एवं शबलस्य जगत्प्रकृतित्वमुक्त्वा तन्मत एव तत्कर्तुस्ततो विशेषं सदृष्टान्तमाह—

इस प्रकार शबलात्मा जगत् की प्रकृति बता दिया है, इन्हीं विद्वानों के मतानुसार जगत् की उत्पत्ति की व्यवस्था भी विशेष रूप से दृष्टान्त के द्वारा समझा रहे हैं—

सुकृतदुष्कृतकर्मणि कर्त्तृतां
मतिगतात्मचितिप्रतिबिम्बकम्।।
व्रजति तद्वददः परमात्मनो
जगति याति तमः प्रतिबिम्बकम्।।३२७।।

अन्वयः= (यथा) मतिगतात्मचितिप्रतिबिम्बकं दुष्कृतसुकृतकर्मणि कर्तृतां व्रजति, तद्वत् जगति अदः, परमात्मनः तमः प्रतिबिम्बकम्।।३२७।।

अन्वयार्थः= (जैसे) बुद्धिगत चैतन्य प्रतिबिम्ब रूप जीवात्मा में ही पापपुण्य कर्मो का कर्तृत्व रहता है, वैसे यह (जगत् कर्तृत्व) भी अज्ञान गत परमात्म- प्रतिबिम्ब में रहता है।।३२७।।

सृकृतदुष्कृतेति। पुण्ये विहिते कर्मणि दुष्कृते प्रतिषिद्धे चेत्यर्थः। मतिरन्तःकरणं

तत्र यदात्मचैतन्यप्रतिबिम्बकं जीवभावमापन्नमित्यर्थः। कर्तृतां व्रजति यद्वत्तद्वदिति संबन्धः। अदस्तद्याति कर्तृतामित्यनुषङ्गः। तमोऽज्ञानं तत्र प्रतिबिम्बकम्। यथा पुण्य पापयोर्जीवभावमापन्नमन्तःकरणे प्रतिबिम्बचैतन्यमेव कर्तृ "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" इत्यादिन्यायान्न तच्छबलमिति तन्मतम्, तद्वज्जगतोऽपि तमः प्रतिबिम्बकं चैतन्यमेवेश्वरा- भिधानं कर्तृ भवति न तमोविशिष्टमित्यर्थः।।३२७।।

सुकृतदुष्कृतेति= विहित पुण्यकर्म में तथा निषिद्ध पाप कर्म में लिम्पायमान् मतिः अन्तः करण, तत्र– उसमें, गतात्मचिति प्रतिबिम्वकम्- चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब है अर्थात् जो जीव भाव को प्राप्त हुवा, अन्तःकरण उस में चैतन्य का प्रतिबिम्ब है। वह कर्तुत्तां व्रजति= वह कर्ताभाव को प्राप्त होता है। इसी प्रकार अदस्तद्याति- कर्तृत्व भाव को प्राप्त होता है। इसी प्रकार से तमः= अज्ञान, तत्र- प्रतिबिम्बित चैतन्य।

जिस प्रकार से पुण्य और पाप दोनों का जीवभावापन्न अंतःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही कर्ता माना गया है। "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" जो शास्त्रार्थ करेगा, वही कर्ता है इस न्याय से शबलात्मा कर्ता नहीं है किन्तु अतःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही कर्ता है। इसी प्रकार से जगत् का कर्ता भी अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य जो ईश्वर नाम से प्रसिद्ध है वह कर्ता होता है। न कि अज्ञान विशिष्ट (तम विशिष्ट) शबल चैतन्य जगत् का कर्ता होता है।

उक्तदृष्टान्तेनैव शबलोपादानत्वमपि द्रढयति–

उपरोक्त दृष्टान्त से ही शबल में जगत् उपादान कारणत्व को दृढ करा रहे हैं–

सुकृतदुष्कृतयोः शबला यथा
भवति कारणमात्मचितिस्तथा।।
गगनवायुपुरःसरकारणं
परमचेतनताशबलाकृतिः।।३२८।।

अन्वयः= यया शबला आत्मचितिः सुकृतदुष्कृतयोः कारणं, तथाःशबलाकृतिः परमचेतना गगनवायु पुरःसरकारणम्।।३२८।।

अन्वयार्थः= जैसे विशिष्ट चैतन्य ही पुण्यपाप का उपादान कारण होता है, वैसे ही शबल रूप (विशिष्ट) चेतन ही आकाशादि का उपादान कारण होता है।।

सृकृतदुष्कृतयोरिति। शबलाऽन्तः करणशबलात्मचितिरिति सम्बन्धः। कारणं भवतीत्यनुषङ्गः। परमचेतनता परमात्मचैतन्यम्।।३२८।।

सुकृतदुष्कृतयोरिति= शबला= अन्तः करणविशिष्ट चैतन्य ऐसा सम्बन्ध है। कारणं भवति= पापपुण्य का कारण बन जाता है। इसी प्रकार से गगनवायुपुरःसरकारणं- वियदादि सम्पूर्ण प्रपञ्च का कारण। परमचेतनता- शबलाकृति अज्ञान विशिष्ट चैतन्य ही कारण बन जाता है, ऐसा भाव है।

यद्यपि सृष्ट्यादिवाक्यगतात्मादिपदेनौचित्येन शबलमेवाभिधीयते तथापि लक्षणया शुद्धं परमेव तद्वाच्यमिति न ततः शबलस्य कारणता सिद्ध्यतीति समाधात्ते—

यद्यपि सृष्ट्यादि वाक्य गत आत्मपद से शबल को ही कारण माना जाता है, तथापि लक्षणा के द्वारा शुद्ध परब्रह्म ही कारण है। इसलिये शबल में कारणता नहीं आ सकती। इसे समझा रहे हैं—

शबलताकवलीकृतताවशात्
परमचेतनतैव निगद्यते।।
शबलमात्मपदेन न कथ्यते
शबलमात्मनि वृत्तिनिबन्धनम्।।३२६।।

अन्वयः= आत्मपदेन शबलताकवलीकृतावशात् परमचैतनतैव निगद्यते, न शबलं कथ्यते, शबलं आत्मनि वृत्तिनिबन्धनम्।।३२६।।

अन्वयार्थः= शबलता रूप उपाधि से विशिष्ट होने के कारण शुद्ध चैतन्य आत्म पद का विषय होता है। विशिष्ट नहीं शबलता तो आत्म शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है।।३२६।।

शबलताकवलीकृतेति। शबलतया शबलस्वरूपेण कवलीकृतता अवच्छिन्नताया तद्वशाच्छबलसम्बन्धवशादिति यावत्। परमचेतनता सर्वोपाधिविवर्जितं चैतन्यं तदेव तत्र जिज्ञास्यत्वान्निगद्यते लक्षणया ज्ञाप्यते। आत्मपदेन न शबलं कथ्यते तात्पर्येणेति शेषः। शबलस्य वस्तुतोऽनात्मत्वादित्यर्थः। तर्हि शबलाभिधानस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्क्य लक्षणासिद्धिरेवेत्याह- शबलात्मनीति। आत्मादिपदस्येति।।३२६।।

शबलताकवलीकृतेति= शबल रूप से कवलीकृतया= अवच्छिन्न होने के कारण, वशात्- शबल का बाध होने के कारण। परमचेतनता= सभीउपाधि से वर्जित शुद्ध चैतन्य वही तो जिज्ञास्य भी होने के कारण, निगद्यते= लक्षणा के द्वारा उसी का बोध किया जाता है। शबलं आत्मपदेन न कथ्यते- आत्म पद से वास्तविक शबल का कथन नहीं किया जाता है। क्योंकि वस्तुतः शबल तो अनात्मा ही तो है। यदि शुद्ध चैतन्य में ही तात्पर्य है फिर

शबल का अभिधान किस प्रयोजन को लेकर किया गया? इसका समाधान दे रहे हैं लक्षणा की सिद्धि कराने के लिये शबल का अभिधान किया जाता है। इसी बात को कह रहे हैं शबलं आत्मनीति- आत्मादि पद की लक्षणा करके शुद्धात्मा का बोध इन्हीं शबलात्मवाची पदों में लक्षणा करने से होने के कारण शबल का अभिधान कथन सार्थक हो जाता है।

यत एतस्मिन्वाक्ये आत्मादिपदैरात्मलक्षणार्थं शबलमुपस्थाप्यते ततः शबलमेव तदर्थ इति तेषां भ्रमो न तु वस्तुतत्त्वमित्युक्तानुवादपूर्वकमाह–

जबकि "तस्माद्वा एतस्मात्" इत्यादि वाक्य में आत्मादि पद से लक्षणा वृत्ति के द्वारा शुद्ध आत्मा का बोध हो तदर्थ शबल की स्थापना की। तो फिर शबल अर्थ ही जगत् का कारण माना गया, तो यह भ्रम ही होगा, न कि वास्तविकता इसी बात को अनुवाद पूर्वक कह रहे हैं–

शबलतापरिधानसमन्वयात्
परमचेतनतात्मगिरःपदम्।।
भवति तेन जनस्य तु विभ्रमः
शबलमात्मगिरःपदमित्ययम्।।३३०।।

अन्वय= शबलतापरिधानसमन्वयात् परमचेतनता आत्मगिरः पदम्। तेन तु जनस्य शबलं "आत्मगिरः पदं" इत्ययं विभ्रमो भवति।।३३०।।

अन्वयार्थः= शबलरूप उपाधि के सम्बन्ध से ही पर ब्रह्म "आत्मा" पद का वाच्य होता है। इसी कारण साधारण व्यक्ति को विशिष्ट चेतन आत्म पद वाच्य है, ऐसा भ्रम हो जाता है।।३३०।।

एतदुक्तं भवति– "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति लक्षणवाक्ये ह्यानन्त्यं ब्रह्मणः प्रतिज्ञातम्। "यो वेद निहितं गुहायाम्" इत्युत्तरवाक्ये गुहाप्रवेशेन तस्य प्रत्यग्भावं दर्शयन्त्या श्रुत्याऽऽनन्त्योपपादनायात्मनो नानात्वं निरस्तम्। ततस्तस्य विजातीयगगनादेर्भेदापानेनीषया सृष्टिरुपन्यस्यते। तदा खलु कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन कार्यस्य वस्तुतः कारणमात्रत्वं सिद्धयतीत्युपन्नं तदानन्त्यम्, एवं च यत आकाशादि सम्भूतं तत्तस्मादेतस्मादात्मन इति प्रत्यगभिन्नानन्यमिति दर्शयन्ती श्रुतिरद्वैतमात्मानमेवाभिप्रैतीति न ततः शबल कारणता सिद्धयतीति।।३३०।।

शबलतापरिधानेति= शुद्धचैतन्य ने शबलता रूपी वस्त्र धारण करने से लोक में यह भ्रम हो सकता है कि आत्म पद शबलात्म वाची है। अभिप्राय= सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म- इस

लक्षण वाक्य में ब्रह्म में अनन्तत्व अपरिच्छिन्नत्व बताया है। यो वेदनिहितं गुहायाम्— इस उत्तर वाक्य में गुहा में अप्रवेश के कारण। इस ब्रह्म में प्रत्यग् भाव बताया। प्रत्यग् भाव बताने से आत्मा में नानात्व आ जाता हैं लेकिन हृदय गुहा में अप्रवेश के कारण तथा श्रुति ने "सत्यंज्ञानमन्तं ब्रह्म" इससे (ब्रह्म में) आत्मा में अनन्त अपरिच्छिन्नत्व बता दिया इस कारण आत्मा की अनेकता अपने आप निरस्त हो जाती है। इसके बाद इस आत्मा से विजातीय भेदवाले गगनादि पदार्थ हैं उनको हटाने के लिये पहिले वह विजातीय सृष्टि प्रस्तुत की गई। "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चते इस न्याय को लेकर। अब बात यह कि कार्य कारण से अभिन्न ही होता है "कार्य कारणानन्यत्व न्याय इससे कार्य कारण मात्र स्वरूप ही सिद्ध होने के कारण वियदादि प्रपञ्च आत्मा स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) होने के कारण ब्रह्म में आनन्त्यत्व अपने आप सिद्ध हो जाता है। तो इस प्रकार से जब आकाशादि पदार्थ जात तस्मादेवास्मादात्मनः आत्म स्वरूप ही है आत्मा से अभिन्न ही है (प्रत्यगभिन्न ही है)। ऐसी बताने वाली श्रुति अद्वैत आत्मा को ही बताती है कथित करती है। इससे शबलात्मा में (शबल चैतन्य में) कारणता सिद्ध नहीं होती है, यह निश्चित हुवा।

नन्वेवं सति प्रत्यक्षादिदृष्टं मृत्सुवर्णादेर्घटकुण्डलादिकारणत्वमपि त्वत्पक्षे न स्यादिति चेत्, सत्यम्। सर्वत्रापि मृदाद्यधिष्ठानं सर्वकार्यानुगतं सत्तत्त्वं मृदादिशबलद्वारा घटादिकरणं न तु केवलमृदादिस्तस्याधिष्ठानात्मतया ततः पृथग्भूय कारणत्वायोगादित्याशयेनाह—

आशंका= यदि ऐसी ही बात है तब तो प्रत्यक्ष देखा हुवा मिट्टी, सुवर्ण, घडा, कुण्डलादि के जो कारण बनते हैं वे भी तुम्हारे वेदान्ती के पक्ष में कारण नहीं बन पायेंगे।

समाधान= बिलकुल सही है श्रीमानजी। यह सभी जगह देखा गया है कि मिट्टी, आदि का अधिष्ठान जो सभी पदार्थों के अनुगत है वही सत् है, वही ब्रह्म तत्त्व है, वही मृदादि शबल के द्वारा घटादि पदार्थों का कारण बनता है। न कि केवल मिट्टी आदि। यदि मिट्टी आदि ब्रह्म से अतिरिक्त होकर कारण बने तब तो हो सकता है। लेकिन मिट्टी आदि भी ब्रह्म से अतिरिक्त हो कर कारण बन ही नहीं सकती। इसी आशय से कहा जा रहा है—

बहुनिगद्य किमत्र वदाम्यहं
शृणुत संग्रहमद्वयशासने।।
सकलवाङ्मनसातिगता चितिः
सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक्।।३३१।।

अन्वयः= अत्र अहं बहु निगद्य किं वदामि? अद्वयशासने संग्रहं श्रृणुत। सकलवाङ्मनसातिगता चितिः शकलवाङ्मनसव्यवहारभाक्।।३३१।।

अन्वयार्थः= इस विषय में बहुत क्या कहूँ। अद्वैत सिद्धान्त का संग्रह सुनिए। सकलवागादिका अगोचर शुद्ध चैतन्य ही सकल वाचिकादि व्यावहारों का विषय होता है।।३३१।।

बहु निगद्येति। अत्रास्मिन्नर्थे बहुभाषणेन किं प्रयोजनम्! अद्वयशास्त्रेऽहं सिद्धान्तसंग्रहं वदामि तं श्रृणुतेति सम्बन्धः। तत्संग्रहमेव निर्गुणसगुणभेदेनाह— सकलेति। स्पष्टम्।।३३१।

बहुनिगद्येति= इस विषय में ब्रह्म ही कारण है इस विषय में ज्यादा बोलने से क्या फायदा है। अद्वय शासने—अद्वैत वेदान्त शास्त्र में सिद्धान्त संग्रह बता देता हूँ, उसे सुनो। सकलेति= जो मनवाणी से परे है वही मन वाणी के व्यवहार योग्य हो जाता है। यह निर्गुण और सगुण के भेद को लेकर संभव हो जाता है। जो निर्गुण है वही सगुण, तथा जो सगुण है वही निर्गुण हो जाता है।

ननु यदि मायाशबलस्य कारणतां श्रुतिर्न प्रतिपादयति कुतस्तर्हि मायाप्रकृतित्वसिद्धि-स्तत्राह—

आशंका= यदि श्रुति मायाविशिष्ट शबल ब्रह्म कारण नहीं मानती है तो फिर माया में प्रकृतित्व की सिद्धि कैसी होगी। इस पर समाधान देते है—

चित्रायागः पशुफल इति श्रूयमाणेऽपि चित्रा-
ऽपूर्वं द्वारं पशुफलतयाऽऽक्षिप्यते तत्र तद्वत्।।
चैतन्यात्मा जगदुदयकृच्छ्रूयतेऽत्रापि पश्चा-
न्मायादीनां भवति जगति द्वारभावः फलेऽस्मिन्।।३३२।।

अन्वयः=चित्रायागः पशुफलः, इति श्रूयमाणेऽपि पशुफलतया तत्र द्वारं चित्रापूर्वम् आक्षिप्यते तद्वत् चैतन्यात्मा जगदुदयकृत श्रूयते अत्रापि पश्चात् अस्मिन् जगति फले मायादीनां द्वारभावः भवति।।३३२।।

अन्वयार्थः= चित्रायाग पशुफलक है, ऐसा श्रुति के द्वारा प्रतिपादन करने पर भी याग में पशुफल की अन्यथानुपपत्ति से वहाँ द्वारभूत चित्रायाग जन्य अपूर्व का जैसे आक्षेप किया जाता है, वैसे ही चैतन्यात्मा जगत का कारण है, ऐसी श्रुति कहती है। यहां भी इस जगत् फल के लिये माया की द्वारभूतता सिद्ध होती है।।३३२।।

चित्रायाग इति। "चित्रया यजेत पशुकामः" इति पशुफले यागे श्रूयमाणेऽपि श्रुतेऽपि क्षणिकस्य यागस्य कालान्तरभाविपशुसाधनतानुपपत्त्या चित्रासंज्ञितयागजन्यं पशुफल-साधनतयाऽपूर्वं तत्र कर्मकाण्डे यद्वदाक्षिप्यते कल्प्यते, तद्वदत्रापि काण्डे चैतन्यात्मा

जगदुदयकृदिति श्रूयते, श्रुतेऽपि तस्य निर्विकास्य जगत्कारणत्वानुपपत्त्या पश्चादस्मिन्जगति फले कार्ये मायादीनां द्वारभावो भवति भवेदिति कल्प्यते। कूटस्थब्रह्मणः श्रुतिप्रदर्शितकारण-त्वादिसंरक्षणार्थं जडप्रपञ्चोपादानतयाऽनुमितमज्ञानं तद्धटकतयाऽऽश्रितमिति न तदसिद्धिरिति भावः।।३३२।।

चित्रायागः पशुफले इति श्रूयमाणेऽपि इति= "चित्रया यजेत पशुकामः" जिसे पशुधन की कामना हो वह चित्रा याग करें। इस पक्ष में पशुफल देने वाला याग श्रुत होने पर भी श्रुत याग तो क्षणिक होने से कालान्तर में भविष्य काल में पशुधन की साधनता इस याग में संभव नहीं होने से, चित्रा संज्ञावाले यज्ञ से उत्पन्न, पशुधन रूप फल का साधन ऐसा अपूर्व कर्मकाण्ड में स्वीकृत करना पडता है या अपूर्व का आक्षेप करना पडता है। इसी प्रकार से उत्तर काण्ड में वेदान्त में भी चैतन्यात्मा जगत् का कारण है, ऐसा श्रुत होता है। सुनाई देने के बावजूद भी निर्विकार ब्रह्म जगत् का कारण तो हो नहीं सकता। इसके बाद इस जगत्रुपी कार्य फल की उपपत्ति लगाने के लिये माया को द्वार भाव से मानना ही पडेगा। जैसे चित्रायाग में अपूर्व को द्वार माना, इसी प्रकार माया को द्वार मानना होगा। द्वार उसे कहते है "तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्" याग से उत्पन्न ऐसा अपूर्व, याग जन्य स्वर्ग, उसकी साक्षात् जनकता अपूर्व में आती है तो अपूर्व में द्वारत्व है, इसी प्रकार से माया भी द्वार ही है (ब्रह्म जन्य वह माया, प्रपञ्च ब्रह्म जन्य उसके प्रति वह जनक है) माया द्वार होने से ब्रह्म में कारणता सिद्ध होती है। इसलिये कूटस्थ ब्रह्म में श्रुति द्वारा बताती हुई कारणता की रक्षा हो तदर्थ जडप्रपञ्च का उपादान कारण रूप अनुमित अज्ञान, ब्रह्म के साथ साथ कारण कोटि में घटक होने से द्वार होने से कारण है तथा यह अज्ञान ब्रह्माश्रित होने के कारण इस अज्ञान या माया की असिद्धि नहीं। और न तो माया प्रकृति की ही असिद्धि है। किन्तु माया प्रकृति की सिद्धि हो जाती है।

शबलकारणत्वं न श्रुतिसम्मतमित्यत्र ब्रह्मविदामभ्युपगमं लिङ्गमाह—

शबल में कारणता श्रुतिसम्मत नहीं है। इस विषय में ब्रह्मनिष्ठों के स्वीकृत हेतु बता रहे हैं—

कारणत्वमुपलक्षणं चिते-
ब्र्ह्मणो न खलु तद्विशेषणम्।।
इत्यपीदमुपपद्यते तदा
चेतना भवति कारणं यदा।।३३३।।

अन्वयः= कारणत्वं चितेः ब्रह्मणः उपपलक्षणं तद्विशेषणं न खलु, इतीदमपि तदा उपपद्यते, यदा चेतना कारणं भवति।।३३३।।

अन्वयार्थः= जगत् कारणत्व चेतन ब्रह्म का उपलक्षण ही है। उसका विशेषण नहीं है। यह सिद्धान्त भी तभी उपपन्न हो सकता है जबकि शुद्ध चेतन जगत् का कारण बनें।।३३३।।

कारणत्वमिति। जगत्कारणत्वे हि चिद्रूपब्रह्मणो गृहस्येव काकसम्बन्ध उपलक्षणं तटस्थलक्षणं न खलु तद्विशेषणमिति यद् ब्रह्मविद्भिरभ्युपेतमिदमपि तदोपपद्यते यदा चेतनात्मा कारणं भवेदिति सम्बन्धः।।३३३।।

कारणत्वमिति- यदि चेतन ब्रह्म जगत् का कारण हो तब तो काकवन्तं देवदत्तस्य गृहम् घर के साथ काकसम्बन्ध उपलक्षण है या काक का सम्बन्ध तटस्थ लक्षण है न कि काक सम्बन्ध विशेषण है करके प्रथम होने से काक उपक्षण अथवा उपाधि है। अतः यह बाते तभी घटेगी जब पहिले हम चेतन ब्रह्म को कारण मानें। इसका तात्पर्य यह हुवा कि शबल को कारण नहीं मान सकते, शुद्ध ब्रह्म ही कारण है। तभी उसमें फिर गया का सम्बन्ध उपलक्षण है या तटस्थलक्षण है, विशेषण नहीं यह सब संभव होगा। इससे चेतनात्मा ही कारण है, यह बात सिद्ध हुई। इससे चेतनात्मा ही कारण है, यह बात सिद्ध हुई।।

ननु शबलकारणत्वमपि तदुपलक्षणं किमिति न भवेदित्याशङ्क्यालक्ष्यवृत्तिधर्मस्य तदनुपपत्तेरित्याह—

आशंका= शबल को कारण मानें, और उसे ब्रह्म का उपलक्षण क्यों न माना जाय?

समाधान= लक्ष्य में अवृत्ति धर्म को अपलक्षण नहीं मान सकते- इस बात को कह रहे हैं।

अन्यदेव यदि कारणं भवेत्।
कारणत्वमुपलक्षणं कथम्।।
चेतनस्य घटतेऽन्यगामिना।
वस्तु नान्यदुपलक्ष्यते यतः।।३३४।।

अन्वयः=यदि अन्यदेव कारणं भवेत् तदा काराणत्वं, चेतनस्य उपलक्षणं कथं घटते? यतः अन्यगामिना अन्यत् वस्तु उपलक्ष्यते न।।३३४।।

अन्वयार्थः= यदि शुद्ध चेतन से भिन्न कोई कारण हो तब कारणत्व चेतन का उपलक्षण कैसे

बनेगा? क्योंकि अन्य वृत्ति धर्म से अन्य वस्तु उपलक्षित नहीं हो सकती।।३३४।।

अन्यदेवेति। शुद्ध ब्रह्मणोऽन्यच्छबलमेवेत्यर्थः। चेतनस्य ब्रह्मणः कथं घटत इति सम्बन्धः। कुत इत्यत आह– अन्यगामिनेति। लोकेऽलक्ष्यवृत्तिधर्मस्य लक्षकत्वादर्शनात्। शुद्धं ब्रह्म शबलवृत्तिधर्मेण लक्षितुं न शक्यते यतस्ततो ब्रह्मैव श्रुतिसंमतमुपादानं, मायायास्त्वार्थिकं, तच्छ्रुत्याऽनूद्यते ततो भावरूपैव सेति भावः।।३३४।।

अन्यदेवेति= शुद्ध ब्रह्म से अतिरिक्त यदि कारण है तो फिर चेतन ब्रह्म में कारणता सिद्ध नहीं हो सकती। ऐसा क्यों? तो बताते हैं अन्यगामिनेति= लोक में भी जो धर्म अलक्ष्यवृत्ति हो वह लक्ष्य को नहीं बता सकता। तो शुद्ध ब्रह्म शबलवृत्ति रूप धर्म से गृहीत नहीं कर सकते, इसलिये ब्रह्म ही– श्रुति सम्मत उपादान कारण है। माया में तो कारणता (आर्थिक) घटकतया है (द्वारभाव से है) श्रुति ने इसका अनुमोदन किया है। इस प्रकार माया भाव रूप ही है यह भाव है।

एवं प्रसङ्गान्मायाप्रकृतित्वचिन्तां परिसमाप्य प्रकृतमनवगतार्थविषयतया सिद्धेऽपि वेदान्त-प्रामाण्यसमर्थनमुपसंहरति–

इस प्रकार माया में कारणत्व की चिन्ता समाप्त कर के प्रकृत में वेदान्त अनवगमार्थ विषयक होने पर भी उसमें प्रामाण्य का उपसंहार कर रहे हैं–

अनवबुद्धमतः श्रुतिमस्तकैर्विषयतामुपपादपितुं क्षमम्।।
अनुभवात्मपदं तमसा यतः पिहितमेतदिह प्रतिभासते।।३३५।।

अन्वयः= अतः अनवबुद्धं श्रुतिमस्तकैः विषयताम् उपपादयितुं क्षमम्। यतः इह अनुभवात्मपदं तमसा पिहितं प्रतिभासते।

अन्वयार्थः= इसलिये अज्ञात आत्मा में वेदान्त वाक्यों के द्वारा विषयता का उपपादन किया जा सकता है, क्योंकि इस (साक्षी) में अनुभव रूप आत्मा अज्ञान से, आवृत प्रतीत होता है।

अनुवबुद्धमिति। यतः अनुभवात्मस्वरूपमुक्तविधया तमसा पिहितं मामहं न जानामीति प्रत्यक्षतोऽपि इह साक्षिणि प्रतिभासतेऽतोऽनवबुद्धमेतत् श्रुतिमस्तकैर्विषयतामुपपादयितुं क्षममिति सम्बन्धः।।३३५।।

जब की "मामहं न जानामि" इस अनुभव के आधार पर आत्मा अज्ञान से आवृत्त है और यह अप्रत्यक्ष अनुभव साक्षी में उपपन्न है, तथापि आत्मा का वास्तविक ज्ञान न होने के कारण वेदान्त ही उसका प्रतिपादन करने में समर्थ है।।

यदुक्तं प्राक् "अज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयम्" इत्यादिनाऽनिर्वचनीयं किंचिद्वस्त्वस्तीति तिदिदानीमाशङ्क्य निराक्रियते। ननु स्वप्रकाशब्रह्मणः कथमनवबुद्धत्वं विरोधात्। न च तत्कल्पितमनिर्वचनीयमिति न विरोध इति वाच्यम्। तस्यैव गगनकमलप्रायत्वादित्याशङ्क्य लोके सर्वानुभवसिद्धत्वान्नैवमित्याह–

जो पहिले कहा था "अज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयम्" इस आगे आने वाले श्लोक से अनिर्वचनीय कोई वस्तु है, इस पर आशंका करके निराकरण किया जा रहा है।

अज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमस्मि-
न्नाबालवृद्धमविवादपदं प्रसिद्धम्।।
स्वप्ने तथा च भगवानपि वक्ष्यतीदं
सन्ध्येऽस्ति सृष्टिरिति पक्षनिरासिसिद्ध्यै।।३३६।।

अन्वयः= अस्मिन् अज्ञानकल्पितं अनिर्वचनीयं आबालवृद्धं अविवादपदं प्रसिद्धम्। तथा च च स्वप्ने। भगवानपि सन्ध्ये सृष्टिरिति पक्षनिरासिसिद्ध्यै इदं वक्ष्यति।।३३६।।

अन्वयार्थः= इस जाग्रत काल में शुक्ति रजतादि अज्ञान कल्पित पदार्थ अनिर्वचनीय है, यह एक बालक से लेकर वृद्ध तक निर्विवाद प्रसिद्ध है। वैसा ही स्वप्न में भी भगवान् सूत्रकार भी सन्ध्ये सृष्टिः (ब्र सू ३/२/१) इस पूर्वपक्ष का निरास करने के लिये अनिर्वचनीयता कहेंगे।।३३६।।

अज्ञानकल्पितमिति। अस्मिन् लोके आबालवृद्धं बालवृद्धमभिव्याप्य सर्वेषामित्यर्थः। शुक्त्यादौ रजतादिर्हि लोके सर्वैरनुभूयते स न तावज् ज्ञानद्वयं ततो रजतार्थिप्रवृत्त्यनुपपत्तेर्ज्ञानस्य स्वविषये एव प्रवर्तकत्वादिति भ्रमसिद्धौ वक्ष्यमाणविधया सोऽनिर्वचनीय विषय इति भावः। किं च सूत्रकारोऽपि स्वप्ने प्रतीयमानस्य रथादेः सत्यत्वनिरासायानिर्वचनीयत्वं वक्ष्यतीति तत्सिद्धिरित्याशयेनाह–स्वप्न इति। यथा लोके प्रसिद्धं तथैवेत्यर्थः। वक्ष्यति पदार्थपाद इति शेषः। इदमनिर्वचनीयत्वम्। सन्ध्येऽस्ति सृष्टिरित्यनेन "सन्ध्ये सृष्टिराह हि" इति सूत्रमुपलक्षयति। सन्ध्ये स्वप्ने सृष्टिः सृज्यमानो रथादिरस्ति सती, यतो "अथ रथान् रथयोगान्" इति श्रुतिः सृष्टिमाहेति सूत्रेण कृतपूर्वपक्षस्य निरासार्थं "मायामात्रम्" इत्यादिसूत्रेणानिर्वचनीया सेत्युक्तवानित्यर्थः।।३३६।।

अज्ञानकल्पितमिति। इस लोक में आबालवृद्धम्= बालक वृद्ध सभी। शुक्ति में रजतादि का सभी लोग अनुभव करते हैं। न कि शुक्ति ज्ञान तथा रजत ज्ञान अलग अलग अनुभव करते हैं। यदि ये दोनों ज्ञान अलग अलग होवें तो फिर रजत की कामना वाले व्यक्ति

की शुक्ति की तरफ प्रवृत्ति ही देखने में आती है। इस प्रकार जब रजतार्थी की प्रवृत्ति शुक्ति के तरफ हो जाती है। इसका तात्पर्य यह रजतविषयक भ्रमात्मक ज्ञान है। आगे हम बतायेंगे कि यह रजत वहां अनिर्वचनीय ही है और प्रवृत्ति का विषय जो रजत है वह भी अनिर्वचनीय ही है। और सूत्रकार बादरायण भी स्वप्न में प्रतीयमान् रथादि (सत्य न होने के कारण) उनका सत्यत्व रूप से निराकरण करने के लिये अनिर्वचनीयत्व का ही निरूपण करेंगे। इस प्रकार अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि होती है। इसी आशय से कहते हैं स्वप्न इति= जैसे लोक में प्रसिद्ध है उसी के अनुसार। वक्ष्यति= पदार्थ पाद में इसका निरूपण करेंगे। इदम्= अनिर्वचनीयत्वका। सन्ध्येऽस्तिसृष्टिरिति= सन्ध्ये सृष्टिराहेति- इस सूत्र के द्वारा अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि कर रहे हैं। सन्ध्ये-स्वप्न में, सृष्टिः सृज्यमान् रथादि। अस्ति- सत्ता से विराजमान है अर्थात प्रतीयमानत्व इन पदार्थो में है इसी प्रकार "अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते- यह श्रुति सुष्टि का निरूपण करती है। ऐसे पूर्वपक्षी के आक्षेप के निराकरण करने के लिये "मायामात्रम्" इस सूत्र से स्वप्न मे प्रतीयमान् सृष्टि अनिर्वचनीय स्वरूपा है, यह तात्पर्य है।

ननु गुरुवेदान्तादेरन्यस्य वा प्रपच्चस्य मिथ्यात्वे कथं ततोऽद्वैतब्रह्मावगमोऽन्यद्वा विचित्रं कार्यं भवेदिति चेन्न, स्वप्ने तथाभूतादपि सत्यविचित्रकार्यदर्शनादेवं जाग्रत्यपि तत्प्रसिद्धमित्याह—

आशंका= गुरु वेदान्तादि अथवा इन से भिन्न सब प्रपञ्च ही मिथ्या है तो फिर ऐसे गुरु, वेदान्तादिक से अद्वैत ब्रह्मावगमन कैसे हो सकेगा? तथा बाकी सब प्रपञ्च मिथ्या हो तो उससे विचित्र कार्य कैसे संपन्न होगा?

समाधान= स्वप्न के पदार्थ मिथ्या होने पर भी सत्य स्वरूप विचित्रकार्य देखने में आता है, इसी प्रकार जाग्रत के गुरु, वेदान्तादि मिथ्या होने पर सत्य ब्रह्मावगति देखने में आती है। इस बात को बता रहे हैं—

मिथ्याशुषिः सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
प्रत्यक्षदृष्टिपथमापतितोऽचिरेण।।
द्रष्टुः शरीरकरणप्रविभागरूपं
मृत्युं निवेदयति सत्यमिति प्रसिद्धम्।।३३७।।

अन्वयः= प्रत्यक्षदृष्टिपथं आपतितः सवितृमण्डलमध्यवर्ती मिथ्याःशुषिः, द्रष्टुः अचिरेण शरीरकरण

प्रविभागरूपं मृत्युं निवेदयति, इदं सत्यं प्रसिद्धम्।।३३७।।

अन्वयार्थः= प्रत्यक्ष दृष्टिपथ में आया हुवा सूर्य मण्डान्तर्गत छिद्र मिथ्या है, जो कि द्रष्टा की शीघ्र स्थूल शरीर के मत्यु की सूचक है, यह सत्य प्रसिद्ध है।।३३७।।

मिथ्याशुषिरिति। शुषिश्छिद्रम्, आपतितः प्राप्तः, सवितरि रथनाभिछिद्रवत्कल्पितं शुषिरं प्रत्यक्षदृष्टिविषयोऽचिरेण द्रष्टुर्मृत्युं मरणं निवेदयति। मृत्युमेवाह-शरीरेति। स्थूल-शरीरात्करणसमूहस्य लिङ्गशरीरस्य प्रविभागरूपम् उत्क्रमणरूपम्। सोऽपि तर्हि मिथ्येत्याशङ्क्य व्यावहारिक इत्याह-सत्यमिति। एतच्च ऐतरेयकब्राह्मणे न "चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्" इत्युपक्रम्य "छिद्र इवादित्यो दृश्यते" इति श्रुतिप्रसिद्धमनुभवसिद्धं च, नात्र विमतिरिति भावः। वस्तुनः कारणत्वे कार्यत्वे च सर्वसंप्रतिपन्नासद्विलक्षणः स्वरूपविशेष एवापेक्षितस्ताव-तैवानन्यथासिद्धत्वादेः कारणत्वशरीरस्योपपत्तेः, न त्वबाध्यत्वमप्यपेक्षितम्, तद्दतेऽनुपपत्त्य-भावादस्माकं प्रपञ्चे तदसंप्रतिपत्तेश्च। आत्मा तु कूटस्थो न वस्तुतः कस्यापि कारणम्, अपूर्वमनपरमिति श्रुतेः। मिथ्याकारणत्वं तु प्रपञ्चमिथ्यात्वं विना न सिद्ध्यतीति न सत्त्वं कारणस्य क्वचिदपि क्लृप्तमिति सवितृशुष्यादेर्मृषावस्तुनोऽपि मरणादिनिवेदकत्वमुपपद्यते। ननु तच्छुषिरज्ञानमेव तत्सूचकं न तु तदिति चेत्तर्हि सर्वत्रापि ज्ञानमेव कारणं तच्च जीवस्येश्वरस्य वाऽस्तु न वस्त्विति स्यात्। ज्ञानमात्रस्यातिप्रसक्तस्य कारणत्वानुपपत्त्या विषयमिश्रितस्यैव कारणत्वाच्च सोऽपि कारणमिति भावः।।३३७।।

मिथ्याशुषिरिति= शुषिः= छिद्र, आपतितः= प्राप्त हो। सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती— सूर्य के रथ के नाभि में (नाह में) छिद्र के समान् काला काला छिद्र दिखाई देवे अर्थात् प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय ऐसा छिद्र होवे तो समझ लेवो कि ऐसा दर्शन करने वाला व्यक्ति जल्दी मृत्यु को प्राप्त होगा। अर्थात् यह मिथ्या चिह्न सत्य मृत्यु की सूचना देता है शीररेति। अर्थात् पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर से पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञानेन्दियां पञ्चकर्मेन्द्रियां तथा मन, बुद्धि, चित्त अहंकार १६ तत्त्व का सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) स्थूल शरीर से अलग होगा।

आशंका= यह विभाग रूप मृत्यु भी तो मिथ्या है।

समाधान= मिथ्या नहीं, किन्तु व्यावहारिक है। इस बात को कह रहे हैं। सत्यमिति= यह प्रसङ्ग ऐतेरेय ब्राह्मण में आया है "न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्" यह ज्यादा दिन जीने वाला नहीं है ऐसा उपक्रम करके "छिद्र इवादित्यो दृश्यते" सूर्य छिद्र युक्त सा दिखाई देवे। तो श्रुति प्रसिद्ध तथा अनुभव से सिद्ध यह छिद्रवाली बात है। इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते।

वस्तु में कारणत्व तथा कार्यत्व सभी को मान्य हो ऐसा स्वरूप तो असद्विलक्षणत्व अपेक्षित है। इसी से जो अन्यथा सिद्ध से भिन्न हो उसमें कारणत्व आ जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि जो कारण हो उसमें अबाध्यत्व भी हो। अबाध्यत्व के बिना कोई अनुपपत्ति नहीं है। हम वेदान्ती प्रपञ्च को कार्य मानते हैं लेकिन उसमें अबाध्यत्व नहीं मानते हैं। आत्मा तो कूटस्थ होने से वस्तुतः व किसी का भी कारण नहीं है। "अपूर्वमनपरमितिश्रुतेः" आत्मा के पूर्व कोई नहीं है। और आत्मा के उपरांत (बाद में) उत्तरवर्त्ती भी कोई नहीं हैं। अब आत्मा में कारणत्व मिथ्या ही मानना पडेगा। वह तभी सम्भव होगा जबकि प्रपञ्च को मिथ्या मानें। इसके बिना आत्मा में मिथ्या कारणत्व सिद्ध नहीं हो सकता। कारण को सत् होना चाहिये यह कहीं भी स्पष्ट नहीं है। इसलिये सूर्यछिद्र मिथ्या होने पर भी उसमें मरणादिक की सूचकता उपपन्न होती है।

आशंका= सूर्य में छिद्र है यह अज्ञान ही है। इसलिये मरणादिक का सूचर्क वह छिद्र है नहीं।

समाधान= फिर तो सर्वत्र ज्ञान को ही कारण मानना चाहिये। फिर वह ज्ञान जीव का हो अथवा ईश्वर का हो वही कारण माना जायेगा न कि वस्तु को कारण माना जायेगा। यह तो सब अनर्थ ही होगा। फिर तो विज्ञानवादी के मत में प्रवेश होगा। तो बात यह कि ज्ञान को यदि कारण मानेंगे तो ज्ञान मात्र अतिप्रसक्त होने के कारण वह कारण नहीं बन सकता। अन्यथा वन्ध्यापुत्र के ज्ञान से प्रपञ्चोत्पत्ति होने लगेगी। इसलिये विषयमिश्रित (युक्त) ज्ञान ही कारण मानना होगा। निर्विषयक ज्ञान कारण भी नहीं हो सकता। इस प्रकार वस्तु के कारण होने से। मिथ्या शुषिः—सूर्य का छिद्र मिथ्या होने पर भी मृत्यु सूचकत्व उसमें संभव है। इसी प्रकार मिथ्या गुरु वेदान्तादि सभी अद्वैत ब्रह्मानुभव का कारण है आदि।

किं च सूत्रकारोऽप्युक्तन्यायं "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्" इत्यादिश्रुतिं च पश्यन्मिथ्या सन्नपि स्त्रीदर्शनकुञ्जरारोहणसुरापानादिदर्शनरूपः स्वप्नः शुभाशुभफलयोरागमस्य प्राप्तेः सूचकः स्यादिति "सूचकश्च हि श्रुतेः" इत्यादि सूत्रेणाहेति तस्यापि संमतमेवेदमित्याह—

इसी प्रकार से सूत्रकार व्यासजी महाराजजी भी वस्तुतः कारणत्व कार्यत्व असद्विल क्षणत्व ही साधक है इस न्याय को मानते हैं "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति" जिस व्यक्ति ने सकाम कर्म प्रारम्भ किया है यदि वह व्यक्ति स्वप्न में स्त्री का दर्शन

करता है तो उसका काम सफल होता है। इत्यादिश्रुति प्रमाणों के आधार पर मिथ्या वस्तु का दर्शन होने पर भी जिसे स्त्री दर्शन, कुञ्जरारोहण, सुरापानादि दर्शन रूप स्वप्न से शुभाशुभ फल का, बीमारी का सन्देश तो वह देता ही है। "सूचकश्च हिश्रुतेः" इस सूत्र से इस बात को कहा। अर्थात् असद् विलक्षणत्व न्यायसूत्रकार को भी अभिमत है। इस बात को स्पष्ट कर रह हैं—

स्वप्नः शुभाशुभफलागमसूचकः स्यान्
मिथ्याऽपि सन्निति च सूत्रकृदाह यत्नात्।।
गुर्वादि सर्वमिदमद्वयबुद्धिहेतु—
र्मायानिबन्धनमिति प्रतिपादनाय।।३३८।।

अन्वयः= मायानिबन्धनं अद्वयबुद्धिहेतुः इति प्रयत्नात् प्रतिपादनाय स्वप्नः मिथ्याऽपि सन् शुभाशुभफलागमसूचकः स्यात्, इति च सूत्रकृत् इदं सर्वं गुर्वादि आह।।३३८।।

अन्वयार्थः= माया निमित्तक यह समस्त गुरू आदि प्रपञ्च अद्वयात्मबुद्धि का हेतु होता है। यह प्रयत्नपूर्वक बताने के लिये ही सूत्रकार व्यासजीमहाराज स्वप्नमिथ्या हो तो होने दो, तो भी शुभाशुभ फल का सूचक होता है, ऐसा कहते हैं।।३३८।।

स्वप्नः शुभाशुभेति। यत्नोऽत्र उक्तन्यायाद्यनुसंधानम्। ननु ब्रह्मविचारमध्ये किमिदं सूत्रकारस्य स्वप्नफलनिरूपणमित्याशङ्क्य तदाशयमाह गुर्वादीति। मायानिबन्धनमपीदं गुर्वादि अद्वयबुद्धिहेतुरिति प्रतिपादनायेति सम्बन्धः।।३३८।।

स्वप्नः शुभाशुभेति= उक्त न्याय का अनुसन्धान करने के लिये और यत्न कर रहे हैं।

आशंका= ब्रह्म विचार के अन्दर बीच में ही सूत्रकार द्वारा प्रदर्शित स्वप्न फल का विचार निरूपण किस लिये किया?

समाधान= गुर्वादीति= गुरू आदि (मायानिबन्धन ही है) मिथ्या स्वरूप ही तथापि अद्वयबुद्धि का ये कारण है इस बात का प्रतिपादन करने के लिये यह कहा।।

ननु स्वप्नादिविषयस्य मृषात्वमसंप्रतिपन्नमिति चेन्न, शुक्त्यादौ रजताद्यर्थिप्रवृत्त्यादि-बलाद् भ्रान्तिस्तावदस्तीत्युक्तम्। तत्र भ्रान्तिर्नाम रजताद्याकाराऽविद्यावृत्तिः, तदवच्छिन्नं साक्षिचैतन्यं भ्रान्तिप्रतीतिः। सा किं सविषया निर्विषया वा, आद्ये तद्विषयः किं सन् उत असन् उतोभयात्मकः। आद्येऽपि किं तत्रैव सन्नन्यत्र वा। नान्त्यः अन्यत्र

सतोऽत्रापरोक्षप्रतीत्यसम्भवात्तद्धेतोरिन्द्रियसन्निकर्षस्य संयोगादेरसम्भवात्। न प्रथमः, नेदं रजतमित्यादिरूपेण बाधायोगात्। नाप्यसन्, असतोऽपरोक्षप्रतीत्यनुपपत्तेः। नापि तृतीयः। विरोधेनैकस्य सद-सदात्मकत्वासम्भवादित्याशयेनाह—

आशंका= स्वप्न का विषय मिथ्या है यह बात उचित नहीं है।

समधान= शुक्ति को देखकर रजतार्थी की रजत के लिये प्रवृत्ति होने के कारण इस रजत विषय को मिथ्या ही कहना पडता है। मिथ्या कहिये भ्रान्ति कहिये एक ही बात है। भ्रान्ति उसे कहते हैं रजतादि आकाराकारित अविद्यावृत्ति उसे भ्रान्ति कहते हैं। और ऐसे वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य जो साक्षीचैतन्य है उसे भ्रान्ति प्रतीति कहते हैं।

अब यह जो भ्रान्ति प्रतीति है क्या वह सविषयक है अथवा निर्विषयक है? इसमें पहिला विकल्प मानें कि भ्रान्ति प्रतीति का विषय होता है तो क्या वह भ्रान्ति प्रतीति का विषय सत् माना जाय अथवा असत् माना जाय अथवा सदसदुभयात्मक माना जाय। इसमें भी पहिले विकल्प में क्या वह विषय सत् उसी शुक्ति में है। या अन्यत्र बाजार में सत् है। यदि इसमें यह कहें कि बाजार वाला रजत सत् है। तो यह भी पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि अन्यत्र रहने वाला रजत उसकी अपरोक्ष प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि अपरोक्ष प्रतीति के लिये तो इन्द्रिय सन्निकर्ष की आवश्यकता होती है। और यह रजतादि अन्यत्र बाजार में सत् रूप से होने पर भी इन्द्रिय का तो उसके साथ सन्निकर्ष हो नहीं सकेगा। अब रह गई पहिले विकल्प की बात कि शुक्ति में ही वह रजत सत् है, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि फिर तो "नेदं रजतमिति" यह रजत नहीं है ऐसा बाध नहीं हो पायेगा।

यदि कहो कि प्रतीति का विषय असत् है। तो यह उत्तर भी ठीक नहीं है। क्योंकि जो पदार्थ असत् होता है उसकी अपरोक्ष प्रतीति नहीं हो सकती। यदि कहो कि प्रतीतिका विषय सदसदुभयात्मक है। तो यह भी उत्तर ठीक नहीं है। इसी आशय से कहा जा रहा है—

भ्रान्तिप्रतीतिविषयो न च सन्न चास-
न्नाकाशतत्कुसुमयोर्न हि सास्ति नापि।।
तस्या भवेत्सदसदात्मकगोचरत्वं
न ह्यस्ति तत्किमपि यत्सदसत्स्वरूपम्।।३३६।।

अन्वयः= भ्रान्तिप्रतीतिविषयः न सत् न च असत्, आकाशतत्कुसुमयोः हि सा नास्ति। तस्याः सदसदात्मगोचरत्वं अपि न। तत् हि किमपि नास्ति, यत् सदसत्स्वरूपम्।।३३६।।

अन्वयार्थ= भ्रान्ति प्रतीति का विषय न तो सत् है न असत्, क्यों सत् आकाशादि तथा असत् आकाश पुष्पों की कहीं भ्रान्ति नहीं हो सकती। वह भ्रान्ति सदसद्रूप वस्तु को भी विषय नहीं कर सकती। क्यों कि जगत् में ऐसी कोई वस्तु है नहीं जो उभय रूप हो।।३३६।।

भ्रान्तिप्रतीतीति। सदसदेकैकविषयत्वे भ्रान्तिरपि सा न स्यादित्याह—आकाशेति। यतः सा भ्रान्तिराकाशतत्कुसुमयोर्नास्ति अतो भ्रान्तिप्रतीतिविषयो न च सन्न चासन्निति पदयोजना। पररीत्याऽऽकाशेत्युक्तं, न ह्याकाशे सति आकाश इति ज्ञानं तत्कुसुमेऽत्यन्तासत्यसदिति ज्ञानं भ्रमो भवतीत्यर्थः। तृतीयेऽपि एकस्य सदसद्विषयत्वानपायाद् भ्रान्तित्वानुपपत्तिस्तुल्येत्यभिप्रेत्याह— नापीति। भ्रान्तेः सदसदात्मकविषयत्वाभावे विषयाऽसम्भवमपि हेतुमाह—न ह्यस्तीति। विरूद्ध- समुच्चयस्य क्वाप्यदृष्टत्वादिति भावः।।३३६।।

भ्रान्तिप्रतीति इति= भ्रान्ति प्रतीति का विषय सत् या असत् हो इसमें से एक भी उत्तर ठीक नहीं है। क्योंकि आकाशेति— यदि भ्रान्ति प्रतीति का विषय सत् या असत् मानें तब तो यह भ्रान्ति आकाश तथा गगन कमल में होनी चाहिये। आकाश सत् है और गगनकमल असत् है जहां जहां विषय क्रम से सत् तथा असत् रूप से हो वहां वहां भ्रान्ति प्रतीति होनी चाहिये। लेकिन यह भ्रान्ति नहीं होती है। अतः भ्रान्ति प्रतीति का विषय न तो सत् है और न तो असत् ही है। ऐसी पद योजना करनी है। न्यायमत में आकाश इत्युक्तम्। आकाश ऐसा कहा। तो आकाश के रहते हुये यह आकाश है। यह ज्ञान तथा आकाश पुष्प में यह अत्यन्त असत् है तो भी ऐसा ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान नहीं होता है। इसलिये भान्ति प्रतीति का विषय न तो सत् ही माना जा सकता है और नहीं असत् ही माना जा सकता है। अब रह गया तीसरा विकल्प- भ्रान्ति प्रतीति का विषय सदसदुभयात्मक होना चाहिये। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक ही पदार्थ सत् और असत् उभयात्मक कैसे हो सकेगा? जब उभय रूप यह पदार्थ नहीं बनेगा तो भ्रान्तित्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी। इसलिये कहा नापीति। भ्रान्ति का विषय सत् असद् उभयात्मक न होने के कारण भ्रान्ति के विषय की ही असम्भावना हो जाती है न ह्यस्तीति। विरूद्ध स्वभाव वाले पदार्थ एकत्र कहीं भी समुच्चित नहीं हो सकते। यह भाव है।

इदानीं भ्रान्तिरविषयेति पक्षं प्रतिक्षिपति—

अब भ्रान्ति निर्विषयक होती है इस पक्ष का खण्डन कर रहे हैं—

आलम्बनं च विरहय्य न विभ्रमस्य
ज्ञानात्मनो भवति जन्म कदाचिदत्र।।
सिद्धं ततः सदसती व्यतिरिच्य किं चि-
दालम्बनं भ्रमधियः सकलप्रवादे।।३४०।।

अन्वयः— अत्र आलम्बनं विरहरय च ज्ञानात्मनो विभ्रमस्य जन्म कदाचित् न भवति। ततः सकल—प्रवादभ्रमधियः सदसती व्यतिरिच्य किञ्चित् आलम्बनं सिद्धम्।।३४०।।

अन्वयार्थः— इस लोक में आलम्बविषय को छोडकर ज्ञान रूप प्रमा का जन्म कभी नहीं होता। इसलिये सभी मतों में भ्रमज्ञान का सत् तथा असत् उभय से भिन्न कोई विषय सिद्ध होता है।।३४०।।

आलम्बनमिति। विरहय्य वर्जयित्वा। भ्रमस्य निर्विषयत्वाभावे हेतुतया तं विशिनष्टि-ज्ञानात्मन इति। अत्र लोके तथा च ज्ञानस्य सविषयत्वनियमाद् भ्रमज्ञानस्याविषयत्वमनुपपन्न-मिति भावः। अतः परिशेषाद् भ्रान्तिविषयोऽनिर्वचनीय एव सर्वैरप्यभ्युपगन्तव्य इत्युपसंहरन्नाह-सिद्धं तत इति। व्यतिरिच्य विहाय। किं चित् सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयम्। तदालम्बनं सिद्धमित्यर्थः। विषयस्यानिर्वचनीयत्वेन विषयिणोऽप्यनिर्वचनीयत्वमर्थ- सिद्धमन्यथा तद्विषयत्वायोगादिति भावः। न च सदसत्त्वसमुच्चयवत्तद्वैक्षण्यसमुच्चयरूपमनिर्वचनीयत्वमपि विरुद्धमिति वाच्यम्। अनिर्वचनीयत्वस्याप्यनिर्वचनीयत्वेन विरोधस्यालङ्कारत्वादिति भावः।।३४०।।

आलम्बनमिति= आलम्बन को, *विरहय्य* छोडकर के। भ्रम कभी भी निर्विषयक नहीं हो सकता। इसका हेतु स्पष्ट कर रहे हैं। ज्ञानात्मन इति। अत्र— इस लोक में। अर्थात् ज्ञान हमेशा सविषयक ही होता है। तो भ्रमज्ञान निर्विषयक होता है यह कहना अनुपपन्न है, युक्त नहीं है। अतः परिशेष न्याय से भ्रान्ति ज्ञान का विषय अनिर्वचनीय ही सबको मानना चाहिये ऐसा उपसंहार कर रहे हैं। सिद्धं तत इति। व्यतिरिच्य छोड करके। आलम्बन को छोड नहीं सकते। अतः सत् और असत् दोनों को छोडकर किंचित सद्असद्विलक्षण अनिर्विचनीय आलम्बन ही। तदालम्बनं सिद्धं— भ्रान्ति ज्ञान का विषय है यह बात सिद्ध हो जाती है। विषय के अनिर्वचनीय होने से तदधीन ज्ञान भी (विषयी भी) अनिर्वचनीय अपने आप सिद्ध हो जाता है। यदि विषयी अनिर्वचनीय नहीं होगा तो उसे विषय भी नहीं मिलेगा।

आशंका= सदसत्त्व समुच्चय के समान इन से विलक्षण रूप समुच्चयरूप (सत् से भिन्न असत् से भिन्न, उभय से भिन्न आदि समुच्चय रूप) अनिर्वचनीयत्व भी तो विरुद्ध ही कहना चाहिये।

समाधान= अनिर्वचनीय तो अनिवर्चनीय है ही, अनिर्वचनीयत्व में ऐसा विरोध आना तो हमारे लिये अलंकार ही है।।

यत्तु "वाक्यं प्रसूतमतिरिन्द्रियजन्यधीवन्नार्थापरोक्ष्यजननी भवितुं समर्था" इत्यादिना वेदान्तवाक्यस्य ब्रह्मण्यपरोक्षज्ञानजनकत्वायोगादपरोक्षे ब्रह्मणि परोक्षज्ञानस्य प्रमात्वायोगाच्च न तत्र तत्प्रामाण्यमित्युक्तं तद्दूषयति–

आशंका– यत्तु वेदान्त एक देशीमत= जिस प्रकार अतीन्द्रिय जन्य बुद्धि विषयक का अपरोक्ष नहीं करा सकती इसी प्रकार वाक्य भी ऐसे विषय का अपरोक्ष नहीं करा सकता। "वाक्यं प्रसूतमतिरिन्द्रियजन्यधीवन्नापरोक्ष्य जननी भवितुं समर्था" इस प्रकार वेदान्त वाक्य भी ब्रह्म विषयक अपरोक्ष ज्ञान जनक न होने के कारण ब्रह्मविषयक परोक्ष ज्ञान कराने से इस परोक्ष ज्ञान को प्रमा नहीं मान सकते है। इसी प्रकार वेदान्त वाक्य को ऐसे परोक्ष प्रमाज्ञान को उत्पन्न कराने के कारण प्रमाण भी नहीं मान सकते।

समाधान= यह पक्ष ठीक नहीं है।

ब्रह्मात्मवस्तु निरवद्यचिदेकरूपं
वह्न्युष्णतावदपरोक्षवपुःस्वभावात्।।
निर्दोषवेदशिरसो वचनादतोऽस्मिन्
ब्रह्मात्मवस्तुनि भवेदपरोक्षबुद्धिः।।३४१।।

अन्वय:= ब्रह्मात्मवस्तु निरवद्यचिदेकरूपं वह्न्युष्णतावत् स्वभावात् अपरोक्षवपुः, अतः अस्मिन् ब्रह्मात्मवस्तुनि निर्दोषवेदशिरसः अपरोक्षबुद्धिः भवेत्।।३४१।।

अन्वयार्थः= ब्रह्म वस्तु शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने से वह्नि गत उष्णता के समान् स्वभावतः अपरोक्ष है। अतः इस ब्रह्मात्मवस्तु का स्वतः निर्दुष्ट वेदान्त वाक्यों से अपरोक्ष ज्ञान होगा।।३४१।।

ब्रह्मात्मवस्त्विति। अवद्यं तदापरोक्ष्यप्रतिबन्धको वास्तवो मलस्तद्रहितमित्यर्थः। चिद्रूपमपि द्रव्यांशसंवलितं चेत्स्यादपि कदाचित्परोक्षमित्यत एकेतिविशेषणम्। वह्नेरौष्ण्यं यथा स्वभावस्तथा। यथा स्वभावाद्वह्निरुष्णस्तथा स्वभावादपरोक्षवपुरित्यर्थः। ततः किं तत्राह– निर्दोषति। अनेन वेदान्तेभ्यः भ्रमासंभवात्तज्जन्यज्ञानस्य भ्रान्तित्वमिष्टमिति न मन्तव्यमिति दर्शितम्। अपौरुषेये वेदान्ते भ्रान्त्यादिमूलत्वाभावान्निर्दोषत्वं च सर्वसंप्रतिपन्नमिव यतो निरवद्यचिदेकरूपं ब्रह्मात्मवस्तु स्वभावादपरोक्षवपुस्ततोऽस्मिन् ब्रह्मात्मवस्तुनि निर्दोष-वेदशिरसोऽपरोक्षबुद्धिर्भवेदिति संबन्धः। ज्ञानापरोक्षत्वं ह्यपरोक्षविषयत्वेनैव न त्विन्द्रिय-

जन्यत्वेन, सुखादिज्ञानस्य नित्यसाक्षिरूपस्यापरोक्षस्यापीन्द्रियजन्यत्वाभावेनापरोक्षविषयत्वस्यैव तत्र तत्प्रयोजकत्वात्। प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म चापरोक्षचिन्मात्रत्वाद्यत्साक्षादपरोक्षादिति श्रुतेश्च नित्यापरोक्षमेवेति तत्र वेदान्ताज्जातं ज्ञानं शब्दप्रसूतमपि विषयमहिम्नाऽपरोक्षमेव भवेदिति चोक्तदूषणमिति भावः।।३४१।।

ब्रह्मात्मवस्तुइति= अवद्यं= ब्रह्म कैसा है? तो बताते हैं। ब्रह्म के अपरोक्ष में प्रतिबन्धक की भूत जो मल है उससे रहित ऐसा ब्रह्म है। और चिदेकरूपम्– चिद्रूप भी है। एकेति= किसी द्रव्य के अंश के साथ हो तब तो कदाचित् परोक्षत्व की भावना भी हो सकती थी। लेकिन किसी भी द्रव्य के साथ कोई सम्मिश्रण ही नहीं है इसलिये कहा एकेति। वह्नेरौष्ण्यं= जिस प्रकार उष्णता अग्नि का स्वभाव है वैसे ब्रह्म स्वभाव से अपरोक्ष (वपुवाला) है। इससे क्या लाभ हुवा?

निर्दोषेति= इससे वेदान्त से भ्रमकी संभावना न होने से, वेदान्त जन्य ज्ञान भ्रान्ति युक्त है ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि वेदान्त अपौरुषेय होने से भ्रान्ति का मूल पुरुषगत दोषादि उसका अभाव वेदान्त में होने से वेदान्त निर्दोष है, यह सर्वसम्मत ही है। इसलिये निरवद्यचिदेकरूप ब्रह्म में स्वाभाविक अपरोक्षता होने के कारण "ब्रह्मात्मवस्तुनि" आत्मा ब्रह्मस्वरूप ही है ऐसी अपरोक्ष बुद्धि निर्दोष वेदान्त वाक्य से उत्पन्न होती ही है। ज्ञान में जो अपरोक्षता है वह विषय के अपरोक्षत्व के कारण है न कि ज्ञान की अपरोक्षता इन्द्रिय जन्यत्व के कारण। और भी देखिये– सुखादि ज्ञान जो नित्य साक्षीरूप है, और यह ज्ञान अपरोक्ष भी है। लेकिन यह सुख दुःखादि ज्ञान इन्द्रियजन्य भी नहीं है। तो भी इसे अपरोक्ष मानते हैं क्योंकि इसका विषय सुख दुःखादि उसके अपरोक्ष होने से तद्विषयक ज्ञान को अपरोक्ष माना जाता है। वह साक्षीभास्य है यह अलग बात है आत्मा से ब्रह्म अभिन्न है वह ब्रह्म अपरोक्ष है। चिन्मात्र होने से साक्षात् अपरोक्ष है। "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मेति" ऐसी श्रुतियां भी विराजमान हैं। ब्रह्म नित्य अपरोक्ष है ही, और इसमें भी वेदान्त से उत्पन्न होने वाला शाब्द बोध विषय के ब्रह्म के अपरोक्ष होने के कारण अपरोक्ष स्वरूपपरक ही यह बोध है। इसमें कोई दोष नहीं है।

यच्चोक्तं "नैतत्प्रमाणमपनेतृ सतो न तावत्" इत्यादिना स्वप्रकाशे ब्रह्मणि यथा भावरूपं प्रमाणाधेयं स्फुरणं न संभवत्येवं सदादि स्वभावस्याविद्यादेर्निवृत्तिरपि न सम्भवतीति व्यर्थं तत्र वेदान्तप्रामाण्यमिति तदप्येवं सत्यनवकाशमिति तद्दूषयति–

यच्चोक्तम्= आशंका= "नैतत् प्रमाणमपनेतृ सतो न तावत्" इस सूत्र से स्वप्रकाश ब्रह्म

में जिस प्रकार से प्रमाण से कोई भाव रूप आधेय रूप स्फुरण संभव नहीं होता है। इसी प्रकार से सद् स्वभाव वाली अविद्या की निवृत्ति भी तो नहीं हो सकती। तो फिर क्यों वेदान्त को प्रमाण मानें। इस प्रकार वेदान्त को कोई अवकाश नहीं है जो की घुस सकें।

समाधान= यह कहना ठीक नहीं हैं–

सा चोपनेयरहिते विषयिण्यनन्ते–
ऽनिर्वाच्यमग्रहणमात्रमपाकरोति।।
स्वोत्पत्तिलब्धनिजवस्तुबलेन तत्र
तापत्रयं समुपशाम्यति निर्निमित्तम्।।३४२।।

अन्वयः= सा च स्वोत्पत्तिलब्धनिजवस्तुबलेन, उपनेयरहिते अनन्ते विषयिणि अनिर्वाच्यं अग्रहणमात्रम् अपाकरोति। तत्र तापत्रयं निर्निमित्तं समुपशाम्यति।।३४२।।

अन्वयार्थः= वेदान्तवाक्य जन्य बुद्धि उत्पत्ति समय से ही अपने में अभिव्यक्त चैतन्य के द्वारा अनन्त चैतन्य में अनिर्वचनीय अज्ञान मात्र का अपाकरण करती है। वहाँ तीनों ताप अपने आप ही शान्त हो जाते हैं।।३४२।।

सा चेति। अपरोक्षबुद्धिरित्यर्थः। उपनेयं प्रमाणाधेयं स्फुरणं तद्रहित इत्यर्थः। विषयिणि चैतन्ये। अनन्ते अपरिच्छिन्ने। एतदपि तदभावे हेत्वन्तरम्। अनिर्वाच्यमिति-छेदः। अग्रहणं-ग्रहणविरोध्यज्ञानम्। अज्ञानतत्कार्यप्रपञ्चस्य प्रागुक्तन्यायेनानिर्वचनीयत्वात्तस्य च लोके ज्ञानान्निवृत्तिदर्शनाद्वेदान्तजन्यब्रह्मसाक्षात्कारान्निवृत्तिरुपपद्यत इति भावः। अज्ञानमात्रं ज्ञाननिवर्त्यं प्रपञ्चस्तु तन्नाशेनैव नश्यतीति मतेन मात्रमित्युक्तम्। ननु वेदान्तजन्यजडवृत्तेः कथमज्ञाननिवर्तकत्वमिति तत्राह-स्वोत्पत्तीति। स्वोत्पत्त्या लब्धमभिव्यक्तं यन्निजवस्तु स्वरूपं चैतन्यं तद्बलेनेत्यर्थः। नन्विद्यानिवृत्तिः पुरुषेण नार्थ्यते सुषुप्त्यादावनर्थं विना तिष्ठन्त्यास्तस्याः साक्षात्परम्परया वाऽनर्थत्वाभावादित्याशङ्क्य सुषुप्त्यादौ ततोऽनर्थाभावेऽपि समयान्तरे तत्सम्भवात्तन्निवृत्तिरप्यात्यन्तिकानर्थनिवृत्तिमिच्छद्भिरर्थनीयेति तन्निवृत्तावात्मन्याध्यात्मिकादित्रि-विधदुःखस्य विनैव पुंव्यापारमन्यद्वा निमित्तमुपशान्तिर्भवतीति सफलैवात्मनि वेदान्तव्यापृति-रित्याह– तत्रेति। अविद्यानिवृत्तौ सत्यां स्वात्मनि वा।।३४२।।

सा चेति= अपरोक्ष बुद्धि "उपनेयरहिते= प्रमाणों के द्वारा आधेय स्फुरण रहित कहाँ? विषयिणि= चैतन्य में ब्रह्म में। अनन्ते= अपरिच्छिन्त्र ब्रह्म में। यह भी आधेय के अभाव में ही कारण है। जो वस्तु परिच्छिन हो उसमें कोई आधेय रखा जाता है।

लेकिन ब्रह्म अपरिच्छिन्न होने के कारण कोई भी आधेय वस्तु उसपर रखी नहीं जा सकती। चाहे वेदान्त हो या और कोई।

समाधान= अनिर्वाच्यमिति= अग्रहणम्– ब्रह्म के ग्रहण विरोधी अज्ञान है। अज्ञान तथा उसका कार्य प्रपञ्च दोनों ही पहिले युक्तियों से अनिर्वचनीय है, यह बता दिया है। और अज्ञान तथा उसका कार्य प्रपञ्चादि इन दोनों की निवृत्ति ज्ञान से होती है। अर्थात् वेदान्त जन्य ब्रह्म साक्षात्कार से ही इनकी निवृत्ति हो सकती है। और कोई उपाय नहीं है। ज्ञान से तो अज्ञानमात्र ही निवृत्त होता है। प्रपञ्च तो अज्ञान नाश के साथ ही साथ नष्ट हो जाता है। इस मत के अनुसार मात्र शब्द का प्रयोग श्लोक में किया गया। अर्थात् अज्ञान मात्र हट जाने से ही प्रपञ्च की निवृत्ति अपने आप हो जाती है, यह भाव है।

आशंका= वेदान्त वाक्य जन्य जडवृत्ति अज्ञान की कैसी निवर्तक होगी?

समाधान= स्वोत्पतीति- वेदान्त जन्य वृत्ति उत्पन्न होने पर, लब्धम्= अभिव्यक्त होती, यन्निजवस्तु= स्वरूप चेतन अभिव्यक्त होता है ऐसे वृत्ति के उत्पन्न होने ब्रह्म अभिव्यक्त होता है। इस बल से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।

आशंका= अविद्या की या अज्ञान की निवृत्ति की तो पुरुष ने कामना नहीं की। जैसे सुषुप्ति में हम अज्ञान की या अविद्या की निवृत्ति नहीं चाहते हैं। तो सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में अविद्या यदि रहे और वह कुछ भी अनर्थ नहीं करती है तो साक्षात् यह परंपरा से उसमें अनर्थकारीरत्व भी नहीं है। तो उसे क्यों हटायें?

समाधान= सुषिप्ति में अनर्थकारित्व अविद्या में भले ही न हो, लेकिन समयान्तर में जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में उसमें अनर्थकारित्व आता ही है इसलिये उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति की कामना करने वाला व्यक्ति तो उसे हटाना चाहता है। जब इस अविद्या की या अज्ञान की निवृत्ति होगी तभी तो पुरुष में रहने वाले अध्यात्मिक आधिदैविक, आधिभौतिकादि त्रिविधदुःखों की निवृत्ति होगी। लेकिन यह निवृत्ति पुरुष के किसी व्यापार से संभव नहीं है और न किसी अन्य निमित्त से ही संभव है। इसका तो एक ही उपाय है वेदान्त शास्त्र में शरणागती। तत्रेति= वेदान्त वाक्य से अविद्या निवृत्ति होने पर आत्मा में सभी तापों कि निवृत्ति हो जाती है।

यदप्युक्तं लोके शब्दानां सङ्गतिग्रहात्तस्य च प्रवर्त्तकवाक्याधीनत्वात्प्रवर्त्तककार्यान्वित एव गवादिपदसङ्गतिग्रह इति वेदोऽपि कार्यपर एव न सिद्धब्रह्ममात्रपर इति, तद् दूषयितुमनुवदति–

यद्यपि यह कहा गया है कि लोक में शब्द के संगति ग्रह होने से, और यह संगति ग्रह, प्रवर्तक वाक्याधीन है, प्रवर्तक हुवा कार्य तदन्वित ही गवादिपद संगति ग्रह है। वेद में भी यही प्रक्रिया माननी पडेगी। अर्थात् वेद भी कार्य परक ही मानना पडेगा न कि सिद्ध ब्रह्म मात्र परक वेद को मानना उचित है। इस मत का खण्डन करने के लिये इसका अनुवाद करते हैं—

वाक्यात्प्रवर्त्तकनिवर्त्तकरूपभाजः
पुंसः प्रवृत्तिमुपलभ्य धियोऽनुमानात्।।
कार्यान्विते शिशुरवैति पदस्य शक्ति-
मित्युच्यते यदि तु तत्र वयं वदामः।।३४३।।

अन्वयः= प्रवर्तकनिवर्तकरूपभाजः वाक्यात् पुंसः प्रवृत्तिम् उपलभ्य धियः अनुमानात्ः शिशुः कार्यान्विते पदस्य शक्तिं अवैति, इति यदि उच्यते, तत्र वयं तु वदामः।।३४३।।

अन्वयार्थः= प्रवर्तक निवर्तक कार्य स्वरूप विषयक (गामानयादि) वाक्यों के द्वारा पुरुष की प्रवृत्ति निवृत्ति को देखकर (पुरुषगत) ज्ञान का अनुमान करके बालक कार्यान्वित अर्थ में शब्द की शक्ति का ज्ञान करता है। यह जो कहा था। उस पर हमारा कथन है।।३४३।।

वाक्यादिति। प्रवर्त्तकनिवर्त्तकरूपं प्रवर्त्तकनिवर्त्तकस्वरूपं कार्यं तद्भाजस्तद्गोचरादित्यर्थः। गामानय परिहर सर्पमित्यादिप्रयोजकवृद्धवाक्यात्पुंसः प्रयोज्यवृद्धस्य प्रवृत्तिं निवृत्तिं चोपलभ्य पश्चाद्धियः कार्यधियोऽनुमानात्कार्यान्विते पदस्य शक्तिं शिशुर्व्युत्पित्सुरवैति अवगच्छतीति योजना। तुरवधारणे। कार्यान्विते एवेति संबन्धः। सिद्धान्ती तद्दूषणं प्रतिजानीते-तत्रेति। दूषणमिति शेषः।।३४३।।

वाक्यादिति= प्रवर्त्तकनिवर्त्तकरूपं= प्रवर्त्तकनिवर्त्तकस्वरूप जो कार्य, तद्भाजः= कार्यविषयक, कार्य गोचर होने से। अर्थात् गामानय, गौ को ले आवो, परिहर सर्पम्।। सांप को भगाओ इत्यादि प्रयोजक वृद्ध के वाक्य से मनुष्य की आज्ञापालन करने वाले मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति इन दोनों को देखने के बाद, धियः- कार्य बुद्धि का, अनुमानात् कार्यान्वित में पद की शक्ति है, ऐसा व्युत्पन्न बालक जान पाता है। तु- अवधारणार्थक निश्चितार्थक है। कार्य परक ही पद की शक्ति है यह सम्बन्ध है। सिद्धान्ती इस बात का खण्डन कर रहे हैं। तत्रेति= दूषण प्रदान कर रहे हैं।

कार्यान्वितसंगतिवादिना किं योग्येतरत्वमपि तद्विशेषणमाश्रयणीयमुत न, अन्त्ये अन्वय

एव न संभवति, कुतः कार्यान्वय इत्यभिप्रेत्याद्ये योग्येतरान्वित एवावश्यापेक्षिते शब्दस्य वृद्धप्रयोगे शक्तिर्गृह्यतां किं कार्यत्वेनापि विशेषणेनेत्याशयेनाह—

पद की शक्ति कार्य परक है तथा शब्द का संगति ग्रह कार्यान्वित में ही है। तो कार्यान्वित में योग्येतरत्व विशेषण भी देना जरूरी है कि नहीं। अर्थात् योग्येतरत्वकार्यान्वित में विशेषण भी है या नहीं। यदि यह कहें कि योग्येतरत्व कार्यान्वित में विशेषण नहीं है तो अन्वय ही संभव नहीं हो पायेगा। क्योंकि कार्यान्वय इस अभिप्राय में प्रथम योग्येतरान्वित का होना आवश्यक है। मैं यहां कहूंगा कि शब्द शक्ति वृद्ध प्रयोग में योग्येतरान्विततत्व से ही काम चलेगा उसमें कार्यान्वित की आवश्यकता नहीं है। कार्यत्व विशेषणशक्ति में देने की जरूरत नहीं है। इस आशय से कहा जा रहा है—

योग्येतरान्वितपदार्थनिवेदने तु
शब्दस्य शक्तिरिह वृद्धजनप्रयोगे।।
विज्ञायते न खलु कार्यसमन्वितेऽर्थे
कार्याभिधायिषु पदेष्वपि तत्प्रसङ्गात्।।३४४।।

अन्वय= इह खलु वृद्धजनप्रयोगे योग्येतरान्वितपदार्थनिवेदने तु शब्दस्य शक्तिर्विज्ञायते, कार्यान्विते अर्थे न खलु, कार्याभिधायिषु पदेष्वपि तत्प्रसङ्गात्।

अन्वयार्थः= वहां वृद्ध जनों के वाक्य प्रयोगों में योग्य इतर पदार्थ से अन्वित स्वार्थ में ही पद की शक्ति निष्चित होती है। कार्यान्वित अर्थ में नहीं। नहीं तो कार्यवाचक पदों में भी उसकी प्रसक्ति हो जाती।।३४४।।

योग्येतरेति। अन्वययोग्यं यदितरत् तदन्वितस्य पदार्थस्य निवेदने ज्ञापन इत्यर्थः। योग्यता तु सिद्धस्य कार्येण कार्यस्य च सिद्धेन। तुरवधारणे। कार्यसमन्वितेऽर्थे शब्दस्य शक्तिरित्यनुषङ्गः। नन्वव्यभिचारात्कार्यान्वय्येव शब्दार्थ इत्याशङ्क्यासिद्धो हेतुरित्याशयेनाह कार्याभिधायिष्विति। कार्यवाचकलिङ्लोड़ादिपदेष्वपि कार्यान्विते शक्तिप्रसङ्गादित्यर्थः।।३४४।।

योग्येतरेति= अन्वय योग्य जो दूसरा पदार्थ है, उससे अन्वित पदार्थ का, निवेदने ज्ञापन करने में, शब्द की शक्ति को मानने से। योग्यता है, सिद्ध की कार्य के साथ और कार्य की सिद्ध के साथ। तु= निश्चित रूप से। कार्य समन्वित अर्थ में शब्द का शक्ति ग्रह है यह अनुषङ्ग कर लेना।

आशंका= कार्यसमन्वित अर्थ में ही शब्द का शक्तिग्रह न मानते हुये कार्यान्वयि में ही शब्दार्थ माना जाय?

समाधान= इसमें असिद्ध हेतु होगा। इस आशय से कहा जा रहा है- कार्याभिधायिष्विति= कार्यवाचक लिङ्ग लोडादि पदों में भी कार्यान्वित शक्ति प्रसङ्ग आ जायेगा गां आनय इस में इस अवस्था में गौ को छोडकर लोडन्त पद का भी कार्यान्वित में शक्ति ग्रह होने लगेगा। इसलिये कार्यान्वित अर्थ में ही शब्द का शक्ति ग्रह मानना चाहिये।।

नन्वेतदिष्टप्रसञ्जनमित्याशङ्क्य सप्रसञ्जकं प्रसङ्गमनुवदन्नस्यानिष्टपर्यवसानमाह-

प्रश्न यह तो इष्टापत्ति ही हम मानेंगे।

समाधान= विस्तारपूर्वक इसका निरूपण करके- यह मत भी अनिष्टकारक है यह बता रहे है-

> कार्यान्वितार्थविषया यदि शब्दशक्तिः
> कार्यार्थवाचिषु लिङादिषु कार्यमन्यत्।।
> वक्तव्यमापतति तत्र च तत्र चान्यद्
> वक्तव्यमेव भवतीत्यनवस्थितिः स्यात्।।३४५।।

अन्वयः= यदि शब्द शक्ति कार्यान्वितार्थविषया स्यात् (तदा) कार्यार्थवाचिषु लिङ्गादिषु अन्यत् कार्यं वक्तव्यम् आपतति, तत्र च अन्यत् कार्यं वक्तव्यं भवत्येवेति अनवस्थितिः स्यात्।।३४५।।

अन्वयार्थः= यदि शब्द शक्ति नियम से कार्यार्थ से अन्वित अर्थ में ही होगी तब तो कार्यार्थ वाचक लिङादि शब्दों में अन्य कार्य कहना पडेगा। उसके वाचक शब्द में भी अन्य कार्य कहना पडेगा, इस प्रकार से तो अनवस्था दोष होगा।।३४५।।

कार्यान्वितार्थेति। अस्त्वेवमिति चेत्तत्राह-तत्र च तत्र चान्यदिति। येन कार्येणान्विते कार्ये लिङादिपदस्य शक्तिस्तस्यापि कार्यस्य लिङाद्यन्तरगम्यत्वे तत्रापि कार्यान्तरान्विते तस्य शक्तिर्वाच्येति लिङादिपदस्य तदभिधेयकार्यस्य चानन्त्यप्रसङ्गः। एकस्मिन्वाक्ये लिङादिनानात्वं चासंभवि। प्रकृतलिङादिनैव कार्यान्तरस्याप्यभिधाने तस्यापि कार्यस्याभिधानार्थं कार्यान्तरं वाच्यमिति तदानन्त्यं स्यात्। एकस्यानेकार्थत्वायोगाच्च। न च शब्दानभिधेयकार्यान्विते लिङादेः शक्तिरिति नोक्तदोष इति वाच्यम्। तदियत्ताऽभावेनानन्तकार्यान्विताभिधानप्रसङ्गात्। न च धात्वर्थकार्यान्वितं लिङाद्यभिधेयं कार्यमिति न कोऽपि दोषः स्यादिति वाच्यम्। धात्वर्थकार्यतायास्तन्मते प्रत्ययार्थकार्योपस्थित्यधीनावगमतयाऽन्योन्याश्रयात्। तस्माल्लिङादेः कार्यान्विते शक्तिरसङ्गतेति भावः।।३४५।।

कार्यान्वितार्थेति= यदि कार्यान्वितार्थ में शक्तिग्रह है तब तो कार्यार्थवाचि लिङादि में अन्य ही कार्यान्तंर मानना पडेगा। तत्र च तत्र चान्यदिति= जिस कार्य से अन्वित कार्य में लिङ्गादिपद की शक्ति मानते हैं, उस कार्य को भी अन्य लिङान्तरगम्य मानना पडेगा। उस कार्य को भी कार्यान्तरान्वित मानना पडेगा। उस कार्यान्तर में भी लिङादि पद की शक्ति माननी पडेगी। इस प्रकार लिङादिपद अभिधेय कार्य का आनन्त्य प्रसङ्ग उत्पन्न होगा। एक ही वाक्य में अनेक लिङ का होना असम्भव है। यदि कहो कि प्रकृत एक लिङ् से ही कार्यान्तर का भी अभिधान हो जाता है तो फिर उस कार्य के अभिधान के लिये जिससे अन्वित कार्य में लिङादिक की शक्ति है। उस कार्यान्तर के अभिधान के लिये कार्यान्तर कहना पडेगा। तो अनन्त कार्य का प्रसङ्ग आयेगा। और एक ही कार्य अनेकार्थ परक नहीं हो सकता, इस कार्य का भी अभिधान करें और अन्य कार्यान्तर का भी अभिधान करें।

आशंका= शब्द से जिस कार्य का अभिधान नहीं हुवा है ऐसे कार्यान्वित में लिङादिक की शक्ति मान लेवें तो फिर उपरोक्त दोष नहीं आयेगा।

समाधान= यह कहना भी उचित नहीं है। शब्द से जिसका प्रतिपादन नहीं किया गया ऐसे कार्यान्तिव में कोई माप तोल नहीं होने से अनन्तकार्यान्वितामिधान प्रसङ्ग आ जायेगा।

आशंका= धात्वर्थ कार्यान्वितम्? कार्य ही लिङादि अभिधेय मानेंगे। फिर तो कोई दोष नहीं आयेगा।

समाधान= यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि प्राभाकर मीमांसक मत में धात्वर्थ कार्योपस्थिति प्रत्ययार्थ कार्योपस्थिति के अधीन होने से अन्योन्याश्रय यह दोष आयेगा। अर्थात् धात्वर्थ कार्योपस्थिति प्रत्ययार्थ कार्योपस्थिति के अधीन, एवं= प्रत्ययार्थ कार्योपस्थिति धात्वर्थ कार्योपस्थिति के अधीन होगी। इसप्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। इसलिये ये लिङादिक की कार्यान्वित में शक्ति है, यह मत असङ्गत है। उपस्थिति प्रत्ययार्थकार्योपस्थिति के अधीन होने से अन्योन्याश्रय दोष आयेगा। अर्थात् धात्वर्थ कार्यो पस्थिति प्रत्ययार्थकार्योपस्थिति के अधीन एवं प्रत्ययार्थ कार्योपस्थिति धात्वर्थ कार्योपस्थिति के अधीन होगी। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। इसलिये लिङादिक की कार्यान्वित में शक्ति है। यह मत असङ्गत है यह सिद्ध हुवा।

एवं सर्वेषां कार्यान्विते शक्तिरिति पक्षे दूषिते, अस्तु तर्हि लिङादिव्यतिरिक्तानां कार्यान्विते शक्तिरित्याशङ्क्य तर्हि किं कार्यपदस्यानन्विते कार्ये शक्तिः, किं वा सिद्धान्विते।

आद्ये अन्वितकार्यप्रतीतिराकस्मिकी स्यादित्यभिप्रेत्य द्वितीयमनूद्य प्रत्याह—

इसप्रकार सभी पदों की कार्यान्वित में शक्ति है इस पक्ष के दुषित होने पर तो फिर लिङ् से अतिरिक्त पदों की ही कार्यान्वित में शक्ति, मानलेंगे। तो इसमें विकल्प करते हैं कि कार्य पद की कार्य में शक्ति, वह क्या अनन्वित से कार्य में शक्ति है कि सिद्धान्वित में है। यदि अनन्वितकार्य में शक्ति मानें तब तो अन्वितकार्य की प्रतीति आकस्मिक ही हो जायेगी। क्योंकि कार्य पद की शक्ति तो अनन्वित कार्य में हो गई। यदि कार्य पद की शक्ति की सिद्धान्वित में है। उसके प्रति यह कहेंगे—

सिद्धान्वितं यदि लिङादिपदानि कार्यं
ब्रूयुर्विनश्यति तदा नियमस्त्वदीयः।।
यो वर्णितः सकलमेव पदं स्वमर्थं।
कार्यान्वितं वदति नान्यदिति स्वशास्त्रे।।३४६।।

अन्वयः= यदि लिङादि पदानि सिद्धान्वितं कार्य ब्रूयुः, तदा त्वदीयः नियमः विनश्यति,यः सकलं पदं कार्यान्वितं स्वं अर्थमेव वदति, नान्यद् इति स्वशास्त्रे वर्णितः।।३४६।।

अन्वमाना= यदि लिङादि पद सिद्धार्थ से अन्वित कार्य को कहते हैं, तब आप का वह नियम नष्ट हो जायेगा जो कि सकल पद कार्यान्वित स्वार्थ को कहते हैं। अन्य को नहीं इस प्रकार आपके शास्त्र में वर्णित है।।३४६।।

सिद्धान्वितमिति। यस्यैवं नाशप्रसङ्गस्तमेव तदीयं नियममाह— यो वर्णित इति। अन्यत् सिद्धान्वितम्। प्राभाकरा हि स्वशास्त्रे "सर्वमेव हि पदं कार्यान्वितमेव स्वार्थं वदति न सिद्धान्वितम्" इति वर्णयन्ति। तत् लिङादेः सिद्धान्वितार्थे शक्त्यभ्युपगमे बाधितं स्यात्। किं चैवं पदान्तराणामपि सिद्धान्विते शक्तिप्रसङ्ग इति योग्येतरान्विते पदशक्तिरित्यस्मदुक्तमेव स्यात्। अन्यथा शब्दशक्तिप्रयोजकद्वैविध्यप्रसङ्ग इति भावः।।३४६।।

सिद्धान्वितमिति= जिससे इस सिद्धान्त का नाश होगा उसी नियम का वर्णन कर रहे है। यो वर्णितः इति। अन्यत्— सिद्धान्वित। प्राभाकर अपने ही शास्त्र में कहते हैं कि "सर्वमेव हि पदं कार्यान्वितमेव स्वार्थं वदति न सिद्धान्वितम्" सब पद मात्र कार्यान्तित में ही शक्तिमान् है न कि सिद्धान्वित में "ऐसा वर्णित करते हैं। और अब यहां यदि लिङादिक की सिद्धान्वितार्थ में शक्ति मान लेंगे तो उक्त सिद्धान्त का बाध हो जायेगा। और ज़ैसे लिङादि सिद्धान्वितार्थ में शक्तिमान् है इसी प्रकार अन्य पद भी सिद्धान्वितार्थ में शक्ति युक्त हो जायेंगे। इसलिये योग्येतरान्वित में ही शक्ति ग्रह मानना चाहिये यह हमारा वेदान्ती का

कहना ही उचित है। नहीं तो शब्द शक्ति में कार्यान्वितार्थ, सिद्धान्वितार्थ रूप दो प्रयोजकत्त्व हो जायेंगे। इसके अपेक्षा योग्येतरान्वितत्व एक प्रयोजकत्व मानना ही उचित है।

पूर्वं योग्येतरान्विते पदशक्तिरित्ययमेव पक्षः साधुः न तु योग्येतरकार्यान्विते इति, तत्र कार्यत्वविशेषणस्य गौरवादिदुष्टत्वादित्युक्तम्। इदानीमुपयोगाभावाच्चैवमेवेत्याह–

पहिले तो योग्यतरान्वित में पद शक्ति है यह पक्ष ही साधु है। न कि योग्यतेरकार्यान्वित में पदशक्ति है यह साधु है। क्योंकि इसमें कार्यत्व विशेषण अन्वित में गौरव दोष से ग्रसित है। यह सब पहिले हम कह चुके हैं। अब कार्यत्व विशेषण का कोई उपयोग भी नहीं है। इस आशय से कहा जा रहा है-

योग्येतरान्वितनिमित्तकशब्दशक्ति-
व्युत्पत्तिरेव यदि संभवभागिनी स्यात्।।
आश्रीयते किमिति कार्यसमन्वितेऽर्थे
शब्दस्य शक्तिरसदर्थविशेषणेन।।३४७।।

अन्वयः= यदि योग्येतरान्वितनिमित्तशब्दशक्तिव्युत्पत्तिः एव सम्भवभागिनी स्यात् तदा असदर्थविशेषणेन कार्यसमन्वितेऽर्थे शब्दस्य शक्तिः किमिति आश्रीयते।।३४७।।

अन्वयार्थः= यदि योग्य इतर अर्थ से अन्वित स्वार्थ में ही शब्द शक्ति ग्रह सम्भव है, तब कार्यरूप विशेषण लगाकर कार्यान्वित में शब्द शक्ति क्यों मानी जाती है?।।३४७।।

योग्येतरान्वितेति। भावपरोऽयं निर्देशः, योग्येतरान्वितत्वं निमित्तं प्रयोजकं निरूपकमिति यावत्। यस्याः शब्दशक्तेस्तद्व्युत्पत्तिरित्यर्थः। योग्येतरान्विते शक्तिग्रह इति यावत्। संभवभागिनी स्यात् अबाधिता भवेत्। अनेन कार्यान्वितस्य वैयर्थ्यं द्योतितम्। तदेवाह–असदर्थविशेषणेति। असन् विद्यमानोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तादृशं विशेषणमभिमतं यस्य वादिनस्तेनेत्यर्थः। सम्भवे व्यभिचारे च स्याद्विशेषणमर्थवदिति न्यायेन सर्वस्यापि विशेषणस्य व्यावृत्तिप्रयोजनत्वात्तच्छून्यं विशेषणं न युक्तमिति भावः।।३४७।।

योग्येतरान्वितेति= यह निर्देश भावपरक है। योग्येतरान्वितत्व ही। निमित्तं= प्रयोजक या निरूपक है। यस्याः= शब्द शक्ति के व्युत्पत्ति के अनुसार। अर्थात् योग्यतरान्वित में शक्ति ग्रह है यह अभिप्राय है। संभवभागिनी स्यात्= अबाधितभाव से यह नियम है। इससे कार्यान्वित की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है। इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं– असदर्थविशेषणेति। असन्– अविद्यमान अर्थ है प्रयोजन जिसका, ऐसा विशेषण कार्यत्व रूप- ऐसे वादि को

समझना चाहिये। जहां व्यभिचार होता है वहां विशेषण अर्थवान हो सकता है इस न्याय से "सर्वस्यापि विशेषणस्य व्यावृत्ति प्रयोजनत्वाच्छून्यं विशेषणं न युक्तमिति भावः" सभी विशेषणों का यही तात्पर्य है कि इतरे से व्यावृत्ति करना। इससे रहित ऐसा विशेषण वह विशेषण नहीं है, यह भाव है।

सर्वत्र विशेषणोपादाननिमित्तं दर्शयन्कार्यान्वयित्वस्यासदर्थविशेषणत्वमुपपादयति—

सर्वत्र विशेषण को देने का निमित्त बताकर कार्यान्वितत्व विशेषण असदर्थ परक होने के कारण उसे असदर्थ विशेषण परक मानना चाहिये। यह बता रहे हैं—

यत्राविशेषितनिमित्तकताविरोधे
किं चिन्निवारकमुदीक्षितमस्तु तत्र।।
किं चिद्विशेषणविशिष्टमभीष्टशक्ते-
र्वस्तु प्रयोजकमिदं पुनरत्र नास्ति।।३४८।।

अन्वयः—यत्र अविशेषितनिमित्तकताविरोधे किञ्चित् निवारकं उदीक्षितं तत्र अभीष्टशक्तेः किञ्चिद्विशेषण विशिष्टं वस्तु प्रयोजकम् अस्तु, अत्र पुनः इदं नास्ति।।३४८।।

अन्वयार्थ= जहां सामान्य वस्तु को प्रयोजक मानने में कोई बाध देखा जाय, वहां अभिमत शक्ति की प्रयोजक विशेष विशेषण से विशिष्ट वस्तु ही होती है। किन्तु यहां वह बाधक नहीं है।

यत्रेति। यत्राविशेषितमविशिष्टं निमित्तं यस्य तदविशेषितनिमित्तकं तस्य भावस्तत्ता तस्या विरोधे अतिप्रसङ्गादिरूपे बाधे प्रसक्ते सति यदि तन्निवारकं विशेषणमीक्षितं तत्सम्भवतीत्यर्थः। एतावता सम्भवे व्यभिचारे च स्याद्विशेषणमर्थवदित्युक्तं विशेषणोपादानप्रयोजकं दर्शितम्। तत्र किंचिद्विशेषणविशिष्टं वस्त्वस्तु, निमित्तमिति शेषः। यत्र हि प्रवृत्त्यादौ केवलेष्ट साधनताज्ञानादेर्निमित्त्वे प्रवृत्त्यतिप्रसङ्गो बाधकोऽस्ति तत्र तत्परिहाराय यत्कृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्ट-साधनताभानादि प्रवृत्तिकारणमिति तत्तादृशस्थले विशेषणमुपादीयत इत्यर्थः। ततः किं तत्राह—अभीष्टेति। अत्र शब्दे, अभीष्टशक्तेर्योन्येतरान्वितगोचरशक्तेः पुनरिदमुक्तं प्रयोजकं कार्यान्वयित्वविशेषणोपादाने निमित्तं बाधकं किंचिदपि नास्तीति संबन्धः। शब्दशक्तेर्योग्येतरा-न्वयिविषयत्वे बाधकाभावान्न कार्यान्वयित्वमपि तद्गोचरविशेषणं कल्पनीयमित्यर्थः।।३४७।।

यत्रेति= जहां सामान्य रूप से सामान्य धर्म के निमित्त से जिस पदार्थ का सामान्य ही निमित्त बनने के कारण अतिप्रसंग उत्पन्न होता है, उसे हटाने के लिये विशेषण की जरूरत होती है। इसप्रकार का अतिप्रसङ्गादिरूप व्यभिचार को हटाने के लिये विशेषण

सार्थक हो जाता है इससे विशेषण की सप्रयोजकता सिद्ध हो जाती है- तत्र किंचिद् विशेषणविशिष्टं वस्तु अस्तु-जहां ऐसा अतिप्रसङ्ग उत्पन्न हो जाता है ऐसे स्थल में विशेषण को मानना जरूरी है। वह निमित्त मानना जरूरी है और भी जैसे प्रवृत्ति केवल इष्ट साधनता ज्ञान को निमित्त मानने पर प्रवृत्ति में अतिप्रसङ्ग हो जाता है। क्योंकि ऐसे अतिप्रसङ्ग प्रधानमंत्री पद मेरा इष्ट साधन है, ऐसा ज्ञान होने पर भी प्रवृत्ति देखने में नहीं आती, ऐसे अतिप्रसङ्ग- को हटाने के लिये कृति साध्यत्व विशिष्ट इष्ट साधनता ज्ञान को प्रवृत्ति का कारण मानना पडेगा। ऐसे स्थल में कृतिसाध्यत्वादि रूप विशेषण दिया जाता है। और ऐसे स्थल में ऐसा विशेषण सार्थक भी है।

इससे क्या लाभ हुवा अभीष्टेति। अत्र= शब्द में। अभीष्ट शक्तेः— योग्यतरान्वित गोचर शक्ति ही कारण मानने से, व्यवहार संपन्न हो जाता है। प्रयोजकम्—इसमें अब कार्यान्वयित्व विशेषण लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जैसे ऊपर बताया है ऐसी कोई अतिप्रसक्ति रूप व्यभिचार नहीं है। जिसको हटाने के लिये कार्यान्वयित्व विशेषण जरूरी हो। अर्थात् शब्द शक्ति योग्येतरान्वितत्त्व विषयक (गोचर) होने से कोई बाधक नहीं है, एतदर्थ कार्यान्वयित्व विशेषण देने की जरूरत नहीं है। गामानय यहां कार्य आनयन हुआ, उसका अन्वय-अनुयोगित्वेन गौ में है और प्रतियोगित्वेन आनयन में है, इसलिये गौ पदार्थ तथा आनयन क्रिया दोनों कार्यान्वयान्वयिनि हो गये।

यदुक्तं प्राक् "कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्तिः" इति नानेककार्यापत्तिरिति तत्रापीदं गौरवं दूषणमस्त्येवेत्याह—

जो पलिये कहा था— "कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्द शक्तिः "इति इसमें अनेक कार्य की आपत्ति नहीं आयेगी ऐसा कहा था उसमें भी यह गौरव दोष है ही। इसे स्पष्ट कर रहे है—

कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्ति-
रित्युच्यते यदि तदापि समानमेतत्।।
अन्वीयमानवचनत्वमतोपपत्तौ
कार्यान्वयान्वयिविशेषणगीर्वृथेति।।३४६।।

अन्वयः— यदि कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्तिरित्युच्यते, तदापि एतत् समानं। अन्वीयमानवचनत्वमतोपपतौ कार्यान्वयान्वयिविशेषणगीः वृथेति।।३४६।।

अन्वयार्थ= यदि कार्यान्वयी वस्तु में शब्द की शक्ति है यह कहा जाय। तब भी यह दोष समान है कि अन्वितार्थ वाचकता मत की उपपत्ति हो जाने पर कार्यान्वयान्वयि विशेषण व्यर्थ है।।३४६।।

कार्यान्वयान्वयीति। एतद्गौरवम्। साम्यमेवाह-अन्वीयमानेति। शब्दस्येति शेषः। यस्मिन्मते शब्दस्यान्वीयमानवचनत्वं तस्योपपत्तावित्यर्थः। इतिर्हेतौ, यस्मादेवं कार्यान्वयि-विशेषणगीर्वृथा तस्मादेतत्समानमित्यधस्तात्संबन्धः।।३४६।।

कार्यान्वयान्वयीति= यह गौरव दोष है। साम्यमेवाह समानता बता रहे हैं। अन्वीयमानेति- शब्द के अन्दर। जिस मत में शब्द के अन्दर अन्वीयमानवचनत्व अन्वित विषयक शक्ति है। इति= शब्द में ऐसी शक्ति हेतु है। जब ऐसा है तब कार्यान्वयि विशेषण गी वृथेति= कार्यान्वयि विशेषण देना व्यर्थ ही है। तो समान रूप से यह गौरव दोष उत्पन्न होगा। चाहे योग्यतेरान्विततत्व विषयक शक्ति माने चाहे अन्विततत्व विषयक शक्ति मानें दोनों में कार्यान्वयिविशेषण देना व्यर्थ ही है यह समान रूप से दोष उपपन्न हो जाता है। अर्थात् योग्यतरान्विततत्व में शक्ति मानकर सर्वार्थ सिद्धि हो सकती है।।

ननु गामानयेत्यादिवाक्यान्नियमेन कार्यान्वयितया गवादिपदार्थप्रतीतेः कार्यान्वय्येव शब्दार्थ इति चेत्तर्हि लौकिकं वाक्यं वक्तृज्ञानविवक्षागोचरतयाऽनुमानसिद्धार्थानुवादकमिति वदतस्तव वाक्यश्रवणानन्तरं तयोरपि नियमेन प्रतीतेर्वक्तव्यत्वाद्वक्तृज्ञातविवक्षितकार्यान्वयिनः शब्दार्थतापत्तिः। गौरवान्न तथेति चेत्। कार्यान्वयित्वमपि तत एव न तथेत्याशयेनाह-

आशंका= "गामानय" इत्यादि वाक्य से नियम से कार्यान्वित होकर गावादि पदार्थ की प्रतीति होती है, अतः कार्यान्वयी होकर गावादि पदार्थ की प्रतीति होती है, अतः कार्यान्वयी ही शब्दार्थ शब्द शक्ति के अधीन मानना होगा।

समाधान- तब तो यही मानना पडेगा कि (पक्ष) लौकिक वाक्य (हेतु) वक्ता के ज्ञान और विवक्षा का विषय होने से (साध्य) अनुमान सिद्धार्थानुवादकम् ऐसे बोलने वाले तुम्हारे वाक्य के श्रवण के बाद वक्ता का ज्ञान तथा विवक्षा दोनों की नियम से प्रतीति होनी चाहिये। अर्थात् जहां जहां आपके द्वारा उच्चारित वाक्य का श्रवण हो वहां वहां वक्ता का ज्ञान और विवक्षा जरूर हो। इस अवस्था में वक्ता का ज्ञान तथा विवक्षा दोनों ही अभिलषित (विवक्षित) कार्यान्वयी होने के कारण उनमें भी शक्ति प्रतिपाद्य शब्दार्थापत्ति श्रुतार्थापत्ति आयेगी। यदि यह कहो कि वक्ता का ज्ञान तथा विवक्षा में शब्दार्थापत्ति मानने से गौरव दोष होगा। क्योंकि वास्तविकता से देखा जाय तो वक्ता का ज्ञान और विवक्षा दोनों शब्द के अर्थ नहीं है तथा विवक्षित कार्यान्वयी होने से उनमें शब्दार्थापत्ति मानने से गौरव दोष

उत्पन्न होगा। यदि ऐसा आप आशंका वादी पूर्वपक्षी कहते हो तो मैं सिद्धान्त में यही कहूँगा कि कार्यान्वयीत्व शब्दार्थ नहीं है। इस आशय को स्पष्ट कर रहे हैं—

वक्तृज्ञानविवक्षयोरपि भवेच्छब्दार्थता तावके
पक्षे शब्दमनु प्रतीतिरुभयोरस्त्येव यस्मात्तयोः।
यद्यच्छब्दम्नु प्रतीतिपदवीमारोहदुत्प्रेक्ष्यते
तत्तद्वाच्यमिति स्थितौ नहि तयोः शब्दार्थतावर्जनम्।।३५०।।

अन्वयः= तावके पक्षे वक्तृज्ञानविवक्षयोरपि, शब्दार्थता भवेत् यस्मात् शब्दं अनुतयोः उभयोः प्रतीतिः अस्त्येव। यत् यत् शब्द अनुप्रतीतिपदवीं आरोहत् उत्प्रेक्ष्यते तत् तत् वाच्यम्, इति स्थितौ हि तयोः शब्दार्थतावर्जनं न।।३५०।।

अन्वयार्थः= आपके पक्ष में वक्ता के ज्ञान और विवक्षा में भी शब्दार्थता माननी होगी। क्योंकि श्रवण के अनन्तर उन दोनों की भी प्रतीति होती है। जो जो (अर्थ) शब्द श्रवण के अनन्तर प्रतीति पथ में आरूढ होता देखा जाता है, वह अर्थ वाच्य होता है। ऐसा मानने पर उन दोनों में शब्दार्थता अवश्यम्भावी है।।३५०।।

वक्तृज्ञानविवक्षयोरिति। शब्दमनु प्रतीतिः, शब्दं निमित्तीकृत्य प्रतीतिरस्त्येवेति। अन्यथा तद्विषयतया वाक्यार्थस्य सिद्ध्यभावेन वाक्यस्यानुवादकत्वायोगादित्यर्थः। नन्वेतावता कथं तयोरस्मत्पक्षे शब्दार्थत्वमिच्छतस्तव मते कथं तयोः शब्दार्थतावर्जनं स्यादित्याह— यद्यच्छब्दमिति। पदवीं विषयताम्। उत्प्रेक्ष्यते दृश्यते। यद्यच्छब्दानन्तरं प्रतीयत इत्यर्थः। स्थितौ मते। तयोर्वक्तृज्ञानविवक्षयोः। प्राभाकरा हि गामानयेत्यादि लौकिकवाक्यं प्रथमं तात्पर्यज्ञानाभावाद् गवानयनादिसंसर्गं न प्रतिपादयति, किं तु तत एवमयं वेद विवक्षति चेति वक्तृज्ञानादिप्रतीतौ तद्विषयतयाऽर्थेऽपि ज्ञाते वाक्यं पश्चात्तमनुवदतीति वदन्ति। तत्र कथमुक्तविधया तयोरपि शब्दार्थता न स्यात्। न च मानान्तराप्रयोगानुपपत्तिरूपाद्वक्तृज्ञानादेः प्रतीतिरित्यन्यलभ्ययोर्न शब्दार्थतेति वाच्यम्। कार्यतदन्वयोरपि लिङ्लोडादिबलात्प्रतीयमानतया न गवादिशब्दार्थतेति तुल्यमेवेति भावः।।३५०।।

वक्तृज्ञानविवक्षयोरिति= शब्दमनुप्रतीति= शब्द को निमित्त बनाकर के ही प्रतीति (शाब्द- बोध) होता है। अर्थात् जिस मत में शब्द को निमित्त बनाकर प्रतीति होती है उनके मत में वक्ता का ज्ञान तथा विवक्षा दोनों ही शब्द प्रतीति कोटि में आ जायेंगे। यदि शब्द को निमित्त बनाकर प्रतीति नहीं मानते हैं तब तो शब्द प्रतिपाद्य विषय वाक्यार्थ का विषय पहिले सिद्ध नहीं होने से वाक्य में जो अनुवादकत्व है उसका खण्डन होगा।

आशंका="शब्दमनुप्रतीतिः" शब्द को निमित्त बनाकर प्रतीति होती है इतने कहने मात्र से वक्तृ ज्ञान और वक्तृ विवक्षा को शब्दार्थापत्ति आपने कह दी। लेकिन हे सिद्धान्ती जी आप इसका निवारण कैसे कर पायेंगे यह कह रहे हैं यद्यच्छब्दमिति= पदवीं- विषयता को। उत्प्रेक्ष्यते– दिखाई देता है। जिस जिस शब्द के अनन्तर प्रतीयमान हो रहा है। स्थितौ= मत में। तयोः= वक्तृ ज्ञान तथा वक्तृ विवक्षा। प्रभाकर "गामानय" इत्यादि लौकिक वाक्य प्रथम ही तात्पर्य ज्ञान के न होने के कारण "गावानयनादि" गौ को ले आवो रूप संसर्ग का प्रतिपादन नहीं करते हैं। किंतु "गामानय" इत्यादि वाक्य के उच्चारण के बाद आज्ञाकारी मध्यमवृद्ध वक्ता का ज्ञान तथा वक्ता की विवक्षा दोनों को जानता है इसके बाद शब्द प्रतीति के अर्थ को भी जान जाता है, बाद में वाक्य उस अर्थ का अनुवाद करता है ऐसा प्रभाकर कहते है। तो फिर इस प्रकार कैसे यह सम्भव होगा कि वक्ता का ज्ञान तथा विवक्षा में शब्दार्थता नहीं हो। इसपर यदि यह कहा जाय कि वक्ता का ज्ञान तथा विवक्षा तो प्रमाणान्तर से अनुमानादि प्रमाणान्तर से शाब्द बोध में उनकी उपपत्ति जरूरी न होने से, वक्तृज्ञान तथा विवक्षा की प्रतीति (ज्ञान) शब्द प्रमाण से भिन्न अन्य– प्रमाण से लक्ष्य होने के कारण वक्ता का ज्ञान तथा विवक्षा शब्दार्थ नहीं हो सकते।

समाधान= यदि आप ऐसा समझते है तब तो कार्य तथा उसके साथ का अन्वय (सम्बन्ध) ये भी तो लिङ् लोडादि के बल से प्रतीयमान् होने के कारण उनमें गामानय गवादि शब्दार्थता नहीं आ सकती।

नन्वेवमस्त्विति चेत्तर्हि वेदप्रामाण्यहानिः, अपौरुषेयतया वेदस्य वक्तुरभावेन तेन ज्ञातविवक्षितकार्यरूपार्थासम्भवादित्याशयेनाह–

आशंका– यदि ऐसी बात है तब तो वेद प्रामाण्य की हानि होगी। क्योंकि वेद अपौरुषेय होने के कारण किसी वक्ता का वहां होना सम्भव नहीं है उससे ज्ञात विवक्षित कार्यरूप अर्थ की भी संभावना नहीं है। इस आशय से कहा जा रहा है–

वेदे वक्तुरभावतस्तदुभयं नास्तीह यस्मादतः
शब्दो वाचकशक्तिमुज्झति निजां तत्र स्ववाच्यं विना।।
वाच्ये वाचकशक्तिमिच्छति भवान्नान्यत्र तत्र श्रुते-
रप्रामाण्यमिति स्फुटं तव भवेद् बुद्धेरनुत्पत्तितः।।३५१।।

अन्वयः= यस्मात् इह वेदे वक्तुः अभावतः तदुभयं नास्ति, अतः शब्दः तत्र निजां वाचकशक्तिं स्ववाच्यं बिना उज्झति। भवान् वाच्ये शक्तिं इच्छति, नान्यत्र। तत्र तव बुद्धेः अनुत्पत्तितः श्रुतेः स्फुटं अप्रामाण्यं भवेत्।।३५१।।

अन्वयार्थः= इस मत से वेदों में वक्ता के अभाव होने से वे दोनों (ज्ञान तथा विवक्षा) नहीं है। अतः वेद रूप शब्द अपने वाच्य के न होने पर वाचकता का ही परित्याग कर देता है। आप वाच्य में ही शक्ति मानते हैं, अन्यत्र नहीं। अतः आपके मत में स्पष्ट स्वरूप से वेद में अप्रामाण्यता प्रसक्त हो जाती है।।३५१।।

वेदे रक्तुरभावत इति। तदुभयं वक्तृज्ञानं विवक्षा च, इह अस्मिन्मते, तत्र वेदे स्ववाच्यं विना तदभावात् शब्दो निजां वाचकशक्तिमुज्झतीति संबन्धः। ननु लोके लिङाद्यर्थतया गृहीतकार्याभावेऽपि वैदिकलिङादेर्यथा प्रामाण्यं तथा वक्तृज्ञानाद्यभावेऽपि वेदप्रमाण्यं किं न स्यादित्यत आह वाच्य इति। लोकप्रसिद्धे इति शेषः। वाचकशक्तिं वैदिकशब्दस्यापीति शेषः। अन्यत्र- लोकाप्रसिद्धे। प्राभाकरोऽपि वेदे शब्दार्थौ लौकिकावेवेति मन्यते, लिङादेरपि लोकावगतकार्यशक्त्यनुरोधेन वेदे धात्वर्थस्य कार्यत्वायोगात्तदतिरिक्तिकार्य एव शक्तिं कल्पयति न त्वर्थान्तरे इत्येकरूप एवार्थे लौकिकवैदिकविधिप्रामाण्यं वदति। वक्तृज्ञान-विवक्षयोस्तु सर्वथा वेदेऽसम्भवाद्वेदस्याबोधकतारूपाप्रामाण्यमेव स्यादित्याह—तत्रेति। लोकवेदयोः शब्दार्थैकरूप्ये सतीत्यर्थः। इत्येवं तव मते इति शेषः। तत्र तव मते श्रुतेरतिस्फुटमप्रामाण्यं भवेदिति सम्बन्धः। तत्र हेतुः बुद्धेरनुत्पत्तित इति। वक्तृज्ञात-विवक्षितकार्यान्वयिबुद्धेरसम्भवादित्यर्थः।।३५१।।

वेदे वक्तुरभावात्= तदुभयं= वक्तृ ज्ञान तथा वक्ता की विवक्षा। इह= इस मत में, तत्र— वेद में, स्ववाच्यं विना= वाच्य के अभाव से। अर्थात् शब्द अपनी वाचक शक्ति को छोड देगा। क्योंकि वेद में वक्ता का अभाव होने के कारण वक्ता का ज्ञान तथा वक्ता की विवक्षा दोनों ही न होने के कारण वैदिक शब्द इन दोनां के बिना अपने वाचक शक्ति को छोड ही देगा।

आशंका— लोक में तो लिङादि सार्थक हैं क्योंकि जैसे गामानय इत्यादि प्रयोग में लिङादि गृहीत कार्यपरक है लेकिन वेद में लिङादि गृहीत कार्य परक न होने पर भी प्रमाण मानते हैं इसी प्रकार से वक्तृ ज्ञानादि का अभाव होने पर भी वेद की प्रामाणिकता मानी जाय इस पर कहते हैं वाच्यं इति न च।

समाधान= वाच्यं इति= लोक प्रसिद्ध वाचक शक्ति जैसे है वैसे ही वैदिक शब्द की भी स्वीकृत करनी होगी। अन्यत्र= लोक में अप्रसिद्ध ऐसी शक्ति वेद में स्वीकृत नहीं कर सकते हैं।

प्राभाकर भी वेद में शब्द और अर्थ लौकिक ही स्वीकृत करते हैं। लिङादिक भी लौकिक कार्य शक्ति के अनुसार ही वेद में स्वीकृत करते हैं। वैदिक धात्वर्थ कार्यत्वपरक न होने के कारण अतिरिक्त कार्य परक ही नियोग परक अपूर्वपरक वैदिक धात्वर्थ को मानते हैं न कि अर्थान्तर परक। इसप्रकार एक रूप अर्थ में ही (कार्यत्वपरक अर्थ में ही) लौकिक और वैदिक दोनों विधि वाक्यों की प्रामाण्यता मानते हैं। तो वक्तृज्ञान तथा विवक्षा दोनों का वेद में अभाव होने के कारण वेद में बोधकता नहीं आ सकती इसके कारण अबोधकता रूप अप्रामाण्यता तो वेद में आयेगी ही। इस बात को कह रहे हैं तत्रेति= लोक और वैदिक शब्दार्थ को एक रूप मानने पर यह दोष आता है। तत्र= तुम्हारे मत में। अति स्पष्ट श्रुति अप्रामाण्य प्राप्त होता है। इत्येवं- तुम्हारे मत में इति शेषः। यह निचोड निकला। इसमें हेतु क्या है? तो बताते हैं— बुद्धेरनुत्पत्तितः— वक्तृ ज्ञान विवक्षित कार्यान्वयि बुद्धि के न होने से श्रुति में अप्रामाण्यता अति स्पष्ट रूप से हो जाती है।

किञ्च कार्यान्वयी शब्दार्थ इति मते सोमादिविशिष्टविधिविलोपापत्तिः, सोमेन यजेतेत्यत्र हि सोमविशिष्टयागो विधीयत इति तेऽपि मतं, स तव न सम्भवति, त्वन्मते सोमयागशब्दयोः परस्परसम्बन्धाभावेन सोमविशिष्टयागप्रतीत्यभावात्। न चाप्रतीतस्य विधिः सम्भवतीत्याशयेनाह—

और भी कार्यान्वयी शब्दार्थ मानने पर सोमादि विशिष्ट विधि का लोप हो जायेगा। क्योंकि "सोमेन यजेत्" यहां सोम विशिष्ट याग का विधान किया जाता है, ऐसा आपका मत है। लेकिन अब तुम्हारे मत से ही सोम विशिष्ट याग की विधि संभव नहीं होगी। क्योंकि आपके मत में सोम और याग दोनों शब्दों का परस्पर सम्बन्घ तो है नहीं। इसलिये सोम विशिष्ट याग की प्रतीति सम्भव नहीं होगी। और जब सोम विशिष्ट याग प्रतीत नहीं होगा तो अप्रतीत की विधि संभव भी नहीं हो सकती। इस आशय से कहा जा रहा है—

न च सोमयागपदयोरुभयो-
रपरस्परेण घटतेऽत्र युजा।।
पदजातमेतदखिलं हि निजं
विषयं समर्पयति कार्ययुतम्।।३५२।।

अन्वयः— अत्र सोमयागयोः उभयोः अपरस्परे,ण युजा घटते न च। एतत् हि अखिलं पदजातं निजं कार्ययुतं विषयं समर्पयति।।३५२।।

अन्वयार्थः— आपके मत से सोम और याग इन दोनों पदो का परस्पर सम्बन्ध बनता ही नहीं है। क्योंकि सभी शब्द अपने कार्यान्वित अर्थ का ही बोधन करते हैं।।३५२।।

न च सोमयागपदयोरिति। अत्र भवन्मते। युजा सम्बन्धः। कुतस्तयोः सम्बन्धासम्भवस्तत्राह—पदजातमिति। निजं विषयं स्वाभिधेयम्। सर्वेषां सोमादिपदानां लिङर्थकार्यान्वितस्वार्थबोधकत्वादपरस्परमन्योन्यं न सम्बन्धो युज्यत इत्यर्थः। न च शब्दाभिहितं कार्यमेव यागसोमयोः क्रियाकारकभावेन संबन्धं घटयतीति वाच्यम्। विषयान्वितस्यैव तस्य लिङादिप्रतिपाद्यतया विशिष्टविषयज्ञानमन्तरेण प्रतीतस्य वैशिष्ट्याक्षेपकत्वायोगात्। एवमन्योऽपि भिन्नपदार्थविशिष्टविधिर्न सम्भवतीति भावः।।३५२।।

न च योमयागपदयोरिति— अत्र आपके मत में। युजा- सम्बन्ध। सोम और याग इनका सम्बन्ध कैसे नहीं है? तो बताते हैं पदजातमिति- निजं विषयं- पदजात जितने भी है अपने अर्थ को कहते हैं। सभी जितने सोमादि पद हैं वे सब लिङर्थकार्यान्वित होकर अपने अपने अर्थ के बोधक है, इनका परस्पर अन्योन्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि सोम शब्द अन्य अर्थ परक है, यह भाव है।

आशंका= शब्द के द्वारा प्रतिपादित कार्य ही याग और सोम का क्रिया और कारक भाव सम्बन्ध को स्थापित करेगा। अर्थात् याग क्रिया है और सोमकारक है ऐसे क्रिया कारक सम्बन्ध को शब्द से प्रतिपादित कार्य बता देगा।

समाधान= लेकिन यह भी कहना ठीक नहीं है। विषयान्वित सम्बन्ध का ही प्रतिपादन लिङादि से हो सकता है लेकिन विशिष्ट विषय के ज्ञान के बिना प्रतीयमान सोम और याग में वैशिष्ट्य का आक्षेप नहीं किया जा सकता। इसप्रकार विशिष्ट विधि भी उपपत्ति आपके मत में नहीं हो सकेगी। और भी अन्य अन्य भिन्न भिन्न पदार्थ विशिष्ट विधि आपके यहां सम्भव नहीं हो पायेगी।।

कार्यान्वयान्वयी शब्दार्थ इति मतेऽप्युक्तं दूषणमतिदिशति—

कार्यान्वयी मत में दोष देने के बाद कार्यान्वयान्वयी शब्दार्थ है इस मत में भी उक्त दोष का उद्भावन कर रहे हैं—

कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिरिति स्थितौ च
कार्यान्वयान्वितमतिर्न परस्पपरेण
संबन्धितामतिरतश्च्च न सिद्धिमेति
सर्वो विशिष्टविधिरित्यपि दूषणं वः।।३५३।।

अन्वयः= कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिरितिस्थतौ या कार्यान्वयान्वितमतिः परस्परेण सम्बन्धितामतिः न। अतः सर्वो विशिष्टविधिः सिध्दिं न एति। इत्यादि वः दूषणम्।।३५३।।

अन्वयार्थः= कार्यान्वयान्वित अर्थ में शब्द शक्ति होती है, इसी पक्ष में भी (सोमेन यजेत) इत्यादि प्रत्येक पद से कार्यान्वयान्वित अर्थ का ही बोध होता है। परस्पर अन्वय बोध नहीं है। अतः उक्त सभी विशिष्ट विधियाँ सिद्ध नहीं होती, यह भी आपके मत में दोष है।।३५३।।

कार्यान्वयान्वयिनीति। वो युष्माकं कार्यान्वयान्वयिनीति सम्बन्धः। स्थितौ पक्षे। अपिरवधारणे। कार्यान्वयान्वितमतिरेव स्यादिति शेषः, न परस्परेण सम्बन्धितामतिः स्यात्, पदार्थविषयेति शेषः। अत्र सर्वशब्दः पृथगुपात्तविशेषणविशेष्याभिप्रायो द्रष्टव्यः। पूर्वोक्तादिदं मतान्तरमित्येतावतैव तत्रौक्तदूषणस्यातिदेशः, न च तदप्राप्तिशङ्काबीजनिराकरणायेति द्रष्टव्यम्।।३५३।।

कार्यान्वयान्तयिनीति= वो= आपके मत में कार्यान्वयान्वयी मत में, स्थितौ= पक्ष में। अपि= निश्चित, रूपसे। कार्यान्वयान्वित मतिर्न परस्परेण- कार्यान्वयान्वित बुद्धि ही परस्पर में उत्पन्न नहीं हो सकती। परस्पर में सम्बन्धिता बुद्धि ही उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने अपने अर्थ के प्रतिपादन में कार्यान्वयान्वित में लगा हुवा है। न कि किसी सम्बन्ध के स्थापन में लगा हुवा है। सर्वो= यहां सर्व शब्द भिन्न भिन्न स्थान में नियोजित विशेषण विशेष्य भाव से प्रयुक्त शब्दों के विषय में है पूर्वोक्त मत से यह अलग मत प्रदर्शित करके पूर्वोक्त दूषण की यहां भी प्रसक्ति है, यह बता दिया है। इसलिये इस मत के खण्डन करने के लिये नूतन परिश्रम करने की जरूरत नहीं है, यह भाव है।

स्वमते नायं दोष इत्याह—

अपने मत में ये दोष नहीं है। इस स्पष्ट कर रहे हैं—

योग्येतरान्विपदार्थगतैव शब्द-
शक्तिः स्थिता यदि पुनर्घटते तदाऽयम्।।
सर्वो विशिष्टविधिरस्तु तथैव तस्माद्
युक्तं तदेतरदितीदमपीह भाष्यम्।।३५४।।

अन्वयः यदि योग्येतरान्वितपदार्थगता एव शब्दशक्तिः स्थिता। तदा पुनः सर्वोऽयं विशिष्ट विधिः घटते। तस्मात् तथैव अस्तु। तदा इह "इतरत्" इतीदं भाष्यम् अपि युक्तम्।।३५४।।

अन्वयार्थः= यदि योग्येतरार्थ से अन्वित पदार्थ ही शब्द की शक्ति मानी जाती है तब तो सभी यह विशिष्ट विधान बन जाता है, अतः वैसा (योग्येतरान्वित में शक्ति) ही युक्त है, ऐसा मानने पर "इतरत् तदर्थम्" (शां० भा० २/१/१) यह भाष्य भी सुसंगत हो जाता है।।३५४।।

योग्येतरान्वितेति। योग्येनेतरेणान्वितो यः पदार्थस्तद्गोचरेत्यर्थः। स्थिता आश्रिता। उक्तदोषाभावे फलितमाह—तस्मादिति। तथैव योग्येतरान्वितशक्तिरेवास्त्विति न केवलं विशिष्ट-विधिरेवास्मिन्पक्षे युज्यते यदैकस्मादपूर्वं तदेतरत्तदर्थमिति शबरभाष्यमप्यस्मिन्पक्षे युक्तमेवेत्याह—युक्तमिति। इहास्मिन्पक्षे।।३५४।।

योग्यतरान्वितेति— इतर योग्य के साथ जो पदार्थ अन्वित (सम्बन्धित) है। तद् विषयक शब्द शक्ति है। स्थिता— मानने पर। उपरोक्त दोष नहीं आ सकता। इससे क्या फल प्राप्त होगा तो बताते हैं। तस्मादिति= इस प्रकार से योग्येतरान्वित शक्ति को ही मानने से, केवल विशिष्ट विधि की ही संगति इसमें उपपन्न नहीं हो सकती है। क्योंकि जबकि एकस्मात् यागात्= पद से अपूर्व का बोध होता है, वहां दूसरे सोमादि पद से सोमार्थ का बोध होता है। ऐसा शबर भाष्य का कथन भी इस पक्ष में युक्तियुक्त ही है। इस बात को कह रहे है। युक्तमिति= योग्येतरान्वित यः पदार्थः तद्गोचर— इतर योग्य के साथ जो पदार्थ अन्वित होता है- तद्विषयक शब्द की शक्ति है इस पक्ष में यह शबर भाष्य युक्तियुक्त है।

ननु विधिश्रुतेः प्रवर्तनालक्षणमेव प्रामाण्यं विशेषतो विशिष्टविधेर्न तु बोधकतालक्षणं तस्य त्वदुक्तविधया विशिष्टविधिप्रतिपादनासम्भवादिति न विशिष्टविधेरप्रामाण्यमित्याशङ्कते—

आशंका= विधिपरक श्रुति में प्रामाण्यता हम यही मानते हैं कि प्रवर्तना लक्षणा रूप, अर्थात् प्रवर्तन लक्षणा रूप ही वेद की प्रामाण्यता है। विशेष रूप से विशिष्ट विधि का भी ग्रहण हो सकें। बोधकता लक्षणा वेद की प्रामाण्यता नहीं है, तो विधि श्रुति में उक्त

प्रकार से विशिष्ट विधि का प्रतिपादन संभव नहीं होने से विशिष्ट विधि में अप्रामाण्य शंका भी नहीं हो सकती ऐसी आशंका करते हैं—

शब्दः प्रवृत्तिजनको न तु बोधकश्चे-
न्नैतत्प्रवर्तकधियो जनकत्वहेतोः।।
इष्टाभ्युपायमतिजन्मनिमित्तभूतः
शब्दः प्रवर्तयति नैष पुनः पुमांसम्।।३५५।।

अन्वयः— शब्दः प्रवृत्तिजनकः बोधकः न तु, चेत्, एतत् न। प्रवर्तकधियो जनकत्व हेतोः। शब्दः इष्टाभ्युपायमतिजन्मनिमित्तभूतः। एष पुनः पुमांसं न प्रवर्त्तयति।।३५५।।

अन्वयार्थः— लिङादिशब्द प्रवर्त्तक होता है, बोधक नहीं, यह आप का कहना युक्त नहीं। क्यों शब्द प्रवर्तक ज्ञान का जनक (बोध का ही जनक) होता है। लिङादि शब्द इष्ट साधनता ज्ञान के जन्म का निमित्त होता है, वह पुरुष का प्रवर्त्तक नहीं होता।।३५५।।

शब्द इति। लिङादिरित्यर्थः। किं ज्ञानद्वारा प्रवृत्तिं जनयति? नेत्याह-न त्विति। नैवेत्यर्थः। दूषयति- नैतदिति। त्वदुक्तं नेत्यर्थः। यथा प्रत्यक्षादीनां बोधकत्वेन प्रामाण्यं यथा वा शब्दान्तरस्य, एवमेव विधेरपि युज्यते। प्रवर्तकबोधकजनकत्वमात्रेण प्रवर्तनालक्षणं प्रामाण्यमिति व्यवहारस्याप्यबाधादित्याशयेनाह—प्रवर्तकधिय इति। कथं तर्हि विशिष्टविधेर्बोधकतया प्रामाण्यमित्याशङ्क्य, कार्यमेव लिङर्थ इति पक्षेऽपि योग्येतरान्वितेति श्लोकोक्तविधया तदुपपत्तिरित्याशयेन सर्वविधिसाधारणप्रकारमाह-इष्टाभ्युपायेति। इष्टसाधनत्वमतिजन्मनिमित्तत्वान्न साक्षाच्छब्दः प्रवर्तक इत्युपसंहरति-प्रवर्तयतीति।।३५५।

शब्द इति— लिङादि। क्या लिङादि ज्ञान के द्वारा प्रवृत्ति को उत्पन्न करते हैं। उत्तर देते हैं लिङादि ज्ञान के द्वारा प्रवृत्ति को उत्पन्न नहीं करते हैं। इसी बात को कह रहे हैं। न त्विति— इसका खण्डन कर रहे हैं नैतदिति— आपका यह कहना ठीक नहीं है कि ज्ञान के द्वारा लिङादि प्रवृत्ति का जनक नहीं है। जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों में प्रामाण्यता है बोधकत्व उनमें होने से, इसी प्रकार से विधि शब्द के अतिरिक्त शब्दों में प्रामाण्यता है वह बोधकत्वेन रूपेण है। इसी प्रकार से विधि में भी प्रामाण्यता है वह भी बोधकत्वेन रूपेण (ज्ञान द्वारा) ही है। तो प्रवर्तनालक्षण प्रामाण्य का अभिप्राय प्रवर्तक बोध जनकत्व भी तो हो सकता है। वह भी अबाधित ही है। इस आशय से कहा जा रहा है प्रवर्तकधिय इति। प्रवर्त्तक बोध (ज्ञान) जनकत्व रूप प्रामाण्य विधि में मानेंगे।

आशंका= विशिष्टविधि में "सोमेन यजेत" में ज्ञान द्वारा (बोध जनकत्व द्वारा) कैसी प्रामाण्यता सिद्ध होगी?

समाधान— लिङ्का अर्थ कार्य ही करेंगे। इस पक्ष के अनुसार भी योग्येतरान्वितत्व १।१।३५४।। श्लोक के अनुसार ही उसकी उपपत्ति करनी पडेगी। इस आशय से सर्व विधि साधारण प्रकार को कह रहे हैं इष्टाभ्युपायेति। शब्द इष्ट साधनत्व के बुद्धि को उत्पन्न करता है न कि साक्षात् प्रवर्तक होता है ऐसा उपसंहार करते है। प्रवर्तयतीति= इष्टसाधना ही क्यों उत्पन्न करने का निमित्त बनता है न कि किसी पुरुष को साक्षात् प्रवर्तित करता है।

गौरवाद्विशिष्टविधिविलोपप्रसङ्गाच्च कार्यान्वितादि शब्दार्थ इति मतमसंगतमिति प्रकृतमुपसंहरति—

गौरव होने से तथा विशिष्ट विधि के लोप प्रसङ्ग के कारण कार्यान्वितादि शब्दार्थ है यह मत असंगत है ऐसा प्रकृत में उपसंहार कर हैं—

तस्मादसंगतमिदं यदुशन्ति केचित्
कार्यान्विातार्थविषयैव तु शब्दशक्तिः।।
तत्र प्रयोगमभिवीक्ष्य तथा प्रतीतिः
कल्प्येति वर्णितनिजेष्टविघातहेतोः।।३५६।।

अन्वयः= तस्मात् तत्र प्रयोगं तथा प्रतीतिं अभिवीक्ष्य कार्यान्वितार्थविषयैव तु शब्दशक्तिः कल्प्या इति यत् केचित् उशन्ति, तदिदम् असङ्गतम्। वर्णितनिजेष्टविघातहेतोः।।३५६।।

अन्वयार्थः= इसलिये यहां (कार्यान्वित अर्थ में वक्ता के) प्रयोग तथा (श्रोता की प्रतीति को देखकर कार्यान्वितार्थ विषय ही शब्द शक्ति कल्पना योग्य है, यह जो कई एक विद्वान चाहते हैं वह असङ्गत है। क्योंकि उसमें कथित विशिष्ट विधि रूप इष्ट की हानि होती है।।३५६।।

तस्मादिति। इदंशब्दार्थमाह—यदुशन्तीति। केचित्प्राभाकराः। शब्दशक्तिः कल्प्येति यदुशन्तीति सम्बन्धः। तदुक्तं तत्र शब्दशक्तिकल्पनाप्रकारमप्याह—तत्रेति। कार्य इत्यर्थः। प्रयोगमुत्तमवृद्धस्येति शेषः। तथा प्रतीतिः कार्यान्विते शक्तिरिति प्रतीतिः, स्यादिति शेषः। असङ्गतमित्यत्र प्रागुक्तमेव त्वदिष्टविशिष्टविधिलोपप्रसङ्गादिति हेतुमाह-वर्णितेति।।३५६।।

तस्मादिति= इदं शब्द का अर्थ कह रहे है। यदुशन्तीति कल्पना= करते हैं केचित्= प्रभाकरानुयायी। शब्द शक्ति ऐसी माननी चाहिये ऐसी कल्पना करते हैं। उनके द्वारा कल्पित

शब्दशक्ति का प्रकार भी बता रहे हैं तत्रेति— कार्य में। प्रयोगम्= उत्तम वृद्ध के द्वारा। आज्ञा देने वाला इत्यर्थ। तथा प्रतीतिः— कार्यान्वित में शक्ति है यह प्रतीति होनी चाहिये। यह कल्पना मात्र है। यह मत असङ्गत क्यों है तो बताते हैं हे प्रभाकरानुयियों आपकी अभीष्ट विशिष्ट विधि उसी का लोप प्रसङ्ग हो जायेगा। यह सब बता चुके हैं वर्णितेति।।३५६।।

किं च वेदे न लोकवद्धात्वर्थकार्यान्वितं शब्दार्थः, त्वया तदनभ्युपगमात्। तदतिरिक्तं तु कार्यमपूर्वतया शब्दैकप्रमाणयोग्यमिति तवेष्टमित्यज्ञाते तस्मिन् वैदिकलिङादेः शक्तिग्रहासंभव इत्याशयेनाह—

प्राभाकर मत में और भी दोष दिया जा रहा है— जैसे लोक में धात्वर्थ कार्यान्वित शब्दार्थ मानते हैं वैसा वेद में तो नही मानते हैं क्यों कि आपने इसका स्वीकार नहीं किया है। इसके अतिरिक्त धात्वर्थातिरिक्त कार्य-जो अपूर्व ही हो सकता है, वह भी केवल शब्द प्रमाण से ही जानने योग्य है। यही आपको इष्ट भी है। अब इस अपूर्व का ज्ञान न हो तो अपूर्वविषयक वैदिक लिङादिक का शक्ति ग्रह नहीं हो सकेगा। इस आशय से कहा जा रहा है।—

वेदैकगम्यमिति कार्यमभीष्टमस्मिन्
छक्तिग्रहोऽपि न यदस्य समञ्जसोऽयम्।।
शक्तिग्रहं च परिहृत्य न बोधकत्वं
शब्दस्य शक्यमिह वक्तुमशङ्कितेन।।३५७।।

अन्वयः= अभीष्टं कार्यं वेदैकगम्यमिति अस्मिन् पदस्य अयं शक्तिग्रहोऽपि समंजसो न। शक्तिग्रहं परिहृत्य च इह शब्दस्य बोधकत्वं अशङ्कितेन वक्तुं न शक्यम्।।३५७।।

अन्वयार्थः= अभिमत कार्यं (नियोग) केवल वेद से ही गम्य है, अतः इसमें पद का शक्ति ग्रह भी बनता नहीं। यहाँ शक्ति ग्रह के बिना शब्द में बोधकत्व है ऐसा कोई आप्त व्यक्ति कह नहीं सकता।।३५७।।

वेदैकगम्यमिति। कार्यमपूर्वलक्षणं कार्यम्। न समञ्जसः युक्तो न भवति। ननु यद्यग्निहोत्रादि धात्वर्थातिरिक्तं कालान्तरभाविस्वर्गानुकूलं स्वर्गकामिकार्यं न स्यात्तर्हि स्वर्ग-कामपदसमभिव्याहारो न स्यादिति तत्समभिव्याहारानुपपत्त्योपस्थिते तस्मिन्संगतिग्रहोऽस्त्विति चेन्नेत्याह— अयमपि न समञ्जस इति। उक्तोऽपि सङ्गतिग्रहोपायः सम्यङ् नेत्यर्थः। विधिवाक्यार्थावगमात्प्राग्लोकेऽपि सुखविशेषतत्साधनयोः स्वर्गपदप्रयोगादनिश्चितामुष्मिकार्थतया स्वर्गपदस्य तत्समभिव्याहारमात्रेणालौकिककार्योपस्थित्ययोगात् तत्रापि धात्वर्थस्य कार्यत्वे सिद्धे तदनुकूलस्य स्वर्गस्य तदर्थवादेनापि वक्तव्यत्वात्, उक्तार्थापत्तिगम्यत्वे तस्यापूर्वत्वव्याहतेश्च

नोक्तोपायेन व्युत्पत्तिरिति भावः। शक्तिग्रहासंभवोपपादनफलमाह- शक्तिग्रहमिति। शब्दस्य लिङादेः। इह वेदे। अशङ्कितेन धृष्टेनापि ।।३५७।।

वैदैकगम्यमिति= कार्य= अपूर्व ही कार्य है। वह वेद के द्वारा ही जाना जा सकता है। न समञ्जसः यह युक्त नहीं है।–

आशंका= यदि अग्निहोत्रादि– यजेत् इत्यादि धात्वर्थातिरिक्त कालान्तर में स्वर्गादिक को देने वाले अपूर्व रूप कार्य को उत्पन्न नहीं करेंगे तब तो स्वर्गकाम पद के साथ अग्निहोत्रादिक का समभिव्याहार नहीं होना चाहिये। "स्वर्गकामो अग्निहोत्रं जुहुयात्" ऐसा समभिव्यावहार नहीं होना चाहिये। लेकिन स्वर्गकाम के साथ अग्निहोत्र का समभिव्याहार है। इसलिये बीच में संगतिग्रह आवश्यक है। और तभी अपूर्व की व्यवस्था होती है अर्थात् धात्वर्थातिरिक्त अपूर्व मानना पडेगा। यह भी कथन, न समञ्जसम्= बराबर नहीं है। अर्थात् यह भी संगति ग्रह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि विधि वाक्यार्थ के अवगम के (जानकारी के) पहिले भी लोक में सुखविशेष तथा सुखविशेष का साधन दोनों की स्वर्गपद प्रयोग से, अनिश्चित पार लौकिक अर्थ के कारण उपस्थिति हो जाती है। अब यहां स्वर्गपद का अग्निहोत्रादि के साथ समभिव्याहार मात्र से स्वर्ग पद से अलौकिक कार्य उपस्थिति नहीं हो सकती। अर्थात् अपूर्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तो यदि यहां स्वर्ग कामो अग्निहोत्रं जहुयात् में धात्वर्थ का अर्थ अपूर्व रूप कार्य मानते हैं तब तो अपूर्व का अनुकुल स्वर्ग है, उसका भी अर्थापत्ति प्रमाण से अधिगम हो जायेगा। अर्थात् अपूर्व के वजह से स्वर्ग का अपने आप ही ग्रहण हो जायेगा। जब स्वर्ग का अर्थापत्ति प्रमाण से ग्रहण हो जाता है तब तो अपूर्व के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है इसका व्याघात हो जायेगा। इसलिये अपूर्व के द्वारा भी व्युत्पत्ति बराबर नहीं हो सकती है।

शब्द में शक्तिग्रह नहीं होने से इसके उपपादन का फल बता रहे हैं। शक्तिग्रहमिति- शब्दस्य लिङ्गादिशब्द का, शक्तिग्रह न होने से। इह-वेद में अशङ्कितेन- धृष्ट व्यक्ति ही लिङ में शक्ति मानेगा। न कि सभ्य अथवा शिष्ट व्यक्ति।

ननु भवन्मते सर्वप्रमाणायोग्यमपि ब्रह्म यथा शास्त्रप्रतिपाद्यम् एवमस्मन्मते कार्यमपि शास्त्रार्थोऽस्त्वित्याशङ्क्य वैषम्यमाह–

आशंका– जैसे आप के वेदान्ती के मत में सभी प्रमाणों का अविषय जो ब्रह्म जैसे शास्त्र प्रतिपाद्य है इसी प्रकार से मेरे मीमांसा के मत में (प्राभाकर मत में) भी कार्य शास्त्र प्रतिपाद्य रहने दो।

समाधान= यह भी आप की आशंका ठीक नहीं है क्योंकि हमारा ब्रह्म और आप का कार्य दोनों में बडी विषमता है। इसे बता रहे हैं—

शश्वत्स्वयंप्रभमलुप्तचिदात्मभूतं
विष्णोः परं पदममुत्र तु शब्दशक्तिः।।
शक्या ग्रहीतुमतिबुद्धिमनस्यपीति
शास्त्रप्रमाणकमदः प्रवंदन्ति सन्तः।।३५८।।

अन्वयः=शश्वत् स्वयं प्रकाशं, अलुप्तचिदात्मभूतं विष्णोः परं पदम्। अमुत्र अतिबुद्धिमनसि अपि तु शब्दः शक्तिः ग्रहीतुं शक्या इत्यदः शास्त्रप्रमाणकमिति सन्तः प्रवदन्ति।।३५८।।

अन्वयार्थः= आत्मा सदा स्वयं प्रकाश, अविनाशि चैतन्य रूप है वही विष्णु का परमपद है। ऐसे बुद्धि और मन के अगोचर ब्रह्म में शक्ति ग्रह हो सकता है। अतः यह ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है ऐसा सन्त कहा करते हैं।।३५८।।

शश्वत्स्वयंप्रभमिति। सदा स्वयंप्रकाशमित्यर्थः। बुद्धिर्निश्चयात्मकवृत्तिमदन्तःकरणम्, संकल्पविकल्परूपवृत्तिमत्तदेव मनस्तदुभयमतीत्य तिष्ठतीत्यतिबुद्धिमनस्तस्मिन्। वाङ्मनसागोचरस्यापि स्वप्रकाशब्रह्मणोऽहंकारादिशबलस्य साक्षिणा, सत्यादिशबलस्य च प्रत्यक्षादिनोपस्थितिसंभवेन तत्र गृहीतसङ्गतिकैर्वेदान्तैर्लक्षणया पूर्णब्रह्मणः प्रतिपादनात्तस्य शास्त्रप्रमाणकत्वं युज्यते न तथा त्वदभिमतकार्यस्य। न च तदपि लिङ्गादिलक्ष्यमस्त्विति वाच्यम्। तथा त्वयाऽनभ्युपगमात्। वाच्यार्थसंबन्धितया मानान्तरानधिगतस्य जड़त्वेन स्वतोऽप्यनुपस्थितस्य तस्य त्वन्मते लक्ष्यत्वायोगाच्च। अस्मन्मते लक्ष्यस्य ब्रह्मणो मानान्तरादनुपस्थितस्यापि स्वप्रकाशत्वेनोपस्थितत्वाद्युज्यत एव लक्ष्यत्वमिति भावः। ब्रह्मादिपदार्थशबलस्य परोक्षत्वादमुत्रेत्युक्तम्। शबले शक्तिग्रहसंभवस्य फलमाह—इति शास्त्रेति। इति हेतोरदःपदं शास्त्रप्रमाणकं सन्तो बादरायणादयः शास्त्रयोनित्वादिना वदन्तीत्यर्थः।।३५८।।

शश्वत् स्वयं प्रभमिति= ब्रह्म सदा ही स्वयं प्रकाश स्वरूप है। बुद्धिः— निश्चयात्मक वृत्ति युक्त अन्तःकरण को कहते हैं। मनः= संकल्प विकल्प रूप वृत्ति युक्त अन्तःकरण को मन कहते हैं। इन दोनों का अतिक्रमण करके यह ब्रह्म विराजमान है। इसलिये वह ब्रह्म अति बुद्धि मन वाला है। वाणी और मन का अविषय होने पर भी स्वप्रकाश ब्रह्म का अहंकारादि विशिष्ट शबल साक्षी का (ब्रह्म का), सत्यादि विशिष्ट शबल ब्रह्म का प्रत्यक्षादि प्रमाण से उपस्थिति संभव होने से, शबल के माध्यम से संगति का ग्रहण करके वेदान्त वाक्यों से लक्षणावृत्ति के द्वारा पूर्ण ब्रह्म का प्रतिपादन सम्भव होने से पूर्ण ब्रह्म में शास्त्र प्रमाणकत्व सिद्ध होता

है। लेकिन आपके अभिमत कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि जैसे ब्रह्म तत् त्वं आदि का लक्ष्य है वैसे कार्य कोई लिङादिक का लक्ष्य नहीं है। क्योंकि आपने प्रभाकरने ऐसा कभी स्वीकार किया नहीं है। कदाचित् आप कहोगे कि अब मैं लक्षणा को मानता हूँ। पहली गलतियां छोड दो। तो भी यह संभव नहीं है। क्योंकि वाच्यार्थ सम्बन्धी वह कार्य अन्य प्रमाणान्तर का वह विषय न होने से, साथ में वह कार्य जड होने के कारण अपने आप तो उसकी उपस्थिति नहीं हो सकती। इसलिये आपके मत से वह कार्य लक्ष्य भी नहीं बन पायेगा। रह गई मेरे मत की बात तो मेरे मत में लक्ष्य ब्रह्म की प्रमाणान्तर से उपस्थिति नहीं होने पर भी स्वप्रकाश स्वरूप वह होने से उसकी उपस्थिति हो ही जाती है इसलिये वह लक्ष्य बन जाता है। अमुत्र– ब्रह्मादि शबल पदार्थ का परोक्षत्व होने के कारण–अमुत्र शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् शुद्ध ब्रह्म में भी शब्द शक्ति मानने में कोई दोष नहीं है। शबल ब्रह्म में शक्तिग्रह संभव होने से इसके फल को बता रहे है– इति शास्त्रेति इति= हेतु के होने के कारण, शास्त्रप्रमाणकमदः= इस हेतु के कारण ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है ऐसे, सन्तो = बादरायणादि मनीषी, शास्त्रयोनित्वादिति इत्यादि सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित करते हैं।

एवं प्रवर्त्तकवाक्याधीनामेव प्राथमिकीं व्युत्पत्तिमभ्युपेत्य लाघवाद्योग्येतरान्वित एव शब्दार्थो न तु तादृशकार्यान्वित इत्युक्तम्। इदानीं सिद्धार्थकवाक्यादपि प्रथमव्युत्पत्तेः संभवान्न प्रवर्त्तकवाक्याधीना सा, तत्र च कार्योपस्थित्यभावान्न कार्यान्वयी सर्वशब्दार्थ इत्याशयेनाह–

इस प्रकार से प्रवर्तक वाक्य के अधीन प्राथमिक व्युत्पत्ति को स्वीकृत करके लाघव से योग्येतरान्वित "शब्दार्थ मानना उचित है न कि योग्येतर कार्यान्वित शब्दार्थ है। इस बात को कह चुके हैं। यहां सिद्धार्थवाक्य से भी प्रथम व्युत्पत्ति (प्रथम शाब्द बोध) हो सकता है। अतः प्रथम शाब्द बोध के लिये प्रवर्तक वाक्य की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सिद्धार्थ प्रयोग में– कार्य उपस्थिति तो होगी नहीं। इसके कारण कार्यान्वयी सर्वशब्दार्थ होगा भी नहीं इस आशय को बता रहे हैं–

जातः सुतः सकलवंशविवर्द्धनस्ते
विप्रेति वाक्यसमनन्तरमस्य बुद्धिः।।
श्रोतुर्मुखाकृतिवशेन तु पुत्रजन्म-
वस्तुन्यवश्यमनुमीयत एव बालैः।।३५६।।

अन्वयः = विप्र ते सकलवंशविवर्धनः सुतो जातः इति वाक्यसमनन्तरं अस्य मुखाकृतिवशेन पुत्रजन्मवस्तुनि बुद्धिः श्रोतुः अवश्यं बालैः अनुमीयते एव।।३५६।।

अन्वयार्थ = हे विप्र आपके सम्पूर्ण वंश को बढाने वाला पुत्र उत्पन्न हो गया है, इस वाक्य के सुनने के पश्चात् श्रोता की प्रसन्नता को देखकर श्रोता के प्रमोत्पत्तितिषयक बोध का बालक अनुमान अवश्य रूप से लगा लेता है।।३५६।।

जातः सुत इति। वाक्यसमनन्तरं=वाक्यश्रवणानन्तरम्, अस्य श्रोतुर्विप्रस्य मुखाकृतिर्मुखविकासादिस्तद्वशेन तेनैव लिङ्गेन, तुरवधारणे, पुत्रजन्मवस्तुनि पुत्रजन्मरूपवस्तु-विषया बुद्धिरनुमीयत इति सम्बन्धः। पुत्रस्ते जात इतिवाक्य श्रवणानन्तरं पितुर्मुखविकासं दृष्ट्वा ज्ञात पुत्रादिपदार्थस्तत्टस्थोऽयमिदानीमिष्टज्ञानवान्प्रसन्नवक्त्रत्वात्संमतवदिति तस्येष्टविषयं ज्ञानमनुमिनोति। तच्चेष्टं वस्तु पुत्रजन्मैवेति पुत्रजन्मवस्तुनीत्युक्तम्। एवं च न सिद्धवाक्यात्परस्मिन् ज्ञानजन्मानुमानं संभवति लिङ्गाभावादित्यसदिति भावः।।३५६।।

जातः सुतइति = पुत्र हो गया। वाक्य समनन्तरं = इस वाक्य के श्रवण के बाद। अस्य = श्रोता के, सुनने वाले ब्राह्मण की मुखाकृति चेहरा विकसित हो गया मुखाकृति खिल गई, इसी हेतु से श्रोतुर्मुखाकृतिवशेन। तु = निश्चित रूपसे। पुत्रजन्मवस्तुनि= पुत्र जन्म रूप वस्तुविषयक बुद्धि अनुमान के द्वारा जानी जाती है। भाव यह है कि "पुत्रस्ते जातः" आपको पुत्र हो गया। इस वाक्य के श्रवण करने के बाद पुत्र ने देखा कि पिता का मुख विकसित हुवा तो पुत्रादिक का बालक को ज्ञान हो जाता है। और बालक पिता का पुत्र इष्ट विषय है इसका अनुमान करता है। अयम् इदानीम्= इस समय मेरा पिता (पक्ष) इष्ट ज्ञानवान् है (साध्य) (इष्ट पुत्र उसके ज्ञान से युक्त है) (साध्य)। प्रसन्न वदन होने से (हेतु) जैसे जब जब मेरा मुख प्रसन्न वदन होता है तब तब मुझे इष्ट वस्तु की ज्ञान की (प्राप्ति) हो जाती है। इसी प्रकार से पिता जी में भी प्रसन्न मुख होने से उनमें भी इष्ट ज्ञान जरूर है। पुत्ररूप इष्ट ज्ञान है। ऐसी अनुमिति हो जाती है। अर्थात् मदीय पिता इष्ट ज्ञान वान् ऐसी अनुमिति हो जाती है। वह इष्ट वस्तु क्या हो सकती है? तो पुत्र जन्म ही प्रकृत में इष्ट वस्तु हो सकती है। इस लिये पुत्रजन्मवस्तुनीत्युक्तम्= पुत्र जन्म वस्तुनि ऐसा कहा है। इस प्रकार सिद्ध वाक्य के द्वारा प्राभाकरादि मीमांसक के यहां इष्ट ज्ञान जन्मानुमान संभव नहीं हो सकता । क्योंकि कोई हेतु तो है नहीं। इसलिये कार्यान्वयी मत असंगत है।

एवमपि कथं पुत्रजन्मादिज्ञानसिद्धिस्तत्राह–

आशंका = ऐसा होने पर भी कैसी पुत्र जन्मादि ज्ञान की सिद्धि होगी? इस पर समाधान देते हैं–

भूतार्थनिष्ठवचनादपि शब्दशक्तिः
शक्या ग्रहीतुमुदितेन पथाऽनभिज्ञैः।।
तत्र प्रवर्त्तकनिवर्त्तकवाक्यमूल-
शक्तिग्रहैकनियमस्य न हेतुरस्ति।।३६०।।

अन्वयः = उदितेन पथा अनभिज्ञैः भूतार्थनिष्ठाद् अपि वचनात् शब्दशक्तिः ग्रहीतुं शक्या। तत्र प्रवर्तकनिवर्त्तकवाक्यमूलशक्तिग्रहैकनियमस्य हेतुः नास्ति।।३६०।।

अन्वयार्थ = इसप्रकार कथित मार्ग के द्वारा अनभिज्ञ व्यक्तियों को सिद्धार्थ का वाक्य से भी शक्तिग्रह हो सकता है अतः प्रवर्तक वाक्य से ही शक्तिग्रह होता है इस नियम में कोई प्रमाण नहीं।।३६०।।

भूतार्थनिष्ठेति। उदितेन पथा उक्तेन मुखविकासाद्युपायेन पूर्वोक्तलिङ्गेनेष्ट ज्ञाना-नुमानानन्तरं किं तदिष्टमितिजिज्ञासमानः "पुत्रस्ते जातः" इति वक्तैव प्रदर्शितेन तत्पदानु-लिप्तकुङ्कुमाद्यङ्कितवाससा तर्केण स्वस्मिन्सुखनिमित्ततयाऽवगतं पुत्रजन्मैव तन्नान्यत्प्रियासुखप्रसवादीति निश्चित्येदं पुत्रजन्मज्ञानं कुतोऽस्याभवदिति तत्कारणमा-लोचयन्प्रस्तुतवाक्यश्रवणानन्तरमेव तज्जन्मदर्शनात्तद्वाक्यमेव पुत्रजन्मज्ञाने निमित्तमिति निश्चित्य सिद्धार्थवाक्यादपि शब्दशक्तिर्ग्रहीतुं शक्यत इति। तत्र लोके। प्रवर्त्तकनिवर्त्तकवाक्यं मूलं यस्य शक्तिग्रहस्य स प्रवर्त्तकनिवर्त्तकवाक्य मूलशक्तिग्रहः केवलं तद्गोचरस्य नियमस्य न हेतुरस्तीत्यर्थः।।३६०।।

भूतार्थ निष्ठेति = उत्पन्न मार्ग जो मुख विकासादि कह चुके हैं। उसे ही हेतु बनाकर इष्ट ज्ञान के अनुमान के बाद क्या उस ज्ञान का इष्ट है ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होने पर "पुत्रस्ते जातः" इति, तो इस वाक्य का वक्ता ही इस वाक्य के साथ ही साथ कुंकुम से अंकित बालक के चरणाङ्कित वस्त्र बताता यही मानो तर्क है। इससे स्वयं पिता में सुख का निमित्त पुत्र जन्म ही है। अपने पत्नी के पुत्र प्रसव सुख से अन्य कोई वस्तु नहीं हो सकती है। ऐसा निश्चय होने पर तटस्थ बालक में पुत्र जन्मज्ञान किससे उत्पन्न हुवा ऐसी आशंका होने पर उसके कारण की खोज करने पर यही निष्कर्ष निकाला है कि प्रस्तुत वाक्य श्रवण के बाद "पुत्रस्ते जातः" पुत्र के जन्म का दर्शन हो जाता है। अतः "पुत्रस्ते जातः" यह वाक्य ही पुत्र जन्म ज्ञान में कारण है। ऐसा निश्चय हो जाता है। अतः सिध्दार्थ वाक्य से भी शब्द में शक्ति का ग्रहण किया जाता है। इति "तत्र= लोक में। प्रवर्तकनिवर्तकवाक्य-मूलम्- जिस शक्तिग्रह का मूल प्रवर्तक

निवर्तक वाक्य होता है, उस शक्तिग्रह को प्रवर्तकनिवर्तकवाक्यमूलक शक्तिग्रह कहते हैं तो प्रवर्तक निवर्तक वाक्य, नियमस्य न हेतुरस्तीति- शक्ति के विषय का नियम से हेतु नहीं है। अर्थात् यह कोई व्याप्ति नहीं बना रहे हैं कि जहां जहां प्रवर्तक निवर्तक वाक्य हो वहां वहां शक्ति गोचर विषय है। ऐसी कोई अनुगत रूप व्याप्ति नहीं बना रहे हैं।

नन्वेवं पुत्राद्यनेकपदार्थसंसर्गरूपवाक्यार्थज्ञानस्य पुत्रादिपदसमुदायात्मकवाक्य-जन्यत्वनिश्चयेऽप्यस्य पदस्यास्मिन्नर्थे शक्तिरिति कथं प्रवृत्त्या विना निश्चेतुं शक्यत इत्याशङ्क्याह—

आंश= यदि शक्ति गोचर विषयक नियम नहीं बनाया जाय तब तो पुत्रस्ते जातः "इस वाक्य में अनेक पद हैं, "पदसमूहात्मकं वाक्यम्" कहा जाता है तब अनेक पदार्थो का संसर्गरूप वाक्यार्थ ज्ञान पुत्रादिपद समुदायात्मक वाक्य से जन्य है इसका निश्चय होने पर भी अमुक पद की अमुक अर्थ में शक्ति है यह प्रवृत्ति के बिना कैसे निश्चित हो पायेगा। ऐसी आशंका होने पर उत्तर दे रहे हैं—

सामान्यतः प्रथममेष पदार्थपिण्डो
वाच्योऽस्य वाचकमिदं पदपिण्डरूपम्।।
इत्याकलय्य पुनरेष विशेषतोऽपि
शब्दार्थसंगतिमवैति जनस्तटस्थः।।३६१।।

अन्वयः= प्रथमं सामान्यतः "पदार्थपिण्डो वाच्यः" अस्य इदं पदपिण्डरूपं वाचकं इत्याकलय्य पुनः एव तटस्थः जनः विशेषतोऽपि शब्दार्थसंगतिं अवैति।।३६१।।

अन्वयार्थः= पहले सामान्यतः पदार्थ समूह वाच्य है और इसका यह पद समूह वाचक है, ऐसा समझकर यह तटस्थ पुरुष विशेषतः पद पदार्थ के संगति का ज्ञान कर लेता है।।३६१।।

सामान्यत इति। संमुग्धाकारेण पदार्थपिण्डः पदार्थसमूहः पदार्थसंसर्ग इति यावत्। अस्य प्रकृतवाक्यस्य। वाचकमस्य वाक्यार्थस्येति शेषः। पुनः- सामान्यतो वाक्यतदर्थज्ञानयोर्हेतुहेतुमत्त्वग्रहानन्तरम्। एष व्युत्पित्सुः। विशेषतोऽपि शब्दार्थसङ्गतिं पुत्रादिपदस्य तत्तदर्थविशेषे संगतिम्, अवैति- अवगच्छति। सामान्यतोऽर्थसमूहे पदसमूहस्य गृहीतसङ्गतिको हि बालः स्वात्मन्यवगतपुत्रार्त्त्यनिष्टसाधनभावः प्रतिपन्नदेवदत्तपुत्रार्तिः देवदत्त तव पुत्र आर्त्त इति वाक्यश्रवणानन्तरं तस्मिन्नतिमलिनं मुखादि दृष्टा पूर्ववदनिष्टज्ञानमनुमाय तस्य च वाक्यजन्यत्वं निश्चित्य सुताद्यर्थ विशेष पुत्रादिपदस्य योग्येतरान्विते पृथक् पृथक् संगतिमवगच्छति अतः

प्रथमव्युत्पत्तेः प्रवर्त्तकवाक्याधीनत्वनियमोक्तिः परस्य भ्रान्तिमूलेति भावः।।३६१।।

सामान्यत इति= जो संमुग्धबालक है, वह पदार्थपिण्डः= पदार्थ समूह को, अर्थात् पदार्थ संसर्ग को। अस्य प्रकृत वाक्य के। वाचकमस्य- इस वाक्यार्थ का यह वाचक है। पुनः= सामान्यरूप से वाक्य तथा वाक्यार्थ ज्ञान को हेतु, हेतुमत् भाव ग्रहण के बाद (हेतु है वाक्य और हेतुमद् है वाक्यार्थज्ञान) इसके ग्रहण के बाद। एष= शाब्दबोध का इच्छुक बालक। विशेषतोऽपि शब्दार्थ संगतिम्= पुत्रादि पद का पुत्रादि अर्थ विशेष में ही संगतिग्रह है। ऐसा अवैति= जान जाता हैं। भाव यह है कि सामान्य रूप से अर्थ समूह में पद समूह की संगति गृहित होने पर यह बालक अपने आप में पुत्र बीमार है ऐसा अनिष्ट साधन भाव प्राप्त करता है। क्योंकि इतने में एक व्यक्ति देवदत्त के पास आकर कहता है "पुत्रार्तिः देवदत्त तव पुत्र आर्त" दुःखी पुत्र वाले देवदत्त तेरा पुत्र बीमार है। इस वाक्य के श्रवण के बाद देवदत्त का चेहरा मलिन हो जाता है। तो शाब्दबोध का इच्छुक बालक देवदत्त के मुख को देखकर पहिले जैसे ही अनिष्ट ज्ञान का अनुभव करके यह अनिष्ठ ज्ञान "देवदत्त पुत्रस्तेआर्त्त" इस वाक्य से जन्य है ऐसा निश्चय कर लेता है। पुत्रादि अर्थ विशेष में पुत्र पद की योग्यतरान्वित में पृथक्पृथक् संगति का ग्रहण कर लेता है। योग्येतर हुवा "आर्त्तः" इत्यादि उससे अन्वित हुवा पुत्रादि।। तो इस प्रकार से प्रथम जो शब्दबोध हुवा "इसमें शक्ति ग्रह में प्रवर्तक निवर्त्तक" वाक्याधीनत्व नियम को मानना यह मीमांसक की भ्रान्ति मानी जायेगी। क्योंकि पुत्रस्ते जातः पुत्रस्ते आर्तः इन सिद्धार्थक वाक्यों से भी शक्ति ग्रह उत्पन्न होता है। क्योंकि "सुताद्यर्थ विशेषे पुत्रादि पदस्य योग्येतरान्विते पृथक् पृथक् संगतिमवगच्छति" तत्तदर्थ में तत्तपद योग्येतरान्वित रूप से शक्ति है। यह कह चुके हैं।।

एवं प्रसिद्धपदसमभिव्याहारादप्यप्रसिद्धपदस्य विनैव कार्यान्वयप्रतीतिं योग्येतरान्विते संगतिग्रहणादपि न शब्दार्थस्य कार्यान्वयित्वनियमः। न च तत्रापि पदान्तरस्य कार्यान्विते प्रथमावगतशक्त्यनुरोधेन कार्यपदाध्याहारोऽस्त्विति वाच्यम्। योग्येतरान्वित एव प्रथमं संगति ग्रहोपपादनादित्याशयेनाह—

इस प्रकार प्रसिद्ध पद के समभिव्याहार होने पर भी अप्रसिद्ध पद की कार्यान्वय प्रतीति के बिना ही योग्यतरान्वित में संगतिग्रह होने से शब्दार्थ का कार्यान्वयत्व नियम सिद्ध नहीं होता है। "प्रभिन्नकमलोदरे मधुनि मधुकरः पिबति" में मुधकर शब्द का बोध न होने पर भी पुष्परस पानकर्ता के रूप में क्रियान्वयन के बिना ही बोध हो रहा है।

काष्ठैः स्थाल्यां पचति विविधैरोदनं पूर्णिकेति
श्रुत्वा बालः सपदि मनुते काष्ठशब्दस्य शक्तिम्।।
दृष्ट्वा तस्मिन्पचनकरणं प्रज्वलत्काष्ठजातं
न्यायोपायादितरवचसां शक्तिषु प्राक्प्रवीणः।।३६२।।

अन्वयः—पूर्णिका विविधैः, काष्ठैः ओदनं पचति इति श्रुत्वा इति वचसां शक्तिषु प्रवीणः बालः पचनकरणं प्रज्वलत्काष्ठजातं च दृष्ट्वा न्यायोपायात् काष्ठशब्दस्य शक्तिं सपदि मनुते।।३६२।।

अन्वयार्थः— पूर्णिमा नाम की दासी विविधकाष्ठों से चावल पकाती है, इसप्रकार के वाक्य को सुनकर "काष्ठ" पद से इतर पदों की शक्ति में प्रवीण बालक पचनकरण तथा जलती हुई लकडीयों को देखकर "काष्ठ" पद की शक्ति शीघ्र ही (लकड़ियों में) निश्चित कर लेता है।।३६२।।

काष्ठैः स्थाल्यामिति। पूर्णिका दासी। इतरवचसां काष्ठपदव्यतिरिक्तपदानाम्। शक्तिषु- अमत्रादिविषयास्विति शेषः। प्रागेतस्मात्प्रयोगात्पूर्वं, प्रवीणो निपुणो विद्वान्बालः पूर्णिका विविधैः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचतीति श्रुत्वा पचनकरणं प्रज्वलत्काष्ठजातं च दृष्ट्वा तस्मिन्काष्ठे न्यायोपायान्न्यायबलेन तत्तदर्थविशेषे स्थाल्यादिपदानां शक्तेर्निश्चयात्परिशेषादिन्यायेन काष्ठशब्दस्य शक्तिं सपदि मनुत इति संबन्धः।।३६२।।

काष्ठैः स्थाल्यामिति— लकड़ियों के इन्धन से थालीयों में। पूर्णिका- दासी। नाना प्रकार के लकड़ियों से चावल को पका रही है। इतर वचसा— काष्ठ पद से अतिरिक्त पदों का। शक्तिषु— अमात्रादि विषयों में थालियों के विषय में, प्राक्- इस प्रयोग के पूर्व काष्ठैः स्थाल्यां ओदन पचति इस वाक्य के प्रयोग के पहिले भी, प्रवीणों— निपुण विद्वान् बालक, पूर्णिका विविधैः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचतीति— इस वाक्य के सुनने के बाद ओदन को पकाने का असाधारण करण (कारण) जलती हुई काष्ठ जात को देखकर उन उन काष्ठ जात में न्यायोपायान्न्यायबलेन—न्यायो पायात् न्याय बल से प्रज्वलित होना इस न्याय कें बल से तत्तदर्थ विशेषे— इस थाली में यह चावल है ऐसा अलग अलग बोध थाली आदि पदों के द्वारा तत्तदर्थ में शक्ति का निश्चय हो जाता है। जब प्रत्येक़ पद का (शब्द का) ततदर्थ में शक्ति निश्चय हो जाता है। तब तो परिशेष न्याय से काष्ठ शब्द की शक्ति प्रज्वलन रूप अर्थ में बालक गृहीत कर लेता है।

इदानीं प्रथमव्युत्पत्तेः प्रवर्तकवाक्याधीनत्वनियमेऽपि न कार्यान्विते शक्तिः क्रियातिरिक्तकार्यस्यैव लोकेऽप्रसिद्धत्वादित्याह—

अब यहां प्रथम प्रवृत्ति प्रवर्तक वाक्याधीन होने पर भी कार्यान्वित में शक्ति नहीं है क्योंकि लोक में क्रिया से अतिरिक्त कार्य की प्रसिद्धि नहीं है।

न च किमपि नः कार्यं नाम प्रमाणपथानुगं
यदिह तु पुनर्लिङ्लोडादेरुपैष्यति वाच्यताम्।।
न खलु तदितो धात्वर्थादेः पृथग्व्यवसीयते
व्रजतु तदिह श्रेयोहेतुर्लिङादिपदार्थताम्।।३६३।।

अन्वयः= इह किमपि कार्यं नाम नः प्रमाणपथानुगं न च। यत् पुनः लिङ्लोडादेः वाच्यतां उपैष्यति। इतो धात्वर्थादेः पृथक् तत् न व्यवसीयते, इह तत् श्रेयोहेतुः लिङादिपदार्थतां व्रजतु।।३६३।।

अन्वयार्थः= इस लोक में कोई कार्य (नियोग) पदार्थ हमारे प्रमाण पथ में आता ही नहीं। जो कि लिङ् लोट् आदि का वाच्य होगा। इस धात्वर्थ रूप क्रिया से भिन्न वह (कार्य) परिलक्षित नहीं होता। अतः यहां वह (धात्वर्थ भूत क्रिया) ही इष्ट साधन होकर लिङादि पदों का वाच्य होती है।।३६३।।

न च किमपीति। नः प्रमाणपथानुगमिति संबन्धः। न तावल्लोके धात्वर्थातिरिक्तं कार्यमस्ति। नापि धात्वर्थ एव तत्, तस्य धातुनैवाभिहितत्वेन लिङादिनाऽप्यभिधानायोगात्, अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्। न च कार्यत्वाकारेण तस्य लिङर्थत्वमिति वाच्यम्। कार्यत्वस्य कृतिसाध्यतारूपत्वे तस्या अतिप्रसक्तत्वेनाऽप्रवर्तकत्वात् प्रवर्त्तकाभिधायिलिङर्थत्वायोगात्। तस्मात्कार्यं दुर्निरूपमित्यर्थः। ननु शब्दार्थनिरूपणप्रस्तावे किमिदं कार्यखण्डनं तत्राह— यदिहेति। तुरवधारणे यदेवेत्यर्थः। कार्यस्य लिङर्थत्वं न सम्भवतीति वक्तुं तदिति नासङ्गतमित्यर्थः। पुनःशब्दोऽलङ्कारार्थः। ननु मयेदं कर्त्तव्यमिति कार्यमेवानुभूयते इति कथं तदप्रमाणकमित्याशङ्क्य कृतिसाध्यतया धात्वर्थस्तदिच्छा वा तदाकारा चिकीर्षाख्या तथा ऽनुभूयते न तदतिरिक्तं किं चिदित्याह- न खल्विति। धात्वर्थः क्रिया, आदिपदात् कारकादिग्रहः। कटः कर्तव्यः तृप्तिः कार्येति कारकफलयोरपि कर्त्तव्यत्वप्रतीतेरितः प्रसिद्धाद्धात्वर्थादेः पृथग् न खलु तत्कार्यं व्यवसीयत इत्यन्वयः। ननु कस्तर्हि प्रवर्त्तको यो लिङादिनोच्यते शब्दभावनादेर्बालादिव्यवहाराहेतुत्वेन मध्यमवृद्धप्रवृत्त्याऽननुमितस्य लिङर्थत्वकल्पनायोगादित्याशङ्क्य सत्यं श्रेयः साधनत्वमेव ज्ञायमानं बालादिप्रवृत्तौ करणतया क्लृप्तं प्रकृतेलिङाद्यभिधेयं कल्प्यमित्याह— व्रजत्विति। इह लोके। श्रेयोहेतुरिष्टसाधनत्वम्। भावप्रधानो निर्देशः।।३६३।।

न च किमपीति= न प्रमाणपथानुगमिति सम्बन्धः= कार्यनाम की कोई भी वस्तु हमारे प्रमाण पथ पर नहीं आ रही है। लोक में भी धात्वर्थ से अतिरिक्त कार्य नामक कोई

वस्तु है नहीं। यदि कहो कि धात्वर्थ ही कार्य है, तो यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसे कार्य का निरूपण तो धातु से ही हो जाने के कारण, लिङ् लोडादिक के द्वारा उसका कथन संभव नहीं हो पायेगा। विशेष शब्द के द्वारा ही विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। अनन्य लभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्।।

यदि यह कहो कि कार्यत्वाकारेण रूपेण कार्य को लिङर्थत्व परक मानें तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि कार्यत्व को कृति साध्यत्वरूप मानने से कृति साध्यत्व अतिप्रसक्त है क्योंकि जहां कृतिसाध्यत्व नियोग में (अपूर्व) है वैसे कृतिसाध्यत्व घटादि द्रव्य में होने से अतिप्रसक्त है। अतिप्रसक्त होने के कारण कार्यत्व कृतिसाध्यत्व का प्रवर्तक नहीं हो सकता। तो फिर प्रवर्तक अभिधायिलिङर्थत्व कार्यत्व में नहीं आ सकेगा। क्योंकि प्रवर्तकाभिधायि लिङर्थत्व अति प्रसक्त रूप होने से उससे कार्यत्व का ग्रहण सम्भव नहीं हो सकता। जैसे पृथिवित्वेन रूपेण घट का ग्रहण उचित नहीं है। इसलिये कार्य का निरूपण दुस्तर है।

आशंका— शब्दार्थ निरूपण के प्रसंग में बीच में ही आपने सिद्धान्ती ने कर्म का खण्डन करना शुरू किया यह अनुचित है।

समाधान— यदिहेति= तु— शब्द निश्चय परक हैं अर्थात् यदेवेति ऐसा अर्थ होगा। कार्य में नित्यत्व संभव नही है। यह कहने के लिये "तदिति" श्लोक में शब्द असङ्गत नहीं है। पुनः= पुनः शब्द अलङ्कार के लिये सौष्ठवत्व के लिये प्रयुक्त किया हुवा है।

आशंका= "मयेदं कर्तव्यमिति" मैने यह काम करना है इस शब्द प्रयोग से कार्य का ही अनुभव हो जाता है। तो फिर सिद्धान्ती जी ने कैसे यह कह दिया कि कार्य अप्रमाणक है (प्रमाणविहीन है) ऐसी आशंका होने पर

समाधान— कृति साध्यता के रूप में धात्वर्थ, धात्वर्थ इच्छा, अथवा धात्वर्थाकाराकारित चिकीर्षा (करने की इच्छा) कृति साध्यता रूप से अनुभूत होती है न कि इन तीनों से अतिरिक्त कृति साध्यता अन्य रूप से प्रकाशित होती है। इसलिये कहते हैं न खल्विति= धात्वर्थ= क्रिया, आदिपदात् आदिपद से कारकादिक का भी ग्रहण कर लेना। कटः कर्तव्यः तृप्तिः कार्येति= कट करनी चाहिये (कटका तात्पर्य चटाई से है) तथा तृप्ति करनी चाहिये, ये दोनों उदाहरण ऐसे है पहिला उदाहरण कट का है तो दूसरा उदाहरण फल का है, दोनों में ही कर्तव्यता प्रतीति स्वीकृत की गई है। इससे जो प्रसिद्ध धात्वर्थादि है उससे पृथक् स्वतन्त्र कोई कार्य को स्वीकृत नहीं किया गया है। तात्पर्य वह है इन दोनों प्रयोगों में भी धात्वर्थ से अतिरिक्त क्रिया का स्वीकार नहीं है।

आशंका– लिङादि के द्वारा प्रतिपादित ऐसा कौन सा तत्त्व है जिसे हम बालक के प्रति प्रवर्तक मानें? लिङादिक से उत्पन्न शब्द भावना तो बालक के व्यवहार के प्रति कारण नहीं बन सकती। यदि मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति बालक के व्यवहार के प्रति कारण मानें तो वह प्रवृत्ति अननुमित (अनुमित न होने के कारण) होने से उसमें लिङर्थकत्व की कल्पना करना अयोग्य है।

समाधान= लिङ् से अभिधेय श्रेय साधनादि ही बालक के– प्रवृत्ति का ज्ञायमान साधन रूप से स्पष्ट कारण है। तो प्रकृत में लिङाद्यभिधेय श्रेय साधन पद की कल्पना करना उचित है। व्रजत्विति= इह लोके। श्रेयो हेतुः= इष्टसाधनता। यह लिङादि का अर्थ मानेंगे। इससे लिङ्ग का अर्थ कार्य सम्भव न होने से प्रभाकर का मत खण्डित हो गया।।

ननु समिधमाहरेत्याचार्यवचनेन माणवकः प्रवर्त्तते, न च तस्य किं चित्तत इष्टं लभ्यते प्रत्युत दुःखमेव महद्भवति तत्कथं श्रेयोहेतुत्वं प्रवर्त्तकं येन तल्लिङर्थो भवेदिति तत्राह–

प्रश्न= समिधामाहर- समिधा ले आवो इस आचार्य वाक्य से बालक समिधा लाने के लिये प्रवृत्त हो जाता है। इसमें तो थोडा सा भी फायदा उस बालक में देखने में आता नहीं। इसके विपरीत उसमें महान दुःख को ही हम देखते हैं। तो फिर यह बात कैसी कि श्रेय हेतुत्व ही प्रवर्तक है। जो लिङर्थ रूप हो। इस पर कहते है–

न खलु जगति श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयादृते
पुरुषवचनात् क्वापि प्राज्ञः प्रवर्त्तितुमर्हति
प्ररुषवचनाच्छ्रेयोहेतुप्रतीत्युदयात् पुन-
स्तदनुवशगो रागोत्पत्तौ ततः सहि चेष्टते।।३६४।।

अन्वयः= जगति पुरुषवचनात् श्रेयोहेतु प्रतीत्युदयात् ऋते प्राज्ञः क्वापि प्रवर्त्तितुं न अर्हति। पुरुषवचनात् श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयात् पुनः रागोत्पत्तौ तदनुवशगः ततो हि स चेष्टते।।३६४।।

अन्वयार्थः= जगत में पुरुषवचन से इष्ट साधन प्रतीति के बिना बुद्धिशाली व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। पुरुष वचन से इष्टसाधन की प्रतीति होने पर राग उत्पन्न होता है। उस राग के वशीभूत (अधीन) होकर वह बुद्धिमान् व्यक्ति प्रवृत्त होता है।।२६४।।

न खलु जगतीति। पुरुषवचनात् आचार्यादिवचनात्। प्राज्ञः प्रेक्षावान्। माणवकस्यापि बलवच्छ्रेयस्करमाचार्याज्ञापालनमदृष्टं वा तादृशमस्त्येव श्रेय इति तत्साधनत्वमेव तत्रापि प्रवर्त्तकं

यदि तदुभयार्थी माणवको न स्यात्तर्हि न प्रवर्तेतैव, दृश्यन्ते हि दुष्टाः शिष्यास्तथा-विधा इति भावः। अस्तु तर्ह्यव्यधानाद्राग एव प्रवर्तक इत्याशङ्क्याह- पुरुषवचनाच्छ्रेयोहेत्विति। सत्यं चिकीर्षारूपो धात्वर्थरागः प्रवृत्त्यव्यवहितप्राक्काले़ऽस्ति, परंत्वाचार्यादिवचनादिष्ट-साधनत्वज्ञानोदयात्पुनः पश्चाद्रागोत्पत्तिः, ततस्तदनुवशगो रागाधीनः स माणवकादिः प्रवर्त्तत इत्यर्थः। तथा च चिकीर्षाया यन्निमित्तमिष्टसाधनताज्ञानं तदेव बाह्यचेष्टायामपि कारणमित्यर्थः। ननु श्रेयःसाधनत्वमतीतादिसाधरणं कथं प्रवर्त्तकमिति चेन्न। कृतियोग्येष्टसाधनत्वस्य प्रवर्त्तकत्वेनातिप्रसङ्गभावादित्युक्तत्वादिति।।३६४।।

न खलु जगतीति= पुरुष वचनात्= आचार्यादि के वचनों के द्वारा ही जगत में किसी प्राज्ञ की पेक्षावान् की प्रवृत्ति देखने में आती है। आचार्यादिक के वचन के बिना प्राज्ञ की प्रवृत्ति देखने में नहीं आती हैं

प्राज्ञः= पेक्षावान्। छोटे से बालक की भी प्रवृत्ति आचार्य की आज्ञा पालन करना मेरे लिये बलवच्छ्रेय साधन है अथवा आचार्य की आज्ञा पालन मेरे लिये अदृष्ट पुण्य की उत्पत्ति कराने वाला है, ऐसा समझ करके ही बालक की भी प्रवृत्ति होती है। अर्थात् बालक भी आचार्य की आज्ञा परिपालन या तो बलवच्छ्रेय साधन समझ करके पालन करता है अथवा (पुण्योत्पादक) अदृष्ट का साधन आचार्य आज्ञा परिपालन समझकर प्रवृत्त होता है यह भाव है। और जिस बालक में (माणवक में) इन दोनों की अभिलाषा नहीं है अथवा दोनों में से एक की भी अभिलाषा नही है ऐसा माणवक प्रवृत्त भी नहीं होता है। ऐसे भी दुष्ट स्वभाव वाले शिष्य यत्र तत्र उपलब्ध हो जाते हैं जिन्हें न दोनों कामनायें है, न दोनों में से एक की कामना है और न ही आज्ञापालन ही करते हैं।

आशंका= आचार्य जी की आज्ञा के बाद तुरन्त माणवक की जो प्रवृत्ति देखने में आती है उसे राग के अधीन ही मानी जाय तो?

समाधान= यह बात तो सत्य है कि "समिधामाहर" समिधा लावो इसमें आहर (लावो) धात्वर्थ में राग आसक्ति हो जाने से वही चिकीर्षारूप है, करने की इच्छा है और यह धात्वर्थ राग रूपी प्रवृत्ति की इच्छा प्रवृत्ति के पूर्वक्षणावच्छेदेन है। अर्थात् प्रवृत्ति के पूर्ववर्त्ती क्षण में यह इच्छा है। तथापि आचार्य के मुख से "समिधामाहर" इस वचन से इष्ट साधनता का ज्ञानोदय हो जाने से पुनः बाद में राग की उत्पत्ति होती है। इसके राग के उत्पत्ति के बाद इस राग के वशीभूत वह समिधा लाने में प्रवृत्त होता है तो तात्पर्य यह हुवा कि जो इष्टसाधनता ज्ञान चिकीर्षा का (करने की इच्छा का) कारण बना वही इष्टसाधनताज्ञान बाह्य चेष्टा में भी हाथों के द्वारा समिधा लाना ऐसी

चेष्टा में भी कारण बन जाता हे। बाह्य चेष्टा में इष्टसाधनता ज्ञान से अतिरिक्त अन्य किसी कारणता की आवश्यकता नहीं है। राग अन्यथा सिद्ध है।

आशंका= श्रेयः साधन तो अतीतादि साधारण है। क्योंकि यजमान ने यज्ञ किया २० वर्ष पूर्व, बाद में यजमान मरकर स्वर्ग में जायेगा तो यज्ञ जो स्वर्ग का इष्ट-साधन है वह तो अतीतादि साधरण हो गया। तो फिर इष्ट साधन माणवक के कैसे प्रवृत्ति का प्रवर्त्तक माना जायेगा?

समाधान— इष्ट साधनता में हम एक विशेषण और देंगे वह है कृतियोग्य तो कृति योग्य इष्ट साधनता ज्ञान तो आचार्य वचन सुनकर माणवक़ में होगा। अतीतादि में यह लक्षण नहीं जायेगा। क्योंकि कृति योग्य इष्ट साधनता ज्ञान उसमें नहीं है। अतीत हो जाने के कारण। आदि आदि यह अभिप्राय पहले भी कह चुके हैं।

एवमिष्टसाधनताज्ञानस्य मतद्वयसंप्रतिपन्नस्य प्रवृत्तिकारणत्वमुपपाद्य तत्र लिङादेः सङ्गतिग्रहं वक्तुं प्रथमं प्रवृत्तिं प्रत्यव्यवहितप्राक्कालीनचिकीर्षानुमानं तद्धेत्विष्टसाधनता-ज्ञानानुमानं च व्युत्पित्सोराह—

इस प्रकार आचार्य आज्ञापालन रूप इष्टसाधनता ज्ञान बलवच्छ्रेय का साधन है अथवा अदृष्ट का साधन है ये ही दो कारण माणवक के प्रवृत्ति के कारण होते हैं इसका निरूपण तो कर लिया है अब संग में लिङादि का संगतिग्रह भी बोलना चाहिये। अतः प्रवृत्ति के प्रति अव्यवहित प्राक काल में (क्षण में) चिकीर्षानुमान (करने की अनुमान)। इसी प्रकार प्रवृत्ति अव्यवहिक पूर्व काल में इष्ट साधनता ज्ञान का अनुमान (अनुतिकरणमनुमानम्) जो जानना चाहते हैं उनके लिये कह रहे हैं—

नयनिपुणधीर्बालश्चेष्टां समीक्ष्य समीहितुः
कृततदुचितव्याप्तिज्ञानः पुरा निज आत्मनि।।
परतनुगतं श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयोत्थितं
चरितविषये रागं तस्य प्रवर्त्तकमिङ्गति।।३६५।।

अन्वयः=नयनिपुणधीः बालः समीहितुः चेष्टां समीक्ष्य पुरा नज आत्मनि कृततदुचितव्याप्तिज्ञानः परतनुगतं श्रेयो हेतुप्रतीत्युदयोत्थितं चरितविषये रागं तस्य प्रवर्त्तकं इङ्गति,।।३६५।।

अन्वयार्थः= अनुमान प्रमाण कुशल बालक प्रवर्तमान पुरुष की (गवानयनादि) प्रवृत्ति को देखकर प्रथमतः अपने शरीर में उचित व्याप्ति का ज्ञान वह कर चुका था अतः पर शरीरगत (प्रवर्तमान पुरुष में होने वाले) इष्ट साधनता ज्ञान जन्य प्रवृत्ति विषयक राग को उस पुरुष का प्रवर्तक है ऐसा जान

लेता है।।३६५।।

नयनिपुणधीरिति। अनुमाने कुशलधीरित्यर्थः। समीहितुः प्रवर्त्तमानस्य। कृतं तस्यानुमानस्योचितं व्याप्तिज्ञानं येन स कृततदुचितव्याप्तिज्ञानः। निज आत्मनि स्वात्मनि। परस्य प्रवर्त्तमानस्य तनुगतं श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयात्कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञानोत्पत्तेरुत्पन्नात्तज्ज्ञानादुत्थितमुत्पन्नं चरितविषये=तादृशेष्टसाधनतयाऽवगतधात्वर्थे तस्य प्रवर्त्तमानस्य रागमिङ्गत्यनुमिनोति। गामानयेत्यादिलिङ्गादिसमभिव्याहृतं वाक्यं श्रुत्वा प्रवर्त्तमानवृद्धस्य गवानयनादिचेष्टां दृष्ट्वा बालः पूर्वं स्वात्मनि प्रवृत्तेश्चिकीर्षाजन्यत्वेन व्याप्तिनिश्चयवान् विमता प्रवृत्तिश्चिकीर्षाजन्या प्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वान्मदीयभोजनादिप्रवृत्तिवदिति, मध्यमवृद्धे चिकीर्षामनुमाय, सापि वर्णितश्रेयःसाधनताज्ञानजन्या चिकीर्षात्वान्मम भोजनादिचिकीर्षावदिति कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञानं चानुमिनोतीत्यर्थः।।३६५।।

नयनिपुणधीरिति— अनुमान करने में कुछ बुद्धिमान् बालक। समीहितुः= प्रवृत्तमान को (मध्यम बृद्ध को) देखकर। कृततदुचितव्याप्तिज्ञानः— अनुमानके उपयोगी व्याप्ति ज्ञान को वह बालक प्राप्त कर लेता है। निज आत्मनि- अपने आप में। परतनुगतम्= प्रवृत्तमान् जो मध्यमवृद्ध, उसके तनुगतम्- शरीरान्तर्गत चेष्टा को देखकर, वह चेष्टा इस प्रकार धात्वर्थ का श्रवण करने के बाद (गामानय इत्यादि) श्रेय हेतु प्रतीति का उदय होने पर इससे इष्ट साधनता ज्ञान की उत्पत्ति होती है, इस ज्ञान से, उत्थितम्= उत्पन्न हो जाता है क्या? चरित विषये= (गामानय) इसमें आनय जो धात्वर्थ है, उसमें मध्यमवृद्ध जो प्रवृत्त हो रहा है उसकी धात्वर्थ में इष्ट साधनता ज्ञान के होने पर रागात्मिक प्रवृत्ति अनुमित होती है।

गामानय इत्यादि लिङादि के समभिव्याहृत के वाक्य का श्रवण करके मध्यम वृद्ध की (प्रवर्तमान वृद्ध की) गौ को लाने की चेष्टा बालक देख लेता है। तो देखने वाला बालक पहिले तो अपने आप में आत्मा में स्वात्मा में प्रवृत्ति चिकीर्षा जन्यत्व है अर्थात् जहां जहां प्रवृत्ति है वह चिकीर्षा जन्यत्व है ऐसे व्याप्ति के आकार का निश्चय कर लेता है। तो जैसी मेरी प्रवृत्ति चिकीर्षा जन्य है वैसी ही मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति भी चिकीर्षा जन्य होनी चाहिये। इसके लिये हेतु भी होना चाहिये। तो हेतु है प्रेक्षावत् प्रवृत्तित्वात्= प्रेक्षकनिष्ठ (मध्यमवृद्धनिष्ठ) प्रवृत्ति होने से। जैसी मेरे बालक की भोजनादिक में प्रवृत्ति होती है वह चिकीर्षा जन्य ही तो है। इस प्रकार मध्यम वृद्ध में चिकीर्षाका अनुमान किया जाता है। तो अनुमान का आकार अब ऐसा बना (पक्ष) विमता प्रवृत्ति, (साध्य) चिकीर्षा जन्या, हेतु प्रेक्षावत् प्रवृत्तित्वात् उदाहरण मदीय भोजनादि प्रवृत्तिवत्। तो इस प्रकार मध्यम

वृद्ध में चिकीर्षा का अनुमान होने पर वह चिकीर्षा भी वर्णित श्रेय साधनता ज्ञान जन्य है। अर्थात् वह चिकीर्षा भी कृति साध्येष्टसाधनता ज्ञान जन्या है। क्योंकि चिकीर्षत्वात् हेतु होने से। जैसी मेरी भोजनादि में चिकीर्षा होती है तो वह कृतिसाध्येष्टसाधनता ज्ञान से होती है ऐसी अनुमिति हो जाती है। अर्थात् चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञानजन्या है चिकीर्षा पक्ष है और कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञानजन्यता साध्य है। इस प्रकार यह अनुमिति हो जाती है।

ततः किं तत्राह–

इससे क्या निष्कर्ष निकला–

प्रवर्त्तकोत्थाननिबन्धने ततः
समीहितोपायविशेषवस्तुनि।।
गिरोऽनुमाय प्रतिपत्तिहेतुतां
विशेषसिद्धौ तु समीहतें पुनः।।३६६।।

अन्वयः= ततः प्रवर्त्तकोत्थाननिबन्धने समीहितोंपायविशेषवस्तुनि गिरः प्रतिपत्तिहेतुतां अनुमाय विशेषसिद्धौ तु पुनः समीहते।।३६६।।

अन्वयार्थः= इसके अनन्तर प्रवर्तक राग की उत्पत्ति के हेतु भूत इष्ट साधन रूप विशेष वस्तु के ज्ञान की लिङादि युक्त वाक्य में हेतुता का सामान्यतः वाक्य में अनुमान करके पुनः शक्ति विशेष की सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है।।३६६।।

प्रवर्तकोत्थानेति। ततः परतनुगतरागानुमानानन्तरं प्रवर्त्तव्यमिति रागस्योत्थानमुत्पत्तिर्येन तस्य श्रेयःसाधनताविशेषज्ञानस्य निबन्धने विषये समीहितोपायविशेषवस्तुनि कृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाधने प्रतिपत्तिहेतुतां गिरो लिङादिमद्वाक्यस्यानुमाय पुनर्विशेषसिद्ध्यै तु लिङादिपदविशेषस्यार्थविशेषे शक्तिसिद्ध्यै च समीहते वक्ष्यमाणप्रकारेण यत्नवान्भवतीत्यर्थः।।३६६।।

प्रवर्तकोत्थानेति= इससे दूसरे के (मध्यम वृद्ध के) शरीरगत राग के अनुमान के बाद प्रवर्तित होना चाहिये, इस प्रकार राग की, उत्थानम्= उत्पत्ति जिससे हो ऐसा तो श्रेय साधनता विषयक विशेष ज्ञान है, उसके, निबन्धने= विषय में, समीहितोपायविशेष वस्तुनि= कृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्ट साधन कारण है, उसके प्रति, प्रतिपत्ति हेतुतां गिरो= लिङादियुक्त वाक्य कारण है, ऐसा अनुमान वह निपुण बालक कर लेता है। इस बात को पुनः विशेषसिद्ध्यै विशेष रूप से सिद्ध करने के लिये, लिङादिपद विशेष का अर्थ विशेष में तथा लिङादि

पदविशेष की शक्ति को देखने के लिये, समीहते= अग्रीम प्रकार से प्रवृत्त होता है, यह अभिप्राय है।

नन्वेवमपि किमाख्यातमात्रस्य तत्र शक्तिः किं वा लिङ्लोडादेस्तद्विशेषस्यैवेति कथं विवेक्तव्यमित्याशङ्क्य तमेव यत्नविशेषं दर्शयितुमादौ गवादिपदसाधारणं तद्विवेकोपायमाह—

श्रेय साधनतारूप अर्थ में आख्यातमात्र की शक्ति है कि लिङ्लोडादिक की है? इन दोनों में से एक की ही शक्ति श्रेय साधनता रूप में है दूसरे की नहीं है इसको कैसे समझें? ऐसी आशंका होने पर इस प्रसंग में यत्न विशेष को बताकर आख्यात मात्र शक्त है कि लिङ्लोडादि शक्त है इसका निर्णय गवादि पद साधारण को लेकर ही बता रहे हैं—

पदान्तरस्यागमनादिहान्यत-
स्तथा पदस्योद्धरणादितो गिरः।।
विशेषसिद्धिं लभते प्रयत्नवान्
पदार्थसंबन्धगतां विचक्षणः।।३६७।।

अन्वयः= इय अन्यतः पदान्तरस्य आगमनात् तथा इतो गिरः पदस्य उद्धरणात् प्रयत्नवान् विचक्षणः पदार्थसबंधगतां विशेषसिद्धिं लभते।।३६७।।

अन्वयार्थः= यहां (अश्वमानय आदि वाक्यों में) वाक्यान्तर से पदान्तर अश्वादि के आगमन तथा इस (गामानय) वाक्य से गो पद के उद्धरण के द्वारा वह प्रयत्नशील मेधावी बालक पदपदार्थ- सम्बन्ध विषयक विशेष सिद्धि प्राप्त कर लेता है।।३६७।।

पदान्तरस्येति। अन्यतो वाक्यान्तरात् पदस्य प्रागुक्तवाक्ये श्रुतस्य पदस्य। इतो गिरोऽस्माद् वाक्यादुद्धरणात्त्यागाद्विशेषस्य निश्चयं लभते। प्रयत्नवान् प्रयुक्तपदविशेषस्योद्धारे यस्यार्थविशेषस्य ज्ञानं न भवति अन्यत आनीतपदविशेषज्ञानाच्च यस्यार्थविशेषस्य ज्ञानं भवति तयोः पदविशेषयोस्तावेवार्थौ भवतस्तज्ज्ञानस्य तदन्वयाद्यनुविधानादिति न्यायानुसन्धानवानित्यर्थः। अत एव विचक्षणो मेधावी। पदार्थसंबन्धगतां पदतदर्थसंबन्धस्तच्छक्तिस्तद्विषयां विशेषसिद्धिमिति संबन्धः।।२६७।।

पदान्तरस्येति= अन्यतः= वाक्यान्तर से, पदस्य= पहिले वाक्य में सुने हुये पद को। इतो गिरा= इस वाक्य से, उध्दरणात्= त्याग नहीं किया जा सकता। पद में विशेष अर्थ का निश्चय हो जाता है प्रयत्नवान्— प्रयत्नशील बालक जिस पद का विशेष रूप से उद्धार

किया है, उच्चारण किया गया है लेकिन उसके विशेष अर्थ का ज्ञान नहीं हो रहा है तो अन्य वाक्यान्तर से पद विशेष के ज्ञान के द्वारा अर्थ विशेष का ज्ञान हो जाता है, तो जिस पद विशेष का अर्थ समझ में नहीं आ रहा था वह एक पद तथा अन्य वाक्यान्तर का पद इन दोनों पदों के विशेष अर्थो को वह बालक जान जाता है, तो तत्तत् पदार्थ ज्ञान तत्तद् पदार्थ का अनुसरण करेगा। इस न्याय का अनुसन्धान कर लेना।

इसलिये कहा विचक्षणः= अर्थात् मेधावी ऐसा बालक। पदार्थ सम्बन्धगतां= पद, पद का अर्थ, पद पदार्थ का सम्बन्ध पद निष्ठ शक्ति, तथा पदार्थ ज्ञान का विषय आदि, विशेष सिद्धिमिति– विशेष सिद्धि को वह मेधावी बालक समझ जाता है।

उक्तेन सामान्यन्यायेन लिङादिविशेषस्य श्रेयः साधनतारूपेऽर्थे संबन्धं साधयति–

उक्त सामान्य न्याय से लिङादि विशेष का श्रेय साधनता रूप अर्थ में सम्बन्ध बता रहे हैं–

लड़ादिशब्देऽपगते लिङादौ
प्रत्यागतेऽभीप्सितसाधनत्वम्।।
प्रतीयते तेन लिङादिशब्द-
स्तदर्थवाचीति स वेत्ति बालः।।३६८।।

अन्वयः= लड़ादिशब्दे अपगते लिङादौ प्रत्यागते अभीप्सितसाधनत्वं प्रतीयते, तेन लिङादिशब्दः तदर्थवाचीति स बालः वेत्ति।।३६८।।

अन्वयार्थः= इस प्रकार (गामानयति आदि वाक्यों से) लडादि हटाकर लिङादि के प्रयोग कर देने पर ही इष्टसाधनत्व प्रतीत होता है अतः लिङादि शब्द इष्ट साधनत्व रूप अर्थ के वाचक है। इस प्रकार वह बालक जान लेता है।।३६८।।

लडादिशब्द इति। येन गामानयतीति प्रयुक्ताद्वाक्यात्तदानयनस्य नेष्टसाधनत्वं प्रतीयते यदा पुनर्लडादि परित्यज्य तत्रैव वाक्ये आनयेत्यादि विधिपदं प्रयुज्यते तदा तत्प्रतीयते तेन स बालो लिङादिशब्दस्तदर्थवाचीति वेत्तीति संबन्धः। एवं च न लिङादिर्लडादि-साधारणाख्याततत्वरूपेण श्रेयः साधनत्ववाची किं तु लिङ्त्वादिनैवेति भावः।।३६८।।

लडादिशब्द इति= जिस से "गामानयतीति" गौ को ले आ रहा है। जब गौ को ले आना (आनयनस्य) इसमें इष्ट साधनता की प्रतीति नहीं होती है तब पुनः शब्द प्रयोग करने वाला (उत्तमवृद्ध) लडादिका परित्याग करके उसी वाक्य में आनय इत्यादि विधि पद

का प्रयोग कर लेता है। अर्थात् गामानयतीति की जगह गामानय ऐसा प्रयोग उत्तम वृद्ध कर लेता है। तब मध्यमवृद्ध में इष्टसाधनता की प्रतीति होकर वह मध्यम वृद्ध गौ को लाने में प्रवृत्त हो जाता है। जिससे बालक को यह ज्ञात हो जाता है कि लिङादि शब्द श्रेयः साधनता रूप अर्थ में नियुक्त है। इस प्रकार आख्यातत्वेन रूपेण लडादिर्लिङादि साधारण श्रेय साधन वाची नहीं है किन्तु लिङ्त्वेन रूपेण लिङ् श्रेयः साधनवाची है, निश्चित हो जाता है।

एवं योग्येतरान्विते गवादिपदानां शक्तिः, कृतियोग्येष्टसाधनताज्ञानं प्रवर्त्तकं तत्रैव लिङादेः शक्तिर्न तु कार्ये न वा गवादिपदस्य योग्येतरकार्यान्वये गौरवादित्युक्तम्। नन्वेवमतिलाघवादन्वित एव शक्तिरस्तु न योग्येतरान्वित इत्याशङ्क्येष्टमेव तदस्माकं सिद्धार्थवादिनामित्याह—

इस प्रकार योग्येतरान्वित में गवादिपदों की शक्ति है। कृतियोग्येष्टसाधनता ज्ञान प्रवर्तक है। उसी में ही लिङादिक की शक्ति है, न कि कार्य में लिङादिक की शक्ति है। और न ही गवादि पदों की शक्ति योग्येतर कार्यान्वय में मानी जाती है। क्योंकि इसमें गौरव दोष होता है। जब योग्येतरान्वित में गवादि पद की शक्ति मानने से काम चलता है फिर योग्येतर कार्यान्वय में शक्ति मानने से गौरव दोष होगा।

आशंका= यदि लाघव और गौरव देखना है तो फिर अन्वित में ही गवादि पद की शक्ति मानो इससे और भी लाघव होगा। योग्येतरान्वित में शक्ति मत मानो।

समाधान= वेदान्ती सिद्धार्थ (ब्रह्मवादी) वादी होने से हमारे लिये तो इष्ट साधन ही है। इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

योग्येतरान्विततया न च वाच्यताऽस्य
कार्यान्वितत्ववपुषा सुतरां न चेष्टा।।
किं त्वन्वितत्ववपुषो न विशेषणस्य
किं चित्प्रयोजकमिहास्ति निरूपणायाम्।।३६६।।

अन्वयः=अस्य योग्येतरान्विततया वाच्यता न, कार्यान्वितत्ववपुषा सुतरां न च इष्टा। किन्तु अन्वितत्व-वपुषा। इदं निरूपणायां विशेषणस्य किञ्चित् प्रयोजकं नास्ति।।३६६।।

अन्वयार्थ= इस (पदार्थ) में योग्येतरान्विततत्वरूप से वाच्यता नहीं मानी जाती, और कार्यान्वितत्व रूप से तो कथमपि वाच्यता अभीष्ट ही नहीं है। किन्तु केवल अन्वितत्वरूप वाच्यता अभीष्ट है। यहां वाच्यता

में योग्येतरत्व और कार्यत्वादि विशेषण का कोई नियामक नहीं है।।३६६।।

योग्येतरेति। वाच्यता गवादिपदवाच्यता। अस्य गवादेः। तत्किं कार्यान्विते शक्तिरिष्टा? न, तस्यातिगौरवदुष्टत्वादित्याह-कार्यान्वितत्वेति। तर्हि किं शुद्धे पदार्थे शक्तिः तदपि न, अन्वयप्रतीतेराकस्मिकत्वप्रसङ्गादित्याशयेनाकाङ्क्षापूर्वकमाह-किं त्वन्वितत्वेति। नन्वयोग्येनानितरेणान्वयो न संभवतीति तदपि तत्र विशेषणमिति चेत् सत्यं तेन विना नान्वयप्रतीतिरस्ति तथापि शब्दार्थतायां तन्न प्रयोजकं तेन विनाऽप्यन्वयमात्रस्य शब्दार्थत्वे तद्विशेषणस्य प्रयोजकत्वेनानिरूपणादित्याशयेनाह—न विशेषणस्येति। कार्यत्वस्य वा योग्येतरत्वस्य वेत्यर्थः। प्रयोजकं तदभावे बाधकम्। इह शब्दाभिधेये।

ननु यत्किंचिदन्विते गावादौ किं गवादिपदस्य शक्तिरुत आनयनादिपदाभिहितान्विते। नाद्यः। वाक्यार्थानियमप्रसङ्गेन कदाचित् गामानयेति वाक्यादश्वमानय गां वारयेत्यनुभवप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। परस्पराश्रयापत्तेः। आनयनपदेन गोपदाभिहितान्विताभिधाने तदर्थान्वितां गां गोपदमभिदध्यादेवमानयनपदमपीति चेन्न। गवादिपदेन हि स्वस्वार्थे स्मृतिस्तत्संस्कारोद्बोधो वाऽऽधीयत इति वक्तव्यम्। अन्यथा प्रमुष्टसंस्काराणामपि वाक्यार्थानुभवप्रसङ्गात्। संस्कारोद्बोध एव पदाधेय इति तत्त्वम, अन्यथा पदार्थस्मृतिः संस्कारोद्बोधश्च पदजन्याविति गौरवम्। स्मृतेराशुविनाशित्वेन तत्तत्पदजन्यपदार्थस्मृतिव्यतिरिक्तसकलपदार्थविषयस्मृत्यन्तरप्रसङ्गाद्वाक्यार्थानुभवसामान्या तत्प्रतिबन्धाच्च। संस्कारोद्बोधस्तु यावत्कार्यभावीति नोद्बोधान्तरप्रसङ्गः, यदर्थसंस्कारः पदेनोद्बोध्यते स आसन्न इत्युच्यते। एवमाकाङ्क्षितयोग्यसन्निहितान्वितं पदान्यभिदधतीति न परस्पराश्रयः। वाक्योत्थानुभवस्यैवैवंविधपदार्थान्वयविषयत्वनियमात्तत्तत्पदोद्बोधितसंस्कारगोचरार्थविशेषनिरूपितान्वयस्य सामान्यान्वयशक्तैरपि पदैरभिधानाद्वाक्यार्थविशेषसिद्धिश्चेति भावः।।३६६।।

योग्येतरेति= वाच्यता= गवादि पदों की वाच्यता। अस्य= गवादिपदों की, योग्यतरान्वित में गवादि पद की शक्ति न मानें क्योंकि लाघव की बात चल रही है। तो फिर क्या कार्यान्वित में शक्ति मानें? तो यह भी ठीक नहीं है। कार्यान्वित में शक्ति मानने से अति गौरव दोष हो जाता है। सब से पहिले तो अभी तक कार्य की ही सिद्धि नहीं हो पाई है। कथंचित् पूर्वोक्त प्रकार से कार्यान्वयान्वयित्वादि स्वीकार करने पर कार्य का अर्थ मानने पर भी अति गौरव होगा। इसलिये कहा कि कार्यान्वितत्ववपुषा= तो फिर क्या शुद्ध पदार्थ में ही गवादि पद की शक्ति मानें? तो यह भी सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि पद पदार्थों के साथ गवादि पद पदार्थ का अन्वय फिर आकस्मिक होगा। क्योंकि गवादिपद

का अन्य पद के साथ अन्वय तो आकांक्षा पूर्वक होता है, अतः कहते हैं। किंतु योग्यतरेति अन्वितत्वेति= अन्वित में ही गवादि पद की शक्ति है।

आशंका= जो अयोग्य अन् इतर है (इतर नहीं है) स्व में ही उसके साथ भी तो गवादि पद का अन्वय नहीं होता है तो उसको भी योग्येतर का विशेषण बनाना चाहिये।

समाधान= यह ठीक है कि अयोग्य ऐसा जो अन् इतर नहीं है स्वयं में ही उसके साथ गवादि पद का अन्वय नहीं होता है लेकिन शब्दार्थ प्रतीति में वह प्रयोजक नहीं है। उसके बिना ही अन्वय मात्र से ही शब्दार्थत्व का संग्रह हो जाता है। अर्थात् योग्यतरान्वितत्व आवश्यकता नहीं है। किन्तु केवल अन्वितत्व की आवश्यकता है। अतः अन्वितत्व का योग्येतरत्वादि विशेषण की जरूरत नहीं है। वह शब्दार्थत्व में प्रयोजक न होने से उसका विशेषण रूप से निरूपण करना उचित नहीं है। अतः कहा– न विशेषणस्येति= कार्यत्व को या योग्येतरत्व को विशेषण रूप से स्वीकृत करना प्रयोजक नहीं है। प्रयोजकम्= इसके अभाव में कोई बाधक नहीं है। इह= शब्दाभिधेय में। गवादि पदाभिधेय गवादि रूप आदि में यह सब बातें हुई। अन्वित में ही लिङ्गादि की शक्ति है।

आशंका= यहां से अभिहितान्वयवाद की आशंका की गई है। कि अन्विताभिधान ठीक नहीं है। यदि अन्वित में शक्ति मानें तब तो यत्किंचित् अन्वित में गवादि पद की शक्ति मानें या आनयनादिपदाभिहित (आनयन पद से अभिहित अन्वित) में गवादि पद की शक्ति मानें। यदि इसमें पहिला पक्ष अंगीकार करते हैं कि ("विकल्प इसप्रकार है कि यत्किंचित् पदार्थ करके प्रकृत वाक्य निष्ठ पदार्थ तथा प्रकृत वाक्येतर पदार्थ के अन्वित में शक्ति मानते हो। यत्किंचिदन्वित में गवादि पद की शक्ति मानें सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि वाक्यार्थ का नियम ही न बन पायेगा। कभी तो गामानय इस वाक्य से अश्वमानय का बोध होने लगेगा तो कभी गां वारय (गौ को हटावो) ऐसा बोध "गामानय" इस वाक्य से होने लगेगा। अब रह गया दूसरा विकल्प= आनयनादिपदाभिहित अन्वित में गवादि पद की शक्ति मानें? यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि परस्पर आश्रय रूप दोष की प्रसक्ति होगी। गामानय इसमें दो पद हैं। गाम् तथा आनयन् तो आनयन्पद से गो पद से अभिहित (गौरूप अर्थ) अन्वित का अभिधान हुवा तो आनयन् पद से गोपदाभिहित गोरूप अर्थ अन्वित गौ पद कहेगा। इसीप्रकार गो पद से आनयन् पदाभिहित अन्विताभिधान अर्थान्वित में आनय पद कहेगा। तो अन्योन्याश्रय या परस्पराश्रय दोष होगा। ऐसी अन्योन्याश्रय की आपत्ति होने पर कहते हैं।

अर्थात् गो पदार्थ विशिष्ट आनयन् तथा आनयन् विशिष्ट गो पदार्थ का ज्ञान होने

पर गो पदार्थ विशिष्ट आनयन् का शाब्द बोध होगा।

समाधान— गवादि पद से अपने अपने अर्थ विषयक स्मृति तथा तत्तर्थ विषयक का आधान होता है। नहीं तो जिन जिन अर्थ के संस्कार नष्ट हो चुके हैं ऐसे अर्थ का भी वाक्यार्थानुभव होने लगेगा। पदार्थ संस्कार उद्‌बोध ही पद से अभिधेय है, यही वास्तविकता है। नहीं तो पदार्थ स्मृति और पदार्थ संस्कार उद्‌भव दोनों पद अभिधेय मानने से गौरव ही प्राप्त होगा। स्मृति तो आशुविनाशिनी होने से जल्दी नष्ट होने वाली होने से तत्तत्पद जन्य पदार्थ स्मृति के अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थ विषयक स्मृत्यन्तर प्रसङ्ग आयेगा जिससे वाक्यार्थानुभव सामग्री में वह प्रविष्ट हो जाने में वाक्यार्थानुभव में प्रतिबन्धक होगा। लेकिन यदि हम पद से संस्कारोद्बोध मानते हैं तब तो संस्कारोद्बोध यावत्कार्य भावि है, जब तक शाब्द बोध है तभी तक टिकने वाला होने से अन्य का वह पद उद्‌बोधक नहीं हो सकता। जिस जिस अर्थ विषयक संस्कार पद से उद्‌बोधित होते है वह वह संस्कार उपस्थित ही हैं, ऐसा यह अभिप्राय है। इस प्रकार आकाङ्क्षा, योग्यता सन्निहित को ही पद कहता है (अभिदधाति) इसलिये परस्पर आश्रय (अन्योन्याश्रय) दोष नहीं होगा।

भाव यह है कि वाक्य से उत्थित अनुभव का इस प्रकार से पदार्थान्वय नियम है, वह कैसे तो बताते हैं तत्तद्‌पद से बोधित संस्कार गोचर (विषय) जो तत्तदर्थ, जो विशेष रूप से निरूपित अन्वय युक्त है, उनका सामान्य रूप से अन्वय युक्त पद के द्वारा भी अभिधान हो जाता है। इससे वाक्यार्थ की विशेष सिद्धि भी हो जाती है। यह भाव है।।

अभिहितान्वयवादिनां मतमिदानीं दूषयितुमनुवदति—

अभिहितान्वयवादी का मत अब खण्डन करते हैं—

> यत्केचिदाहुरभिधाय निजान्पदार्था-
> नेतावतोपरतवन्ति पदानि तेभ्यः।।
> पश्चाद्विशेषणविशेष्यतया तु तेषां
> संसर्गबुद्धिरपराऽवतरिष्यतीति।।३७०।।

अन्वयः= केचिद् यत् आहुः— पदानि निजान् पदार्थान् अभिधाय एतावता उपरतवन्ति, पश्चात् तेभ्यः विशेषणविशेष्यतया तेषां अपरा संसर्ग बुद्धिः अवतरिष्यतीति।।३७०।।

अन्वयार्थः= कुछ लोग तो यह कहते हैं कि पद अपने पदार्थों का अभिधान करके ही उपराम हो जाते हैं। पश्चात् उन (पदार्थों) से विशेष्य विशेषण भाव के रूप में उन पदार्थों का संसर्ग बोध होता है।।३७०।।

यत्केचिदिति। यदाहुरिति संबन्धः। तदुक्तिमेवाह- अभिधायेति। पदार्थाननन्वितानिति शेषः। एतावता पदार्थमात्राभिधानेन तूपरतवन्ति पर्यवसन्नानि सन्ति न वाक्यार्थानुभवं जनयन्तीत्यर्थः। कथं तर्हि वाक्यार्थबोधस्तेन विना वा कथं श्रोतुः प्रवृत्त्यादिरित्यत आह-तेभ्य इति। पदाभिहित-पदार्थेभ्य इत्यर्थः। पश्चात्पदव्यापरोपरमानन्तरम्। तुरवधारणे तेभ्यस्त्विति संबन्धः। तेषां पदार्थानां विशेषणविशेष्यतया संसर्गबुद्धिरिति संबन्धः। अपरा पदजन्यप्रतीतेरन्या। अवतरिष्यति उत्पत्स्यत इत्यर्थः। पदानां हि पदार्थबोधेनैव पर्यवसानम्। अन्यथा विरम्य व्यापारप्रसङ्गात्। पदाभिहिताश्च पदार्था विशेषणविशेष्यतया परस्परं संसृष्टं स्वस्वात्मानं बोधयन्तीति न वाक्यार्थानुभवस्यानुपपत्तिः, न वा श्रोतृप्रवृत्तेः। न चाविद्यमानानामतीताद्यर्थानां कथमनुभावकत्वमिति वाच्यम्। परमते तादृशपदादेरिव ज्ञायमानतयाऽतीतादेरपि ज्ञानकारणत्वोपपत्तेः अन्यथा पदेष्वपि तदनुपपत्तेर्दुष्परिहरत्वात्तथा चात्यन्तलाघवाच्छब्दार्थ एव पदानां शक्तिरिति भावः।।३७०।।

यत्केचिदिति= यदाहुरिति सम्बन्धः "ऐसा कहते है ऐसा सम्बन्ध स्थापित करना, उनका कथन बताते हैं। अभिधायेति—पदार्थों का आपस में अन्वय होने के पहिले अभिधान होता है। ऐसा कहने से पदार्थ मात्र अभिधान होकर उपराम होने से उसी में कृतकृत्य हो जाते हैं जिससे वाक्यार्थानुभव उत्पन्न नहीं होता है, यह भाव है। यदि यही बात है तो वाक्यार्थानुभव कैसे होगा? और वाक्यार्थबोध के बिना श्रोता की प्रवृत्ति आदि भी कैसी सम्पन्न होगी? इस पर कहते हैं तेभ्य इति= पद से पदार्थ का अभिधान होने के बाद पद का व्यापार तो बन्द हो जाता है। तु= निश्चित रूप से। ऐसा सम्बन्ध स्थापित करना। तो बाद में उन पदार्थों का परस्पर विशेषण विशेष्य भाव संसर्ग (सम्बन्ध) स्वयं स्थापित हो जाता है। इसलिये वाक्यार्थानुभव होगा। अपरा= पदजन्य प्रतीति से अन्य प्रतीति। अवतरिष्यतीति= उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् वाक्यार्थ बोध हो जाता है। पदों का काम तो पदार्थ बोध मात्र करना होता है– न कि वाक्यार्थ बोध। यदि वाक्यार्थ बोध भी पद से मानें तब तो पद अपना पदार्थ बोध काम करके विश्राम करके फिर व्यापार करने लग जायेंगे। सो उचित नहीं है। "अन्यथा विरम्य व्यापार प्रसङ्गः स्यात्" पदों के द्वारा पदार्थ विशेषण विशेष्य भाव से परस्पर सम्बन्धित हो जाते हैं। साथ ही में अपने अपने अर्थ का अर्थ भी बोधित करते है। जिससे वाक्यार्थानुभव की अनुपपत्ति नहीं हो सकती। और न तो श्रोता के प्रवृत्ति की अनुपपत्ति भी हो सकती है।

आशंका= जो पदार्थ अविद्यमान है अथवा अतीत हो चुके हैं उन पदार्थो की अनुभावकता पदों में कैसे हो सकती है?

समाधान— परमत में (अन्विताभिधान बाद में) पदार्थ बोधक पदों के द्वारा ज्ञान होकर अतीतादि पदार्थों का ज्ञान कारणत्व पदों में आ जाता है। जैसे सुरभिचन्दनम् चन्दन दिखाई देता है न कि सौरभ। तो चन्दन को देखकर सौरभ का ज्ञान हो जाता है। वैसे ही पदों के द्वारा पदार्थानुभव उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् पदार्थ ज्ञानकारणत्व पदों में आ जाता है। तो अतीतादि अर्थ का भी ज्ञान कारणत्व पद में आ जाता है। नहीं तो पद में पदार्थ ज्ञान कारणत्व संपन्न न होने से अतीतादि पदार्थानुभव पदों में भी दुष्परिहर होगा। फिर लाघव से शब्दार्थ ही पदों की शक्ति है, ऐसा स्वीकार करें।

सत्यम् अनन्विितार्थशक्तावतिलाघवं तथापि शब्दाद्विशिष्टानुभवस्यानुभवादप्रमाणिकीयं त्वत्कल्पनेत्याह—

यह बात बिलकुल सत्य है कि अनन्वितार्थ में शुद्ध पदार्थ में शक्ति स्वीकार करने में अति लाघव है, तथापि शब्द से विशिष्टानुभव की जो अनुभूति होती है वह अनन्वितार्थ शक्ति मानने से शुद्ध पदार्थ विषयक संपन्न नहीं होगी। क्योंकि विशिष्ट अनुभव तो अन्वित होने से हो विशिष्टानुभूति से अनुभव सम्पन्न होगा न कि अनन्वित हो सम्पन्न होगा। इसलिये यह मत अप्रामाणिक है क्योंकि अनुभव के विरुद्ध होने से अप्रमाणिक है।

(अभिहितान्वयवादी मत का मण्डन तथा खण्डन)

तद् दुर्घटं न खलु किंचिदपि प्रमाण-
मस्याःप्रसाधकमुदीरितकल्पनायाः।।
येनोपलब्धिविषयत्वमुपागतानि
संसृष्टमेव तु पदानि पदार्थमाहुः।।३७१।।

अन्वयः= तद् दुर्घटम् अस्याः उदीरितकल्पनायाः प्रसाधकं किञ्चिदपि प्रमाणं न खलु येन उपलब्धिविषयत्वं उपगतानि पदानि तु संसृष्टमेव पदार्थं आहु।।३७१।।

अन्वयार्थः= यह कहना दुर्घट है, क्योंकि इस कल्पना का साधक कोई प्रमाण है नहीं। इसका कारण यह है कि श्रोत्र से उपलब्ध होकर पद संसृष्ट (अन्वित) पदार्थ को ही कहते है। (अन्यथा ये पद कुछ कह नहीं सकते)।।३७१।।

तद् दुर्घटमिति। त्वदुक्तं दुरुपपादमित्यर्थः। कुतस्तत्राह— न खल्विति। कुतो न प्रमाणमिति चेन्न। येन पदानामेव संसृष्टार्थबोधकत्वमनुभवसिद्धं तेन त्वदुक्तं विमानमित्याह—येनेति। संसृष्टमेवेति। परस्परमिति शेषः। गवादिपदानि ह्यभियुक्तैर्विशिष्टार्थ-प्रत्ययोद्देशेनैव प्रयुज्यन्ते तस्यैव श्रोतुः पुरुषार्थजनकत्वात्, तदुद्देशेनैव प्रेक्षावतां शब्दप्रयोगाच्छ्रोता-

रोऽपि ततस्तमेव बुभुत्सन्ते न पदार्थमात्रमिति न पदानां तावतैव पर्यवसानं युक्तमतः किं चिद्गौरवेऽपि प्रामाणिकतया तस्यान्विते पदानां शक्तिरुक्तयुक्त्याऽनुभवकार्यबलेन च कल्पनीयेति त्वदुक्ता कल्पना न प्रामाणिकीति भावः।।३७१।।

तद्‌दुर्घट मिति= जो आप ने कहा सो युक्ति युक्त नहीं होने से ठीक नहीं है। क्यों ठीक नहीं हैं? क्यों प्रमाण नहीं हैं? इस पर कहते हैं न खल्विति- ऐसी कल्पना करने में कोई भी साधक प्रमाण नहीं है। क्यों प्रमाण नहीं हैं? ऐसा कहते हो तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि पदों का संसृष्टार्थ बोधकत्व तो अनुभव सिद्ध ही है। इसलिये आपका कथन प्रमाणरहित है। येनेति= संसृष्टमेवेति= परस्पर पदार्थों का सम्बन्ध होता है। गवादि पदों का अभियुक्त विशिष्टार्थ उद्देश्य को लेकर ही प्रयोग करते हैं, और उसके विशिष्टार्थ उद्‌देश्य को लेकर उस वाक्य को श्रवण करने वाला मध्यम वृद्ध उसमें ऐसा वाक्य ही पुरुषार्थ को उत्पन्न करता है। इसी उद्‌देश्य को लेकर, प्रेक्षक (उत्तम वृद्ध) शब्द का प्रयोग करते है। और श्रोता भी (मध्यम वृद्ध) भी ऐसे विशिष्टार्थ बोध परक शब्द को सुनकर तत्पर होते हैं। (बुभुत्सन्ते), न कि केवल पदार्थ मात्र बोध परक शब्द को सुनकर प्रकृत होते हैं इसलिये पदार्थ मात्र को बताना ही पदों का काम नहीं है। अतः थोडा गौरव होने पर भी प्रामाणिक होने के कारण अन्वित में पदों की शक्ति उक्त युक्ति के द्वारा तथा अनुभव तथा कार्य बल से स्वीकृत करना चाहिये, और पूर्वपक्षी की अर्थाभिधान की अभिहितान्वय की कल्पना प्रामाणिक नहीं है, यह बात सिद्ध हुई।

ननु शब्दात्परंपरया विशिष्टबोधसंभवेनान्विते शक्तिः कल्पनीया तावतैवाभियुक्तप्रयोगाद्युपपत्तेरित्याशङ्क्य शुद्ध पदार्थबोधस्य पदस्य चान्वयव्यतिरेकानवगमात्र हेतुहेतुमत्ता सिद्धयति। न हि गामानयेतिवाक्यप्रयोगे पदार्थस्मृतिः पृथगनुभूयते येन पदस्य तद्धेतुता सिद्धयेत्। वाक्यार्थानुभवस्तु ततोऽनुभूयत इत्यन्वित एव शक्तिर्युक्तेत्याह—

आशंका= शब्द से परंपरा से विशिष्ट बोध होने से (पद से पदार्थ बोध, अनन्तर पदार्थ संस्कार, अनन्तर पदार्थ विशिष्ट स्मृति, अनन्तर पदार्थ विशिष्ट बोध) अन्वित में शक्ति की कल्पना करने की जरूरत नहीं है। इसी से अभिहितान्वय वाद की सिद्धि हो जाती है। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं।

समाधान= पद और शुद्ध पदार्थ बोध का अन्वय व्यतिरेक न होने से परस्पर हेतु हेतुमत्ताभाव (कार्य कारण भाव) संपन्न नहीं होता है।

आशंका= यह कैसे?

समाधान= "गामानय" गौ को ले आवो इस वाक्य के कहने से या इस वाक्य के प्रयोग से गो रूप अर्थ की पृथक् स्मृति अनुभव में नहीं आती है। जिससे हम यह मानें कि गो पद और शुद्ध गो रूप अर्थ दोनों में हेतु हेतुमद्भाव सम्बन्ध है। अर्थात् गो पद हेतु हो और शुद्ध गो रूप अर्थ हेतुमत् हो। तो यह बात सिद्ध नहीं होती। "गामानय" इस वाक्य के उच्चारण के बाद वाक्यार्थानुभव हो जाने से अन्वित में ही शक्ति मानना युक्ति पूर्ण है, न कि अनन्वित में शुद्ध में शक्ति मानना युक्तियुक्त है।

नासंसृष्टपदार्थबुद्धिपदयोः पूर्वापरत्वप्रमां
मुक्त्वा कारणकार्यतावगतये कश्चित्समर्थस्तयोः।।
पौर्वापर्यमुदीक्ष्य हेतुफलतां सर्वत्र संगृह्णते
नोचेत्सर्वमसंगतं भवति वः सर्वव्यवस्थाहतेः।।३७२।।

अन्वयः= असंसृष्टपदार्थबुद्धिपदयोः पूर्वापरत्वप्रमां मुक्त्वा तयोः कार्यकारणतावगतये कश्चित् समर्थो नास्ति। पौर्वापर्यं उदीक्ष्य सर्वत्र हेतुफलतां संगृह्णते, न चेत् वः सर्वव्यवस्थाहतेः सर्वं असंगतं भवति।।३७२।।

अन्वयार्थः= असंसृष्टपदार्थ की बुद्धि और पद इन दोनों मे पूर्वापरभाव ज्ञान के बिना उन दोनों में कार्य कारण भाव का बोध करने में कोई समर्थ नहीं है। पौर्वापर्य देखकर ही सर्वत्र हेतु हेतुमद् भाव का निश्चय किया जाता है। अन्यथा आपके मत में समस्त व्यवस्था भंग हो जाने से सब कुछ असंगत हो जायेगा।।३७२।।

नासंसृष्टेति। तयोरसंसृष्टपदार्थबुद्धिपदयोः। नियतपूर्वभावित्वं कारणत्वं तादृशापरकालवृत्तित्वं कार्यत्वं तदेतदुभयं तयोः पूर्वापरत्वज्ञानं विना न संभवतीत्यर्थः। उक्तमेवार्थं सामान्यतोऽन्वयमुखेनाप्याह—पौर्वापर्यमिति। हेतुफलयोरिति शेषः। सर्वत्र दण्डघटादौ। विपक्षे बाधकमाह नो चेदिति। पूर्वापरत्वज्ञानं विनापि हेतुफलभावग्रहश्चेदित्यर्थः। असाङ्गत्ये हेतुमाहसर्वव्यवस्थाहतेरिति। दण्डादिः कारणं घटादिः कार्यमित्येव हेतुहेतुमद्भावस्य व्यवस्थाविलोपप्रसङ्गादित्यर्थः।।३७२।।

नासंसृष्टेति= संसृष्टार्थ (विशिष्टार्थ) ज्ञान के हेतु भूत पदों का यदि परस्पर सम्बन्ध नहीं है तब तो कार्यकारण भाव का विलोप हो जायेगा। नियत पूर्व भावि उसे कारण कहते हैं। और ऐसे काल से अपर कालवृत्तित्व जिसमें है उसे कार्य कहते हैं। जैसे घडे के नियत पूर्ववर्ती कपालादि इसे कारण कहते हैं और नियतपूर्व वृत्ति कपालादिक काल से अपर कालवृत्ति घटादि इसे कार्य कहते हैं ये दोनों कार्यकारण भाव आपस में पूर्वापरत्वज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। इसी बात को सामान्य रूप से अन्वय मुख से

कहते हैं। पौर्वापर्यमिति= पौर्व हेतु, अपर्य= कार्य, हेतुमत् अर्थात् हेतु और कार्य फल ये दोनों। सर्वत्र दण्ड, घटादि इनमें सब में हेतु फल भाव देखा गया है।

विपक्ष में बाधक तर्क भी दे रहे हैं नो चेदेति- पूर्वापरत्व ज्ञान के बिना ही हेतु फल कार्य भाव का स्वीकार करने पर सर्वत्र असांगत्य हो जायेगा, इसे बता रहे हैं सर्वव्यवस्थाहेतोरिति— दण्डादि कारण है और घटादि कार्य है ऐसा जो इन दोनों में तथा संसार के सभी पदार्थों में जो हेतु हेतुमद्भाव व्यवस्था है उसी का विलोप हो जायेगा। यही सर्वत्र असांगत्य हो जायेगा।

उत्तरार्द्धं विवृण्वन् कार्यकारणव्यवस्थाऽभावेऽनिष्टं प्रसञ्जयति—

उत्तरार्ध का स्पष्टीकरण करते हुये कार्य कारण भाव की व्यवस्था के अभाव में सर्वत्र अनिष्ट ही हो जायेगा इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

पूर्वापरान्वयबलेन हि कारणत्व-
कार्यत्वसंगतिमिह प्रतियन्ति लोके।।
नो चेद्भवेदनियमो न च तत्र कर्तुं
कार्याणि कारणविशेषमुपाददीरन्।।३७३।।

अन्वय= इह लोकेति पूर्वापरान्वयबलेन कारणत्वकार्यत्वसंगतिं प्रतियन्ति। नो चेत् तत्र अनियमो भवेत् कार्याणि कर्तुं कारणविशेषं न उपाददीरन्।।३७३।।

अन्वयार्थः= इस लोक में पौर्वापर्य अन्वय के बल पर ही कार्यकारण भाव की संगति निश्चित किया करते हैं अन्यथा लोक में अनियम हो जायेगा। अर्थात् कार्य का सम्पादन करने के लिये कारण विशेष का उपादान न होगा।।३७३।।

पूर्वापरान्वयेति। पूर्वापरकालान्वयावगतिबलेनेत्यर्थः। अनियमः कार्यकारणभावानियमः। तत्रानियमे कार्याणि घटादिरूपाणि कर्तुं कारणविशेषं दण्डादि कारणं नैव कुलालादय उपाददीरन्नित्यर्थः। अतो वाक्यार्थज्ञानाय प्रयुक्तपदतदर्थस्मृत्योःपौर्वापर्यज्ञानासंभवेन कार्य-कारणत्वग्रहासंभवात् पदानां पदार्थमात्रज्ञाने पर्यवसानं कल्पयितुं न युक्तमिति भावः।।३७३।।

पूर्वापरान्वयेति= पूर्व में कारण होता है अपरवर्तीकाल में (उत्तरवर्ती काल में) कार्य होता है, इस अनुभव के बल से जो यह कार्य कारणभाव का नियम चला आ रहा है। उसका, अनियमः— कार्य कारण भाव का नियम का भङ्ग हो जायेगा।

आशंका= नियम भङ्ग होने दो।

समाधान= यदि कार्य कारण का नियम नहीं रहेगा तो घटादि कार्यों का उत्पन्न कराने के लिये कुलाल दण्ड मिट्‌टी आदि कारण का संग्रह नहीं कर पायेगा।

इसलिये वाक्यार्थ ज्ञान के लिये प्रयुक्त जो पद– उस पद का वाच्य जो (अर्थ) पदार्थ तथा पदार्थ स्मृति इसमें पौर्वापौर्यज्ञान न होने पर कार्यकारण संग्रह नहीं हो पायेगा। तो फिर पदों से यह कहना गलत ही है कि पदों के द्वारा पदार्थ मात्र का ज्ञान हो कर पद इसी में पर्यवसित होता है। अतः यह मत ठीक नहीं है। यह स्पष्ट हुवा। इससे अभिहितान्ववादनिरस्त हुवा।।

ननु भवतु पदानां वाक्यार्थज्ञानादृते न पर्यवसानं न चैतावता संसर्गे शक्तिः सिद्ध्यति गौरवात्। लाघवेन पदार्थमात्रे क्लृप्तशक्तिकैः पदैः स्वार्थस्मृतिद्वाराऽऽकाङ्क्षादिसहकारिबलेन संसर्गज्ञानसंभवात्। एवं च शक्तिबलात्पदार्थस्मृतिर्विशिष्टज्ञानं विना पदानामपर्यवसानं संसर्गे च न पदशक्तिरितित्रितयं सिद्धमिति चेत्तत्राह–

आशंका= पदों का वाक्यार्थ ज्ञान के बिना पर्यवसान नहीं हो रहा है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि संसर्ग में शक्ति का स्वीकार किया जाय उससे तो गौरव दोष उत्पन्न होगा। इसलिये लाघव से पदार्थ मात्र में ही स्पष्ट रूप से पदों की शक्ति है। ये पदार्थ अपने अपने स्मृति द्वारा आकाङ्क्षादि सहकारिता के बल से संसर्ग ज्ञान को उत्पन्न कराते हैं। इस प्रकार शक्ति बल से (पदार्थ ज्ञान से) पदार्थ स्मृति, बाद में विशिष्ट ज्ञान होता है उसके बिना पदों का भी पर्यवसान् नहीं होता है। (अर्थात् पद इसके बिना सार्थक नहीं होते हैं) और पदों की शक्ति संसर्ग में नहीं है, ये तीनों बातें सिद्ध हुई। ऐसा पूर्व पक्ष होने पर समाधान–

पदजातबुद्धिजनिता भवति
व्यतिषक्त बुद्धिरिति तावदिह।।
न विगानमस्ति भवतामपि चेद्
व्यवधानकल्पनमकारणकम्।।३७४।।

अन्वयः=पदजातबुद्धिजनिता व्यतिषक्तबुद्धिः भवति, इह चेत् भवतामपि विगानं तावत् नास्ति, व्यवधानकल्पनम् अकारणम्।।३७४।।

अन्वयार्थः= पद समूह ज्ञान से संसृष्ट बोध उत्पन्न होता है, इस नियम में यदि आप की असहमति नहीं, तब (शुद्ध पदार्थ स्मरण की) व्यवधान कल्पना निष्प्रमाण है।।३७४।।

पदजातबुद्धीति। पदसमूहबुद्धिजनितेत्यर्थः। व्यतिषक्तबुद्धिरिति। विशिष्टार्थबुद्धिरित्यर्थः।

इह वृद्धव्यवहारस्थले। विशिष्टार्थबुद्धिस्तावत् पदजातबुद्धिजनिता भवतीति भवतामपि चेत् न विगानमस्ति तदा पदार्थस्मृतिव्यवधानकल्पनमकारणकमप्रमाणमिति संबन्धः।

अयमाशयः= यदि संसर्गज्ञानं पदजन्यं तर्हि कार्यानुरोधेन पदानां तत्र शक्तिरावश्यकी शक्तेः कार्योन्नेयतया यथाकार्यं कल्प्यत्वात्, अन्यथा पटजननाशक्ताद्दण्डादिव पटःपदात्संसर्गज्ञानं न जायेत। न च कारणतारूपा तन्निर्वाहिका शक्तिरन्या दण्डादौ, शब्दे चान्याऽभिधारूपा शक्तिः सा च न संसर्ग इति वाच्यम्। इण्डादिशक्त्या सदृश्या एवं तस्याः स्ववाच्यसम्बन्धानपेक्षशब्दवृत्तित्वेनाभिधात्वे सम्भवति तद्भेदे प्रमाणाभावात्। लाक्षणिकशब्दवृत्ति-कारणता तु नैवम्। अन्वयव्यतिरेकनियमाद्यनुपपत्तिकल्प्यत्वाविशेषेण च तदभेद एवोचितः। न चैवमपि पदार्थशक्त्यैव परम्परया संसर्गज्ञानमन्यथासिद्धमिति वाच्यम्। यतस्तथा सति वाक्यार्थे तवापि मते लक्षणैव स्यात्, शक्त्या परम्परासंबन्धस्यैव लक्षणात्वात्, अन्यथा तीरादेरपि तथैव गङ्गादिपदाज् ज्ञानमस्त्विति लक्षणैव लुप्येत। तस्मात्संसर्गे लक्षणामनभ्युपगच्छतस्तत्र शक्तिरवश्यं वाच्येति।।३७४।।

पदजात बुद्धीति= पद समूह से उत्पन्न होने वाली बुद्धि। व्यतिषक्त बुद्धिरिति= विशिष्टार्थ बुद्धि स्वरुप ही है। इह— वृद्धव्यवहार स्थल में। आपको भी पदसमूह से विशिष्टार्थ बुद्धि की उत्पत्ति अभिमत है तब तो विशिष्टार्थ बुद्धि के प्रति विवाद है नहीं। फिर बीच में पदार्थ स्मृति आदि का व्यवधान कल्पना करना कारण रहित है, उसका कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।

आशंका= दण्डादि में कारणतारूपा या कारणता का निर्वाह करने वाली शक्ति कोई अलग मानेंगे। और शब्द में रहने वाली अभिधा नामक शक्ति वह तो संसर्ग में नही मानेंगे। इति वाच्यम्। तो। न च वाच्यम्।

समाधान= जिसप्रकार दण्डादि में शक्ति है इसी के समान कारण रूपा शक्ति भी पदजन्य अर्थ के साथ अन्य किसी सम्बन्ध की अपेक्षा न करती हुई शब्द वृत्तित्वेन अभिधावृत्ति से सम्भव है। तो शब्द में या पद में ऐसी कारण शक्ति को अलग करने में कोई प्रमाण नहीं है। जैसी दण्डगत शक्ति दण्ड से अतिरिक्ति नहीं है। और दण्ड से अतिरिक्ति कारण रूपा शक्ति है इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है।

आशंका= शब्द में लाक्षाणिक वृत्ति कारणता मानें तो। नैवम् यह भी ठीक नहीं है।

समाधान= अन्वय व्यतिरेक का नियम होने से अर्थात् जहां पद के वहां तन्निष्ठ कारणता है। जहां पद नहीं है वहां तन्निष्ठ कारणता भी नहीं है। लक्षणा की कल्पना

(अनुपपत्तिक कल्पत्वाविशेषेण) अनुपपत्तितो सामान्य रूप से सर्वत्र विद्यमान है और जो उचित नही है। अतः पद से अभिन्न ही तन्निष्ठ शक्ति रूप कारणता विद्यमान है। अर्थात् विशिष्टार्थ बोधकत्व पद में है।

आशंका= पदार्थ शक्ति से ही काम चल जाता है, संसर्ग ज्ञान (विशिष्ट बोध) तो परम्परा से उत्पन्न होता है अतः वह संसर्गज्ञान अन्यथा सिद्ध माना जाय। इति वाच्यम्। न च वाच्यम्।

समाधान= यदि संसर्ग ज्ञान को अन्यथा सिद्ध माना जाय तो तब तो सारा काम लक्षणा ही चलायेगी। इसप्रकार तो तुम्हारे पूर्वपक्षी के मत में वाक्यार्थ बोध भी लक्षणा से ही सम्भव होगा। क्योंकि शक्ति के परंपरासम्बन्ध को ही लक्षणा कहते हैं। परम्परा सम्बन्ध को लक्षणा न मानें तो गंगा पद से तीरादिक का परम्परा से ज्ञान होने दो लक्षणा मानने की जरूरत नहीं होगी इस अवस्था में लक्षणा का ही लोप हो जायेगा। इसलिये संसर्ग बोध में लक्षणा का स्वीकार न करते हुये संसर्ग बोध में सीधे पद की शक्ति मानना उचित है, और यही आवश्यक भी है।

नन्वेवमपि "व्यवधानकल्पनमकारणकम्" इत्यनुचितं वाक्यार्थबुद्धेः पदार्थविशिष्टबुद्धितया पदार्थज्ञानजन्यत्वात्तस्य च पदाभिहितस्मृत्यन्यस्यासम्भवात्। किं च वाक्यार्थज्ञाने पदमेव करणमिति तद्व्यापारतयापि साऽवश्यं वाच्येति चेत्तत्राह—

आशंका= इसके बावजूद भी "व्यवधान कल्पनमकारणकम्" यह कहना अनुचित है। वाक्यार्थबुद्धि पदार्थ विशिष्ट बुद्धि होने के कारण पदार्थ ज्ञान पदाभिहितस्मृति जन्य है, इससे अन्य तो जनक असम्भव है। और भी बात यह है कि वाक्यार्थ ज्ञान में पद ही करण होता है, वाक्यार्थ ज्ञान में संस्कार के द्वारा पद ही कारण होने से, पद में ही पदार्थ शक्ति मानी जाय। ऐसा पूर्वपक्ष उत्पन्न होने पर कहते हैं—

व्यतिषक्तबुद्धिजनकं सकलं
पदजातमित्यनुमतं यदि वः।।
व्यवधानकल्पनविड़म्बनया
किमिहाञ्जसैव जनकं भवतु।।३७५।।

अन्वयः=सकलं पदजातं व्यतिषक्तबुद्धिजनकं, इति वः यदि अनुभवम् व्यवधानकल्पनविडम्बनया किम्? अञ्जसैव जनकं भवतु।।३७५।।

अन्वयार्थः= सकल पद समूह संसृष्ट बोध का जनक होता है यह यदि आप को सम्मत है, तब (पदार्थ स्मरण रूप) व्यवधानकल्पना की विडम्बना से क्या काम है? साक्षात् पद समूह ही अन्वय

बाध का जनक हो सकता है।।३७५।।

व्यतिषक्तबुद्धीति। व्यवधानकल्पनैव विड़म्बना नटना तयेत्यर्थः। अञ्जसा साक्षाच्छक्त्यैवेति यावत्। न तावन्मध्ये स्मृतिः कल्पनीया गौरवात्। अन्यत्रापि विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानाजन्यतया प्रकृते तदनपेक्षणात्। न चैवमगृहीतशक्तेरपि वाक्यार्थधीप्रसङ्गः। सम्बन्धज्ञानजन्यसंस्कारस्य पदज्ञानोद्बुद्धस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वावधारणेनातिप्रसङ्गाभावात्। करणव्यापारोऽप्यावश्यकश्चेत्संस्कारोद्बोध एवास्तु। न चैवं संस्कारजन्यत्वेन वाक्यार्थज्ञानस्य स्मृतित्वं स्यादिति वाच्यम्। समानविषयसंस्कारजन्यस्यैव स्मृतित्वाद्वाक्यार्थज्ञाने च तदभावात्। संस्कारकरणकं च ज्ञानं स्मृतिः, करणता च कारणतेव शक्तिविशेषः, वाक्यार्थज्ञाने च वाक्यमेव करणं न संस्कार इति व्यवधानकल्पनमकारणकमेवेति भावः।।३७५।।

व्यतिषिक्तबुद्धीति= व्यवधान कल्पना विडम्बना व्यर्थ ही है। अञ्जसा= साक्षात् शक्ति के द्वारा ही विशिष्ट बोध सम्भव होता है। तब बीच में स्मृति कल्पना करना गौरवाक्रान्त है। अन्यत्र भी यह देखा गया है कि विशिष्ट ज्ञान के प्रति विशेषण ज्ञान कोई कारण रूप से आवश्यक नहीं होता है। तो प्रकृत में भी स्मृति की कल्पना बीच में करना अनुचित है।

आशंका= जिस पद में शक्ति का ग्रहण नहीं हुवा उससे भी वाक्यार्थ बोध होने लगेगा।

समाधान= पद में विशिष्टार्थ बोधक शक्ति है तो साथ में सम्बन्धज्ञानजन्य संस्कार भी पदज्ञान से उद्बोधित होते हैं। तो पद ज्ञान उद्बोधित सम्बन्धज्ञानजन्य संस्कार जहां जहां होंगे वहां वहां वाक्यार्थ बोध होगा। इससे अतिप्रसंग का निवारण हो जायेगा।

यदि पद जन्यकरण व्यापार आवश्यक है तब संस्कार को ही करण व्यापार मानना उचित होगा।

आशंका= यदि संस्कार को करण व्यापार मानेंगे तो वाक्यार्थ ज्ञान स्मृति रूप होगा।

समाधान– समान विषयक संस्कार जन्य ही स्मृति रूप हो सकता है। लेकिन वाक्यार्थ ज्ञान में समान विषयक संस्कार जन्यत्व न होने से वाक्यार्थ बोध में (अनुभव जन्यं ज्ञानं स्मृतिः) वह संस्कार द्वारा है संस्कार जन्य ज्ञानं स्मृतिः की आपत्ति नहीं आ सकती। क्योंकि संस्कार करण जो ज्ञान उसे स्मृति कहते हैं, करणता शक्ति विशेष कारण रूप ही है, वाक्यार्थ ज्ञान में वाक्य ही करण होता है न कि संस्कार। इसलिये व्यवधान की कल्पना संस्कारों को लेकर करना (अकारण ही) व्यर्थ ही है। अर्थात् सीधे पद में विशिष्टार्थ बोधक शक्ति मानना उचित है–

नन्वेवमपि न तदकारणकं विशकलितपदप्रयोगे हि ततः पदार्थस्मृतिरनुभूयत इति पदस्य स्मारकत्वं क्लृप्तम्। अतः संश्लिष्टपदप्रयोगेऽपि पदात्साऽऽवश्यकी, एवं च तत्रैव पदव्यापारः। वाक्यार्थ बोधे तु पदार्थानामेवाकाङ्क्षादिमतां हेतुत्वम्। न चैवं वाक्यार्थ बोधस्याशाब्दत्वापत्तिः पदार्थाख्यमानान्तरमपि प्रसज्येतेति वाच्यम्। परम्परया शब्दजन्येऽपि शब्दस्य तात्पर्येण तच्छाब्दत्वोपपत्तेः, अत एव वृद्धानां तदुद्देशेन शब्द प्रयोगोऽपि न विरुध्यते, पदार्थमानत्वमपि वक्ष्यमाणदृष्टान्ते प्रसिद्धमिति नालौकिकमत्र किं चिदिति चेन्नेत्याह—

आशंका— पदार्थ स्मरण व्यवधान कल्पना को अकारण तो नहीं कह सकते। अर्थात् कारण कहना पडेगा। अलग अलग रूप में जहां स्मृति का अनुभव होता है, वहां पद में ही स्मारकत्व मानना पडता है। इसलिये जहां प्रयोग अलग अलग न होकर संघटित प्रयोग है वहां भी पद में स्मारकत्व मानना चाहिये, इस प्रकार वहां भी पद व्यापार सुसंपन्न हो जाता हैं। रह गई वाक्यार्थ बोध की बात, वहां तो पदार्थों का आपस में जो आकांक्षादि है, उन्हें ही हेतुत्व मानेंगे। इससे वाक्यार्थ बोध शाब्दिक नहीं होगा, तो अन्य पदार्थान्तर प्रमाणान्तर रूप से मानना पडेगा। इति वाच्यम् (न च वाच्यम)

समाधान— परम्परा से संस्कार द्वारा वाक्यार्थ बोध शब्द जन्य होने पर भी वाक्यार्थ बोध को शब्दत्वमानना पडता है। यह नहीं कि परंपरा से उत्पन्न होने कारण उसमें शाब्दत्व नहीं है। इसीकारण वृद्धों का वाक्यार्थ बोध को लेकर शब्द प्रयोग विरुद्ध नहीं है, अर्थात् तदर्थ शब्द प्रयोग होता है। पदार्थ में प्रमाणता है यह बात अग्रिम दृष्टान्त में प्रसिद्ध रूप से बता रहे हैं।। इसलिये इसमें अलौकिक ऐसी कोई भी बात नहीं है। परम्परा को मानना उचित ही है। ऐसा पूर्व पक्ष प्राप्त होने पर कहते हैं—

पारम्पर्यं ह्यगतिगतिं कारणादाश्रयन्ते
नोत्सर्गेण स्फुरति विदुषां यत्र तत्र प्रनाड़ी।।
श्रुत्या सोमक्रयमनुगतः साधनत्वेन हित्वा
साक्षाद्भावं ह्यरुणिमगुणः प्रापदेनामशक्तेः।।३७६।

अन्वयः= कारणात् अगतिकगतिं पारम्पर्यं हि आश्रयन्ते, विदुषां यत्र उत्सर्गेण न स्फुरन्ति, तत्र प्रणाडी। श्रुत्या सोमक्रयं साधनत्वेन अनुगतः अरुणिमगुणः, साक्षाद्भावं हित्वा अशक्तेः एनां प्रापत्।।३७६।।

अन्वयार्थः= कारणवश साक्षात् सम्बन्ध न होने से और कोई गति न होने पर कारण वश पारम्पर्य का आश्रयण किया करते हैं। विद्वानों को जहां साक्षात् कारणता का स्फुरण नहीं होता है, वहां वे परम्परा का सहारा लेते हैं, जैसे अरूणया पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति यहां पर तृतीया श्रुति के द्वारा सोमक्रयण के

प्रति साधन रूप से ज्ञात अरूण गुणसाक्षात् कारणत्व को छोडकर अगत्या इस परम्परा रूप कारणता को प्राप्त करता है।।३७६।।

पारम्पर्यमिति। यत्र विद्वांसोऽगतिकगतिं मुख्यगतिशून्यानां गतिसदृशं पारम्पर्यमाश्रयन्ते तत्र तेषां विदुषां कारणाद्बलवदनुपपत्तितः सा प्रनाड़ी स्फुरति न तूत्सर्गेण स्वभावतः स्फुरतीत्यर्थः। यत्र हि यस्य कारणत्वं प्रमितमथ च साक्षान्नोपपद्यते यथा यागस्य स्वर्गं प्रति कारणता तत्रानुपपत्तिबलाद्विधान्तराभावनिमित्तं परम्पराकारणत्वं पण्डिता आश्रयन्ते यथा मध्येऽपूर्वकल्पनया यागस्य, नैवमिह संसृष्टज्ञाने स्मृत्या विना साक्षात्कारणत्वे शब्दस्य काप्यनुपपत्तिरस्ति, विशिष्टज्ञानत्वादिप्रयुक्तानुपपत्तेः परिहृतत्वात्। न चान्ते समूहालम्बनैक-स्मृतिविषयतावत्पदेभ्यो मध्ये स्मृतिरनुभूयत इत्युक्तम्। एवं पदानामेव स्वतात्पर्यगोचर-विशिष्टज्ञानजनकत्वे सम्भवति पदार्थाख्यप्रमाणान्तरमपि न कल्पनीयम्। वक्ष्यमाणदृष्टान्तेऽपि न प्रमाणान्तरं संप्रतिपन्नमिति वक्ष्यत इति भावः। साक्षात्प्रमितिकरणत्वासम्भवेऽन्यद्वारा तदुपपादनीयमित्यत्र स्वयं दृष्टान्तमाह—श्रुत्येति। साधनत्वेन सोमक्रयमनुगतः सोमक्रयेण संबद्धः। साक्षाद्भावं साक्षात्साधनत्वम्। एनां प्रनाड़ीं प्रापत्। अशक्तेः शक्त्यभावात्। अरुणिमगुणो हि अरुणयेत्वादिवाक्येऽरुणयेति तृतीयाश्रुत्या सोमक्रयं प्रति साधनत्वेन बोधितः स्वस्यामूर्तत्वेन साक्षात्क्रयसाधनत्वाशक्तेः साक्षाद्भावं विहाय द्रव्यावच्छेदद्वारा परम्परया साधनत्वं प्रापदित्यर्थः।।३७६।।

पारम्पर्यमिति= जहां विद्वान्, ह्यगतिकगतिं= अन्य गति को नहीं देख पाते हैं, वहां गति के समान पारम्पर्य गत्ति का अङ्गीकार कर लेते हैं। ऐसे, विदुषां= ऐसे विद्वानों को किसी कारण वश बलवान कोई रास्ता न मिलने के कारण, यह, प्रनाडी- मार्ग, स्फुरति= स्फुरित होता है। नोत्सर्गेण= स्वभाव से स्फुरित नहीं होता है। अर्थात् यह तो अगतिकगति है।

जहां जिस वस्तु का कारण प्राप्त हो जाता है वहां तो कोई विवाद है नहीं। लेकिन जहां जिस वस्तु का साक्षात् कारण प्राप्त नहीं होता है जैसे "यागस्य स्वर्गं प्रति कारणता" याग स्वर्ग का कारण है, वहां स्वर्ग की अनुपपत्ति होती है, क्योंकि याग तो नष्ट हो चुका है। और कोई विधि है नहीं है। वहां पण्डित लोग परम्परा का ग्रहण करते हैं अर्थात् बीच में अदृष्ट को मानते हैं (अपूर्व को मानते हैं) जिससे स्वर्ग की प्राप्ति संपन्न होती है। लेकिन ऐसी बात यहां विशिष्ट ज्ञान में या संसर्ग ज्ञान में तो है नहीं। जहां कि स्मृति के बिना शब्द में साक्षात्कारणत्व मानने में कोई कठिनाई उत्पन्न होती है।

"विशिष्ट ज्ञानत्वाद्" विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होने से इस प्रसंग में विशिष्ट ज्ञान की अनुपपत्ति को हटा चुके हैं। तो यहां साक्षात् कारण पद में शक्ति मानना ही उचित है।

इसी प्रकार "घटपटोभयं आनय" घट पट दोनों को ले आवो ऐसा जो समूहालम्बन वाक्य है, दोनों की स्मृति भी एक समूहालम्बन ही होगी। तो घट पदार्थ एवं पट पदार्थ दोनों के बीच में स्मृति अनुभूत होती है यह भी ठीक नहीं है, इसे कह चुके हैं। इसीप्रकार पदों में स्वतात्पर्यगोचर विशिष्ट ज्ञान जनकत्व होने पर पदार्थाख्याभिहितान्वयवादी एकेदशीमत प्रमाणान्तर मानने की जरूरत भी नहीं है।

अग्रिम दृष्टान्त में भी प्रमाणान्तर की जरूरत नहीं है, इसे हम कहेंगे। साक्षात्, प्रमितिकरणत्व सम्भव न होने पर अन्य द्वारा प्रमितिकरणत्व का उपपादन करना उचित ही है। इसमें खुद ही दृष्टान्त दे रहे श्रुत्येति= साधन रूप से सोमक्रयमनुगतः= सोम को खरीदने के लिये सम्बद्ध। साक्षाद्भावं= साक्षात् साधनत्वम्= साक्षात् साधन रूप से। एनाम्= मार्ग को प्राप्त कर लेता है। अशक्तेः= शक्ति के अभाव दशा में। अरुणिमगुणोहि= अरुणया इस वाक्य से अरुणया यह तृतीया विभक्ति का प्रयोग है। इसको सुनने के बाद सोम को खरीदना है इस क्रिया के प्रति साधन रूप से बोधित अरुण (लाल) रंग तो खुद अमूर्त होने से साक्षात् सोम को खरीद नहीं सकता। तो फिर अरुण तो लाल रंग है उसमें साक्षात् सोम मोल लेने की योग्यता को छोडकर गौ रुप जो द्रव्य है उसके अवच्छेदक द्वारा गौरूपद्रव्यावच्छेदेन अरुण (लाल) रंग परम्परा से साधन बनेगा। अर्थात् परम्परा से अरुण रंग गौ रूप द्रव्य के द्वारा साधन भाव को प्राप्त हो जाता है। जिससे सोम रस का क्रयण खरीदना सम्भव हो जाता है।

यत्तु पदार्थाख्यं मानं लोकसिद्धमिति पूर्वपक्षिणोऽनुशयमवोचाम तदिदानीं शङ्क्ते—

यत्तु= पदार्थारव्य प्रमाण लोक प्रसिद्ध है ऐसा पूर्वपक्षी का कहना था, उसी आशय को लेकर शंका कर रहे हैं—

श्वेतिमानमभिपश्यतः पुरः।
शृण्वतस्तदनु हेषितध्वनिम्।।
तद्वदत्र खुरमुद्गरस्वनं
श्वेतरूपतुरगोऽटतीति धीः।।३७७।।

अन्वयः= पुरः श्वेतिमानं अभिपश्यतः तदनुः हेषितध्वनिं तद्वत् अत्र खुरमुदगरस्वनं श्रृण्वतः श्वेत रूपतुरगः अटति इति धीः।।३७७।।

अन्वयार्थ= जैसे पहले श्वेत रूप को देखकर हिनहिनाने का शब्द तथा टापों की खटखट सुन ने वाले को श्वेत अश्व दौड रहा है, ऐसा बोध हो जाता है।।३७७।।

श्वेतिमानमिति। श्वेतं रूपमित्यर्थः। पुरः अग्रे हेषितध्वनिम् अश्वध्वनिम्। अनेनाश्वत्वोपस्थितिरुक्ता। अत्र लोके। खुरमुद्गरस्वनं खुरस्य तीक्ष्णशब्दम्। अनेन च तस्य धावनं सूचितम्। लोके हि अग्रे दूरतः श्वेतरूपं पश्यतोऽश्वध्वनिं खुरशब्दं च श्रुत्वा प्रत्येकमश्वत्वाद्यवगच्छतः श्वेतोऽश्वो गच्छतीति बुद्धिर्जायते, सा न तावत् प्रत्यक्षेण, दूरादिदोषेण तस्य तदसमर्थत्वात्। नापि लिङ्गेन विशिष्टार्थव्याप्तलिङ्गाभावात्। न तादृशः शब्दस्तत्रास्ति, ततः क्लृप्तमानान्तरासम्भवाचक्षुरादिनाऽवगतश्वेतादिरूपपदार्थैरेव श्वेतोऽश्वो धावतीति धीर्यदुद्भवतीत्यर्थः।।३७७।।

श्वेतिमानमिति= सफेदरूप, पुरः= आगे, हेषितध्वनिम्= घोडे की आवाज, इससे घोडे की उपस्थिति बता दी है। अत्र= इस लोक में। खुरमुद्गरस्वनम्= खुरकी टप टप तीखी आवाज। इससे घोडा दौड रहा है, यह सूचित होता है। लोक में भी सामने दूर से सफेदरंग दिखाई देने के साथ घोडे की खुद की आवाज भी सुनाई दी। तो जो यह देखने वाला सुनने वाला व्यक्ति है, उसे प्रत्येक से घोडा सफेद रंग वाला दौड रहा है, ऐसा बोध उत्पन्न हो जाता है। यह बोध ना तो प्रत्यक्षप्रमाण से है, क्योंकि घोडा तो दूर होने से नेत्रेन्द्रिय का उसके साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। किसी हेतु के द्वारा श्वेतरंगवाला घोडा दौड रहा है ऐसी विशिष्ट अनुमित्यात्मक बुद्धि भी सम्भव नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसे अनुमिति को उत्पन्न करने वाला ऐसा कोई हेतु नहीं है। और न तो वहां ऐसा कोई शब्द प्रयोग ही हुवा है। जिससे यह बोध, उत्पन्न हो जाय। इसलिये स्पष्ट ऐसा कोई प्रमाणान्तर नहीं होने से नेत्रद्वारा सफेद रंग का ग्रहण करने से खट्खट् शब्द (घोडे का हिणहिणाना) आदि के द्वारा सफेद घोडा दौड रहा है ऐसा बोध उत्पन्न हो जाता है। इसलिये? ऐसे प्रतीति के लिये पदार्थाख्य मानान्तर की सिद्धि हो गई।

दार्ष्टान्तिकमाह—

इस पर पूर्वपक्षी दार्ष्टान्त में इस समन्वित भी करा रहे हैं—

तद्वतत्र पदजातबुद्धिभि-
बोधिताखिलपदार्थहेतुकः।।
सर्वशब्दविषयार्थसंगतेः,
प्रत्ययो भवति योग्यतादिभिः।।३७८।।

अन्वयः= तद्वत् अत्र पदजातबुद्धिभिः बोधिताखिलपदार्थहेतुकः सर्वशब्दविषयार्थसंगतेः प्रत्ययः योग्यतादिभिः भवति।।३७८।।

अन्वयार्थ= वैसे ही यहां भी पद समूह के ज्ञान से बोधित निखिल पदार्थ रूप हेतु से सर्व पदार्थ संसर्ग विषयकयोग्यतादि से बोध हो जाता है।।३७८।।

तद्वदिति। अत्र वाक्ये पदजातबुद्धिभिः प्रतिपदं क्रमेणोत्पन्नमतिभिर्बोधिता येऽखिलपदार्थास्तद्धेतुकः सर्वेषां गवादि शब्दानां ये प्रतिपाद्यार्थास्तेषां परस्परसङ्गतेः संसर्गस्य योग्यतादिभिराकाङ्क्षायोग्यतासन्निधानैः सहकारिभिः प्रत्ययस्तद्विषयः प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। अतः पदार्थमानत्वं लोकप्रसिद्धमेवात्रास्थितमिति नालौकिकमिति भावः।।३७८।।

तद्वदिति= "गामानय" इत्यादि वाक्य में, अत्र= गामानय इत्यादि वाक्य में, पदजात बुद्धिभिः– प्रत्येक पद के द्वारा उत्पन्न मति से, बोधिता= जो भी अखिल पदार्थ है, तद्धेतुकः= सभी गवादि शब्दों का, जो जो प्रतिपादित अर्थ है, उनकी परस्पर संगतेः= संसर्ग का, योग्यतादिभिः= आकाङ्क्षा योग्यता, सन्निधि आदि सहकारि कारणों के द्वारा प्रत्ययः= तद्विषयक ज्ञान होता है संसर्गविषयक ज्ञान होता है। इसलिये पदार्थ मानत्वं तो लोक प्रसिद्ध ही है, लोक सिद्ध है अलौकिक नहीं है।

सिद्धान्ती प्रत्यक्षादिनैवास्य प्रत्ययस्योपपत्तेर्न तदर्थं मानान्तरं कल्प्यमिति दूषयति–

सिद्धान्ती इसका खण्डन करते हैं– प्रत्यक्षादि प्रमाण से ही ज्ञान की उपपत्ति संभव हो सकती है। तो इस उपपत्ति करने के लिये पदार्थाख्य मानान्तर मानने की आवश्यकता नहीं है।

नैतत् क्लृप्तनिमित्ततोऽपि घटते संसर्गधीरीदृशी
श्वतोऽश्वस्त्वरितोऽभिधावतितरामित्यादिकार्योत्थिता।।
कार्यं क्लृप्तनिबन्धनं यदि भवेन्नास्यापरं कारणं
कल्प्यं तेन पदार्थजातजनिता नैषा मतिर्लिङ्गजा।।३७९।।

अन्वयः=नैतत्, श्वेताश्वः त्वरितो अभिधावतितराम् इत्यादिका या उत्थिता ईदशी संसर्गधीः क्लृप्तनिमित्ततोऽपि घटते। यदि कार्यं क्लृप्तनिबन्धनं भवेत्, अस्य अपरं कारणं न कल्प्यम्, तेन एषा मतिः पदार्थजातजनिता न, लिङ्गजा।।३७९।।

अन्वयार्थ= उक्तकथन बराबर नहीं है। क्योंकि श्वेत अश्व वायुवेग से भागता जा रहा हैं यह बुद्धि जो उत्पन्न होती है, ऐसी बुद्धि अपने नियत (वक्ष्यमाण अनुमान रूप) निमित्त से भी बन जाती है। यदि कोई कार्य अपने क्लुप्त (निश्चित) निमित्त से ही हो जाता है, तब उसके लिए अन्य कारण की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इसलिये यह उक्त बुद्धि पदार्थ जनित नहीं, अपितु लिङ्ग (हेतु) जनित है।।३७९।।

नैतदिति। कुत इत्यत आह—क्लृप्तनिमित्ततोऽपीति। वक्ष्यमाणक्लृप्तप्रमाणात्। ईदृशीत्युक्तमेवाह-श्वेतोऽश्व इति। ननु यथाऽनुमानाद्यवगतं प्रत्यक्षेणाप्यवगच्छन्ति तद्वत्क्लृप्तप्रमाणावगतमपि पदार्थप्रमाणेनावगच्छन्त्विति तत्राह-कार्यमित्यादिना। क्लृप्तं निबन्धनं कारणं यस्य तत्। यत्र ह्युभयमपि, क्लृप्तं भवति तत्रैकेनावगतमन्येनाप्यवगम्यतां यत्र तु नैवं अथ च क्लृप्तेनैव कार्यं निर्वहति तस्यापरं कारणं न कल्प्यं कार्यस्य तेनैव निराकाङ्क्षत्वात्। ततः किं तत्राह-तेनेति। एषा मतिः श्वेतोऽश्व इत्यादिमतिः। किं प्रमाणजा तर्ह्येषा मतिस्तत्राह-लिङ्गजेतिं। लिङ्गेति प्रत्यक्षस्याप्युपलक्षणम्।।३७६।।

नैतदिति= क्यों? तो उत्तर देते हैं क्लृप्त निमितोऽपीति= आगे हम स्पष्ट रूप से प्रमाण बतायेंगे इसलिये मानान्तर मानने की आवश्यकता बिलकुल ही नहीं है। इसे स्पष्ट कर रहे हैं। श्वेतोऽश्व इति।

आशंका= जैसे अनुमानादि प्रमाण से पदार्थ की प्राप्ति होती है, प्रत्यक्ष से भी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से स्पष्ट प्रमाण का विषयी भूत पदार्थ प्रमाणान्तर से माना जाय?

समाधान= कार्यमित्यादि= क्लृप्तं= स्पष्ट रूप से, निबन्धनं= कारण है जिसकी ऐसा।

जहां दोनों ही अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण स्पष्ट रूप से है वहां एक ने ग्रहण किया जो दूसरे को भी उसी अर्थ का ग्रहण करने दो। जहां दोनों ही स्पष्ट नहीं है, वहां स्पष्ट रूप से हिनहिनाना आदि कार्य से ही बोध हो जायेगा उसके लिये अन्य कारण की कल्पना करना निराकाङ्क्षित हैं। क्योंकि कार्य से ही हिनहिनानादि से ही कारण का काम निराकांक्षित हो चुका है।

इससे क्या हुवा? तेनेति= ऐषामतिः= श्वेतोऽश्व- सफेद घोडा दौड रहा है, ऐसी मति उत्पन्न होती है। इस मति का कारण कौन है? लिङ्गजेति= हेतु से उत्पन्न होती है। हेतु पद से प्रत्यक्ष प्रमाण भी है यह भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण से ही बोध उत्पन्न हो जाता है, तदर्थ मानान्तर की जरूरत नहीं है यह बातसिद्ध हुई।

"न पदार्थजातजनिता" इत्यादि विवृण्वंस्तर्हि प्रत्यक्षादिसमुदायादेषा मतिरस्त्वित्या-शङ्कामपि निराकरोति—

पूर्वपक्ष ३७६ वे श्लोक में "न पदार्थजात जनिता" इसकी व्याख्या करते समय प्रत्यक्षादि प्रमाण से ही सफेद घोडा दौड रहा है। ऐसा बोध उत्पन्न होता है तब तो प्रत्यक्षादि प्रमाण सुमुदाय से ही यह मति रहने दो। इस आशंका का निराकरण कर रहे हैं—

पादार्थं न पृथक् प्रमाणमपरं नानाप्रमाणोद्भवं
नाप्येतत्फलमत्र पक्षयुगले कल्प्यं निमित्तान्तरम्।।
क्लृप्तं लिङ्गमतोऽपि निर्वहति चेत्संसर्गधीरीदृशी
पादार्थी न पृथक् प्रमा न च फलं नानाप्रमाणोद्भवम्।।३८०।।

अन्वयः=पादार्थं पृथक् प्रामाणं न, नापि एतत् फलं नानाप्रमाणोद्भवम्, अत्र पक्षयुगले निमित्तान्तरं कल्प्यम्, लिङ्गं क्लृप्तम्। अतोऽपि चेत् ईदृशी संसर्गधीः निर्वहति, न पादार्थी, न पृथक् प्रमा न नानाप्रमाणोद्भवं फलम्।।

अन्वयार्थ= पदार्थ बोध कोई भिन्न प्रमाण नहीं होता है, और न यह उक्त बुद्धि फल नाना प्रमाण से उद्भूत है। इन दोनों (पृथक् प्रमा तथा नाना प्रमाणजन्य प्रमा) पक्षों में (पदार्थादि) निमित्तान्तर कल्पनीय है। और लिङ्गक्लृप्त स्पष्ट है)। इस (लिङ्ग) से भी यदि ऐसी (उक्त) संसर्ग बुद्धि उपपन्न हो जाती है तब वह न (पादार्थी) पदार्थ जन्या है, न पृथक् प्रमा है और न नाना प्रमाणों से उद्भूत फल रूपा वह है।।३८०।।

पादार्थमिति। पदार्थसंबन्धि पादार्थं पदार्थसमुदायरूपमिति यावत्। पृथक् प्रत्यक्षादिव्यतिरिक्तम्। अपरं प्रत्येकप्रत्यक्षादिफलाददतिरिक्तम्। नानाप्रमाणोद्भवं प्रत्यक्षलिङ्गसमुदायजन्यम्। एतत्फलं संसर्गज्ञानं श्वेतोऽश्वो धावतीत्येवंरुपा प्रमा। उभयत्र दूषणमाह-अत्रेति। तस्मिन् पक्षद्वये इत्यर्थः। पदार्थसमुदायस्य प्रमाणसमुदायस्य च प्राक् प्रमाणत्वेनाक्लृप्तत्वात्तदुभयप्रमाणमत्रैव कल्पनीयमित्यर्थः।

अथ वा पृथक् प्रमाणत्वपक्षे नानाप्रमाणफलत्वं च पक्षद्वये निमित्तान्तरं कल्प्यं यत इत्यर्थः। तर्ह्यनन्यथासिद्धकार्यबलात्तदन्यतर प्रामाण्यं कल्प्यतामित्याशङ्क्य, असिद्धो हेतुरित्याह क्लृप्तमिति। लिङ्गमिति प्रमाणान्तरस्याप्युपलक्षणम्। इदमिहाभिप्रेतम्। श्वेतद्रव्येण सममिन्द्रियसंनिकर्षस्तावदस्त्येवान्यथा श्वेत इति ज्ञानासंभवात्। अश्वत्वाद्यंशज्ञाने चक्षुषो यद्यपि दोषः प्रतिबन्धकस्तथापि हेषादिना तदनुमाने तद्विशिष्टेन्द्रियेण प्रत्यभिज्ञेव परोक्षापरोक्षरूपा श्वेतोऽश्वो धावतीति धीर्भवितुमर्हति। एवं विमतः श्वेतः अश्वः हेषाकर्तृत्वात्संमतवदिति श्वेतोऽश्व इति विशिष्टज्ञाने, श्वेतोऽश्वो धावति अव्यवधानेन नाना देशेषु दृश्यमानत्वात्तादृशदेवदत्तवत्, एवं श्वेतरूपे हेषाखुरमुद्गरस्वनादिकर्तृत्वसामानाधिकरण्यानुपपत्त्याप्येतादृशी धीर्भवितुमर्हतीति। न तदर्था त्वदुक्तकल्पनेत्याशयेनोपसंहरति पादार्थीति। पदार्थसमुदायकरणिकेत्यर्थः।।३८०।।

पादार्थमिति= पादार्थ= पदार्थ सम्बन्धी पदार्थ समुदाय रूपमिति= पदार्थ समुदाय रूप ऐसा पृथक= प्रत्यक्षादि प्रमाण से अतिरिक्त अपरः= प्रत्येक प्रत्यक्षादि फल से अतिरिक्त। अथवा।

नाना प्रमाणोद्‌भवं= प्रत्यक्षलिङ्ग समुदाय जन्य। एतत् फलम्= संसर्गज्ञान जो सफेद घोडा दौड रहा है इत्याकारक प्रमा, श्वेताऽश्वो धावतीति रूपा जो प्रमा इन दोनों पक्षों में दोष है। दोनों पक्ष- एक तो पदार्थ समुदाय और दूसरा है प्रमाण समुदाय इन दोनों पक्षों में दोष है। अत्रेति= इन दोनों पक्षों में दोष है। वह इस प्रकार पदार्थ समुदाय तथा प्रमाण समुदाय के पहिले पदार्थ समुदाय तथा प्रमाण समुदाय प्रमाणत्वेन रूपेण अस्पष्ट ही माना जायेगा। पहिले तो इन दोनों समुदायों का प्रामाणिक मानना पडेगा। यही दोष है। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाण समुयाय से तथा पदार्थ समुदाय से विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती।

अथवा— पृथक् प्रमाणत्व के पक्ष में तथा नाना प्रमाण फल के पक्ष में इन दोनों पक्षों में निमित्तान्तर की कल्पना करनी पडेगी। तब तो इनमें जो अनन्यथा सिद्ध हो (जिसके बिना काम न चल सकें) तो ऐसे के कार्य बल से दोनों में एक का प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये। ऐसी आशंका होने पर। इसमें हेतु असिद्ध है, इसे बता रहे हैं। जो हेतु साध्य को सिद्ध न कर सकें उसे असिद्ध हेतु कहते हैं। असिध्द हेत्वाभास से हेत्वासिध्दि लेनी है- श्वेतः (पक्ष) अश्वः (साध्य) पदार्थ समुदाय प्रत्यक्ष लिङ्गकसमुदायात्= इस हेतु में अन्यतर बलवान् होगा। दोनों का एक रूप से संग्रह नहीं होगा। परिणाम हेतुतावच्छेदक रूप से हेतु पक्ष में नहीं रहेगा। तो हेत्वासिध्दि ऐसी असिध्दि उक्त अनुमान में होगी। लिङ्गमिति= अन्य प्रमाणान्तर का भी इसमें समावेश कर लेना चाहिये। यहां क्या अभिप्रेत है उसे बता रहे हैं। सफेद द्रव्य के साथ चक्षु इन्द्रिय का सम्बन्ध तो है ही नहीं। तो श्वेत (सफेद) ऐसा ज्ञान ही नहीं होता। यद्यपि अश्वत्वेन रूपेण अश्व के ज्ञान में नेत्र का दोष प्रतिबन्धक है, (दूर की वस्तु बराबर दिखाई न देना) आदि। तो भी घोडे का हिनहिनाने से घोडे का अनुमान हो जाता है। तो कान से शब्द सुना उससे विशिष्ट चक्षु इन्द्रिय से प्रतिभिज्ञा ही जो परोक्ष (चक्षु के द्वारा) तथा अपरोक्ष रूपा (श्रवण इन्द्रिय द्वारा) सफेद घोडा दौड रहा है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। इस प्रकार पूर्वपक्षी को भी सफेद अश्व (हेषाकृर्तृत्वात्) हिनहिनाता है यह संमत है, सफेद अश्व इस विशिष्ट ज्ञान में, सफेद अश्व दौड रहा है ऐसा तुरन्त प्रत्यय हो जाता है जैसे नाना देशों में ही देखा हुवा देवदत्त यहां देखकर प्रतिभिज्ञा होती है, इस प्रकार सफेद रूप में हिनहिनाना, टापों की आवाज, आदि का कर्तृत्व सामानाधिकरण्य न होने पर भी (टापों की आवाज पैरों की है, हिणाहिणाना कण्ठ का है। दोनों अलग अलग होने से सामानाधिकरण्य नहीं है) तो भी सफेद घोडा दौड रहा है ऐसी बुद्धि होती है। लेकिन इसके लिये आपकी बताई हुई कल्पना सार्थक नहीं है। पादार्थीति= पदार्थ समुदाय करणि-का कल्पना उपयुक्त नहीं है। यह बात सिद्ध हुई और न तो प्रत्यक्षादि प्रमाण समुदाय से ऐसी मति उत्पन्न हो सकती है।

एवं योग्येतरकार्यान्विते योग्येतरान्विते वा न पदानां शक्तिरतिगौरवात्। नापि केवलपदार्थे वाक्यार्थप्रतीतेराकस्मिकतापत्तेः। केवलार्थशक्तेभ्य आकाङ्क्षादिसहकृतेभ्यः पदेभ्यो न संसर्गधीजन्म अशक्तात्कार्यासम्भवेन तदा कार्यानुरोधेन शब्दशक्तेरपि तत्रावश्यकत्वात्। कारणताशक्तेरेव स्ववाच्यसम्बन्धानपेक्षशब्दवृत्तित्वेनाभिधाशक्तित्वात्। नापि पदस्मारितपदार्थानामेवाकाङ्क्षादिवशात्परस्परं स्वसंसृष्टविषयज्ञानकारणता, शब्देभ्यः साक्षादेव वाक्यार्थप्रमासम्भवे मध्ये स्मृतिकल्पनायोगाद्वाक्यार्थबोधस्य शब्दाजन्यत्वेऽशाब्दत्वं च स्यात्। न च परम्परया शब्दमूलत्वेन शाब्दत्वम्, चाक्षुषरूपादिलिङ्गजानुमितेरपि चाक्षुषत्वापत्तेः। पदार्थाख्यप्रमाणान्तर-कल्पनाप्रसङ्गादपि नैते पक्षाः साधव इत्युक्तम्। इदानीं लाघवेनाकृतिमात्रवाचकशब्देन व्यक्तिरिव पदार्थशक्तपदेभ्यो वाक्यार्थो लक्ष्यताम् एवं च न प्रागुक्तो दोषः कोऽप्यत्र प्रसज्यत इत्याशङ्क्यात्रापि प्रतिपिपादयिषाद्यनुरोधेन केवलपदार्थशक्तेरयुक्तत्वे स्थितेऽन्वयबोधस्य शब्दलभ्यत्वान्नाती- वास्माकमनिष्टमित्याशयमेतदनिराकरणेन द्योतयन्नुपसंहरति—

इस प्रकार योग्येतर कार्यान्वित में अथवा योग्यतरान्वित में पदों की शक्ति नहीं मानी जा सकती। अतिगौरव दोष होने के कारण। यदि केवल पदार्थ में ही पद की शक्ति मानें तो भी ठीक नहीं है क्योंकि वाक्यार्थ प्रतीति में आकस्मिकतापत्ति दोष आयेगा। आकाङ्क्षादि सहकृत केवल अर्थ में शक्त पद से संसर्ग बुद्धि का जन्म नहीं हो सकता। विशिष्ट बुद्धि का जन्म नहीं हो सकता। जो अशक्त है उससे कार्य सम्भव नहीं हो सकता। इसलिय कार्यानुरोध से संसर्ग धी वाचकत्व शब्द शक्ति में मानना पडेगा। इससे करण रूप शक्ति जो स्ववाच्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करती हुई शब्द वृत्तित्वेन रूपेन अभिधा रूप होगी। इससे पद में शुद्ध पदार्थ शक्ति सम्भव नहीं हो सकेगी? यदि पद से पदार्थ स्मरण उन पदार्थों का परस्पर स्वसंसृष्ट विषयक ज्ञान कारणता होकर वाक्यार्थ बोध सम्भव होगा। तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि शब्द से साक्षात् ही वाक्यार्थ प्रमा सम्भव हो तो बीच में स्मृति की कल्पना करना अयोग्य है, और यदि वाक्यार्थ बोध शब्द से जन्य नहीं है तो वाक्यार्थ बोध अशाब्दिक होगा। यदि कहो कि परम्परा से शब्द ही वाक्यार्थ बोध में मूल होने के कारण उसमें शाब्दत्व ही आयेगा। तो नेत्रों के द्वारा घोडे का सफेद रूप देख लिया तथा कानों से हिणहिणाना सुन लिया तो इसमें अनुमिति आ गई, बाद में सफेद घोडा दौड रहा है ऐसा बोध उसे चाक्षुष ही क्यों नहीं माना जाय। क्योंकि परंपरा से चक्षु ने ही सारा काम किया। या मूल तो चक्षु ही कारण है। अतः ऐसा बोध चाक्षुष क्यों नहीं माना जाय। शाब्दिक मानने के अपेक्षा। और प्रमाण समुदाय से अतिरिक्त पदार्थाख्य प्रमाणान्तर की कल्पना करनी सो भी ठीक नहीं है। इस प्रकार ये सारे पक्ष युक्तियुक्त नहीं है, यह सब कह चुके हैं।

अब लाघव से आकृति मात्रवाचक शब्द से जैसे व्यक्ति का बोध होता है इस प्रकार पदार्थ वाचक पद से वाक्यार्थ का बोध होना चाहिये, ऐसा मानने से पहिले जितने दोष है उनकी प्रसक्ति नहीं होगी। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर प्रतिपादित विषय के अनुसार केवल पदार्थ शक्ति पद में मानें सो ठीक नहीं है। अब अन्वय बोध शब्द लभ्य ही है इससे हमारा कोई भी अधिक नुकसान होने वाले नहीं है इसलिये इस मत का निराकरण (खण्डन) न करते हुये उसी को स्पष्ट करके उपसंहार कर रहे हैं—

नासंसृष्टमतो वदन्ति न च तान्याहुः क्रियासङ्गतं
योग्येनान्वितमेव केवलममून्याहुः स्वमर्थं यतः।।
एवं सत्यपवर्जितक्रियमलं निष्पन्नरूपं सदा
संसर्गादिविवर्जितं च वदितुं वस्तुस्वरूपं श्रुतिः।।३८१।।

अन्वयः= अतः वचनानि असंसृष्टं क्रियासंगतं न आहुः, यतः अमूनि केवलं योग्येनान्वितं स्वार्थं आहुः। एवं च सति श्रुतिः अपवर्जितक्रियं निष्पन्नरूपं संसर्गादिविवर्जितं वस्तुस्वरूपं वदितुं सदा अलम्।।३८१।।

अन्वयार्थः= अतः शब्द अनन्वित या क्रिया से अन्वित अर्थ को नहीं कहते, क्योंकि वे शब्द केवल योग्यार्थ से अन्वित अपने अर्थ को कहते हैं। इस प्रकार वेदान्त श्रुति क्रिया रहित सिद्धं रूप संसर्गादिशून्य अखण्ड वस्तु को कहने में सदा समर्थ है।।३८१।।

नासंसृष्टमिति। वदन्ति पदानीति शेषः। कार्यान्विते शब्दसङ्गतिं निराकृत्य सिद्धान्विते तत्समर्थनफलमाह-एवं सतीति। सिद्धान्वितस्यापि शब्दार्थत्वसम्भवे सतीत्यर्थः। अपवर्जिता परिहृता क्रिया कार्यं यस्मिन् ब्रह्मणि तत्। अलं समर्था।।३८१।।

नासंसृष्टमिति= पद में परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये बिना वाक्यार्थ बोध नहीं करा सकते। कार्यान्वित में शब्द संगति का निराकरण करने के बाद सिद्धान्वित शब्द संगति का समर्थन करते हैं। एवं सतीति= सिद्धान्वित भी शब्दार्थत्वसम्भव है। अपवर्जिता= परित्यक्त है, क्रिया= कार्य रूप। जिस ब्रह्म में इस प्रकार सिद्धान्वित शब्दबोध सम्भव हो जाता है, यह कह दिया।

एवमभिहितान्वयादि निराकृत्यान्वितमात्रं शब्दार्थ इत्युक्तम्। ननु कोऽयमभिनिवेशस्तवाभिहितान्वयपक्षेऽपि लक्षणयाऽखण्डब्रह्मसिद्धिसम्भवात्, तावन्मात्रस्यैव तव मते प्रतिपाद्यत्वादित्याशङ्क्यास्तु वा तथेत्याशयेनाह—

इस प्रकार कुमारिलभट्ट का आभिहितान्वयवाद का निराकरण कर देने के बाद अन्वितमात्र ही शब्दार्थ है यह कहा। यहां आशंका होती है यह अभिहितान्वयवाद स्वीकृत

करने पर भी लक्षणा के द्वारा अखण्ड ब्रह्म की सिद्धि आपके वेदान्त में हो जाती है। लेकिन इतने मात्र से तुम्हारे वेदान्ती के मत में प्रतिपाद्यत्व आ ही जायेगा। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर। सिद्धान्ती समाधान देते हैं कि प्रतिपाद्यत्व- तथैवास्तु रहने दो। इसी आशय से बोल रहे हैं—

अभिहितघटनाऽथ वाऽन्विताना-
मभिहितिरस्त्वथ वा न पक्षपातः।।
क्व चिदपि समयेऽस्ति नः कदाचिद्
बहुघटनात्मकवस्तुनिष्ठवाक्ये।।३८२।।

अन्वयः= अथ बहुघटनात्मकवस्तुनिष्ठवाक्ये अभिहितघटना वा अस्तु, अथवा अन्वितानां अभिहितिः क्वचिदपि समये नः कदाचिदपि पक्षपातो नास्ति।।३८२।।

अन्वयार्थः= बहुत पदार्थों के संसर्ग बोधक वाक्य में चाहे भट्ट का अभिहितान्वय हो, अथवा प्रभाकर का अन्विताभिधान हो, किसी भी पक्ष में हमारा कभी भी पक्षपात नहीं है।।३८२।।

अभिहितघटनेति। अभिहितानां घटानाऽन्वय इत्यर्थः। पूर्वोक्तनियमकल्पादस्य कल्पान्तरत्वं द्योतयितुमाद्योऽथ वेति शब्दः, स चादौ योजनीयः। क्वचिदपि समये पक्षपातो नो नास्तीति संबन्धः। नन्वखण्डे ब्रह्मणि नोभयमपि सम्भवतीति कथं तदङ्गीकार इत्याशङ्क्यान्यत्रैव तदङ्गीकार इत्याह बहुघटनेति। बहूनामर्थानां घटनात्मकं यद्वस्तु प्रतिपाद्यं तन्निष्ठे वाक्ये गामानयेत्यादिलौके ज्योतिष्टोमेन यजेतेत्यादिवैदिके चाभिहितघटनेत्यादिसंबन्धः।।३८२।।

अभिहित घटनेति= अभिहित है घटना नाम अन्वय जिसमें अभिहित अन्वय है। श्लोक में प्रथम पाद में अथ शब्द इसलिये नियुक्त किया है कि पहिले जो भी कल्प किये हैं उनसे यह कल्प अलग है इसे बताने के लिये अथ शब्द का प्रयोग किया गया है। क्वचिदपि समये पक्षपातो नो= किसी भी समय में हमारा पक्षपात नहीं है। यह सम्बन्ध है।

आशंका= अखंड ब्रह्म में तो अभिहितान्वय तथा अन्विताभिधान दोनों ही सम्भव नहीं हो सकते तो फिर उसका अङ्गीकार किस प्रकार किया?

समाधान= इसका अङ्गीकार हमने अखण्डब्रह्म से अतिरिक्त जगह किया है। बहुघटनेति= अनेक अर्थों की घटनात्मक जो वस्तु प्रतिपाद्य है उस वस्तुनिष्ठ वाक्य में जैसे गामानय इत्यादि लौकिक वाक्य में तथा ज्योतिष्टोमेन यजेत् इत्यादि अलौकिक वैदिक वाक्य में अभिहित घटना- अभिहितान्वय है, यह सम्बन्ध है।

बहुघटनात्मकेतिविशेषणव्यावर्त्यमाह–

बहुघटनात्मक इस विशेषण का व्यावर्त्य कौन है। इसे बताते हैं–

अभिहितघटना न चोपपन्ना
परदृशि नाभिहितिस्तथान्वितानाम्।।
अनधिकविकलार्थगोचरत्वा-
न्न तदुभयं श्रुतिमस्तके पदानाम्।।३८३।।

अन्वयः= परदृशि न अभिहितघटना, न च अन्वितानां अभिहितिः, तथा श्रुतिमस्तके पदानां अनधिकविकलार्थ गोचरत्वात् तद् उभयं न।।३८३।।

अन्वयार्थः= क्योंकि असङ्ग स्वप्रकाश चिदात्मा में न तो अभिहितान्वय और न तो अन्विता भिधान ही उपयुक्त है। वेदान्त वाक्य तो अनन्वित केवल अखण्ड वस्तु को विषय करते हैं, अतः यहां दोनों वाद उपयुक्त नहीं है।।३८३।।

अभिहितघटना न चेति। परदृशीत्यसङ्गस्वप्रकाशचिदात्मनो निर्देशात्तस्यान्वितत्वेनानन्वितत्वेन वाऽभिधानायोग्यता ध्वनिता। कुतो नेत्यत आह-अनधिकेति। अधिको विकलश्च न भवतीत्यनधिकविकलः, तादृशः शुद्धचिद्रूपोऽर्थो गोचरो येषां तेषां भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः। अथ वाऽधिकेत्यन्वितत्वं विकलेति केवलत्वम्। यद्यप्यात्मवस्तु केवलं तथाऽप्यन्वयप्रतियोगितया स्वरूपेण वा नाभिधानयोग्यं स्वप्रकाशत्वादिति विकलोक्त्यभिप्रायो द्रष्टव्यः। उपसंहरति– न तदिति। तत्तस्मात्। उभयम् अभिहितान्वयोऽन्विताभिधानं च।।३८३।।

अभिहित घटना न चेति= परदृशी= असङ्ग स्वप्रकाश, चिदात्मा का निर्देश परदृशिशब्द से होता है। अन्वित रूप से अथवा अनन्वित रूप से दोनों रूप से अभिधान संभव नहीं है। क्यों? अनधिकेति= जिसमें अधिक तथा विकल भाव नहीं होने से अनधिक विकल ऐसा आत्मा है। अर्थगोचरत्वात्= ऐसा शुद्ध चिद्रूप अर्थ गोचरो- गोचर है, जिन प्रमाणों का, तेषां भावः, तत्त्वं तस्मादित्यर्थ= ऐसा यह आत्मा होने से अनधिक विकलार्थ है। अथवा अनधिकविकलेति= अधिक का तात्पर्य अन्वितत्व करेंगे। तत्त्वं विकलेति= अन्वितत्व से रहित केवल स्वरूप ऐसा अर्थ करेंगे। यद्यपि आत्मवस्तु केवल है, तथापि अन्वय प्रतियोगिके रूप से अथवा स्वरूप सें अभिधान योग्य नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा स्वप्रकाश स्वरूप है। यह अभिप्राय विकलशब्द से उक्ति से निकलता है।

अब उपसंहार करते हैं न तदिति= तत्तस्मात् उभयम् अभिहितान्वय तथा अन्विताभिधान दोनों ही आत्मस्वरूप में उपयुक्त नहीं है, यह बात सिद्ध हुई।

ननु पक्षद्वयेऽपि वाक्यस्याखण्डार्थप्रतिपादने किं कश्चिद्विशेषोऽस्तीत्याकङ्क्षायामस्ति कश्चिदित्याह—

आशंका= दोनों पक्षों में वाक्य की अखण्ड बोधकता सिद्ध होने पर क्या कोई विशेषता है? ऐसी आशंका होने पर कुछ विशेषता बता रहे हैं—

अभिहितघटना यदा तदानीं
स्मृतिसमबुद्धियुगं पदे विधत्तः।
परदृशि पुनरन्विताभिधने
पदयुगलात्स्मृतियुग्ममेव पूर्वम्।।३८४।।

अन्वयः= यदा अभिहितघटना, तदा पदे परदृशी स्मृतिसमबुद्धियुगं विधत्तः, अन्विताभिधाने पुनः पूर्वं पदयुगलात् स्मृतियुग्ममेव।।३८५।।

अन्वयार्थ= जब अभिहितान्वय (मानते हैं) तब (तत् और त्वं) दोनों पद पर चेतन में स्मृति के समान बुद्धि उत्पन्न करते हैं। किन्तु अन्विताभिधान बाद में पहले पदार्थ प्रतीति समय में दोनों पदों से परब्रह्म विषयक तो स्मृतियां ही उत्पन्न है।।३८४।।

अभिहितघटना यदेति। स्मृतिसमबुद्धियुगमिति। भट्टपक्षे हि पदानां पदार्थमात्रबोधे पर्यवसानात्स पदशक्त्यैव लभ्यत इति न स्मृतिःशब्दमात्रकरणकस्य स्मृतित्वायोगात्। किं तु संबन्धावगमकाले प्रसिद्धार्थविषयतयाऽनुवादत्वेन स्मृतिसमेति। पदे तत्त्वंपदे। तस्मिन्पक्षे स्मृतिसममेव बुद्धियुगं परमात्मनि विधत्तः जनयतः। अन्विताभिधाने तु पदानां शक्त्यान्वयप्रतिपादन एव व्यापारात्पदार्थज्ञानं सम्बन्धिविधयैव पदजमिति न तत्पदकरणकं किं तु प्रसिद्धस्मृतिवत्संस्कारकरणकमेवेति स्मृतिरेवातस्तत्त्वंपदयुगलाद्वाक्यार्थप्रतीतेः पूर्वं स्मृतिद्वयमेव भवतीति विशेष इत्यर्थः। एतच्च परमताङ्गीकारेणोक्तमिति द्रष्टव्यम्। अत उभयमतानुरोधेन तत्त्वंपदार्थविषया धीः स्मृतिसमा स्मृतिरेव वेति यथा तथाऽस्तु, एतावताऽप्यखण्डार्थनिष्ठता वाक्यस्य न विहतेति भावः।।३८४।।

अभिहित घटना यदेति= स्मृतिसमबुद्धियुगमिति= कुमारिक भट्ट के पक्ष में पदों का पदार्थमात्र बोध में ही पर्यवसान होता है अतः शाब्द बोध पद शक्ति के द्वारा ही संपन्न होता है, स्मृति उसका कारण नहीं है। शब्द मात्र या कारण स्मृति हो ऐसा नहीं हो सकता। किन्तु दोनों पदार्थों का आपस में जब सम्बन्ध का बोध होता है तो उस समय में सम्बन्धावगमकाल में सम्बन्धावगम प्रसिद्धार्थ विषयक होने से अनुवाद रूप भी है इसलिये

उसे स्मृति के समान माना जाता है। पदे- तत्त्वं पद में। इस पक्ष में भट्टमत में, स्मृतिसममेव= स्मृति के समान ही बुद्धि युगं- दो ज्ञान (तत्त्वज्ञान) परमात्मविषयक हो जाते हैं। क्योंकि स्मृति दो पदार्थों के होने कारण तत्समान ज्ञान भी दो पदार्थ विषयक होगा। दोनों का सम्बन्धावगम तो एक ही है। यह मत अभिहितान्ववादि कुमारिलभट्ट

अब प्रभाकर का मत अन्विताभिधान इसमें पदों की शक्ति अन्वित अर्थ प्रतिपादक में ही है। पदार्थ ज्ञान सम्बन्धि विधि के व्यापार से संभव होने के कारण वह पद से उत्पन्न है, पदार्थ ज्ञान तत्पदकरणक नहीं है। किंतु प्रसिद्ध स्मृतियुक्त संस्कारकरणक ही होने से स्मृतिस्वरूप ही तत्त्व पद युगल से वाक्यार्थ बोध हो जाता है। तत्त्व पदार्थ युगल वाक्यार्थ बोध के पहिले दोनों पदों से स्मृति द्वय उत्पन्न होती है। यह विशेष भाव है। यह जो भी कहा गया है वह दूसरे के मत का अङ्गीकार करके कहा गया है।

भट्ट तथा प्रभाकर दोनों के मतानुरोध से तत्त्व पदार्थ विषयक बुद्धि (ज्ञान) स्मृति समान है अथवा स्मृति रूप है जैसी है उसे वैसी ही रहने दो। इससे भी वाक्य की अखण्डार्थता नष्ट नहीं हो सकती है।

एवं तत्त्वंपदजन्यपदार्थबोधे पक्षद्वये विशेषमुक्त्वाऽखण्डवाक्यार्थबोधोत्पत्तौ विशेषमाह—

इस प्रकार तत्त्वं पद जन्य पदार्थ बोध में दोनों पक्षों की विशेषता बताकर अखण्डार्थ बोधोत्पत्ति में विशेषता बता रहे हैं—

स्मृतिसमपदजन्यबुद्धियुग्मात्
परदृशि मोहनिवर्त्तनं परेषाम्।।
परदृशि पदजस्मृतिद्वये स्यात्
पदयुगलात्प्रमितेः समुद्भवो नः।।३८५।।

अन्वयः= परेषां परदिशि स्मृतिपदजन्यबुद्धियुग्मात् मोहनिवर्तनम्। न परदृशि पदजस्मृतिद्वये पदयुगलात् प्रमितेः समुद्भवः।।३७५।।

अन्वयार्थ= अभिहितान्वयवादियों के मत से परमात्म वस्तु में स्मृति के समान पदजन्य दोनों ज्ञानों से मोह निवर्त्तक ज्ञान सिद्ध होता है। हमारे (अन्विताभिधानवाद) मत से परमात्मा वस्तु में पद जन्य दो स्मृति ज्ञानों के उत्पन्न होने पर दोनों पदों से अनुभव उत्पन्न होता है।।३८५।।

स्मृतिसमपदेति। स्मृतिसमे च ते पदजन्ये च ते च बुद्धी तयोर्युग्मं तस्मादित्यर्थः। मोहनिवर्तनं साक्षात्कारः। तत्त्वंपदजन्यस्मृतिसमलक्ष्यपदार्थद्वयज्ञानादेवाभिहितान्वय-

वादिनामात्मसाक्षात्कारो भवेन्न तु शब्दात्, इतरत्र तु पदजन्यस्मृतिद्वये सति तत्त्वंपदाभ्यामेव वाक्यार्थप्रमितेः समुद्भव इति महान्विशेषः। एवं च न इति वदता साक्षात्कारस्योपनिषज्जन्यत्वेन ब्रह्मणः स्वमते औषनिपदत्वसिद्धेरिदमेव ज्याय इति दर्शितम्।।३८५।।

स्मृतिसमपदेति= स्मृति के समान ऐसा जो पदजन्य ऐसी जो बुद्धि (ज्ञान) उस ज्ञान की जोडी, इस कारण से। मोहनिवर्त्तनं- अर्थात् आत्म साक्षाकार हो जाता है। तत्त्वं पद जन्य स्मृति के समान तत् और त्वं दोनों लक्ष्य पदार्थों का दो ज्ञान हो जाते हैं इससे अभिहितान्वयवादि को आत्मसाक्षात्कार हो जाता है लेकिन यह साक्षात्कार शब्द से नहीं प्रभाकर के मत में तो दोनों पदजन्य स्मृतिद्विय उत्पन्न होने के बाद तत्त्वं दोनों पदों से वाक्यार्थ प्रमिति उत्पन्न होगी यही दोनों में भेद है। इस प्रकार न इति= ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि साक्षात्कार तो उपनिषद् वाक्य जन्य होने से ब्रह्म की हमारे मत में तथा इन को मत में भी औषनिषद् की प्रामाण्यता सिद्धि हुई, यही हमारे लिये श्रेष्ठ मार्ग है।

एवं लोके शब्दानां कार्यान्विते व्युत्पत्तिबलेन वेदान्तानां सिद्धब्रह्मण्यप्रामाण्यमिति मतं निराकृत्य तत्र तेषां प्रामाण्यं स्थापितम्। इदानीं भावनावाक्यार्थवादी त्र्यंशभावनारूपपुंप्रवृत्तिपर एव सकलोऽपि वेद इत्याशयेन प्रथमं शब्दभावनाया लिङर्थत्वमाशङ्कते—

इस प्रकार शब्दों का कार्यान्वित में व्युत्पत्ति बल से वेदान्त का सिद्ध ब्रह्म में अप्रामाण्य है इस मत का खण्डन करने के बाद अब यहां वेदान्त के मत की प्रामाणिकता स्थापित की जा चुकी है। अब यहां भावना वाक्यार्थवादी सम्पूर्ण वेद तीन अशंपर है भावना, प्रेरित होने वाला पुरुषः, प्ररेक वेद इस आशय से सब से पहिले शब्द भावना को लिङर्थत्वरूप है ऐसी आशंका करते हैं। शाब्दी भावना उसे कहते हैं। तत्र पुरुष प्रवृत्त्यनुकुलो भावयितुर्व्यापार विशेषः शाब्दी भावना।। शब्दी भावना तथा आर्थी भावना इन दोनों में से पुरुष प्रवृत्त्यनुकुल भावयिता के व्यापार विशेष को शाब्दी भावना कहते हैं। वह शाब्दी भावना लिङंश से कही जाती है। (भावना विचारः= उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते। भावनानाम भवितुर्भावनानुकूलो भावयितुर्व्यापार विशेषः सा द्विधा शाब्दी भावना आर्थीभावता चेति।। (अर्थसंग्रहः)

आख्यातत्व और लिङ्त्व दोनों के अंशो से भावना कही जाती है। भावना सामान्य का लक्षण कहते है भवितुः= उत्पद्यमान जो स्वर्गादि उसके उत्पत्यनुकुल कर्ता का (भावयितु का) उत्पत्ति के अनुकुल प्रयोजक का व्यापार विशेष उसे भावना कहते हैं।

जैसे उत्पद्यमान ओदन के उत्पत्त्यनुकुल देवदत्त का व्यापार विशेष को भावना कहेंगे। इसीप्रकार उत्पद्यमान देवदत्त के उत्पत्ति के अनुकुल प्रवर्तक चैत्र का अभिप्राय विशेष उसे

भावना कहेंगे। इसीप्रकार यजेत् स्वर्ग कामः यहां उत्पद्यमान स्वर्गादि जो धात्वर्थ रूप है उसके उत्पत्यनुकुल स्वर्ग कामना करने वाले का व्यापार विशेष उसे भावना कहते है।

इसीलिये आचार्यों ने कहा है धात्वर्थव्यतिरेकेण यद्यप्येषा न लभ्यते।

तथापि सर्वसामान्य रूपेणावगम्यते—

यह भावना दो प्रकार की शब्दी तथा आर्थी भावना।

तत्र पुरुष प्रवृत्त्यनुकुलो भावायितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। साच लिङांशेनोच्यते। लिङे श्रवणेऽयं मां प्रवर्त्तयति, मत्प्रवृत्यनुकूल व्यापारवानिति नियोगेनप्रतीतेः। यद्यस्माच्छब्दान्नियतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्। यथा गामानयास्मिन वाक्ये गो शब्दस्य गोत्वम् शाब्दी भावना। लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की है। सच व्यापार विशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठाऽभिप्रायविशेषः है। वैदिक वाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङ्गादिशब्दनिष्ठ एव।। अतएव शाब्दीभावनेति व्यवह्रियते।।

साच भावनांशत्रयपेक्षते साध्य, साधनमितिकर्तव्यता च।। किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत्।। तत्र साध्याकांक्षायां वक्ष्यमाणअंशत्रयोपेता आर्थी भावाना साध्यत्वेनान्वेति, एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः।। यहां एक प्रत्यय का तात्पर्य लिङ् से है।

आर्थीभावना— प्रयोजनेच्छा जनित क्रिया विषय व्यापार आर्थीभावना। सा आख्यातत्वांशेनोच्यते, आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्।। आर्थीभावनाया आशंत्रयम् तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिकं फलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति। इति कर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्ग जातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति अर्थ स्पष्ट ही है। अर्थ संग्रह)

औदासीन्यप्रच्युतिप्रापकेऽर्थे
लिङ्लोड़ादेर्लोकतो ज्ञातशक्तेः।।
पुंसो वेदे प्रेरकत्वेन कल्प्या
लिङ्लोड़ादेर्भावनैवानृतन्त्रे।।३८६।।

अन्वयः= लोकतः औदासीन्यप्रच्युतिप्रापके अर्थे लिङ्लोडादेः ज्ञातशक्तेः पुंसः अनृतन्त्रे लिङ्लोडादेः भावनैव प्रेरकत्वेन कल्प्या।।३८६।।

अन्वयार्थः= लोक में उदासीनता निवृत्ति प्रवृत्ति के बोधक वाक्यों में लिङ् लोट् आदि प्रत्ययों का

(भावना में) शक्ति ग्रह करने वाले पुरुष के द्वारा अपौरुषेय वेदगत लिङ्गादि की शक्तिभावना में ही कल्पनीयता है।

औदासीन्येति। औदासीन्यस्य प्रवृत्तिप्रागभावस्य प्रच्युतिरभावः प्रवृत्तिरिति यावत्। तस्याः प्रापके निमित्तेऽर्थे प्रेरणायामित्यर्थः। लोकतो लोके पुंस औदासीन्यप्रच्युतिप्रापकेऽर्थे ज्ञात शक्तेर्लिङ्लोड़ादेर्वेदेऽर्थवत्त्वेन लिङ्लोड़ादेर्भावना लिङ्लोड़ादिव्यापाररूपा भावना कल्प्या। कुत इत्यत आह-पुंसः प्रेरकत्वेनेति। लिङ्लोड़ादेरित्यनुषञ्जनीयम्। प्रेरकव्यापारः प्रेरणा वेदे च लिङ्लोड़ादेरेव पुमांसं प्रति प्रेरकत्वात्तद्व्यापार एव भावना तत्र लिङर्थ इत्यर्थः। ननु लोके चेतनानामेव प्रेरकत्वं दृष्टं तत्कथमचेतन लिङादेस्तदिति तत्राह अनृतन्त्र इति। अपौरुषेय इत्यर्थः। मामयं प्रेरयतीति यद्व्यापारं ज्ञात्वा चेतनः प्रवर्त्तते स व्यापारवान् प्रेरकस्तद्व्यापारश्च प्रेरणा स चापौरुषेये वेदे लिंङादिरेव यजेत जुहुयादित्यादितद्व्यापारश्रवणानन्तरमेव पुरुषस्य प्रवृत्तेः स एव प्रवर्त्तक इत्यर्थः।

एकदुक्तं भवति। माणवक! गामानयेत्याचार्यवचः श्रवणानन्तरं प्रवर्त्तमानं माणवकं दृष्ट्वा व्युत्पित्सुरित्थमनुमिनोति विमता प्रवृत्तिः प्रेरणाज्ञानपूर्विका नरान्तरायत्तप्रवृत्तित्वात् मम स्तनार्थिनो रोदनेन प्रेरिताया मातुस्तनदानप्रवृत्तिवदिति। स्वभोजनादिप्रवृत्तिवारणाय नरान्तेति। तत्र चान्वयव्यतिरेकाभ्यां लिङादेः शक्तिं कल्पयतीति तन्न व्युत्पन्नलिङादेर्वेदे तद्व्यापार एव भावना तदर्थः सिद्ध्यतीति।।३८६।।

औदासीन्येति= औदासीन्यस्य प्रवृत्ति के प्राक् अभाव की, प्रच्युतिः- निवृत्ति अर्थात् प्रवृत्ति। अर्थात् औदासीन्य के प्रवृत्ति के प्रागभाव को निवृत्त करके जो चले उसे प्रवृत्ति कहते हैं। तस्या प्रापके—औदासीन्य के प्रागभाव को हटाने के लिये निमित्तरूप से, अर्थात् प्रेरणा रूप से स्वीकृत है। लोकतो- लोक में मनुष्य की औदासीन्यता हटाने के लिये, अर्थ में, ज्ञान शक्ति वाले, लिङ्लोडादिक की वेद में अर्थवत्ता मानी गई है। अर्थात् लिङ् लोडादिक की। भावना लिङ् लोड आदि भावनारूप स्वीकार करनी चाहिये। क्यों ऐसा करें? उत्तर देते हैं पुंसः प्रेरकत्वेन= लिङ् लोडादिक पुरुष के प्रेरक होने से। प्रेरक व्यापार की प्रधानता है। प्रेरणा- वेद में तो लिङ् लोडादिक में पुरुष के प्रेरक होने से। प्रेरक व्यापार भी प्रधानता है, तो वेद का यह जो व्यापार इसे ही भावना कहते हैं, वही लिङर्थ है।

आशंका= लोक में तो चेतन को ही प्रेरक देखा गया है, लेकिन यहां अचेतन लिङ् को कैसे प्रेरकत्व हो सकता है।

समाधान= अनृतन्त्र अपौरुष वेद में यह सम्भव है। जैसे मामयं प्रेरयतीति मुझे यह प्रेरित कर रहा है, ऐसा व्यापार जानकर चेतन प्रवर्तित होता है, तो प्रेरित होने वाला, प्रेरणा देने वाला, तथा मध्य का व्यापार प्रेरणा रूप ये सभी अपौरुषेय वेद के लिङादि में सम्भव है जैसे यजेत्, जहुयात् इत्यादि वेद व्यापार श्रवण करने के बाद पुरुष की प्रवृत्ति होती है, अतः लिङ् लोडादिक ही प्रवर्तक है, यह बात सिद्ध हुई।।

एतदुक्तं भवति= इस पर यह कहा जाता हे माणवक= हे बालक गाय को ले आवो, ऐसे आचार्य वचन सुनने के बाद प्रवृत्त हुये बालक को देखकर शब्द बोध का जिज्ञासु यह अनुमान कर लेता है कि (पक्ष) विमता प्रवृत्ति इस बालक की प्रवृत्ति, साध्य= प्रेरणाज्ञानपूर्विका- प्रेरणाज्ञानपूर्वक है, (हेतु) नरायन्तरायत्तप्रवृत्तित्वात्- अन्यव्यक्ति के अधीन प्रवृत्ति के होने से।। उदाहरण मम स्तनार्थिनो रोदनेन- मेरे स्तनपान करने वाले बालक के रोदन को सुनकर प्रेरित होने वाली मेरी मैय्या जैसी मेरे मुख में स्तन प्रदान के लिये प्रवृत्त होती है इसी प्रकार यह बालक भी आचार्य की आज्ञासुनकर गाय को लाने में प्रवृत्त हो रहा है।

नरान्तरेति- यह विशेषण इसलिये दिया। नहीं तो अपने ही भोजन करने में अपनी खुद की प्रवृत्ति होती है उसका हटाने के लिये- नरान्तरेति- विशेषण का प्रयोग किया। तो इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से लिङादिक में शक्ति की कल्पना की जाती है। ऐसे शक्ति में व्युत्पन्न लिङादि है, वेद में लिङ् का व्यापार ही वेद में भावना रूप है और भावना लिङ् का अर्थ है, यह बात सिद्ध हुई।।

ननु किं लोकेऽपि लिङादिव्यापार एव प्रेरणा नेत्याह-

क्या लोक में भी लिङादि व्यापार को ही प्रेरणारूप माना जाय? नहीं।

आज्ञाद्यर्थः प्रेरकः पौरुषेये
लिङ्लोड़ादेर्भावना वेदवाक्ये।।
पुंसोऽभवात्तद्गताज्ञाद्यभावात्
पुंसंबन्धात्प्रेरकास्ते हि वाक्ये।।३८७।।

अन्वयः= पौरूषेये आज्ञाद्यर्थ प्रेरकः वेदवाक्ये लिङ्लोडादेः भावना, पुंसोऽभावात् तदगताज्ञाद्यभावात्, पुंसम्बद्धे वाक्ये हि ते प्रेरकाः।।३८७।।

अन्वयार्थः पौरूषेय वाक्य में आज्ञादि अर्थ प्रेरक है। वेद वाक्य में लिङ्लोडादि शब्दों की (वाच्य) भावना है, क्योंकि वेद में पुरुष का अभाव होने से पुरुषगत आज्ञादि का अभाव है, पुरुष- सम्बन्धी वाक्य में ही वे (आज्ञादि) प्रेरक हो सकते हैं।।३८७।।

आज्ञाद्यर्थ इति। आदिपदेनाध्यर्थनादिग्रहः, आज्ञादिरूपोऽर्थ इत्यर्थः। प्रेर्यते प्रवर्त्यतेऽनेनेति प्रेरकः प्रेरणा, लौकिकवाक्यस्य पौरुषेयतयाऽऽचार्यादिपुरुषसम्बन्धात्तत्र स एव प्रेरकस्तद्व्यापाररूपाज्ञादिरेव प्रेरणा, पुंप्रवृत्तेस्तत एव सम्भवेन लिङादेस्तत्र प्रेरकत्वायोगा-दित्यर्थः। एवं च तद्द्वैविध्यं सिद्ध्यतीत्याशयेनाह-लिङ्लोडादेरिति। ननूक्तव्यवस्थायां किं नियामकमित्याशङ्क्य तयोः सम्भवासम्भवावेव व्यवस्थापकावित्याशयेनाह— पुंसोऽभावादिति। अभावादिति छेदः। तद्गतेति। वेदगतेत्यर्थः। ते पुमांसः आज्ञादयो वा। तथा च न लिङादेः प्रेरणा तत्रास्तीति भावः। एवं च प्रेरणात्मनि लिङादिशक्तेर्लोकवेदयोः समत्वात्र कार्यवादिन इव भावनावादिनो वैयधिकरण्यादिवैषम्यमिति भावः।।३८७।।

आज्ञाद्यर्थ= आदिपद से विधि पद ये अध्यर्थनादिक संग्रह अभीष्ट है (निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधिष्ठान)। प्रेरकः= जिसके द्वारा प्रवृत्त होता है उसे प्रेरणा कहते हैं। लौकिक वाक्य में तो पौरुषेय होने से आचार्यादि पुरुष के सम्बन्ध से लौकिक वाक्य युक्त है, तो आचार्यादि से वाक्य का जो सम्बन्च है वही प्रेरक मान लेंगे तथा पुरुष का जो व्यापार है वही अज्ञादिरूप प्रेरणा मान लेने से मनुष्य की प्रवृत्ति वहां संभव है वहा लिङादिक को प्रेरक मानना उचित नहीं है। इस प्रकार प्रेरकत्व दो प्रकार से संपन्न होता है। लिङ् लोडोदेरिति= लिङ् और लोट रूप दो प्रकार से प्रेरकत्व संपन्न होता है। तो वेद में इन दोनों को प्रेरक मानना पडता है।

आशंका= लोक में व्यवस्था अलग है तो वेद में लिङ् लोडादिक के द्वारा वेद में व्यवस्था संपन्न हो रही है। और लोक में नहीं इसमें क्या नियामक है।

समाधान= वेद में लिङ्लोडादिक का सम्भव होने से उनको वेद में प्रेरक मानना पडता है। लोके में वाक्य पौरुषेय होने से लिङ् लोडादिक को वहां प्रेरक नहीं मानते। यही नियामक है। इसलिये कहा पुंसोऽभावादिति= वेद में पुरुष न होने। पुंसोऽभावादिति। अभवादिति छेदः— वेद में पुरुष का अभाव है ऐसा छेदकर लेना चाहिये।

तद्गतेति= वेदगत। तो लोक में पुरुष अथवा यज्ञादिक की प्रेरणा ही पर्याप्त है। लेकिन लोक में लिङादिक की प्रेरणा नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार प्रेरणा के विषय में लिङ् लोडादिक की शक्ति लोक और वेद में समान समान होने पर भी कार्यवादी तथा भावनावादी दोनों में विषमता है। विषमता यह है कि कार्यवादी, लोक और वेद में लिङ् के शक्ति को प्रेरक मानते हैं। लोक में धात्वर्थ ही कर्म बनता है। लेकिन वेद में धात्वर्थेतर अपूर्व को कार्य स्वीकार करना पडता है। अतः कार्यवादि प्राभाकर मत में वैय्यधिकरण्य

है, लेकिन भावनावादि भट्टमत में लिङादि शक्ति प्रवर्त्तकत्व रूप से लोक वेद में दोनों में समानता होने से वैय्यधिकरण्य नहीं है। अतः कार्यवादिमत की अपेक्षा भावनावादिमत श्रेष्ठ है।

भावनावादिभट्ट लोक तथा वेद में लिङ् शक्ति को (भावना को) प्रेरक मानते हैं। और कार्यवादी प्राभाकार लोक में पुरुष सम्बन्ध को और वेद में अपूर्व को प्रेरक मानते हैं। यही दोनों में विषमता है।

ननु भावनायाश्चेतनव्यापारत्वेन प्रसिद्धत्वात्कथं लिङ्लोड़ादेर्व्यापारो भावनेत्याशङ्क्य सत्यम्, अर्थभावना तथैव, शब्दभावना तु ततो विलक्षणा ततस्तत्र भावकादिवैलक्षण्यं युज्यत इत्याशयेन तस्या भाव्यं चाह–

आशंका= भावाना तो चेतन का व्यापार स्वरूप प्रसिद्ध होने से फिर कैसे यह कह दिया कि लिङ् लोड़ादिक का व्यापार भावना है।

समाधान= अर्थ भावना के विषय में तो आपकी शंका ठीक ही है। आर्थीभावना उसे कहते हैं– प्रयोजनेच्छाजनितक्रिया विषय व्यापार को आर्थीभावना कहते हैं। प्रयोजन हुवा स्वर्गादि, ऐसे फल की इच्छा राग विशेष हुवा। यह फल मुझे प्राप्त हो जाय। इस राग विशेष से जनित यागादि क्रिया विषयक पुरुष का व्यापार विशेष इसे आर्थी भावना कहते हैं। तो यह आर्थी भावना चेतन का व्यापार स्वरूप ही मानी जाती है। लेकिन शाब्दी भावना तो "तत्र पुरुष प्रवृत्त्यनुकुलो भावयितुर्व्यापार विशेषः" शाब्दी भावना कहते हैं पुरुष प्रवृत्यात्मक अर्थीभावना उत्पत्तिके अनुकुल लिङादि शब्द का व्यापार विशेष उसे शाब्दीभावना कहते हैं। तो शाब्दी भावना आर्थीभावना से विलक्षण है, दोनों भावनाओं के भावक विलक्षण हैं। तो अब दोनों के भाव्य भी बता रहे हैं–

लिङ्लोड़ादिर्भावकस्तत्र भाव्या-
नुष्ठेयेऽर्थे पुंप्रवृत्तिः प्रसिद्धा।।
लिङ्लोड़ादेः पुंप्रवृत्त्यंशनिष्ठो
व्यापारो यस्तं विदुर्भावनेति।।३८८।।

अन्वयः= तत्र लिङ्लोड़ादिः भावकः, अनुष्ठेये अर्थे पुम्प्रवृत्तिः भाव्या प्रसिद्धा। यः पुम्प्रवृत्त्यंशनिष्ठः लिङ्लोडादेः व्यापारः तं भावनेति विदुः।

अन्वयार्थः= वहाँ लिङादि भावक है, और यागादिरूप अनुष्ठेय अर्थ में पुरुष प्रवृत्ति भाव्य रूप

से प्रसिद्ध है। जो पुरुष प्रवृत्ति विषयक लिङादि का व्यापार है उसे भावना कहते हैं।

लिङ्लोड़ादिरिति। भावको भावनाश्रयस्तत्कर्तेति यावत्। तत्र शब्दभावनायां भाव्या साध्या अनुष्ठेये कृतिसाध्ये अर्थे धात्वर्थे पुंप्रवृत्तिः अर्थभावनारूपा पुरुषप्रवृत्तिः सप्तम्यौ च समानाधिकरणे विषयत्वार्थे। यद्यपि धात्वर्थोऽर्थभावनाया न भाव्यः किं तु करणं तथापि तत्साध्य एव स भाव्यावच्छिन्नायां व्यापाररूपायां तस्यां करणतयाऽन्वेतीति तस्य तत्साध्यत्वानपायादर्थे पुंप्रवृत्तिरित्युक्तम्। प्रसिद्धा धात्वर्थनिष्पत्तिबलात्सिद्धा। तथा च धात्वर्थातिरिक्तार्थभावना नेति शङ्का न कार्येत्यर्थः। ननु क्लेशात्मिकायाः प्रवृत्तेर्भाव्यत्वायोगात्स्वर्गादिरेव भाव्यो वाच्यः स चार्थभावनाया एव भाव्यो न शब्दभावनाया अपीत्याशङ्क्याह लिङ् लोड़ादेरिति। पुंप्रवृत्तिरूपो यो भाव्योंऽशस्तन्निष्ठस्तत्पर्यवसायी, प्रेरणारूपस्य लिङादेर्व्यापारस्य प्रेर्यप्रवृत्तिरूपा सैव भाव्यत्वयोग्येति तन्निष्ठैव शब्दभावनेति भवनावादिनो भन्यन्त इत्यर्थः।।३८८।।

लिङ्लोड़ादिरिति= भावक, भावनाश्रय, तथा भावनाका कर्त्ता तत्र= शाब्दीभावना में, भाव्या= साध्या है, अनुष्ठेये= कृतिसाध्यरूप में, अर्थे= धात्वर्थ में, पुंप्रवृत्तिः= अर्थभावना रूप पुरुषप्रवृत्तिः पुरुषनिष्ठसंभावना को आर्थी भावना कहते हैं। अनुष्ठेये- यहां (अनुष्ठेये तथा धात्वर्थे में) सप्तमी विभक्ति का प्रयोग इस लिये किया है। कि धात्वर्थ विषय रूप अधिकरण समान है, धात्वर्थत्व भी यज्ञ में रहा और पुरुष प्रवृत्ति भी उसी यज्ञ में रही। यद्यपि धात्वर्थ यागादि आर्थी भावना का (भाव्य) साध्यरूप नहीं हो सकता ही यागादि धात्वर्थ रूप तो पुरूष प्रवृत्ति रूप अर्थभावना की करण हो सकती है तथापि तत्साध्य एति- यह धात्वर्थ यागादि अर्थभावना का साध्य रूप ही है क्योंकि भाव्य (यागादि) से अवच्छिन्न स्वर्गादि जनक जो व्यापार प्रयोग करने से वह भाव्य यागादि जन्य व्यापार स्वर्गाद्यनुकुलव्यापार रूप हो जाता है उसके प्रति धात्वर्थ में कारणता भी अन्वित हो जाती हैं तो उसमें धात्वर्थ करण रूप से आर्थी भावना में अन्वित हो जाता है। इस न्यास से यागादि में आर्थी भावना में साध्यत्व भी रक्षित हुवा। अतः लिखा है पुंप्रवृत्यंशनिष्ठो- अब धात्वर्थ धातु का साध्यत्वरूप अर्थभावना में निरपवाद हो जाने से ऐसें यागादि अर्थ में पुरुषप्रवृत्ति हो जाती है, यह कहा। प्रसिद्धा= यह सब धात्वर्थ निष्पत्ति बल से सिद्ध हुवा कि इससे यह सिद्ध हुवा कि धात्वर्थ से अतिरिक्त अर्थ भावना नहीं है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये। अर्थात् धात्वर्थ से अतिरिक्त अर्थ भावना है यह सिद्ध हुआ।

आशंका= क्लेशात्मिका प्रवृत्ति को भाव्यत्व नहीं मानना चाहिये। किन्तु स्वर्गादि भाव्य रूप से (साध्य रूप से) स्वीकृत कर लेना चाहिये। उस स्वर्गादिक की सिद्धि तो अर्थ

भावाना से ही साध्य रूप से (भाव्य रूप से) सिद्ध हो जाती है, इसके लिये शब्द भावना की आवश्यकता नहीं है। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं लिङ्लोडादेः मनुष्य की (पुरुष की) प्रवृत्ति रूप जो (भाव्य अंश) साध्य अंश, ऐसे प्रवृत्ति पर्यवसायी प्रेरणा रूप का लिङादि का व्यापार की प्रेर्य हुई प्रवृत्ति, वही प्रवृत्ति भावत्व योग्य होने से वही शब्दीभावना रूप है, ऐसे भावनावादि कहते हैं।

ननु शब्दभावनाया अपि भावनात्वात्त्र्यंशत्वं वाच्यं तत्र प्रवृत्तिर्यद्यपि प्रथमांशः सिद्धस्तथापि तत्करणमितिकर्तव्यता च न सिद्धे, तत्र न तावच्छब्दः करणं तस्य तत्कर्तृत्वात् न च तदतिरिक्तं किंचित्करणमस्ति, नापि प्रयाजादिरिव तदितिकर्तव्यता काचिदनुभूयते इत्याशङ्क्य तदुभयमाह—

आशका= शब्दभावना को भावनारूप मान लेने से उसमें भी तीन अंश कहने पड़ेंगे। इसमें प्रवृत्ति तो पहिला अंश है वह तो सिद्ध ही है। तथापि उस प्रवृत्ति का करण तथा इति कर्तव्यता अभी तक सिद्ध नहीं है। और न तो इसमें करण शब्द ही है जिससे करण के कर्त्ता के द्वारा करण की सिद्धि हो सकें। और नहीं शब्द से अतिरिक्त कोई करण भी है, तो करण भाग की सिद्धि नही हो पायेगी। इसी प्रकार से इतिकर्तव्यता की पूर्ति भी नहीं हो सकेगी। क्योंकि जैसे "स्वर्गकामो यजेत्" तो यहां आकांक्षा होती है "कथं यजेत्" तो उत्तर देते हैं प्रयाजादिना यजेत्। तो इस प्रकार से इतिकर्तव्यता की पूर्त्ति करने के लिये प्रयाजादिक के समान किसी का अनुभव नहीं होने से इति कर्तव्यता की भी पूर्ति नहीं हो सकती। समाधान देते हैं कि इसमें दोनों ही है करण तथा इतिकर्तव्यता।।

करणमिह लिङादेर्ज्ञानमेवाङ्गभागः
पुनरभिरुचिहेतुर्दृश्यते च प्रशंसा।।
विधिरयमिह तन्त्रे जैमिनीये न कार्यं
न च भवति विधिर्नः श्रेयसो हेतुरर्थः।।३८६।।

अन्वय=इहं करणं लिङादेः ज्ञानमेव, अङ्गभागः पुनः अभिरूचिहेतुः प्रशंसा च दृश्यते। अयं इह जैमिनीये तंत्रे विधिः, न कार्यं न च श्रेयसी हेतुः अर्थः नः विधिः भवति।।

अन्वयार्थः= इस शब्द भावता में करण लिङादि का ज्ञान ही होता है और इति कर्तत्प रूप अङ्ग यागादि में विशेष रूचि पैदा करने वाली प्रशंसा मात्र है। यही भावना जैमिनी को अभिमंत विधि है। न तो नियोग (कार्य) विधि है और न तो श्रेयः साधन हमारे मत से विधि है।।।३८६।।

करणमिति। इह शब्दभावनायाम्। लिङादेस्तस्यां गृहीतसंगतिकलिङादेः। अङ्गभाग

इतिकर्तव्यता। अभिरुचिहेतुः धात्वर्थानुष्ठानेच्छाहेतुः। प्रशंसा स्तुतिस्तज्ज्ञानमिति यावत्। शब्दभावनाया वाचकत्वेन लिङादिज्ञानानन्तरमेव तच्छ्राविणां प्रवृत्तिदर्शनेन तद्धेतुतया कल्प्यशब्दभावनाया अपि तदनीमेव भावातज्ज्ञानं तत्करणम्। एवमर्थवादार्पितधात्वर्थप्राशस्त्यज्ञानं तत्र रुच्युत्पादनद्वारा शब्दभावनासाध्यप्रवृत्तौ साहाय्यमाचरतीति तत्रेतिकर्तव्यतेति सा त्र्यंशा सिद्धेत्यर्थः। ननु भवतु शब्दभावनाया एवं त्र्यंशता भावनाज्ञानं कुतो भवेत्, लिङादिनैवेत्याह-विधिरिति। प्रवर्त्तकलिङाद्यर्थ इत्यर्थः। अयं भावनारूपः शब्दव्यापारः। तन्त्रे शास्त्रे। नन्वलौकिकजातीयेन किं तेन लोकप्रसिद्धजातीयस्य कार्यस्य श्रेयःसाधनत्वस्य वा लिङाद्यर्थत्वमस्त्वित्याशङ्क्य तस्यापि प्रवर्त्तकव्यापारतया लोकप्रसिद्धजातीयत्वात् परमते चातिप्रसङ्गान्नेत्याह—न कार्यमित्यादिना। नोऽस्माकं जैमिनीयानां न कार्यं विधिर्लिङाद्यर्थः, यागाद्यर्थोऽपि श्रेयः साधनत्वेन न विधिरित्यर्थः।।३८६।।

करणमिति= इह= शब्द भावना में। लिङादेः= शब्द भावना में संगति गृहीत है। लिङादिकों का ज्ञान ही गृहीत है। अङ्गभाग= इतिकर्तव्य भाग। अभिरूचिहेतुः= धात्वर्थ अनुठान इच्छा का हेतु। प्रशंसा= स्तुतिः, धात्वर्थ का ज्ञान। शब्दभावना वाचक होने से लिङादिज्ञान के बाद ही लिङादिश्रवण से कर्तापुरूष की प्रवृति देखने में आती है। ऐसे प्रवृत्ति का हेतु शब्दभावना का भी उसी समय प्रादुर्भाव होता है। इसलिये शब्द भावना प्रवृत्ति का कारण है यह बात सिद्ध हुई। अब रह गई इतिकर्तव्यता की बात— इसी प्रकार से अर्थ वाद द्वारा समर्पित धात्वर्थ की प्रशंसारूप ज्ञान जो धात्वर्थ में रुचि को उत्पन्न कराता है। तथा जो शब्द भावना साध्य प्रवृत्ति में सहायता करता है तो जैसे ज्योतिष्टोम में प्रयाजादि इति कर्तव्यता रूप है, इसीप्रकार से अर्थवाद द्वारा समर्पित धात्वर्थ प्राशस्त्य ज्ञान शब्द भावना प्रवृत्ति में सहायक हो जाता है। इस प्रकार शब्द भावना में तीनो अंश आ गये हैं।

आशंका— शब्द भावना में तीनों अंश रहने पर भी शब्दी भावना ज्ञान शब्द भावना से कैसे हो पायेगा। क्योंकि भावना ज्ञान तो लिङादिक से ही होती है, इस बात का उल्लेख करते हैं। विधिरिति- विधि उसे कहते है जो प्रवर्तक लिङादि का अर्थ है। और प्रवर्तक लिङाद्यर्थ भावनारूप शब्दव्यापार ही है। ऐसे। तन्त्रे= शास्त्र में जैमिनीय शास्त्र में निरूपित किया है।

आशंका= अलौकिक जाति से (वैदिक प्रकार से) ऐसा बोलने से क्या फायदा है। लोक प्रसिद्ध जातीय कार्य का अथवा स्वर्गादि श्रेयसाधनत्व का (यागाहि) लिङाद्यर्थत्व

मान लीजिये। ऐसी आशंका होने पर समाधान देते हैं।

समाधान लोक प्रसिद्ध जातीय कार्य को अथवा श्रेष्ट साधनत्व को दोनों के प्रवर्तक पुरुष के व्यापार स्वरूप होने से लोक प्रसिद्ध जातीय परक हो जाने से परमत में अतिप्रसङ्ग हो जाने से कहा कि, न कार्यमिति= हमारे वेदान्त मत से तथा जैमिनि के मत से विधिलिङाद्यर्थ कार्य नहीं है और न ही किसी श्रेयः साधनत्वेन रूपेण यागादि स्वरूप ही है। इसलिये विधि के अधीन शाब्दी भावना उत्पन्न होती है, यह बात संगत नहीं है, किन्तु तीन अंश वाली शब्द भावना से ही भावना का ज्ञान उत्पन्न होता है।

नन्वस्या भावनायाः प्रत्ययार्थत्वेन प्राधान्यं वाच्यम्, एवमर्थभावनाया अपि तद्भाव्यतया प्राधान्यमिति कथं प्रधानद्वयमेकवाक्यार्थः स्यादिति तत्राह–

आशंका= भावना तो प्रत्ययार्थ रूप होने से उसकी प्रधानता होगी। इसी प्रकार से अर्थ भावना की उक्त भावना भी शाब्दीभावना की भाव्य (साध्य) होने से प्रधान होगी। तो एक ही वाक्यार्थ में दो प्रधानताओं का समावेश होने लगेगा। इस पर उत्तर देते हैं–

विधिरिह गुणभूतः प्रत्ययार्थोऽपि नित्यं
भवति च पुरुषोत्था भावनाऽस्य प्रधानम्।
भवति दशलकारप्रत्ययैः साऽभिधेया
विधिविहितलकारैर्भावना शब्दहेतुः।।३६०।।

अन्वयः= इहं प्रत्ययार्थोऽपि विधिः नित्यं गुणभूतः यस्य प्रधानं च पुरुषोत्था भावना भवति सा दशलकारप्रत्ययैः शब्दहेतुः भावना विधिविहितलकारै अभिधेया भवति।।

अन्वयार्थ= यह (इस शास्त्र में) प्रत्यय का अर्थ होने पर भी विधि (शब्दीभवना) नित्य गुण भूत और इसकी प्रधान पुरूषगत (आर्थी) भावना यह आर्थी भावना दशलकार रूप से तथा शब्द व्यापार रूप (शाब्दी) भावना विधि विहित (लिङादि) लकारों से द्योतित होती है।

विधिरिति। इहास्मिन्तन्त्रे प्रत्ययार्थोऽपि लिङाद्यर्थोऽपि विधिः शब्दभावनारूपो गुणभूत एव न प्रधानमित्यर्थः। नित्यं शब्दात्प्रतीतिकालेऽर्थभावनानिष्पादनकाले च, चोऽवधारणे, पुरुषोत्था पुरुषजन्या तद्व्यापाररूपा भावना अर्थभावनैव अस्य विधेरभिधारूपस्य प्रधानम्। यद्यपि शब्दभावना प्रत्ययाभिघेया यद्यपि चान्यः प्रत्ययार्थः प्रधानं, तथापि प्रत्ययार्थतया पुरुषार्थभाव्यकतया च प्रधानीभूतार्थभावनां प्रति भावनालिङर्थवादे विधिप्रत्ययार्थो निर्वर्त्तकतयाऽपुरुषार्थभाव्यतया च गुणभूत एव ततश्च न प्रधानद्वयप्रयुक्तो दोष इत्यर्थः।

ननु प्रत्ययस्य शब्दभावनार्थत्वात्कथमर्थभावनार्थत्वमपि, अनिमित्तानेकार्थताया अन्याय्यत्वादित्याशङ्क्याह— भवतीति। लड़ादिदशलकारप्रत्ययैस्तत्स्थानविहिततिवादिभिः साऽर्थभावनाऽभिधेया भवति, विधिविहितलिङ्लोलेभिः शब्द हेतुः शब्दकर्तृका भावना अभिधेया भावतीत्यनुषङ्गः। ओदनं पचतीत्यादिलड़ादिप्रयोगेऽप्योदनपाकं करोतीत्येवं कृतिप्रतीतेः केवलधातुप्रयोगे च तदभावादित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां लड़ादिदशलकाराणामाख्यातत्वसामान्येन तत्र शक्तिर्निश्चीयते। "लः कर्मणि च" इति सूत्रसामर्थ्यादपि तन्निश्चीयते। लिङादीनां तु तिङ्त्वसामान्येन प्रयत्नवाचिनामपि विधिनिमन्त्रणादिसूत्रेण विध्यर्थे पुनर्विधानाल्लिङ्त्वाद्याकारेण तदर्थत्वमविरुद्धम्। दृश्यते ह्येकस्यापि दीपस्य तेजस्त्वदहनत्वरूपभेदेन तमोऽपहतिपाकनिर्वर्त्तकत्वं, तद्वल्लिङादेरप्युभयार्थत्वमिति भावः।।३६०।।

विधिरिति= हमारे वेदान्तशास्त्र में तो प्रत्ययार्थ भी और लिङाद्यर्थ भी विधिरूप शब्द भावना रूप गुणभूत ही माने जाते हैं न कि प्रधानरूप। नित्यं= शब्द के प्रतीतिकाल से तथा आर्थी भावना के निष्पादन काल में दोनों में, च= निश्चित रूप से, पुरुषोत्था= पुरुष से जन्य, पुरुषव्यापार रूप भावना (अर्थ भावना) अस्य= विधि के अभिधा रूप से प्रधान है। यद्यपि शब्द भावना प्रत्यय से अभिधेय है और अन्य अर्थ भावना (शब्द भावना के बिना) प्रत्ययार्थ प्रधान हैं तथापि प्रत्ययार्थ कि दृष्टि से तथा पुरुषार्थ के साध्य के दृष्टि से अर्थभावना प्रधानभूत होगी इसके प्रति भावना, लिङ्, अर्थवाद में विधि प्रत्ययार्थ निर्वर्त्तक (यह सहयोगी) होने से पुरुषार्थ परक नहीं मानी जायेगी, अर्थात् जो पुरुषार्थ का साध्य या भाव्य न होने से शब्द भावना गुणभूत ही मानी जायेगी। इस कारण प्रधान द्वय की दोष की प्रसक्ति नहीं हो पायेगी।

आशंका= प्रत्यय तो शब्द भावना को उत्पन्न करता है फिर कैसे वह अर्थभावना को भी उत्पन्न करेगा। अनिमित्तानेकार्थताया अन्याय्यत्वादित= अनिमित्तक अनेकार्थत्व अन्याय्य है।

समाधान= भवतीति= लडादिदशलकारप्रत्ययों से तत्स्थान विहित तिब् (औट् शस्तस् से) आदि से वह अर्थ भावना अभिधेय होती है। इसीप्रकार विधि विहित लिङ् लोङ् से, शब्द हेतुः= शब्द के द्वारा, भावना= शब्द भावना अभिधेय होती है। तो प्रत्यय से दोनों शब्दभावना तथा अर्थ भावना दोनों ही उत्पन्न हुये। (तिबादि आख्यात तथा लिङ्गादि- साध ारण है) ओदनं पचतीति= चावल पक रहा है, ऐसा लट् का प्रयोग किया इससे भी ओदन पाक हो रहा है, ऐसी कृति की प्रतीति होती है। और ओदन शब्द न बोलकर "पच" ऐसा केवल धातु प्रयोग किया तब ओदन भी पक रहा है। ओदनपाकं करोति ऐसा

बोध नहीं होगा। तो लडादि के अन्वय और व्यतिरेक से दशलकार से आख्यातत्व सामान्य से ऐसे प्रयोग में शक्ति का निश्चय किया जाता है लः कर्मणि च इस सूत्र सामर्थ्य से आख्यात में शक्ति का निश्चय किया जाता है। रह गई लिङादिक की बात तो उसमें आख्यातत्त्वसामान्य से प्रयत्नवाचक उनके होने पर भी विधि निमन्त्रणादि सूत्र से विध्यर्थ में पुनः लिङादिक का विधान किया गया है। तो पहिले आख्यातत्त्वसामान्यरूप से अर्थ का प्रतिपादन हुवा बाद में लिङत्त्वाद्याकारेण अर्थ का प्रतिपादन हो जाता है। दोनों में कोई विरोध नहीं होता है। एक ही दीप के अन्दर तेजस्त्व और दाहकत्व दोनों रूप होने से तमोऽपहति= अन्धःकार को हटाना तथा (पाक निर्वर्तकत्व) अन्न को पकाना दोनों सम्भव होते हैं इसी प्रकार लिङ् में दोनों ही सम्भव हो जाते हैं। आख्यातत्त्व तथा लिङ्त्व दोनों भी है। (आख्यातत्त्वेन पुरुष प्रवृत्ति आर्थीभावना तथा लिङ्त्वेन प्रेरणात्मक शाब्दीभावना आ गई।)

इदानीमर्थभावनायाः पुरुषार्थभाव्यकत्वमाह—

अब इससमय अर्थभावना को पुरुषार्थ भाव्यत्व पुरुषार्थसाध्यत्व बता रहे हैं—

भवति च पुरुषार्थकर्मिकेयं
पुरुषनिमित्तकभावना, न तद्वत्।।
भवति तु विधिशब्दकर्तृकाऽन्या
न हि निरवद्यपुमर्थता प्रवृत्तेः।।३६१।।

अन्वयः= इयं च पुरुषनिमित्तकभावना पुरुषार्थकर्मिका भवति। विधिशब्दकर्तृका अन्या तु तद्वत् न भवति। प्रवृत्तेः निरवद्यपुमर्थता न हि।।३६१।।

अन्वयार्थ= यह पुरुषनिमित्तक (आर्थी) भावना ही पुरुषार्थकर्मिका (स्वर्गादिपुरुषार्थकर्म साध्या है।) ऐसी यह भावना होती है। विधि शब्द निमित्तक दूसरी जो (शाब्दीभावना) है वह तो वैसी नहीं होती है। (उसकी साध्य तो पुरुष प्रवृत्ति ही होती है) पुरुष प्रव्ति को अनौपाधिक पुरुषार्थ नहीं माना जाना।।३६१।।

भवति च पुरुषार्थेति। पुरुषेण अभिलषितोऽर्थः स्वर्गादिः कर्म भाव्यं यस्याः सा तथा। पुरुषो निमित्तं कर्ता यस्या भावनायाः सा पुरुषनिमित्तकभावना। भवति चेति चकारेण प्रसङ्गात्तत्र यागादिधात्वर्थः करणं प्रयाजादि चेतिकर्त्तव्यतेति दर्शितम्। अथ भावनाया हि समानपदोपात्तमपि यागादिधात्वर्थं स्वतोऽपुरुषार्थं विहाय भिन्नपदोपात्तमपि स्वतःपुरुषेणाभिलषितं स्वर्गाद्येव भव्यं कल्प्यते अन्यथा विधेः प्रेरकत्वानुपत्तेरिति सा पुरुषार्थभाव्यनिष्ठैव। एवं समानपदोपात्तो यागादिर्व्यापाररूपायां तस्यां योग्यतया करणत्वेनान्वेति। प्रकरणपाठात्

प्रयाजादिरितिकर्त्तव्यतयेति त्र्यंशा सेति भावः। शब्दभावना तु न पुरुषार्थभाव्येत्युपसंहरन्नाह न तद्वदित्यादिना। अन्या शब्द भावना। विधिशब्दकर्तृका लिङादिशब्दव्यापारात्मिका। ननु शब्दभावनाया अपि परम्परा पुरुषार्थनिष्ठत्वमस्तीत्याशङ्क्य प्रवृत्तेः प्रेरणारूपायास्तस्याः प्रेर्यव्यापारमात्रे पर्यवसानादिति प्रागुक्तमर्थं स्मारयति– न हि निरवद्येति।।३६१।।

भवति च पुरुषार्थेति= पुरुष के द्वारा अभिलषित अर्थ स्वर्गादि। कर्म=भाव्य कर्म से (भाव्य) साध्य है ऐसी जो भावना पुरुष है निमित्त अर्थात् कर्ता ऐसी जो भावना उसे कहते हैं पुरुषनिमितक भावना। भवति चेति= चकार से प्रसङ्गानुसार यागादि धात्वर्थ है, उसका करण प्रयाजादि है। चेति- शब्द से इति कर्तव्यता का बोध किया।

तो अर्थीभावना समान पद से युक्त होने पर भी स्वर्ग कामो यजेत् इत्यादि प्रयोग में यागादि धात्वर्थ को स्वतः अपुरुषार्थ का परित्याग करके भिन्न पद से उपात्तं आख्यातत्व से अथवा लिङ्त्व से युक्त स्वतः पुरुष से अभिलषित स्वर्गादि ही भाव्य है ऐसी कल्पना करता है यदि। ऐसा न मानें तो विधि को प्रेरकत्व नहीं आयेगा। अतः अर्थीभावना पुरुषार्थ भाव्य निष्ठा ही है। इस प्रकार "यजेत्" समान पदोपात्त यागादि जो व्यापार रूप होने से भावना के अन्दर करणत्वेन रूप से अन्वित होते हैं। प्रकरण समान होने से तो जैसे स्वर्ग कामो यजेत् में प्रयाजादि इति कर्तव्यता रूप से अन्वित होते हैं इसी प्रकार से प्रकरण परकादि प्रयाजादि इति कर्तव्यता रूप से साध्य, साधन इति कर्तव्यता रूप से युक्त हो जाते हैं। समान रूप से होने से प्रयाजादि इति कर्तव्यता के रूप से आर्थी भावना में अन्वित होते हैं।

लेकिन शब्द भावना तो पुरुषार्थ भाव्य रूप से नहीं हो सकती ऐसा उपसंहार कर रहे हैं– न तद्वदित्यादिना अन्या- शब्द भावना। विधि शब्द कर्तृका लिङादि शब्द व्यापारात्मिका।

आशंका= शब्द भावना को भी परम्परा से पुरुषार्थ निष्ठत्व माना जाय

समधान= प्रवृत्ति प्रेरणा रूप होने से उसका तात्पर्य प्रेर्य व्यापार में ही पर्यवसान होता है, जो कि पहिले अर्थ का ही स्मरण किया करेगी।

न हि निष्पद्येति= नूतन अर्थ का स्मरण नहीं दिलायेगी। इसलिये शब्दीभावना को परम्परा से भी पुरुषार्थ निष्ठत्व नहीं माना जायेगा। अर्थी भावना में ही यह सम्भव है।

भावनयोरुक्तमेव भाव्यवैलक्षण्यं विशदयति–

इन दोनों भावनाओं के भाव्यवैलक्षण्य को स्पष्ट कर रहे हैं–

अभिमतपशुपुत्रवृष्टिनाक-
प्रभृतिकभाव्यगता हि भावनेयम्।।
अनभिमतसुदुष्करातिदुःखां
नयति तु भाव्यपदं प्रवृत्तिमन्या।।३६२।।

अन्वयः= इयं हि भावना अभिमतपशुपुत्रवृष्टिनाकः प्रभृतिकभाव्यगता। अन्या तु अनभिमत दुष्करातिदुःखां प्रवृत्तिं भाव्यपदं नयति।।

अन्वयार्थः= यह आर्थी भावना पुरुषाभीष्ट पशु, पुत्र, वृष्टि स्वर्गादि पदार्थों को भाव्य बनाती है। किन्तु शाब्दीभावना तो अनमिमत, सुदुष्कर अतिकष्टरूप पुरुष प्रवृत्ति को अपना भाव्य बनाती है।

अभिमतेति। नाकः स्वर्गः। प्रभृतिशब्देन ग्रामादि गृह्यते। अभिमतपश्वादिभाव्य-निष्ठेयमर्थभावनेत्यर्थः। अनभिमता स्वतोऽनभिलषिता सुदुष्करा बह्वन्तराया एवंभूता चासावति-दुःखा अत्यन्तं दुःखमिश्रिता तां प्रवृत्तिमिति सम्बन्धः। भाव्यपदं- भाव्यस्थानम्। अन्या-शब्दभावना अनभिमतत्वादिविशिष्टां प्रवृत्तिं स्वभाव्यत्वेन कल्पयतीत्यर्थः।।३६२।।

अभिमतेति= नाकः= स्वर्ग आदि। प्रभृति शब्द से ग्रामादि का ग्रहण किया जा सकता है। अभिमत पश्वादि है पुत्र वृष्टि भाव्यनिष्ठ यह अर्थभावना होती है। अनभिमता स्वतः जो अभिलषत नहीं है, सुदुष्करा= जिसमें अनेक संकट ही संकट है, इसप्रकार की तथा अति दुःखां- अत्यन्त दुःख से निश्रित ऐसे वृत्ति से सम्बन्घ है। भाव्यपदम्= भाव्य स्थान है। अन्या= शब्दभावना ऐसी यह शब्द भावना अनभिमतादिविशिष्ट प्रवृत्ति को स्वभाव्यत्वेन रूपेण भाव्य बनाती है। कल्पित करती है। यही दोनों भावनाओं में आर्थीभावना तथा शाब्दीभावना में अन्तर है। भाव्य में अन्तर है।

नन्वभिहितान्वयवादे यागभावनयोर्भावनयोर्वा कथमुक्तान्वयबोधः स्यान्न हि यागो भावनं च पृथक्पृथगभिहिताः येनाकाङ्क्षाद्यनुरोधेन पश्चादन्वयबोधो भवेदित्याशङ्क्याह—

आशंका= अभिहितान्वयवाद में याग और भावना का, अथवा शाब्दीभावना तथा आर्थीभावना दोनों भावनाओं का अनभिमत भाव्यत्व, अभिमत भाव्यत्व रूप अन्वय कैसे सम्भव होगा? इसी प्रकार से याग और भावना का भी अन्वय बोध सम्भव नहीं होगा। क्योंकि याग और भावना यदि पृथक् पृथक् रूप से अभिहित है तो उनका अन्वय होने के लिये ऐसी कोई अकाङ्क्षा आदि न होने से अन्वय सम्पन्न नहीं हो सकता। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं—

प्रत्ययप्रकृतिशब्दतो बहि-
विंद्यतेऽभिहितसङ्गतिश्च नः।।
प्रत्ययप्रकृतिशब्दयोः पुन-
र्नित्यमन्वितधियो निमित्तता।।३६३।।

अन्वयः= न अभिहितसङ्गतिः च प्रत्ययप्रकृतिशब्दतो बहिः विद्यते। प्रत्ययप्रकृतिशब्दयोः पुनः नित्यं अन्वितधियोः निमित्तता।

अन्वयार्थः भाट्टमत में अभिहितान्वय बोध प्रकृति प्रत्यय शब्दों से अतिरिक्त (शब्दों में) ही होता है। प्रकृति प्रत्यय शब्दों में जो नित्य अन्वित ज्ञान की निमित्तता मानी जाती है।

प्रत्ययप्रकृतिशब्दत इति। प्रत्ययो लिङ्लोड़ादिः, प्रकृतिर्धातुः प्रकृतिप्रत्ययशब्दाभ्यां बहिरन्यत्रैव, चोऽवधारणे, अभिहितसङ्गतिः अभिहितयोः सम्बन्धः। नोऽस्माकं भट्टानां मते प्रकृतिप्रत्ययातिरिक्तयोर्यजेत स्वर्गकामपदयोर्गवादिनयनादिपदयोश्च परस्परनैरपेक्ष्येणोपस्थित-योस्तथैव स्वस्वार्थाभिधानसम्भवादभिहितयोस्तदर्थयोरन्वयबोध आकाङ्क्षाद्यनुरोधेन भवेत्। प्रकृतिप्रत्यययोस्तु प्रत्येकमप्रयोगान्नियमेन मिलितप्रयोगे मिलितयोरेव तदर्थयोरभिधानमिति तत्रान्विताभिधानमेव, अन्यथा तत्राप्याकाङ्क्षादिसाचिव्यमपेक्ष्येत, न च तदस्तीति नोक्तदोष इति तदेतदाह—प्रत्यय प्रकृतीत्यादिना। पुनःशब्दो यस्मादर्थे, प्रकृतिप्रत्ययशब्दयोर्य-स्मादन्वितधियोऽपृथगबुद्धेर्निमित्तता विशिष्टैकबुद्ध्युत्पादकता नित्यं सदैव, अनुभवसिद्धेति शेषः।।३६३।।

प्रत्ययप्रकृतिशब्दत इति= प्रत्यय से तात्पर्य लिङ् लोडादिक से है, प्रकृति से तात्पर्य धातु से है। प्रकृति तथा प्रत्यय शब्द से, बहिः= अन्यत्र ही। च= निश्चित रूप से, अभिहित सङ्गतिः= अभिहित पदार्थों का सम्बन्ध होता है। अर्थात् भट्टाभिमत अभिहितान्वय होता है। तो नो— हमारे कुमारिलभट्ट के मत में प्रकृति और प्रत्यय से अतिरिक्त यजेत् स्वर्गकाम दोनों पदों का, इसीप्रकार गवादि तथा नयनादि पद दोनों भी परस्पर में निरपेक्ष भावना से उपस्थित है, लेकिन अपने अर्थ का अभिधान जरूर करते हैं, अब ऐसे अभिहित उन पदों के अर्थ का अन्वय बोध तो आकाङ्क्षादि के अनुरोध से होता है। लेकिन प्रकृति और प्रत्यय का एक तो इनका प्रत्येक का अलग अलग प्रयोग नहीं होता है। अर्थात् नियम से मिलित ही प्रयोग होता है। तो जैसे इनका मिलित प्रयोग होता है इसी प्रकार इनके अर्थ का भी मिलित ही प्रयोग होता है। अर्थात् इनके अर्थ का अभिधान होता

है। तो वहां अन्विताभिधान होता है। अभिहितान्वय नहीं होता है। अन्यथा वहां भी यजेत् स्वर्ग कामादिक की तरह से आकाङ्क्षादि साचिव्य की अपेक्षा होगी, लेकिन वह बात प्रकृति प्रत्यय के विषय में नहीं होने से उक्त दोष नहीं है। इस बात को कहते हैं प्रत्यय प्रकृतीत्यादिना= पुनः शब्द यस्मादर्थे= इसकारण अर्थ में है। अर्थात् प्रकृति प्रत्यय शब्दों को जिस कारण, अन्वितधियो= अपृथग् बुद्धि निमित्तता है, अर्थात् विशिष्ट एक बुद्धि की उत्पादकता प्रकृति और प्रत्यय शब्दों में है, वह भी, नित्यं– हमेशा सदैव ही है और वह भी अनुभव सिद्ध है अतः उपरोक्तदोष की यहां आशंका नहीं करनी होगी।

भावनाद्वयं व्युत्पादितं निगमयति–

दोनों भावनाओं शाब्दीभावना तथा आर्थीभावना का व्युत्पादन करते हुये निगमन कर रहे हैं प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन तो निगमन कर रहे हैं–

भावनाद्वयमतोऽवबोध्यते
धातुवाच्यघटितं लिङादिभिः।।
प्रत्ययार्थगुणवस्तुवाचिनो
धातवः प्रकृतयो हि धातवः।।३६४।।

अन्वयः= अतः लिङादिभिः धातुवाच्यघटितं भावना द्वयं अवबोध्यते। धातवः प्रत्ययार्थगुणवस्तुवाचिनः। धातवो हि प्रकृतयः।।

अन्वयार्थः= अतः लिङादि प्रत्ययों से तथा धतुवाच्य यागादि से अन्वित दोनों भावनायें बोधित होती है। धातु शब्द प्रत्यथार्थ के गौणीभूत अर्थ के वाचक होते हैं, यजि आदि धातु प्रकृतियों के रूप में है।

भावनाद्वयमिति। अत उक्तन्यायात्। धातुवाच्यघटितं धात्वर्थकरणकम्। यद्यप्येकैव भावना धातुवाच्यघटिता तथापि प्राणभृत उपदधातीतिवत् भावना द्वयं तद्घटितमित्युक्तम्। धातुवाच्य- घटितत्वमुपपादयति–प्रत्ययार्थेति। "प्रकृतिप्रत्ययौ प्राधान्येन प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः" इत्यभियुक्तवचनात् प्रत्ययार्थं प्रति गुण भूतार्थवाचिनो धातव इति धात्वर्थघटितैव भावनेत्यर्थः। ननु प्रकृत्यर्थस्य प्रत्ययार्थं प्रति गुणत्वे धात्वर्थे किमागतमित्याशङ्क्य धातुरपि प्रकृतिरेवेत्याशयेनाह–प्रकृतय इति। यस्मादुपरि प्रत्ययो विधीयते सा प्रकृतिः, धातोश्च प्रत्यय- विधिरिति धातवः प्रकृतय इत्यर्थः।

अथ वा ननु यागेन स्वर्गं भावयेदिति धात्वर्थकरणिकैकैव भावना प्रतीयते न भावनान्तरमतो भावनाद्वयोक्तिर्वाक्यप्रमाणविरुद्धेति तत्राह–भावनाद्वयमिति। धातुवाच्यघटित-

तत्प्रतीतिबलादेव तद्गोचरभावनान्तरप्रतीतिरवश्यं वक्तव्या, तस्या भाव्यत्वप्रतीतिमन्तरेण धात्वर्थस्य तत्करणत्वेनान्वयायोगात्। समभिव्याहृतार्थवादार्पितप्राशस्त्यादेर्वाक्यार्थेऽन्वयाय च भावनान्तर- प्रतीतिरवश्यं वाच्येति भावः। शेषं पूर्ववत्।।३६४।।

भावनाद्वयमिति= उक्त न्याय से अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय दोनों एक साथ में प्रयुक्त होते हैं न्याय से। धातुवाच्य घटितं= धात्वर्थ करण, यद्यपि एक ही भावना धातुवाच्य घटित होती है तथापि "प्राणभृत उपदधातीतिवत्" प्राणधारी जीव धारणकर रहा है इसमें धारण करने की क्रिया जीव की नहीं है किन्तु प्राण की है तो प्राण में ही जीव का समावेश हो जाता है इसी प्रकार भावनाद्वय धातुवाच्यघटित मानी जाती है। धातु वाच्यघटितत्व का उपपादन कर रहे हैं प्रत्ययार्थेति= प्रकृति प्रत्ययो प्राधान्येन प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः" प्रकृति और प्रत्यय दोनों प्रधान रूप से प्रत्ययार्थ का बोध करते हैं। ऐसा अभियुक्तो का वचन है। अर्थात् प्रत्ययार्थ के प्रति अर्थवाची धातु गुणभूत होते हैं इति। तो भावना धात्वर्थ घटित ही होती है।

आशंका= प्रकृत्यर्थ प्रत्ययार्थ के प्रति गुणभूत है (गौण है) तो धातु को क्या प्रकृत्यर्थ से भिन्न मानेंगे?

समाधान= धातु भी तो प्रकृति रूप ही है। इसलिये कहा प्रकृतय= जिसके बाद प्रत्यय का विधान किया जाता है उसे प्रकृति कहते हैं, धातु के बाद प्रत्यय का विधान किया जाता है अतः धातु भी प्रकृति रूप है, यह बात सिद्ध हुई।

इस श्लोक का अन्य प्रकार से अर्थ करते हैं।

आशंका= यागेन स्वर्गं भावयेदिति= याग से स्वर्ग की कामना करनी चाहिये। इस वाक्य में धात्वर्थ भावयेदिति इस से एक ही भावना प्रतीत होती है न कि दो भावना, इसलिये भावनाद्वय की उक्ति प्रमाणविरूद्ध लगती है।

समाधान= भावना द्वयमिति= यज धातु से वाच्य घटित याग के प्रतीति बल से ही याग गोचर (विषयक) भावनान्तर (आर्थीभावना) प्रतीति अवश्य कहनी पडेगी। आर्थीभावना का भाव्य रूप से प्रतीति के बिना धात्वर्थ भावयेत् इसका करण रूप से अन्वय नहीं हो पायेगा। धात्वर्थ से नजदीक प्रकृत्यर्थ (समभिव्याहृत) हो अर्थवाद से अर्पित प्राशस्त्यादि हो, उनका वाक्यार्थ में अन्वय कराने के लिये भावनान्तर प्रतीति अवश्य स्वीकृत करनी पडेगी। अर्थात् दोनों भावनायें स्वीकार करनी पडेगी। बाकी पहिले जैसे ही लगा लेना।

एवं भावनाद्वयं विधिवाक्यप्रतिपाद्यमुपपाद्य तत्रैव सर्वस्य वेदस्य शबरस्वामिवचनेन पर्यवसानमिति दर्शयन्नुपसंहरति—

इसप्रकार शाब्दीभावना तथा आर्थीभावना दोनों विधि वाक्य से प्रतिपादित हैं इसका उपपादन करने के बाद इसीमें सम्पूर्ण वेद का शबर स्वामी के वचनानुसार पर्यवसान है। ऐसा दिखाकर उपसंहार कर रहे हैं—

भव्याय भूतमुपदिश्यत इत्यवोचन्
पूज्यास्ततः सकलमेव तु वेदशास्त्रम्।।
कार्यप्रधानमिति निश्चिनुमोऽस्मदीये
तन्त्रे च कार्यमुदितः पुरुषप्रयत्नः।।३६५।।

अन्वयः= भूतं भव्यायोपदिश्यते (जै० सू० या० ३/३/४०) इति पूज्याः' अवोचन्, ततः तु सकलमेवः वेदशास्त्रं कार्यप्रधानमिति निश्चिनुमः। अस्मदीये तन्त्रे च पुरुषप्रयत्नः कार्यमुदितः।

अन्वयार्थः= सिद्धार्थ साध्यार्थ के लिये होता है ऐसा पूज्य आचार्य गण ने कहा है। इसलिए सकल वेदशास्त्र कार्यपरक है, यह हमारा निश्चय है। हमारे शास्त्र में पुरुष प्रवृत्ति को कार्य कहा गया है।

भव्याय भूतमिति। यद्यपि प्रागिदं वचनमुदाहृत्य ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्याविरोधेन नीतं तथापि भावनावादिनेदानीं तदुपन्यस्तमिति न दोषः। पूज्याः शबरस्वामिनः। वेद एव शास्त्रं वेदशास्त्रम्। कार्यमनुष्ठेयभावना प्रधानं यस्य वेदशास्त्रस्य तत्। ननु कार्यं कृतिसाध्यं गुर्वभिमतं किं न स्यात्तत्राह—अस्मदीय इति। पुरुषप्रयत्न इति। अर्थभावनेत्यर्थः। प्राभाकराभिमतकार्यस्या प्रामाणिकत्वाज्जैमिनीयेऽस्मिन् शास्त्रे पुरुषप्रयत्न एव कार्यमुक्तमित्यर्थः।।३६५।।

भव्याय भूतमिति= यद्यपि पहिले भी इसवचन को उधृत किया है कि ब्रह्म में वेदान्त की प्रामाण्यता विरूद्ध नहीं है। तथापि भावनावादि इससमय इस प्रसंग को उपस्थित कर रही है अतः दोष नहीं है। पूज्याः- शबरस्वामिनः महाभाग अतिपूजनीय है। वेदशास्त्रम् वेद ही शास्त्र है। कार्यप्रधानम्= कार्य ही अनुष्ठेय भावना ही प्रधान है जिसका ऐसा वेदशास्त्र। आशंका= कार्य को कृति साध्य क्यों नही माना जाय जैसे गुरु (प्राभाकर) अभिमत है?

समाधान= अस्मदीय इति= पुरुषप्रयत्न इति= अर्थ भावना इति। प्राभाकराभिमत कार्य अप्रामाणिक होने के कारण जैमिनि के इस शास्त्र में पुरुष प्रयत्न ही कार्य रूप में स्वीकृत है जिसमें आर्थीभावना की प्रधानता हो, यह भाव है। प्रयोजनेच्छाजनित क्रिया विषय व्यापार आर्थीभावना है। प्रयोजन हुवा स्वर्गादि रूप फल, उसकी इच्छा रागविशेष, फलेच्छा साधनमुपसंक्रामयति फलेच्छा के साधन को अंगीकृत करता है इस न्याय से, राग विशेष

से उत्पन्न जो यागादिक्रिया विष्ज्ञयक पुरुष का व्यापार विशेष इसे आर्थी भावना कहते हैं।

इदानीं लोकवेदयोर्लिङादीनां विलक्षणार्थत्वकल्पनमयुक्तं, सुतरां वैदिकलिङादीनां स्वकर्तृकव्यापाराभिधायित्वं तस्य दुर्निरूपत्वादपि नैतन्मतं युक्तमिति दूषयति—

अब लौकिक तथा वैदिक लिङादि को विलक्षणार्थ परक मानना उचित नहीं है। फिर तो वैदिक लिङादिक में स्वकर्तृकव्यापाराभिधायित्वं दुष्कर तथा दूर्निरूपणीय होने के यह मत युक्तियुक्त नहीं है— इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

अभिदधाति करोति च लिङ्पदं
श्रुतिवचःसु निजामपि भावनाम्।।
न च करोति न वक्ति च तां पुन-
र्नरवचःस्विति दुःशकमुच्यते।।३६६।।

अन्वयः= श्रुतिवचःसु लिङ्पदं निजामपि भावनां अभिदधाति करोति च। नरवचःसु पुनः तां न वक्ति, न करोति चेति दुःशकं उच्चते।।३६६।।

अन्वयार्थः= श्रुति वाक्यों में लिङ् शब्द अपनी धर्मभूत शब्द भावना को कहता भी है और करता भी है। किन्तु पौरुषेय वाक्यों में उसे न कहता है न करता ही है। यह कथन सङ्गत नहीं है। यह व्यवस्था अनुचित है।।३६६।।

अभिदधातीति। निजां स्वव्यापाररूपां शब्दभावनामभिदधाति वदति करोति निष्पादयति चार्थभावनाम्। अपिशब्देन स्वविशिष्टव्यापारे स्वस्य वृत्तौ स्वात्मन्यपि वृत्तिप्रसङ्गेन विरोघं द्योतयीत। तां स्वव्यापाररूपां भावनाम्। नरवचःस्विति। लिङ्पदमित्यनुषञ्जनीयम्। लोके आज्ञादेरेव लिङर्थत्वेन तत्र शब्दभावनाया अभावाल्लौकिकलिङादिर्न तां करोति न च तामभिधत्त विभागकथनं दुःशकं दुरुपपादनमयुक्तमुच्यत इत्यर्थः।।३६६।।

अभिदघाति= लिङ्या निजाम्= स्वव्यापाररूप शब्दभावनाको अभिदधाति= (वदति) कहता है, करोति= तथा अर्थ भावना को निष्पादित करता है यदि लिङ्पद स्वविशिष्ट व्यापार में (अर्थभावनाविशिष्ट शब्दभावनामें) स्वयं की लिङ्पद की वृत्ति हो तब तो लिङ्पद की अपने आपमें भी वृत्ति होगी। जो विरोध को बताती है। ताम्= स्वव्यापार रूप शब्दभावाना को। नरवचःस्विति= लिङ्पद का अनुषङ्ग करालेना। तो लोक में आज्ञादिपरक ही लिङर्थत्व है, वहां शब्दभावना का अभाव है, तो लौकिक लिङ् न तो शब्दभावना को कहता है और न ही अर्थभावना को लिङ्पद निष्पादित ही करता है। इसलिये शाब्दीभावना तथा

आर्थीभावना का विभाजन करना दुःशक= उपपादन करने में अति कठिनाई है। अतः भावनाओं का विभाजन करना अयुक्त है।

ननु किमिति दुःखकं तदुपपादनादित्याशङ्क्याह—

आशंका= लिङ् के द्वारा शाब्दीभावना निरूपण तथा भावनाओं का विभाजन आदि दुःशक है वह कैसे—

वक्तृत्वमेव घटते यदि लिङ्पदस्य
सर्वत्र नार्द्धजरतीयमिदं प्रशस्तम्।।
सामर्थ्यमेकरसमेव यदोपपन्नं
नानारसं न खलु तत्परिकल्पनीयम्।।३६७।।

अन्वयः= यदि लिङ्पदस्य सर्वत्र वक्तृत्वमेव घटते, इदं अर्धजरतीयं न प्रशस्तम्। यदा एकरसमेव सामर्थ्यं उपपन्नं, नानारसं तत् न परिकल्यनीयं खलु।।३६७।।

अन्वयार्थः= यदि लिङ्पद का सर्वत्र वक्तृत्व ही अर्थ उपपन्न हो जाता है। तब अर्ध जरतीन्याय ठीक नहीं है। (जबकि दोनों शब्दों का) एक रुप सामर्थ्य बन सकता है। तब विभिन्न सामर्थ्य की कल्पना नहीं करनी चाहिये।।

वक्तृत्वमिति। अभिधातृत्वं बोधकत्वमिति यावत्। सर्वत्र प्रत्यक्षादिप्रमाणे लिङादौ च लोके क्लृप्तेन स्वार्थबोधनेनैव वैदिकलिङादीनामपि प्रामाण्यं यदि घटेत तदा यथा कस्याश्चित्स्त्रिया युवत्या एव भर्त्ता प्रयोजनानुसारेणार्द्धशरीरेण जरतीत्वमपीच्छति चेदप्रामाणिकं तन्न सिद्ध्यति तथा तत्तुल्यमिदं प्रवर्तनं न प्रशस्तम् अन्यत्र प्रमाणेषु तस्यादर्शनेन वैदिकलिङादिष्वपि तदयोगादित्यर्थः। ननु वेदे लिङादेरप्रेरकत्वे कथं पुंसः प्रवृत्तिः स्यात्तत्र प्रेरकान्तराभावादित्याशङ्क्यानुमानादेर्लौकिकलिङादेरिव च स्वप्रवर्तकज्ञाने सति पुरुषः स्वेच्छयैव तां करोति। तदाह श्रुतिः "काममय एवायं पुरुषः स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते" इत्याद्या। स्मृतिरपि "यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्" इति। तथा च प्रमाणं किमपि न प्रवर्त्तकमित्याशयेनाह— सामर्थ्यमिति। एकरसं प्रत्यक्षादिप्रमाणेन सममेकरूपं स्वप्रमेयज्ञानानुकूलमेव, एकरसमिति प्रेरणानुकूलत्वं वा व्यावर्त्तयति। नानारसं प्रत्यक्षादिविलक्षणं बोधप्रवृत्त्युभयानुकूलत्वम्।।३६७।।

वक्तृत्वमिति= अभिधातृत्व या बोधकत्व सर्वत्र प्रत्यक्षादिप्रमाण में तथा लिङादिक में-लोक में स्पष्ट रूप से स्वार्थबोधन से ही वैदिक लिङादिक में भी प्रामाण्य धारित हो जाय तब तो जैसे पुरूष किसी जवान स्त्री का पति होते हुवे भी प्रयोजनानुसार उसी पुरूष का अर्ध शरीर वृध्द जननी को भी चाहता है। यह जैसे अप्रामाणिक है (अनुचित है), जैसे यह सिध्द नहीं होता है इसीप्रकार लिङ के बारे में प्रर्वतन भी प्रशस्ततर नहीं है। क्योंकि लिङ के अतिरिक्त प्रमाणों में शाब्दीभावना अर्थीभावना आदि नहीं देखा गया है। तो वैदिक लिङादिक में भी उसका असम्भव ही माना जायेगा।

आशंका= वेद में यदि लिङ को प्रेरक नहीं मानें तो मनुष्य की प्रवृत्ति फिर कैसे असम्भव होगी! क्योंकि अन्य तो कोई वहां प्रेरकान्तर ही नहीं।

समाधान= जिसप्रकार लौकिक लिङादि में अनुमान है, जैसे उस पुरूष में प्रवर्त्तक ज्ञान होगा तो स्वेच्छा से उस काम को वह करता है- ''प्रर्वत्तकज्ञानेसति पुरूषः स्वच्छयैव तां करोति''। इसीलिये श्रुति भी कहती है- काममय एवायं पुरुषः स यथाकामो भवति वतक्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरूते इत्याद्या इच्छामय ही पुरूष है, जैसी उसकी इच्छा (कामना) होती है, वैसा वह क्रतु (यज्ञ) करता है, जैसा वह क्रतु (यज्ञ) करता है- वैसा वह कर्म करता है, इत्यादि है। इस विषय में स्मृति भी है- ''यद्यध्दि कुरूते जन्तुस्तत्तकामस्य चेष्टितम्'' जो जो भी जीव करता है वह वह उसके कामना की चेष्टा है- (उसके इच्छा की चेष्टा है) इसी प्रकार प्रमाण भी है कि कोई भी प्रर्वतक नहीं है। इसीआशय से कहा जा रहा है'' सामर्थ्यमिति= प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ एकरस होकर ही एकरूप होकर ही (स्वप्रमेयज्ञानानुकुलमेव) अभिलषित प्रमेय के ज्ञानानुकुल होकर प्रवृत्त होता है, एकरसमिति= प्रेरणानुकुलत्व की व्यावृत्ति होती है। अर्थात् लिङ् में प्ररेणानुकुलत्व लेकर अन्यप्रमाणों के साथ विद्रोह नहीं करता है। नानारस= प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विलक्षण लिङ् में (बोध और प्रवृत्ति) शाब्दीभावना तथा अर्थीभावना उभयानुकुलत्व की कल्पना करना अनुचित है।

वक्तृत्वमेव घटते, सामर्थ्यमेकरसमिति चोक्तं स्वमतेन वैदिकलिङादेरूपपादयति—

अब लिङ्गादि में बोधकत्व भी है तथा एकरस का सामर्थ्य भी है यह अपने (वेदान्त) मत से लिङादिक में है इसका उपपादन कर रहे हैं—

श्रेयोहेतुत्ववाची यदि भवति तदा संभवत्येकरूपा
शक्तिस्तस्याभिधाने न तु भवति तदा कारकोऽयं प्रवृत्तेः।।
श्रेयोहेतुश्च वाच्यः श्रुतिवचसि तदा पौरुषेये च तुल्यः
क्लृप्तश्चासौ न कल्प्यः श्रुतिवचसि यथा भावना लिङ्निबद्धा।।३६८।।

अन्वयः= यदि श्रेयो हेतुत्ववाची भवति, तदा एकरूपा शक्तिः तस्य अभिधाने सम्भवति। तदा अयं प्रवृत्तः कारको न भवति। श्रुति वचसि श्रेयो हेतुश्च वाच्यः। तदा पौरुषेये च तुल्यः। असौ च श्रुतिवचसि क्लृप्तः कल्प्यो न यथा लिङ्निबद्धा भावना।

अन्वयार्थः= यदि लिङ् प्रत्यय को सर्वत्र इष्ट साधनतावाची मान लिया जाता है तब (लौकिक वैदिक शब्दों के) अभिधान में एक रूप शक्ति सम्भव है। उस अवस्था में यह लिङादि प्रवृत्ति का कारण नहीं माना जाता। किन्तु वाचक मात्र माना जाता है। और श्रुतिवाक्यों में इष्ट साधनता लिङादि की वाच्या है, तब पौरुषेय वाक्यों में भी समान रूप से है। यह इष्ट साधनता रूप अर्थ सर्वत्र क्लृप्त है। श्रुति वाक्यों में लिङ् सम्बन्धी भावना के समान कल्प्य नहीं है।

श्रेयोहेतुत्ववाचीति। वैदिकलिङादिरिति शेषः। तदा तस्य लिङादेरभिधाने स्वार्थबोधने एकरूपा शक्तिर्भवति। एवं सति प्रमाणरूपस्य वेदस्य कारकत्वदोषोऽपि परिहृतः स्यादित्याह-न तु भवतीति। अयं लिङादिः तदा श्रेयोहेतुत्ववाचित्वे प्रवृत्तेः कारको न भवति प्रवर्त्तको न भवति, तस्याः श्रेयोहेतुत्वज्ञानेनान्यत एव सिद्धत्वादित्यर्थः। ननु श्रेयोहेतुत्वज्ञानं वा लिङ्व्यापारः कल्प्यतां प्रवर्त्तना वा को विशेष इत्याशङ्क्याह-श्रेयोहेतुश्चेति। यदा लिङादेः श्रेयोहेतुः श्रेयोहेतुत्वं वाच्यं भवति तदा सः श्रुतिवचसि पौरुषेये च तुल्यस्तथा च लिङादेः श्रेयोहेतुत्वबोधनं नापूर्वमिति न प्रेरणातौल्यं तस्येत्यर्थः। किञ्च मन्मते गामानयेत्यादिवाक्ये लिङादेः श्रेयोहेतुत्वबोधकत्वं क्लृप्तं न तु शब्दभावनाबोधकत्वं न चान्यत्र धात्वर्थे वा त्वन्मते श्रेयोहेतुत्ववत् शब्दभावना क्वचिदपि क्लृप्ताऽस्तीति प्रमेयस्वरूपं प्रमाणस्य तद्बोधकत्वं च अलौकिकमेव कल्प्यं, तच्चायुक्तं क्लृप्तेनैवोपपत्तावित्याह— क्लृप्तश्चेति। असौ श्रेयोहेतुः प्रमाणस्य तद्बोधनव्यापारश्च। लिङ्निबद्धा लिङ्व्यापाररूपेत्यर्थः।

इदमत्राभिप्रेतम्। अस्ति तावत्प्रेक्षावतामपि भोजनादौ प्रवृत्तिः, सा तावच्छब्देन वा पुंसा वा केनचित्प्रेर्यमाणस्य न भवति, अपि तु हितसाधनत्वज्ञानादिति भवतोऽपि संप्रतिपन्नम्। बालस्य स्तन्यदाने मातृप्रवृत्तिरपि तदिष्टमावश्यकं च बालजीवनाद्युद्दिश्यैव न तु तत्प्रेरणयैव, भोजनादौ क्लृप्तहेतोरेव तस्यां कल्पयितुमुचितत्वाच्च। अतः प्रवर्त्तनायाः क्वापि प्रवृत्तिहेतुत्वस्याक्लृप्तत्वान्न माणवकप्रवृत्त्या तदनुमानमिति न लिङादेः प्रवर्त्तनासामान्येऽपि लोकतः शक्तिः

सिद्ध्यति, अपि तु श्रेयोहेतुत्व एवेति कथं वैदिकलिङादिः प्रवर्त्तनां प्रतिपादयेत्, तदभावे वा कथं तस्य प्रवर्त्तनाव्यापारः कल्प्यः। व्यापारोऽपि निरवयवे विभौ शब्दे परिस्पन्दो वा न संभवति, न चान्यः कश्चित्तद्व्यापारो निरूपयितुं शक्यः। एवं शब्दभावनात्वविशेषोऽपि लिङादितो न सिद्ध्येत् तस्य प्रवर्त्तनासामान्यनिष्ठत्वात्। वाच्यार्थसंबन्धितयाऽन्यतोऽनवगते तस्मिन् लक्षणानुपपत्तेश्च। तस्मादप्रामाणिकमिदं कल्पनमिति श्रेयोहेतुत्वमेव सर्वत्र लिङाद्यर्थ इत्यर्थ इति।।३६८।।

श्रेयोहेतुत्ववाचीति= वैदिक लिङादि यदि श्रेय हेतु के वाचक हैं। तदा= तब तो ऐसे लिङादिक का, अभिधाने= स्वार्थ बोधन करने से, एक रूपा—लौकिक प्रमाण के समान एक रूपा शक्ति उसमें होगी। इसप्रकार मानने से वेद जो प्रमाण रूप है उसमें कारकत्व दोष भी हट जायेगा। इस बात को कह रहे हैं- न तु भवतीति- यह लिङादि जब इसे श्रेय हेतु का वाचक बनायेंगे तो वह प्रवृत्ति का कारक नहीं बनेगा, तो प्रवृत्ति कैसी होगी? प्रवृत्ति श्रेय हेतुत्व ज्ञान से अन्य ज्ञान से सिद्ध होगी। अर्थवादादिज्ञान से सिद्ध होगी।

आशंका= श्रेय का हेतु ज्ञान लिङ् का व्यापार रूप मानने में तथा श्रेय हेतु ज्ञान का प्रवर्त्तकलिङ् है इसमें क्या अन्तर है।

समाधान= श्रेयो हेतुश्चेति= जब लिङ् को हम श्रेय का हेतु मानते हैं तब तो वैदिक लिङ् तथा (लौकिक) पौरुषेय लिङ् दोनों बराबर हो जाते हैं, जिससे लिङादिक में श्रेय हेतुत्व बोधकत्व न तो अपूर्व ही है और न ही उसमें प्रेरणा की सम्भावना ही आती है। दूसरी बात मेरे मत में वेदान्त मत में गामानय इस वाक्य में लिङादिक में श्रेय हेतुत्व बोधकत्व बिलकुल स्पष्ट है, लेकिन लिङादिक में शाब्दी भावना बोधकत्व नहीं है, और तुम्हारे भट्टमत में भी धात्वर्थ से अतिरिक्त जैसे लिङादिक में श्रेयो हेतुत्व स्पष्ट है इसी प्रकार शब्दभावना कहीं भी स्पष्ट नहीं है, अतः लिङादिक को ऐसा प्रमाण मानना, उसमें शब्द भावना बोधकत्व मानना दोनों ही अलौकिक कल्पित होगें। और ऐसी कल्पना करना अयुक्त है। क्योंकि जब स्पष्ट रूप से ही काम चलता हो तो अक्लृप्तकी कल्पना करना अनुचित ही है। इसलिये कहा क्लृप्तश्चेति= असौ=श्रेय का हेतु मानना उचित है लेकिन लिङादि प्रमाण को उद्बोधक व्यापार रूप मानना या व्यापार रूप मानना दोनों ही अनुचित है।

इदमत्राभिप्रेतम्= यहां इसका अभिप्राय यह है कि प्रेक्षक लोगों की भी भोजनादि की प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति न तो किसी शब्द से होती है और न कोई वहां प्रेरणा देने वाला ही होता है। किन्तु प्रेक्षावतों की जो भोजन में प्रवृत्ति होती है वह तो हित

साधनत्वज्ञान से होती है। कि "भोजनं मदिष्टसाधनम्" भोजन मेरा इष्ट साधन है, इससे होती है। यह बात तो भट्टजी आपको भी अभिमत है। मां का दूध पीने वाला बालक के मुख में माता स्तन प्रदान करती है तो माता की जो यह प्रवृत्ति देखी गई है वह भी इसीलिये कि यह मेरा स्तनपान बालक के जीवन के लिये इष्ट साधन है, यह अति आवश्यक है,

न कि उस बालक की प्रेरणा से वह स्तन पान कराती है क्योंकि जैसे उसी माता की अपना भोजन करना हो तो वह किसी प्रेरणा से प्रवृत्त नहीं होती है किन्तु यह भोजन मेरे लिये इष्ट साधन है, ऐसा समझकर वह प्रवृत्त होती है।

इसलिये अब यह बात आ गई कि प्रवर्त्तना को कहीं भी प्रवृत्ति का हेतु मानना स्पष्ट नहीं है। छोटे से स्तनपान करने वाले बालक की बातें भी बता दी। अनुमान प्रमाण से ही बता दी। इसप्रकार लिङादिक को लौकिक दृष्टि से भी प्रवर्तना सामान्य में भी शक्ति संभव नहीं है। हां उसमें श्रेय हेतुत्व जरूर है। तो फिर वही लिङादि वैदिक प्रवर्त्तना प्रतिपादित कर पायेंगे। जब प्रवर्त्तना ही नहीं रहेगी तो प्रवर्त्तना व्यापार कैसे सिद्ध होगा? व्यापार भी तो निरवयव व्यापक शब्द में परिस्पन्दात्मक नहीं हो सकता। और इसके अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार की कल्पना करना अनुचित ही होगा। इसप्रकार लिङादिक से शब्द भावनादि विशेष सिद्ध नहीं हो सकती। लिङादि तो सामान्य प्रवर्त्तना स्वरूप ही है। जिससे शब्द भावनादिक को वह सिद्ध नहीं कर सकते। प्रवर्त्तना सामान्य वाच्यार्थ सम्बन्धी लिङ सम्बन्ध ी होने से उसके बोध के लिये शब्द भावनादिक में लक्षणा करने की जरूरत नहीं है। क्योंकि प्रवर्तनासामान्य का बोध तो लिङ् से वैसे ही हो गया है। इसलिये शब्द भावना की कल्पना करना आदि अब यह अप्रामाणिक ही है। कितु श्रेय हेतुत्व ही सर्वत्र लिङाद्यर्थ है, यह बात सिद्ध हो गई।।

एवं लिङ्त्वाद्याकारेण शब्दभावना लिङाद्यर्थ इति भाट्टमतं निराकृत्य लत्वाकारेणाख्यातार्थोऽर्थभावनेति तन्मतमर्थभावनाया अप्रामाणिकत्वेन दूषयति—

इस प्रकार लिङ्त्वाकारेण शब्दभावना लिङादिक का अर्थ है ऐसे भट्टमत का खण्डन करने के बाद लत्वाकरेण आख्यात अर्थ भावना को उत्पन्न कराता है यह भट्टमत भी अप्रामाणिक होने से उसका भी खण्डन किया जा रहा है—

धात्वर्थतोऽन्या न च भावनाऽस्ति
यां भावनां वक्तुमलं लकारः।।

धात्वर्थमुद्रिच्य न पुंप्रयत्नो
लोके यतो भाति निरूपणायाम्।।३६६।।

अन्वयः= यतः निरूपणायां धात्वर्थ उद्रिच्य लोके पुम्प्रयत्नः न भाति। यां भावनां वक्तुं लकार अलम्। भावना धात्वर्थताऽन्या न चास्ति।

अन्वयार्थः= लौकिक धर्म से विचार करने पर धात्वर्थ को छोडकर पुरुष प्रधान (आर्थी भावना) प्रतीत नहीं होती है। अतः .जिस आर्थी भावना को कहने में लडादि को लकार समर्थ है वह भावना तो धात्वर्थ से भिन्न है नहीं।

धात्वर्थत इति। भावना अर्थभावना। लकारः लड़ादिप्रत्ययः। न तावत्प्रयत्नरूपार्थभावनायां प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति सुखदुःखादिवत् प्रयत्नरूपस्य कस्यचिदननुभवात्। अत एव करोमीति प्रत्यक्षसिद्धः स इति निरस्तम्। हस्तादिव्यापारदशायामेव नियमेन भवतोऽस्यानुभवस्य तन्मात्रविषयत्वात्। अत एव रथो गच्छतीत्याद्यनुभवोऽपि। बाह्यव्यापाराभावेऽप्यान्तर उद्योगरूपोऽर्थः कश्चिदनुभूयत इति चेत्, न। तस्यापि शरीरान्तरप्रदेशचेष्टाविषयत्वादतो न प्रत्यक्षं तत्र प्रमाणमित्यर्थः। ननु प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणकत्वाच्चेष्टायास्तया सोऽनुमीयत इति चेत्तत्राह— धात्वर्थमुद्रिच्येति। चिकीर्षानन्तरमेव चेष्टादर्शनेन तदाश्रयसंयोगो मनःसंयोगविशेषो वा तदसमवायिकारणं भविष्यतीति धात्वर्थहेतुतयाऽपि लोके वर्णितप्रकारेण विचारे क्रियमाणे प्रयत्नो नाम कश्चिद्यतो न भाति ततो भावना नास्तीति सम्बन्धः। यत्त्वन्योत्पादानुकूलः कर्त्तृव्यापारो भावना स च धात्वर्थादन्यः। अन्यथाऽऽख्यातस्यानर्थक्यापत्तेः, पाकयागादेर्धात्वर्थस्य पचियज्यादि धातुभिरेवाभिहितत्वात्। स च रथो गच्छतीत्यादावप्यस्त्येव। एवं परस्परव्यावृत्तधात्वर्थेभ्यः सकलधात्वर्थानुगतत्वादपि तस्य ततोऽन्यत्वम्, प्रतीयते हि पचति यजेतेत्यादिप्रयोगे सर्वत्र करोत्यर्थः। सैव कृतिर्न प्रयत्न इति। न तावत्प्रत्ययार्थक्त्वाय धात्वर्थादन्यो व्यापार एषितव्यः लिङ्गादिरूपस्याऽऽख्यातस्यावश्यकश्रेयःसाधनताभिधायित्वेनातदर्थत्वात्। लडादेरपि धात्वर्थगतसाध्यताभिधायित्वात्। अत एव यजेतेत्यादिना यागादेः साध्यत्वविशिष्टश्रेयःसाधनत्वं प्रतीयते अन्यथा ततः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः काष्ठैः पचतीति काष्ठादेः पाककरणत्ववत्। नाप्यनुगततया तस्य धात्वर्थात्पृथग्व्यापारत्वम्, आख्याताभिधेयस्य धर्ममात्रत्वेनाप्यनुगतत्वोपपत्तेः। ततो नास्ति भावनेति भावः।।३६६।।

धात्वर्थत इति= भावना- अर्थ भावना। लकारः= लडादिप्रत्यय। प्रयत्नरूप अर्थभावना में प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं, जैसे सुख दुःखादिक में प्रत्यक्ष प्रमाण है। अर्थीभावना प्रयत्न रूप है ऐसा किसी के भी अनुभव में आता नहीं है। इसलिये आर्थीभावना को सिद्ध करने

के लिये यह कहा जाता है कि "करोमीति" मैं कर रहा हूँ। ऐसा प्रत्यक्ष सिद्ध अनुभव है वह निरस्त हो जाता है। हां हाथ आदि के चलनवलन व्यापार दशा में आपके इस अनुभव तो नियम से हस्तादिमात्र विषय मात्र परक ही रह पायेगा।

आशंका= बाह्य व्यापार के अभाव में भी अन्तर उद्योग रूप अर्थ (व्यापार) उसी के अनुभव में आता है।

समाधान= नहीं। आन्तर व्यापार भी शरीर के अन्दर प्रदेश के चेष्टा का विषय होने से वहां प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं।

आशंका— प्रयत्नवद् आत्मसंयोग यही असमवायिकारण जिस चेष्टा का है उसी चेष्टा के द्वारा आर्थीभावना अनुमित की जाती है।

समाधान= धात्वर्थमुद्रिच्येति= करने की इच्छा के बाद ही (चिकीर्षा के बाद ही) चेष्टा का दर्शन होता है, इसी के बाद ही चेष्टा का आश्रय का संयोग, अथवा मन का संयोग विशेष उस चेष्टा का असमवादिकारण होगा। धात्वर्थ ही हेतु होने से लोक में भी धात्थर्थातिरिक्त भावना के नहीं होने से ऐसा विचार पहिले कर चुके हैं, अतः प्रयत्न नाम की कोई वस्तु धात्वर्थ से अलग न भासने के कारण ऐसी आर्थी भावना को न मानना ही अच्छा है।

यत्तु= अन्य के मध्यम वृद्ध उत्पादक के अनुकुल कर्ता के व्यापार को भावना कहते हैं वह व्यापार धात्वर्थ से अन्य है। नहीं तो आख्यात ही अनर्थक हो जायेगा। पाक, याग आदि धात्वर्थक पच्, यज् धातु से ही अभिधान हो जाता है। स च रथो गच्छतीति वहीं रथ जा रहा है। यहां धात्वर्थ से अन्य कर्तृव्यापार रूप भावना है। इस प्रकार परस्पर व्यावृत्त धात्वर्थ से सकल धात्वर्थानुगत होने पर भी भावना को अलग कहना पडेगा। इसकी प्रतीति पचेत्, यजेत् आदि प्रयोग में सर्वत्र भावाना धात्वर्थ से अन्य है यह सिद्ध होता है और जो यहां कृति है वह प्रयत्न रूप नहीं है अतः वह धात्वर्थ रूप नहीं हो सकती।

समाधान— प्रत्यय के द्वारा अर्थ भावना के लिये प्रत्ययात्वर्थ से अन्य व्यापार नहीं करेगा। क्योंकि लिङ्गादिरूप आख्यात तो आवश्यक स्वर्गादिश्रेय साधनता का अभिधान करता है, न कि आर्थी भावना को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार लडादिक भी धात्वर्थ गत साध्यता का ही अभिधान करने में तत्पर रहते हैं।

इसी कारण यजेत् इत्यादि वाक्य से यागादिकको स्वर्गादि साध्यत्वविशिष्ट जो श्रेय तत्साधनत्व यागादिक में प्रतीत होता है, नहीं तो फिर प्रवृत्ति ही नहीं होगी। काष्ठैः पचतीति लकडी से पका रहा है इसमें लकडी में पाक करणत्व है इसीप्रकार स्वर्गादि का करण

याग में है। यह भी नहीं कह सकते कि आख्यात अनुगत होने पर भी धात्वर्थ से उसका पृथक् व्यापार है क्योंकि जो आख्यात का अभिधेय है उसका धात्वर्थ का धर्ममात्र भावना का कहने से भी अनुगतता की उपपत्ति हो जायेगी। इसलिये भावना प्रत्ययमात्र सिद्ध नहीं हो सकती। यत्तु का मत भी खण्डित हो गया।।

एवं वेदान्तानां सिद्ध ब्रह्मपरत्वव्युदासाय नियोगरूपे कार्ये भानारूपे वा पर्यवसन्नो वेद इति प्रत्यवस्थानम्। कर्मकाण्डस्यापि न तदर्थत्वं तद्गतलिङादीनां श्रेयःसाधनतार्थत्वेन तदन्वितार्थपरत्वात्तस्येत्युपपादनेन प्रत्युक्तम्। भव्याय भूतमिति भाष्याशयश्च प्रागेवोक्तइति न तद्बलादपि कार्यपरत्वमित्यभिप्रेत्योपसंहरति—

इस प्रकार वेदान्त सिद्ध ब्रह्मपरक है इस बात का खण्डन करने के लिये नियोग रूप अपूर्वरूप कार्य में अथवा भावना रूप में सम्पूर्ण वेद पर्यवसित है ऐसा स्थापित किया। लेकिन यह सब अनुचित है क्योंकि कर्मकाण्ड में भी यह बात सिद्ध नहीं हो पा रही है। क्योंकि कर्मकाण्डान्तर्गत लिङादिक को श्रेय साधनार्थपरक माना गया है न कि उसे शाब्दीभावना का उत्पादक माना गया है। श्रेयः साधनान्वितार्थ परक लिङादि होने से भावनापरत्व का खण्डन हो चुका है। भव्याय भूतमिति भव्य के लिये भूत (सिद्ध) है, इस भाष्य का आशय भी पहिले ही कह चुके हैं। इस के बल से भी वेदान्त कार्य परक नहीं है— ऐसा उपसंहार करते हैं—

न कर्मकाण्डेऽपि ततो नियोगो
न भावनाऽप्युक्तनयेन तस्मिन्।।
न तद् द्वयं वेदशिरः सु तस्मा-
त्ततो न कार्यार्थपराणि तानि।।४००।।

अन्वयः= ततः कर्मकाण्डेऽपि नियोगो न, उक्तनयेन तस्मिन् भावना अपि न। तस्मात् वेद शिरःसु तद्द्वयं न। ततः तानि कार्यापराणि न।।४००।।

अन्वयार्थः= इसकारण कर्मकाण्ड में भी नियोग सिद्ध नहीं होता और पूर्वोक्त प्रकार से कर्मकाण्ड में भावना सिद्ध नहीं होती। अतः वेदान्त में भी ये दोनों (नियोग तथा भावना) नहीं बनतें। इस कारण से वेदान्त वचन कार्यपरक सिद्ध नहीं किया जा सकता।।४००।।

न कर्मकाण्डेऽपीति। ततः प्राग् वर्णितन्यायान्न नियोगोऽस्तीति शेषः। तस्मिन् कर्मकाण्डे। यदा कर्मकाण्डेऽपि तयोरियं गतिस्तदाऽखण्डब्रह्मपरे वेदान्ते तदुभयं नेति किमु वक्तव्यमित्याशयेनाह—न तद् द्वयमिति। नियोगो भावना चेत्यर्थः। तर्हि द्रष्टव्यः पश्येदित्यादि-

ज्ञानविधीनां का गतिरित्याशङ्क्याह-तत इति। ज्ञानविधेरप्युपरिष्टान्निरसिष्यमाणत्वान्न तद्विधिपरं वेदशिरः किं त्वखण्डब्रह्मपरमिति भावः।।४००।।

तस्मिन्= कर्मकाण्ड में, जब कर्मकाण्ड में नियोग और भावनाओं की गति नहीं है, तो फिर अखण्डब्रह्मपरक वेदान्त में इन दोनों की गति तो हो नहीं सकती (कैमुतिकन्याय से), तो वेदान्त के बारे में तो कहना ही व्यर्थ है। अर्थात् इन दोनों की तो वेदान्त में गुञ्जाइश ही नहीं है।

न तद् द्वयमिति= नियोग तथा भावना दोनों।

आशंका= यदि नियोग की भी गति नहीं है तो "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" पश्येत् आदि ज्ञान विधियों का क्या होगा।

समाधान= तत इति= ज्ञान विधि के विषय में हम ऊपर से (बाद में) कहेंगे। तो वेद वाक्य (वेदान्त वाक्य) भी विधिपरक नहीं है किन्तु अखण्ड ब्रह्मपरक है, यह भाव है।

-निषेध वाक्यानां कार्यपरत्व निरासः-

एवं वेदान्तानां कार्यपरत्वं निराकृत्य ब्रह्मपरत्वं स्थापितम्। इदानीं वेदान्तवाक्यं कार्यपरं वेदवाक्यत्वादग्निहोत्रादिवाक्यवदित्यनुमानं ब्राह्मणं न हन्यात्सुरां न पिबेदित्यादि-प्रतिषेधवाक्ये व्यभिचारेण दूषयति—

इस प्रकार वेदान्त का कार्य परत्व के निराकरण करने के बाद उसकी ब्रह्म परता ही है, यह स्थापित किया। अब वेद वाक्य कार्य परक है, वेदवाक्य होने के कारण अग्निहोत्राहि वाक्य के समान ऐसा अनुमान करते हैं, लेकिन यह अनुमान "ब्राह्मणं न हन्यात्" ब्राह्मण को मारना नहीं चाहिये, "सुरां न पिबेत्" शराब नहीं पीनी चाहिये, इस वाक्य में उक्त अनुमान का व्यभिचार है अतः उक्त अनुमान को दूषित कर रहे हैं—

अपि च प्रतिषेधचोदनाविषयः स्यात्प्रतिषिद्धकर्मणः।।
फलगर्द्धिनिवृत्तिरेव सा न नियोगो न च तस्य गोचरः।।४०१।।

अन्वयः=अपि च प्रतिषिद्धकर्मणः फलगर्द्धिनिवृत्तिरेव प्रतिषेधचोदनाविषयः स्यात्। सा न नियोगः न च तस्य गोचरः।।४०१।।

अन्वयार्थः= और भी बात है कि हनन, सूरापानादि निषिद्ध कर्म की फललिप्सा की निवृत्ति रूप उपरति न हन्तव्यः "आदि निषेध विधि का विषय है। वह उपरति न तो नियोग है और न ही नियोग का ही विषय है।

अपि चेति। प्रतिषेधचोदना प्रतिषेधवाक्यं प्रतिषिद्धकर्मणः प्रतिषिद्धस्य हननादेः या फलगर्द्धिनिवृत्तिः फलाकाङ्क्षौदासीन्यरूपोपरतिः सैव प्रतिषेधचोदनाया विषयः स्यात्। ततः किं तत्राह-सेति। सा निवृत्तिः नियोगः कार्यं न भवति प्रागभावरूपत्वेन तस्याः सिद्धस्वभावत्वात्। तर्हि किं तद्विषयो विधेयः, तथा च निषेधानां विधिनिष्ठता नेत्याह-न'चेति। तस्य नियोगस्य गोचरो विषयः तस्याननुष्ठेयत्वात्, नियोगग्रहणं भावनाया अप्युपलक्षणम्। नापि भावना भाव्यो वा तथेत्यर्थः। निषेधवाक्यस्य हि निषिध्यमानहननादिगतश्रेयःसाधनत्वाभाव एवार्थः। न च स नियोगी भवति, न वा तस्य गोचरः, विधेर्भावार्थगोचरत्वनियमादिति न तद्वाक्यं कार्यपरमतस्तत्र वेदवाक्यत्वं व्यभिचरतीत्यर्थः।।४०१।।

अपिचेति= प्रतिषेध चोदना= प्रतिषेध वाक्य, प्रतिषिद्ध कर्म का, प्रतिषिद्ध मारना (हननादि) है, वह फलर्ध्दिनिवृत्तिः= फल की आकाङ्क्षा में उदासीनता रूप उपरति वही प्रतिषेधआज्ञा का (चोदना का) विषय होगा इससे क्या सिद्ध होगा? सेति= वह निवृत्ति (औदासीन्य रूप उपरति) नियोगः= कार्य नहीं हो सकती क्योंकि ऐसी निवृत्ति तो प्रागभावरूप है ही (जैसे घडे के उत्पन्न होने के पहिले उसका प्रगभाव कपाल में रहता है) इसीप्रकार निवृत्ति का प्रागभाव तो विद्यमान होने के कारण वह सिद्ध ही है। जब वही निवृत्ति सिद्ध स्वभाव वाली है तो उसका विषय विधेय भी कैसे होगा। अर्थात् नहीं होगा। इस प्रकार निषेध वाक्य को विधि निष्ठ मानना उचित नहीं है न चेति= तस्य= नियोग का (कार्य का) गोचरः= विषय, ऐसे नियोग के विषय का अनुष्ठान न होने के कारण यहां नियोग का ग्रहण करने से भावना का भी ग्रहण अपने आप हो गया। अर्थात् न नियोग भावना है अथवा भाव्य भी है। क्योंकि निषेधवाक्य तो जो निषेध्यमान हननादि है तद्गतश्रेय-साधनत्वाभाव ही बताता है। ऐसा श्रेयसाधनत्वाभाव न तो नियोग हो सकता है और न तो वह ऐसे नियोग का विषय ही हो सकता है। क्योंकि नियोग का मतलब हुवा विधि तो विधि हमेशा भावार्थ गोचर होती है इसलिये निषेधवाक्य कार्यपरक (विधिपरक) नहीं होने से वेद वाक्य का इसमें व्यभिचार हुवा। वेद वाक्य तो है लेकिन उसमें विधिपरत्व नहीं है या नियोग परत्व नहीं है इत्यादि। यत्र यत्र वेद वाक्यत्वं तत्र तत्र (कार्य परकत्वं) विधिपरकत्व इस व्याप्ति का व्यभिचार ब्राह्मणो न हन्तव्यः इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है।

ननु निवृत्तिरेव नञर्थ इति कथम्, यावता नेक्षेतोद्यन्तमित्यत्र ईक्षणविरुद्धमानस-क्रियाविधिर्यथाऽऽश्रीयते तद्वद्धननादिविरुद्धक्रिया प्रकृतेऽपि विधीयतामित्याशंक्य दृष्टान्त- वैषम्येण परिहरति—

आशंका= नञ् का अर्थ निवृत्ति ही है यह कैसे? क्योंकि देखा गया है– "नेक्षेतोद्यन्तम्" उदित हुये सूर्य को नहीं देखना चाहिये, यहां ईक्षण विरुद्ध (देखने के विरूद्ध) मान स क्रिया विधि का आश्रय लिया जाता है। मैं आदित्य को न देखूं ऐसा संकल्प ही है इसीप्रकार हननादि विरूद्ध क्रिया प्रकृत में भी विधि से ली जाय ऐसी आशंका होने पर दृष्टान्त विषम है करके इस आपत्ति को हटा रहे हैं–।

नञः स्वसम्बन्धिपदार्थवस्तुनो
निवृत्तिरर्थः सहज प्रसिद्धितः।।
अनीक्षणादौ व्रतशब्दसङ्गतेः
परप्रयुक्ता खलु मानसी क्रिया।।४०२।।

अन्वयः= प्रसिद्धतः नञः सहज अर्थः, स्वसम्बन्धिपदार्थवस्तुनो निवृत्तिः, अनीक्षणादौ व्रतशब्दसंगतेः मानसी क्रिया परप्रयुक्ता खलु।।

अन्वयार्थः= लोकप्रसिद्धि के आधार पर नञ् का सहजअर्थ है स्वसम्बन्धि पादार्थ निवृत्ति नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं। आदि स्थलों पर (उपक्रमानुसार) व्रत शब्द के अनुसार (अनीक्षण संकल्प रुप) मानस क्रिया का लाभ होता है।।

नञ इति। स्वसम्बन्धि यत्पदं तदर्थः स एव वस्तु तस्येत्यर्थः। नञ्पदं येन पदेन सम्बध्यते तस्य तदर्थाभाव एव सहजार्थो मुख्योऽर्थः। कुतः वृद्धव्यवहारे तथा प्रसिद्धितः, न तद्विरुद्धत्वादि। नानार्थत्वप्रसङ्गात्, तच्चैकस्य शब्दस्य सति गत्यन्तरेऽनुपपन्नम्।

एतदुक्तं भवति। न हन्तव्य इत्युक्ते स्वरसतः स्वसम्बन्धितिवृत्तेरेव पुरःस्फूर्तिदर्शनात्सैवार्थो न पर्युदासस्तथेति मुख्यार्थसम्भवे नार्थान्तरं कल्प्यमित्यर्थः। कथं तर्हि–

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन।।

नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्। इत्यादौ पर्युदासाश्रयणमिति चेद्बलवद्बाधवशादित्याह– अनीक्षणादाविति। नेक्षेतेत्यादौ मानसी क्रिया ईक्षणविरुद्धा मानसी क्रिया परप्रयुक्ता खलु मुख्यार्थपरिग्रहबलवद्बाधनिमित्तैव। किं तद् बलवद्बाधकं? व्रतशब्दसङ्गतेः, तस्य वाक्यस्योपक्रमे अथातः प्रजापतिव्रतमिति व्रतशब्दश्रवणाद् व्रतस्य चानुष्ठेयत्वादनुष्ठेयपरं तत्प्रकरणं नञो मुख्यार्थस्याभावस्याननुष्ठेयत्वान्नञाऽनुष्ठानयोग्या मानसी क्रिया तत्र लक्ष्यत इति तद्वाक्यं विधिपरम्। न च तथाऽत्र मुख्यार्थान्वये किं चिद् बाधकमस्तीति नैतद्विधिपरमित्यर्थः।।४०२।।

नञ इति= स्वसम्बन्धि= जो पद नञ् के साथ होगा उसका अर्थ, पदार्थः- वही वस्तु नञ् की है। अर्थात् नञ् पद जिस पद के साथ सम्बन्धित होता है नञ् पद उस सम्बन्धि पद के अर्थ के अभाव को सिद्ध करता है। यही सहज या मुख्यार्थ नञ् का है, ऐसा क्यों? प्रसिद्धितः ऐसा वृद्धों का व्यवहार देखा गया है इसके विरुद्ध व्यवहार नहीं देखा गया है। अन्यथा नञ् के अनेक अर्थ होने लगेंगे। और वह एक शब्द से एक अर्थ से उपपन्न हो तब तो अन्य गत्यन्तर अनुपन्न ही है।

एतदुक्तं, भवति= "न हन्तव्यः" ऐसा कहने के बाद स्वाभाविक रूप से नञ् से सम्बन्धित निवृत्ति ही परिस्फुरित होती है उसे हननात्म वृत्ति का जो अर्थ है उसके प्रति (पर्युदास होना) निवृत्त होना, यही मुख्यार्थ सम्भव है, यहां अर्थान्तर की कल्पना करना व्यर्थ है।

आशंका= फिर वह कैसे कह दिया—

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन।

नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसोगतम्।।

सूर्य का दर्शन सूर्योदय के समय नहीं करना चाहिये, सूर्यास्तके समय में भी उसका दर्शन नहीं करना चाहिये, सूर्य जब लालरंग का होवे तब भी सूर्य का दर्शन नहीं करना चाहिये, जल में प्रतिबिम्बत सूर्य का दर्शन नहीं करना चाहिये इसी प्रकार आकाश में मध्याह्न के समय भी सूर्य का दर्शन नहीं करना चाहिये।

आशंका= इत्यादि स्थल में कैसे पर्युदासाश्रयणमिति= विधि का आलम्बन ले लिया है

समाधान= बाधवशादिति- व्रत का बाध न हो जाय इसलिये यहां विधी को अपनाया है। अनीक्षणादाविति= नेक्षेत्- देखे नहीं इत्यादि स्थल में मानसी क्रिया जो देखना उसके विरुद्ध ही है।

आशंका= बलवद् बाधक कैसे?

समाधान= व्रत शब्द सङ्गतेः= व्रत शब्द की संगति होने से इस वाक्य के पहिले वाक्य आता है कि "अथातः प्रजापतिव्रतमिति" अब प्रजापति व्रत प्रारम्भ किया जाता है, इसमें व्रत शब्द का श्रवण किया गया और व्रत हमेशा अनुष्ठान के योग्य होता है। इसलिये यह प्रकरण भी अनुष्ठेय परक हीं है। अब यहां नञ् के सम्बन्धि मुख्यार्थ के अभाव को

लेने से वह अनुष्ठेय नहीं होने से व्यर्थ होगा। अतः नञ् के सम्बन्ध से अनुष्ठान योग्य मानसी क्रिया लेनी होगी, वही प्रकृत में लक्ष्य है, इसलिये नेक्षेतोद्यन्तम् इत्यादि वाक्य विधिपरक माना गया है। लेकिन ब्राह्मणो न हन्तव्यः ब्राह्मणं न हन्यात्, सुरां न पिबेत् आदि वाक्यों में नञ् के साथ मुख्यार्थ लेने में कोई बाधक नहीं है। इसलिये इन वाक्यों को विधिपरक नहीं माना जाता है। और "नेक्षेद्यन्तम्" आदि वाक्यों को विधिपरक अनुष्ठान के कारण माना जाता है।

किं च प्रतिषेधवाक्यस्यापि निवृत्तिक्रियाविधिपरत्वे सर्वमेव वाक्यं विधिपरमिति विधिप्रतिषेधविभागो न स्यात्, अस्ति च सः, "फलबुद्धिप्रमेयाधिकारिबोधकभेदतः।। पञ्च-धाऽत्यन्तभिन्नत्वाद्भेदो विधिनिषेधयोः" इति सकलमहाजनाद्दृत इत्याशयेनाह—

और भी बात यह है कि प्रतिषेध वाक्य को भी निवृत्ति क्रिया के विधिपरक ही हो जायेंगे। फिर तो विधि प्रतिषेध का विभाग भी नहीं हो सकेगा। जबकि दोनों का विभाजन है। उसमें कारण है "फलबुद्धिप्रमेयाधिकारिबोधकभेदतः" फलविषयक बुद्धि वह विहित प्रमेय विषय होगी या निषिद्ध प्रमेय विषयक होगी तो ऐसे बुद्धियुक्त अधिकारी भी अलग अलग होने से विधि और प्रतिषेध में दोनों में भेद है "पञ्चधाऽत्यन्त भिन्नत्वाद्भेदो विधिनिषेधयो" विधि और प्रतिषेध में पांच प्रकार का भेद है यह सभी महाजनों से आद्दृत है अर्थात् स्वीकृत है इस आशय से कहा जा रहा है— (टिप्पणी-

फलबुद्धि प्रमेयाधिकारिबोधक भेदतः।
पञ्चधाऽत्यन्तभिन्नत्वात् भेदो विधिनिषेधयोः। (न्यायसुधा)

१) फल २) ज्ञान ३) प्रमेय ४) अधिकारी ५) बोधक वाक्य के भेदसे पांच प्रकारका विधिनिषेध वाक्यों में भेद है। १) विधिका स्वर्गादिकरूप इष्टफल है, निषेध का अनिष्ट निवृत्तिरूप फल है। २) ज्ञान- विधिवाक्य के सुनने से ''अहमृस्मिन् कार्ये प्रवर्तितः'' मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुवा हूँ, निषेधशास्त्र के श्रवण से ''अहम्रस्मान्निवर्तितः'' में इससे निवृत्त हो चुका हूँ। ३) प्रमेयविधि का प्रमेय यागादिगत इष्ट साधनत्व तो निषेध का प्रमेय कलञ्जभक्षणादिगत अनिष्ट साधनत्व है। ४) अधिकारी- स्वर्गादि साधनों में अप्रवृत्त पुरुष विधिवाक्यों का अधिकारी है तो हननादि में प्रवृत्त पुरुष निषेध वाक्यों का अधिकारी है वाक्य- विधिवाक्य नञ् से रहित है तो निषेध वाक्य नञ् घटित है।

अपि च प्रतिषेधचोदना
न तु भिद्येत भवन्मते विधेः।।
विधिरेव तु चोदनाऽखिला
न हि वेदे वचनं निवर्त्तकम्।।४०३।।

अन्वयः= अपि च भवन्यते विधेः प्रतिषेधचोदना न तु भिधेत। अखिला चोदना तु विधिरेव वेदे निवर्त्तकं वचनं न हि।।

अन्वयार्थः= और भी बात यह कि आप के मत में विधि वाक्य से विषेध वाक्य का कोई भेद ही नहीं रह पायेगा। सम्पूर्ण वेद वाक्य विधि रूप होंगे। क्यों कि वेदमें आपके मत से तो निवर्त्तक वचन है ही नहीं।

अपि च प्रतिषेधचोदनेति। विधेरिति पञ्चमी। कुत इत्यत आह-विधिरेवत्विति। भवन्मत इत्यनुषङ्गः। ननु प्रवर्त्तको विधिः निषेधवाक्यं च निवर्त्तकमिति कथं तस्य विधित्वं तत्राह- न हि वेद इति। अत्रापि भवन्मत इत्यनुषञ्जनीयम्। निषेधेऽपि विधीयमानायाः क्रियायाः प्रवृत्तिविशेषत्वान्न भवन्मते तद्वाक्यं प्रतिषेधनिष्ठमिति भावः।।४०३।।

अपि च प्रतिषेधचोदनेति= विधेरिति= पञ्चमी का प्रयोग है। अर्थात् प्रतिषेधचोदना विधि से अतिरिक्त नहीं हे। ऐसे कैसे कहा? विधिरेव त्विति= आपके मत से ऐसा अनुसन्धान करना है।

आशंका= प्रवर्त्तक वाक्य को विधि वाक्य कहते है और निवर्त्तक वाक्य को निषेध वाक्य कहते है, तो फिर प्रतिषेध वाक्य को विधित्व कैसे संभव होगा?

समाधन= न हि वेद इति= यहां भी आपके मत में ऐसा अनुसंधान करना होगा। निषेध में भी विधीयमान क्रिया को प्रवृत्ति विशेष स्वरूप ही मानना पडता है अतः आपके मत से प्रतिषेक वाक्य भी प्रतिषेधनिष्ठ न होकर विधि निष्ठ ही होंगे।

एवं संक्षेपेण प्रतिषेधवाक्यस्य सिद्धनिष्ठत्मुपपाद्य तद्वदेव समस्तं वेदान्तवाक्यं विधिशून्यमेव फलपर्य्यवसायि प्रमाणमस्तु इत्युपसंहरति—

इस प्रकार प्रतिषेध वाक्य सिद्धनिष्ठ होने से विधि निष्ठ होने से उसी प्रकार समस्त वेदान्त वाक्य भी विधि शून्य होकर केवल फलपर्यवसायि (अनादि अज्ञान को हटाना तथा ब्रह्म साक्षात्कार पर्यवासायि) में प्रमाण रूप से है ऐसा उपसंहार कर रहे है —।

प्रतिषेधवाक्यवदतः सकलं
विधिशून्यमेव फलवद्भवतु।।
वचनं त्रयीशिरसि तत्त्वमसि-
प्रभृति प्रतीचि तमसोऽपहतेः।।४०४।।

अन्वयः—अतः प्रतिषेधवाक्यवत् सकलमेव विधिशून्यं त्रयीशिरसि। तत्त्वमसिप्रभृतिवचनं फलवत् भवतु। प्रतीचि तमसोऽपहतेः।।४०४।।

अन्वयार्थः— अतः प्रतिषेध वाक्य के समान समस्त विधि रहित, "वेदान्त तत्त्वमसि" आदि वचन सफल होते हैं। क्योंकि उनसे प्रत्यगात्मा के अज्ञान रूप तम की निवृत्ति होती है।४०४।।

प्रतिषेधवाक्यवदिति। अत उक्तन्यायात्। तत्तवमसि प्रभृति तत्त्वमस्यादिवचनमिति सम्बन्धः। फलवत्त्वमेवाह—प्रतीचीति। तमसोऽनाद्यज्ञानस्य अपहतेर्बाधनादित्यर्थः।।४०४।।

प्रतिषेध वाक्यवदिति— "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं" इसमें जैसे विधिन्याय को लगाया है इसी न्याय से। तत्त्वमसिप्रभृति तत्त्वमस्यादि वचन भी है, ऐसा सम्बन्ध लगा लेना। फलवत्त्वमेवाह— प्रतीचीति— तम सो— अनादि अज्ञान की, अपहतेः— बाध वेदान्त से होता है, यह तात्पर्य है।

एवं नञो मुख्यया वृत्त्या प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वात् तस्य च कार्यविषयत्वासम्भवादनीक्षणादावनुष्ठेयार्थव्रतशब्दसमभिव्याहारबलेन नञः पर्युदासलक्षणया ईक्षणविरुद्धमानसक्रियार्थत्वान्निषेधवाक्ये च तादृशस्य मुख्यार्थत्यागनिमित्तस्य कदाचिदप्यभावान्निषेधवाक्यं निषेधनिष्ठं न कार्यनिष्ठं, तद्वदेव वेदान्तवाक्यं सर्वमेव ब्रह्मनिष्ठमित्युक्तम्। इदानीं नञर्थे भट्टाभ्युपगमविशेषं दूषयितुमनुवदति—

इसप्रकार नञ् का मुख्यवृत्ति से जो नञ् के सम्बन्धी होगा उसीका निषेध वह करता है। लेकिन "नेक्षेतोद्यन्तम्" इस निषेध वाक्य में नञ् के लिये कोई कार्य विशेष सम्भव नहीं होने से, अनीक्षण में अनुष्ठेय प्रजापति व्रत का समभिव्याहार के बल से नञ् का (पर्युदास लक्षणा से) नञ् के अपने अर्थ के प्रति कम सावधान रहना तथा व्रत को प्रधानता देना यही पर्युदास लक्षण है अर्थात विरुद्ध काम करना। इसे लक्षणा से ईक्षण विरुद्ध मानसि क्रियार्थ परक माना गया। और निषेध वाक्य में नञर्थ सम्बन्धित के अभाव का बोध कराना, यह मुख्यार्थ है। लेकिन इस अर्थ को ईक्षण को यहां छोडना पडा, निषेध वाक्य से मुख्यार्थ परित्याग में कोई स्पष्ट कारण नहीं है। यहां केवल व्रत को लेकर समन्वय किया गया। तो निषेध वाक्य निषेध निष्ठ होने पर भी कार्य निष्ठ तो नहीं हुवा।

इसी प्रकार से वेदान्त वाक्य भी ब्रह्मनिष्ठ है ऐसा कह दिया। ("नञर्थौ द्वौ समाख्यातौ प्रसद्यपर्युदासकौ" पर्युदासः सदृशः ग्राही और प्रसद्यस्तु निषेध कृत् (भूषण)) अब इस समय नञर्थ के विषय में भट्ट का मत विशेष खण्डित करने के लिये, अनुवाद कह रहे है :—।

नामधातुसहितो नञिष्यते
पर्युदासविषयो मनीषिभिः।।
न प्रसक्तविनिवृत्तिवाचको-
ऽब्राह्मणादिषु तथोपलम्भनात्।।४०५।।

अन्वयः=नामधातु सहितो नञ्मनीषिभिः पर्युदासविषयः इष्यते प्रसक्तिविनिवृत्तिवाचको न। अब्राह्मणादिषु तथोपलम्भनात्।।४०५।।

अन्वयार्थः= सुबन्त नाम और लिङ्गन्त धातु शब्दों से युक्त नञ् को मनीषिगण है (परित्यागार्थक) पयुदासार्थक मानते हैं। प्रसक्तप्रतिषेधक नहीं। क्योंकि अब्राह्मणादि शब्दों में वैसा ही देखा गया है।।४०५।।

नामधातुसहित इति। सुबन्तेन धातुना वा सहित इत्यर्थः। न केवलं प्रसक्तस्याभाव एव नञो मुख्यार्थोऽपि तु तदन्यतद्विरोधिनावपि। तत्र नामधातुसहितो नञ् पर्युदासविषय इष्यते। पर्युदासो नाम नञ्सम्बन्धिपदार्थपरिवर्ज्जनम्। नामधातुभ्यां योगे प्रसक्तस्य विनिवृत्तिरभावस्तन्मात्रवाचको न, कुतः अब्राह्मणादिषु अग्रे अब्राह्मणास्तिष्ठति म्लेच्छोऽयमधर्मीत्यादौ ब्राह्मणातिरिक्ते धर्मविरुद्धे पापेचततःप्रतीतिदर्शनादित्यर्थः। तदुक्तम्—"नामधात्वर्थयोगी तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।। वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ" इति।।४०५।।

नामधातुसहित इति= सुबन्त से अथवा धातु से सहित जो नञ् यह अर्थ अभिमत है। नञ् से केवल प्रसक्त पदार्थ का अभाव ही मुख्यार्थ नहीं है किन्तु प्रसक्त पदार्थ से अन्य का विरोधी का भी अभाव मुख्यार्थ है। नाम और धातु के सहित नञ् पर्युदासविषय माना जाता है।

आशंका= पर्युदास क्या है?

समाधान= "नञ् सम्बन्धिपदार्थपरिवर्जनम्" नञ् का सम्बन्धि जो पदार्थ होगा उसका परित्याग इसे पर्युदास कहते हैं।

नाम और धातु के योग से प्रसक्त का, विनिवृत्ति वाचको= अभाव मात्र वाचक नञ् नहीं होता है। क्यों? अब्राह्मणादिषु= आगे अब्राह्मण खडा है, यह म्लेच्छ है यह अधर्मी है तो ब्राह्मण से अतिरिक्त धर्म विरुद्ध पापी में नञ् के संयोग से प्रतीति उत्पन्न होती

हैं तो प्रकृत में "अग्रे अब्राह्मणो तिष्ठति" आगे अब्राह्मण खडा है इस प्रतीति से नञ् सन्निधि से केवल ब्रह्मणाभाव की प्रतीति नहीं हुई किन्तु म्लेच्छ, अधर्मी तथा धर्म विरूद्ध पापी की भी प्रतीति हुई। तदुक्तम्= नाम धात्वर्थ योगी तु नैव नञ् प्रतिषेधकः। ''वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ'' नाम धातु के योग से केवल नाम और धातु का मात्र प्रतिषेध नहीं करता है किन्तु अब्राह्मण शब्द से ब्राह्मणातिरिक्त अधर्म पापी आदि मात्र का भी नञ् विरोधी होता हैं

उक्तमेव दृष्टान्तं प्रकटयन्नामधातुयोगिनोऽपि नञस्तदन्याविरुद्धार्थत्वे क्रमेणोदाहरणमाह–

उक्त बात ही दृष्टान्त सहित प्रकटित करते हुये नामधातु के योग में नञ् नाम ध ातु से अन्य का विरोधी है इसका क्रम से उदाहरण दे रहे हैं–

अब्राह्मणाधर्मगिरोर्नञेष
नामान्वयादाश्रितपर्युदासः।।
अन्यं विरुध्दं च समाभिधत्ते
नोद्यन्तमित्यादिषु धातुयोगात्।।४०६।।

अन्वयः= एष नञ् अब्राह्मणाधर्मगिरोः नामान्वयात् "नोद्यन्तम्" इत्यादिषु धातुयोगात् आश्रितपर्युदासः सदा अन्यं विरुद्धं च अभिधत्ते।।

अन्वयार्थः= यह नञ् "अब्राह्मणः "आदि वाक्यों में नाम के योग से एवं "नेक्षेतोद्यन्तमादिप्त्यम्आदि वाक्यों में धातु के सम्बन्ध से पर्युदास वृत्ति का सदा आश्रय लेकर अन्य और विरूद्ध अर्थ को कहता है।

अब्राह्मणेति। आश्रितोऽर्थत्वेन स्वीकृतः पर्युदासो येन नञा सः। नोद्यन्तमिति। नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यादिष्वित्यर्थः। एष नञ् धातुयोगाद्धातुरीक्षणं तत्सम्बन्धात् पर्युदासवृत्त्या विरुद्धमीक्षणविघातकमन्यसंकल्पं सदाऽभिधत्त इति योजना।।४०६।।

अब्राह्मणेति= आश्रितो= अर्थवत्वेन रूप से स्वीकृत है पर्युदास जिस नञ् से ऐसा वह नञ्। "नोद्यन्तमिति-नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्" इत्यादि उदाहरण में देखा गया है। यह नञ् इक्षणादि धातु के योग से धातु ईक्षण उसके सम्बन्ध से पर्युदास वृत्ति से विरूद्ध ही ईक्षणविघा तक (ईक्षण को नष्ट करने वाले) मन के संकल्प को बताता है। ऐसी अर्थ योजना कर लेनी है।

नन्वत्र वाक्ये कीदृशः पर्युदासो नञा लभ्यते तमाह–

आशंका= नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं इस वाक्य में कैसे पर्युदास नञ् से उपलब्ध होता है?
समाधान= इस पर कहते हैं—

नोद्यन्तमित्यत्र नञेक्षणार्थ-
समीपकार्यान्तरमुच्यते हि।।
ततश्च नेक्षिष्य इतीदृशी स्यात्
संकल्पना संनिहितत्वहेतोः।।४०७।।

अन्वयः= नोद्यन्तम् इत्यत्र नञा ईक्षणार्थसमीपकार्यान्तरं उच्यते हि, ततश्च सन्निहितत्वहेतोः "नेक्षिष्ये" "इतीदृशी, संकंल्पना स्यात्"।।

अन्वयार्थः= नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं यहां पर नञ् के द्वारा ईक्षण निकटवर्ती कार्यान्तर (अनीक्षण संकल्प) कहा जाता है। इसलिये निकट होने के कारण "नक्षिष्ये" इस प्रकार का अनीक्षण विषयक सङ्कल्य किया जाता है।

नोद्यन्तमिति। अत्रास्मिन्वाक्ये ईक्षणार्थस्य ईक्षणधात्वर्थस्य समीपं सम्बन्धि यत्कार्यान्तरम् ईक्षणविरूद्धम् ईक्षणकार्यात्कार्यान्तरं धातुयोगिनाऽपि नञा तदर्थविरूद्धमेव वस्तत्वन्तरमभिधीयते नान्यदिति समीपेत्युक्तम्। तदेव विविच्य दर्शयति ततश्चेति। नेक्षिष्य इतीदृशी संकल्पनाऽस्मिन्वाक्य नञाऽभिधेया स्यादीक्षणविरोधिसंकल्पस्येक्षणविरोधितया तत्संबन्धित्वेन सन्निहितत्वाद्धेतोरित्यर्थः।।४०७।।

नोद्यन्तमिति= इस वाक्य में ईक्षणार्थ का (देखने रूप अर्थ का) ईक्षणधात्वर्थ के समीप= सम्बन्धि जो, कार्यान्तरम्= ईक्षणविरूद्ध जो कार्य है, अर्थात् ईक्षण कार्य से अन्य कार्यान्तर का धातु ईक्षण का योग होने पर भी नञ् से ईक्षणार्थ के विरूद्ध ही वस्त्वन्तर (कार्यान्तर) नञ् से कही जाती है, अन्य कुछ भी नहीं। इसलिये समीप शब्द का प्रयोग किया ततश्चेति= "नेक्षिष्य संकल्पन" ऐसा जो संकल्प इस वाक्य में नञ् से कहना है। तो ईक्षण विरोधि संकल्प को ईक्षण विरोधी होने के कारण नञ् के सम्बन्धि होने के कारण पर्युदास की प्राप्ति नञ् से अभिहित होती है।

क्व तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधावकाशस्तमाह—

आशका— यदि पर्युदास से काम चलेगा तो फिर प्रसज्यप्रतिषेध को कहां सफलता मिलेगी। अर्थात् प्रसज्यतिषेधक नञ् कहां उपयुक्त होगा? इस पर कहते है—

द्विजं न हन्यान्न कलञ्जमद्या-
दित्यादिवाक्ये विधिनाऽस्य योगात्।
प्रसज्यमानार्थनिवृत्तिमात्रं
नञोऽर्थ इत्याश्रितमादरेण।।४०८।।

अन्वयः=द्विजं न हन्यात् "कलञ्जं न अद्यात्" इत्यादि वाक्ये अस्य विधिना योगात् प्रसज्यमानार्थ-निवृत्तिमात्रं नञर्थः इति आदरेण आश्रितम्।।४०८।।

अन्वयार्थः= ब्राह्मण को न मारे, विषाक्त बाण से विद्ध मृग का मांस न खायें आदि वाक्यों में इस नञ् का प्रत्ययार्थ (विधि) से अन्वय होने के कारण प्राप्त हननादि अर्थों की निवृत्तिमात्र ही नञर्थ है, ऐसा आदरपूर्वक स्वीकृत किया जाता है।।४०८।।

द्विजं न हन्यादिति। अद्याद्भक्षयेत्। आदिपदेन न सुरां पिबेदित्यादि संगृह्यते। विधिना लिङादिपदेनास्य नञः प्रसज्यमानस्य भ्रान्त्या प्रसक्तस्य हननादिगतस्यार्थस्य श्रेयः साधनत्वस्य निवृत्तिरभावस्तन्मात्रमित्यर्थः। द्विजं न हन्यादित्यादिवाक्ये नञे लिङ्गादि संम्बन्धवशात्तदर्थस्य श्रेयःसाधनत्वस्याभावमात्रमर्थ इत्यङ्गीकृतं परैरित्यर्थः।।४०८।।

द्विजं न हन्यात्= ब्राह्मण को मारें, न अद्यात्= भक्षण न करें। आदि पद से सुरां न पिबेत् शराब नहीं पीनी चाहिये इसका भी संग्रह कर लेना चाहिये। विधिना= लिङादिपद से, जो विधि कह गई है उसका नञ् पद के कारण प्रसज्यमानस्य= भ्रान्ति से हननादिक में प्रवृत्त हुये पुरुष को, अर्थस्य= श्रेयः साधनत्वरूप अर्थ की, निवृत्ति मात्रम्= अभाव मात्र का द्योतन वह नञ् करा देता है "द्विजं न हन्यात्" ब्राह्मण को (द्विज को) न मारें। इस वाक्यान्तर्गत नञ् से लिङ्गादिसंम्बन्धवश से हननादि रूप अर्थ में श्रेय साधानत्व का अभाव मात्र है ऐसा अर्थ भट्ट को भी अभिमत है।

अत्रापि प्राभाकराणामभ्युपगममाह—

इस विषय में प्राभाकर की स्वीकृति भी बता रहे हैं—

नाद्यां न हन्यां न पिबेयमित्यपि
वाक्येषु नञ्वत्सु वदन्ति मानसीम्।।
संकल्परूपां विधिबन्धिनीं क्रियां
नोद्यन्तमित्यादिवचःस्विवापरे।।४०६।।

अन्वयः= अपरे नञ्वत्सु वाक्येषु अपि नोद्यन्तमित्यादि वचःस्विव "नाद्याम्" न हन्याम् न पिबेयम् इति संकल्परूपां विधिवर्तिनीं मानसीं क्रियां वदन्ति।।४०६।।

अन्वयार्थः= अन्य (प्रभाकार गण) उक्त नञ् घटित वाक्यों में भी "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं" के सामन ही "न अद्याम्, नपिबेयम्। इस प्रकार की संकल्प रूप विधियोग्य मानसक्रिया को ही नञर्थ कहते हैं।।४०६।।

नाद्यां न हन्यामिति। अपरे प्राभाकराः नञ्वत्सु न हन्यादित्यादिषु वाक्येषु नाद्यां न हन्यामित्यादिसंकल्परूपां विधिबन्धिनीं विद्ध्यनुबन्धरूपां क्रियां वदन्तीति सम्बन्धः। तत्र दृष्टान्तो नोद्यन्तमित्यादीति। न हन्यादित्यादावपि हननपानादि न कुर्यामित हननादिक्रिया-विरोधिसंकल्पक्रियाविधिरेवार्थ इति प्राभाकरा वदन्तीत्यर्थः।।४०६।।

नाद्यां न हन्यामिति अपरे= प्राभाकरआदि। नञ् के सम्बन्ध से न हन्यात् इत्यादि वाक्यों में नाद्यां न हन्याम्= आद्यभक्षण हुवा कलञ्ज उस को न खाये कलञ्ज नाद्यां, ब्राह्मणं न हन्यात्, सुरां न पिबेत् इत्यादि संकल्परूप विधि बन्धिनीं= विधि में अनुबन्धित करते हैं, विधि में अनुबन्धित क्रिया को प्राभाकरादि बोलते हैं। यहां प्रसिद्ध दृष्टान्त है नोद्यन्तमित्यादि। न हन्यात् इत्यादि स्थलों में भी हनन– पानादि न कुर्याम् हनन पानादि नहीं करना चाहिये तो इसकी विधि अनुबन्ध बनेगा– हननादि विरोधी क्रिया संकल्प क्रिया विधि यही इसका अर्थ है अर्थात् मुझे हनन नहीं करना है, मुझे पान नहीं करना है ऐसा संकल्प ही विधि स्वरूप बन जाता है ऐसा प्राभाकर तथा उनके अनुयायी कहते हैं।

ननु न हन्यादित्यादौ प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वसम्भवे किमिति पर्युदासाश्रयणमित्याशङ्क्य तत्सम्भवोऽसिद्ध इत्याह–

आशंका= "न हन्यात्" इत्यादि वाक्य में प्रसज्यप्रनिषेधार्थत्व से ही काम चल जाता है फिर यह पर्युदासाश्रयण किसलिये किया जा रहा है?

समाधान= प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्व असिद्ध होने से पर्युदासाश्रयणत्व स्वीकृत करना पडता है–

वाक्येषु नञ्वत्सु निवृत्तिमात्रं
प्रमेयमित्यभ्युयगम्यमाने।।
प्रत्यक्षमानेन विरुध्यते हि
निवृत्तिशास्त्रं न च युज्यते तत्।।४१०।।

अन्वयः= नञ्वत्सु वाक्येषु निवृत्तिमात्रं प्रमेयं, इत्यभ्युपगम्यमाने हि निवृत्तिशास्त्रं प्रत्यक्षमानेन विरुध्यते, तन्न युज्यते।।४१०।।

अन्वयार्थः= उक्त घटित वाक्यों में निवृत्ति मात्र को नञ्र्थ मानने पर निवृत्ति शास्त्र, प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध हो जाता है, जो कि उचित नहीं है।।४१०।।

वाक्येष्विति। प्रत्यक्षमानेनेति। वक्ष्यमाणविधया श्रेयः- साधनत्वस्य हननादेर्ब्राह्मणादेर्वा निवृत्तिरभावः प्रत्यक्षमानेन हि विरुद्ध्यत इति नञस्तत्प्रमेयत्वमभ्युपगन्तुं शक्यतेऽतस्तच्छास्त्रं निवृत्तिशास्त्रमिति न युज्यत इति सर्वमेव शास्त्रं प्रवर्त्तकमित्यर्थः।।४१०।।

वाक्येष्विति= प्रत्यक्षप्रमाण से। आगे हम विधि बतायेंगे कि श्रेयसाधनता ब्राह्मण के हनन का, निवृत्तिः= अभाव, प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है। इसलिये अभाव को (निवृत्ति मात्र को) नञ् का प्रमेय स्वीकृत नहीं किया जा सकता। अतः प्रतिषेधशास्त्र निवृत्तिशास्त्रं है ऐसा युक्तियुक्त नहीं है किन्तु सब वेद रूपी शास्त्र प्रवर्त्तक स्वरूप ही है।

किं च "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनम्" इति शाबरभाष्यकारोऽपि निषेधचोदनाया अपि प्रवर्त्तकत्वं दर्शयति। विधिनिषेधविभागस्तु धात्वर्थतद्विरोधिक्रिया-विधित्वरूपतदवान्तरविशेषनिमित्त इति साऽपि प्रवृत्तिनिष्ठेत्याशयेनाह—

इसी प्रकार किंच= "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनम्" वेद का, क्रिया का प्रवर्त्तक वचन इस पर शाबर भाष्य में शबर स्वामी "निषेधचोदनाया" वेद के प्रतिषिद्ध वाक्य को भी निषेध वाक्य को भी प्रवर्त्तक मानते हैं। फिर विधि निषेध का विभाग कैसे होगा? तो बताते हैं कि हनानदि धात्वर्थ तद्विरोधी क्रिया, न हन्यात् इत्यादि उसकी जो विधि रूप क्रिया संकल्पात्मिका क्रिया वह अवान्तर विशेषनिमित्तक है अर्थात् संकल्प रूप अवान्तर विशेष निमित्तक है, जिससे श्रेयसाधनत्व की उपपत्ति लग सकती है। अतः निषेध चोदना भी प्रवृत्ति निष्ठ है इस आशय से कहा जा रहा है—

प्रवर्त्तकं वाक्यमुवाच चोदनां
निवर्त्तकं नैवमुवाच भाष्यकृत्।।
ततश्च विद्मो न हि चोदनाऽस्ति सा
प्रवर्त्तिका या न भवेदिति स्थितिः।।४११।।

अन्वयः= भाष्यकृत् प्रवर्त्तकंवाक्यं चोदनां उवाच। एवं निवर्त्तकं वाक्यं न उवाच। ततः विद्मः या प्रवर्त्तिका न भवेत्, सा चोदना नास्तीति स्थितिः।।४११।।

अन्वयार्थः= भाष्यकार शबर ने प्रवर्त्तक वाक्यों को चोदना कहा हैं, किन्तु निवर्त्तक वाक्यों को नहीं कहा। इसलिये हम समझते हैं कि जो वाक्य प्रवर्त्तक नहीं होता है, वह चोदना भी नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त है।।४११।।

प्रवर्त्तकमिति। अन्यथा निषेधवचनं निषेधचोदनेत्यपि स ब्रूयान्नैवमवोचदित्याह निवर्त्तकमिति। ततः किं तत्राहः ततश्चेति। या प्रवर्तिका न भवेत्सा चोदना न ह्यस्तीति स्थितिरिति विद्म इति सम्बन्धः। तथा च न हन्यादित्यादिनिषेधचोदनाऽपि सङ्कल्पक्रियायां प्रवर्त्तिकेति भावः।।४११।।

प्रवर्त्तकमिति= नहीं तो निषेध वचन को निषेध चोदना करके भाष्य के आचार्य शबर कह सकते थे। लेकिन उन्होंने ऐसा कहा नहीं है निवर्त्तकमिति= इससे क्या सिद्ध हुवा तो कहते हैं ततश्चेति= जो प्रवर्त्तक न हो वह चोदना नहीं हो सकती, ऐसी स्थिति को हम जानते हैं ऐसा सम्बन्ध है। तो "न हन्यात्" इत्यादि निषेध चोदना भी संकल्प क्रिया के प्रति प्रवर्त्तक ही है। यह भाव है।

इदानीमाद्यमते यद्यप्युक्तविधयाऽपि न हन्यादित्यादिनिषेधवाक्यस्य सिद्धमात्रपर्यवसानं सिद्ध्यति, तथापि यदि नेक्षेतेतिवाक्यस्थनञेक्षणविरुद्धार्थप्रतीत्यनुरोधेन तस्य मुख्यार्थत्वं वेदत्तर्हि ततस्तत्प्रतीतौ शक्तिं विना गत्यन्तरमुक्तमेव, यद्युपपत्तितः तर्हि सा तत्र नास्त्येव, प्रत्युत विपक्ष एव सेत्याशयेन नामादियोगव्यवस्थया तुल्यवन्नञर्थत्रैविध्यमुक्तं दूषयति—

अब इस समय यह विचार किया जा रहा है कि आद्यमत में नञर्थ तो प्रसज्यप्रतिषेधार्थक है इस विधि के अनुसार न हन्यादित्यादि निषेध वाक्य को सिद्धमात्र पर्यवसान् सिद्ध होता है। अर्थात् प्रसज्यप्रतिषेधार्थ सिद्ध होता है। अर्थात् नञ् के सम्बन्धी ब्राह्मणादि उनके हनन का अभाव (निवृत्ति) सिद्ध होती है। तथापि यदि= "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं" वाक्यस्थ नञ् से ईक्षणविरूद्धार्थ प्रतीति के अनुरोध से नञ् का मुख्यार्थत्व स्वीकृत करें मानसी क्रिया का विधान करें तो ऐसी जो ईक्षणविरोधि मानसी क्रिया उसके प्रतीति में किसी पद की शक्ति है नहीं। इसके बिना भी प्रजापति व्रत के प्रसंग से इसे समन्वित करा दिया है। यदि कहो कि मानसी क्रिया को तो युक्ति के माध्यम (उपपत्ति से सिद्ध की) सिद्ध किया तो ऐसी युक्ति यहां है नहीं। उलट प्रसज्यप्रतिषेधात्मक जो विपक्ष है यही उपपत्ति युक्ति सिद्ध होगी। इस आशय से नामादि को पर्युदास व्यवस्थानुसार तुल्य बल से नञर्थ त्रैविध्य १) प्रसज्य प्रतिषेधन् २) नामयुक्त पर्युदास ३) धातु युक्त पर्युदास को बोलकर उसे दूषित कर रहे हैं।

न नामयोगो न च धातुयोगो
लिङ्गादियोगोऽपि न कारणं नः।।
नञः स्वसम्बन्धिनिवृत्तिमात्रं
स्वतोऽभिधेयं परतोऽन्यदस्य।।४१२।।

अन्वयः= नः न नामयोगः कारणं, न धातुयोगः, न च लिङ्गादियोगः। स्वसम्बन्धि निवृत्तिमात्रं नञः स्वतोऽभिधेयम्, अन्यत् अस्य परतः।।४१२।।

अन्वयार्थः= हमारे मत में न नाम योग कारण (नञर्थ व्यवस्थापक) है, न धातु योग और न ही लिङ्गादियोग ही कारण है। अपने सम्बन्धी अर्थ की निवृत्तिमात्र "नञ्" का स्वतः सिद्ध वाच्य है, अन्यत्व विरूद्धत्वादि इस (नञ्) के लक्षणादि से अर्थ किये जाते हैं।।४१२।।

न नामयोग इति। कारणं व्यवस्थयाऽन्यत्वादिप्रतिपादन इति शेषः। नः अस्मन्मते। कुतस्तत्राह-नञ इति। स्वसंबन्धिनो निवृत्तिरभावस्तन्मात्रम्। स्वतः मुख्यवृत्त्या। तर्हि ब्राह्मणादिप्रयोगेषु अन्याद्यर्थप्रतीतिः कथं तत्राह-परत इति। अस्य नञोऽन्यत्प्रसज्यप्रतिषेधातिरिक्तं तदन्यत्वादि परतो लक्षणया प्रतीयते इति शेषः। तथाचान्यलभ्यत्वादनेकशक्तिकल्पने गौरवाच्च तदन्यतद्विरोधिनौ नञो मुख्यार्थाविति भावः।।४१२।।

न नामयोग इति= कारणं= व्यवस्था की दृष्टि से, अर्थात् नञ् के योग से नाम धातु तथा लिङ् को हम कारण व्यवस्थापक नहीं मान सकते क्योंकि "अग्रे अब्राह्मणः तिष्ठति" इस प्रयोग में अन्यत्व का या विरोधि का प्रतिपादन भी तो नञ् ने किया है। नः= अस्मन्मते, हमारे मत में, क्यों? तो समाधान देते हैं नञ् इति। नञ् का स्वभाव है कि वह अपने सम्बन्धि के अभाव को सिद्ध करता है। स्वतः= किस वृत्ति से, तो कहते हैं, मुख्य वृत्ति से नञ् अपने सम्बन्धि के निवृत्ति को या अभाव को स्वभाव से सिद्ध करता है। फिर "अग्रे अब्राह्मणः तिष्ठति इस प्रयोग में अन्य म्लेच्छाद्यर्थ की प्रतीति कैसी होती है? उत्तर देते हैं कि परत इति=। इस नञ् से अन्यत् प्रसज्यप्रतिषेध से अतिरिक्त वही तदन्यत्वादि है जो म्लेच्छादि उसकी प्रतीति परतो– लक्षणा से होती है। मुख्य वृत्ति से नहीं होती है। (इससे भट्टाभिमत नञ् के में अभिधाशक्ति, मानसी क्रिया निरूपित उसका खण्डन लक्षणावृत्ति से हो गया) तो तात्पर्य यह है कि "अग्रे अब्राह्मणः तिष्ठति "इस प्रयोग में अन्य म्लेच्छादि अर्थ लभ्य होने के कारण नञ् में अनेक शक्ति की कल्पना करना गौरव दोष आक्रान्त है, इसलिये प्रसज्यप्रतिषेध से अन्य म्लेच्छादि तथा प्रसज्यप्रतिषेध का विरूद्ध अधर्मी, पापी, आदि ये दोनों भी नञ् के मुर्ख्य अर्थ नहीं है। मुख्य अर्थ तो स्वसम्बन्धि निवृत्ति मात्र ही है।

ननु नामादियुक्तेन नञा नियमेन प्रतीयमानयोस्तदन्यविरोधिनोः कथं लाक्षणिकत्वमित्याशङ्क्य नियमेन ततस्तत्प्रतीतिरसिद्धेत्याशयेन तदकारणत्वमेव विवृणोति–

आशंका= नामादिक से युक्त नञ् से नियम से प्रतीयमान् तदन्य तथा विरोधी दोनों में लाक्षणिकत्व क्यों है,

समाधान= नियम से जहाँ जहाँ नञ् हो वहाँ वहाँ तदन्यत्व तथा विरोधी की प्रतीति होती हो ऐसा नहीं होने से नञ् में उनकी कारणता ही नहीं बन पाती इसका विवरण स्पष्टीकरण कर रहे हैं–

तथाहि नाग्रे करिणीति नाम्ना
गजोऽत्र नास्तीति च धातुयोगे।।
लिङादियोगेऽपि निवृत्तिरर्थो
विषं न खादेदिति नञ्पदस्य।।४१३।।

अन्वयः= तथाहि "नाग्रे करिणी" इति नाम्ना (योगेऽपि) अत्र गजो नास्ति इति धातु योगे च विषं न खादेत् इति लिङादियोगेऽपि पदस्य निवृत्तिः अर्थः।

अन्वयार्थः= अग्रे करिणी (हस्तिनी) न, यहा करिणी नाम का, अत्र गजो नास्ति वहां पर अस धातु का और विष न खादेत् यहां पर लिङ् का नञ् से योग होने पर करिणी निवृत्ति, सत्तानिवृत्ति, इष्ट साधनत्व निवृत्ति इस प्रकार सर्वत्र निवृत्ति ही अर्थ प्रतीत होता है। अतः नामादि योग से नञ् का पर्सुदास अर्थ करना सर्वथा अनुचित है।

तथाहीति। नाग्रे करिणीति वाक्ये इति शेषः। अग्रे करिणी नेति वाक्ये नञ्पदस्य नाम्ना योगेऽपीत्यनुषङ्गः। एवं गजोऽत्र नास्तीत्यादावपि योजना। निवृत्तिः प्रसज्यप्रतिषेधः। न खादेन्न भक्षयेत्। लोके हि नाग्रे करिणीत्यादिवाक्ये प्रयुक्तान्नञो नामादिसंबन्धविशेषे सत्यपि लिङादियुक्तात्ततस्तदर्थाभाव इव करिण्यादेरभाव एव प्रतीयते न ततोऽर्थान्तरमिति कुतस्त्वदुक्तो नियमः, कुतस्तरां नामादेर्नञ्सम्बन्धस्य त्वदुक्तव्यवस्थितनञर्थप्रतीतिहेतुत्वमितिभावः।।४१३।।

नाग्रे करिणी न, आगे हाथिनी नहीं है, इस में हाथिनी का नाम का उल्लेख किया, आगे कहते हैं गजोऽत्र नास्तीति च धातुयोगे= यहां हाथी नहीं है ऐसा धातु योग भी किया है। तथाहीति= आगे हाथिनी न, इस वाक्य में। आगे हाथिनि न, इति ऐसे वाक्य में नञ् पद का नाम के साथ योग होने पर भी ऐसा अनुषङ्ग कर लेना। इसी

प्रकार यहां हाथी नहीं है यहां धातु का योग। नञ् के साथ होने पर भी ऐसा अनुषङ्ग करा लेना। तो निवृत्ति-प्रसज्य प्रतिषेध नञ् से होता है। जैसे न खादेन्न भक्षयेत् तो खावी नहीं, भक्षण नहीं करें। लोक में भी न अग्रे करिणी इस वाक्य में प्रयुक्त नञ् का नामादि के सम्बन्ध विशेष होने पर भी, जैसे न खादेन्न भक्षयेत् इत्यादि स्थल में नञ् का सम्बन्ध विशेष लिङादि के साथ होने पर भी तत्तत् पदार्थ का अभाव ही नञ् बोधित करता है इसी प्रकार करिणी आदि का अभाव ही नञ् से प्रतीत होता है, न कि करिणी आदि से अन्य या अर्थान्तर को नञ् बताता है। अतः पूर्वपक्षी तुम्हारा नियम बन नहीं पाता कि जहां जहां नञ् हो वहां वहां अन्यत्व तथा विरोधित्व है। फिर क्यों हम मानें कि तुम्हारी जो बनाई हुई व्यवस्था है कि स्वसम्बन्धी अर्थ से अन्य अर्थ तथा विरोधी अर्थ नञ् बताता है। और इसी नियम से नामादिक के साथ नञ् का सम्बन्ध होकर इसी प्रकार से तुम्हारे कथनानुसार उसका समन्वित करें। अर्थात् हम ऐसा नहीं करेंगे। तो नञ् का अन्यत्व तथा विरोधी अर्थ में लक्षणा करना उचित ही है। पर्युदास भी लक्षणा के ही योग्य है। यह भी द्योतित हो जाता है।।

ननु लोके यथा तथास्तु, श्रुतौ तूक्तव्यवस्था भविष्यतीत्याशङ्क्य तत्रापि लोकसाम्यमेवाह—

आशंका= लोक में तो जैसा नियम है जैसा रहने दो लेकिन श्रुति में तो उक्त व्यवस्था होगी, ऐसा आशंका होने पर।

समाधान= जैसी लोक में व्यवस्था है वैसी ही व्यवस्था वेद में भी होगी।

तथा श्रुतौ नेति वचःसु नामनि
नानेह नास्तीति च धातुयोगे।।
तथा विधाने न कलञ्जमद्या-
न्नञोऽविशेषेण निवृत्तिरर्थः।।४१४।।

अन्वयः= तथा श्रुतौ नेति वचःसु नाम्नि, नेह नानास्ति इति च धातुयोगे, तथा न "न कलञ्जमद्यात्" विधानेन न नञा अविशेषेण निवृत्तिः अर्थः।।४१४।।

अन्वयार्थः= वैसे ही श्रुति ने नेति नेति (बृह० २/३/६) वाक्यों में नाम के साथ नेह नानास्ति (बृ ४/४/१६) इस वाक्य में धातु के साथ तथा "न कलञ्जं भक्षयेत्" आदि वाक्यों में विधि (लिङ्) के साथ योग होने पर नञ् का सर्वत्र अविशेष रूप से निवृत्ति ही अर्थ होता है।।४१४।।

तथा श्रुताविति। नेति नेतीति वाक्यद्वयं स एष नेति नेतीति वाक्यं चापेक्ष्य नेतिवचःस्विति बहुवचनम्। नामनि नामयोग इतिशब्दस्य नामत्वाच्छ्रुतौ नेतिवचःसु नञो

नामयोगे सत्यपि। तथा नेह नानास्तीति वाक्ये अस्तीति धातुना योगेऽपि, नानेह नास्तीति छन्दोऽनुरोधेन व्यत्ययः। तथा न कलञ्जमद्यादिति वाक्ये विधाने विधायकपदयोगेऽप्य-विशेषेण त्वदुक्तविशेषं विनैवेतिशब्दपरामृश्यप्रपञ्चादिनिवृत्तिरेवार्थो भवति। तथैव तदर्थस्य बादरायणादिभिः "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति" इत्यादिन्यायेन निरूपितत्वात्। अतो वेदेऽपि नामयोगादिना नञो न व्यवस्थितार्थत्वमित्यभाव एव स्वतोऽव्यभिचारात् नञर्थः, पर्युदासस्तु लाक्षणिक एवेति भावः।।४१४।।

तथा श्रुताविति= नेति नेति इति ये दो वाक्य हैं, स एष नेति नेतीति वाक्य को नजर में रखते हुये नेति वचनों में (वचःसु), ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग किया है। नामनि= नामयोग इति शब्द नामपरक है, उसके साथ न का सन्बन्ध हो गया है तो नेति वचनों में नञ् का नाम के साथ योग होने पर भी। इसी प्रकार से नेह नानास्तीति वाक्य में अस्ति धातु के साथ नञ् का सम्बन्ध होने पर भी, नानेह नास्तीति ऐसा जो व्यत्यय किया गया है वह छन्द के दृष्टि से। वैसे तो होना चाहिये था न इह नाना नास्तीति। तो जैसे न कलञ्जमद्यादिति कलञ्ज का सेवन नहीं करना चाहिये। ऐसे वाक्य के विधान में विधायक पद का योग होने पर भी कलञ्ज का पद प्रयोग होने पर भी आपके नियमानुसार नामादि युक्त ने नञ् से नियम से प्रतीयमान से अन्य तथा विरोधी की उपस्थिति हो, ऐसा नहीं है, किन्तु कलञ्ज भक्षण की निवृत्ति बताई जाती है इसी प्रकार नेति नेतीति शब्द से परामर्श करने के बाद प्रपञ्च की निवृत्ति ही नञ् का अर्थ होता है। ऐसा नञ् का अर्थ उदाहरण वाक्यों ने किया है– "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति= स्वाभाविक रीति से प्रसज्य का प्रतिषेध करना नञ् का काम है, इत्यादि न्याय से निरूपण किया हैं इसलिये वेद में भी नाम के योगादिक से नञ् का त्वदुक्त (भट्टाभिमत नाम तथा धातु के योग में नञ् अन्यार्थाभिधायी है तथा लिङ्गादिक योग में निषेधाभिधायी है) व्यवस्थित अर्थपरक नहीं है अतः अभाव ही स्वाभाविक नञ् का अव्यभिचारि भाव से अर्थ है। पर्युदास तो लाक्षणिक अर्थ है, यह भाव है।

एवं नामादियोगेन नञः स्वतोऽर्थविशेषनिष्ठत्वं निराकृत्य मुख्यया वृत्त्या प्रसज्यप्रति षेधार्थत्वमुक्तं तदुपसंहरति–

इस प्रकार नञ् का नामादिक के योग से स्वतः अर्थ विशेष निष्ठत्व नहीं है, नञ् का मुख्यवृत्ति से (शक्ति वृत्ति से) प्रसज्यप्रतिषेधार्थकत्व है, यह कह चुके हैं अब इसी का उपसंहार कर रहे हैं।

औदासीन्यं पुरुषगतमेवाविशेषान्नञोऽर्थो
भ्रान्तिप्राप्तेऽसति तु विषये यत्रयत्रैष दृष्टः।।
नौदासीन्यं पृथगिह भवेदात्मचिन्मात्ररूपात्
सिद्धे वस्तुन्यवसितमतो वेदवाक्यं निषेधे।।४१५।।

अन्वयः= विषये भ्रान्ति प्राप्ते सति तु यत्र यत्रैव दृष्टः, (तत्र सर्वत्र) अविशेषात् पुरुषगतं औदासीन्यं नञर्थः, इह औदासीन्यं आत्मचिन्मात्ररूपात् पृथक् न भवेत्, अतः निषेधे वेदवाक्यं सिद्धे वस्तुनि अवसितम्।

अन्वयार्थ= प्रतियोगिरूप विषय के भ्रान्ति प्राप्त होने पर जहां जहां यह (नञ्) देखा जाता है। वहां वहां सर्वत्र अविशेष रूप से पुरुषगत औदासीन्य ही नञ् का अर्थ होता है। यहां औदासीन्यपदार्थ चिन्मात्र आत्मा से पृथक् नहीं अतः निषेध स्थल वेदवाक्य सिद्धवस्तु में प्रमाण होते हैं।

औदासीन्यमिति। प्रसज्यप्रतिषेध इत्यर्थः। भावप्रपञ्च इवाभावोऽप्यात्मन्येव बाध्य इति दर्शयितुं पुरुषगतमेवेत्युक्तम्। नञोऽर्थो भवेदिति शेषः। तुरवधारणे। विषये नामाद्यर्थे। भ्रान्तिप्राप्ते वस्तुतोऽविद्यमाने भ्रान्त्या प्रसक्ते सति। यत्र यत्र वाक्ये एष नञ् दृष्टः तत्र सर्वत्रा-विशेषान्नामादियोगकृतविशेषाभावात् पुरुषगतमौदासीन्यमेव नञोऽर्थो भवेदिति संबन्धः। ननु नेतिनेतीतिवाक्यस्यात्मपरत्वात्कथं निषेधपरत्वम्, अन्यथा तस्यानात्मनिष्ठत्वापत्तेरात्मनोऽद्वय-त्वव्याघाताच्च इत्याशङ्क्य सोऽपि प्रपञ्चाधिष्ठानात्मैवेति नोक्तदोष इत्याशयेनाह– नौदासीन्यमिति। इह ब्रह्मणिं।।४१५।।

औदासीन्यमिति= प्रसज्यप्रतिषेध। जैसे भावप्रपञ्च (पुरुष में) आत्मा में बाधित है इसी प्रकार से अभाव भी आत्मा में बाधित है यह बताने के लिये पुरुषगतम्- ऐसे शब्द का प्रयोग किया। नञ् का यह अर्थ हो जाता है। तु= निश्चित रूप से। विषये– नामाद्यर्थ में। भ्रान्तिप्राप्ते= वस्तुतः अविद्यमान् होने पर भी भ्रान्ति से दिखाई देता है। इसलिये जहां जहां वाक्य में यह नञ् दिखाई देता है। वहां वहां सर्वत्र सामान्य रूप से नामादि योग से कोई विशेष भाव उत्पन्न नहीं होता है तो पुरुषगत औदासीन्य ही (निवृत्ति ही) अञ् का अर्थ अभिमत है।

आशंका= नेति नेतीति वाक्य को तो आत्मपरक माना गया है फिर उसे निषेध परक कैसे मान सकेंगे। यदि उसे निषेधपरक ही मानना है तब तो इस वाक्य को अनात्मनिष्ठ मानना होगा और आत्मा जो अद्वय स्वरूप है। उसका भी व्याघात हो जायेगा। क्योंकि एक तो आत्मा हुवा, दूसरा हुवा नेति नेतीति वाक्य, जो अनात्म निष्ठ, ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर।

समाधान= जैसे आत्मा प्रपञ्च का अधिष्ठान है वैसे ही नेति नेतीति वाक्य का निषेध का भी आत्मा ही अधिष्ठान है। नौदासीन्यमिति= इस= ब्रह्म में। इस ब्रह्म में प्रपञ्च का अभाव ही नञ् का अर्थ है। औदासीन्य चिन्मात्ररूप आत्मा से अतिरिक्त नहीं है, यह भाव है। बाकी सब स्पष्ट है–

इदानीं नाद्यां न हन्यामित्यादिना प्राभाकरोक्तं निषेधवाक्यस्य प्रवृत्तिनिष्ठत्वं सोपस्करमाशङ्क्य निराकरिष्यन्प्रथमं शाबरभाष्याद् द्विविधोऽपि विधिः प्रवृत्तिनिष्ट एवेति तदुक्तं दूषयति–

अब ४०६ श्लोक में प्रभाकर ने कहा "नाद्यां न हन्याम्" इत्यादि में निषेध वाक्य को भी प्रवृत्ति निष्ठ युक्ति के साथ मानलिया, बाद में उसका खंडन भी किया अब शाबर भाष्य के अनुसार दोनों विधियों को प्रवृत्तिनिष्ठ मानना चाहिये यह प्रभाकर मत खण्डित कर रहे हैं–

प्रवर्त्तकं वाक्यमुवाच चोदनां
निधाय बुद्धौ वचनं निवर्त्तकम्।।
द्वितीयसूत्रे भगवान् बहुश्रुतो
न चोदनाद्वित्वनिवारणाय तत्।।४१६।।

अन्वयः= बहुश्रुतो भगवान् द्वितीसूत्रे यत् प्रवर्तकं वाक्यं चोदनां उवाच। तत् निवर्त्तकं वाक्यं बुद्धौ निधाय चोदनाद्वित्वनिवारणाय न।।

अन्वयार्थ= बहुश्रुत भगवान् भाष्यकार शबरस्वामी ने द्वितीय (चोदना) सूत्र में जो प्रवर्त्तक वाक्य को चोदना कहा है। वह निवर्त्तक वाक्यों को बुद्धि में रखकर कहा है, द्विविध चोदना को हटाने के लिये नहीं।।

प्रवर्त्तकमिति। द्वितीयसूत्रे "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इति सूत्रे। भगवान् बहुज्ञः तत्र हेतुर्बहुश्रुतः। अत एव सहस्त्रशाखा अर्थतोऽपि वेत्ति शबरस्वामीत्यैतिह्यम्। चोदनानां प्रवर्त्तकत्वनिषेधकत्वरूपेण द्वित्वस्य द्वैविध्यस्य निवारणाय न तद्भाष्यमित्यर्थः। भाष्यकारो हि निवृत्तिनिष्ठामपि चोदनां बुद्धौ निधायैव वेदे निषेधकपरमपि वाक्यमस्तीति जानन्नेव प्रक्रान्तधर्मनिरूपणाय प्रवृत्तस्तत्प्रमाणं प्रवर्त्तकं वाक्यं चोदनामुवाच न तु निवृत्तिमात्रनिष्ठां चोदनां निवारयितुम्। अन्यथोक्तविधया निषेधवाक्यस्य प्रवृत्तिनिष्ठत्वासिद्धेस्तस्य तदज्ञानप्रसङ्गान्न बहुश्रुतत्वं संभवेदिति भावः।।४१६।।

प्रवर्त्तकमिति= मीमांसा का दूसरा सूत्र- "चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" इस सूत्र में। भगवान् जो बहुत ज्ञान वाले हैं क्योंकि वे बहुश्रुत होने से। जिन्होंने बहुत वेद शास्त्रादि सुने हैं। इसीकारण ऐतिह्य प्रमाण है कि शबर स्वामी अर्थ सहित वेद की सहस्त्र शाखाओं को जानते हैं। चोदना तो प्रवर्त्तक हो तथा (निवर्त्तक) निषेधात्मक होने से दो प्रकार की चोदना होती है उसमें जो चोदना में द्विविधित्व है उसको हटाने के लिये शबर स्वामी ने भाष्य नहीं किया है। भाष्यकार शबर स्वामी तो निवृत्तिनिष्ठ चोदना को भी बुद्धि में धारण करते हुये वेद में निषेधपरक भी वाक्य है ऐसा जानते हुये ही उन्होंने प्रक्रान्तधर्मनिरूपण के प्रसङ्ग में धर्म का निरूपण करने में प्रकृत प्रमाणभूत वाक्य को वाक्यम्- चोदना कहा। न कि निवृत्ति मात्रनिष्ठा रूप चोदना को हटाने के लिये। अन्यथा इसप्रकार से तो निषेध वाक्य में प्रवृत्ति निष्ठत्व तो बन नहीं पायेगा। अतः शबर स्वामी का इस विषयक अज्ञान होने के कारण उनमें बहुश्रुतत्व : नहीं आयेगा। फिर उनमें वह महानता नहीं आयेगी।।

एवं भाष्यवाक्यबलान्निषेधवाक्यस्य निवृत्तिकार्यार्थत्वमाशङ्कितं निरस्तम्। इदानीं प्राभाकरः प्रतिज्ञापूर्वकं निषेधनिष्ठत्वं दूषयति-

इसप्रकार भाष्यकार के वाक्य के बल से निषेध वाक्य को निवृत्ति कार्यार्थत्वपरत्व है इस विषयक आशंका करके उसका खण्डन किया- ४१५ श्लोक, अब प्रभाकर प्रतिज्ञापूर्वक निषेधनिष्ठता का खण्डन कर रहे हैं-

ननु निवृत्तिपरत्वमुदीरितं
विघटयामि निषेधगिरामहम्।।
न हि कलञ्जमिति प्रतिपाद्यते
यदि तदा नयनेन विरुध्यते।।४१७।।

अन्वय= निषेधगिरां इह उदीरितं निवृत्तिपरत्वं विघटयामि ननु। हि "न कलञ्जम्" इति यदि प्रतिपाद्यते। तदा नयनेन विरुद्धयते।।

अन्वयार्थः= निषेध वाक्यों में जो यहां निवृत्तिपरत्व कहा गया है। उसका निराकरण कर रहा हूँ। नञ् का कलञ्ज के साथ अन्वय करके "न कलञ्जम्" यह कलञ्ज नहीं है। ऐसा यदि प्रतिपादन बनेगा, (प्रत्यक्षप्रमाण) में विरोध होता है।

ननु निवृत्तीति। किं कलञ्जाद्यभावो निषेधवाक्ये नञर्थः, किं वा भक्षणाद्यभावः, उत प्रत्ययार्थाभाव इति विकल्प्याद्यं प्रत्यक्षविरोधेन दूषयति-न हीति। यदीह कलञ्जं न

हीति निषेधवाक्ये नञर्थः प्रतिपाद्यते तदा नयनेन प्रत्यक्षेण विरुद्ध्यते, तस्य तत्र प्रत्यक्षेणा-नुभवादित्यर्थः।।४१७।।

ननु निवृत्तीति= "न कलञ्जं भक्षयेत्" इस निषेध वाक्य में क्या कलञ्जाद्यभाव नञ् का अर्थ है, कि भक्षण का अभाव नञ् का अर्थ है कि प्रत्ययार्थाभाव ही नञ् का अर्थ है। इसमें पहिले विकल्प का तो प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने से खण्डित हो रहा है। नहीति- जबकि यहां कलञ्ज है, कहते हो नहीं है। इस निषेध वाक्य में नञ् का नञर्थ प्रतिपादित किया जा रहा है। तो नयनेन नेत्र के साथ विरोध होगा। क्योंकि कलञ्ज का तो प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुभव हो रहा है।

द्वितीयं दूषयति—

दूसरा विकल्प= उसका भी खण्डन किया जा रहा है दूसरा विकल्प भक्षणाभाव है। नञर्थ है।

अथ कलञ्जपदार्थगभक्षणं
न हि तदप्यमुनैव विरुद्ध्यते।।
अथ तदीयफलस्पृहयाऽन्वयो
न हि तदप्यनुभूतिपराहतम्।।४१८।।

अन्वयः= अथ कलञ्जपदार्थगभक्षणं न हि तदपि अमुनैव विरुद्ध्यते। अथ तदीयफलस्पृहया अन्वयः, तदपि नहि, अनुभूतिपराहतम्।।४१८।।

अन्वयार्थः= यदि कलञ्ज पदार्थ का भक्षण नहीं होता, यह अर्थ किया जाय, वह भी उसी प्रत्यक्ष प्रमाण से विरूद्ध है। यदि कलञ्ज भक्षणादि सम्बन्धी फल विषयक राग के साथ नञ् का अन्वय किया जाय। यह भी उचित नहीं क्योंकि अनुभव विरूद्ध है।।४१८।।

अथेति। अनेनार्थान्तरतोक्ता। कलञ्जपदार्थगभक्षणं तस्य भक्षणं न हीति यदि प्रतिपाद्यत इत्यनुषङ्गः, तदपि पूर्ववत्प्रत्यक्षेणैव बाध्यते तदौन्मुख्येन चैतस्य स्वसामग्री-द्वारा प्राप्तत्वादित्याशयेनाह तदपीति। तृतीयेऽपि किं प्रत्ययार्थः फलरागः, उत भक्षणादिनियोगः। आद्यमनूद्य प्रत्याह— अथ तदीयेति। कलञ्चभक्षणादिसंबन्धि यत्फलं तस्य स्पृहा रागः तयाऽन्वयो नञ इति शेषः। तदपि एतदपि न हीति संबन्धः। यतस्तद्रागिणोऽनुभूतिपराहतमिति।।४१८।।

अथेति= इससे भी अर्थान्तरताही होगी। जैसे कलञ्ज पदार्थ भक्षण उसका भक्षण नहीं है, यदि ऐसा प्रतिपादित किया जाता है। ऐसा अनुषङ्ग करना है। नञर्थ भक्षणाद्यभाव इस अर्थ में उपरोक्त अर्थ है। वह भी पहिले जैसे ही प्रत्यक्ष से बाधित है, क्योंकि कलञ्ज भक्षण तो रागादिक से प्राप्त है तो उसका भक्षण अपने अपने रागादि सामग्री द्वारा प्राप्त ही है, उसका भक्षण का अभाव कैसे हो सकेगा। इस आशय से कहा है तदपीति=

अब रह गया तृतीय विकल्प प्रत्ययार्थाभाव= नञर्थ माने। तो तृतीय में भी विकल्प करते हैं प्रत्ययार्थ, फलराग प्रत्ययार्थ है 'कि भक्षणादि नियोग प्रत्ययार्थ है। यदि फलराग ही प्रत्ययार्थ है तो उसका अनुवाद करके खण्डन कर रहे हैं। अथ तदीयेति= कलञ्जक्षणादि-सम्बन्धि जो फल उसमें जो स्पृहा= राग, आसक्ति, उसी के साथ, अन्वयो= नञ् का अन्वय है, ऐसा भाव होगा। तदपि= यह भी न हीति= सम्भव नहीं है। क्यों? तो इस भक्षणादि सम्बन्धी जो फल उसमें जो व्यक्ति आसक्त हो चुका है जिसने उसका अनुभव कर लिया है, वह वहां से हटने वाला नहीं है। अर्थात् प्रत्ययार्थाभाव फलरागाभाव सिद्ध नहीं पायेगा।

प्रत्ययार्थो नियोगो निषेद्धव्य इति पक्षमनुवदति—

प्रत्ययार्थ नियोग है विधि वही नञ् से निषेध्य मानें। इस पक्ष को पहिले अनुवादित करके खण्डित करते हैं—

अथ तदीयनियोगनिवर्त्तनं
भवतु भक्षणमस्तु तदिच्छया।।
न हि नियोगनिवृत्तिनिवेदने
सति कलञ्जमभक्ष्यमितीङ्ग्यते।।४१६।।

अन्वयः= अथ तदीय नियोगनिवर्तनं भवतु। तद्भक्षणं तदिच्छया भवतु। नियोगनिवृत्तिनिवेदने सति कलञ्जं अभक्ष्यं, इति इङ्ग्यते न हि।।४१६।।

अन्वयार्थः= यदि भक्षण सम्बन्धी नियोग की निवृत्ति (नञर्थ हैं) भले ही रहे। वह भक्षण यथेच्छ होगा। क्योंकि नियोग की निवृत्ति का कथन करने पर कलञ्ज अभक्ष्य यह सूचित नही होता है।।४२६।।

अथ तदीयनियोगेति। कलञ्जभक्षणे नियोगो विधिर्नेति निषेधवाक्यार्थ इति शङ्कितुराशयः। एतावता न तवेष्टसिद्धिरिति दूषयति—भवत्विति। अयं निषेधवाक्यार्थ इति शेषः। मा भूत्तस्य विधिः नैतावता तद्भक्षणनिवृत्तिः सिद्ध्येत् भोजनादेरिवान्यतोऽपि तत्संभवेन निषेधवैयर्थ्यादित्याशयेनाह- भक्षणमस्त्विति। उक्तमेव व्यतिरकमुखेनाप्याह- न हि नियोगेति।

इङ्ग्यते ज्ञायते।।४१६।।

अथ तदीय नियोगेति= कलञ्जभक्षण में– नियोगः= विधि नहीं है यही निषेध के वाक्य का अर्थ है ऐसा शंका करने वाले का अभिप्राय है। इससे भी नञ् के सम्बन्ध से आप का भक्षणादि नियोगाभाव रूप अर्थ सिद्ध होगा। भवत्विति= यही निषेध वाक्यार्थ होगा जो कि भक्षणादिनियोग के अभाव को सिद्ध करें। क्योंकि निषेध वाक्यार्थ सिद्ध करेगा नियोगाभाव को और खाने वाले की इच्छा सिद्ध करेगी भक्षण को भक्षण भाव को। तो नञर्थ प्रत्ययाभाव व्यर्थ ही होगा। अस्तु कलञ्ज भक्षण में विधि तो है नहीं, इसलिये निषेध वाक्य के बल से तद्भक्षण निवृत्ति भी सिद्ध नही होगी जैसे भोजनादिक की विधि नहीं होने पर भी उसकी सिद्धि अन्यप्रकार से हो ही जाती है। इसी प्रकार से कलञ्ज भक्षणादिक की सिद्धि भी अन्य प्रकार से हो ही जायेगी। इसलिये निषेध वैय्यर्थ हो जायेगा। इस आशय से कहा जा रहा है भक्षणमस्त्विति= इसी बात को व्यतिरेक मुख से भी कहा जा रहा है न हि नियोगेति= इङ्ग्यते= ज्ञात होता है। अर्थात् नियोग निवृत्ति तो है निषेध वाक्य से तथापि कलञ्ज अभक्ष्य हैः यह तो नहीं कहा जा रहा है। अर्थात् कलञ्ज भक्षण में प्रवृत्ति तो जैसी की वैसी ही रह गई। अतः नञ् से भक्षणादि नियोगाभाव सिद्ध होगा प्रत्ययार्थाभाव सो भी मत ठीक नहीं है।

अस्तु तर्हि यदभावस्तत्र केनापि मानेन न बाध्यते तदभाव एव नञर्थ इत्याशङ्क्य शब्दोपस्थितस्यैव शाब्देन नञर्थेनान्वयो वक्तव्यः, नामधातु प्रत्ययव्यतिरिक्तशब्दस्येहाभावेन कलञ्जाद्यतिरिक्तस्य नञर्थान्वयिनः कस्य चिच्छाब्दस्यासंभवादित्याशयेनाह–

आशंका= तो फिर ऐसा ही मानते है कि जिसका अभाव किसी भी प्रमाण से बाधित न हो सकें, उस पदार्थ का अभाव ही नञर्थ माने।

समाधान= शब्द से उपस्थित शब्दार्थ के साथ नञर्थ का अन्वय कहना पडेगा। नाम धातु प्रत्यय से अतिरिक्त किसी शब्द का यहां अभाव होने के कारण कलञ्जाद्यतिरिक्त नञर्थ के साथ किसी का भी शब्द का अन्वय होना असंभव है इसी आशय से कहा जा रहा है–

इह कलञ्जपदेन नञन्वयो
भवति वास्य नञोऽदिसमागमः।।
अदिगतेन लिङादिपदेन वा
सह समेति नञत्र गतिस्त्रयी।।४२०।।

अन्वयः= इह कलञ्जपदेन नञन्वयो भवति, अस्य नञो अदिसमागमो वा। अदिगतेन लिङादिपदेन सह वा समेति। अत्र नञः त्रयी गतिः।।४२०।।

अन्वयार्थ= यहां कलञ्ज पद से नञ् का अन्वय हो सकता है, या इस नञ् का अद् (भक्षण रूप धात्वर्थ) के साथ समागम होगा। या अद्धातु गत लिङादि के साथ समागम होगा, यहां नञ् की तीन ही गतियां है।।४२०।।

इह कलञ्जपदेनेति। इह प्रकृतवाक्ये अदिना भक्षणवाचिधातुना वा समागमः सम्बन्धः अदिगतेनादधातुगतेन लिङादिपदेन प्रत्ययार्थेन वा सह समेति संबध्नाति अन्वितो भवतीत्यर्थः। अत्र न कलञ्जमित्यादिवाक्ये। गतिः ज्ञानोपायोऽन्वयः। त्रयी त्रिविधा।।४२०।।

इह कलञ्ज पदेनेति= इस प्रकृत वाक्य में कलञ्जं न भक्षयेत् इस प्रकृत वाक्य में, अदिना= १)भक्षण वाची धातु के साथ समागमः—सम्बन्ध नञ् का सम्बन्ध हो जाता है २) अथवा अदिगतेन= अद्भक्षणे ३) धातु गतः— लिङादिपद के साथ प्रत्ययार्थ के साथ, समेति नञ् का सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, नञ् का अन्वय हो सकता है। अत्र= न कलञ्जं भक्षयेत् इस वाक्य में। गतिः= ज्ञानोपाय के साधन। त्रयी ये ही तीन रास्ते हैं चौथा रास्ता नहीं है।

एवं च उक्तान्यतमपक्षे निषेधवाक्यस्य निषेधनिष्ठत्वोपपादनाशक्तेर्निषेधवाक्यमपि निवृत्तिनियोगपरमेवाभ्युपगन्तव्यमिति प्राभाकरः स्वमतमुपस्थापयति—

इस प्रकार तीनों में से कलञ्ज (निषेधभक्षण, नियोगनिषेध) किसी एक मत में भी निषेध वाक्य को निषेध निष्ठ का उपपादन करना अशक्य होने के कारण निषेध वाक्य भी निवृत्ति नियोगपरक— निवृत्ति विधिपरक है ऐसा स्वीकृत करना चाहिये ऐसा प्राभाकर का मत उपस्थापित किया जा रहा है—

उदितपक्षपरिग्रहकारिणां
न च निषेधगिरामुपपादने।।
भवति शक्तिरतश्च निषेधगी-
रपि नियोगपराऽभ्युपगम्यताम्।।४२१।।

अन्वयः= उदितपक्षपरिग्रहकारिणां निषेधगिरां उपपादने शक्तिः न च भवति। अतश्च निषेधगीरपि नियोगपरा अभ्युपगम्यताम्।।४२१।।

अन्वयार्थ= उक्त पक्ष का परिग्रह करने वाले वादिगणों की निषेध वाक्य के उपपादन में शक्ति नहीं है। अतः उक्त निषेध वाक्य को भी नियोगपरक ही मानना चाहिये।।४२२।।

उदितेति। उक्तपक्षत्रयान्यतमपरिग्रहकारिणां वादिनामित्यर्थः। निषेधगिरां प्रामाण्यस्येति शेषः। यत उक्तरीत्या निषेधवाक्यस्य प्रामाण्यं न संभवति अत इत्यर्थः। चकारेण शब्दार्थस्य कार्यान्वयनियमं सूचयति।।४२१।।

उदितेति= उपरोक्त पक्षत्रय के अन्तर्गत किसी भी पक्ष को वादी द्वारा ग्रहण किये जाने पर निषेधगिराम्- निषेधवाक्य की प्रामाण्यता सम्भव नहीं हो सकेगी। इस प्रकार उक्त प्रकार से निषेध वाक्य की प्रामाण्यता सम्भव नहीं होती है। च--चकार से शब्दार्थ को कार्यान्वय नियम है। यह भी सूचित किया जा रहा है। जिससे निषेध वाक्य को भी नियोगपरक मानने में आसानी हो जायेगी।।

ननु वेदे निवृत्तिनियोगस्यैकत्वे भक्षणादिनिवृत्तिनियोगसिद्धावपि पानादिनिवृत्तिनियोग-सिद्धिर्न स्यादिति पानादौ यथेष्टं प्रवर्तेत, तन्निवृत्तिनियोगभेदस्तु तन्मतेऽनुपपन्न एव। अनुबन्धभेदाधीनशास्त्रभेदे सत्येव नियोभेदस्य तदभ्युपगमात्। न हीह यागदानादिरिवानु-बन्धो भिद्यत इत्याशङ्क्येहापि पानभक्षणादिभेदेन तत्प्रतियोगिकनिवृत्तिक्रियारूपानुबन्धभेद-संभवान्निवृत्तिनियोगेऽपि यागदानादिनियोगवद्भिद्यत इत्याशयेनाह--

आशंका= वेद में निवृत्ति नियोग (विधि) एक होने से, भक्षणादिनिवृत्तिपरक सिद्ध होने पर भी पानादि निवृत्तिपरक नियोग सिद्ध नहीं हो पायेगा। फिर शराब पान में स्वतन्त्र रूप से होकर पुरुष प्रवृत्त होगा। यदि कहे कि शराब पानादिक से हटाने के लिये पानादि निवृत्ति नियोग कहेंगे, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि भक्षणादि निवृत्तिनियोग तथा पानादि निवृत्ति नियोग इन में प्राभाकर मत से भेद नहीं हो सकता। तो उत्तर देते हैं कि अनुबन्धभेदा-धीनशास्त्र का भेद होने से ही नियोग का भेद होता है, ऐसा स्वीकृत किया गया है।

यदि इसमें कोई आशंका करें कि यागदानादिक के समान भक्षण तथा पानादिक में अनुबन्ध भिन्न भिन्न नहीं होगा। तो इसका समाधान यह है कि पान और भक्षण दोनों भिन्न भिन्न है, इसलिये पानप्रतियोगिक निवृत्ति (अभाव) एवं भक्षण प्रतियोगिक (निवृत्ति) अभाव क्रिया रूप अनुबन्ध भिन्न हो ही जायेगा। तदधीन निवृत्ति नियोग भी यागदानादि नियोग के समान भिन्न भिन्न हो जायेगा इस आशय से कहा जा रहा है।--

यथा च यागाद्यनुबन्धभेदा-
द्भिन्नेषु शास्त्रेषु नियोगभेदः।।
निवृत्तिभेदादपि तद्वदस्य
निवृत्तयोऽपि ह्यनुबन्धभूताः।।४२२।।

अन्वयः=यथा च यागाद्यनुबन्धभेदात् भिन्नेषु शास्त्रेषु नियोगभेदः, तद्वत् निवृत्तिभेदादपि अस्य (भेद)। निवृत्त्योऽपि हि अनुबन्धभूताः।।४२२।।

अन्वयार्थ= जैसे यागादिं रूप अनुबन्ध (अवच्छेदक के भेद से जैसे यजेत, जुध्यात् का भेद होता है) भिन्न शास्त्रों में नियोग का भेद होता है। वैसे ही निषेध्य पदार्थ के भेद से भी इस (नियोग) का भेद होता है। क्योंकि निवृत्ति पदार्थ भी नियोग के अनुवब्ध भूत होते हैं।।४२२।।

यथा च यागादीति। आदिपदेन दानहोमसंग्रहः। अनुपश्चाद्बद्ध्यते व्यवच्छेदकतयेति यागादिधात्वर्थोऽनुबन्धः तद्रूपोऽनुबन्धो नियोगविषयस्तद्भेदाच्छास्त्रेष्वसन्निकृष्टार्थप्रतिपादक-वाक्येषु भिन्नेषु सत्सु यथा यागादिनियोगभेदस्तद्वदत्र भक्षणादिनिवृत्तिक्रियाभेदादपि निवृत्तिशास्त्रभेदादस्य नियोगस्य भेद इत्यनुषङ्गः। ननु यागादीनामनुष्ठेयत्वात् कृतिसाध्य-नियोगानुबन्धत्वं युज्यते न निवृत्तीनामित्याशङ्क्य तासामपि प्रवृत्तिविरोधिमनोव्यापार-रूपतयाऽनुष्ठेयत्वात्तदनुबन्धत्वं युज्यत इत्याशयेनाह—निवृत्तयोऽपीति। अपिशब्देन तासां यागादिसाम्यं द्योतयति। हि यस्मान्निवृत्तयो यागादिसमास्तस्मादनुबन्धभूता नियोग-साधानकृत्यवच्छेदकतया तद्द्वारा निरूपिकाः स्युरित्यर्थः।।४२२।।

यथा च यागादीति= आदि पद से दानहोम का संग्रह अभीष्ट है। अनुबन्धः— अनु नाम पश्चात् बध्यते व्यवच्छेदक होकर के, यागादिधात्वर्थ ही अनुबन्ध है, तद्रूपही अनुबन्ध है वही नियोग का (विधी का) विषय है, उसके यागादिधात्वर्थ के भेद से शास्त्र में असन्निकृष्टार्थ प्रतिपादक वाक्य भी भिन्न भिन्न हो जाते हैं (विभिन्नार्थ प्रतिपादक विभिन्न विभिन्न वाक्य भी विभिन्न विभिन्न हो जाते हैं), उनके होने से जैसे यागादि नियोग भिन्न भिन्न है, इसी प्रकार से भक्षणादि निवृत्ति क्रिया भेद से निवृत्ति शास्त्र का भेद हो जाता है, अतः नियोग का भी भेद सुतरां हो ही जाता है।

नन्वेमपि कस्तत्र नियोज्यः, न हि तेन विना नरव्यापाररूपायाः कृतेर्लिङादिनाऽ-भिधानं पर्यवस्येदित्याशङ्क्य निवृत्तिनियोगस्य निवर्तनव्यापारसामर्थ्यप्राप्तनिवर्त्यप्रवृत्त्युन्मुखस्यैव नियोज्यत्वात् तन्निवृत्तिमात्रादेव नियोगसिद्धेः। अत एव विश्वजिन्न्यायात्स्वर्गकामोऽत्र नियोज्योऽस्त्विति निरस्तं, सामर्थ्यप्राप्तनियोज्ये संभवति तन्न्यायस्यानवतारादित्याशयेनाह—

आशंका— नियोग के सिद्ध होने पर भी कौन नियोज्य होगा? नियोज्य पुरुष के बिना पुरुष के व्यापार रूप कृति का लिङ् से अभिधान भी नहीं हो सकेगा।

समाधान— निवृत्ति नियोग का (अदृष्ट का) व्यापार करने में समर्थ व्यक्ति (अभक्षभक्षणादि) प्राप्त जो निवर्त्य अभक्षभक्षणादि ऐसे प्रवृत्ति के प्रति उन्मुख व्यक्ति ही नियोज्य है। उसके ऐसे निवृत्त होने मात्र से ही नियोग की सिद्धि होती है। विश्वजितन्याय विश्वजित यज्ञ में

कोई नियोज्य विहित होता नहीं। तो वहां स्वर्गफल की अभिलाषा वाला पुरुष नियोज्य माना जाता है। स हि स्वर्गः समानः प्रत्यविशिष्टत्वात्। स्वर्ग सबके लिये समान होने से।।

निवृत्तिसिध्द्याऽपि नियोगसिद्धिः
प्रवर्त्तमानस्य न गर्त्तपातः।।
निषिद्धचेष्टा निरयस्य हेतु-
र्नियोगतो नाध्यवसीयते हि।।४२३।।

अन्वयः= निवृत्तिसिद्ध्याऽपि नियोगसिद्धिः प्रवर्त्तमानस्य गर्तपातो न। नियोगतो हि निषिद्धचेष्टा निरयस्य हेतुः नाध्यवसीयते।।४२३।।

अन्वयार्थः= निवृत्ति की सिद्धि हो जाने पर ही नियोग की सिद्धि होती है, प्रवर्तमान पुरुष की अनर्थ प्राप्ति नहीं। नियोग से निषिध्दानुष्ठान नरक का हेतु सिद्ध नहीं होता।।४२३।।

निवृत्तिसिद्ध्याऽपीति। ननु कलञ्जभक्षणादिनिवृत्त्या निरयादिपातो न भवतीति तत्परिहारकाम एव नियोज्योऽस्त्विति चेत्, न। नियोगस्य तदाकाङ्क्षया अन्यत एव शान्तत्वेन तत्कल्पनाऽयोगात्। किं न यदि तद्भक्षणादिना निरयपातो भवेत्तर्हि तद्वर्जनेन सोऽपि वर्जितः स्यात्। न चैवमस्ति प्रमाणाभावादित्याशयेनाह— प्रवर्त्तमानस्येति। ननु "यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातयात्" इत्यादिवाक्यान्निषिद्धप्रवृत्तेर्निरयहेतुत्वं प्रतीयत इति चेत्तत्राहनिषिद्धचेष्टेति। हेतुपदानन्तरमितिपदमध्याहर्त्तव्यम्। नियोगतो विधित इत्यर्थः। अर्थवादो हि नियोगाकाङ्क्षितमेवार्थं प्रतिपादयति। नियोगश्च स्वनियोज्यसिद्धयेऽर्थवादसामर्थ्यलभ्यमपि फलमाकाङ्क्षतीत्यन्यतो लब्धे नियोज्ये नियोगस्य तदपेक्षोपरमान्न नियोगसामर्थ्येन ततस्तदध्यवसातुं शक्यत इत्युक्त एव नियोज्य इति भावः। हि शब्देन जरत्प्राभाकरमत एतत्सुप्रसिद्धमिति द्योतयति।।४२३।।

निवृत्तिसिध्याऽपीति= आशंका कलञ्जभक्षणादि निवृत्ति से नरक में जाना नहीं होता है नरक पतन से बचने वाला ही अधिकारी नियोज्य होना चाहिये

समाधान= ऐसा नहीं है। नियोग की तथा उस विधि के कामना की (आकाङ्क्षा की) शान्ति तो अन्य मार्ग से ही हो सकती है। इसलिये यह कहना गलत है कि नरक पतन परिहार कामनावाला ही (अधिकारी) नियोज्य होना चाहिये। दूसरी बात यह भी है कि यदि कलञ्ज भक्षण से नरक में पतन होता हो तब तो कलञ्जभक्षण निवृत्ति से नरक पतन भी वर्जित हो ही जायेगा। लेकिन ऐसा नहीं है। क्योंकि इसमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। इस आशय से कहा जा रहा है "प्रवर्त्तमानस्येति" भक्षणादि से प्रवृत्त का

नरकपात होता है इसमें प्रमाण नहीं है।

आशंका= यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातयात "जो ब्राह्मण का अपमान करें ऐसे व्यक्ति को सैकडों बार यातना देवें। तो ऐसे वाक्यों से निषिद्ध प्रवृत्ति को नरक हेतुता प्रतीत होती है।

समाधान= निबिद्ध चेष्टेति= निषिद्धचेष्टा नरक का हेतु है ऐसा वियोग से निश्चित नहीं होता है। हेतु इति पद के बाद "इति" पद का अध्याहार कर लेना चाहिये। नियोगतः= विधि से। अर्थवादतो नियोग से आकाङ्क्षित अर्थ का ही प्रतिपादन करता है। नियोगतो= अपने नियोज्य को सिद्ध करने के लिये अर्थवाद सामर्थ्य से भी प्राप्त करके फल की इच्छा करता है। अर्थात् नियोज्य व्यक्ति अर्थवादादिक के सामर्थ्य से फल को देखकर नियोजित हो जाता है, तो फिर नियोज्य विषयक नियोग की अपेक्षा ही समाप्त हो जाने के कारण नियोग के सामर्थ्य से नियोज्य का (अध्यवसाय) निश्चय नहीं हो पाता है, तो अर्थवाद बल से उक्त नियोज्य ही ठीक है, यह भाव है। हि= हि शब्द से जरत् प्राभाकरमत प्राचीन प्रभाकर, न कि प्रसिद्ध प्रभाकर इस विषय में प्रसिद्ध है, यह द्योतित होता है।

ननु निरयपातपरिहारेच्छां विना चेतनः कथं नियोगेन नियुज्येत प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तत इति न्यायादित्याशङ्क्य प्राभाकरसिद्धान्तरहस्यमाह—

आशंका= नरक पतन परिहार इच्छा के बिना चेतन पुरुष कैसे नियोग से नियुक्त होगा। क्योंकि प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते= प्रयोजन के बिना किसी मन्द व्यक्ति की भी प्रवृत्ति देखने में नहीं आती। इस न्याय से आशंका करके प्राभाकर सिद्धान्त रहस्य कह रहे हैं। (गोपनीय विषय को प्रगट कर रहे हैं)

नियोग एवैष पुमान्नियुज्यते
नियोगसिध्यै तु पुनर्नियुज्यते।।
परत्र कर्मस्वथ वा निवृत्तिषु
स्थितिः प्रसिद्धेति नियोगवादिनाम्।।४२४।।

अन्वयं= एष पुमान् नियोगे एव नियुज्यते, नियोगसिध्यै तु पुनः परत्र कर्मसु अथवा निवृत्तिषु नियुज्यते इति नियोगवादिनां प्रसिद्धा स्थितिः।।४२४।।

अन्वयार्थः=यह (नियोज्य) पुरुष नियोग में ही (प्रथमतः) नियुक्त होता है। नियोग सिद्धि के लिये अन्य प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति कर्मो में नियुक्त हो जाता है। वह नियोगवादियों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है।।४२४।।

नियोग एवेति। एष नियोज्यः। नियोगे इति सप्तमी। नियुज्यते नियोगेनेति शेषः। नियोज्यो हि लोके कार्ये लिङादिव्युत्पत्तिबलान्नियोगमेव लिङादितः स्वकृतिसाध्यत्वेनावगच्छंस्तदुन्मुखो भवति। अयमेव नियोज्यस्य नियोगे तन्नियोगो नाम, स्वर्गादिकमपि हि नियोगः स्वसिद्ध्यनुकूलनियोज्यसिद्धये प्रयच्छतीति स एव मुख्यः साध्यः। तदुक्तम् "स्वात्मसिध्यनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये।। कुर्वत्स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव नः" इति। नियोगमुद्दिश्यैव पुमान्प्रथमं प्रवर्त्तत इत्यर्थः। नन्वव्यापाररूपे तस्मिन्कथं पुंसो नियोगो भवेदित्याशङ्क्य तदनन्तरं तेनैव नियोगेन तद्विषये यागादिधात्वर्थे तत्सिद्धये स नियुज्यत इति तद्द्वारा स नियोगं साधयिष्यतीत्याशयेनाह- नियोगसिद्ध्या इति। तुरवधारणे। तत्सिद्ध्यर्थमेवेत्यर्थः। पुनः पश्चात्। परत्र नियोगविषयेषु। तानेवाह– कर्मस्वित्यादिना। कर्मसु नियुज्यत इत्यनुषङ्गः स्थितिः- सिद्धान्तः।।४२४।।

नियोग ऐवति= एष= नियोज्य। नियोगे= ऐसा सप्तमी प्रयोग करना उचित है। नियुज्यते= नियोग से पुरुष नियोग में नियोजित होता है। पूर्वपक्ष यह था कि निरय पात विरह इच्छा के बिना चेतन पुरुष नियोग से कैसा नियोज्य होगा। तो समाधान देते हैं कि- नियोज्य, लोक में तो– कार्य जो लिङादि उसके व्युत्पत्तिबल से नियोग ही लिङादि से पुरुषकृति साध्यत्वेन अवगमन कराता हुवा नियोग नियोज्य के सम्मुख होता है। यही ही नियोज्य का नियोग में अन्वित होना है। तन्नियोग नाम। स्वर्गादिक भी नियोग (विधी वाक्य) स्वर्गादि-सिद्ध्यनुकुल नियोज्यसिद्धि के लिये प्रयत्नशील रहता है। इसलिये स्वसिद्ध्यनुकूलनियोज्य ही मुख्य साध्य है। न कि निरय पात विरह इच्छा युक्त। तदुक्तम् स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये। कुर्वत् स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव नः "इति" स्वर्गादिसिद्ध्यनुकूल नियोज्य की प्रसिद्धि करने के लिये स्वर्ग कामो यजेत आदि नियोग वाक्य प्रवृत्त होते हैं। तो हमारे नियोग का यह प्रधान कार्य है, पहिला कार्य है। अर्थात् नियोग को देखकर ही मनुष्य प्रथम प्रवृत्त होता है।

आशंका= नियोग स्वतः अव्यापार रूप हो वैसे उसमें किसप्रकार पुरुष का नियोग होगा?

समाधान= स्वर्ग कामो यजेत् इत्यादि नियोग के बाद इसी नियोग से नियोग का विधि का विषय यागादिधात्वर्थ में, यागादिक के सिद्धि के लिये पुरुष नियोजित किया जाता है, इस प्रकार पुरुष भी यागादि द्वारा नियोग को सिद्ध करेगा। इसी आशय से कहा जा रहा है नियोग सिद्ध्या इति=। तु=अवधारणार्थ नियोग सिद्ध्यर्थ के लिये ही। पुनः=

बाद में। परत्र= नियोगविषयों मे। नियोग के विषय कौन कौन से हैं उन्हे बता रहे हैं कर्मस्वित्यादिना= पुरुष कर्म में नियुक्त होता है अथवा निवृत्ति में प्रवृत्त होता है, ऐसा नियोग वादियों का सिद्धान्त है।

ननु यदि निवृत्तिसिद्ध्या तन्नियोगः सिध्येत्तर्हि निषिद्धेऽन्यतोऽपि प्रवर्त्तकरागाद्यभावे निवृत्तिसिद्धेः किं नियोगस्य पृथङ् नियोगेनत्याशङ्क्याह-

आशंका= यदि निवृत्ति सिद्धि से यदि नियोग की सिद्धि हो जाती है तो निषिद्ध पदार्थ की निवृत्ति सिद्धि- अन्य प्रकार से प्रवर्तकरागाद्यभाव से यदि हो जाय तो फिर निषिद्ध पदार्थ के निवृत्ति सिद्धि के लिये पृथक् नियोग मानने की आवश्यकता नहीं है ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं-

प्रवृद्धरागस्य निवृत्तयोऽस्थिरा-
स्ततः स्थिरत्वाय नियुज्यते पुमान्।।
निवृत्तिदेशेषु नियोगबुद्धितो
निवृत्तिमूर्ध्वं परिपालयिष्यति।।४२५।।

अन्वयः= प्रबृद्धरागस्य निवृत्तयः अस्थिराः, ततः स्थिरत्वाय निवृत्तिदेशेषु पुमान् नियुज्यते, नियोगबुद्धित ऊर्ध्वं परिपालयिष्यति।।४२५।।

अन्वयार्थः= (निषिद्ध पदार्थों के भक्षण में) रागातिशय के कारण निवृत्तियां अस्थिर हुवा करती हैं, अतः निवृत्तियों की स्थिरता के लिये पुरुष निवृत्ति नियोग विषयों में नियुक्त किया जाता है कि नियोग बुद्धि के अनन्तर निवृत्ति का परिपालन करेगा।।४२५।।

प्रवृद्धरागस्येति। यद्यप्युक्तरीत्या सकृन्निवृत्तिर्भवेत्तथापि नियोगेन तन्नियोगाभावे प्रथममिव पुंसः पुनरपि तत्र राग उत्पद्येतेति निषेध्यान्निवृत्तयोऽस्थिराः स्युरिति यतस्ततो हेतोः निवृत्तिस्थेम्ने निवृत्तिरूपदेशेषु पुमान्नियुज्यते। एवं हि सति प्रवृत्त्युन्मुखः पुमान्निवृत्तिनियोगमेव कार्यमवगच्छेदिति निवृतयः स्थिराः स्युरित्याशयेनाह- नियोगबुद्धित इति। उर्ध्वं उर्ध्वमपीत्यर्थः। परिपालयिष्यति, अविच्छिन्नप्रवाहां तां करोतीत्यर्थः।।४२५।।

प्रबृद्ध रागस्येति= यद्यपि इसप्रकार से भी एक बार तो निवृत्ति हो सकती है तथापि नियोग से उस निवृत्ति का नियोग न होने से अर्थात् नियोग के द्वारा उस निवृत्ति को पक्का न करने पर जैसे पहिले निषद्ध कार्य में प्रवृत्त होता था इसीप्रकार से पुनः उस पदार्थ में राग उत्पन्न होकर जिससे निषेध्य पदार्थ से जो निवृत्ति है वह अस्थिर ही

होगी। इस कारण निवृत्ति स्थिर हो इसलिये निवृत्ति के उपदेश के लिये मनुष्य को नियोजित किया जाता है। जिससे वही निषेध्य वस्तु विषयक निवृत्ति स्थिर हो जाती है। इसप्रकार करने से निषेध्य वस्तु के तरफ प्रवृत्ति उन्मुख व्यक्ति निवृत्ति नियोगरूप कार्य की और अग्रसर हो जाता है, जिससे निवृत्ति सुस्थिर हो जाती है। इस आशय से कहा जा रहा है नियोग बुद्धित इति उर्ध्व बाद में भी। परिपालयिष्यति= लगातार वह उसनिवृति को करता रहेगा, यह तात्पर्य है।

आशंका= यह निवृत्ति क्या चीज है?

समाधान= प्रवृत्ति विरोधी मानसी क्रिया ही निवृत्ति है।

आशंका= यदि निवृत्ति का यह अर्थ है तब तो नञ् का स्वार्थ त्याग प्रसङ्ग आयेगा। क्योंकि नञ् को (निवृत्ति को) विधिपरक ही ले लिया है।

समाधान= आपकी आशंका सही है, निवृत्ति के स्थिरता के लिये यदि नञ् का स्वार्थत्याग होता है, तो इष्टापत्ति है।

ननु केयं निवृत्तिर्नाम? ननूक्तं प्रवृत्तिविरोधिमानसी क्रियेति। ननु तत्राप्युक्तमेवं सति नञः स्वार्थत्यागप्रसङ्ग इति। सत्यं, निवृत्तिस्थैर्याय सोऽप्युचित एव। ननु प्राभाकरनयेऽभावा-भावात्कथं तेन लक्षणा, मुख्यार्थसंबन्धासंभवादित्याशङ्क्य प्राभाकरमते भावरूपभक्षणाद्यभावं नञो मुख्यार्थं निवृत्तिलक्षणार्थमाह--

आशंका= प्रभाकर मत में अभाव नहीं होने से प्रभाकर सप्तम पदार्थ अभाव का स्वीकार नहीं करते हैं अभाव में लक्षणा कैसी बनेगी? क्योंकि मुख्यार्थ सम्बन्धी को लक्षणा कहते हैं लेकिन अभाव को न मानने से मुख्यार्थ सम्बन्ध नहीं बनेगा तो आगे लक्षणा नहीं बनेगी।

समाधान-- प्रभाकर मत से भावस्वरूप भक्षणाद्यभाव नञ् से मुख्यार्थ रूप से निवृत्ति लक्षणार्थ को कह रहे हैं--

अनाद्यजग्धेश्च निवृत्तिरिष्टा
विशिष्टदन्तोष्ठनिविष्टसंवित्।।
अनन्यसंसर्गिपदार्थसंवि-
न्निवृत्तिरित्येष हि राजमार्गः।।४२६।।

अन्वयः= विशिष्टदन्तौष्ठनिपिष्टसंवित् अनाद्यजग्धे निवृत्तिः इष्टा। अनन्य संसर्गिपदार्थसंवित् निवृत्तिः इत्येष हि राजमार्गः।।४२६।।

अन्वयार्थः= विशिष्ट (चर्वणक्रिया रहित) दन्त और होंठों का ज्ञान ही अभक्ष्य (कलञ्जादि) की भक्षण की निवृत्ति माना जाता है। निषेध्य के अनधिकरण वस्तु का ज्ञान ही निवृत्ति पदार्थ है यह प्रभाकर का सार्वभौम सिद्धान्त है।।४२६।।

अनाद्येति। न आद्यमनाद्यं तस्य भक्षणानर्हस्य कलञ्चादेर्जग्धेर्भक्षणादित्यर्थः। चोऽवधारणे। निवृत्तिरभावः। विशिष्टदन्तोष्ठनिविष्टसंविदेव। अविशिष्टेति वा छेदः। केवलदन्तोष्ठविषयज्ञानमित्यर्थः। जग्धेरिति षष्ठी वा। अन्यत्समानम्। भक्षणाद्यकालीनदन्तोष्ठादिव्यावृत्तये विशिष्टेत्युक्तम्। तत्र हेतुत्वेन तत्सिद्धान्तं दर्शयति– अनन्यसंसर्गीति। अन्यो निषेध्यः तत्संसर्गी न भवतीत्यनन्यसंसर्गी तादृशो यः पदार्थः निषेध्यानधिकरणं तत्संवित्केवलाधिकरणज्ञानमिति यावत्। राजमार्गः निर्दोषः। प्राभाकरपक्षे हि यत्र भावव्यवहारस्तस्य प्रतियोग्यसंसर्गिणो ज्ञानमभाव इति प्रसिद्धम्। एवं च भक्षणादिनिवृत्तिरपि केवलदन्तोष्ठादि तदेव तत्र नञोच्यते। अतो न निवृत्तिर्लक्ष्यत इत्यर्थः। एवंरूप एवाभावो निवृत्तिः प्रकृते विधेयाऽस्तु तथा च न लक्षणेति चाशयः।।४२६।।

अनाद्येति= अद्भक्षणे उसका अभाव, जो न खाया जावे, उसे अनाद्य कहते हैं, अर्थात् जो भक्षण के योग्य नहीं है, जैसे कलञ्जादि, उसके जग्धेः= भक्षण करने से। निवृत्तिरित्येष निवृत्ति अभिमत है। च अवधारणार्थ है। निवृत्तिः= अभाव। विशिष्टन्तोष्ठनिविष्टसंवित्। भक्षण क्या है? विशिष्ट दांत और होंठ इनसे निविष्ट ज्ञान को भक्षण कहते हैं। कुछ विद्वान् अभाव को ज्ञानस्वरुप मानते हैं अर्थात् घटाभाव शुद्ध भूतलज्ञान स्वरुप है। अविशिष्टेति वा छेदः। केवल दांत और होंठ विषयक ज्ञान यह अर्थ होगा। जग्धेरिति– षष्ठी का प्रयोग है। बाकी सरल है। भाव यह है कि अनाद्य- जो भक्षण करने योग्य नहीं है इसी का अर्थ हुवा भक्षण निवृत्ति, भक्षण क्या है- विशिष्ट दन्तोष्ठ निविष्ट संवित् तो प्रभाकरमत से भावरुप (ज्ञानस्वरुपादि) भक्षणादि, उसका अभाव नञ् से मुख्यार्थ कहा गया।

भक्षण के असमानकालीन दन्तौष्ठादि के व्यावृत्ति के लिये विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया। अर्थात् भक्षण कालीन विशिष्ट दन्तौष्ठ निविष्ट संवित् ऐसा प्रयोग होगा भाव रूप भक्षणाद्यभाव नञ् का मुख्यार्थ है जो नाद्य के स्थान पर आया है। इस भाव रूप अभाव को नञर्थ के रूप में स्वीकृत करना सिद्धान्त रूप में मान्य है। उसी को कह रहे हैं– अनन्य संसर्गि पदार्थ संवित्। निवृत्तिरित्येष हि राजमार्गः अन्यो- निषेध्य, तत्संसर्गी जो नहीं होता है वही है अनन्यसंसर्गी, ऐसा जो पदार्थ अर्थात् जो निषेध्य पदार्थ का अनधिकरण

है उसका ज्ञान, केवल अधिकरणात्मक ज्ञान साथ में निषेध्यानधिकरण ज्ञान यही निवृत्ति है। राजमार्गः= निर्दोषमार्ग है। प्राभाकरमत में जहां भाव का व्यवहार है उस भाव व्यवहार का अनुयोगि और प्रतियोगि के बीच में जो संसर्ग वाला नहीं है उसका ज्ञान यही अभाव रूप है। तो प्रकृत में भक्षणाभाव भक्षण निवृत्ति अनुयागि हुई निवृत्ति (अभाव), प्रतियोगि हुवा भक्षण, इन दोनों के बीच में जो सम्बन्धवान् नहीं है वह है केवल दन्त ओष्ठादि वही नञ् से अर्थ अभिमत है। इस पक्ष में निवृत्ति की लक्षणा नहीं करनी पडती है। इस प्रकार की निवृत्ति ही अभाव रूप है वह प्रकृत में विधेय रहने दो, तो यहां लक्षणा की जरूरत नहीं है।

एवं स्वमतं प्रसाध्येदानीं सिद्धान्त्यभिमतं निषेधवाक्ये नञर्थं दूषयितुमनुवदति–

इस प्रकार सिद्ध करने के बाद (वेदाभिमत, भट्टाभिमत) सिद्धान्त्यभिमत निषेध वाक्य में नञ्र्थ का खण्डन करने के लिये अनुवाद करते हैं–

ननु समीहितसाधनता लिङो
लशुनगृञ्जनभक्षणसंश्रया।।
भवति वाच्यतयाऽभिमताऽस्य नो
नञपि तद्विनिवृत्तिनिवेदकः।४२७।।

अन्वयः= ननु लशुनगृञ्जनादिभक्षणसंश्रया समीहितसाधनता लिङो वाच्यतया नो अभिमता भवति। अस्य नञपि तद्विनिवृत्तिनिवेदकः।।४२७।।

अन्वयार्थः= लशुनादिभक्षण गत इष्ठ साधनता को ही लिङ् का वाच्य माना जाता है। इस (वाक्य) का नञ् भी इस इष्ट साधनता की निवृत्ति का बोधक है।।४२७।।

ननु समीहितेति। लशुनादिकं लोकप्रसिद्धम्। अस्य लशुनादिभक्षणस्य, नोऽस्मन्मते तस्याः समीहितसाधनतायाः विनिवृत्तिरभावः तस्या निवेदको बोधक इत्यर्थः। प्रत्ययेन संबद्धोहि नञ् लशुनादिभक्षणगतेष्टसाधनत्वस्य लिङाद्यर्थस्याभावं बोधयतीत्यर्थः।।४२७।।

ननु समीहितेति– लशुनादिक लोक प्रसिद्ध उदाहरण है। इस लहसुन का भक्षण, नो= अस्मन्ममते (किसी भी मत में) उसमें, समीहित साधनतायाः- इष्ट साधनता का, विनिवृत्तिः= अभाव है, तस्या– उसका, निवदे को= बोधक नञ् है। क्योंकि प्रत्यय से सम्बद्ध नञ् लहसुनादिभक्षण गत इष्ट साधनता लिङाद्यर्थ के अभाव को बोधित करता है।

तद् दूषयति–

इसका खण्डन प्रभाकर कर रहे हैं—

तदसदिष्टफलोद्भवदर्शना-
ल्लशुनगृञ्जनपर्युषिताशनात्।।
न हि निषिद्धपदार्थनिमित्तकः
सुखलवः पुरुषस्य न विद्यते।।४२८।।

अन्वयः= तदसत्— लशुनगृञ्जनपर्युषिताशनात् इष्टफलोद्भवदर्शनात्। निषिद्धपदार्थनिमित्तकः पुरुषस्य सुखलवः न विद्यते इति नहि।।

अन्वयार्थः= उक्त आशंका अनुचित है, क्योंकि लहसुन, प्याज, (गृञ्जन) और बासा अन्न खाने से अभीष्ट फल की उपत्ति देखी जाती है। निषिद्ध पदार्थ के सेवन से पुरुष को किञ्चिन्मात्र भी सुख नहीं होगा, यह नहीं कह सकते।।

तदसदिति। तदप्यसदित्यर्थः। कुतः लशुनादिभक्षणादिष्टफलस्य सुखादेरुद्गम उदयः तद्दर्शनादित्यर्थः। उक्तमेव व्यतिरेकनिषेधेन द्रढ़यति-नहीति। स्पष्टमन्यत्। तस्मात्सर्वो वेदः कार्यपर इति भावः।।४२८।।

तदसदिति= यह कहना भी असत् है। क्योंकि लहसुनादि भक्षण से इष्टफल की सुखादिक का, उद्‌गमः= उदय, दर्शनात्= देखने में आता है। उक्त बात ही व्यतिरेक मुख से निषेध करके द्ढ करा रहे हैं। न हीति= निषिद्ध पदार्थ के निमित्त से यह नहीं कि पुरुष को सुख का कण मिलता नहीं बल्कि मिलता है। बाकी सब स्पष्ट ही है। अतः सभी वेद कार्यपरक है, यह भाव सिद्ध हुवा।

उच्यते। यदि निषेधवाक्यस्थलिङादिना कार्यमुपस्थाप्यते तदा तस्य कथचिदुक्तरीत्या नञर्थो विषयः कल्प्येत। न त्वेतदस्ति। लोके धात्वर्थातिरिक्तिकार्याभावेन तस्य च धातुसिद्धत्वेन लिङादेस्तदर्थत्वाभावात्। न च धात्वर्थ एव कार्यतया लिङाद्यर्थ इति वाच्यम्। कृतिसाध्यताया एव कार्यतात्वेऽतिप्रसक्तायास्तस्या लिङ्गाद्यर्थत्वायोगात्। न च कृतीप्सितता तस्य कार्यतेति वाच्यम्। बहुक्लेशसाध्यतया तस्य स्वतस्तदयोगात्। इष्टसाधनत्वेन तस्य कृतीप्सितत्वेऽवश्यं प्रथमोपस्थितस्य तस्यैव प्रवर्त्तकत्वं लिङर्थत्वं चेति न कार्यं लोके लिङर्थ इति कथं निषेधवाक्यस्थलिङादिना तत्राविदितसंगतिकेन तदुपस्थाप्येत। तस्माच्छ्रेयःसाधनत्वमेव लोकव्युत्पत्तिबलेनात्रापि लिङर्थः कल्प्यत इति तदभाव एव नञर्थः। न चैवं कलञ्जभक्षणादेः सुखसाधनत्वानुभवविरोधः। यद्यपि प्रवृतौ कृतिसाध्यश्रेयःसाधनत्वज्ञानं कारणम्

तथापि तस्य श्रेयसः प्रबलानर्थसम्बन्धित्वज्ञाने प्रवृत्तिर्न भवतीति तदज्ञानं प्रतिबन्धकाभावतयाऽवश्यं वक्तव्यमिति निषिद्धे प्रवर्त्तमानस्यापि तत्साध्यसुखे बलवदनर्थसाधनत्वाज्ञानं वाच्यम्। एवं च सामग्रीसमाजादिदं बलवदनिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनमिति भ्रमो भवतीति भ्रान्तिप्राप्तं तदेव विशिष्टेष्टसाधनत्वं निषेधवाक्येन नञर्थान्वयाय लक्षणयाऽनूद्य निषिद्ध्यते भोजनादिव्यापारे तस्य लिङ्वाच्यसंबन्धित्वावगमादिति नानुभवविरोध इत्याशयेनाह—

उच्यते= यदि निषेध वाक्यस्थ लिङादिक से कार्य की उपस्थिति हो तब तो उस कार्य को किसी भी प्रकार से नञ् का विषय माना जा सकता है। लेकिन ऐसा नहीं। लोक में धात्वर्थ से अतिरिक्त कार्य नामक कोई वस्तु नहीं है। जो कार्य है वह धातु से सिद्ध ही है, लिङादिक कार्य रूप अर्थ बता नहीं सकते। क्योंकि उसे धात्वर्थ ने बता दिया है।

आशंका= धात्वर्थ ही कार्य के द्वारा लिङाद्यर्थ मानें। इति वाच्यम्। न च वाच्यम्।

समाधान= कार्यतात्व कृतिसाध्यतारूप मानने से अतिप्रसक्ति होगी धटादि में कृतिसाध्यत्व होने से अतिप्रसङ्ग है इसलिये कार्यतात्व लिङाद्यर्थत्व परक नहीं माना जा सकता।

आशंका= कृतिसाध्यतारूप कार्य नहीं मानेंगे किन्तु कृति इप्सितता ही कार्यतात्व मानेंगे। इति वाच्यम्।

समाधान— कृति इप्सितता बहुक्लेश साध्य होने से कार्य में स्वतः यह योग नहीं बन सकता।

आशंका= इष्ट साधनत्वेन रूपेण कार्य का कृति इप्सितता स्वरूप मानेंगे

समाधान= प्रथम उपस्थित इष्ट साधनत्वेन रूपेण इष्ट साधनता रूप वही प्रवर्त्तक मानेंगे लिङाद्यर्थत्व कार्य स्वरूप है ऐसा लोक में बिलकुल नहीं है। इसलिये यह कैसे किया कि निषेध वाक्यस्थित लिङादिक से कार्य विषयक किसी संगति का ज्ञान नहीं है। और फिर उसे लिङ्गादिक से स्थापित करें। इसलिये श्रेयः साधनत्वमेव लोक उत्पत्ति बल से लिङर्थ किया जाता है, उसका जो अभाव है, वही नञर्थ है।

आशंका= कलञ्ज भक्षण से सुख साधनता का अनुभव विरोध होगा।

समाधान= यद्यपि प्रवृत्ति में कृतिसाध्य श्रेय साधनता ज्ञान कारण है, तथापि श्रेय मार्ग में प्रबल अनर्थ सम्बन्धित्व ज्ञान के विद्यमान रहते हुये प्रवृत्ति नहीं होगी प्रबलानर्थ सम्बन्धित्व ज्ञान ही प्रतिबन्धक है उसका अभाव भी प्रतिबन्धकाभाव रूप से कारण मानना

जरूरी है। इसी प्रकार निषिद्ध में प्रवर्त्तमान व्यक्ति को निषिद्ध कार्य साध्य सुख में, बलवदनर्थ साधनता का अज्ञान ही कारण रूप से मानना पडता है। इस प्रकार सब सामग्री के होने पर भी बलवदनिष्ठानुबन्ध मेरा इष्ट साधन है, ऐसा भ्रम उत्पन्न हो जाता है। तो ऐसा भ्रान्ति प्राप्त वही विशिष्ट इष्ट साधनत्व निषेधवाक्य से नञर्थ का अन्वय कराने के लिये लक्षणा के द्वारा अनुवाद कराता है, तथा निषेध करता है क्योंकि कलञ्ज भोजनादि व्यापार में सुखसाधनत्वानुभव का लिङ्वाच्य सम्बन्धित्वेन रूपेण अवगम हो जाता है। इसलिये अनुभव विरोध नहीं है इसी आशय से (और नञ् योग से लक्षणा द्वारा भ्रान्ति निवृत्ति हो जाती है) अर्थात् इष्ट साधनत्व भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। कहा जा रहा है—

अदृष्टदोषं परिहृत्य शंसतः
कलञ्जमास्वाद्य सुखित्वमात्मनः।।
पुमानबोधोपहतः समीहते
तदीहिताभावपरा निषेधगीः।।४२६।।

अन्वयः= अदृष्टदोषं परिहृत्य कलञ्जमास्वाद्य आत्मनः सुखित्वं शंसतः ईहिताभावपरा निषेधगीः, (यतः) पुमान् अबोधोपहतः।।४२६।।

अन्वयार्थ= अज्ञात दोष ही उपेक्षा करता हुवा कलञ्ज (विषाक्त बाण विद्ध मृगमांस) का आस्वादन करके जो व्यक्ति अपने को सुखित्व की प्रार्थना करता है, उसका अभिमत पदार्थ के अभाव का बोध ा' निषेध वाक्य कराता है। क्योंकि वह अज्ञानी व्यक्ति भावी कष्ट से अनभिज्ञ होकर उस कलञ्ज भक्षण में इष्ट साधनत्व बुद्धि करके बैठा है।।४२६।।

अदृष्टदोषं परिहृत्येति। यतः पुमान्कलञ्जभक्षणादेर्बलदनिष्टानुबन्धित्वाज्ञानेनोपहतः सन् समीहते प्रवर्त्तते ततश्चात्मनः स्वस्य कलञ्जं विषलिप्तशरहतमृगमांसमास्वाद्य भक्षयित्वा अदृष्टदोषं परिहृत्य अनादृत्य सुखित्वं शंसतः प्रार्थयतस्तस्येहितमभिलषितं यद्बलबदनिष्ठान-नुबन्धीष्टसाधनत्वं तदभावपरा निषेधगीरिति संबन्धः। भ्रमानेन कलञ्जभक्षणेन बलवदनिष्टान-नुबन्धीष्टं भर्वात्विति प्रार्थयतस्तस्याभिलषितसुखसाधनत्वं लिङादिनाऽनूद्य निषेधवाक्यं निषेधति। यतः पुमानज्ञानादेव तच्चिकीर्षापूर्वं करोतीत्यर्थः। अबोधोपहत इत्यनेन भ्रान्तिप्राप्त इति प्रागुक्तः प्रसज्यप्रतिपेधविषेयो दर्शितः।।४२६।।

अदृष्ट दोष परिहृत्येति= जब कि पुरुष कलञ्जभक्षण को बलवदनिष्टानुबन्धित्व का अज्ञान होने से उससे उसकी मति ढकी होने से, समीहते= प्रवृत्त होता है। इसलिये आत्मनः= अपने लिये कलञ्ज का जहरीले बाण से मारे हुये हिरन के मांस को आस्वादन करके

आस्वाद्य= भक्षण करने के वाद, अदृष्ट दोषं परिहृत्य= अदृष्ट दोष का अनादर करके, सुखित्वं शंसतः= प्रार्थना करता है, ऐसे पुरुष का जो अभिलषित हित जो बलवदनिष्टाननुबन्ध इष्ट- साधनत्वं- उसके अभाव परक निषेध वाक्य होता है यह सम्बन्ध है। अर्थात् भानेन= मेरे इस कलञ्ज भक्षण से बलवदनिष्ठाननुवन्ध इष्ट हो करके अर्थात् मेरा बलवान् अनिष्ट न होकर इष्ट होवे ऐसी प्रार्थना करता है, तो इस अवस्था में उसका तो अभिलषित सुखसाधनत्व लिङादि से अनुवादित होता है और निषेध वाक्य उसका निषेध अभाव करता है। क्योंकि मुनष्य हमेशा अज्ञान से ही करने की इच्छा पूर्वक ही कोई कार्य करता है। अबोधोपहतः= इससे भ्रान्ति से प्राप्त, ऐसी तो निषेधगीः= निषेधात्मक वाक्य, प्रसज्य प्रतिषेध विषयक है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

अदृष्टदोषमित्याद्युक्तमेव विवृणोति—

अदृष्ट दोषमित्यादि कहा हुवा है उसका स्पष्टीकरण कर रहे है।

नरकपातविवर्जनवर्त्मना
भवतु विप्रवधात्परमार्थतः।।
मम सुखित्वमितीच्छति यत्पुमा-
न्न तदितीह निषेधगिरोच्यते।।४३०।।

अन्वयः=विप्रवधात् नरकपातविवर्जितवर्त्मना अत्र परमार्थतः' सुखित्वं भवतुः इति यत् पुमान् इच्छति, तन्नेति इह निषेधगिरा उच्यते।।४३०।।

अन्वयार्थः= ब्राह्मण वध से नरक पात रहित मार्ग के द्वारा मै यथार्थ रूप से सुखी हो जाऊँ इस प्रकार जो पुरूष इच्छा करता है, वही नहीं होगा, यह निषेध वाक्य से बताया है।।४३०।।

नरकपात इति। नरकपातस्य विशेषेण वर्जनं यस्मात्तेनोपायेन, इत्थंभावे तृतीया। नरकपातवर्जनाभिमानमात्रव्यावृत्तये परमार्थत इत्युक्तम्। भवति ह्यत्यन्ताविवेकिनस्तीव्ररोष-वशात्तादृशाभिमानः। तत्तादृशसुखहेतुत्वम्। इह विप्रवधादौ।।४३०।।

नरकपात इति= नरक में पतन विशेष रूप से न हो। ऐसा जो उपाय इस उपाय से, इत्थंभाव में तृतीया विभक्ति है। परमार्थतः= नरक में पतन न हो ऐसा केवल अभिमान मात्र के हटाने के लिये परमार्थतः पद दिया है। केवल अभिमान मात्र नहीं किन्तु यथार्थ रूप से उस उपाय में प्रवृत्त है। कई बार यह देखा गया है कि अत्यन्त अविवेकी लोभी तीव्र रोषवश से (तीव्र क्रोध वश से) ऐसा अभिमान कर बैठते है लेकिन करते धरते कुछ

भी नहीं। इन लोगों के व्यावृत्ति के लिये परमार्थतः यह पद दिया है। तत्= तादृश सुख हेतुता। इह= विप्रवधादिक में प्राप्त नहीं है। इस प्रकार अदृष्ट दोष का स्पष्टीकरण हुवा।

नन्वनुभवसिद्धं सर्वेषां कलञ्जभक्षणादेस्तादृशसुखसाधनत्वं कथं नञा निषेद्धुं शक्यमित्याशङ्क्य भ्रान्तिसिद्धमेव तन्न प्रमाणसिद्धं तत्प्रमाणस्य श्रुतेस्तत्राभावात्, प्रत्यक्षादेश्च पारलौकिकानर्थाभावावेदनेऽसमर्थत्वादित्याशयेनाह—

आशंका= कलञ्ज भक्षणादि सबको सुखसाधनता के रूप में अनुभव सिद्ध है तो नञ् के द्वारा उसका निषेध कैसे हो सकेगा

प्रमाणतो नास्ति निषिद्धकर्मणः
फलस्पृहाऽदृष्टभयं विना तव।।
भ्रमादबोधप्रभवात्प्रवर्त्तते
न तात मानेन फलस्पृहाऽत्र ते।।४३१।।

अन्वयः= तात त अदृष्टभयं विना निषिद्धकर्मणः यत् स्पूहा प्रमाणतो नास्ति। अबोधप्रभवात् प्रवर्त ते, अत्र ते स्पृहा मानेन न।।४३१।।

अन्वयार्थः= हे वत्स, अदृष्ट (पापपुण्य) भय का ज्ञान न होने से ही निषिद्धकर्मों की फलस्पृहा होती है। वह स्पृहा प्रमाणजन्य नहीं है। केवल अबोधमात्र से तू उस कर्म में प्रवृत्त होता है। किसी प्रमाण के आधार पर तेरी यह इष्ट साधनता ठहरी हुई नहीं है।।४३१।।

प्रमाणत इति। फलस्पृहा फलसाधनत्वम्। अदृष्टभयं विना पारलौकिकबलवद्दुःखभयपरिहारेण। कथं तर्हि तत्र प्रवृत्तिरिति तत्राह— भ्रमादिति। बलवदनिष्टानुबन्धित्वाज्ञानप्रभवादिदं बलवदनिष्टाननुबन्धीति भ्रमादित्यर्थः। उपसंहरति-न तातेति। यथा बालं माताऽनिष्टान्निवर्त्तयति एवं श्रुतिरपि त्वदभिमतफलसाधनत्वमत्र नेति निवारयतीति तातेत्यनेन सूचितम्।।४३१।।

प्रमाणत इति= फल स्पृहा= फल साधनत्व। अदृष्टभयं विना= पारलौकिक बलवद् दुःख भय के बिना। अर्थात् निषिद्ध कर्म की फलस्पृहा में कोई प्रमाण नहीं है। तो फिर निषिद्ध कर्म में प्रवृत्ति कैसी होती है? इसका उत्तर है भ्रमादिति= बलदनिष्ठानुबधित्व का अज्ञान, प्रभवात्= प्रभाव से, भ्रम उत्पन्न होकर यही वह सोचता है कि यह तो बलवदनिष्टान-नुबन्धी है। इससे मेरे से बुरा होने वाला नहीं है ऐसा भ्रम से वह समझता है। उपसंहार करते हैं। न तातेति—जिस प्रकार बालक को माता अनिष्ट से निवृत्त कराती है इसी

प्रकार से श्रुति भगवती भी पुरुष अभिमत फल साधनत्व का निराकरण करती है कि अत्र नेति= यहां यह तेरे लिये अच्छा नहीं है। तात= इससे श्रुति में मातृभाव है, यह द्योतित होता हैं

निषिद्धेषु वर्णितफलसाधनत्वस्य भ्रमसिद्धत्वोपपादनफलमाह—

निषिद्ध कर्मों में वर्णित फल साधनता भ्रमसिद्ध है इसके उपपादन का फल बता रहे है।

इति श्रुतिः शास्ति निषिद्धकर्मणि
प्रवृत्तिमन्तं पुरुषं नञन्विता।
न चायमर्थोपह्रतः प्रमान्तरै-
र्न हि प्रमाणैरपरैर्विरुध्यते।।४३२।।

अन्वयः= निषिद्धकर्मणि प्रवृत्तिमन्तं पुरुषं नञन्विता श्रुतिः इति शास्ति। अयमर्थः न च प्रमान्तरै अपह्रतः, नहि अपरैः प्रमाणैः विरुध्यते।।४३२।।

अन्वयार्थः= निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त पुरुष को यह नञ् पदान्वित श्रुति उक्त प्रकार से उपदेश करती है। यह अर्थ न तो प्रमाणान्तर से बोधित है ओर न तो प्रमारणान्तर से बाधित ही है।।४३२।।

इतीति। उक्तप्रकारेणेत्यर्थः। श्रुतिः निषेधवाक्यं शास्ति प्रतिपादयति। निषेधाधिकारिणमाह निषिद्धेति। प्रवृत्तिमन्तं प्रवृत्त्युन्मुखम्। न चैवं सति मानान्तरविरोध इत्याह—न चेति। अयं बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वाभावः। अपह्रतः बाधितः। तत्राविरोध हेतुमाह न हीति। विशेष्यांशस्य तत्र सत्त्वेऽपि विशेषणांशस्याभावेन तद्विशिष्टस्याप्रामणिकत्वाद्विशेष्यमात्रग्राहिभिर्न विरोधः। यद्यपीष्टसाधनत्वमेव लिङर्थ इति वक्ष्यति। तथापि नञर्थान्वयायात्र वर्णितभ्रान्तिप्राप्तं विशिष्टेष्टसाधनत्वमेव लिङादिलक्षितं नञा निषिद्ध्यते। न चैवं नञ एव निवृत्तौ लक्षणाऽस्त्विति वाच्यम्। प्रतिपिपादयिषितार्थतया प्रधाननञनुरोधेन तदर्थप्रतियोगितया गुणभूतश्रेयःसाधनत्ववाचिलिङादावेवानुवादेन लक्षणाया न्याय्यत्वाल्लक्षितं च तत्तत्राप्रामाणिकमेवेति न प्रमाणान्तरविरोध इति भावः।

अथवा, प्रकृतश्रुतिर्न स्वार्थपरेत्यपि नाशङ्कनीयमित्याह न चेति। अव्ययानामनेकार्थत्वादपशब्द उपशब्दार्थे, मानान्तरेण प्रापित इत्यर्थः। अनेनानुवादकत्वं निरस्तम्। गुणवादाशङ्काऽपि नास्तीत्याह-न हीति। विरोधिप्रमाणान्तरानिरूपणादित्यर्थः।।४३२।।

इतीति= उक्त प्रकार से, श्रुतिः=- श्रुति निषेध वाक्य का (शासन) प्रतिपादन करती है। किस पर शासन करती है, बताते हैं- निषिद्धेति= जो व्यक्ति निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त हुवा है उसके प्रति। प्रवृत्तिमन्तं= प्रवृत्ति करने के लिय तत्पर। यदि श्रुति ऐसे पुरुष के प्रति निषेध वाक्य प्रतिपादित करती है तो प्रमाणान्तर विरोध होना चाहिये। उत्तर देते हैं कि नहीं, प्रमाणान्तर (विरोध नहीं होगा) न चेति। श्रुति तो बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वाभाव बताती है। तो श्रुति से अपहृतः= बाधित होता है, क्या बाधित होता है? तो बदवदनिष्ठान-नुबन्धीष्ट साधनत्व बाधित होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से वह प्रवृत्त है जब कि श्रुति निषेध करती है तो प्रमाणान्तर विरोध होना चाहिये लेकिन प्रमाणान्तर विरोध नहीं है। न हीति।। बलवदनिष्ठाननुबन्धीष्ट साधनत्व इसमें इष्ट साधनत्व विशेष्यांश है और बलवदनिष्टाननुबन्धीत्व विशेषण अंश है। श्रुति ने जब निषेध कर दिया और वह प्रवृत्तपुरुष पर शासन करती तब तो विशेष्यांश तो वहां रहेगा इष्ट साधनत्वाभाव इसके रहने पर भी विशेषणांश= बलवदनिष्टाननुबन्धीत्व तो रहेगा नहीं। क्योंकि वह पुरुष तो निषिद्धि कर्म में प्रवृत्त ही है। ऐसे विशेषणविशिष्ट अप्रामाणिक होगा। लेकिन श्रुति का निषेध तो विशेष्य मात्र ग्राहि जो भ्रमात्मक होने से विरोध नहीं करेगा। यद्यपि इष्ट साधनत्व ही लिङर्थ हैं ऐसा कहते हैं। तथापि नञर्थ का अन्वय हो एतदर्थ प्रकृत स्थल में वर्णित भ्रान्ति प्राप्त बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्व लिङादिक से जो लक्षित है उसी का नञ् से निषेध किया जाता है। यह नहीं कि नञ् की ही निवृत्ति में लक्षणा माननी होगी। क्योंकि पहिले तो प्रतिपादितार्थ जो अभिलषित है जिसमें नञ् प्रध ाान है तदर्थ प्रतियोगितया, अनुवादक गुण भूत श्रेयः साधनत्ववाची लिङादि है तो प्रतियोगि अर्थ का अनुवाद होने से लक्षणा उसके अंश में उचित है, (श्रेय साधनत्व) "न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्यादि वाक्य से कलञ्ज भक्षण श्रेय साधनत्वाभाव युक्त है ऐसा अर्थ नञ् से होगा। अभावहुवा अनुयोगि और प्रतियोगि होगा श्रेयसाधनत्व इसी अंश में लक्षणा होगी। जब निषेध वाक्य का प्रयोग किया गया तब कलञ्जभक्षण में श्रेयसाधनत्व है यह अप्रामाणिक ही है क्यों कि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यह पहिले ही कह चुके हैं। अतः प्रमाणान्तर विरोध नहीं है।

अथवा प्रकृति स्वार्थपरक नहीं होती है ऐसी भी आशंका नही करनी चाहिये इसी बात को कहते है न चेति= अव्यय के अनेक अर्थ होते हैं, अप उप इन अव्ययों के माध्यम से अनेक अर्थ हो जाते हैं। अप अव्यय के बल से शब्द में और अर्थ है तो उपअव्यय के बल से शब्द में और अर्थ है। प्रमाणान्तरों से यह अर्थ प्राप्त नहीं हुवा

है। जैसे प्रवृत्तिमान् पुरुष के शासन के लिये नञ् समन्वित वेद का निषेध वाक्य प्रवृत्त हुवा है इसीप्रकार से उसके विरूद्ध कोई प्रमाणान्तर होता तब तो विरोध होता। इससे श्रुति के निषेध वाक्य में अनुवादकता है यह बात भी निरस्त होगी तथा श्रुति का निषेध वाक्य गुणवाचक है यह शंका भी निवृत्त हुई। इसीलिये कर रहे हैं- नहीति। विरोधीप्रमाणान्तर का निरुपण ही नहीं हुआ है। अतः निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त पुरुष को वहां से हटाने के लिये नञ् से समन्वित श्रुति ऐसे पुरुष को उपदेश देने के लिये प्रवृत्त होती है, यह भाव है। और उसमें कोई प्रमाणान्तर विरोध भी नहीं है।

"न तात मानेन" इत्यनेन सूचितदृष्टान्तानुवादपूर्वकं दार्ष्टान्तिकं विशदयति—

"न तात मानेन" इससे सूचित दृष्टान्तानुवादपूर्वक दार्ष्टान्त को विशद कर रहे हैं।

भुजङ्गभोगं सुकुमारशीतलं
निदाघसंतापनिवृत्तये शिशुम्।।
भ्रमादुपादित्सुमुदीक्ष्य कातरा
निवर्त्तयेत्तज्जननी यथा तथा।।४३३।।

अन्वयः= यथा निदाघसन्तापनिवृत्तये भ्रमात् सुकुमारशीतलं भुजङ्गभोगं उपादित्सुं शिशुं उदीक्ष्य कातरा तज्जननी निवर्तयेत्।।४३३।।

अन्वयार्थः= जैसे ग्रीष्मकालीन कडकडाती घूप में गरमी को शान्त करने के लिये कोई बालक भ्रम से अत्यन्तकोमल और शीतल विषधर फणे का (सर्प के फणे का) ग्रहण करना चाहता है, उस बालक के इस प्रवृत्ति को उसकी मां हटा देती है।।४३३।।

भुजङ्गभोगमिति द्वयेन। सर्पशरीरमित्यर्थः। सुकुमारशीतलं मृदु, शीतलं चेत्यर्थः। निदाघस्तीव्रातपस्तत्कृतो यः शरीरस्य संतापस्तन्निवृत्तये भ्रमाद्बलवदनिष्टाननुबन्धितया निवृत्ति-साधनमिति भ्रमादुपादित्सुं ग्रहणेच्छुं कातरा दुःखपरवशा निवर्त्तयेत् मा गृहाणेति हस्तेन निवारयेत् यथा तथेत्युपरिश्लोके योजनीयम्।।४३३।।

भुजङ्गभोगमितिद्वयेन= सर्प का शरीर, सुकुमार शीतलम्= मृदु (कोमल) तथा शीतल है। वह निदाघ= गर्मी तज्जन्य तीव्रताप उससे उत्पन्न जो शरीर में संताप (गरमी) उसके निवृत्ति के लिये, भ्रमात्= बालवदनिष्टाननुबन्धी रूप से गरमी के परेशानी को हटाने के (निवृत्ति का) यह साधन भ्रम ही है। इसी के कारण उपादित्सुं= ग्रहणेच्छावाला बालक प्रवृत्त होता है, इस बालक की ऐसी प्रवृत्ति देखकर। कातरा= दुःख से अभिभूत माता,

निवर्त्तयेत्= हे बालक इसका ग्रहण मत करो, यदि वह भाषा न ही समझता है तो हाथ से उसे हटा देती है। जैसे यहां है वैसे ही श्रुति माता भी ऐसे व्यक्तियों को निषिद्ध कर्म से हटाती है।

भ्रमादनर्थस्य निदानमादरात्
कृतार्थतायै लशुनादिभक्षणम्।।
नञन्विता वैदिकचोदनाऽप्यसौ
विधित्सुमालक्ष्य निवर्त्तयिष्यति।।४३४।।

अन्वयः= तथा भ्रमात् कृतार्थतायै अनर्थस्य निदानं लशुनादिभक्षणं आदरात् विधित्सुं आलक्ष्य असौ नञन्विता वैदिकचोदना अपि निवर्तयिष्यति।।४३४।।

अन्वयार्थः= वैसे ही अभीष्ट साधन के निमित्त कोई व्यक्ति भ्रम से वस्तुतः अनर्थ के हेतुभूत लहसुनादि का भक्षण प्रेम से करना चाहता है, जैसे देखकर नञ् घटित वैदिक श्रुति उसे इस कर्म से हटा देती है।।४३४।।

लशुनादिभक्षणादिविधित्सुमालक्ष्यासौ वैदिकचोदनापि निवर्त्तयिष्यतीति संबन्धः।।४३४।।

"लशुनं न भक्षयेत्" इत्यादि लहसुनादि पदार्थों के भक्षणादि में प्रवृत्त हुये पुरुष को समालक्षित करके वैदिक वाक्य (मन्त्र विधि) लशुनं न भक्षयेत् इत्यादि उस पुरुष निवृत्त कराती है। यह सम्बन्ध है।

एवं स्वमते निषेधवाक्यस्थनञः प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वमुपपाद्य परमतं दूषयितुमारभते। तत्र किं नञ्लक्षितो निवृत्तिक्रियाविशेषो विधीयते किं वा तन्मुख्यार्थः। नाद्यः, लक्षणाया अन्याय्यत्वादित्युक्तम्। द्वितीयेऽपि प्रत्ययार्थनियोगाभावं न तावद्विधातुं शक्नोति। नियोगाभावस्य नियोगगोचरतालक्षणविधेयत्वासंभवादतो धात्वर्थाभाव एव त्वया विधेयो वाच्यः। तत्रापि न तद्ध्वंसः प्रसक्तक्रियानिष्पत्तिं विना तदयोगात्तस्यां च सत्यां निषेधवैयर्थ्यादिति तत्प्रागभाव एव विधेयः स्यात्सोऽपि न स्वरूपेण विधेयो भावार्थत्वादनादिसिद्धत्वाच्चाधिकरणज्ञानस्यापि वक्ष्यमाणज्ञानविधिनिरासेनैवाविधेयत्वात्। तस्माद्दध्यादिवत्क्रियोपरक्तत्वाकारेण तद्विधेयत्वं वाच्यं न तस्य तदस्तीत्याह—

इस प्रकार निषेधवाक्यास्थित नञ् प्रसज्यप्रतिषेधार्थक है इसका उपपादन करने के बाद दूसरे का मत खण्डित करने के लिये प्रारम्भ किया जाता है—

"कलञ्जं न भक्षयेत्" इत्यादि वाक्य में जो नञ् आया है तो इसमें नञ् से लक्षित

निवृत्ति क्रिया विशेष नञ् से विधेय है? कि नञ् का मुख्यार्थ नञ् से विधेय है? यदि पहिला पक्ष लेते हो तो, नञ् की लक्षणा करना अन्याय्य है यह ४३२ श्लोक में कह चुके हैं। यदि द्वितीय पक्ष अभिमत है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्ययार्थ न भक्षयेत्= इसका अर्थ नियोगाभाव हुवा। तो नियोगाभाव का विधान नहीं हो सकता। क्योंकि नियोगाभाव नियोग गोचरता लक्षण का विधेय असम्भव है। इसलिये नञ् से प्रत्ययार्थ नियोगाभाव विधेय नहीं है किन्तु धात्वर्थाभाव विधेय है ऐसा आपको पूर्वपक्षी को कहना पडेगा। इसमें भी हम सिद्धान्ती आपसे पुछना चाहते हैं कि धात्वर्थाभाव का तात्पर्य यदि आप धात्वर्थध्वंस लेते हो तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रसक्तक्रिया निष्पत्ति के बिना धात्वर्थ ध्वंस नहीं हो सकेगा। और प्रसक्तिक्रिया निष्पत्ति के बिना ही ध्वंस धात्वर्थाभाव है तो फिर उसको सिद्ध करने के लिये निषेध का वैयर्थ्य हो जायेगा। अतः धात्वर्थाभाव का तात्पर्य हे पूर्वपक्षी आप को धात्वर्थ प्रागभाव लेना होगा। वही नञ् का विधेय मानना होगा। लेकिन ऐसा जो धात्वर्थ प्रागभाव भी नञ् का स्वरूप से विधेय नहीं हो सकता। क्यों एक तो सबसे पहिले प्रागभाव भाव पदार्थ को उत्पन्न कराने वाला है, तो जो भावार्थ पदार्थ के लिये है वह नञ् का स्वरूप से विधेय नहीं हो सकता। दूसरी बात प्रागभाव तो अनादि होने से वह किसी भी नञ् या स्वरूप से विधेय कैसे बनेगा। क्योंकि वह तो ऐसे विधेय बनने के पहिले से ही विद्यमान है। दूसरी बात यह भी है कि यदि आप यह कहें कि प्रागभाव जिस अधिकरण में रहता है उस अधिकरण ज्ञान को ही विधेय मानें तो भी ठीक नहीं है क्योंकि अधिकरण ज्ञान तो आगे हम बतायेंगे उस विधि से ही सम्भव होने से वह प्रागभाव स्वरूप अधिकरण ज्ञान भी नञ् का स्वरूप से विधेय नहीं हो सकता। इसलिये जिस प्रकार दही बनाने की क्रिया, उससे संलग्न आकार से प्रागभाव को नञ् का विधेय माने लेकिन यह भी सम्भव नहीं है। इसे स्पष्ट कर रहे हैं।–

क्रियानुप्रवेशं विना प्रागभावः
प्रसक्तक्रियाया न निर्वोढुमीशः।।
गुणद्रव्यवन्नित्यनिष्पन्नभावात्
पदत्वं नियोगस्य भावार्थवद्वः।।४३५।।

अन्वयः= वः गुणद्रव्यवत् नित्यनिष्पन्नभावात् क्रियानुप्रवेशं विना प्रसक्तक्रियायाः प्रागभावः नियोगस्य पदत्वं भावार्थवत् निर्वोढुं न ईशः।।४३५।।

अन्वयार्थ= आपके मत में आरूण्यादि गुण तथा दध्यादि द्रव्य के समान नित्यसिद्ध होने के कारण क्रिया सम्बन्ध के बिना प्राप्तभक्षणादि क्रिया का प्रागभाव, नियोग की विषयता का धात्वर्थ के समान निर्वहण

नहीं कर सकता।।४३५।।

क्रियानुप्रवेशमिति। यः प्रसक्तक्रियायाः प्रागभावः क्रियाः संबन्धं विना नियोगस्य पदत्वं विषयत्वं गुणद्रव्यवन्निर्वोढुं न शक्नोति नित्यनिष्पन्नभावाद्भावार्थवदपि नेश इति सम्बन्धः। गुणः आरुण्यादि। द्रव्यं दध्यादि। न च प्रसक्तक्रियाभावो भावार्थवद्व्यापाररूपो न वा दध्यादिवत् क्रियोसाधनत्वेन क्वचित्प्रमितः येन विधेयः स्यादिति भावः।।४३५।।

क्रियानुप्रवेशमिति= जो प्रसक्तक्रिया का प्रागभाव है उसमें क्रिया सम्बन्ध के बिना नियोग का, पदत्व= विषयत्व, गुण और द्रव्य के समान सहन करने में अशक्य है, क्योंकि, नित्यनिष्पन्न भावात्= प्रागभाव तो नित्य निष्पन्न रूप होने से इसीप्रकार से प्रागभाव भाव पदार्थ का निर्माण कर्ता भी तो है, इसलिये गुण और द्रव्य के समान उसमें नियोग विषयत्व नहीं आ सकता। नञ् की स्वरूप विधेयता नहीं आ सकती। गुण= आरूण्यादि लालिमा। द्रव्यं-दधि आदि। तो प्रागभाव न तो प्रसक्त क्रिया भाव स्वरूप, नहीं भावार्थ (भावपदार्थ के समान) व्यापार रूप, और नहीं दही आदि के समान् क्रिया साधनत्वेन कहीं भी प्रमित होता हो, प्रागभाव प्रमिति का विषय होता नहीं है, जिससे वह विधेय हो सके।।

ननु प्रागभावस्यापि परिपालनक्रियायोगेन विधेयत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

आशंका= प्रागभाव भी परिपालन क्रिया योग से विधेय हो सकेगा ऐसी आशंका होने पर समाधान देते हैं—

न पाल्यत्वयोगादलंभूष्णुभावो
यतः पालनं श्रूयते नात्र वाक्ये।।
न खल्वश्रुतं गृह्यते न्यायहाना-
द्यथा न श्रुतं त्यज्यते तद्भयेन।।४३६।।

अन्वयः= पाल्यत्वयोगात् (प्रागभावस्य) भूष्णुभावः अलं न। यतः अत्र वाक्ये पालनं न श्रूयते। अश्रुतं न गृह्यते खलु, न्याय हानात्। यथा तद्भयेन श्रुतं न त्यज्यते।।४३६।।

अन्वयार्थः= पालनक्रिया के सम्बन्ध से (प्रागभाव में) भवनकर्तृत्व (साध्यत्व) युक्त नहीं है। क्योंकि न "कलञ्जं भक्षयेत्" आदि निषेध वाक्यों में पालन श्रुत नहीं है। अश्रुत पदार्थ का श्रुतपदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। नहीं तो शाब्दः शाब्देनैवान्वेति, न त्वाशब्देन।। यह न्याय भङ्ग होगा। इस न्याय के भङ्ग भय से श्रुत का परित्याग नहीं किया जाता।।४३६।।

न पाल्यत्वयोगादिति। अलमत्यर्थं भूष्णुभावः भवनकर्त्तृत्वं साध्यत्वमिति यावत्। प्रागभावस्येति शेषः। कुतो नेत्यत आह-यत इति। नन्वश्रुतमपि तन्नञा लक्ष्यताम्, न, श्रुतसंभवे लक्षणाया अयोगादित्याह—न खल्विति। तत्र दृष्टान्तमाह- यथा न श्रुतमिति। तद्भयेन श्रुतपरित्यागायोगरूपन्यायहानभयेन। अतस्तदुभयपरिहाराय परिपाल्यतयाऽपि प्रागभावो न विधेयः। किं च तत्प्रवर्त्तकरागे सति नियोगशतेनापि प्रागभावपरिपालनं न संभवत्येव, रागनिवृत्तिश्च विना न दोषदर्शनं संभवतीति किं नियोगेनेति भावः।।४३६।।

न पाल्यत्वयोगादिति= अलम्= अति हो चुकी है। भूष्णुभावः= भवन कर्तृत्व ही साध्य मान लेते है तो भवन कर्तृत्व के पहिले उसका प्रागभाव तो है ही। तो वही नञ् से विधेयमान लेवो। यतो यह भी ठीक नहीं है। क्यों ठीक नहीं है इस पर कहते हैं— यत इति। कलञ्जं न भक्षयेत् इत्यादि वाक्य में प्रागभाव के पालन विषय में कुछ भी नहीं कहा है।

आशंका= नहीं सुना हो तो क्या? अश्रुत की भी कल्पना नञ् से की जा सकती है।

समाधान= यह भी नहीं हो सकता। शक्ति से श्रुत अर्थ से जहां काम चलता हो वहां लक्षणा करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। न खल्विति= न्यायहानि के दृष्टि से अश्रुत की कल्पना (स्वीकृति) नहीं हो सकती। इसमें दृष्टान्त दे रहे हैं यथा न श्रुतमिति= तद्भयेन= एक तो श्रुत अर्थ का परित्याग होगा, वह ठीक नहीं है। यही न्याय हानि है। यही भय हैं। इस भय से लक्षण का स्वीकार करना उचित नहीं है। भूष्णुभाव उत्पन्न होना तथा लक्षणा दोनों को छोडकर परिपाल्य रूप से भी प्रागभाव को विधेय मानेंगे, सो भी ठीक नहीं है। यदि परिपाल्य रूप से प्रागभाव की रक्षा करें तो इस विषयक प्रवर्तक राग होना चाहिये, और जब प्रवर्तक राग होगा तब ता सैकडों नियोग (विधि) वाक्य हो तो भी प्रागभाव की परिपालना नहीं हो सकती। राग निवृत्ति के विना दोषदर्शन नहीं होगा। और जब तक दोष दर्शन नहीं होगा तब तक सैकडों नियोग निष्फल ही होंगे।

निषेधवाक्ये श्रुतं दर्शयन् परपक्षे तत्त्यागस्याश्रुतकल्पनायाश्च प्रसङ्गं विवृणोति—

निषेध वाक्य में श्रुतार्थ बता दिया है प्रभाकर मत में परपक्ष में श्रुतहानि तथा अश्रुत कल्पना के प्रसंग को स्पष्ट कर रहे हैं—

उदासीनता च श्रुता नञ्पदार्थो
नियोगे सति त्याज्यतां याति सद्यः।।
अतद्योग्यभावादयोग्यः पदार्थो
न वाक्यार्थभागिष्यते जैमिनीयैः।।४३७।।

अन्वयः= नञ् पदार्थश्च उदासीनता श्रुता, (सा) नियोगे सति सद्यः त्याज्यतां याति। जैमिनीयैः अयोग्यः पदार्थं वाक्यार्थभाग् नेष्यते, अतद्योग्यभावात्।।४३७।।

अन्वयार्थः= (उक्त निषेध वाक्यों मे) नञ् पदार्थ में उदासीनता श्रुत है। वह नियोगपक्ष में परित्यक्त हो जाती है। क्योंकि आचार्य जैमिनि के मतानुसारी अयोग्य पदार्थ को वाक्यार्थ का अङ्ग नहीं मानते हैं, क्योंकि वह अन्वय की क्षमता ही नहीं रखता।।४३७।।

उदासीनेति। चकारान्नियोगस्याश्रुतत्वं सूचयति। लिङादेरतदर्थत्वान्नियोगे सतीत्यनेनाश्रुतकल्पनां सूचयति त्याज्यतामिति। श्रुतहानिरुक्ता। अस्तु तर्हि श्रुतस्यैवौदासीन्यस्य विधिरिति न तद्वद् द्वयप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य तस्याभावार्थत्वादिति प्रागुक्तं मनसि निधायाह अतद्योग्यभावादिति। औदासीन्यस्य धात्वर्थत्वाभावेन नियोगविषयतायोग्यताशून्यत्वादित्यर्थः। ततः किं तत्राह–अयोग्य इति। वाक्यार्थभाक् वाक्यार्थान्वयी जैमिनीयैरपि।।४३७।।

उदासीनेति च= च कार से नियोग को अश्रुतत्त्व है यह सूचित करते हैं। क्योंकि लिङादिक नियोग परक न होने से तदर्थ परक मानने से अश्रुतकल्पना ही होगी। यह सूचित किया जाता है। त्याज्यतामिति= श्रुतहानि जो कही है उसका त्याग करना ही उचित है।

आशंका= तो फिर श्रुत जो औदासीन्य (प्रसज्य प्रतिषेधात्मक) है उसी की विधि रहने दो। तो फिर श्रुतहानि अश्रुत कल्पना दोनों दोष नहीं लगेंगे।

समाधान= औदासीन्य प्रसज्यप्रतिषेधक रूप होने से अभाव रूप है यह पहिले ४१५ वे श्लोक में कह चुके हैं। वही भाव मन में रखकर बोल रहे हैं अतद्योग्य भावादिति= औदासीन्य धात्वर्थाभाव रूप होने से नियोग विषयता योग्यता शून्य है। धात्वर्थ ही नियोग विषयता योग्यतावान् होता है। न कि धात्वर्थाभाव। इस से क्या हुवा तो कहते हैं अयोग्य इति= वाक्यार्थभाक्= वाक्यार्थान्वयी नहीं होता है। औद्यासीन्य में अतद्योग्य भाव होने से अयोग्य है अतः जैमिनी के अनुयायी उसे वाक्यान्वयी नहीं मानते हैं।

एवं निषेधवाक्यस्य गुरुमतानुवर्तिकल्पितनियोगार्थत्वं संदूष्य निषिद्धानुष्ठानस्य

प्रत्यवायजनकत्वं नेति तदुक्तमपि प्रथमं महाजनसंवदनविरोधेन दूषयति—

इस प्रकार निषेधवाक्य का गुरु प्रभाकर मतानुवर्त्ती कल्पित नियोगार्थत्व का खण्डन करने के बाद निषिद्धानुष्ठान को प्रत्यवाय जनकत्व नहीं है, यह गुरु मतावलम्बियों ने कहा है, तो भी पहिले हम महाजनों के सद्‌विचारों से विरोधी होने के कारण इसका खण्डन करते हैं।

निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नेति
स्वकर्णौ जनः प्रोर्णुते पापभीरुः।।
समाकर्ण्य दुर्भाषितं पार्श्ववर्ती
न पापाक्षरं किंचिदेतादृगन्यत्।।४३८।।

अन्वयः= निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नेति दुर्भाषितं समाकर्ण पार्श्ववर्ती पापभीरुः जनः स्वकर्णौ प्रोर्णुते, एतादृक् पापाक्षरं अन्यत् किंचित् न।।४३८।।

अन्वयार्थः= निषिद्ध क्रिया से प्रत्यवाय (पाप) नहीं होता ऐसा अनुचित वचन सुनकर निकटवर्ती पापभीरु पुरुष अपने कान बन्द कर लेता है कि इस प्रकार का पापात्मक शब्द और कोई नहीं हो सकता।।४३८।।

निषिद्धक्रियेति। प्रोर्णुते गाढं पिधत्ते। पार्श्ववर्ती जनः। निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नेति प्राभाकरस्य दुर्भाषितं समाकर्ण्य पापभीरुः सन् स्वकर्णौ प्रोर्णुते। तस्य जनस्याशयमाह-न पापाक्षरमिति। एतादृशमन्यत्किंचिदपि दुष्टवचनं नेत्याशयेनेत्यर्थः। अतः सकलमध्यस्थ-महाजनव्यवहारविरोधादतितुच्छमिदं मतमिति भावः।।४३८।।

निषिद्ध क्रियेति= प्रोर्णुते= कानों को बिलकुल पक्का बंद करना चाहिये। कौन? पाश्ववर्ती जनः- बगल में सुनने वाला व्यक्ति अपने कानों के बिलकुल बन्द करें। कब? जब प्राभाकर के मतानुयायी यह कहेंगे कि निषिद्ध क्रिया प्रत्यवाय उत्पन्न नहीं कराती है ऐसा जो, दुर्भाषितम्= दुष्ट वचन, समाकर्ण्य= सुनकर पापभीरुः— पाप से डरने वाला सज्जन व्यक्ति, स्वकर्णो प्रोर्णुते= अपने कानों को बिल्कुल बन्द कर देवें। जिसने अपने कान ऐसे बन्द किये हैं उसका आशय समझा रहे हैं "न पापाक्षरमिति=" इसके समान और कोई भी दुष्ट वचन नहीं हो सकता, यही आशय है। इसलिये सम्पूर्ण मध्यस्थ महाजन (वादी और प्रतिवादियों का निर्णय कराने के लिये जो बीच में महाजन होते हैं उन्हें मध्यस्थ महाजन कहते हैं) उनके भी व्यवहारका विरोध इस मत से होता है अतः यह प्रभाकर मतानुयायियों का मत अतितुच्छ है, यह अभिप्राय है।

किं च निषिद्धक्रियायाः पापाजनकत्वेऽनुभूयमानं दुःखमाकस्मिकं स्यात् तस्य तदेकनिदानत्वादिति सदृष्टान्तमाह–

दूसरी बात यह भी है यदि निषिद्ध क्रिया को पाप का जनक नहीं मानें तो अनुभव में आने वाला दुःख बिना किसी कारण का मानना पडेगा जब कि उसका कारण एक मात्र निषिद्ध आचरण ही है (निषिद्ध क्रिया को करना ही है) इसे दृष्टान्त के साथ समझा रहे हैं–

निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नो चे-
त्तदा दुःखमाकस्मिकं सर्वपुसाम्।।
सुखं पुण्यमूलं यथा सर्वपुंसां
तथा दुःखमप्यस्तु वः पापमूलम्।।४३६।।

अन्वयः=निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय न चेत्, तदा दुखं आकस्मिकं स्यात्, यथा सर्वपुसां सुखं पुण्यमूलं तथा सर्वपुंसां दुःखमपि वः पापमूलं अस्तु।।४३६।।

अन्वयार्थः= निषिद्ध क्रिया यदि पाप की जनक नहीं है तब तो दुःख आकस्मिक ही मानना पडेगा। लेकिन जैसे पुण्य का फल सभी मनुर्ष्यो में सुख रूप में पाया जाता है इसी प्रकार पाप का फल सभी मनुर्ष्यो में दुःख रूप से पाया जाता है।।४३६।।

निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नो चेदिति। आकस्मिकमकारणकमित्यर्थः। वो युष्माकमपि संमतमिति शेषः। भवद्भिरपीदमवश्यमङ्गीकार्यमित्यर्थः।।४३६।।

निषिद्ध क्रिया प्रत्यवायाय नो चेदेति= आकस्मिकम्= अकारणक। नो= आप प्रतिवादियों को भी यह स्वीकार करना पडेगा कि दुःख बिना कारण का नहीं हो सकता। और वह कारण निषिद्धक्रिया का आचरण ही है। इस मत को तो आपको प्रभाकरमतानुयायी को भी मानना ही पडेगा।

ननु निषिद्धक्रियायाः पापामूलत्वेऽपि विहिताकरणनिमित्तपापेन दुःखं भविष्यतीत्यताह–

आशंका= निषिद्धक्रिया को पाप का कारण नहीं माने तो भी विहित कर्म न करने से भी तो दुःख हो सकता है। इससे भी दुःख के कारण की संगति लग सकती है। इस पर कहते हैं–

निषिद्धक्रियां चोदिस्याक्रियां वा
विना नास्ति पापस्य निष्पत्तिहेतुः।।
ततस्तद्द्वयं पापनिष्पादकत्वा-
द्भवेत्प्रत्यवायस्य नित्यं निदानम्।।४४०।।

अन्वयः= निधिद्धक्रियां चोदितस्याक्रियां वा विना पापस्य निष्पत्तिहेतुः नास्ति। ततः तद् द्वयं पापनिष्पादकत्वात् प्रत्यवायस्य नित्यं निदानं भवेत्।।४४०।।

अन्वयार्थः= निषिद्धानुष्ठान या विहिताननुष्ठान के बिना पाप की उत्पत्ति का और कोई हेतु नहीं है। अतः वे दोनों पाप के निष्पादक होने से प्रत्यवाय के नित्य हेतु है।।४४०।।

निषिद्धक्रियामिति। चोदितस्य नित्यस्याक्रियाम् अननुष्ठानं यत इत्यादौ योजनीयम्। तद्द्वयं निषिद्धक्रिया विहिताननुष्ठानं च। प्रत्यवायस्य दुःखस्य। यदि विहिताकरणं पापजनकं तव मते स्यात्तदा निषिद्धानुष्ठानमपि पापजनकं कथं न स्यात्, नरकवर्जनफलाकाङ्क्षायाः निषिद्धान्निवर्त्तमानेऽपि तुल्यत्वात् नियोगपुरुषार्थतायाश्च नित्यनियोगेपि संभवादित्युभयं तुल्यमेवेति भावः।।४४०।।

निषिद्धक्रियामिति= चोदितस्य= वेद ने नित्यक्रिया का प्रतिपादन किया है उसके न करने से अक्रियाम्= अनुष्ठान न करने से, यतः— जब कि ऐसा योजन करना होगा। अर्थात् निषिद्ध क्रिया का अनुष्ठान तथा नित्य कर्म विहित का अननुष्ठान दोनों ही। प्रत्यवायस्य- दुःख का कारण है। तो प्रदिवादी प्रभाकर मतानुयायी आपके मत से पाप का जनक यदि विहित कर्म न करना कारण है, तो निषिद्धानुष्ठान भी पाप का कारण कैसे नहीं हो सकता। नरक की प्राप्ति नहीं हो इसप्रकार की फलाकाङ्क्षा तो निषिद्ध कर्म से निवृत्त होने पर भी रहती है और नियोग का पुरुषार्थ (विधि से पुरुषार्थ) तो नित्यकर्म के नियोग में नित्यकर्म के करने में भी संभव है अतः निषिद्धाक्रियात्व तथा विहित क्रियात्व दोनों ही बराबर पुण्य के हेतु है। और निषिद्ध क्रिया कारित्व तथा विहित क्रिया अकारित्व दोनों ही पाप के (दुःख के) हेतु है, यह बात सिद्ध हुई।।

विहिताकरणस्य पापनिदानत्वमापातदृष्ट्याऽङ्गीकृतं वस्तुतस्तु निषिद्धक्रियैव पापहेतुः तस्या अनर्थहेतुतायां प्रमाणस्य वक्ष्यमाणत्वात्। विहिताकरणं तु पापहेतोर्लक्षणमात्रं न तु स्वयं पापजनकम्। तदुक्तं भट्टपादैः—

अकुर्वन्विहितं यस्तु करोत्यन्यदचेतनः।।

प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते।। इति। विहितमकुर्वन् लक्षणार्थे शतृप्रत्ययः। लक्ष्यमेवाह—तत्काले यदन्यदविवेकी करोति निषिद्धमनिषिद्धं वा तत एवास्य प्रत्यवायः स्वतोऽनिषिद्धस्यापि तत्कालीनतया निषिद्धत्वात् न त्वभावात्पापोत्पत्तिरिति श्लोकार्थः।

विहितकर्म करने से पाप लगता है अर्थात् पाप का कारण विहित कर्म का न करना आपात दृष्टि से स्वीकृत किया, सिद्धान्ततः नहीं। वास्तविकता यह है कि निषिद्ध क्रिया ही पाप की कारण है, निषिद्ध क्रिया अनर्थ का हेतु है इसमें प्रमाण आगे हम देंगे। विहित कर्म न करना पाप को हेतु बताता है अर्थात दुःख का हेतु पाप है यह बताता है, लेकिन विहितकर्म न करना पाप का हेतु स्वयं नही है। इस विषय में कुमारिलभट्ट कहते हैं।—

अकुर्वन्विहितं यस्तु करोत्यन्यदचेनः।

प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते।। विहित कर्म न करने वाला। लक्षणार्थ में- ज्ञापक अर्थ में शतृप्रत्यय हुवा। विहितमकुर्वन्, इति।। लक्ष्य को बता रहे हैं जिस समय विहित कर्म नहीं हो रहा है, तो उस काल में अविवेकी अन्य ही कर्म, चाहे निषिद्ध हो चाहे अनिषिद्ध हो वही उस अज्ञानी व्यक्ति के लिये प्रत्यवाय है। (पाप है।) प्रत्यवाय स्वतः अनिषिद्ध होने पर भी विहित कर्माभाव काल में होने से निषिद्ध माना गया है, तो विहित कर्माभाव से प्रत्यवाय की (पाप की) उत्पत्ति नहीं हो सकती, अभाव से भाव की उत्पत्ति कहीं देखी नहीं गई। यह श्लोक का भाव है। (विहित करणाभाव प्रत्यवाय का जनक नहीं है- किन्तु लक्षणार्थक (अर्थात् ज्ञापक) है)

अत इदं प्रामाणिकमित्याशयेनाह—

इसलिये जो हमने कहा वह प्रामाणिक है इस आशय से कहते हैं—

निषिद्धक्रिया दुःखनिष्पत्तिहेतु-
भवेल्लक्षणं चोदितस्याक्रियाऽस्य।।
अभावान्न भावस्य निष्पत्तिरिष्टा
भवेल्लक्षणं ज्ञायमानस्त्वभावः।।४४१।।

अन्वयः= निषद्धक्रिया दुःखनिष्पत्तिहेतुः भवेत्। चोदितस्याक्रिया अस्यैव लक्षणं, अभावात् भावस्य निष्पत्तिः नेष्टा। लक्षणं ज्ञायमानस्वभावः भवेत्।।४४१।।

अन्वयार्थः= निषिद्ध क्रिया ही दुःख की जनक होती है। विहिताकरण इसी हेतु का ज्ञापक है।

क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। ज्ञापक तो ज्ञायमान् होना ही चाहिये।।४४१।।

निषिद्धक्रिया दुःखेति। लक्षणं ज्ञापकमस्य दुःखहेतोः पापस्य। कुत एवमित्यत आह- अभावादिति। न चैवं प्रागभावस्य कारणता न स्यादिति वाच्यम्। तस्यैवाभावात्। प्रतिबन्धकाभावतया तत्सत्त्वेऽपि तस्य निःस्वभावत्वान्निर्व्यापारत्वाच्च तदतिरिक्तदण्डादिभ्य एव कार्यनिष्पत्तेः। अभावज्ञानमपि प्रतियोग्यनुपलम्भेन साक्षिण एवास्मिन्मते भवतीति नाभावस्य क्वचिदपि भावकारणत्वमिति भावः। तर्हि लक्षणं वा कथं विहिताकरणं स्यादित्यत आह- भवेल्लक्षणमिति।। अविद्यमानस्यापि धूमादेरिव वह्न्यादिकं प्रति अस्यापि ज्ञायमानतया लक्षकत्वमविरुद्धमिति भावः।।४४१।।

निषिद्ध क्रिया दुःखेति। लक्षणं— ज्ञापक, दुःख का हेतु पाप है। अर्थात् निषिद्ध क्रिया ही दुःख का हेतु है। विहिताकरण दुःख का या पाप का हेतु क्यों नहीं है? तो उत्तर देते है अभावादिति। अभाव से भाव की उत्पत्ति देखी नहीं गई है, इसी कारण से।

आशंका= फिर तो प्रागभाव में जो कारणता है वह भी नहीं हो पायेगी। इति वाच्यम्। न च वाच्यम्।

समाधान= प्रागभाव को हम मानते ही नहीं है। प्रतिबन्ध का अभाव भी कारण होने से अभाव होने पर भी उसकी सत्ता स्वीकृत करने पर भी (अथवा प्रतिबन्धकाभाव में प्रागभावाभाव तथा प्रतिबन्धकीभूत प्रागभाव हुवा। उसकी सत्ता स्वीकृत करने पर भी) प्रागभाव का कोई स्वभाव नहीं है तथा न उसमें कोई व्यापार ही है, ऐसे प्रागभाव के अतिरिक्त दण्डादिक से ही घटादि कार्य की निष्पत्ति हो जाती है। अभाव ज्ञान भी प्रतियोगि के अनुपलब्धि काल में साक्षी को ही होता है, अभाव ज्ञान में भी अभाव कारण नहीं बना, तो उस समय अभाव ज्ञान तो साक्षी को हो जाता है। इस प्रकार अभाव के कहीं भी भाव पदार्थ की कारणता नहीं बन पाता।

आशंका= यदि अभाव की कारणता कहीं भी नहीं है तो फिर विहिताकरणं—विहित कर्म न करना, इसमें लक्षणत्व ज्ञापकत्व कैसे आयेगा?

समाधान= भवेल्लक्षणमिति= जब रसोई में अंगारे बिलकुल तेज हो जाते है तो उस समय धुवा बिलकुल दिखाई नहीं देता है। या कई बार ऐसा होता है कि किसी मकान के नजदीक से चले तो बडी सुन्दर देसी घी की खुशबू आती है यही अनुमान

होता है कि यहां मिष्ठान्न पक रहा है। धूवा नहीं दिखाई देता है तथापि अविद्यमान धूम के द्वारा वह्नि का अनुमान होता है, इसी प्रकार विहिताकरण को भी ज्ञायमान रूप से लक्षकत्व ज्ञापकत्व अविरूद्ध है। इति भावः।। ऐसा भाव है। अर्थात् निषिद्ध क्रिया ही दुःखविपत्तिहेतु है यह विहिताकरणत्व ज्ञायमान रूप से बताता है।

ननु भवन्मतेऽपीष्टसाधनत्वाभावस्यैव नञर्थत्वान्निषिद्धक्रियाया निरयपातहेतुत्वं कुतोऽवसीयत इत्याशङ्क्य बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वाभावस्य नञर्थस्यानुपपत्त्या तत्सिद्ध्यति, निषिद्धक्रियाया दृष्टसुखजनकत्वेन विशेषणाभावादेव विशिष्टाभावस्य तत्र वक्तव्यत्वात्। विशेषणं च वलवदनिष्टाननुबन्धित्वमिति तदभावो बलवदनिष्टसाधनत्वं सिद्ध्यतीत्याशयेनाह—

आशंका= आप के सिद्धान्ती के मत में भी इष्ट साधनत्वाभाव को ही नञर्थ माना है, तो फिर निषिद्धक्रिया को नरकपात हेतुता कैसे स्वीकार की जा रही है।

समाधान= बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वाभाव की नञर्थ से अनुपपत्ति होने से निषिद्ध क्रिया को निरयपातहेतुत्व सिद्ध होता है। निषिद्ध क्रिया में दृष्ट सुख जनकत्व है, लेकिन विशेषण नहीं होने से विशिष्टाभाव नञ् से कहना पडेगा। भाव यह कि बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्व इसमें इष्ट साधनत्व विशेष्य अंश है और बलवदनिष्टाननुबन्धित्व विशेषण भाग है। नञर्थ में इष्ट साधन विशेष्य है और बलवदनिष्टाननुबन्धित्व विशेषण भाग है। अब निषद्धक्रिया में विशेषण बलवदनिष्टाननुबन्धित्व नहीं है अर्थात् निषिद्ध क्रियामें बलवदनिष्टसाधनत्व है यह बात सिद्ध हुई। अर्थात् विशेषणाभाव के कारण विशिष्ट का भी अभाव हो जाता हैं विशिष्ट हुवा बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्व उसका अभाव विशेषणाभाव से होगा अर्थात् बलवदनिष्टाननुबन्धित्व यह विशेषण हुवा उसका अभाव हुवा बलवदनिष्ट साधनत्व रूप उसकी सिद्धि निषिद्ध क्रिया में सिद्ध होती है। इस आशय से कहा जा रहा है।

निवृत्तिनिष्ठे तु निषेधवाक्ये
निषिद्धकर्माचरणादनर्थः।।
प्रतीयतेऽर्थादिति तत्र युक्तं
दुःखं नृणा दुश्चरितैकमूलम्।।४४२।।

अन्वयः—निषेध वाक्ये निवृत्तिनिष्ठे तु अर्थात् निषिद्धकर्माचरणाद् अनर्थः, प्रतीयते, इति, तत्र नृणां दुःखं दुश्चरितैकमूलं उक्तम्।।४४२।।

अन्वयार्थः= निषेध वाक्य को निवृत्ति परक मानने पर अर्थात् निषिद्ध कर्मानुष्ठान से अनर्थ प्रतीत होता है, इसलिये वहां मनुष्यों के दुःख का एक मात्र मूल सिद्ध है दुश्चरित्रता।।४४२।।

निवृत्तिनिष्ठ इति। तुशब्देन परमताद्विशेषं दर्शयति। तमेव विशेषं निषिद्धेत्यादिना दर्शयति। अर्थादुक्तानुपपत्त्या। निषिद्धक्रियायाः पापजनकत्वे स्वमते प्रमाणोपन्यासफलमाह- तत्र युक्त मिति। एकशब्देन विहिताकरणस्य तन्मूलत्वं निषेधति।।४४२।।

निवृत्तिनिष्ठ इति= तु शब्द से दूसरे मत से अपने मत में विशेषता बताते हैं। उसी विशेषता को निषिद्धेत्यादिना बताते हैं। अर्थात्= निषिद्ध क्रिया के बिना पाप की उपपत्ति नहीं लगने के कारण। निषिद्ध क्रिया ही पाप का मूल है, यह मानना उचित है। निषिद्ध क्रिया को पाप का जनक मानने से अपने मत में प्रमाण के उपन्यास का फल बता रहे हैं। तत्र युक्तमिति= एकेति= एक शब्द का प्रयोग करने से विहिताकरण को (विहित कर्म न करने को) पाप का मूल नहीं माना जा सकता, यह सिद्ध हुवा है और विहिताकरणत्व में पाप का ज्ञापकत्व है।

एवं स्वमते निषेध वाक्यस्याभा वमात्रनिष्ठत्वमर्थान्निषेध्यप्रवृत्तेर्बलवदनिष्टहेतुत्व- सिद्धिश्चेत्युपपादितम्। संप्रति निषेधवाक्यस्य बलवदनिष्टसाधनत्वमर्थं पर्युदासलक्षणा ये आश्रयन्ते तन्मतमनूद्य निषेधति–

इस प्रकार अपने मत में निषेध वाक्य को अभाव मात्र निष्ठत्व मान लिया है अर्थात् निषेधात्मिका (निषेध्य) प्रवृत्ति को बलवदनिष्ट हेतुत्व सिद्धि हो जाती है। इसका सबका उपपादन कर दिया है।

अब (संप्रति) निषेध वाक्य को बलवदनिष्टसाधनत्व रूप अर्थ को पर्युदास लक्षणा से (प्रसज्यप्रतिषेधात्मक लक्षणा से) स्वीकृत करते हैं उनके मत का उल्लेख करके बाद में उसका खण्डन करते हैं।

समीहितोपायतया लिङन्वयात्
प्रतीयमानस्य तु भक्षणादिनः।।
न पर्युदासाश्रयणेन नञ्पदा-
दनिष्टहेतुत्वमतिर्भविष्यति।।४४३।।

अन्वयः=लिङन्वयात् नञ्पदात् पर्युदासाश्रयणेन समीहितोपायतया प्रतीयमानस्य तु भिक्षणादिनः अनिष्टहेतुत्वमतिर्न भविष्यति।।४४३।।

अन्वयार्थः= लिङ् अन्वित नञ् पद का पर्युदास अर्थ करने पर इष्ट साधन रूप से प्रतीयमान भक्षणादि में अनिष्ट साधनत्व का बोध नहीं हो सकेगा।।४४३।।

समीहितोपायेति। लिङन्वयान्निषेधवाक्य इति शेषः। निषेधवाक्यस्य भक्षयेदित्यादेः लिङन्वयात् लिङा अन्वयो यस्य नञ्पदस्य तल्लिङन्वयं तस्मादिति विग्रहः। समीहितोपायतया प्रतीयमानस्य भक्षणादिनः भक्षणमादिर्यस्य पानस्य तस्य, नञ्पदात्पर्युदासाश्रयणेनानिष्टहेतुत्वमतिर्भविष्यतीति यत्तन्नेति सम्बन्धः।

इदमत्र तदाकूतम्— यत्र निषेध्यत्वं भ्रान्त्या प्रसज्यते तत्र नञः प्रसज्यप्रतिषेधोऽर्थः। यत्र तु तदस्त्येव तत्र तस्य निषेधायोगात्पर्युदासलक्षणा आश्रयणीया। प्रकृतेऽपीष्टसाधनत्वस्य सत्त्वात्तदनिष्टसाधनत्वमेव नञर्थो वक्तव्यः। एवं च प्रवृत्त्युन्मुखस्य ततो निवृत्तिरप्युपपन्नेति। एतन्नेत्यर्थः।।४४३।।

समीहितोपायादिति= लिङन्वयात्= निषेधवाक्य में लिङ्का अन्वय हुवा है। निषेध वाक्य है लशुनं न भक्षयेत् इत्यादि का। लिङन्वयात्- लिङ् जिसका नञ् का है वह हुवा तल्लिङन्वय, इसके कारण ऐसा विग्रह हुवा। (निषेधवाक्यस्थ भक्षयेदित्यादेः लिङन्वयात् लिङ् अन्वयो यस्य नञ्पदस्य तल्लिङन्वयं तस्मादिति विग्रहः) समीहितोपायतया= प्रतीयामान् भक्षण आदि में है जिसके ऐसे पानादि उसमें। नञ् पदात्= नञ् पद के योग से पर्युदासाश्रयण से (प्रसज्य-प्रतिषेध्रक के द्वारा) ही अनिष्ट हेतुत्व मति (बुद्धि) होगी ऐसा जो कहते है वह सब ठीक नहीं है।

यहां यह रहस्य है— जहां निषेध्य की उपस्थिति (पाप्ति) भ्रान्ति से प्राप्त होती है वहां नञ् से प्रसज्यप्रतिषेधरूप अर्थ ग्रहण करना चाहिये। लेकिन जहां निषेध्य प्राप्त ही है वहां उसका निषेध हो नही सकता, उस अवस्था में पर्युदास लक्षणा स्वीकृत करनी चाहिये। प्रकृत में की इष्ट साधनत्व तो है ही, इसलिये वह, अनिष्टसाधनत्वरूप है ऐसा नञर्थ कहना उचित है। इस प्रकार प्रवृत्ति में तत्पर है उसकी निवृत्ति उपपन्न है, लेकिन यह सम्भव नहीं है। क्यों? तो बताते हैं—

कुत इत्यत आह—

क्यों? तो बताते है—

तथाहि सम्बन्ध्युपमर्दबुद्धये
समर्थमुत्सर्गमपेक्ष्य नञ्पदम्
न पर्युदासाय विनाऽपवादकं
ततो निवृत्त्यर्थपरं तदिष्यते।।४४४।।

अन्वयः= तथाहि, उत्सर्गं अपेक्ष्य नञ् पदं सम्बन्ध्युपमर्दबुद्धये समर्थं। अपवादकं विना पर्युदासाय न। ततः तत् निवृत्यर्थपरं इष्यते।।४४४।।

अन्वयार्थः= स्वभावतः नञ् पद अपने सम्बन्धी अर्थ के अभाव के बोध में ही समर्थ होता है। बिना पर्युदास नहीं माना जाता। इसलिये वह (नञ्पद) निवृत्तिपरक ही माना जाना चाहिये।।४४४।।

तथाहीति। नञ्सम्बन्धिपदार्थस्य य उपमर्दोऽभावस्तद्बुद्धये उत्सर्गं मुख्यवृत्तिमपेक्ष्य औत्सर्गिकस्वभावेन। तर्हि किं नञः पर्युदासो नार्थ इत्याशङ्क्य यत्रोत्सर्गप्राप्तमुख्यार्थस्याभाव-स्यापवादकं बाधकं किंचिदस्ति तत्र पर्युदास आश्रीयते। न च प्रकृते तदस्तीत्याशयेनाह-न पर्युदासायेति। फलितमाह-तत इति। ततः कारणात्पूर्वोक्तमार्गेण प्रार्थनानिवृत्तिपरं निषेधवाक्यमित्यर्थः।।४४४।।

तथाहीति= नञ् के सम्बन्धि पदार्थ का जो, उपमर्द= अभाव, बुद्धये- तद् बुद्धि को जानने के लिये, अर्थात् नञ् सम्बन्धि जो पदार्थ है, उसके अभाव को जानने के लिये, उत्सर्गं= मुख्य वृत्ति की अपेक्षा रखते हुये अर्थात् औत्सर्गिक स्वभाव से नञ्पद समर्थ है।

आशंका= इसका मतलब यह हुवा कि नञ् का पर्युदास अर्थ नहीं है।

समधान= जहां मुख्यवृत्ति उत्सर्ग प्राप्त अर्थ सम्भव न हो, अर्थात् मुख्यार्थ में जहां अपवादकम्= बाधक कोई आता है वहां पर्युदास का सहारा लेना पडता है। लेकिन प्रकृत में ऐसी बात न होने से न पर्युदासायेति। पर्युदास का सहारा लेने की जरूरत नहीं है, इसका फल बता रहे हैं, तत इति= इस कारण से पूर्वोक्त मार्ग से (सम्बन्धि उपमर्द से), प्रार्थना निवृत्ति परक निषेध वाक्य है, यह भाव है।

ननु कथमिष्टसाधनस्य भक्षणादेस्तत्र निषेधः, कथं वा तदनिष्टसाधनतावगमं बिना प्रवृत्त्युन्मुखस्य ततो निवृत्तिर्भवेदिति तदाशयं दूषयन्नुपसंहरन्नाह—

आशंका= इष्ट साधनरूप भक्षणादिक का निषेध कैसे सम्भव होगा? और जब तक अभिष्ट साधनावगम नहीं होगा तब तक प्रवृत्ति में उन्मुख (लिप्त) की निवृत्ति नहीं हो सकती।

समाधान= इस आशंका को दूषित करते हुये— उपसंहार कर रहे हैं—

अतः प्रयज्यप्रतिषेधसम्भवा-
न्न पर्युदासाश्रयणं प्रशस्यते।।
न पर्युदासाश्रयणं विना भवे-
दनिष्टहेतुत्वनञर्थकल्पना।।४४५।।

अन्वयः= अतः प्रसज्यप्रतिषेधसम्भवात् पर्युदासाश्रयणं न प्रशस्यते। पर्युदासाश्रयणं विना अनिष्ठ हेतुत्वनञर्थकल्पना न भवेत्।।४४६।।

अन्वयार्थः= इसका कारण प्रसज्य प्रतिषेध संभव होने पर पर्युदास का आश्रय लेना उचित नहीं है। और पर्युदास का आश्रय लिये बिना नञ् का अर्थ अनिष्ट हेतुत्व नहीं किया जा सकता।।४४६।।

अत इति। यतो मुख्यार्थबाधे सत्येव पर्युदासलक्षणा अत इत्यर्थः। प्रसज्यप्रतिषेधसंभवादिति। निवृत्तेरप्येतदुपलक्षणम्, बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वस्य निषेध्यस्य तत्र भ्रान्त्या प्रसक्तत्वेन निषेधसंभवाद्विशिष्टनिषेधसामर्थ्याद्बलवदनिष्टसाधनत्वस्यापि सिद्धेर्निवृत्तेरप्युपपत्तेर्न पर्युदास आश्रयणीय इत्यर्थः। मा भूत्तर्हि। पर्युदास इत्याशङ्क्य तदा भवदिष्टं न सिद्ध्यतीत्याह- न पर्युदासाश्रयणमिति।।४४५।।

अत इति= जहां मुख्यार्थ का बाध होता हो वहां ही पर्युदास लक्षणा स्वीकृत की जाती है। जहां नञ् अर्थ से प्रसज्य प्रतिषेध का निर्वाह किया जाता है। वहां पर्युदासाश्रयण ठीक नहीं है। निवृत्ति में भी यही क्रम लगाया जा सकता है। वहां भी पर्युदास की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि बलवदनिष्टाननुबन्धीष्ट साधनत्व निषेध्य पदार्थ में भ्रान्ति से ही प्रसक्त हैं, उसका निषेध होना सम्भव है, अर्थात् विशिष्ट निषेध सामर्थ्य से बलवदनिष्ट-साधनत्व की सिद्धि की निवृत्ति भी हो सकती है। निवृत्ति के उपपत्ति से बलवदनिष्ट-साधनत्व की अभाव की सिद्धि हो सकती है। इसके लिये पर्युदास की ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

आशंका= फिर पर्युदास रहने दो।

समाधान= फिर तो आप का अभीष्ट सिद्ध नहीं हो पायेगा। न पर्युदासाश्रयणमिति= अर्थात् पर्युदास के बिना नञर्थ- अनिष्ट हेतुत्व सिद्ध नहीं होगा ऐसा जो आप का कथन था, यह आप का कथनरूपी अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा।

द्वितयार्द्धार्थमेव विवृणोति-

पर्युदासाश्रयत्व प्रतिषेध दृष्टि से भी उचित नहीं है इसे ही स्पष्ट कर रहे हैं-

अभीष्टहेतुत्वलिङर्थपृष्ठतो
ह्यनर्थहेतुत्वनञर्थकल्पना।।
न पर्युदासं परिहृत्य कल्प्यते

न पर्युदासः प्रतिषेधसंभवात्।।४४६।।

अन्वयः= अभीष्टहेतुत्वलिङर्थपृष्ठतः अनर्थहेतुत्वनञर्थकल्पना न हि। पर्युदासं परिहृत्य न कल्प्यते। पर्युदासो न, प्रतिषेध सम्भवात्।।४४६।।

अन्वयार्थ= अभीष्ट हेतुत्व रूप लिङर्थ के सम्बन्ध से अनर्थ हेतुत्व रूप नञर्थ की कल्पना होती है। पर्युदास के बिना उक्त कल्पना नहीं हो सकती। पर्युदास को मुख्य नञर्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रतिषेध सम्भव है।।४४६।।

अभीष्टहेतुत्वेति। अभीष्टहेतुत्वस्य लिङर्थत्वात्तद्वति तन्निषेधायोगेन पश्चात्प्रस्तुत नञोऽनर्थहेतुत्वकल्पना वाच्या, सा च न पर्युदासलक्षणां विना संभवति, सापि मुख्यार्थ संभवे न युक्तेत्यर्थः। नन्विष्टहेतुत्वस्य प्रत्यक्षविरोधादेव निषेधासंभवात्पर्युदास आश्रीयतामिति चेत्, न। इष्टं प्रति साधनत्वांशनिषेधासंभवेऽपि इच्छांशस्य प्रमाणमूलत्वनिषेधसंभवस्योक्तत्वात्। तस्मान्निषेधवाक्यं निवृत्तिपरमेवेति सिद्धम्।।४४६।।

अभीष्ट हेतुत्वेति= अभीष्ट स्वर्गादिक का हेतुत्व तो लिङर्थत्व में है,। दूसरी बात जो व्यक्ति जहां प्रवृत्त हुवा है वहां उसी का निषेध करना उचित नहीं है। इसलिये बाद में उसमें नञ् से अनर्थ हेतुता की कल्पना करनी होगी। वह जो अनर्थ हेतुता की कल्पना है वह पर्युदास लक्षणा बिना संभव नहीं है। लेकिन वह भी संभव नहीं है, क्योंकि जहां मुख्यार्थ संभव न हो वहां ही पर्युदास लक्षणा अङ्गीकृत की जाती है।

आशंका= इष्ट हेतुता तो प्रत्यक्ष विरोधी होने से उसका निषेध नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष तो उसे सुखानुभूति प्राप्त होती है, इस अवस्था में निषेध वाक्य से बलवदनिष्टाननुबन्धीइष्ट साधनत्व नञ् से नहीं बताया जा सकता। उस समय पर्युदास का आश्रय लेना उचित होगा।

समाधान= न। क्योंकि निषेध वाक्य के द्वारा लहसुन भक्षण मदीष्ट साधनम् इसकी साधनत्वांश की निवृत्ति "लशुनं न भक्षयेत्" इस वाक्य से न होने पर भी "लशुनभक्षणं मदीष्टमस्ति" लहसुन खाना मेरे लिये इष्ट है, ऐसी जो इच्छा उसकी निवृत्ति लशुनं न भक्षयेत्= ऐसा जो वेद प्रमाण है उससे ऐसी इच्छा की निवृत्ति हो सकती है। इसलिये निषेध वाक्य निवृत्ति पर कंही मानना उचित है पर्युदासपरक मानना उचित नहीं है।

एवं निषेधवाक्यस्य प्रतिषेधमात्रनिष्ठत्वे सिद्धे सति वेदवाक्यस्य कार्यगोचरत्वनियमाभावात् तद्वदेव वेदान्तवाक्यमप्युक्तन्यायेन सिद्धब्रह्मपरं स्वीकर्त्तव्यमित्युपसंहरति—

इसप्रकार निषेधवाक्य को निवृत्तिमात्रपरक मानकर, वेद वाक्य को कार्य गोचर त्व

नियम से नहीं है, इसीप्रकार वेदान्त वाक्य सिद्ध ब्रह्मपरक स्वीकृत करना चाहिये ऐसा उपसंहार कर रहे हैं।–

प्रमाणमिच्छन्प्रतिषेधचोदनां
समस्तवेदस्य न कार्यगोचरम्।।
प्रमाणभावं प्रतिपत्तुमीश्वरो
निषेधवाक्ये तदसंभवाद्यतः।।४४७।।

अन्वयः= प्रतिषेधचोदनां प्रमाणमिच्छन् समस्तवेदस्य कार्यगोचरं प्रमाणभावं प्रतिपत्तुं ईश्वरो न, यतः प्रतिषेध वाक्ये तदसम्भवात्।।४४७।।

अन्वयार्थः= प्रतिषेध वाक्यों को प्रमाण मानकर समस्त वेद में कार्यपरता का प्रतिपादन नहीं कर सकते, क्योंकि निषेध वाक्यों में वह कार्यपरत्व सम्भव नहीं है।।४४७।।

प्रमाणमिति सार्द्धेन। कुतो नेश्वरस्तत्राह-निषेधवाक्य इति। तदसंभवात् कार्यगोचरत्वा-सम्भवात्। एवं वेदस्य कार्यार्थत्वानियमो यतः अत इत्युत्तरेण संबन्धः।।४४७।।

प्रमाणमिति सार्द्धेन= समस्त वेद निषेधवाक्यों को प्रमाण रूप से स्वीकृत करता है, लेकिन प्रतिषेधवाक्यों को कार्य गोचर नहीं मानता है। निषेध वाक्य कार्य गोचर न होने के कारण, प्रमाणभावं प्रति पत्तुमीश्वरो= ईश्वर भी निषेध वाक्य कार्य गोचर परक है ऐसा प्रमाण नहीं दे सकते। इसीलिये कहा निषेध वाक्य इति। तदसंभवात्= कार्य गोचरता नहीं होने से। इस प्रकार वेद का कार्यार्थत्व नियम नहीं है इसलिये, प्रतिषेध वाक्य भी कार्य गोचर परक नहीं है, यह सिद्ध हुवा।

अतो न वेदान्तवचस्सु विद्यते
विधिर्नियोगो न च शब्दभावना।।
न कर्मकाण्डेऽपि नियोगतोऽस्त्यसौ
यतो निषेधेषु न विद्यते विधिः।।४४८।।

अन्वयः= अतः वेदान्तवचःसु विधिः, नियोगः, शब्दभावना च न। कर्मकाण्डेऽपि असौ नियोगतः न, यतः निषेधेषु विधिर्न विद्यते।।४४८।।

अन्वयार्थः= इसलिये वेदान्त वाक्यों में विधि, नियोग और शाब्दीभावना नहीं है। कर्मकाण्ड में भी निमयतः विधि नहीं है। क्योंकि निषेध वाक्यों में विधि विद्यमान नहीं है।४४८।।

विधिः कर्तुरिष्टाभ्युपायः। एतदेव कैमुतिकन्यायेनाप्याह- कर्मकाण्डेऽपीति। नियोगतो नियमतः। असौ विधिः।।४४८।।

विधि= कर्ता का इष्ट को प्राप्त करने का उपाय इसे विधि कहते हैं। इसी बात

को कैमुतिकन्याय से कह रहे हैं— (कैमुतिक न्याय जब बडे बडे भी खडे नहीं हो सकते तो छोटों की बात ही क्या?) कर्मकाण्डेऽपीति= कर्मकाण्ड में भी नियम से विधि, नियोग, शब्द भावनादि नहीं है फिर, असौ= विधि— यह विधि निषेध वाक्य में कहां से आयेगी। अर्थात् नहीं आ सकती अर्थात् वेदान्त में है ही नहीं।।

इदानीं निषेधवाक्यस्य निवृत्तिविधिनिष्ठत्वमुपेत्यापि वेदान्ते विध्यसंभावमाह—

अब और प्रकार से विचार करते हैं। चलो मान लिया कि निषेध वाक्य निवृत्ति विधि निष्ठ ही माना लिया तो भी वेदान्त में विधि का संभव नहीं है।

उपेत्यवादं परिगृह्य चोच्यते
नियोगनिष्ठाऽस्तु निषेधगीरपि।।
तथापि वेदान्तवचःसु विद्यते
विधेर्न गन्धोऽपि विरोधकारणात्।।४४६।।

अन्वयः= उपेत्यवादं परिगृह्य च उच्यते, निषेधगीरपि नियोग निष्ठा अस्तु। तथापि वेदान्तवचःसु विधेः गन्धोऽपि न विद्यते, विरोधकारणात्।।४४६।।

अन्वयार्थः= अभ्युपगमवाद का सहारा लेकर भी कहा जा सकता है कि यदि निषेध वाक्यों को नियोगपरक मान भी लिया जाय तब भी वेदान्त वाक्यों में विधि की गन्ध भी बताई नहीं जा सकती।।४४६।।

उपेत्यवादमिति। अभ्युपगमवादमियर्थः। तमेव प्रकटयति— नियोगनिष्ठेति। गन्धो लेशः, उत्पत्त्यादिरूप एकोऽपि विधिर्न संभवतीत्यर्थः। विरोधकारणादिति। वेदान्तानामद्वैते तात्पर्यग्राहकप्रमाणविरोधादित्यर्थः।।४४६।।

उपेत्यवादम्= अभ्युपगम वाद से। प्रतिवादी भी प्रसन्न होवे इसलिये थोडे समय के लिये स्वीकृत करना, न कि सिद्धान्त रूप से। इसे ही अभ्युपगम वाद कहते हैं। उसे अभ्युपगमवाद को स्पष्ट कर रहे हैं नियोगनिष्ठेति=गन्धो=लेशमात्र भी, उत्पत्यादिरूप एक भी विधि की संभावना वेदान्त में है नहीं? क्योंकि विरोधकारणात्— वेदान्त का अद्वैत ब्रह्म में तात्पर्य ग्राहकत्व है तो विधि वाक्य अद्वैत के विरोध में चलते हैं अतः वेदान्त में विधि आदि का एक लेशमात्र भी नहीं है।

प्रकारान्तरेणापि तदसंभवमाह—

प्रकारान्तर से भी वेदान्त में विधि का असंभव है, उसे बता रहे हैं।—

ज्ञानं विधातुं हि न शक्यमेत-
न्न शक्यते कर्तुमकर्तुमेतत्।।
अतोऽन्यथा कर्तुमशक्यमेतत्
प्रमाणमेयैकनिबन्धनत्वात्।।४५०।।

अन्वयः= एतद् ज्ञानं विधातुं न हि शक्यं, एतत् कर्तुमकर्तुं न शक्यते, तथा एतत् अन्यथाकर्तुं अशक्यं, प्रमाणमेयैकनिबन्धनत्वात्।।४५०।।

अन्वयार्थः= इस ज्ञान का विधान नहीं किया जा सकता। इसका करण अथवा अकरण नहीं हो सकता। इसीप्रकार से अन्यथा करण भी अशक्य है। क्योंकि ये सब प्रमाण और प्रमेय मात्र के अधीन है।।४५०।।

ज्ञानं विधातुमिति। न तावद्वेदान्तानां कर्मविधिपरत्वं संभवति तत्प्रतिपाद्यस्यात्मनः कर्मशेषत्वासंभवेन विनियोजकप्रकरणाद्यभावेन तेषां तदयोगात्। नापि वेदान्तावगतोपासना-विधिशेषत्वं, मुमुक्षोरुपासनया प्रयोजनाभावेन तमधिकृत्य प्रवृत्तानां तेषां तदनुपपत्तेः। अस्तु तर्ह्यात्मन्येवात्मानं पश्येदितिश्रुतज्ञानविधिपरत्वं, ज्ञाने मुमुक्षोरेवाधिकारादिति चेत्, न। एतदलौकिकाद्वयात्मविषयकं ज्ञानं हि यतो विधातुं न शक्यम्। कुतो विधातुं न शक्यं तत्राह- न शक्यत इति। यद्धि कर्तुमकर्तुं शक्यते पुरुषप्रयत्नेन निष्पाद्यते तदभावे च न। यथाऽतिरात्रे षोड़शिग्रहणम्। यच्चान्यथाऽपि कर्तुं शक्यं, यथाऽनुदितहोम उदितहोमाद्विलक्षण- स्तदेव विधेयम्। ज्ञानं तु नैवं, तस्य प्रमाणप्रमेयैकतन्त्रतया पुरुषेच्छायत्तत्वाभावादित्यक्षरार्थः। विधिजन्येष्टसाधनताज्ञानाधीना यत्र चिकीर्षोदेति तज्जन्या कृत्या यत्साध्यते तद्विधिविधेयम्, यथाऽग्निहोत्रादि, ज्ञानं च नैवम्। न हि ज्ञानं चिकीर्षया निष्पाद्यते, अनिच्छतोऽपि तद्दर्शनात्। नापि कृत्या, अयतमानस्यापि तद्दृष्टेरिति ज्ञान-स्याविधेयतया न वेदान्तास्तद्विधिपरा इति भावः।।४५०।।

ज्ञानं विधातुमिति= न तो वेदान्त कर्म विधिपरक है, क्योंकि वेदान्त का प्रतिपाद्य आत्मा जो कि कर्म का शेष नहीं हो सकता इसलिये कर्म और आत्मा इन दोनों को जोडने वाला विनियोजक कोई प्रकरण भी नहीं होने से वेदान्त को कार्य विधिपरक नहीं मान सकते।

आशंका= वेदान्त को "आत्मेति उपासीत" इत्यादि से अवगत उपासना विधि शेषपरक मानेंगे।

समाधान= मुमुक्षु को उपासना से किसी प्रयोजन की जरूरत नहीं है। ऐसे मुमुक्षु को लेकर प्रवृत्त ऐसे जो उपासना विधिवाक्य है उनकी अनुपपत्ति ही है।

आशंका= यदि यह बात है तो "आत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इस श्रुति के अनुसार ज्ञान विधिपरक वेदान्त को मानेंगे, और ज्ञान में तो मुमुक्षु का ही अधिकार है।

समाधान= यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह आत्मज्ञान तो अलौकिक होने से तथा अद्वयआत्मा विषयक होने से उसका विधान ही नहीं हो सकता। वह विधि का विषय ही नहीं बन सकता।

आशंका= क्यों उसका विधान नहीं होगा?

समाधान= न शक्यत इति। जो भी वस्तु करने योग्य अथवा न करने योग्य पुरुष प्रयत्न से निष्पादित की जाती है उसके बारे में तो विधि हो सकती है, लेकिन जो

वस्तु ऐसी नहीं है उसके बारे में तो विधि नहीं हो सकती। जैसे अतिरात्र में "षोडशिग्रह
अति रात्री याग में षोडशी पात्र का ग्रहण करना चाहिये और जो अन्यथा रूप से कि
जा सकें, जैसे- सूर्योदय के पहिले होम करना अनुदित होम जो उदित होम से विलक्ष
है, ऐसे की ही विधि हो सकती है। लेकिन ज्ञान तो वैसा है नहीं। वह तो के
वेदान्त प्रमाण का ही प्रमेय भूत है, बाकी पुरुषेच्छा के अधीन न होने के कारण
ज्ञान विधि का विषय नहीं हो सकता। इसी प्रकार से विधिजन्य इष्ट साधनता ज्ञान
अधीन जहां जहां पुरुष में करने की इच्छा उत्पन्न होती है उस इच्छा से कर्म क
है, जो कर्म वह करता है, वही विधेय होता है। जैसे अग्निहोत्रादि लेकिन ज्ञान
भी नहीं है। क्योंकि ज्ञान करने की इच्छा से चिकीर्षा से उत्पन्न नहीं होता है।
करने की इच्छा से भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। (प्रहलाद और वामदेवादि) न तो
कृति से प्राप्त होता है जो प्रयत्न नहीं कर रहा है ऐसे को भी ज्ञान प्राप्त हो
है ऐसा देखा गया है, इसलिये ज्ञान में किसी भी प्रकार से विधेयता नहीं आ सक
और नहीं वेदान्त विधिपरक ही है। यह भाव है।।

किं चात्मानं पश्येदितिवाक्यार्थावगमात्प्राग्विधेयात्मज्ञानं न ज्ञातं किं वा ज्ञा
आद्योऽनुपपन्न इत्याह—

और भी "आत्मानं पश्येत्" इत्यादि वाक्यार्थ का अवगम होने के पहिले विधेय आत
क्या ज्ञात नहीं था, या ज्ञात था। इसमें यदि पहिला विकल्प लेते हो कि आत्मज्ञान
ज्ञात नहीं था तो यह विकल्प भी ठीक नहीं है।

ब्रह्मज्ञानं जानता ब्रह्मबुद्धेः
कर्तव्यत्वं शक्यते ज्ञातुमेतत्।।
न ह्यज्ञात्वा ब्रह्मबुद्धिं तदीयं
कर्त्तव्यत्व कश्चिदीष्टे ग्रहीतुम्।।४५१।।

अन्वयः—एतत् ब्रह्म ज्ञानं जानता ब्रह्मबुद्धेः कर्तव्यत्वं ज्ञातुं शक्यते। कश्चित् ब्रह्मबुद्धिं अज्ञात
कर्तव्यत्वं न हि इष्टे।।४५१।।

अन्वयार्थः— इस ब्रह्मज्ञान का ज्ञान रखने वाला ही ब्रह्म कर्तव्यता जान सकता है। क
ब्रह्मज्ञान को न जानकर तत्सम्बन्धी कर्तव्यता का ज्ञान नहीं कर सकता।।४५१।।

ब्रह्मज्ञानमिति। ज्ञानस्य विधिसंसर्गरूपवाक्यार्थनिश्चयहेतुत्वेन तदभावे
स्यादित्यर्थः।।४५१।।

ब्रह्मज्ञानमिति= ज्ञान को हमेशा विधिसंसर्गरूप वाक्यार्थ निश्चय की हेतुता
वह ज्ञान पहिले नहीं है तो फिर वह हेतु भी नहीं बन पायेगा। विधि हमेशा ज्ञात
होती है, न कि अज्ञात विषयक।

द्वितीयेऽपि तद्विषयो ब्रह्म ज्ञातमिति वाच्यम्। अन्यथा विषयनिरूप्यज्ञानस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। एवं च ब्रह्मणो यत्तत्त्वज्ञानं मोक्षाय विधीयते तदपि ज्ञानवद्विज्ञातमित्यस्याधिकारिणो ज्ञानान्मुक्तिः प्राप्तेति नास्ति विधीनां प्रयोजनमित्याह—

दूसरे विकल्प में भी विधि का विषय ब्रह्म ज्ञात है, यह कहना पडेगा। अन्यथा विषय निरूप्य ज्ञान को (विषय निरूपक तथा ज्ञान निरूप्य है।) जान नहीं सकते। इस प्रकार ब्रह्म का जो यत् तत्त्व ज्ञान है जो मोक्ष के लिये उपयोगी है वह ब्रह्म ज्ञान के समान विशेष रूप से ज्ञात ही है, जिसके अधिकारी पुरुष को ज्ञान से मुक्ति होती है वह तो ज्ञात ही होने से मुक्ति प्राप्त ही है। इसलिये विधियों की ऐसे ज्ञान के लिये कोई आवश्यकता सिद्ध नहीं होती है, इस बात को कह रहे हैं—

ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मणि ज्ञायमाने
ज्ञातुं शक्यं नान्यथा तच्च तद्वत्।।
विज्ञातं चेद् ब्रह्मणस्तत्त्वमस्य
प्राप्ता मुक्तिर्नास्ति कृत्यं विधीनाम्।।४५२।।

अन्वयः= ब्रह्मणिज्ञायमाने ब्रह्मज्ञानं ज्ञातुं शक्यं, न अन्यथा। तच्च ब्रह्मणस्तत्त्वं चेत् तद्वत् विज्ञातम्, अस्य मुक्तिः प्राप्ता। विधीनां कृत्यं नास्ति।।४५२।।

अन्वयार्थः= ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर ही ब्रह्म ज्ञान का ज्ञान हो सकता है अन्यथा नहीं वह ब्रह्म का स्वरुप यदि ब्रह्म ज्ञान के समान ही ज्ञात हो गया, तब इस अधिकारी को मुक्ति प्राप्त हो गई। विधि का कोई प्रयोजन ही न रहा।।४५२।।

ब्रह्मज्ञानमिति।।४५२।।

ब्रह्मज्ञानमिति= ब्रह्म के जानने के बाद ब्रह्मज्ञान ज्ञात हो सकता है। और यदि ब्रह्म ज्ञायमान नहीं हो, ब्रह्म ज्ञान भी नहीं हो सकता। यदि कहते हो कि ब्रह्म का तत्त्वज्ञान विज्ञात है तब तो उसी से मोक्षादि प्राप्ति होगी, तदर्थ विधि व्यर्थ है। इत्यादि।।

ब्रह्मणि ज्ञाते ज्ञानं विधीयते इति पक्षे न केवलं प्रयोजनाभावाज्ज्ञानविध्यसंभवः किं तु तन्निमित्तप्रमाकर्तृकरणादिभेदासंभवादपि विधिर्न संभवति इत्याह—

ज्ञातब्रह्म में ब्रह्म जानने के बाद यदि ज्ञान का विधान किया जाता है तो न केवल प्रयोजनाभाव के कारण विधि का असम्भव होगा, किन्तु ब्रह्म को जानने के बाद ज्ञातब्रह्म में होने के कारण प्रमा, कर्तृत्व, कर्त्ता, करणादि सम्पूर्ण भेद ही समाप्त हो जाने

के कारण विधि संभव नहीं हो सकती। इस बात को कह रहे हैं—

दृशो विराट्सूत्रशरीरगोचरं
परस्पराध्यासमबोधसंभवम्।।
अनर्थमाहुः श्रुतिमस्तके स्थिता-
स्ततोऽस्य विद्यासमयैव मुक्तता।।४५३।।

अन्वयः— श्रुतिमस्तके स्थिताः दृशो अबोधसम्भवं विराट्सूत्रशरीरगोचरं परस्पराध्यासं अनर्थमाहुः ततोऽस्य विद्यासमया एव मुक्तता।।४५३।।

अन्वयार्थः— वेदान्तनिष्ठ आचार्य गण चेतन में अज्ञान सम्भूत, विराट् सूत्र शरीर विषयक परस्पराध्यास को अनर्थ कहते हैं। अतः इस विद्वान् की ब्रह्मज्ञान काल में ही मुक्ति हो जाती है जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है।।४५३।।

दृशो विराडिति। परस्य दृशः प्रत्यक्चैतन्यस्य विराट् स्थूलभूततत्कार्यात्मस्थूलप्रपच्चः, सूत्रं सूक्ष्मभूततत्कार्यलिङ्गशरीरम् अस्मदादीनां शरीरं व्यष्टिरूपं तद्गोचरं परस्पराध्यासमहं ममेत्यवभास्यावभासात्मकमनर्थमबोधादज्ञानात्संभवं श्रुतिमस्तके वेदान्ते स्थिताः परिनिष्ठिता आहुः। उक्ताध्यासस्याज्ञानसमुत्थत्वे फलितमाह तत इति। अस्याधिकारिणो ज्ञातुः। विद्यायाः समय एवोत्पत्तिसमयो यस्याः सा तथा, मुक्तता अविद्यातत्कार्यसंसाररराहित्यम्। ततो भेदाभावात्कथं विध्यर्थावगमोऽनुष्ठानं वाऽधिकारिणो भवेदिति भावः।।४५३।।

दृशो विराडिति— पर जो (दृशः) प्रत्यक्चैतन्य उसी का विराट, हिरण्यगर्भ ईश्वर समष्टीभाव से ये स्वरूप पडते हैं और विश्व, प्राज्ञ, तैजस व्यष्टि भाव के ये स्वरूप होते हैं। जो प्रत्यक्चैतन्य का विराट् स्वरूप जो स्थूल भूत, उन्हीं का कार्य तदात्मक स्थूल प्रपञ्च यह विराट् इस प्रत्यक् चैतन्य का ही स्वरूप है, इसीप्रकार समष्टी सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म भूत तथा उनका कार्य लिङ्गशरीर है और हमारे जैसे जीवों का शरीर चाहे वह स्थूल हो चाहे सूक्ष्म हो है वह व्यष्टि स्वरूप। तद् गोचर- उस शरीर को विषय बनाने वाला, परस्पराध्यास— अहं, मम, आत्मा तथा अनात्मा का मैं और मेरा इसका अवभास होता है। मैं और मेरा यह जो अवभासात्मक कर्म है, वह अनर्थ का मूल है, और वह अबोध अज्ञान से होता है यह, श्रुतिमस्तके—श्रुति का शिरो भाग जो वेदान्त शास्त्र है, इसमें स्थितःपरिनिष्ठिता- (निपुण) विद्वान् कहते हैं।

अहं और मम यह अध्यास अज्ञान से उत्पन्न होने से फल बता रहे हैं—

तत इति= अस्य= अधिकारी पुरुष की। विद्यासमयैव= विद्या के समान काल में ही मुक्ति की उत्पत्ति है। मुक्ति क्या है। तो अविद्या और उसका कार्य जो संसार उससे रहित होने का नाम ही मुक्ति है। इसलिये जब भेद ही नहीं रहा तो फिर विधि के द्वारा कैसे अर्थावगम, और अनुष्ठान अधिकारि के लिये हो सकेंगे। अर्थात् नहीं हो सकेंगे, यह भाव है।।

ननु विद्यासमयैव मुक्ततेति कथं? ज्ञानसहकारिणां तदानीं नियमेनासंभवात्। न ह्यसहकृतमेव किंचित्कार्यं जनयद् दृष्टमित्याशङ्क्य अन्यत्तथैव, ज्ञानं त्वविद्यानिवृत्तौ स्वोत्पत्तिमात्रेण समर्थमित्याशयेनाह–

आशंका= विद्या के समान काल में मुक्तता कैसी? क्योंकि ज्ञान के सहकारि तो मुक्त अवस्था में नियम से रह नहीं पायेंगे। और यह नियम है कि कार्य उत्पत्ति के पहिले क्षण में कारण को वृत्ति होना आवश्यक है। कारण के बिना किंचित् भी कार्य उत्पन्न होता हो, ऐसा देखा नहीं गया है। कार्य कारण में पौर्वापर्यभाव जरूरी है

समाधान= ज्ञान तो अविद्या निवृत्ति में, अपने उत्पत्ति मात्र से ही समर्थ है। इसी आशय से कहा जा रहा है–

अनाद्यविद्यापटनेत्रबन्धनं
प्रसह्य वेदान्तनिबन्धना मतिः।।
स्वजन्ममात्रेण दृढात्मगोचरा
समूलदाहं दहतीति हि श्रुतिः।।४५४।।

अन्वयः= वेदान्तनिबन्धना दृढा आत्मगोचरा मतिः स्वजन्ममात्रेण अनाद्यविद्यापटनेत्रबन्धनं प्रसह्य समूलदाहं दहतीति हि श्रुतिः।।४५४।।

अन्वयार्थः= वेदान्त प्रमाण जनित, दृढ ब्रह्माकार बुद्धि अपने जन्ममात्र से ही अनादि अविद्यारूप आंखों पर बन्धी हुई पट्टी के समान पट को (अज्ञान पट को) समूल भस्मसात कर डालती है। यह श्रुति का कथन है।

अनाद्यविद्येति। अविद्यायाः स्वरूपप्रकाशकार्यप्रतिबन्धकत्वात्पटवत्सा नेत्रबन्धनमित्युक्तम्। ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं तद्विरोधेनानादिरप्यविद्या तत्कार्यं वा स्थातुं न शक्नोतीति प्रसह्येति सूचितम्। आपातज्ञानव्यावृत्तये दृढेति। समूलदाहं मूलं संसारमूलं विविधवासनास्तद्दाहसहितं यथास्यात्तथा दहति नाशयतीति श्रुतिः– "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" "तरति शोकमात्मवित्" इत्याद्या दर्शयतीत्यर्थः।।४५४।।

अनाद्यविद्येति= अविद्या का स्वरूप प्रकाश कार्य प्रतिबन्धकता है, जैसे वस्त्र नेत्र को बन्द करा देता है (ऑखों पर पट्टी बांधने से) इसीप्रकार से अविद्या भी करती है। लेकिन यह खेल तभी तक जब तक ज्ञान नहीं होता। ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर तो ज्ञान के प्रबलतम विरोध के कारण, अविद्या अनादि होने पर भी न तो वह रहती है और न उसका कार्य ही स्थिर हो पाता है। अर्थात् अविद्या तथा उसका कार्य दोनों ही उड जाते हैं। इस बात को बताने के लिये कहा कि प्रसह्येति।। आपात ज्ञान से अविद्या तथा उसके कार्य की निवृत्ति नहीं होती अतः ऐसे ज्ञान को हटाने के लिये कहा दृढेति।। दृढवृत्त्यारूढ अपरोक्ष ज्ञान से समूलदाहम्= संसार का मूल है विविध वासना, उन वासनाओं के सहित यथा स्यात्तथा, दहति= नाशयति= अर्थात् वासनाओं के सहित संसार दृढ ज्ञान जला देता है। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" ततरि शोकमात्मावित् इत्यादि श्रुतियां प्रमाणभूता है।।"

नन्वस्तु ब्रह्मणि वाक्यात्परोक्षनिश्चये सति तज्ज्ञाने विधिरिति चेत्, न तावत्तदेव ज्ञानं विधेयं सिद्धस्य साध्यत्वायोगात्। नापि तज्जातीयान्तरं, तस्य पूर्वज्ञानवद्विधिं विनैव शब्दात्संभवात्। फलं च तस्य न दृश्यते, मोक्षस्य विधिफलत्वेऽनित्यत्वापत्तेः। नापि साक्षात्कार-स्तत्फलं तस्य प्रमाणैकफलत्वेनानैयोगिकफलत्वात्। अत एव साक्षात्कारोऽपि न विधेय इत्याशयेनाह—

आशंका= वाक्य के द्वारा ब्रह्म का परोक्ष निश्चय होने के बाद उक्त ब्रह्म के ज्ञान के लिये विधि रहने दो।

समाधान= यह कहना भी ठीक नहीं है। यह नहीं होता कि जो ज्ञान परोक्ष रूप से विद्यमान है बाद में उसी को विषय बनाया जाय। जो सिद्ध है उसे साध्य नहीं बना सकते, यह नियम भी तो है।

आशंका= पहिले परोक्षज्ञान का सजातीय विधिवाला ज्ञान मानेंगे। फिर तो उक्त दोष नहीं आयेगा।

समाधान= तो जैसे ब्रह्म का परोक्षज्ञान विधि के बिना ही हुवा इसीप्रकार उसका सजातीय ज्ञान भी विधि के बिना ही शब्द मात्र से होने दो। दूसरी बात यह भी है कि हे पूर्वपक्षी जिस विधि ज्ञान की बात तू सोच रहा है उसका फल भी तो कोई है नहीं। कदाचित् आप कहोगे कि मोक्ष उसका फल है तो फिर मोक्ष में अनित्यत्वापत्ति होगी। जो विधि का फलमान लेंगे तो। क्योंकि विधि का फलजन्य होगा, जो भी जन्य

होगा वह अनित्य दोष से आक्रान्त होगा। जब कि मोक्ष अनित्य नहीं है। अतः यह भी कहना ठीक नहीं है।

आशंका= विधि के अधीन ब्रह्म साक्षात्कार ही फल मान लेंगे।

समाधान= ब्रह्म साक्षात्कार तो मात्र वेदान्त प्रमाण का ही फल होने से उसे विधि का फल नहीं मान सकते। इसलिये साक्षात्कार भी विधेय नहीं हो सकता। इस आशय से कहा जा रहा हैं।

विज्ञाते ब्रह्मणि स्याद्विधिरयमफलः प्रत्यये तस्य तद्व-
न्नाज्ञातब्रह्मकर्मा विधिविषय इति प्रत्ययो बुद्धियोग्यः।।
ब्रह्मात्मप्रत्ययेऽतो विधिरनवसरः सर्वथा चिन्त्यमानस्तस्माद्
ब्रह्मात्मवस्तुन्यवसितमखिलं विद्धि वेदान्तवाक्यम्।।४५५।।

अन्वयः= ब्रह्मणि विज्ञाते तस्य प्रत्यये अयं विधिः अफलः स्यात्। तद्वत् अज्ञातब्रह्म कर्मा प्रत्यो विधिविषय इति न बुद्धियोग्यः। अतः सर्वथा चिन्त्यमानः ब्रह्मात्मप्रत्यये विधिः अनवसरः। तस्मात् अखिलं वेदान्तवाक्यं ब्रह्मात्मवस्तुनि अवसितं विद्धि।।४५५।।

अन्वयार्थः= ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म ज्ञान की विधि निष्फल है। वैसे ही अज्ञात ब्रह्म का ज्ञान विधेय है, यह बुद्धिस्थ नहीं होता है। अतः सर्वथा विचार करने पर भी ब्रह्म ज्ञान की विधि को कोई अवसर नहीं। अतः समस्त वेदान्त वाक्य ब्रह्मात्म वस्तु में पर्यवसित होते हैं। यह निश्चित रूप से जानो।।४५५।।

विज्ञात इति। शब्दतो विज्ञातेऽपीत्यर्थः। तस्य प्रत्ययेऽयं विधिरफलः स्यादिति सम्बन्धः। यदा परोक्षमपरोक्षं वा ब्रह्मणि ज्ञाते तज्ज्ञानं वाक्यादवगतमपि न विधेयं तदात्यन्ताज्ञातब्रह्मकर्मकं ज्ञानमशक्यनिरूपणत्वात्सुतरां न विधेयमित्युक्तमेव स्मारयति—तद्वन्नाज्ञातेति। अज्ञातं ब्रह्म कर्म विषयो यस्य प्रत्ययस्य स विधिविषय इति बुद्धियोग्यो न स्यादित्यर्थः। उक्तरीत्या ज्ञानविधिविषयानिरूपणफलमाह-अतो ब्रह्मात्मप्रत्यय इति। अनवसरः अयुक्तः सर्वथा स्वरूपतो विषयतश्च ज्ञातत्वाज्ञातत्वाभ्यां परोक्षत्वापरोक्षत्वाभ्यां च विचारार्हषिषयासम्भवादयुक्त इत्यर्थः। विध्यसम्भवफलमाह- तस्मादिति। कृत्स्नस्य कर्मकाण्डस्य नियोगार्थत्वेऽपि उक्तन्यायेन वेदान्तेषु तदसम्भवात्तेषां सिद्धे ब्रह्मण्येव पर्य्यवसानमिति भावः।।४५५।।

विज्ञात इति= शब्द से जानने के बाद भी (विज्ञात होने के बाद भी) तस्य प्रत्ययेऽयं

विधिफलः स्यात्= ऐसा जानने के बाद भी विधि निष्फल हो जायेगी, सिद्ध साध्य नहीं हो सकता। जब कि ब्रह्म विषयक परोक्ष रूप से (ज्ञात) चाहे अपरोक्ष रूप से ज्ञात हो, तो उसका ब्रह्म का ज्ञान वाक्य से जाना हुवा भी विधेय नहीं हो सकता। फिर तो जिस ब्रह्म कर्मक (ब्रह्म देव भी जिस ज्ञातता में ऐसा) का स्वरूप बिलकुल अज्ञात है उस ज्ञान का निरूपण तो बिलकुल अशक्य ही है, फिर यह तो बिलकुल सहज सिद्ध है कि ऐसा अज्ञात ब्रह्मकर्मक ज्ञान विधेय हो भी नहीं सकता। इसी बात का स्मरण दिलाते हैं। तद्वन्नाज्ञातेति। अज्ञात है ब्रह्म कर्म विषय जिस प्रत्यय में वह ब्रह्म कर्म विधि विषय हो यह बात बुद्धि योग्य (बुद्धि में उतरने की क्षमता धारण नहीं करती) नहीं हो सकती। इस प्रकार ज्ञान विधिविषय का निरूपण नहीं हो सकता उसका फल बता रहे हैं— अतो ब्रह्मात्मप्रत्यय इति। अनवसरः— इसलिये यह ज्ञानविधि सर्वथा अयुक्त है, स्वरूप से भी अयुक्त तथा विषयता की दृष्टि से की अयुक्त है, ज्ञातत्व दृष्टि से कहो चाहे अज्ञातत्व दृष्टि से कहो, परोक्षत्व रूप से कहो चाहे अपरोक्षत्व रूप से कहो सभी प्रकार से विचार के योग्य विषयता ब्रह्मात्मप्रत्यय में न होने से ज्ञानविधि अयुक्त है। ज्ञान विधि के असम्भव होने से फल बता रहे है तस्मादिति= सम्पूर्ण कर्मकाण्ड विधि परक (नियोगार्थ परक होने पर भी) उक्त न्याय से वेदान्त में वह असम्भव होने से वेदान्त वाक्यों का तो सिद्ध ब्रह्म में ही पर्यवसान है। यह भाव हैं।

प्रकारान्तरेणापि सदृष्टान्तं ज्ञानविध्यसम्भवमाह—

प्रकारान्तर से दृष्टान्त सहित ज्ञानविधि का असंभव बता रहे है—

विरुद्धत्रिकस्य द्वयापत्तिदोषा-
न्न शक्यं विधीनां धियः संग्रहीतुम्।।
यथा वाजपेये गुणस्येह तद्व-
त्ततो नास्ति वेदान्तवाक्ये विधानम्।।४५६।।

अन्वयः=धियो विधानं संग्रहीतुं न शक्यं। विरुद्धत्रिकस्य द्वयापत्तिदोषात्। यथा वाजपेये गुणस्य। तद्वत् इह। ततः वेदान्तवाक्ये विधानं नास्ति।।४५६।।

अन्वयार्थः= ब्रह्मज्ञान का विधि संग्रह नहीं हो सकता। क्योंकि दो विरुद्धत्रिक दोष प्राप्त होते हैं। जैसे कि वाजपेय के गुण विधि पक्ष में, वैसे ही प्रकृत में। इसलिये वेदान्त वाक्यों में विधि नहीं हो सकती।।४५६।।

विरुद्धत्रिकस्येति। विरुद्धानां त्रयाणां समूहो विरुद्धत्रिकं तस्येत्यर्थः। वक्ष्यमाणप्रकारेण विरुद्धत्रिकस्य यद् द्वयं तदापत्तिस्तत्प्रसङ्गः स एव दोषस्तस्माद्धियो विधानं संग्रहीतुम्

अवगन्तुम्। वाजपेये वाजपेयनाम्नि कर्मणि। गुणस्य वाजपेयाख्यगुणस्य। दार्ष्टान्तिकमाह इहेति। तद्वद्वाजपेयगुणवत्। ततो विरुद्धत्रिकद्वयापत्तेः। विधानं ज्ञानस्येति शेषः। यथा वाजपेये वक्ष्यमाणविधया विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गेन गुणस्य विधानमङ्गीकर्तुं न शक्यते तद्वत्तत एव दोषादिह वेदान्तवाक्ये धियो विधानं नास्तीत्यर्थः।।४५६।।

विरुद्धत्रिकस्येति= विरुद्ध तीनों का समूह इसे कहते हैं विरूद्धत्रिक उसकी प्रसक्ति होगी। आगे ग्रन्थकार खुद बतायेंगे कि ऐसे विरूद्धत्रिक दो हैं उनकी आपत्ति प्रसंग यही दोष है इसलिये, धिय= ज्ञान विधि का संग्रह करना उचित नहीं है। वाजपेये= वाजपेय नामक कर्म में। "वाजपेयेन स्वर्गकामो यजेत्" आप० श्रो० १८/१/१ गुणस्य वाजपेयाख्यगुण का। जिस प्रकार वाजपेय कर्म में वाजपेय गुण की विधि कराने से विरूद्ध त्रिक दो दोषों की आपत्ति आई है वैसी ही आपत्ति दार्ष्टान्त में भी है। इहेति= वाजपेयगुणवत्। ततो= इसलिये= विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति दोष के कारण। विधान= ज्ञान विधि नहीं हैं यही कहना उचित है। जैसे आगे ग्रन्थकार बतायेंगे कि वाजपेय में विरूद्धत्रिक द्वय के प्रसङ्ग भय से वाजपेय कर्म में वाजपेय गुण का विधान अङ्गीकृत नहीं कर सकते इसी प्रकार उपरोक्त विरूद्ध त्रिकद्वय दोष के कारण वेदान्त वाक्य में भी ज्ञान विधि नहीं है, यह भाव है।

किं तद्विरुद्धत्रिकद्वयमिति जिज्ञासायामाह—

विरूद्धत्रिक द्वय दोष क्या है? ऐसा जिज्ञासा होने पर बता रहे हैं।

उद्दिश्यमानत्वमनूद्यमान-
भावः प्रधानत्वमितीदमेकम्।।
तथाऽप्युपादेयविधेयशेष-
भावप्रभेदं त्रिकमन्यदत्र।।४५७।।

अन्वयः= उद्दिश्यमानत्वं, अनूद्यमानभावः प्रधानत्वं इतीदं एकं, (त्रिकम्)। तथा उपादेय विधेयशेषभावप्रभेदं अन्यत् अपि त्रिकम्।।४५७।।

अन्वयार्थः= उद्दिश्यमानत्व, अनूद्यमानत्व, प्रधानत्व यह एक त्रिक है। तथा उपोदय भाव, विधेय भाव शेष भाव एवं यह दूसरा त्रिक है।।४५७।।

उद्दिश्यमानत्वमिति। किं चिद्विधातुं सिद्धवन्निर्दिश्यमानत्वमित्यर्थः। प्रागवगतस्य पश्चाद्वादोऽनुवादस्तद्विषयोऽनूद्यमानस्य भावः। प्रधानत्वं शेषित्वमनूद्यमानभावश्च प्रधानत्वं चेति समाहारैकवचनम्, अनुद्यमानभाव इति सविसर्गः पाठः सुगमः। इति अनेन प्रकारेण

एकं त्रिकमिति शेषः। उपादेयम् अनुष्ठेयतया निर्देश्यम्। विधेयम् अज्ञातं सज् ज्ञाप्यम्। शेषं गुणभूतं तेषां भावस्तेत्प्रभेदो यस्मिंस्त्रिके तत्तथा। भावशब्दस्योपादेयादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धः। अपिशब्दस्यान्यदपीति सम्बन्धः। अत्र त्रिकद्वयसमुदाये ज्ञानविधौ वाजपेयगुणविधौ चोद्दिश्यमानत्वमनूद्यमानत्वं प्रधानत्वं चेतीत्थमिदमेकं त्रिकं तथोपादेयत्वविधेयत्वशेषत्वप्रभेदमन्यदपि तद्विरुद्धं त्रिकं स्यादित्यर्थः।।४५७।।

उद्दिश्यमानत्वमिति= पहिले त्रिक में १) उद्दिश्यमानत्व, २) अनूद्यमानत्व ३) प्रधानत्व ये तीनों है इसमें प्रत्येक की व्याख्या कर रहे हैं— उद्दिश्यमानत्वमिति= किसी वस्तु का वह्नि आदि का विधान सिद्ध के समान पर्वतादि में निर्दिश्यमानत्व। इस पर्वतादिक को उद्दिश्यमानत्व कहते हैं। अनूद्यमानभावः= पहिले अवगमन किये हुये का बाद में इसे अनुवाद कहते हैं जैसे पर्वतादि इस अनुवाद का जो विषय इसे अनूद्यमानत्व कहते है। प्रधानंत्वम्=शेषित्व भाव। तो अनूद्यमान भाव (अनूद्यमानश्च) और प्रधान (प्रधानश्च वह्निप्रकारक पर्वतविशेष्यक ज्ञान इसमें पर्वत की प्रधानता है) इन दोनों का समाहार द्वन्द्व समास होकर एक वचन बना अनूद्यमानभावः— ऐसे सविसर्ग पाठ सुगम है इति- इस प्रकार एक त्रिक तो कह दिया।

अब दूसरे त्रिक की बात समझा रहे हैं १) उपादेयम् २) विधेयम् तथा ३)शेषम् यह दूसरा त्रिक है अब प्रत्येक की परिभाषा कर रहे हैं— १) उपादेयम् अनुष्ठान करने के लिये निर्देश्यमात्र को उपादेय कहते हैं। २) विधेयम् अज्ञात होता हुवा जिसको ज्ञापित किया जाय। ३) शेषम्= जो गुणभूत हो (प्रकार भूत हो) ऐसा इनका भाव जिस त्रिक में रहता है, ऐसा यह त्रिक है। भाव शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध लगाना होगा। अर्थात् उपादेय भाव, विधेयभाव, शेषभाव अपि= अपि शब्द से अन्य भी त्रिक दोष आयेगा यह समझा रहे हैं। अर्थात् केवल एक विरुद्ध त्रिक नहीं किन्तु दोनों विरुद्ध त्रिक दोष आक्रान्त होंगे। अत्र= त्रिकद्वय समुदाय में। तो ज्ञानविधि मानने पर जैसे वाजपेय गुण विधि में उद्दिश्यमानत्व, अनुद्यमानत्व तथा प्रधानत्व यह पहिला त्रिक दोष तथा दूसरा उपादेयत्व विधेयत्व और शेषत्व यह दूसरा त्रिक दोष दोनों ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में लगेंगे। अर्थात् दोनों त्रिक परस्पर में विरुद्ध होने के कारण इनका सह भाव सम्भव नहीं लेकिन ब्रह्म ज्ञान को विधि परक मानने से ये दोनों त्रिक एकत्रिक प्रसक्त हो रहे हैं।

ननु वाजपेयपूर्वपक्ष इव, "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" इत्यत्र गुणविध्यश्रवणात् कथं विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गः। स च वाजपेय इव धात्वर्थेऽन्यत्र वेत्यपि न ज्ञायत इत्याशङ्क्य सत्यं गुणविधिप्रयुक्तं प्रकृते न वैरूप्यं किं त्वन्यथा। तथा हि ज्ञानविधिमभ्युपगच्छतः किं तेनैव वाक्यजन्यविधेयज्ञानेन ब्रह्मणः सिद्धिरभिमतोतान्येन। न तावदन्येन सम्भवति,

ब्रह्मणः प्रत्यक्षाद्ययोग्यत्वात्। नापि वाक्यान्तरजन्यज्ञानेन, तस्यापि लिङादियुक्तत्वे प्रस्तुततुल्यत्वात्। तत्र लिङादिराहित्ये वा सिद्धमेव तर्हि वेदान्तानां ब्रह्मनिष्ठत्वं ततश्च प्रयोजनलाभ इति किं ज्ञानविधिना। तस्माद्यद्वाक्यजं ज्ञानं विधेयं तत एव ब्रह्मणः सिद्धिर्वक्तव्या, तत्र चोक्तवैरूप्यप्रसङ्ग इत्याशयेनाह–

आशंका= वाजपेय अधिकरण– पूर्वपक्ष है, पूर्वपक्ष की तरह यहां उसके समान "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" इत्यत्र गुणविधि तो है नहीं। तो फिर विरूद्ध त्रिक द्वयप्रसङ्ग कैसा। गुणविधि उसे कहते हैं– यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते, यथ दध्ना होमं भावयेत् इति।। अर्थसंग्रह है। जहां प्रधान कर्म प्रमाणान्तर से प्राप्त हैं, लेकिन उसकी पूर्ति कराने के लिये गुणमात्र का विधान करते है उसे गुण विधि कहते है। जिस प्रकार अग्निहोत्रं जुहुयात् में एतत्कर्म पूर्ति के लिये, दध्ना होमं भावयेत्" दधि से होम करें। तो दध्ना होमं भावयेत् यह विधि है। तो प्रकृत में आत्मा वारे द्रष्टव्यः में गुण विधि तो है नहीं। फिर विरूद्धत्रिक द्वय प्रसङ्ग कैसे?। क्योंकि "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" इसमें वाजपेयके समान धात्वर्थ में, या अन्यत्र कहीं भी गुणविधि तो श्रवण में नहीं आती, और न ही ऐसा ज्ञान ही होता है।

समाधान= बात तो आपकी सत्य है। गुणविधि प्रयुक्त दोष त्रिक की आपत्ति नहीं है किन्तु अन्य प्रकार से ही दोष त्रिक की आपत्ति है। वह सुनाता हूँ– ज्ञानविधि को अपनाने वाले से मैं पुछता हूँ कि क्या उसी ज्ञान विधि वाक्य से जन्य विधेय ज्ञान से ब्रह्म की सिद्धि होगी कि अन्य वाक्य से? अन्य वाक्य से तो ब्रह्म सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म तो किसी भी प्रत्यक्षादिप्रमाण का विषय है ही नहीं फिर अन्य प्रमाणों की वहां गति कैसी हो सकती है। यदि कहो कि इस ज्ञान विधि से भिन्न वाक्य के जन्य ज्ञान से- यदि उस वाक्य में भी लिङादि है तो प्रस्तुत प्रसङ्ग तुल्य ही है, (विरूद्ध त्रिक दोषापत्ति है) यदि कहो कि लिङादि रहित वाक्यान्तर से ब्रह्मसिद्धि होती है। तो इसका मतलब यह हुवा कि ब्रह्म सिद्ध ही है, तो फिर वेदान्त वाक्यों की ब्रह्मनिष्ठता अपने आप सिद्ध हो गई और उससे मोक्ष रूपी प्रयोजन लाभ भी सिद्ध हुवा। फिर करना भी क्या है ज्ञान विधि से। इसलिये जिस वाक्य से जन्य ज्ञान विधेय होगा उससे ही ब्रह्म की सिद्धि कहनी चाहिये, तो ऐसे की प्रति वैरूप्यप्रसङ्ग दो विरूद्ध त्रिक दोष प्रसंग है। इस आशय से कहा जा रहा है–

एकेन वाक्येन धियो विधानं

प्रत्यक्प्रमित्सा च यदि प्रतीचि।।
त्रिकद्वयं तत्र विरुद्धमेतत्
प्रसज्यते कष्टमतः किमन्यत्।।४५८।।

अन्वयः= यदि एकेन वाक्येन धियो विधानं प्रत्यक्प्रमित्सा च (अभिमता), तथा तत्र प्रतीचि विरुद्धं त्रिकद्वयं प्रसज्यते। अतः किमन्यत् कष्टम्।।४५८।।

अन्वयार्थः= यदि एक ही वाक्य से ब्रह्मज्ञान का विधान तथा प्रत्यगात्मा के स्वरूप के अवधारण की इच्छा अभिमत हो, तब वहां प्रत्यगात्मा में दो विरूद्ध त्रिक प्राप्त होते हैं। इससे बढकर और महान् कष्ट क्या हो सकता है।।४५८।।

एकेन वाक्येनेति। धिय आत्मज्ञानस्य। प्रतीचः प्रमातुमिच्छा प्रत्यक्प्रमित्सा प्रमित्सितप्रत्यक्सिद्धिरित्यर्थः। यदि भवेदिति शेषः। तत्र तदा प्रतीचि एताद्विरुद्धत्रिकद्वयं प्रसज्यते, अतोऽस्मादन्यत्किं कष्टमनिष्टमित्यर्थः।।४५८।।

एकेन वाक्येनेति= एक वाक्य से तो धियः= आत्मज्ञान की विधि बताई जाती है आत्मा वारे द्रष्टव्यः= इष्यमानादि (दर्शनादि)=। प्रतीचः= जानने की इच्छा प्रत्यक्प्रमित्सा= प्रमिति की इच्छा, प्रमिति की इच्छायुक्त, प्रत्यक् (आत्म) सिद्धि यदि= हो तब जैसे— तथापि जिज्ञासास्व इत्यादि। तो एक तरफ विधि दूसरी तरफ प्रमित्सा, दोनों विरूद्ध होने से विरूद्ध त्रिक दोनों ही दोष दार्ष्टान्त में आयेंगे। अतः= इससे बढकर और क्या कष्टदायक वस्तु हो सकती है अर्थात् सबसे बडा कष्ट यही है।

ननु विधेयज्ञानस्य ब्रह्मसाधकत्वे प्रतीचि किं त्रिकं कथं प्रसज्यत इति वीक्षायां विभज्य तदुभयत्रिकप्रसङ्गं दर्शयति—

आशंका= विधेय ज्ञान की ब्रह्म का साधक मानने पर विरूद्ध त्रिक की आपत्ति नहीं लगेगी ऐसी जिज्ञासा होने पर विभाग पूर्वक उभय त्रिक दोष प्रसङ्ग को बता रहे हैं।

उद्दिश्यमानं तदनूद्यमान-
भूतं प्रधानं च धियो विधाने।।
प्रमीयमाणं पुनरात्मवस्तु
तदास्पदं स्यादितरत्रिकस्य।।४५९।।

अन्वयः= धियो विधाने तत् उद्दिश्यमाननं, अनूद्यमानं प्रधानं च आत्मवस्तुप्रमयिमाणं पुनः इतरत्रिकस्य आस्पदं स्यात्।।४५६।।

अन्वयार्थः= ब्रह्मज्ञान विधि पक्षमें (आत्मवस्तु) उद्दिश्यमान है, अनूद्मान तथा प्रधान है, वही आत्मवस्तु प्रामीय पक्ष में अन्यत्रिक (उपदीयमानत्व, विधियत्व और गुणत्व) की आश्रय होता है।।४५६।।

उद्दिश्यमानमिति। आत्मवस्तु धियो विधानेऽभ्युपगम्यमाने उद्दिश्यमानं भवति। एवं तदात्मवस्त्वनूद्यमानभूतं तथा प्रधानं चेत्येकस्य त्रिकस्य प्रतीचि प्रसङ्ग इत्यर्थः। इतरत्रिकप्रसङ्गमाह प्रमीयमाणमिति। विधेयज्ञानेन प्रसाध्यमानं पुनस्तदात्मवस्त्वितरत्रिकस्योपादेयत्वविधेयत्वशेषत्वरूपत्रिकस्यास्पदं स्यादिति संबन्धः।

एतदुक्तं भवति। मुमुक्ष्वभिलषितं प्रत्यग्ब्रह्मात्मकं मोक्षमुद्दिश्य मुमुक्षुरात्मानं जानीयादिति ज्ञानविध्यभ्युपगमे मोक्षात्मकब्रह्मणः सिद्धवन्निर्देश्यत्वरूपमुद्देश्यत्वं तावत्सिद्धं, तच्च तस्य प्रागनवगतस्य न संभवतीति तदनुवादपूर्वमेव वक्तव्यम् इति तस्यानूद्यमानत्वं च स्यात्। एवमुद्दिश्यमानस्य फलतया प्राधान्यं चेत्येकं त्रिकम्। तथा आत्मनः विधेयज्ञानप्रमेयत्वे उद्देश्यत्वविरुद्धमुपादेयत्वं प्रमितिजन्यफलवत्तयाऽनुष्ठेयत्वं तथा प्रागज्ञातस्यैव प्रमेयतया तस्यानूद्यमानत्वविरुद्धमज्ञातत्वम्, एवं तस्य प्रधानत्वविरुद्धं विधेयज्ञानक्रियाविशेषणतयाऽप्रधानत्वं चेति मुमुक्ष्वभिलषितमोक्षोद्देशेन ज्ञानविधौ ब्रह्मणि वैरूप्यं प्रसज्यत इति।।४५६।।

उद्दिश्यमानमिति= आत्मवस्तु को। धियो निधाने— तद्विषक ज्ञान विधेय हुवा, आत्मा उदेश्य हुवा। विधेय मानने पर सबसे पहिले तो उद्देश्य मानना होगा। इसी प्रकार उस आत्म वस्तु में भूतम्- अनुद्यमानत्वं दूसरा दोष होगा। इसी प्रकार प्रधानम्= प्रधान यह तीसरा दोष होगा। इस प्रकार प्रतिवादी के यहां (प्रतीचि के यहां) प्रथम त्रिक दोषप्रसङ्ग आयेगा। अब द्वितीय त्रिक दोष प्रसङ्ग को बता रहे हैं प्रमीयमाणमिति= विधेय ज्ञान से जो विशेष रूप से साध्य है, वह तो आत्मवस्तु दूसरे दोषत्रिक का भी शिकार हो जायेगी। उपादेयत्व, विधेयत्व तथा शेषत्व यह सम्बन्ध बनता है। अभिप्राय मुमुक्षु का अभिलषित प्रत्यक् ब्रह्म आत्मस्वरूप ही है, इस मोक्ष को उद्देष्य करते ही मुमुक्ष के लिये "आत्मानं जानीयादिति" आत्मा को जानना चाहिये, ऐसी ज्ञान विधि स्वीकृत करने पर मोक्ष स्वरूप ब्रह्म की सिद्ध के समान निर्देश्यत्व रूप उद्देश्यत्व तो प्रसिद्ध हो ही चुका है। उस ब्रह्म को पहिले जाना नहीं है, यदि ऐसा मानते है तब तो उसमें उद्देश्यत्व संभव नहीं हो सकता। इसलिये उद्देश्यत्व अनुवादपूर्वक ही कहना पडेगा। अर्थात् पहिले ब्रह्म का ज्ञान मानना पडेगा। अर्थात्

ब्रह्म पहिले से ही सिद्ध है— ऐसा मानना पडेगा। अर्थात् स्वतः अनुद्यमानत्व। इसी प्रकार उद्दिश्य मात्र का फल के रूप में स्वीकार करना, प्रधान, प्राधान्यता यह तीसरा दोष होगा, इस प्रकार यह पहिला त्रिक होगा।

इसी प्रकार से विधेय ज्ञान को प्रमेय मानने पर उद्देश्य के विरुद्ध उपादेयत्व, तथा प्रमितिजन्य फल रूप होने से अनुष्ठेयत्व भाव, तथा पहिले अज्ञात जो ब्रह्म था उसे प्रमेय रूप से स्वीकृत करने पर अनुद्यमानत्व का विरूद्ध अज्ञातत्त्व स्वीकृत करना पडेगा। इसी प्रकार प्रधानत्व के विरुद्ध विधेय ज्ञान क्रिया का विशेषण होने से उसकी अप्रधानता होगी। अर्थात् मुमुक्षु का अभिलषित मोक्ष के उद्देश्य से ज्ञानविधि में ब्रह्म से वैरुप्य आ जायेगा।

इदानीं दृष्टान्तेऽपि विरुद्धं त्रिकद्वयं विविच्य दर्शयति—

अब दृष्टान्त में भी विरुद्ध त्रिकदोष को विवेचन पूर्वक दर्शा रहे हैं—

प्रथमत्रिकं यजिनिगद्यगतं
गुणसंगतेरवगमे भवति।।
चरमत्रिकं यजिनिगद्यगतं
फलसंगतेरवगमे तु पुनः।।४६०।।

अन्वयः= गुणसंगतेरवगमे यजिनिगद्यगतं प्रथमत्रिकं, फलसंगतेरवगमे तु पुनः यजिनिगद्यगतं चरमत्रिकं भवति।।

अन्वयार्थः= "वाजपेयेन स्वाराज्य कामो यजेत्" यहां याग के साथ गुण सम्बन्ध स्थापना (वाजपेयेन यागं भावयेत्) करने पर यजिपदार्थ प्रथमत्रिक उद्देश्यत्व, अनूद्यमात्व तथा प्रधानत्व तथा याग के फल के साथ सङ्गमन (यागेन स्वाराज्यं भावयेत्) करने पर यजिशब्दार्थ द्वितीय त्रिक उपादेयत्य, विधेयत्व, तथा गुणत्व प्राप्त होते हैं।

प्रथमत्रिकमिति। उद्दिश्यमानत्वादिकत्रिकमित्यर्थः। यजिनिगद्यो यागः तद्गतमित्यर्थः। गुणसङ्गतेरवगमे गुणविधिपरत्वाभ्युपगम इत्यर्थः। वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेतेत्यत्र पूर्वपक्षे यज्यर्थं यागमुद्दिश्य वाजपेयाख्यगुणसंम्बन्धविधानेऽभ्युपगम्यमाने यागगतमुद्देश्यत्वादित्रिकं भवेत्। एवं फलसङ्गतेरवगमे स्वाराज्यफलोद्देशेन तद्यागविधाने चरमत्रिकमुपादेयत्वादित्रिकं भवेदेवेत्यर्थः।।४६०।।

प्रथमत्रिकमिति= उद्दिश्यमानत्वादिक त्रिक की आपत्ति होगी। यजिनिगद्य= याग—

उसके अन्तर्गत। गुणसंगतेरवगमे, = गुणविधिपरत्व परक लेने से वाजपेय यज्ञ में वाजनामक द्रव्य से हवन करने का विधान होने पर गुणविधि हो जायेगी। और वाजपेय यज्ञ में ही रूढ होने पर प्रधान विधि परक होगा। ऐसी स्थिति में दोष दे रहे हैं।

यह पहिला त्रिक दोष उत्पन्न होगा। "वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत्" स्वाराज्य कामना वाला वाजपेय यज्ञ से यजन करें। इस स्थल में पूर्वपक्षी के यहां याग को उद्देश्य मानकर वाजपेयाख्य गुण सम्बन्ध का विधान करने पर यागगत उद्देश्यत्वादि त्रिकदोष की आपत्ति लगेगी। (गुणविधि इसे कहते हैं- यत्रकर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देश्येन गुणमात्रं विधत्ते यथा दध्ना जुहोति)। अग्निहोत्र प्रसंग में दही से हवन करना चाहिये, यह गुणविधि है। प्रकृत में यदि वाजपेयेन यजेत इसे वाज अन्न से हवन बता ने पर इसे गुणविधि परक मान लेते हैं तो प्रथम विरुद्धत्रिक की आपत्ति लगेगी। इसी प्रकार से फलसंगति को मान लेते हैं तो जैसे "स्वराज्यकामो" इस फल के उद्देश्य को लेकर याग का विधान करते हैं तो दूसरा दोष त्रिक प्रसङ्ग लगेगा।

ननु फलं प्रति यागस्य साधनत्वं गुणं प्रति साध्यत्वमित्यन्यान्यनिरूपितयोस्तयोरेकत्र न विरोधः। न हि दण्डसाध्येन घटेनोदकमानयेति न व्यवह्रियते, अत एव फलं प्रत्युपादेयत्वं फलसाधनतयाऽज्ञातत‍ारूपं विधेयत्वं च गुणं प्रत्युद्देश्यत्वानूद्यमानत्वाभ्यां न विरुद्धयत इत्याशङ्क्याह-

आशंका= फल के प्रति याग साधन रूप है और गुण के प्रति साध्य है, तो साधन और फल दोनों याग के भिन्न भिन्न निरूपक होने साधनत्व और साध्य दोनों का एकत्र विरोध नहीं हो सकता। जैसे दण्ड से (साधनरूपदण्ड) से साध्य रूप घट उससे (साधनरूप घट से) उदक को (जल को) लावो, ऐसा व्यवहार होता है। यह नहीं कि ऐसा व्यवहार होता नहीं है। तो घट साध्य भी है और साधन भी है। तो घट दण्ड के प्रति साध्य है और जलाहरण के प्रति साधन है। इसी प्रकार से फल के प्रति उपादेयत्व अर्थात् फल का साधन रूप होने से तथा अज्ञात रूप होने से वह याग विधेय रूप है अतः द्वितीय दोष त्रिक नहीं है तथा गुण के प्रति (वाजपेय गुण के प्रति) उद्देश्य मानत्व अनुद्यमानत्व रूप दूसरे दोष त्रिक से आक्रान्त नहीं होगा। ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं

सकृदुच्चरन्यजतिरेष गुणं
न फलं च सङ्गमयितुं क्षमते।।
कथितत्रिकद्वयविरोधवशाद्

यजिवस्तुनीति ननु नीतिविदः।।४६१।।

अन्वयः= एष यजतिः सकृत् उच्चरन् यजिवस्तुनि गुणं फलं च सङ्गमयितुं न क्षमते इति नीतिविदः ननु।।

अन्वयार्थ= यह यजिधातु एक ही बार उच्चरित होकर याग वस्तु में गुण तथा फल का एक साथ अन्वय नहीं कर सकता। ऐसा नीतिनिपुण कहते हैं।।

सकृदुच्चरन्निति। सकृदुद्गच्छन् सकृच्छ्रूयमाण इति यावत्। सकृच्छ्रुतो हि यजतिः सकृदेव यागं प्रकाशयेत्। यदि "यागेन स्वाराज्यं भावयेत्" इति करणत्वविशिष्टतया यागमुपस्थापयति तदा करणेन तेन गुणस्य करणतयाऽन्वयासम्भवात्तदर्थं तदानीमेव तं साध्यतयाऽप्युपस्थापयतीति वाच्यम्। अन्यथाऽऽकाङ्क्षायोग्यतयोरसम्भवात्। करणत्वं च तदा सिद्धसत्ताकस्यैव धर्मः, साध्यत्वं च तदाऽसिद्धसत्ताकस्येति तयोरन्यनिरूपितयोरपि युगपदसम्भावात्स्वरूपतः प्रतीतितश्च विरोध एव, अग्रे पूर्वमिति च शब्दाभावाद् गुणफलसमभिव्याहृतयजिना तत्साध्यत्वसाधनत्वविशिष्टयोरभेदप्रतीतेस्तयोरपि यौगपद्यस्य वक्तव्यत्वात्। दण्डसाध्येत्युक्त- दृष्टान्तेपि विशिष्टयोर्विरोधः। एवमुपादेयत्वोद्देश्यत्वयोरपि सिद्धासिद्धधर्मयोर्युगपद्विरोध एव। तथा विधेयत्वानूद्यमानत्वयोरिति यजिना सकृत्प्रकाशिते वर्णितं त्रिकद्वयं नान्वेतुमर्हति। अथ करणत्वादि त्रितयविशिष्ट विषया प्रतीतिरन्यान्या च साध्यत्वादि त्रिकविषयेति चेन्न। सकृच्छ्रुतयजेस्तदयोगात्। वैरूप्ये च तन्त्रानवतारादतः स्वाराज्यकामो यजेत यजेत वाजपेयेनेति यज्यावृत्त्या प्रतीतिद्वये वाक्यभेदः स्यात्। स चैकवाक्यत्वसम्भवे न युक्तः, तस्माद्वाजपेयेनेति न गुणविधिः किं तु कर्मनामेति प्राचि तन्त्रे स्थितम्। तदिदं नीतिविद आहुरिति दर्शितम्। अक्षरार्थः स्फुट एव सङ्गमयितुं यजिवस्तुनीति सम्बन्धः।।४६१।।

सकृदुच्चरन्निति= एक बार सुना हुवा शब्द, एक बार सुना हुवा यजति शब्द एक बार याग को प्रकाशित करेगा। यदि "यागेन स्वाराज्यं भावयेत्" यदि याग से स्वर्ग की कामना करें, ऐसे करणत्व विशिष्ट याग की स्थापना करें तब तो वह याग करण रूप से याग के गुण के साथ करण रूप से अन्वय होने से उसमें उद्देश्यत्व असम्भव है, गुण के प्रति याग के अन्वय के लिये याग को साध्य रूप से यह वाक्य स्थापित करता है, ऐसा कहना पडेगा। इति वाच्यम्। ऐसा कहना पडेगा। नहीं तो आकाङ्क्षा योग्यता इनके वहां न होने जैसे अन्वय सम्भव नहीं हो पायेगा। रह गई करणत्व की बात वह तो सिद्धसत्ता वाले पदार्थ का ही धर्म है। और साध्यत्व तो असिद्ध पदार्थ का धर्म है।

दोनों के निरूपक अर्थात् करणत्व के तथा साध्यत्व के निरूपक क्रमशः सिद्धत्व तथा असिद्धत्व होने पर भी दोनों युगपत् नहीं हो सकते। यदि कहो कि दोनों की करणत्व की तथा साध्यत्व की प्रतीति स्वरूपतः हो। न कि सिद्धत्वेन रूप से अथवा असिद्धेत्वन रूपेण। तो इसका विरोध है। क्योंकि करणत्व और साध्यत्व दोनों ही निरूपकाधीन है। आगे तथा पीछे ऐसा कोई शब्द भी है नहीं जिससे गुण तथा फल के समभिव्याहार से (यजि से) यज्ञ से या याग से तसाध्यत्व विशिष्ट तत्सा- धनत्वविशिष्ट इन दोनों का अभेद हो। तत्पद से याग का ग्रहण करना क्योंकि इसके लिये तो दोनों की साध्यत्व तथा साधनत्व की युगपत् प्रतीति होनी चाहिये। दण्ड साध्य घट इत्यादि दृष्टान्त में भी विशिष्ट का विरोध ही है। यहां युगपत् घट में उद्देश्य विधेयभाव नहीं बना सकते।।

इसी प्रकार उपादेयत्व (विधेयत्व) उद्देश्यत्व इनका भी सिद्धत्व तथा असिद्धत्व धर्म का युगपद् विरोध होने से विरोध ही है। इसी प्रकार से विधेयत्व अनूद्यमानत्व इन दोनों का भी (यजि से) यज्ञ से एक बार उच्चरित करने से (या सुनने से) बताया हुवा त्रिक द्वय दोष नहीं लग पायेगा।

आशंका= इसलिये करणत्वादित्रितय विशिष्ट विषयक प्रतीति अन्य है तथा साध्यत्वादि त्रिकविषयक प्रतीति अन्य है इति चेन्न। ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर।

समाधान= यह सब ठीक नहीं है। सकृत् यजेस्तदयोगात् एक बार उच्चरित किये हुये यजि में यह सब सम्भव नहीं है। इस वाक्य को अनेक रूप में लेना सो ठीक नहीं है। इसलिये स्वाराज्य कामो यजेत्=यजेत् वाजपेयेनेति इस प्रकार यज्य की आवृत्ति (यज्ञ की (याग) की आवृत्ति करते हैं) करते हैं तो दो प्रतीति होने से वाक्य भेद होगा। और जब एक वाक्य से ही यजि आवृत्ति करते हैं तो दो प्रतीति होने से वाक्य भेद होगा। और जब एक वाक्य हो तो यजि आवृत्ति की आवश्यकता नहीं है। वहां वाक्य भेद मानने की जरूरत नहीं है। इसलिये वाजपेयेनेति यह गुणविधिपरक नहीं है। किन्तु वाजपेयेनेति यह तो कर्म का ही नाम है। इस प्रकार पूर्वमीमांसा में स्थित है। इसप्रकार से नीतिविद् लोग करते हैं। अक्षरार्थ स्पष्ट है। सङ्गमयितुं यजिवस्तु नीति के साथ यह योग नहीं हो सकता। अर्थात् ब्रह्मज्ञान में विधि नहीं है।

यथा वाजपेये वैरूप्य प्रसङ्गाद् गुणविधिर्न सम्भवति एवमात्मावगतावपि तत एव विधिर्न सम्भवतीत्युक्तमुपसंहरति—

जिस प्रकार वाजपेय में वैरूप्यप्रसङ्गभय से (अनेक वाक्य के भय से) गुणविधि का स्वीकार नहीं किया गया। इसी प्रकार आत्मावगमन में भी विधि नहीं है इस प्रकार उक्त बात का उपसंहार कर रहे हैं।

इति वाजपेयगतनीतिवशा-
दपि नात्मवस्तुविषयावगतौ।।
विधिरस्ति तेन विधिशून्यतया
परमात्मवस्तुविषयोपनिषत्।।४६२।।

अन्वयः= इति वाजपेयगतनीतिवशाद् अपि आत्मवस्तुविषयावगतौ विधिर्नास्ति, तेन विधिशून्यतया उपनिषद्परमात्मवस्तु विषया।।

अन्वयार्थः= इस प्रकार वाजपेय वाक्यगत न्यायानुसार आत्मज्ञान में विधि नहीं है। विधि शून्य होने के कारण उपनिषद् वाक्य परमात्मवस्तुमात्र के बोधक सिद्ध होते हैं।

इति याजपेयेति। विध्यसम्भवफलमाह-तेनेति।।४६२।।

इति वाजपेयेनेति= विधि के न होने से फल बता रहे हैं। तेनेति। विधि शून्य होकर उपनिषद् परमात्म विषय परक है ब्रह्मविषयपरक है, यह बात सिद्ध हुई।

एवं निर्गुणवाक्यानां- विधिशून्ये स्वप्रधाने ब्रह्मणि समन्वयो निरूपितः। इदानीं सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिसगुणवाक्यानामपि निर्गुणे ब्रह्मणि समन्वये तात्पर्य्यमस्त्येव, वस्तुतो निर्गुणब्रह्मण एव मायया गुणवत्तया प्रतीतेरित्याशयेनाह-—

सगुण वाक्यानां निर्गुणे समन्वयः= सगुण वाक्यों का निर्गुण में समन्वय है। इस प्रकार निर्गुण वाक्यों का विधिशून्य स्वप्रधान ब्रह्म में समबन्वय बता दिया है। अब सर्वं खल्विदं ब्रह्म "इत्यादि सगुण वाक्यों को भी निर्गुण ब्रह्म में समन्वय होने से तात्पर्य है। वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म ही माया के द्वारा गुणवान् होकर सगुण बन जाता है। इस आशय से कहा जा रहा है।

सगुणवाक्यमपीह समन्वितं
भवति निर्गुणस्तुनि सर्वशः।।
न खलु निर्गुणवस्तुसमन्वयं
न सहते सगुणस्य समन्वयः।।४६३।।

अन्वयः— सर्वशः सगुणवाक्यं अपि निर्गुणवस्तुनि समन्वितं भवति। सगुणस्य समन्वयः निर्गुणवस्तु–समन्वयं न खलु सहते इति न।।४६३।।

अन्वयार्थः— समस्त सगुण वाक्यों का भी निर्गुण वस्तु में समन्वय होता है। सगुणवाक्य का सगुण अर्थमें जो समन्वय है वह निर्गुण वस्तु के समन्वय को सहन नहीं करता ऐसी बात नहीं है।।४६३।।

सगुणवाक्यमिति। इह वेदान्ते सर्वश सर्वं सगुणब्रह्मवाक्यमिति सम्बन्धः। ननु सगुणविषयवाक्यस्य निर्गुणतात्पर्यं विरुद्धमित्याशङ्क्य वक्ष्यमाणविधया नास्ति विरोध इत्याशयेनाह न खल्विति। सगुणस्य तद्विषयवाक्यस्य।।४६३।।

सगुणवाक्यमिति— इस वेदान्त में, सर्वशः— सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादि वाक्य। निर्गुण वस्तु परक ही है।

आशंका— सगुण विषयक वाक्य का निर्गुण में तात्पर्य तो विरूद्ध है

समाधान— आगे हम बतायेंगे तदनुसार विरोध नहीं है। इस आशयसे कहा जा रहा है। न खल्विति— सगुणस्य— सगुणविषयक वाक्य का समन्वय निर्गुणवस्तु के साथ सहन नहीं होगा ऐसी बात नहीं है।

ननु सगुणं कथं वस्तुतो निर्गुणं येन वाक्यस्य तत्र तात्पर्ये तत्रापि तद्भवेदित्याशङ्क्य निर्गुणे गुणसंसर्गस्याध्यस्तत्वेन तदधिष्ठानस्य तदापि निर्गुणत्वानपायादित्याशयनाह—

आशंका— सगुण कैसे निर्गुण हो सकता है? जिस वाक्य का वहां तात्पर्य हो तो उस वस्तु को वहां होना चाहिये, (यस्य वाक्यस्य यत्र तात्पर्यं तत्रैव तद्भवेदिति)

समाधान— निर्गुण में भी गुण संसर्ग का (सम्बन्ध का) अध्यास है अर्थात् गुणसंसर्ग अध्यस्त है। और अध्यस्त के लिये अधिष्ठान की जरूरत तो पडती ही है। उस गुण संसर्ग का अधिष्ठान तो निर्गुण है ही, इसे कोई हटा नहीं सकता। इस आशय से कहा जा रहा है।

सत्यासत्यवपुस्तथाहि सगुणं ब्रह्मास्य विद्या तथा
तद्वत्तद्विषयस्य वेदवचसस्तात्पर्य्यमेवंविधम्।।
तेनावान्तरमस्य वेदवचसस्तात्पर्य्यमन्यादृशं
चान्यन्निर्गुणवस्तुतत्त्वविषयं संकीर्त्यते भागशः।।४६४।।

अन्वयः— तथाहि सगुणं ब्रह्म सत्यासत्यवपुः, अस्य विद्या तथा। तद्वत् तद्विषयस्य वेदवचसः तात्पर्यं

एवं विधम्। तेन अस्य वेदवचसः अवान्तरं तात्पर्यं अन्यादृशं अन्यत् निर्गुणवस्तुविषयं इतिभागशः संकीर्त्यते।।४६४।।

अन्वयार्थः= सगुण ब्रह्म सत्यासत्य स्वरूप (सत्य असत्य विशिष्ट स्वरूप) होता है। इसकी विद्या भी उभयविषयक होती है। वैसे सगुण विषयक वेद वाक्यों का तात्पर्य की सगुणविषयक ही है। इसलिये वेद वचन का अवान्तर तात्पर्य अन्यविध (विशिष्ट वस्तु में) है और महातात्पर्य निर्गुण वस्तुविषयक है, इसप्रकार विभागशः तात्पर्य बताया करते है।।४६४।।

सत्यासत्येति। न खलु निर्गुणवस्त्वित्यादिनोक्तमर्थं तथा हीति परामृशति। तथाहि सगुणं ब्रह्म सत्यासत्यवपुस्तस्य विद्या तद्गोचरं ज्ञानं तथा सत्यासत्यवपुः सत्यासत्यविषयेति यावत्। तद्वत् ज्ञानवत्तद्विषयस्य सगुणब्रह्मविषयस्य वेदवचसस्तात्पर्य्यमप्येवंविधं सगुणनिर्गुविषयं सगुणज्ञानस्योभयविषयत्वात्तज्जननसामर्थ्यरूपं तद्वाक्यतात्पर्य्यमपि तथेत्यर्थः। नन्वेकस्य वाक्यस्यैवं तात्पर्यभेदो न युक्तः तद्भेदप्रसङ्गादित्याशङ्क्यैकमेव सगुणविषयं तात्पर्य्यं विषयोपाधिना भिन्नं, तत्रापि गुणांशस्य कल्पितत्वात्परमपुरुषार्थत्वाभाच्चावान्तरम्। ब्रह्मांशे तु तत् परमपुरुषार्थसाधनतया सत्यविषयतया च परममिति न तात्पर्यस्य स्वतो भेदो न वा तदुभयत्र तुल्यमतो न वाक्यभेद इत्याशयेनाह- तेनेति। अस्य सगुणविषयस्यान्यादृशं निर्गुणवाक्यतात्पर्याद्विलक्षणं गुणांश इति शेषः। भागशो भिन्नविषयप्रयुक्तभेदेनेत्यर्थः।।४६४।।

सत्यासत्येति न खलुनिर्गुणवस्त्वादिसेयुक्त अर्थ का विचार कर रहे है। तथाहि सगुणं ब्रह्म सत्यासत्यवपुस्तस्य विद्या तद्गोचरं ज्ञानं तथा= सगुण ब्रह्म में दोनों सत्य और असत्य दोनों स्वरूप विद्यमान है, विद्या= ब्रह्म विषयक ज्ञान, इस ज्ञान का विषय सत्य और असत्य दोनों ही है। तद्वत् ज्ञानवत्, ज्ञान के समान तद्विषयस्य= सगुण ब्रह्म विषय का, वेदवचसस्तात्पर्यमेवं विधम्= सगुण तथा निर्गुणविषयक यह ज्ञान है, अर्थात् सगुण ज्ञान उभय प्रकारक (उभयविषयक) है, इसप्रकार वेद वचन का तात्पर्य है, अर्थात् ऐसे ज्ञान का जनक सामर्थ्यं रूप "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस वाक्य का तात्पर्य है। तात्पर्य सगुण विषयक ज्ञान का विषय सगुण तथा निर्गुण है वैसे तज्ज्ञान जनक वेद वाक्य भी दोनों सगुण तथा निर्गुण विषयक है।।

आशंका= एक ही वाक्य के अन्दर ऐसा दो प्रकार का सामर्थ्य युक्तियुक्त नहीं है अन्यथा वाक्य भेद प्रसङ्ग आयेगा।

समाधान= सगुणविषयक का तात्पर्य विषय उपाधि से भिन्न भिन्न है, न कि वाक्य भेद से भिन्न भिन्न है। इसमें भी गुणांश को कल्पितता होने के कारण उसमें परम पुरुषार्थता नहीं है, यही अन्तर है। ब्रह्म अंश को लेकर जो परमपुरुषार्थता है अर्थात् परमपुरुर्षा का वह साधनरूप, तथा ज्ञान का विषय सत्य रूप वह ब्रह्म होने से वह (परमम्) उत्कृष्ट

है, इसमें तात्पर्य का स्वतः भेद नहीं है, और नहीं गुण और ब्रह्म दोनों ही यहां तुल्य माने जाते हैं,

इसलिये वाक्यभेद का प्रसङ्ग उत्पन्न नहीं होता है। इस आशय से कहा जा रहा है। तेनेति= इस सगुण विषयक वाक्य का तात्पर्य अन्य प्रकार का तात्पर्य निर्गुण विषयक वाक्य तात्पर्य से विलक्षण स्वरूप गुणांश को लेकर हो जाता है। भागशो भिन्न भिन्न विषय–होनेके कारण ऐसा विभाजन हो जाता है।

सगुणवाक्यजन्यं ज्ञानं ब्रह्मणि गुणवैशिष्ट्यं निर्गुणं ब्रह्म च विषयीकरोतीत्येतल्लौकिक-भ्रमदृष्टान्तेनाह–

संगुणवाक्य जन्य ज्ञान ब्रह्म में गुणवैशिष्टय को तथा निर्गुण ब्रह्म को भी विषय करता है इस बात को लौकिक भ्रम दृष्टान्त से कह रहे हैं–

रूप्यज्ञानं रजतमिदमित्येवमुत्पद्यमानं
सत्यासत्यं विषयमपृथग्दर्शयत्येकमेव।।
तद्वन्मानं सगुणविषयं सत्यमिथ्यावभासं
संसृष्टार्थद्वयमिति दृढं दर्शयत्येकमेतत्।।४६५।।

अन्वयः= इदं रजतं, इत्येवं एकरूप्यज्ञानं सत्यासत्यविषयं अपृथक् दर्शयति तद्वत् सगुणविषयं सत्यमिथ्यावभासं भानं संसृष्टार्थद्वयं एकमेतत् इति दृढ़ं दर्शयति।।

अन्वयार्थः= इदं रजतम्= इस प्रकार का उत्पन्न रजत ज्ञान सत्य (शुक्ति) और असत्य (रजत) के विशिष्ट रूप से दिखता है। वैसे ही सगुणविषयक सत्यासत्यांवभासक ज्ञान दो संसृष्टार्थों का एक विशिष्ट रूप में दिखाते है।

रूप्यज्ञानमिति। एकमेव रूप्यज्ञानमिति संबन्धः। सत्यं चासत्यं चेति द्वन्द्वैकवद्भावः। अपृथक्कल्पिताभेदम्। दार्ष्टान्तिकमाहतद्वन्मानमिति। सत्यमिथ्यावस्तुनोरवभासो यस्मान्मानात्त-त्सत्यमिथ्यावभासम्। ननु किं पृथक्पृथक्त्तयोवभासः, नेत्याह- संसृष्टार्थद्वयमिति। परस्परं संसृष्टमर्थद्वयमित्यर्थः। इतिशब्दो दार्ष्टान्तिकोपसंहारार्थः। दृढं निःसंदिग्धम्। तद्वत् रूप्यज्ञानवत् एतदेकं सगुणविषयं सत्यमिथ्यावभासं मानं संसृष्टार्थद्वयं दृढं दर्शयतीति संबन्धः।।४६५।।

रूप्यज्ञानमिति= एक ही रूप्य ज्ञान ऐसा सम्बन्ध है। सत्य और असत्य ऐसा द्वन्द्व समास लेना है। अपृथक्= कल्पित अभेद स्वीकृत है। दार्ष्टान्त में समझा रहे है तद्वन्मानमिति=

सत्य और मिथ्या वस्तु का प्रकाशन जिस प्रमाण से होता है वह प्रमाण सत्य और मिथ्या का अवभासक है। इद रजतं में रज्जु भाग में सत्यत्व तथा रजत में मिथ्यात्व है सर्वज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तम्।।

आशंका= क्या यह अवभास सत्य और मिथ्या का अलग अलग है क्या?

समाधान= नहीं। संसृष्टार्थद्वयमिति= परस्पर दोनों अर्थ संलग्न है। अलग अलग (पृथक् पृथक) नहीं है। इति शब्द से दार्ष्टान्त में उपसंहार करने के लिये है। दृढम्= निःसंदिग्धः, निश्चित रूप से। तद्वत्= रूप्यज्ञान के समान है। यह तो एक सगुणविषयक सत्यमिथ्यावभासक प्रमाण जो दोनों अर्थो को संसृष्ट (सम्बन्धित है) ऐसा दृढ रूप से बताया है, यह सम्बन्ध है।

एवं वेदान्तानां सगुणनिर्गुणब्रह्मविषयाणं निर्गुणे ब्रह्मणि तात्पर्य्यमित्युपपादितम्। ननु भवन्मते वेदस्य तात्पर्य्यमेव न सिद्ध्यति तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं हि शब्दे तात्पर्य्यम्, न चापौरुषेये तत्संभवतीत्याशङ्क्य तत्र तात्पर्य्यस्वरूपमाह—

इस प्रकार वेदान्त के सगुण निर्गुण ब्रह्म विषयों का निर्गुण ब्रह्म में तात्पर्य है यह उपपादित किया।

आशंका= आपके वेदान्त मत में ती वेद का तात्पर्य ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। क्योंकि तात्पर्य तो उसे कहते हैं कि जिस प्रतीति के इच्छा को लेकर शब्दों को उच्चरित किया जाय वही उन उन शब्दों का तात्पर्य है। लेकिन वेद तो अपौरुषेय होने के कारण तत्प्रतीति के इच्छानुसार उच्चरितत्व नहीं आ सकता। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर तात्पर्य स्वरूप को बता रहे हैं।

तद्बुद्धिमात्रफलतैव च तत्परत्वं
वेदान्तवादिसमये न तु शेषभावः।।
शेषत्वमक्षरकलापगताप्तिमात्रं
प्रत्येव नाध्ययनमर्थधियोऽपि शेषः।।४६६।।

अन्वयः= वेदान्तवादिसमये तद्बुद्धिमात्रफलतयैव च तत्परत्वम्, शेषभावः नतु (अध्ययनस्य) अक्षर कलापगताप्तिमात्रं प्रत्येव शेषत्वम्, अध्ययनम् अर्थधियो विशेषः न।।

अन्वयार्थः= वेदान्त सिद्धान्त में ततद् बुद्धि मात्रक फल को ही तात्पर्य माना है, शेषत्व को नहीं। अध्ययन अक्षर ग्रहण मात्र के प्रति ही शेष है, लेकिन अर्थज्ञान के प्रति नहीं।

तद्बुद्धिमात्रेति। शब्दस्य यत्रार्थे तात्पर्य्यं संमतं तद्बुद्धिमात्रानुकूलशक्तिरेव तत्र तात्पर्य्यमित्यर्थः इयमेव शब्दस्य तात्पर्य्यं न तु वक्तुरिच्छा, वेदे तदभावात्। लौकिकवाक्येऽपि तद्वृत्तिशक्तिविशेषस्यैव तत्तात्पर्य्यत्वे संभवति व्यधिकरणेच्छायास्तत्कल्पनायोगात्। इच्छयोच्चरितत्वस्यापि सापेक्षत्वान्निरपेक्षशक्तिविशेषस्यैव तस्योचितत्वात्। लौकिकवाक्ये वक्तुरिच्छा तात्पर्यग्राहकतयाऽपेक्षितेति नोन्मत्तादिवाक्ये तत्प्रसक्तिरिति लोके वेदे च तद्बुद्धिमात्रफलतैव तात्पर्य्यमित्यर्थः। अर्थवादादीनां तदर्थप्रतीतिफलत्वेऽपि विधावेव तात्पर्य्याभ्युपगमात्तत्रातिव्याप्तिपरिहाराय मात्रेत्युक्तम्। एवं च तेषां तद्बुद्धिमात्रं न फलम्, अपि तु विधिवाक्यार्थबुद्धिरिति न स्वार्थे तात्पर्य्यप्रसङ्ग इति भावः। महातात्पर्य्याभिप्रायं वा मात्रपदम्। बुद्ध्यन्तराशेषफलवद्बुद्धिफलकत्वं महातात्पर्य्यम्। प्रत्येकमङ्गप्रधान-वाक्यगतान्तरतात्पर्ये प्रसक्तिवारणाय बुद्ध्यन्तराशेषेति। अङ्गप्रधानवाक्यैकवाक्यरूपमहावाक्य-स्यैव महातात्पर्य्यं तच्चोक्तरूपमेवेति नासंभवः। नन्वध्ययनविधेरर्थावबाधफलत्वाद्वेदस्यार्थाव-बोधशेषतैवार्थे तात्पर्य्यमिति जैमिनीयैराश्रितम्। एवं भवद्भिरपि तदेव किमिति नाङ्गीक्रियते इत्याशङ्क्याह— वेदान्तवादीति। वेदान्तप्रामाण्यवदनशीलानां सिद्धान्त इत्यर्थः। कुत इत्यत आह-शेषत्वमिति। अध्ययनस्येति शेषः। अक्षरकलापः अक्षरसमूहस्तद्गताप्तिमात्रं प्रत्येवेत्यर्थः। अध्ययनविधेः स्वाध्यायावाप्तिमात्रफलतया तां प्रत्येव तस्य शेषत्वमिति न तद्बलाद्वेदस्यार्थाव-बोधशेषत्वमित्यर्थः। एवकारव्यवच्छेद्यमाह नाध्ययनमिति।।४६६।।

तद्बुद्धिमात्रेति= शब्द का जिस अर्थ में तात्पर्य सम्मत हो तादृशार्थ बुद्धि मात्रानुकूलशक्ति ही वहां तात्पर्य है। यही शब्द का तात्पर्य है न कि वक्ता की इच्छा या वक्ता की इच्छानुकूल उच्चरितत्व। वेद में इसका तो अभाव है। लौकिक वाक्य में भी जिस शब्द की जिस अर्थ में वृत्ति है, ऐसी शक्ति विशेष को ही उस अर्थ में तात्पर्य माना जाता है। पट विषयक इच्छा से उच्चरित शब्द घटार्थक कल्पनायुक्त नहीं हो सकता। व्यधिकरण इच्छा में तादृश अर्थकल्पकत्व नहीं हो सकता। इच्छा से उच्चरित शब्द तो सापेक्ष हुवा क्योंकि इच्छा तो कारण है, लेकिन वेद में तो निरपेक्ष शक्ति विशेष ही तात्पर्य ग्राहक माननी होती है। लौकिक वाक्य में वक्ता की इच्छा तात्पर्य ग्राहक होने से वह सापेक्ष है, इसलिये पागलों के वाक्य में तात्पर्य ग्राहकत्व नहीं आ सकता। अतः लोक और वेद इन दोनों का समन्वय कराने के लिये शब्द का जिस अर्थ में तात्पर्य संमत है, तादृशार्थ बुद्धि मात्रानुकूल शक्ति ही उसमें तात्पर्य है। अर्थात् तादृशार्थबुद्धि मात्र फल ही उसमें तात्पर्य है। अर्थवादादिक शब्दार्थ प्रतीति फलादिक होने पर भी तात्पर्य तो विधि में ही माना जाता है न कि अर्थवादात्मक वाक्य में। इसलिये अर्थवाद में अतिव्याप्ति हटाने के लिये मात्र

पद का प्रयोग किया। इस प्रकार अर्थवाद का तद् बुद्धि मात्र ही फल नहीं है। किन्तु अर्थवादका फल तो विधिवाक्यार्थ बुद्धि है। अतः अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य प्रसङ्ग नहीं होने से अतिव्याप्ति दोष हट जाता है, यह भाव है।

अथवा महातात्पर्य के अभिप्राय से मात्र पद का प्रयोग किया है। महातात्पर्य इसे कहते हैं "बुद्धयन्तराशेषफलवद्बुद्धि फलकत्वं महातात्पर्यम्" प्रत्येक अङ्ग प्रधान वाक्य में अवान्तर तात्पर्य होता है, उसमें अतिव्याप्ति को हटाने के लिये बुद्धयन्तराशेष यह पद दिया है। इसके कारण प्रत्येक अङ्ग प्रधान वाक्य में बुद्धि फलकत्व होने पर भी बुद्धयन्तराशेषफलवद् यह विशेषण नहीं होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। अङ्गप्रधान वाक्यैकवाक्य इसे महावाक्य कहते हैं। उसी महावाक्य का जो तात्पर्य उसे महातात्पर्य कहते हैं। जो हम पहले ही कह चुके हैं अतः असम्भव भी नहीं हैं। तात्पर्य यह कि प्रत्येक अङ्ग प्रधान वाक्य के साथ एक वाक्यता तो महावाक्य में होती है। अङ्गी जो वाक्य है उसी के साथ होगी। अतः ऐसे वाक्य में बुद्धयन्तराशेषफलवत् बुद्धिफलकत्व लक्षण समन्वित होने से असम्भव नहीं होगा। जैसे रामायण का मुख्य उद्देश्य रामभक्ति है लेकिन सप्तसोपानान्तर्गत विभिन्न अङ्ग (श्रृंगारादि रस) विभिन्न विषयों का प्रतिपादन करने के बाद भी सबका तात्पर्य एक रामभक्ति में आता है। यही महातात्पर्यार्थ है।।

आशंका= "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस अध्ययन विधि से अर्थावबोध फल प्राप्त है। इसी प्रकार से वेद से भी। अर्थावबोध- शेषतः इसी अर्थ में तात्पर्य रहने दो। जैमिनी जी ने भी ऐसा स्वीकार किया है। इसी प्रकार आप भी इसी को क्यों नहीं स्वीकृत करते हैं ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहा है– वेदान्तवादीति- वेदान्त को प्रामाण्य रूप से बोलने वालों का सिद्धान्त। अर्थात् यह जैमिनी की स्वीकारोक्ति हमें अभिमत नहीं है। क्यों तो कहते है शेषत्वमिति- अध्ययन का। अक्षरकलापः= अक्षर समूह। आप्ति मात्रम्- प्राप्तिमात्र अध्ययन विधि तो स्वाध्याय प्राप्ति मात्र फलक (फल परक) होने से ऐसी स्वाध्याय की विधि के प्रति ही अध्ययन विधि शेष अर्थात् अङ्ग है। और स्वाध्याय विधि शेषि होगी। लेकिन इस प्रकार से वेद को अर्थावबोध का शेषत्व नहीं माना जाता। एवकार से किसका व्यवच्छेद किया जायेगा सो बताते हैं नाध्यनमिति= अध्ययन विधि, अर्थेऽपि अर्थज्ञान के प्रति भी शेष नहीं है। किन्तु अक्षर कलापगताप्ति मात्र फलम्।। स्वाध्याय की प्राप्ति यही फल स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि वाक्य का है। स्वाध्यायोऽद्धेतव्यः यह विधि गुरु मुख से वेदाक्षर मात्र का विधान करती है न कि समस्त वेदार्थावबोधन का विधान करती है।।

नन्वक्षराप्तेरपुरुषार्थत्वात्कथमध्ययनविधेस्तच्छेषत्वम्। न चावाप्तेभ्योऽक्षरेभ्योऽर्थावबोधो

भवतीति वाच्यम्। तर्ह्यर्थावबोधशेषत्वमेवोचितमिति चेत्, न। पश्वन्नादिवत्परम्परया पुरुषार्थस्यापि भाव्यत्वसंभवेनाध्ययनस्य तच्छेषत्वात् वस्तुतोऽध्ययनस्यार्थावबोधः फलं, तथापि न तस्य तच्छेषत्वं मानाभावात्। अर्थावबोधफलवादिनाऽप्यध्ययनस्य तथावगतं स्वाध्यायशेषत्वमपरित्यज्यैव तत्फलशेषत्वस्यैव वक्तव्यत्वात् तत्फलतायास्तच्छेषत्वेनाव्याप्तत्वाच्चेत्याशयेनाह–

आशंका= अक्षरों की प्राप्ति (स्वाध्याय की प्राप्ति) तो पुरुषार्थ है नहीं फिर अध्यन विधि उसका शेष कैसी मानी गई? यदि कहो कि अक्षर प्राप्ति के बाद ही तो अर्थावोध (अर्थ का ज्ञान) होता है। तो फिर अर्थावबोधशेषत्व ही अध्ययन विधि में रहने दो।

समाधान= नहीं। जैसे पशु जिस खुराख को खाता है उसे परम्परा से पशुअन्न ही कहते हैं, इसी प्रकार परम्परा से पुरुषार्थ को भी भाव्यत्व संभावित मानते हैं, और अध्ययन विधि उसका शेष बनती है। यद्यपि साक्षात् (पुरुषार्थ) अक्षराप्ति से नहीं बन रहा है लेकिन परम्परा से (पुरुषार्थ) वेदार्थावबोध अक्षराप्ति से होने के कारण विधि उसका शेष है। वास्तविकता तो यह है कि अध्ययन का अर्थावबोध ही फल है। तो भी अध्ययन विधि को अर्थावबोध का शेष नहीं माना गया क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है।

अर्थावबोध फल वादि भी अध्ययन को स्वाध्याय शेषत्व जो प्राप्त है उसका परित्याग न करते हुये, स्वाध्याय रूप फल शेषत्व ही वक्तव्य है, लेकिन स्वाध्याय रूपी फल तथा अध्ययन विधि– इन दोनों में फल स्वाध्याय रूपी फल का अध्ययन विधि शेष है ऐसी व्याप्ति है नहीं इस आशय से कहा जा रहा है।

तच्छेषभावमनपेक्ष्य च तत्फलं स्या-
दाधानवन्न हि तदङ्गमिह क्रतूनाम्।।
अग्न्यङ्गमेव हि तदिष्टमथापि तस्य
सर्वक्रतुष्वधिकृतिः फलमभ्युपेतम्।।४६७।।

अन्वयः= तत् अर्थज्ञानं शेषभावं अनपेक्ष्य च तत्फलं स्यात, आधानवत्। तत् इह क्रतूनां अङ्गं न हि।। तत् अग्न्यङ्गमेव हि दृष्टम्। अथापि तस्य सर्वक्रतुषु अधिकृतिः फलं अभ्युपेतम्।।

अन्वयार्थः= वह अध्ययन शेषत्व की अपेक्षा न करके अर्थज्ञानफलक होता है। जैसे कि आधान (शेष न होकर ही सर्वक्रतु निष्पत्ति फलक होता है) वह आधान दर्शन क्रियाओं का अङ्ग नहीं होता। किन्तु वह आधान अग्नि का ही अङ्ग माना गया है। तथापि उस आधान का निखिल यागों में अधिकार फल मानते हैं।।

तच्छेषभावमिति। तदर्थज्ञानं फलमस्याध्ययनस्य तत्तत्फलम्। तत्फलस्यापि तदशेषत्वे उदाहरणमाह-आधानवदिति। अग्न्याधानवदित्यर्थः। दृष्टान्तं निषेधमुखेन विशदयति- न हीति। हिर्हेतौ। तत् आधानम्। क्रतूनां दर्शपूर्णमासादियागानाम्। यस्मादाधानं न दर्शादिक्रतुप्रकरणे विहितमनारभ्याधीतत्वात्। नापि पर्णतान्यायः, स्वतो व्यापाररूपत्वात् अग्निशेषत्वाच्च। तस्मात्तद्दर्शादेर्नाङ्गंकिन्त्वग्नीनिति श्रुत्याऽग्नीनां शेषित्वावगमात्तदङ्गमेव तदिष्टम्। एवमपि तदधीनाग्न्यायत्ता उत्तरक्रतूनां सिद्धिः साग्नीनुद्दिश्यैव दर्शादिविधानात्। त्रैवर्णिकानां तेष्वधिकृतिश्च तत्फलं मीमांसकैरभ्युपेतमिति न तत्फलता तच्छेषत्वनियता येन अध्ययनस्यापि तच्छेषत्वं भवेदिति भावः।।४६७।।

तच्छेषभावमिति= अध्ययन विधि का फल है अर्थज्ञान। लेकिन यह फल भी अध्ययन विधि का शेष नहीं होता है, इसका उदाहरण दे रहे हैं। आधानवदिति- अग्नि में आधान के समान। दृष्टान्त को निषेध मुख से स्पष्ट कर रहे हैं। न हीति हि= इस हेतु से। तत्= आधान। क्रतूनां- दर्शपूर्णमासादि यागों के बारे में। जब कि आधान दर्शादिक्रतुओं में विहित रूप में न होने से, अनारम्भणीय है, चाहे उसका अध्ययन में पाठ हो। इसी प्रकार आधान पर्णतान्याय से दर्शादि प्रकरण में आ सकता है। क्योंकि आधान तो खुद व्यापार रूप है तथा अग्नि का शेष भी है। आधान पर्णता न्याय यज्ञ के पूर्णाहुति के समय जहुपात्र का प्रयोग होता है। वह पलाशका होता है ऐसी विधि है यह यज्ञ का अङ्ग नहीं है तो भी परम्परा से यज्ञोपकारिता है इसी प्रकार आधान अग्नि का संस्कार का अङ्ग है। और अग्नि द्वारा यज्ञ का उपकारक है, किन्तु साक्षात् यज्ञका अङ्ग नहीं माना जाता। इसी प्रकार अध्ययन विधि अक्षर ग्रहण मात्र फलक है तथापि अर्थाबोध का वह कारण होने पर भी तद्द्वारा अर्थावबोधका अङ्ग नही है किन्तु परम्परा से प्रयोजक है।

इसलिये आधान दर्शादि याग का अङ्ग नहीं है। किन्तु अग्नीनिति श्रुति से अग्नियों को शेषित्व भाव प्राप्त होने से आधान को अग्नि का अङ्ग भाव ही मानना उचित है। (लेकिन शेष शेषि भाव नहीं) इसके बावजूद भी दर्शादि अधीन ही अन्य अग्नि होने के कारण उत्तरवर्ति क्रतूओं की सिद्धि पुरुष को उद्देश्य बनाकर ही दर्शादिक का विधान किया जाता है। त्रैवर्णिक का उसमें दर्शादि में अधिकार है और इसका फल मीमांस को ने स्वीकार किया है। दर्शादिक का फल दर्शादिक का शेष हो, ऐसा स्वीकार नहीं किया गया। जिससे अध्ययन को भी हम "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि वाक्य का शेष

मानें, यह भाव है।

तद्बुद्धि मात्रफलतैवेति तात्पर्य्यलक्षणे मात्रचो व्यावर्त्यमर्थवादादीति यदवादिष्म तदर्थमर्थवादादेः स्वार्थे तात्पर्य्याभावं दर्शयति–

तद्बुद्धिमात्र फल ही तात्पर्य लक्षण कहा है, मात्र तथा च दोनों पदों के द्वारा व्यावर्त्यमान अर्थवादादि पद है यह बता चुके हे। इसके लिये अर्थवादादि पदों का (स्वार्थे) स्वार्थ में कोई तात्पर्य नहीं है, यह बता रहे हैं।

मन्त्रार्थवादगतमध्ययनं तदर्थ-
मात्रप्रतीतिफलमित्यपि नाभ्युपेतम्।।
विध्यर्थबुद्धिमनुसृत्य फलावसानां
सा तद्वतीति तदतत्परतोपपत्तिः।।४६८।।

अन्वयः= मन्त्रार्थवादगतं अध्ययनं तदर्थमात्रप्रतीतिफलम्, इत्यपि नाभ्युपेतम्। फलावसानां विध्यर्थबुद्धिं अनुसृत्य सा (मन्त्रार्थवादजनिता बुद्धिः) तद्वती इति तदतत्परतोपपत्तिः।।४६८।।

अन्वयार्थः= मन्त्र तथा अर्थवाद वाक्यों का अध्ययन मन्त्राद्यर्थ मात्र प्रतीति फलक है। यह भी मीमांसकों ने नहीं माना है। फलावसित विध्यर्थ बुद्धि का अनुसरण करके वह मन्त्रादिजन्य बुद्धि फलवती होती है। इस प्रकार मन्त्रार्थदि के विध्यर्थपरत्व और स्वार्थपरत्व दिखाते हैं।।४६७।।

मन्त्रार्थवादेति। इषेत्वेत्यादिर्मन्त्रः वायुर्वै क्षेपिष्ठेत्यादिरर्थवादः, तद्विषयकमध्ययनं तस्य मन्त्रादेः शब्दशक्त्या प्रतीयमानो योऽर्थस्तन्मात्रे मन्त्रादिजन्या या प्रतीतिस्तदेव फलं यस्य तत्तथा नाभ्युपेतम्, मीमांसकादिभिरिति शेषः। कुत इत्यत आह-विध्यर्थबुद्धिमिति। शाखाच्छेदवायव्यश्वेतालम्भनादिविध्यर्थबुद्धिं स्वतः फलावसानामनुसृत्य तद्द्वारेण सा मन्त्राद्यर्थप्रतीतिस्तद्वती फलवतीति यतोऽतस्तस्यार्थवादादेरतत्परता स्वार्थपरताभावस्तस्योपपत्तिरित्यर्थः। मन्त्रार्थवादाभ्यां यत्स्वार्थे ज्ञानं जन्यते तदेव तत्फलमिति केनापि नाभ्युपेयते येन तयोः स्वार्थपरता भवेत्किं तु मन्त्रस्यानुष्ठेयार्थस्मृतिद्वारा, अर्थवादस्य विधेयप्राशस्त्यधी द्वारा फलावसानत्वमिति तत्रैव तयोस्तात्पर्य्यमित्यस्वार्थपरतोपपन्नेति भावः।।४६८।।

मन्त्रार्थवादेति= "इषेत्वा" इत्यादिमन्त्र। "वायुर्वै क्षेपिष्ठादेवता" वायु बहुत वेगवान् देवता है। यह अर्थवादात्मक (वाक्य) मन्त्र है। तद्विषयक, अध्ययनम्– अध्ययन जिस मन्त्र का है, उस मन्त्र का शब्द शक्ति से प्रतीयमान् जो अर्थ है, ऐसे अर्थ में मन्त्रादि से जन्य जो प्रतीति (बोध) वही फल उसका है, इस प्रकार से मीमांसक स्वीकार नहीं करते।

ऐसा क्यों? विध्यर्थबुद्धिमिति= शाखाच्छेद= (शाखा को तोडना) वायव्य श्वेतालभ्भनादि- सफेद पशु को (बांधना) लाना आदि अर्थवादादि वाक्य तो विधि अर्थ के बुद्धि का स्वतः ही फल को लेकर अनुसरण करते हैं, इस फल को लेकर ही, सा मन्त्राद्यर्थ प्रतीति (अर्थवादादिमन्त्राद्यर्थप्रतीति), तद्वतीति= फलवती होती है। जबकि ऐसी स्थिति है अतः अर्थवादादिक की, अत्परता= स्वार्थ में कोई तत्परता नहीं होने से, अर्थवादादिक की यही, उपपत्तिः= संगति है। मन्त्र और अर्थवाद से जो स्वार्थ में ज्ञान उत्पन्न होता है वही दोनों का फल होता है, ऐसा किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है, जिससे दोनों की स्वार्थपरता स्वीकृत की जाय। किन्तु मन्त्र का अनुष्ठेय भाग की स्मृति द्वारा (स्मृति देकर) अर्थवाद की विधेयवस्तु की प्रशंसा के द्वारा फलावसानता है, इति। उसी दिन में इन दोनों का तात्पर्य है। और अर्थवाद की अस्वार्थ परता भी उपपन्न युक्तियुक्त सिद्ध हो जाती है।

नन्वर्थवादादेः स्वार्थप्रतीतिजनने किमिति सा प्रतीतिर्न तत्फलं तज्जन्यस्यैव तत्फलत्वादतस्तयोः स्वार्थेऽपि तात्पर्य्यं भवेदित्याशङ्क्याह—

आशंका= अर्थवाद भी तो स्वार्थप्रतीति का जनक है। तो अर्थवाद में अपने अर्थ की प्रतीति की जनकता होने से क्या वह प्रतीति (ज्ञान) अर्थवाद का फल नहीं होगा। अर्थात् होगा। क्योंकि जो जिससे जन्य होता है। वही उसका फल होता है, अतः मन्त्र और अर्थवाद दोनों का स्वार्थ में भी तात्पर्य होना चाहिये। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं।

सप्रयोजनकबुद्धिकारणं
वाक्यमाहुरिह तत्परं बुधाः।।
सप्रयोजनकबुद्धिशेषधी-
हेतुमन्यपरमाश्रयन्ति च।।४६६।।

अन्वयः= इह बुधाः सप्रयोजनकबुद्धिकारणं वाक्यं तत्परं आहुः। सप्रयोजनकबुद्धिशेषधीहेतुं अन्यपरञ्च आश्रयन्ति।।४६६।।

अन्वयार्थः= यहां विद्वान् सप्रयोजन बुद्धि के कारण वाक्य को तत्परक कहते हैं। तथा सप्रयोजन बुद्धि के शेष ज्ञान के हेतु (वाक्य) को अन्यपरक मानते हैं।।४६६।।

सप्रयोजनकेति। इह लोके वेदे च शब्दजन्या प्रतीतिर्यद्विषया सती समीहित पर्य्यवसायिनी भवति स शब्दस्तत्पर इति बुधा आहुरित्यर्थः। एवमतत्पराणामपि स्वरूपं बुधसंमतमाह— सप्रयोजनकबुद्धिशेषेति। अर्थवादार्थबुद्धिः प्रशस्तविधेयबुद्धिद्वारा फलवती भवति

एवं मन्त्रार्थधीरनुष्ठेयार्थस्मृतिद्वारा तथा, एवं च सप्रयोजनकबुद्धिं प्रति शेषभूता यार्ऽर्थवादादिजन्या धीस्तद्धेतुं वाक्यमन्यपरं विधेयपरमेव, चोऽवधारणे, न स्वार्थपरमाश्रयन्तीत्यर्थः। यस्मिन्नर्थे वाक्यजन्यमपि ज्ञानं पुरुषार्थहेतुर्न भवति तद्वाक्यं तत्परं न भवति परं तु यमन्यमाश्रित्य फलपर्य्यवसायि स्यात्तत्परमेवेत्यर्थः।।४६६।।

सप्रयोजनकेति= इस लोक में तथा वेद में भी शब्द से जन्य ज्ञान जिस विषयक होकर और वह ज्ञान अच्छी प्रकार से पर्यवसान (विश्राम) पाता हो, वह शब्द ऐसे प्रतीति परक माना जाता है, ऐसे विद्वान् कहते हैं। इसी प्रकार जो शब्द इसके विपरीत है- उसके बाद में भी विद्वानों के मत को कहते हैं सप्रयोजनकबुद्धिशेषेति= सप्रयोजन बुद्धि ही फल का कारण मानी जाती है। अर्थवादार्थ बुद्धि विधेय अर्थविषयक ज्ञान की प्रशंसा करके से फलवती होती है। इस प्रकार वही अर्थवाद बुद्धि मन्त्रार्थ बुद्धि का विषय (अर्थात् अनुष्ठेय अर्थ) उसके स्मृति द्वारा फलवती होती है। सप्रयोजन बुद्धि के प्रति शेषभूत अर्थवादादि जन्या बुद्धि है, ऐसे बुद्धि का जनक वाक्य (अर्थवादात्मक वाक्य) अन्यपरम्= विधेय परक ही मानना पडेगा। च= निश्चितरूप से। अर्थात् अर्थवादादि वाक्य स्वार्थ परक का आश्रय नहीं लेते है। जिस अर्थ में वाक्य से उत्पन्नज्ञान भी पुरुषार्थ का हेतु नहीं होता हो, तो ऐसा वाक्य ऐसे ज्ञानपरक नहीं माना जाता है। किन्तु जो वाक्य अन्य का आश्रय लेकर (मन्त्रार्थ के फल का सहारा लेकर) फलवान् हो जाता है, तो वह वाक्य तत्फल परक ही माना जाता है। स्वार्थ फल परक नहीं माना जाता।

एवं मीमांसकानां मते अर्थवादादिमात्रस्य स्वार्थे तात्पर्य्याभावमुक्त्वा स्वमते मानान्तराविरुद्धतदसिद्धार्थार्थवादादेः स्वार्थेऽप्यवान्तरतात्पर्य्यमस्तीत्याह—

इस प्रकार से मीमांसकों के मत में अर्थवादादिमात्र का स्वार्थ में तात्पर्याभाव के कहने के बाद अपने मत में (वेदान्त मत में) प्रमाणान्तर से अविरुद्ध असिद्धार्थक जो मन्त्र अर्थवाद उनका भी अवान्तर तात्पर्य है, यह कह रहे हैं—

मन्त्रार्थवादवचसामपि गोचरेषु
सौवेष्ववान्तरमुशन्ति च तत्परत्वम्।।
केचित्त्रयीशिरसि खिन्नधियो मुनीन्द्रा-
स्तद्बद्धियो विधिषु शेषतया निवेशात्।।४७०।।

अन्वयः= त्रयीशिरसि खिन्नधियः केचित् मुनीन्द्राः मन्त्रार्थवादवचसां सौवेषु गोचरेषु तत्परत्वं उशन्ति,

तत्तद्धियः शेषतया निवेशात्।।४७०।।

अन्वयार्थः= वेदान्त विचार तत्परक कतिपय मुनीन्द्रवर्य कुछ मन्त्र तथा अर्थवाद वाक्यों का अपने विषय में भी तात्पर्य मानना चाहते हैं। क्योंकि तज्जन्य बुद्धियों का विधि शेष (अङ्ग) रूप से निवेश होता है।।४७०।।

मन्त्रार्थवादवचसामिति। देवताविग्रहादेः स्वर्गादेश्च प्रतिपादकमन्त्रार्थवादवचसामित्यर्थः। सौवेषु स्वीयेषु। अवान्तरं फलवद्बुद्धिशेषबुद्धिफलकत्वमवान्तरत्वम्। तत्परत्वं तात्पर्य्यं तच्च फलवद्बुद्धिफलकत्वमिति विभागः। उशन्ति अङ्गीकुर्वन्ति। केचिद्वैयासिकमतानुसारिणः। त्रयीशिरसि वेदान्ते। खिन्नधियः परिश्रमशालिनः। ननु किमिति तर्हि मन्त्रादेर्विद्ध्यर्थे तात्पर्य्यं कल्प्यते तदभावे च विधिना त्वेकवाक्यत्वादिति न्यायविरोधस्तत्राह-तद्वदिति। स्वार्थवद्विधिष्वपि मन्त्रार्थवादवचसां तत्परत्वमित्यनुषङ्गः। तत्र हेतुः धियः शेषतया निवेशादिति। मन्त्रादि-जन्यतदर्थज्ञानस्य ध्यानाग्निहोत्रादिविधेयानुष्ठानशेषतया निवेशादित्यर्थः। अत एव मन्त्राद्यर्थज्ञानं फलवद्भवेत्। अथ वा मन्त्रादेः स्वार्थेऽवान्तरतात्पर्य्ये हेतुमाह– तद्वद्धिय इति। मन्त्राद्यर्थविशिष्ट- धिय इत्यर्थः। तथा च मन्त्रार्थज्ञानस्यापि विधिद्वारा फलवत्त्वादुक्तं तत्र तात्पर्य्यलक्षणमस्त्येव, अन्यद्वारा च तदिति विधितात्पर्य्यापेक्षया तदवान्तरं चेत्यर्थः। तत्तदिति पाठे तत्तद्धियो देवताविग्रहस्वर्गादिधिय इत्यर्थः। देवताधिकरणे देवतानामपि ब्रह्मविद्या-धिकारश्रवणात्तेषामपि मन्त्रार्थवादप्रतीतविग्रहादिमत्त्वं बादरायणादिभिराश्रितमिति मन्त्रादेः स्वार्थेऽवान्तरतात्पर्य्यं तत्संमतम्। परमतात्पर्य्यं तु मन्त्रादिजन्यतदर्थज्ञानस्य विध्यर्थे शेषतया प्रवेशात्तत्रैवेति भावः।।४७०।।

मन्त्रार्थवादवचसामिति= देवताविग्रह, स्वर्गादि का भी प्रतिपादक मन्त्रार्थवाद वचनों का। सौवेषु= स्वकीय में। अवान्तरम्= फलवद्बुद्धिशेषबुद्धि फलकत्व रूप अवान्तरत्व (फलवद्बुद्धि तो हुई विधि अर्थ वाक्याधीन विधिफलरूप उसका भी शेष बुद्धि—मन्त्र अर्थवाद बुद्धि, तत्फलकत्व— ही अवान्तरत्व है।) तत्परत्व तात्पर्य वह तो फलवद् बुद्धिफलकत्वमिति= यह तो मन्त्रार्थ वाक्य में है, ऐसा विभाग है। उशन्ति= अङ्गीकार करते हैं केचित्= वैयासिक मतानुसारी। (व्यासमतानुसारी) जैसे वज्र हस्तः पुरन्दरः अर्थवाद वाक्य में मुख्यतया इन्द्रयाग की स्तुति है तथापि इन्द्रविग्रहवान् है यह अवान्तर फल अपने आप सिद्ध हो गया, इसे वेदान्त भी स्वीकार करता है।

आशंका= तो इसका मतलब मन्त्रादि का विधि अर्थ में तात्पर्य विधि अर्थ में तात्पर्य कल्पित किया जाता है और जहां मन्त्रादि न हो वहां विधि के साथ एक वाक्यता हो जायेगी। यदि ऐसा है तो यह न्याय विरुद्ध माना जायेगा। इस पर कहते हैं तद्वदिति= मन्त्र और अर्थवाद वचनों का स्वार्थ के समान विधि अर्थ में भी तत्परत्व ही है यह साथ साथ में

लगा हुवा है। इसका हेतु है, धियश्शेषतया निवेशात्= अर्थात् मन्त्रादि जन्य तदर्थज्ञान का (देवता विग्रह ज्ञान का स्वर्गादिक के ज्ञान का) ध्यान, अग्निहोत्रादि का विधेय जो अनुष्ठान योग्य है उसका शेषभूत देवता विग्रहज्ञान तथा स्वर्गादि ज्ञान होने से उसका निवेश होने से मन्त्र अर्थवाद वचनों का स्वार्थ के समान विधि में भी तत्परत्व है, यह बातसिद्ध हुई। अतः मन्त्राद्यर्थज्ञानं फलवद् भवेत्, ऐसा कहा है।

अथवा मन्त्रादिक का स्वार्थ में अवान्तर तात्पर्य है, इसमें हेतु बता रहे हैं। तद्बुद्धिय इति। मन्त्राद्यर्थ विशिष्ट बुद्धि। तो मन्त्रार्थ ज्ञान को भी विधि द्वारा फलवत्ता है यह बात कह चुके हैं। क्योंकि इसमें तो तात्पर्यलक्षण है ही। अन्यद्वारा भी तात्पर्यलक्षण है क्योंकि विधि तात्पर्य की अपेक्षा रखकर अवान्तर तात्पर्य लक्षण मन्त्रार्थ ज्ञान में है। तद्बुद्धियो की जगह तत्तद्धियो ऐसा पाठ है तो तत्तद्धियो अर्थात् देवतादि विग्रह स्वर्गादि बुद्धि को भी। देवताधिकरण में देवताओं का भी ब्रह्मविद्याश्रवणाधिकार है अतः उनको भी मन्त्रार्थवाद प्रतीत विग्रहादिक है, ऐसा बादरायण (व्यासजी ने) स्वीकार कर लिया है। अतः मन्त्रादिकों का स्वार्थ में अवान्तर तात्पर्य यह उनको व्यास जी महाराज को भी संमत है। बाकी रह गई परम तात्पर्य की बात वह तो मन्त्रादि से जन्य तथा मन्त्रार्थ ज्ञान को विधि अर्थ में शेषभूत होने के कारण इसी रूप में उनका प्रवेश होने के कारण विधि अर्थ में ही परम तात्पर्य है। इसका मतलब मन्त्र और अर्थवाद वाक्यों का स्वार्थ में (देवता विग्रहादि अर्थ में) भी अवान्तर तात्पर्य विषयता स्वार्थता है, ऐसा वेदान्त सिद्धान्त है।

एवं वेदान्तानां सिद्धे ब्रह्मणि तात्पर्य्यमुक्तं, तात्पर्य्यं च शब्दस्य स्वाभिमतं निरूपितम्। इदानीं वेदस्य सिद्धार्थनिष्ठत्वे जैमिनीयवचनविरोधं परिहर्तुं प्रागुक्तमर्थमनुवदति—

इस प्रकार से वेदान्त का सिद्ध ब्रह्म में तात्पर्य कह चुके हैं। शब्द का तात्पर्य अपने अभिप्राय से कह दिया है। अब वेद को यदि सिद्धार्थ निष्ठ मानेंगे तो जैमिनीय वचन का विरोध होगा। उसका परिहार करने के लिये पहिले कहे हुये अर्थ का अनुवाद कर रहे हैं।

श्रेयःसाधनता लिङर्थ इति च प्रागुक्तमत्यादरा-
च्छ्रेयःसाधनयागदानहवनाद्यर्थैकनिष्ठं ततः।।
सर्वं कर्मवचो नियोगपरता तस्यापि नालोचने
वक्तव्या किमुताऽस्य वेदशिरसः सा नेति भूयोऽपि नः।।४७१।।

अन्वयः= श्रेयः साधनता लिङर्थ इति च प्राक् अत्यादरात् उक्तम्, ततः सर्वं कर्मवचः श्रेयः साधनयागदानहवनाद्यर्थैकनिष्ठम्, नियोगनिष्ठं न। आलोचने तस्यापि नियोगपरता न। तदा भूयोऽपि किमुत वक्तव्यम्। अस्य नः वेदशिरसः सा नेति।।४७१।।

अन्वयार्थ= इष्टसाधनता लिङर्थ है। इसको पहले भाव के साथ स्थापित किया। अतः समस्त कर्मवचन श्रेयः साधनभूत याग, दान, हवनादि के बोधक हैं। नियोगपरक नहीं। जब कि विचार करने पर उस (कर्मकाण्ड) में भी नियोगपरता नहीं है। तब फिर हमारे इस वेदान्त मत में नियोग परता नहीं है यह कहना ही क्या है।।४७१।।

श्रेयः साधनतेतिः। नःइति आदौ द्रष्टव्यम्। अत्यादरात् न्यायपूर्वम्। ततः किं तत्राह श्रेयः साधनतायाः लिङर्थत्वव्युत्पादनात्सर्वं हि कर्मवाक्यं लिङाद्यर्थनिष्ठं लिङ्गादेश्चः श्रेयःसाधनमर्थ इत्युक्तम्। एवं च सर्वं कर्मवचः श्रेयः साधनयागाद्यर्थनिष्ठमेवावश्यमभ्युपेयमित्यर्थः। एकेति। नियोगनिष्ठतानिराकरणं कृतं सूचयति। ततश्च नः अस्मान्प्रति भूयः पुनरपि तस्य कर्मवचसोऽप्यर्थालोचने नियोगपरता न वक्तव्या न शङ्कितुं युक्ता, अस्य वेदशिरसः सा नियोगपरता न वक्तव्येति किमुतेति सम्बन्धः।।४७१।।

श्रेयःसाधनतेति= नः= पहिले इसी का अन्वय करा लेना है। नः= हमारा। अत्यादरात्= न्यायपूर्वक। इससे क्या हुवा? उसे स्पष्ट कर रहे हैं– श्रेय की साधनता का लिङर्थत्व में व्युत्पन्न है इससे सब ही कर्म वाक्य लिङाद्यर्थ निष्ठ है, और लिङादिक को श्रेय साधनत्व है यह कह चुके हैं। इस प्रकार सब कर्मवचन श्रेयः का साधनीभूत यागाद्यर्थनिष्ठ ही है ऐसा स्वीकार करना चाहिये, यह अर्थ है। एकेति= नियोगनिष्ठता का निराकरण हो चुका है यह बात एक पद से सूचित होती है। इसलिये नः= हमारे प्रति, भूयः= पुनः पुनः, इस कर्मवचन को, आलोचने= अर्थावलोकन करने के बाद भी, नियोगपरता न= विधि परता नहीं है। न इसके बारे में ऐसी शंका ही करनी चाहिये। अस्य= वेदान्त में, सा नियोगपरता वक्तव्या= विधिपरता कहनी नहीं चाहिये, किमुतेति= कैमुतिकन्याय से। जब नियोगपरता की शंका भी वेदान्त में नहीं करनी चाहिये तो फिर नियोग परक बोल ने की तो बात ही दूर है, यह अभिप्राय है।

ननु "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" इत्यादिसूत्रैः सिद्धार्थस्यापि वेदस्य जैमिनिर्नियोगनिष्ठत्वमवोचत्, तत्कथं वेदस्य तदर्थताशङ्का न कर्त्तव्या कथं वा वेदान्तानां सिद्धार्थत्वमित्याशङ्क्य, जैमिनेराम्नायशब्दः कर्मभागमात्रपरस्तदर्थस्यैव "अथातो धर्मजिज्ञासा" इति विचार्य्यतया तदुपक्रमात्, तत्रापि तदभिमता क्रिया श्रेयः साधनं यागादिरेव तदन्यस्यासंभवादित्याशयेनाह–

आशंका– आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमदर्थानाम् इत्यादि सूत्रों के द्वारा वेद के सिद्धार्थ को भी जैमिनि नियोग निष्ठ ही कह चुके हैं फिर यह आपने वेदान्ती ने कैसे कह दिया कि नियोगनिष्ठता की शंका भी वेदान्त में नहीं करनी चाहिये। इसके विरुद्ध बात तो यह है कि बेदान्त को सिद्धार्थत्व ही कैसे है। ऐसी आशंका होने पर

समाधान= जैमिनि ने आम्नाय शब्द कर्मभागमात्रपरक तदर्थ को ही लिया है। "अथातो धर्म जिज्ञासा" इति विचार के लिये इसी का उपक्रम किया है। इसमें भी उनको जैमिनि को अभिमत क्रिया जो श्रेयसाधना रूप यागादि है, इससे अन्य में यह संभव नहीं है, इस आशय से कहा जा रहा है।

श्रेयःसाधनयागदानहवनाद्यर्थेषु कार्य्यात्मसु
सर्वं कर्मवचः प्रमाणमिति तु ग्राह्यं वचो जैमिनेः।।
भाष्यं पश्यत शाबरं स्फुटतरं यो यागमित्यादिकं
श्रेयःसाधनयागमात्रवचनं धर्माभिधानं वदत्।।४७२।।

अन्वयः=श्रेयःसाधनयागदानहवनाद्यर्थेषु कार्यात्मसु जैमिनेः वचः सर्वं कर्मवचः प्रमाणमिति ग्राह्यम्। "यो यागम्" इत्यादिकं श्रेयःसाधनयागमात्रवचनं धर्माभिधानं वदत् शाबरं भाष्यं स्फुटतरं पश्यत।।४७२।।

अन्वयार्थः= श्रेयः साधनभूत याग, दान हवनादि अर्थो में सम्पूर्ण विधि वाक्य प्रमाण है, ऐसे सिद्धान्त का सूचक चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः यह जैमिनी का सूत्र सर्वथा ग्रहणीय है। "यो यागमनुतिष्ठति धार्मिकं इति समाचक्षते इस प्रकार श्रेयःसाधन यागादि को धर्म बताने वाले शाबर भाष्य को अति स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है।।४७२।।

श्रेयःसाधनेति। कार्य्यात्मसु कृतिसाध्यस्वभावेषु। सर्वं कर्मवच इति सूत्रस्थाम्नायशब्दार्थ उक्तः। तुशब्दोऽवधारणे। सर्वं कर्मवाक्यं श्रेयःसाधनयागादिकार्येषु प्रमाणमित्येतावत्येवार्थे जैमिनेर्वचो ग्राह्यं न तु सर्वः स्वाध्यायो नियोगे प्रमाणमिति तत्सूत्रार्थो ग्राह्य इत्यर्थः। ननु किं बलादेवं तत्सूत्रं व्याख्यायत इत्याशङ्क्य जैमिनिनोक्तचोदनाप्रमेयधर्मस्य तद्भाष्यकारेण यागादिरूपत्वाभिधानबलादित्याशयेनाह– भाष्यं पश्यतेति। स्फुटतरं स्पष्टार्थम्। भाष्यमेवाह– यो यागमिति। "यो यागमनुतिष्ठति तं धार्मिकमित्याचक्षते" इत्येवंरूपम्। नन्वत्र धार्मिकमिति यागकर्तुर्नियोगनिष्ठत्वमेवोच्यते धर्मशब्दस्य नियोगात्मापूर्ववचनत्वादित्याशङ्क्याह– श्रेयः साधनयागमात्रेति। धर्म इति शब्दः श्रेयः साधनयागमात्रस्य वचनमिति वदच्छाबरं भाष्यमिति संबन्धः। यागानुष्ठातुर्धार्मिकत्वकथनाद्यागमेव भाष्यकारो धर्म इति वदतीति भावः।।४७२।।

श्रेयःसाधनतेति= कार्यात्मसु– कृतिसाध्य स्वभाव वालों में। सर्वकर्मवचइति= "आम्नायस्य

क्रियार्थत्वात्" इत्यादि सूत्रस्थ आम्नाय शब्द का अर्थ कह चुके हैं तु- निश्चय रूप में सब कर्म वाक्य श्रेयः साधन रूप यागादि कार्यो में प्रमाण है इस प्रकार के अर्थ में जैमिनिका वचन ग्रहण करना चाहिये, न कि सब स्वाध्याय (वेद) नियोग में प्रमाणभूत है। ऐसा सूत्रार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये।

आशंका= किस बल से इस प्रकार से सूत्र की व्याख्या करनी चहिये।

समाधान= जैमिनिजी ने कहा हुवा चोदना रूप प्रमेय धर्म की, उस पर शबर स्वामी का भाष्य है जो चोदनाप्रमेय धर्म को यागादिरूपत्वाभिधान रूप बल से हमने सूत्र की ऐसी व्याख्या की है।

भाष्यं पश्यत अर्थ स्पष्ट है। भाष्य को ही कह रहे हैं यो यागमिति= यो यागमनुतिष्ठति धार्मिकमित्याचक्षते= जो याग का अनुष्ठान करता है उसे धार्मिक कहते हैं। इस प्रकार।

आशंका= अन्यत्र धर्मिक शब्द का प्रयोग याग कर्त्ता (याग कराने वाला) नियोग तन्निष्ठ ही धार्मिक शब्द का प्रयोग होता है। क्योंकि धर्म शब्द का प्रयोग नियोगात्मक, अपूर्ववचन के अभिप्राय से होता है।

समाधान श्रेयः साधन यागमात्रेति= धर्म शब्द का प्रयोग श्रेय साधन रूप यागमात्र में प्रयुक्त होता है। वचनम्- शाबर स्वामी ऐसे बोलते हैं। भाष्यकार इस प्रकार से बोलते है। अर्थात् यागाद्यनुष्ठान कर्ता को धार्मिक कहने से, याग को ही भाष्यकार धर्म कहते हैं यह बात स्पष्ट हुई।।

ननु "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इति पुंल्लिङ्गो धर्मशब्दो जैमिनिना प्रयुक्तः स चापूर्ववचन एव पुंल्लिङ्गधर्मशब्दस्य "तेन क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः" इत्यादिवेदे तत्रैव प्रयोगात्। अतो भाष्यं तदनुसारेणैव नेतव्यम्। यद्यपि क्रतावपि धर्मशब्दोऽस्ति तथापि स नपुंसक एव, तानि धर्माणीति तस्यैव तत्र श्रुतौ दर्शनादित्याशङ्क्याह—

आशंका= "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै० सू० १/१/२) इति यहां पुल्लिङ्ग धर्मशब्द का प्रयोग जैमिनि ने किया है। वह अपूर्ववाची ही पुल्लिंग धर्म (शब्द प्रयुक्त हुवा है। तेन क्षत्रस्य क्षत्र यद्धर्मः "क्षत्रियका क्षत्रियत्व ही धर्म है। क्षत्रियका धर्म क्षत् (घाव)उससे (त्राण) रक्षण करता है। इत्यादि स्थलों मे अपूर्ववाची धर्म शब्द प्रयुक्त हुवा है। इसलिये भाष्य को भी इसी के अनुसार ले जाना होगा। यद्यपि क्रतु में भी धर्म शब्द का प्रयोग आया है लेकिन वहां यह प्रयोग नपुंसक है। अतः तानि धर्माणि ऐसा नपुंसक रूप बनेगा। उसी का स्वरूप श्रुति में दिखाई देता है, ऐसी आशंका होने पर कह रहे हैं।

पुंल्लिङ्गताऽपि घटते क्रतुगामिनोऽस्य
सूक्ष्मात्मना भवति हि क्रतुरप्यपूर्वम्।।
तेन क्रतोरुपचरन्नभिदां पुमान्स्यात्
क्लीबस्तु धर्ममिति हि क्रतुवाचकत्वे।।४७३।।

अन्वयः= अस्य क्रतुगामिनोऽपि पुंल्लिगता घटते, हि क्रतुरेव सूक्ष्मात्मना अपूर्वं भवति। तेन क्रतोरभिदां उपचरन् पुमान् स्यात्। क्रतुवाचकत्वे हि धर्मम् "इति तु क्लीबः स्यात्।।४७३।।

अन्वयार्थः= इस याग वाचक (धर्म शब्द) में पुल्लिंगता ठीक ही है। क्योंकि, याग ही सूक्ष्मरूप में अपूर्व कहलाता है। इसलिये याग और अपूर्व दोनों का अभेदोपचार करके सूत्र में धर्म शब्द पुंल्लिङ्ग करके प्रयुक्त हुवा है।।४७३।।

पुंलिङ्गताऽपीति। भाष्यकारोक्त्यैव सूत्रार्थस्य प्रत्येतव्यत्वादेतद्भाष्यबलात्पुंल्लिङ्ग एव धर्मशब्दोऽपूर्ववाची तत्तादात्म्यात्क्रतावुपचरितो जैमिनिनेति अपूर्वस्य क्रतुसूक्ष्मरूपत्वेन हेतुना क्रतोरपूर्वेणाभिदाम् अभेदमुपचरन्पुमान्पुंलिङ्गः स्याद्धर्मशब्द इति शेषः। क्रतुवाचकत्वे तु विवक्षिते धर्ममिति क्लीबः स्यान्न त्वौपचारिकप्रयोगेऽपि, अतः सूत्रकारस्य पुंल्लिङ्गधर्मशब्दप्रयोगोऽपि तस्य नियोगाशयं न सूचयतीति भावः।।४७३।।

पुंल्लिङ्गताऽपीति= शाबर भाष्यकार की उक्ति से ही सूत्रार्थ को ले जाना चाहिये, और इसी भाष्य बल से पुंल्लिङ्ग परक धर्म शब्द अपुर्ववाची है, इस अपूर्ववाची धर्म के साथ क्रतु का तादात्म्य होने से क्रतु में जैमिनि ने अपूर्ववाची धर्म शब्द उपचरित किया है। अपूर्व का तो क्रतु का सूक्ष्म रूप होने के कारण क्रतु में अपूर्वाभिधान किया गया। अभेद व्यवहार का उपचार करने के कारण धर्म शब्द पुंल्लिङ्गपरक हो गया। यह भाव है। यदि धर्म शब्द क्रतु वाचक है तब तो धर्मम् ऐसा नपुंसकलिङ्गान्त प्रयोग करना था। न कि औपचारिक प्रयोग करना था। अतः सूत्रकार को पुंल्लिङ्ग धर्म शब्द का प्रयोग भी नियोग को सूचित नहीं करता है।

ननु सूत्रकारेणैव षष्ठाद्ये स्वर्गकामपदस्य नियोज्यपरत्वं वदता प्रत्ययार्थो नियोगोऽभ्युपेतो नियोगकार्य्यताबोद्धुरेव नियोज्यत्वेन तेन विना व्युत्पादनायोगादित्याशङ्क्य सत्यं प्राभाकारैरेव तदधिकरणार्थ उक्तः, स न तथा, अधिकारित्वव्युत्पादनस्यैव स्वर्गकामपदस्य फलपरत्वव्युत्पादनेन तत्र विवक्षितत्वात्। नन्वधिकारित्वमेव स्वर्गकामस्य नियोज्यत्वपूर्वकमिति चेत्सत्यं, नियोगवादे तथैव, श्रेयः- साधनस्य वाक्यार्थत्ववादे तस्य कर्त्रन्वयपूर्वक एव

तदन्वय इत्याशयेनाह–

आशंका= सूत्रकार जैमिनि जी ने छठवे अध्याय के प्रारंभ में, स्वर्गकामपद को नियोज्य परक बोलते हुये, प्रत्यय का अर्थ नियोग स्वीकृत किया। नियोग जो कार्यतापरक है उसे जानने वाले को ही नियोज्यत्वेन रूपेण स्वीकृत किया जाता है, क्योंकि नियोज्यत्व के बिना व्युत्पाद नहीं (उत्पाद नहीं) हो सकता, ऐसी आशंका होने पर

समाधान– बात तो सत्य है, प्राभाकर ने ही उस अधिकरण का अर्थ कहा है लेकिन अर्थ ऐसा नहीं है, जैसा तुम ने शंका वादी ने कहा है। अर्थ उसका यह है– कि अधिकारी संपन्न व्यक्ति ही स्वर्गकामपद के फलपरक होने से स्वर्ग काम में उसकी विवक्षा की गई है।

आशंका= अधिकारी ही स्वर्गकामपद का नियोज्यत्व पूर्वक रहने दो

समाधान= जो नियोग वादी है, उनके यहां तो ऐसी ही व्यवस्था रहने दो क्योंकि श्रेय साधन का वाक्यार्थवादिमत में श्रेय साधन का कर्ता के अन्वयपूर्वक ही अधिकारी का अन्वय होगा, इस आशय से कहा जा रहा है।

इष्टाभ्युपायवचनो लिङिति स्थितौ च
स्याद्भावनावचनताऽस्य यदा तदा च।।
कर्तुर्भवेदधिकृतिस्तु नियोगवादे
स्वाम्ये स्थिते सति भवेदथ कर्तृभावः।।४७४।।

अन्वयः= इष्टाभ्युपायवचनो लिङितिस्थितौ च अस्य यदा भावनावचनता स्यात्, तदा कर्तुः अधिकृतिः भवेत्। अथ नियोगवादे साम्ये स्थिते सति कर्तृभावः भवेत्।।४७४।।

अन्वयार्थः= इष्ट साधनार्थ वाचक लिङ् है। सिद्धान्त में तथा इस (लिङ्) में जब भाव ना वाचकता मानी जाय, तब भी कर्ता को ही अधिकार होता है किन्तु नियोग पक्ष में स्वाम्य (अधिकार) का अन्वय हो जाने पर (कर्ता का अन्वय होगा)।।४७४।।

इष्टाभ्युपायेति। स्थितो मते। प्रधानपदार्थाकाङ्क्षानुसारेण पदान्तराणामर्थबोधकत्वं वाच्यम्। लिङाद्यर्थः श्रेयःसाधनं च प्रधानं, स च धात्वर्थः कर्त्तृव्यापारात्मक्रियारूपः, क्रिया च कर्त्तारं प्रथममपेक्षत इति क्रियाक्षिप्तं कर्त्तारं स्वर्गकामपदं विशिनष्टीति प्रथमं स्वर्गकामकर्तृत्वेनान्वयं प्राप्य पश्चाच्छ्रेयसो भोक्त्रपेक्षायां स एव स्वर्गकामः स्वाभिलषितस्वर्ग साधने धात्वर्थे मदर्थमिदं कर्मेत्यवगच्छन्नधिकारित्वमपि प्रतिपद्यते। तददिमाह– कर्त्तुर्भवेद-

धिकृतिरिति। किं च जैमिनीयमताभियुक्तैर्भट्टैरप्येवमाश्रितत्वात्तस्यापि तदेव संमतमित्याशयेनाह स्याद्भावनेति। अस्य लिङादेर्भावनायामपि क्रियारूपत्वेनोक्तरूपेणैव स्वर्गकामोऽन्वेतीति भावः। तर्हि नियोगवादे कथं तदन्वयवैलक्षण्यमित्याशङ्क्याह— नियोगेति। तत्र हि नियोगाकाङ्क्षयैव स्वर्गकामस्यान्वय इति ममायं नियोग इति स्वामित्वं प्रतिपद्यैव तद्विषये यागेऽपि नियोगबलादधिकारान्वयं तत्पूर्वकं कर्तृत्वं च प्राप्नोतीति तत्र वैपरीत्यमिति भावः। स्वाम्ये स्वर्गकामस्येति शेषः। अथानन्तरम्।।४७४।।

इष्टाभ्युपायेति= स्थितौ= मत में। प्रधान पदार्थ की आकाङ्क्षाके अनुसार पदान्तरों को अर्थ बोधकत्व कहना पडेगा। लिङाद्यर्थ श्रेय का साधन है, यह प्रधान पदार्थ हुवा। वही धात्वर्थ है, और वही कर्तुव्यापारात्मक क्रिया रूप है। क्रिया जो कर्ता को प्रथम ही अपेक्षित होती है, इति। क्रिया ही आक्षिप्त कर्ता को स्वर्गकामपद में नियुक्त कराती है। इति। तो पहिले स्वर्ग काम कर्तुत्वेन अन्वय होने का बाद श्रेयस को भोक्ता की अपेक्षा होने से, वही भोक्ता पुरुष स्वर्गकाम स्वाभिलषित स्वर्ग कामना में, साधन में धात्वर्थ में, जो कि मेरे लिये यह कर्म है अभीष्ट है ऐसा जानता है। इसलिये ऐसे भोक्तापुरुषण में अधिकारित्व भी संपन्न होता है। इसलिये कहा है। कर्तुर्भवेदधिकृतिरिति= इसके अतिरिक्त जैमिनि के मतानुयायी भट्टानुयायी ने भी इस प्रकार का क्रम आश्रित किया हुवा है। अर्थात् उनको भी यही सम्मत है। इसी आशय से कहा है। स्याद्भावनावचनताऽस्य= अस्य= लिङ्गादिक की भावना में क्रिया रूप से उक्त रूप से स्वर्ग कामना वाला अन्वित होता है। इससे भावनावादि तथा श्रेय साधनतावादि लिङर्थ करते हैं।

आशंका= यदि यही क्रम है फिर नियोग वाद में कैसे अन्वय वैलक्षण्य हुवा?

समाधान= नियोगेति= नियोगवाद में तो नियोग की आकाङ्क्षा ही स्वर्ग काम के पुरुष के साथ अन्वित होगी। इति। अर्थात् यह मेरा नियोग है। इति। पहिले अपने आप में वह स्वामित्व मानता है। इसे जानकर ही स्वर्ग काम विषयक याग में नियोग बल से अधिकार का अन्वय, ऐसे अन्वय के कारण ही उसमें क़र्तृत्व को भी वह पुरुष प्राप्त कर लेता है। यही दोनों में विषमता है। स्वाम्ये— स्वर्ग कामस्येति— ऐसा भाव है। अथ= इसके बाद। बाकी अर्थ हो चुका है।

ननु नियोगानङ्गीकारे कथं स्वर्ककामस्य यागे प्रवृत्तिः स हि तत्प्रेरित एव प्रवर्त्तत इत्याशङ्क्य पुरुषार्थकामनाप्रयुक्ता हि तत्प्रवृत्तिः पुरुषार्थ च श्रेयः साधनं यागादिरतस्तद-धीनचिकीर्षयैव स प्रवर्त्तते न तु नियोगेनापुरुषार्थेनेत्याशयेनाह—

आशंका= नियोग का अङ्गीकार नहीं किया गया तो फिर किस प्रकार स्वर्ग की कामना करने वाले की याग में प्रवृत्ति होगी, क्योंकि उसको तो प्रेरणा करने वाला नियोग ही है, उसी से वह प्रेरित होता है। ऐसी आशंका होने पर

समाधान= पुरुषार्थ की कामना से प्रेरित ही वह पुरुष उसकी याग में प्रवृत्ति होगी। पुरुषार्थ तो श्रेय का साधन यागादि है। अतः पुरुषार्थ के अधीन (चिकीर्षा) करने की इच्छा ही उसे प्रेरित करती है। न कि नियोग से वह प्रवृत्त होता है। क्योंकि नियोग कोई पुरुषार्थ नहीं है। इसी आशय से कहा जा रहा है।

इष्टाभ्युपायो विधिरात्मनीच्छा-
मुत्पादयन्प्रेरकतामुपैति।।
इष्टाभ्युपायेऽवगते लिङादे-
रिच्छा फलादेनमुपैति सद्यः।।४७५।।

इष्टाभ्युपायोविधिः आत्मनि इच्छामुत्पादयन् प्रेरकतां उपैति। लिङादेः इष्टाभ्युपायेऽवगते एनं इच्छां सद्यः उपैति।।

अन्वयार्थः= इष्ट साधनार्थक विधिप्रत्यय अपने में इच्छा का उत्पादन करके प्रेरक हो जाता है। क्योंकि विधि से इष्ट साधन का ज्ञान होने पर फलेच्छा के बाद ही इस (धात्वर्थ) को इच्छा उसी क्षण विषय कर लेती है।

इष्टाभ्युपाय इति। विधीयते इति विधिः। आत्मनि स्वस्मिन्यागादेः श्रेयःसाधनत्वेन लिङादिनाऽवगमात्तच्चिकीर्षा भवति ततः प्रवर्त्तत इत्यर्थः। ननु यागादेः क्लेशात्मकत्वात्कथं नियोगं विना स्वतन्त्रस्य तस्येच्छा भवेदित्याशङ्क्य स्वर्गादेः स्वत इष्यमाणत्वात्तस्य साधनानुष्ठानमन्तरेणासिद्धेस्तत्साधनतया लिङाद्यवगते यागादौ तत्फलेच्छया तच्चिकीर्षा भवतीति नोक्तदोष इत्याशयेनाह—

इष्टाभ्युपायेऽवगत इति। लिङादेः सकाशादिष्टाभ्युपायेऽवगते इति सम्बन्धः। फलात् फलेच्छानन्तरमेव तत्साधनतयाऽवगते चिकीर्षा भवतीति फलादित्युक्तम्। एनं धात्वर्थमिच्छा सद्यस्तत्क्षणमेव नियोगनिमित्तमनपेक्ष्य उपैति तत्रेच्छा भवेदित्यर्थः। फलेच्छा साधनेच्छाहेतुः, साधनेच्छा च प्रवृत्तिहेतुः, सा च साधनज्ञानाधीनेति न नियोगः प्रवृत्तावुपयुज्यते इति भावः।।४७५।।

इष्टाभ्युपायो= विधि= जो विधान करती है उसे विधि कहते हैं। आत्मनि= पुरुष

में यागादिक श्रेय साधन है ऐसा लिङादि से ज्ञात होने पर यागादि करने की इच्छा होती है, इसी कारण वह यागादि में प्रवृत्त होता है।

आशंका= यागादिक तो क्लेष स्वरूप होने से नियोग के बिना कैसी स्वतन्त्र रूप से पुरुष की इच्छा होगी। ऐसी आशंका होने पर

समाधान— स्वर्गादि पदार्थ तो खुद ही चाहने योग्य (इष्यमाण) होने से, उनकी सिद्धि तो साधनानुष्ठान के बिना नहीं हो सकती, अतः ऐसे स्वर्गादिक का साधन लिङादि से जान लेने पर यागादिक में स्वर्गादिक के फल की इच्छा को लेकर एवं यागादिक को करने की इच्छा को लेकर प्रवृत्त होता है, इसलिये नियोग वाला दोष यहां नहीं है। अर्थात् नियोग की आवश्यकता नहीं है।

इष्टाभ्युपायेऽवगत इति= लिङादि के सम्पर्क से इष्टाभ्युपाय (स्वर्ग इष्ट हुवा उसका अभ्युपाय हुवा यागादि) उसका ज्ञान होने पर, ऐसा सम्बन्ध लगा लेना। इति।।

फलात्= फलेच्छा के अनन्तर ही, उस फल का साधन जानने ने बाद ही करने की इच्छा उत्पन्न होती है इसीलिये फलात्= ऐसा पञ्चमी का प्रयोग किया है। एनम्= धात्वर्थविषयक इच्छा तो सद्यः= तुरन्त, उसी क्षण में, नियोग निमित्त की अपेक्षा न करती हुई, उपैति= पुरुष में इच्छा को उत्पना कराती है। (या पुरुष में इच्छा उत्पना होती है) फल की इच्छा साधन इच्छा की हेतु है, साधन की इच्छा प्रवृत्ति की हेतु है, और वह साधन की इच्छा साधन ज्ञानाधीन है, अतः प्रवृत्ति में नियोग की आवश्यकता नहीं है। इति भावः।।

प्रभाकर मत खण्डन स्पष्ट कर रहे हैं।—

एवं स्वपक्षे यागादौ स्वतन्त्रचेतनप्रवृत्तिमुपपाद्य नियोगवादे तदसम्भवमाह—

इस प्रकार यागादिक में स्वतन्त्रचेतन प्रवृत्ति को कारण बताने के बाद नियोगवाद में यह असम्भव है। इसे बता रहे हैं।

नियोगकोट्याऽपि नरो न कश्चि-
दिच्छां विना दुःखनिदानभूतम्।।
करोति कर्मेह पुमर्थरागात्
प्रवृत्तिरेवेति हि राजमार्गः।।४७६।।

अन्वयः= नियोगकोट्या अपि कश्चित् नरः इच्छां बिना दुःखनिदानभूतं कर्म न करोति, इह पुमर्थरागात् एव प्रवृत्तिरिति राजमार्गः।

अन्वयार्थः= करोड़ों नियोग की पेरणा से भी कोई पुरुष कर्म करने में प्रवृत्त नही होगा। पुरुषार्थगत राग से ही प्रवृत्ति होती है। यह सभी दोषों से रहित श्रुति मार्ग है।

नियोगकोट्याऽपीति। अनेकनियोगैरित्यर्थः। नरः स्वतन्त्रः स्वर्गकामादिः स्वतः क्लेशात्मके यागादौ स्वाभिलषितस्वर्गासाधने इच्छाऽसम्भवात्स्वतन्त्रस्तन्न करोतीत्यर्थः। इह जगति। स्वमते प्रागुक्तरीत्या यागादौ प्रवृत्तौ लोकानुसारमाह— पुमर्थ इति। भोजनादिव्यापारे दुःखसाधनेऽपि पुमर्थसाधनतयाऽवगते इच्छया लोक प्रवृत्तिरस्त्येवेति राजमार्गः सर्वदोषरहितः प्रसिद्धः पन्थाः निर्दुष्टोऽयमुपाय इत्यर्थः।।४७६।।

नियोगकोट्याऽपि= अनेक नियोग होने पर भी। नरः= चेतन पुरूष स्वतन्त्र स्वर्गकामादिक में, स्वतः क्लेशात्मक यागादिक में स्वाभिलषित स्वर्ग के जो असाधन हैं उनमें इच्छा न होने से, स्वतन्त्र रूप से, उनको वह करता नहीं है। इह= जगत में। अपने मत में पहिले बताई हुई युक्ति से यागादिक में प्रवृत्ति होती है इसमें लौकिक व्यवहार भी बता रहे है। पुमर्थ= भोजनादिव्यापार में जो दुःख का साधन है तो भी मनुष्य का अपना भोजनादि अर्थ उसके साधन रूप से जानने के बाद इच्छा होती है कि भोजनादि व्यापार मदीष्ट साधनम् भोजनादि व्यापार मेरा इष्ट साधन है, तो इससे लोक प्रवृत्ति होती है। राजमार्गः= सभी दोष से रहित प्रसिद्ध ऐसा यह मार्ग है। यह उपाय बिलकुल निर्दोष है। इति। अर्थात् राग से ही प्रवृत्ति होती है, न कि नियोगमात्र से।

नन्विष्टसाधनताज्ञानस्य चन्द्रादौ सत्त्वेऽपि न कश्चित्तत्र प्रवर्त्तत इति कथं तत्प्रवर्त्तकमित्याशङ्क्य, कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञानं प्रवर्त्तकं तच्च न चन्द्रादावस्तीति न तत्र तस्य व्यभिचार इत्याशयेनाह—

आशंका= इष्टसाधनता ज्ञान चन्द्रादिक में होने पर भी (अर्थात् चन्द्रादि विषयक) इष्ट साधनता ज्ञान होने पर भी कोई भी व्यक्ति चन्द्रादिक को प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त नहीं होता है तो फिर कैसे इष्ट साधनताज्ञान को प्रवर्तक माना जाय?

समाधान= कृति साध्येष्ट साधनता ज्ञान को प्रवर्त्तक माना जाता है और ऐसा कृति-साध्येष्टसाधनताज्ञान चन्द्रादिक में नहीं है, अतः, व्यभिचार नहीं है। अर्थात् हेतु है और साध्य नहीं है। ऐसी बात नहीं है। अर्थात् कृतिसाध्येष्ट साधनता ज्ञान हो और प्रवृत्ति ना हो ऐसा नहीं है। यहां तो हेतु भी नहीं है और साध्य भी नहौ है। अतः व्यभिचार दोष

नहीं है।

इष्टाभ्युपायस्य च कार्यभावः
प्रयत्ननिष्पाद्यतयोपपन्नः।।
स चावसेयो वचनाल्लिङादेः
प्रत्यक्षतो रागनिबन्धनस्तु।।४७७।।

अन्वय= इष्टाभ्युपायस्य कार्यभावः प्रयत्ननिष्पाद्यतया उपपन्नः स च लिङादेः वचनात् अवसेयः, राग-निबन्धनस्तु प्रत्यक्षतः।।४७७।।

अन्वयार्थः= इष्ट साधन की कर्तव्यता कृति साध्यत्व रूप से प्रवर्तक है। वह (कृति साध्यत्व रूप कार्य भाव) लिङादि वचन से बोध्य है, बाकी राग प्रयुक्त कार्य भाव प्रत्यक्ष से जाना जाता है।।४७७।।

इष्टाभ्युपायस्येति। च उक्तशङ्कानिवर्त्तकः। कार्यभावः कार्यत्वम्। ननु कृत्युद्देश्यस्यैव कार्यत्वं तच्च स्वतः पुरुषार्थस्यैवेति न धात्वर्थस्य तदस्तीत्याशङ्क्याह- प्रयत्ननिष्पाद्यतयेति। तृतीयेत्थंभावे, प्रयत्ननिष्पाद्यतारूपः स तस्योपपन्न इत्यर्थः। ननु कार्यभावो लिङादिना ज्ञायते चेत्स एव लिङर्थोऽस्तु किमिष्टाभ्युपायत्वस्यापि तदर्थत्वकल्पनयेत्याशङ्क्य प्रयत्ननिष्पाद्यतारूपकार्यभावज्ञानस्यातिप्रसङ्गेनाप्रवर्त्तकत्वात् प्रवर्त्तकस्यैव लिङर्थत्वात्तद्विशेषितेष्टसाधनत्वे लिङर्थ इत्याशयेनाह-स चेति। कृतिसाध्येष्टाभ्युपाय एवेत्यर्थः। ननु यागादेरिष्टसाधनतया कृतिजनकेच्छाविषयतारूपकृत्युद्देश्यताऽप्यस्तीति तदात्मकमेव कार्यत्वं लिङर्थः किं न स्यादित्याशङ्क्य तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वान्न शब्दार्थत्वमित्याह— प्रत्यक्षत इति। रागनिबन्धनः फलेच्छानिबन्धनः, फलेच्छयैव हि साधनेच्छा भवतीति तथोक्तम्।।४७७।।

इष्टाभ्युपायस्येति— उक्त शंका का निवर्त्तक है। कार्यभावः कार्यत्वम्।

आशंका= कृति उद्देश्य को ही कार्यत्व माना जाय तो फिर वह स्वतः पुरुषार्थ रूप होगा, धात्वर्थ रूप नहीं होगा।

समाधान= प्रयत्ननिष्पाद्यतयेति= तृतीया विभक्ति इत्थंभाव में दी है। प्रयत्न निष्पाद्यतारूप वह कार्य का स्वरूप है इत्यर्थः।

आशंका= कार्यभाव यदि लिङादि से ज्ञात होता है तब तो कार्य लिङर्थ स्वरूप ही माना जाय फिर कृतिसाध्येष्टसाधनता ज्ञान रूप कार्य की अर्थ कल्पना करने की क्या आवश्यकता है?

समाधान= प्रयत्न निष्पाद्यता रूप कार्य भाव ज्ञान घटादि में अतिप्रसक्त होने के कारण लिङर्थ स्वरूप मानना उचित नहीं अब इष्ट साधनता ज्ञान को लिङर्थत्व रूप मानने से चन्द्रादिक में अतिप्रसक्ति होती है, अतः इसे प्रवर्तक नहीं माना जाता। जो प्रवर्तक होता है उसे ही लिङर्थत्व माना जाता है। इस आशय से कहा जा रहा है। सचेति। कृतिसाध्येष्टाभ्युपाय ही लिङर्थत्व है

आशंका= यागादिक में इष्टसाधनता होने के कारण कृतिजनकेच्छाविषयता रूप कृति उद्देश्यता भी है, अतः एतादृश स्वरूप ही कार्यत्व लिङर्थ क्यों न माना जाय?

समाधान= कार्यत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः इसे शब्दार्थत्व स्वरूप परक नहीं मान सकते हैं। प्रत्यक्षत इति। रागादिनिबन्धनः= फलेच्छा निबन्धन स्वरूप। फलेच्छा ही साधनेच्छा है, इसे पहले कह चुके हैं।

उक्तं कार्यताद्वैविध्यं विशदयति–

उक्त कार्यता को दो भागों में विभक्त किया जा रहा है।

कार्यत्वमिच्छावशवर्त्ति किंचि-
दिष्टाभ्युपाये निजमस्य किंचित्।।
निजं लिङादेवरवसेयमस्य
साक्षिप्रसादादितरप्रतीतिः।।४७८।।

अन्वयः= इष्टाभ्युपाये किञ्चित् कार्यत्वं इच्छावशवर्ति, किञ्चित् निजम्। अस्य निजं लिङादेरवसेयम्। साक्षिप्रसादात् इतर प्रतीतिः।।४७८।।

अन्वयार्थः= इष्ट साधन (यागादि) में कोई कार्यत्व इच्छाजन्य और कोई असधारण होता है। इस (इष्ट साधन) का असाधारण कार्यत्व लिङादि से बोध्य होता है एवं साक्षी प्रत्यक्ष से अन्य (कार्यत्व) की प्रतीति होती है।।४७८।।

कार्यत्वमिति। इष्टाभ्युपाये यागादौ, किं चित्कृत्युद्देश्यतारूपं कार्यत्वम्। इच्छावशवर्त्ति। फलरागनिमित्तम्। निज़ं स्वाभाविकं कृतिसाध्यत्वरूपम्, तस्य धात्वर्थस्वरूप-क्रियात्वप्रयुक्तत्वान्निजत्वम्। अस्येष्टाभ्युपायस्य। कार्यत्वं विभज्य तत्र लिङर्थमाह– निजमिति। अस्येतीष्टाभ्युपायत्वं सूचितम्। कृतिसाध्येष्टाभ्युपायत्वं लिङाद्यवसेयमित्यर्थः। प्रत्यक्षतो रागनिबन्धन इत्युक्तं स्पष्टयति– साक्षिप्रसादादिति। प्रत्यक्षत इत्यर्थः। इतरप्रतीतिः कृत्युद्देश्यतारूपकार्यत्वप्रतीतिः। चिकीर्षितत्वं हि कृत्युद्देश्यत्वं चिकीर्षा तु रागः स च

जायमान एव नियतविषयः सन् साक्षिणाऽवभास्यमान एव जायते मनसाऽवसेयतया वेति प्रत्यक्षत इतरप्रतीतिरित्यर्थः।।४७८।।

कार्यत्वमिति= इष्ट स्वर्गादि उसका अभ्युपायरूप यागादिक में, किञ्चित् कृति उद्देश्यता रूप कार्यत्व है वह कैसे तो बताते हैं इच्छावशवर्त्ति= फल राग निमित्तक है। निजम्= स्वाभाविक, कृतिसाध्यत्वरूप है। यागादि धात्वर्थ स्वरूप क्रिया से प्रयुक्त होने के कारण निजस्वरूप है। अस्य= इन स्वर्गादि उसका अभ्युपाय स्वरूप यागादि उसको प्रेरक मानेंगे। कार्य का विभाजन करके उसको लिङर्थत्व है यह बता रहे हैं निजमिति= यागादिक में इष्टाभ्युपायत्व है यह सूचित किया गया है। अर्थात् कृतिसाध्येष्टाभ्युपायत्व तो लिङादि से ही प्राप्त होता है। यह तो प्रथम कार्य की बात हुई, अब दूसरे की बात करते हैं—

प्रत्यक्षतो रागादिनिबन्धनेति= जो ४७७ श्लोक में कहा था उसको स्पष्ट कर रहे हैं साक्षिप्रसादादिति= अर्थात् कार्यत्व लिङर्थत्व को शब्दार्थपरक न मानकर प्रत्यक्षपरक मानना है। इतर प्रतीतिः कृति उद्देश्यतारूप कार्यत्व प्रतीति- जो चिकीर्षित होता है वही कृति उद्देश्य रूप होता है। चिकीर्षा तो राग या आसक्ति ही तो है, जब ऐसा राग नियत विषयक उत्पन्न होकर साक्षी से अवभासित होकर अर्थात् मन से ऐसा राग स्वीकृत होने पर ही प्रत्यक्षतः इतर प्रतीतिः= दूसरे प्रकार के कार्यता की प्रतीति लिङर्थत्व की प्रतीति होती है।

ननु कृतिसाध्येष्टसाधनत्वं कथं लिङाद्यर्थः, आत्मानं पश्येदित्यादौ लिङस्तदर्थत्वायोगात्। न हि ज्ञानं कृतिसाध्यमित्याशङ्क्य, सत्यम्, अत एव ज्ञाने न विधिः किं तु तत्र लिङ्पदं गौणमेवेत्याह—

आशंका= कृति साध्येष्टसाधनत्व में लिङाद्यर्थत्व कैसे? क्योंकि "आत्मानं पश्येत्" आत्मा को देखो, इत्यादि स्थानों में लिङ् तथा उसके अर्थ का योग नहीं है। और ज्ञान तो कृति साध्य है भी नहीं।

समाधान= बात आपकी सत्य है इसी कारण ज्ञान में विधि नहीं मानी गई है। इसीलिये वहां लिङ्पद को गौण ही माना गया है, मुख्यपरक उसे नहीं माना गया है—

जानात्यर्थे लिङ्पदं गौणमाहु
र्जानात्यर्थः कर्तृतन्त्रो न हीष्टः।।
यागाद्यर्थे कर्तृतन्त्रे हि मुख्यो
लिङ्लोड़ादिः श्रेयसो हेतुभूते।।४७९।।

अन्वयः= जानात्यर्थे लिङ्पदं गौणं आहुः जानात्यर्थः कृतितन्त्रः नहि इष्टः। (श्रेयसो) हेतुभूते कर्तृतन्त्रे यागाद्यर्थे हि लिङ्लोडादिः मुख्यः।।४७८।।

अन्वयार्थः= ज्ञानरूप अर्थ में लिङ् पद को आचार्य गण गौण कहा करते हैं क्योंकि ज्ञानरूपी अर्थ कृति साध्य नहीं होता। इष्ट साधनभूत, कृतिसाध्य, यागादि अर्थ में प्रयुक्त लिङादि तो मुख्य होते हैं।।४७६।।

जानात्यर्थ इति। ज्ञान इत्यर्थः। तत्र हेतुः— जानात्यर्थः कर्तृतन्त्र इति। हिर्हेतौ। यस्माज्जानात्यर्थः कर्तृतन्त्रः कर्तुरिच्छाधीनो न तस्मात्तत्र लिङ्पदं गौणमित्यर्थः। तर्हि यागादावपि तत्तथैवास्त्वित्याशङ्क्य मुख्यत्वे सम्भवति तस्य न गौणत्वं न्याय्यमित्याह-यागाद्यर्थ इति।।४७६।।

जानात्यर्थ इति= ज्ञान इत्यर्थ। इसमें हेतु बता रहे हैं। जानात्यर्थ कर्तृतन्त्र इति= हि कारण हेतुपरक। जब की जानाति अर्थ कर्तृतन्त्र कर्त्ता के अधीन नहीं अर्थात् कर्ता के इच्छा के अधीन नहीं है इसलिये ऐसे स्थान में लिङ्पद गौण है अर्थात् मुख्य नहीं है।

आशंका= यदि जानाति अर्थ में लिङ्पद को गौण माना है तो वैसे ही यागादिक भी उसे गौण माना जाय?

समाधान= लिङ्गपद को यागादि में मुख्य मानने से ही काम चल जाता है तब उसे गौण रूप में मानने की आवश्यकता नहीं है। यही न्याय व्यवस्था है। इसलिये कहा यागाद्यर्थ इति।।

केन तर्हि मुख्यार्थगुणेन ज्ञाने लिङ्पदप्रवृत्तिरिति जिज्ञासायामाह—

आशंका= यदि ऐसी ही व्यवस्था है तो फिर किस मुख्यार्थ के गुण को लेकर ज्ञान में लिङ्पद प्रवृत्ति होगी ऐसी जिज्ञासा होने पर समाधान-।

जानात्यर्थे श्रेयसो हेतुभाव-
भागोऽबुद्धो बोध्यते लिङ्पदेन।।
यागाद्यर्थे श्रेयसो हेतुभावो
मुख्यो बोध्यः कर्तृतन्त्रो न गौणः।।४८०।।

अन्वयः= जानात्यर्थे श्रेयसो हेतुभावभागः अबुद्धो लिङ्पदेन बोध्यते, यागाद्यर्थे श्रेयसो हेतुभावः कर्तुतन्त्रो मुख्यो बोध्यः न गौणः।।४८०।।

अन्वयार्थ= ज्ञानगत इष्ट साधनता भाग (पहले) अज्ञात होकर लिङ्पद के द्वारा बोधित होता है। (इसमें कृति साध्यता न रहनेसे लिङादि इस अर्थ में गौण है।) यागादि अर्थो में इष्ट साधनता कृतिसाध्य होने से लिङ् मुख्य ही है, गौण नहीं।।४८०।।

जानात्यर्थे श्रेयस इति। लिङर्थे हि कृतिसाध्यत्वं श्रेयः- साधनत्वं चेति भागद्वयमस्ति, तत्रात्मज्ञाने सर्वानर्थमूलाविद्यानिवृत्तिरूपश्रेयःसाधनत्वभागो लिङ्पदेनान्यतोऽनवगतो बोध्यत इति कृतिसाध्यताभागाभावादेव तत्तत्र गौणमित्यर्थः। यागादौ तु तद्द्वयमस्तीति तत्र तन्मुख्यमेवेति प्रागुक्तं विशदयति—यागाद्यर्थ इति। कर्तृतन्त्र इत्यनेन यागादौ कृति-साध्यत्वमपि सूचितमतस्तत्र मुख्य एव लिङर्थ इत्यर्थः।४८०।।

जानात्यर्थे श्रेयसो इति= लिङर्थ में दो भाग हैं एक तो है कृति साध्यत्व और दूसरा है श्रेयः साधनत्व। अब इसमें आत्मज्ञान में, जो कि आत्मज्ञान, सब अनर्थ का मूल अविद्या, उसकी निवृत्ति कराने वाला तथा श्रेय साधनरूप है ऐसे आत्म ज्ञान का बोध लिङ्पद के अतिरिक्त किसी से भी होने वाला नहीं है अतः इस भाग में तो वह लिङ्पद मुख्य है। और कृति साध्यता भाग यहां है नहीं अतः लिङ्पद यह ज्ञान में गौण ही है। याग में तो कृति साध्यत्व तथा श्रेय साधनत्व दोनों ही होने से यागाद्यर्थ में लिङ्पद मुख्य ही है। इस पहली ही बात को स्पष्ट कर रहे हैं। यागाद्यर्थ इति। कर्तृतन्त्र— इससे यागादिक में कृतिसाध्यत्व भी सूचित होता है अतः यागाद्यर्थ में लिङर्थत्व मुख्य ही है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

तर्हि किं वेदान्ते ज्ञान इव न क्वापि विधिरित्याशङ्क्य ज्ञानोपाये श्रवणादौ पुरुषेच्छावशवर्तिनि सोऽस्तीति सदृष्टान्तमाह—

आशंका= इसका तात्पर्य यह हुवा कि जिसप्रकार वेदान्त में ज्ञान के लिये कहीं भी विधि नहीं है।

समाधान= ऐसी बात नहीं है ज्ञान का उपाय भूत श्रवणादिक में जो कि पुरुष इच्छाधीन होने के कारण वहां विधि है। इसे दृष्टान्त सहित समझा रहे हैं।

यागाद्यर्थे मुख्यता यद्वदस्य
ब्रह्मज्ञानस्यान्तरङ्गेषु तद्वत्।।
तर्कादीनां कर्तृतन्त्रत्वहेतो-
र्ज्ञानादर्वाग्गौणता हेत्वभावात्।।४८१।।

अन्वयः= यद्वत् यागाद्यर्थे अस्य मुख्यता, तद्वत् ब्रह्मज्ञानस्यान्तरंगेषु ज्ञानात् अर्वाक् तर्कादीनां कर्तृतन्त्र–हेतोः, गौणता हेत्वभावात्।।४८१।।

अन्वयार्थः= जैसे यागादि अर्थो में प्रवृत्त लिङादि को मुख्यता दी जाती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान के अन्तरङ्ग साधन (श्रवणदि) में, क्योंकि ज्ञान के पहले तर्क स्वरूप श्रवणादि में कृतिसाध्यत्व रूप हेतु रहता है। अतएव गौणता के हेतु का अभाव सिद्ध हुवा।।४८१।।

यागाद्यर्थे मुख्यतेति। मुख्यता मुख्यार्थता। अस्य लिङादिपदस्य। अन्तरङ्गेषु प्रवृत्ति पर्य्यन्तमुमुक्षानन्तरमवश्यानुष्ठेयेषु श्रवणादिषु। तत्र हेतुमाह-तर्कादीनामिति। श्रवणं ह्यद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्य्यावधारणहेतूपक्रमोपसंहारैक्याद्युपपत्तिप्रतिसंधानम्। एवं वियदादेश्चेतनं कर्तारं विना कार्यत्वाद्यनुपपत्तिज्ञानं मननम्। तच्च ब्रह्मणि तर्क एवेति तथोक्तम्। एवमद्वैतब्रह्मणो निरन्तरानुसन्धानरूपं निदिध्यासनमपि कर्तृतन्त्रमेव। तथा च ब्रह्मज्ञान-साधने श्रवणादौ तर्करूपेण कृतिसाध्यताभागस्यापि भावाद्यागादाविव लिङादेर्मुख्यार्थतेति भावः। नन्वद्वैतब्रह्मावगतिसमये क्रियाकारकाद्यभावात्कथं लिङादिमुख्यार्थसंभवस्तत्राह-ज्ञानादर्वागिति। अविद्यादशायां विधिनिमित्तं सर्वमस्त्येव। न चैवमात्मनः श्रवणादि-विधिशेषत्वापत्तिः तेषामेव तच्छेषत्वेनात्मनोऽनन्यशेषत्वादिति भावः।।४८१।।

यागाद्यर्थे मुख्यतेति। मुख्यता मुख्यार्थता। अस्य- लिङादि पद का। अन्तरङ्गेषु– मुमुक्षु बनने के बाद प्रवृत्ति पर्यन्त अवश्य अनुष्ठेय ऐसे जो श्रवणादि है उनमें मुख्यता है, इसमें हेतु बता रहे हैं। तर्कादिनामिति – श्रवण तो अद्वितीय ब्रह्म में वेदान्त का तात्पर्य अवधारण का हेतु है। जो १) उपक्रम उपसंहार २) अभ्यास ३) अपूर्वता ४) फल ५) अर्थवाद, ६) उपपत्तिश्च। इन छह लिङ्गों के द्वारा श्रवण तात्पर्यावधारण कराता है। इसीप्रकार मनन है जो आकाशादिप्रपञ्च चेतन कर्ता के बिना नहीं हो सकता, चेतन कर्ता के बिना कार्य की अनुपपत्तिज्ञान इसे मनन कहते हैं, वही मनन ब्रह्म में तर्करूप है। इसी प्रकार अद्वैत ब्रह्म का निरन्तर अनुसंधानरूपनिदिध्यास भी कर्तृतन्त्र ही है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान का साधनरूप श्रवणादिक में तर्करूप से कृतिसाध्यताभाग की भी स्थिति होने से भागादिक के समान लिङादि की मुख्यर्थता है, यह भाव है।

आशंका= अद्वैत ब्रह्म के प्राप्तिकाल में क्रियाकारकादि नहीं होने से कैसे लिङादि मुख्यार्थ परक माने?

समाधान= ज्ञान के पूर्व अवस्था में यह सम्भव है। अविद्या दशामें विधिनिमित्तक सब हैं।

आशंका= फिर तो आत्मा विधिशेष होगा?

समाधान= ये सब विधियां ही आत्मा का शेष हैं। आत्मा किसी अन्य का शेष नहीं है।

ननु "भूतं भव्यायोपदिश्यते" इति शबरस्वामिवचनात्सिद्धस्य सर्वस्य भव्यार्थत्वप्रतीतेः कथमात्मनोऽनन्यशेषत्वमित्याशङ्क्य प्रागुक्तमर्थं व्यवधानेन तद्विस्मरणसम्भवात् स्मारयति—

आशंका= भूतं भव्यायोपदिश्यते "सिद्ध पदार्थ साध्य के लिये है इति" ऐसा शबर स्वामी जी का कहना है, इसका तात्पर्य सब सिद्ध पदार्थ भव्यार्थ के लिये साध्य के लिये है ऐसा प्रतीत होता है, तो फिर आत्मा अन्य किसी का भी शेष नहीं होता अर्थात् आत्मा को अन्य किसी के लिये होना चाहिये ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर पहिले कहे हुये अर्थ को, बीच में दूसरे विषय का व्यवधान आ जाने के कारण विस्मृत सा हो गया है, पुनः उसका स्मरण दिला रहे हैं—

भूतस्य भव्याय यथोपदेशः
क्रियापरे वस्तुपरे तु काण्डे।।
न हीष्टमेवं विपरीतमस्मिन्
भव्यस्य भूताय सदोपदेशः।।४८२।।

अन्वयः= यथा क्रियापरे काण्डे भव्याय भूतस्य उपदेशः, वस्तुपरे तु नहि इष्टम्। अस्मिन् विपरीतम् भूताय भव्यस्य सदा उपदेशः।।४८२।।

अन्वयार्थः= जैसे कर्मकाण्ड साध्य पदार्थ के लिये सिद्ध अर्थ का उपदेश मानता है। वैसे (वेदान्त में) कांड में (ब्रह्मकाण्ड में) वह अभीष्ट नहीं है। इसमें तो उलट सिद्ध के लिये साध्य का उपदेश मानते हैं।।४८२।।

भूतस्येति। ब्रीहिकपालादेरित्यर्थः। वस्तुपरे ब्रह्मपरे। विपरीतं भूतभव्यपरत्वविपरीतम्। भव्यस्य यज्ञादेः श्रवणादेश्च। भूताय सिद्धस्वरूपमोक्षाय।।४८२।।

भूतस्य= ब्रीहि (धान चावल का छिलके सहित स्वरूप), कपालादि घडे के दो भाग। जिनके द्वारा हवन इत्यादि किया जाता है (अष्टकपालं निर्वपेत्) यह तो बात हो गई, क्रिया परे— क्रियाप्रधान में। लेकिन वस्तुपरे— ब्रह्मपर में, विपरीतम्— भूत भव्य परक होना चाहिये इसके विपरीत दशा इसमें होती है, भव्य भूत के लिये है, यह होता है। भव्यस्य- यज्ञादिक

का श्रवणादिक का, भूताय– सिद्ध स्वरूप मोक्ष के लिये विधान है, यह भाव है।

उक्तविभागमेवोपपत्तित उपपादयंस्तद्वाक्ययोरपि तथैव शेषशेषितेत्याशयेनाह–

उक्त विभाग को उपपत्ति से (युक्ति से) प्रतिपादित करते हुये उक्त विभाग के वाक्यों को भी इसी प्रकार से शेष शेषि भाव है। उस आशय से कह रहे हैं–

भव्यप्रतीतावुपयोगभाजो
भवन्ति कात्स्न्र्येन च सिद्धवादाः।।
क्रियाप्रधाने न तथात्र किं तु
भूतप्रतीतौ खलु भव्यवादाः।।४८३।।

अन्वय= क्रियाप्रधाने सिद्धवादाः च कात्स्न्र्येन भव्यप्रतीतौ उपयोगभाजो भवन्ति अत्र तथा न, किन्तु भूतप्रतीतौ खलु भव्यवादाः।।४८३।।

अन्वयार्थः= क्रिया प्रधान सिद्धार्थक पूर्णतया साध्यार्थ की प्रतीति में उपयोगी होते हैं, लेकिन इस वेदान्त ब्रह्म काण्ड में वैसा नहीं, किन्तु भूतार्थ की प्रतीति में ही साध्यार्थक वाक्य उपयोगी होते हैं। यह सिद्धान्त है।४८३।।

भव्यप्रतीताविति। व्रीहिकपालादेर्हि साक्षात्परंपरया वा यागादिक्रियानिर्वृत्तिद्वारा कार्यार्थत्वमस्तीति क्रियाप्रधाने कर्मकाण्डे भूतं भव्यार्थमुक्तमिति न्यायमूलं तद्भाष्यं तद्विषयतयोपपन्नम्, अत्र तु तन्न्यायाभावान्न तद्भाष्यं प्रवर्त्तते इत्याशयेनाह– न तथेति। अत्र ब्रह्मकाण्डे अद्वैतब्रह्मणः कुत्रापि कथमपि कार्य उपयोगाभावात्प्रत्युत ब्रह्मसाक्षात्कार एव श्रवणादेर्भव्यस्य पर्य्यवसानमिति तन्न्यायवैपरीत्यमेव युक्तमिति भावः।।४८३।।

भव्यप्रतीताविति= व्रीहिकपालदि जो साक्षात् अथवा परंपरा से यागादिक्रिया को संपादित करते हैं इसके कारण व्रीहिकपालादि कार्यार्थपरक है, यही कारण है क्रिया प्रधान परक कर्मकाण्ड में भूत व्रीहि कपालादि भव्यार्थमुक्तम्= यज्ञादिपरक है यह जो कहा है वह न्याय मूलक है वैसा शबरभाष्य भी इसको विषय बताकर युक्तियुक्त ही है। लेकिन यहां तो वह न्याय "भूतं भव्याय कल्पते" यह न्याय चलने वाला नहीं है। इसलिये शबरभाष्य भी इस पर चलने वाला नहीं है। इस आशय से कहा जा रहा है। न तथेति अत्र- ब्रह्मकाण्ड में, यह न्याय ब्रह्म काण्ड में क्यों नहीं चलेगा तो बताते हैं कि अद्वैत ब्रह्म कहीं भी किसी भी प्रकार से कार्य उपयोगि नहीं है। इसके विपरीत ब्रह्म साक्षात्कार में ही भव्य

जो श्रवणादि है उनका पर्यवसान् हो जाता है। इसलिये पहिले न्याय के विपरीत ही यहां न्याय चलेगा, यह भाव है। भव्यं भूताय कल्पते, यही न्याय यहां चलेगा।

नन्वात्मप्रतीतेर्भव्यतया तदर्थश्रवणादेः कथं भूतशेषत्वमित्याशङ्क्य तत्प्रतीतेरपि तदभिव्यञ्जकतया तदर्थत्वात्तद्धेतोरपि तदर्थत्वमेवेत्याशयेन" भूतप्रतीतौ खलु भव्यवादाः" इत्युक्तमेव विवृणोति–

आशंका= आत्मप्रतीति भव्य होने से और ऐसी प्रतीति के लिये जो श्रवणादि है उनमें फिर भूतशेषत्व कैसे माना जाय?

समाधान= आत्म प्रतीति को भी अभिव्यञ्जक की आवश्यकता होती है, अतः श्रवणादि में भूत शेषत्व है ऐसा कहा? इसी आशय से कहा "भूतप्रतीतौ खलु भव्यवादाः" इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं–

भव्यप्रतीतौ न हि कश्चिदर्थो
भूतप्रतीतौ पुनरस्ति मुक्तिः।।
श्रोतव्य इत्यादि ततो विधानं
भूतोपदेशानुगुणं समस्तम्।।४८४।।

अन्वयः= भव्यप्रतीतौ कश्चित् अर्थो न हि, भूतप्रतीतौ पुनः मुक्तिः अस्ति। अतः श्रोतव्यः इत्यादि समस्तं विधानं भूतोपदेशानुगुणम् अस्ति।।४८४।।

अन्वयार्थः= (ब्रह्मकाण्ड में) साध्यार्थ के प्रतीति से कोई मुख्य प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। लेकिन सिद्धार्थ ब्रह्म रूप की प्रतीति से मुक्ति प्राप्त होती है। अतः "श्रोतव्यः" समस्त विधिवाक्य तत्त्वमसि आदि भूतोपदेश के ही (अङ्ग है) शेष है।।४८४।।

भव्यप्रतीतौ न हीति। अर्थो मुख्यप्रयोजनम्। फलितमाह–श्रोतव्य इति। ततः श्रवणादेः स्वतो मुख्यप्रयोजनत्वात्। श्रोतव्य इत्यादिरूपं समस्तं विधानं सिद्धाद्वैतब्रह्मोपदेशानुगुणमिति तत्तच्छेषमित्यर्थः।।४८४।।

भव्यप्रतीतौ न हीति= अर्थो– मुख्यप्रयोजन। भव्यप्रतीति में कोई भी मुख्य प्रयोजन नहीं है किन्तु भूत प्रतीति में मुख्य प्रयोजन है। फलितार्थ बता रहे हैं श्रोतव्य इति= इसी कारण श्रवणादिक में मुख्य प्रयोजन नहीं है। अर्थात् श्रोतव्यः इत्यादिस्वरुप जो समस्त विधान है वह सब कि सब सिद्ध अद्वैत ब्रह्मोपदेश का (अनुरूप) अनुगुण ही है (अनुकुल ही

है), अतः श्रवणादि विधि ब्रह्म का शेष, है। यह बात सिद्ध हो जाती है।

एवं भव्यानां भूतानां च काण्डद्वयेऽपि परस्परं विपरीतं शेषशेषित्वमुपपाद्य तद्वाक्ययोस्तु वायुक्षेपिष्ठत्वादेर्भव्यार्थत्वाभावेन तदभावमाशङ्क्य तदुपपादयति—

इसप्रकार भव्य काण्ड (कर्मकाण्ड) तथा भूतकाण्ड (ब्रह्मकाण्ड) दोनों में परस्पर विपरीत ही शेष शेषित्व भाव है। इसका प्रतिपादन करने के बाद इनके वाक्यों को भी जैसे "वायुर्वैक्षेपिष्ठादेवता" वायु बडा वेगवान् देवता है। ऐसे वाक्य जो भव्यार्थ परक नहीं है, तो इनमें शेषशिषि भाव उपपन्न नहीं हो सकेगा। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर शेष शेषि भाव का उपपादन करते हैं—

आदाय मुख्यगुणलक्षणिकप्रवृत्ती—
भव्यप्रतीतिजनकैः सह भूतवादाः।।
सम्बन्धिनो विधिवचःसु तथात्र सर्वे
भव्यार्पणाः परिवृढ़प्रतिपादकेन।।४८५।।

अन्वयः= विधिवचःसु भूतवादाः मुख्यगुणलाक्षणिकप्रवृत्तीः आदाय भव्यप्रतीतिजनकैः सह सम्बन्धिनो भवन्ति, तथा अत्र सर्वे भव्यार्पणाः परिवृढ प्रतिपादकेन सम्बन्धिनो भवन्ति।।४८५।।

अन्वयार्थः= विधिवाक्यों में जैसे भूतार्थक वाक्य मुख्य गौणी तथा लक्षणा का वृत्ति का सहारा लेकर साध्यार्थक वाक्यों के साथ एकवाक्यतापन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार से वेदान्त में यहां सभी भव्यसमर्पक वाक्य परब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों के साथ एक वाक्यतापन्न होकर उपयोगी हो जाते हैं।।४८५।।

आदायेति। विधिवचस्सु विधिप्रकरणेषु ये भूतवादा भूतार्था अर्थवादादयस्ते मुख्यगुण-लाक्षणिकवृत्तीरादाय मुख्याद्यन्यतमया वृत्त्या स्वर्गाद्यादित्यादिसादृश्यप्राशस्त्यादि बोधयन्तो भव्यप्रतीतिजनकैरनुष्ठेयार्थविधायकैः सहसम्बन्धिनो भवन्ति सम्बध्यन्ते यथा तथाऽत्र काण्डे भव्यार्पणा भव्यबोधकाः श्रोतव्यादिशब्दाः परिबृढ़स्य प्रभोर्ब्रह्मणः प्रतिपादकेन वाक्येन सम्बन्धिन इत्यनुषङ्गः।।४८५।।

आदायेति। विधिवचस्सु= विधि प्रकरण में, जो जो भूतवाद है, अर्थवादादि है वे सब की सब मुख्य वृत्ति, गुणवृत्ति, अथवा लाक्षणिक वृत्ति इन तीनों वृत्तियो में से किसी एक वृत्ति का सहारा लेकर स्वर्गादि, आदित्यादि, सादृश्य अथवा प्राशस्त्यादि (प्रशंसा) इनका ये प्रकाशन करते हुये, भव्य यज्ञादि उनके प्रतीति के जनक जो अनुष्ठेय अर्थ है, ऐसे अनुष्ठेय अर्थ के विधायक वाक्यों के साथ अर्थवादादि सम्बन्धित होकर उन विधायक वाक्यों

के साथ हो जाते हैं। जैसे अभी अभी ब्रह्मकाण्ड में, भव्यार्पणाः— भव्य बोधक श्रोतव्यादि शब्द, परिवृढस्य= प्रभु या ब्रह्म का प्रतिपादक वाक्य के साथ सम्बन्धित होकर शेषशिषित्वभाव प्राप्त हो जाते हैं।

एवं ब्रह्मादिशब्दानां वेदान्तगतभव्यार्थशब्देभ्यः प्राधान्यमुपपाद्य तत्फलं गुणे त्वन्याय्य-कल्पनेतिन्यायेन ब्रह्मादिपदानुगुण्येनैव भव्यं नेयमिति सदृष्टान्तमाह—

इसप्रकार ब्रह्मादि शब्दों का वेदान्तगत भव्यार्थ शब्दों के अपेक्षा श्रवणादि के अपेक्षा प्राधान्य कह दिया है। इसका फल यह कि इन वाक्यों को अर्थात् श्रवणादि परक वाक्यों को "गुणे त्वन्याय कल्पनेति" इति न्यायेन" गौणपरक न मानकर प्रधान ब्रह्मपरक मानना ही उचित है इस न्याय से ब्रह्मादि पद के अनुकुल ही भाव्य श्रोतत्यादि वाक्यों को ले जाना उचित है। इसे दृष्टान्त सहित समझा रहे हैं।

सिद्धार्थवादिवचनेषु न गौणतादि-
दोषाय कर्मपरवाक्यगतेषु यद्वत्।।
कार्यार्थवादिवचनेषु न गौणतादि-
दोषस्तथोपनिषदीति समानमेतत्।।४८६।।

अन्वयः= यद्वत् कर्मपरवाक्यगतेषु सिद्धार्थवादिवचनेषु गौणतादिः दोषाय न, तथा उपनिषदि कार्यार्थवादिवचनेषु गौणतादिः न दोषः समानमेतत्।।४८६।।

अन्वयार्थः= जैसे कर्मकाण्ड के सिद्धार्थ वाक्यों में गौणतादि (की कल्पना) दोषावह नहीं है, इसी प्रकार से उपनिषद् के कार्यपरक वाक्यों में गौणतादि दोषावह नहीं है।।४८६।।

सिद्धार्थवादीति। कर्मपरवाक्यानि विद्ध्युद्देशास्तद्गतानि तदेकवाक्यतामापन्नानि यानि सिद्धार्थबोधकपदानि तेष्वित्यर्थः। न गौणतादिर्दोषायेति। तेषां गुणभूतार्थत्वाद् गुणवचने च प्रधानानुरोधेन गौणतादिर्न दोषायेत्यर्थः। दार्ष्टान्तिकमाह- कार्यार्थवादीति। ब्रह्माप्येति ब्रह्मैव भवतीत्यादिवचनेष्वित्यर्थः। एतद् गुणेऽन्याय्यवृत्तिकल्पनम्।।४८६।।

सिद्धार्थवादीति= कर्मपरक वाक्य विधि को उद्देश्य बनाकर चलते हैं। तद्गतानि= कर्मपरक वाक्यों के साथ एकताभाव को प्राप्त होकर सिद्धार्थबोधक श्रोतव्यादि पद चलते है। न गौणतादि= इन श्रोतव्यादि वाक्यों को गौणतापरक दोष नहीं माना जा सकता। श्रोतव्यादि वाक्य यद्यपि ब्रह्म परक भूतार्थ परक गुणभूत ही है तथापि प्रधान ब्रह्म के गुणवचन कथन

करने के कारण गौणतादि दोषावह नहीं है। दार्ष्टान्त में बता रहे हैं। कार्यार्थवादीति= ब्रह्माप्येति (ब्रह्म को प्राप्त करता है) ब्रह्मैव भवति ब्रह्म ही हो जाता है, इत्यादि वचनों में गौणतादि दोषावह नहीं है। प्रधान के अनुरोध से एतत्= गुणेऽन्याय कल्पनम्= यह दोषावह नहीं है। उपरोक्त कारणों से यह भाव है।

किं च यथा मानमेयभावः काण्डद्वये विपरीतः एवं भूतभव्ययोर्गुणप्रधानभाव-वैपरीत्यमपि न्याय्यमेवेत्याशयेनाह–

और भी जैसे कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्ड में विपरीत मानमेय भाव है, इसी प्रकार से भूत और भव्य का गुणप्रधान भाव विपरीत रूप से न्यायोचित है। इस आशय से कहा जा रहा है–

मानेन मेयावगतिश्च युक्ता
धर्मस्य जाड्याद्विधिनिष्ठकाण्डे।।
मेयेन मानावगतिस्तु युक्ता
वेदान्तवाक्येष्वजडं हि मेयम्।।४८७।।

अन्वयः= विधिनिष्ठकाण्डे मानेन मेयावगतिः युक्ता। धर्मस्य जाड्यात्। वेदान्त वाक्येषु मेयेन मानावगतिश्च युक्ता, मेयं हि अजडम्।।४८७।

अन्वयार्थः= कर्मकाण्ड में प्रमाण से धर्म रूप प्रमेय का ज्ञान युक्त है, क्योंकि धर्मरूप प्रमेय जड है। लेकिन वेदान्त वाक्यों मे ब्रह्म रूप प्रमेय से प्रमाणों की गति होती है, क्योंकि ब्रह्म रूप प्रमेय अजड (चैतन्य स्वरूप) स्वरूप है।।४८७।।

मानेनेति। श्रुत्यादिप्रमाणेनेत्यर्थः। मेयस्य धर्मस्यावगतिः। चोऽवधारेणे, मानेन सम्बध्यते। तत्र हेतुः– धर्मस्य जाड्यादिति। मेयेन स्वप्रकाशचैतन्येनैव वेदान्तप्रतिपाद्येन मानस्य वेदान्ततज्जन्यवृत्त्यादेरवगतिर्युक्ता, चैतन्येनैव हि जडस्यावगतिर्घटादौ दृष्टेत्यर्थः। मेयान्मानावगतौ हेतुं मनसि निधायाह-वेदान्तेति। यद्यपि स्वाविद्यानिवृतौ वेदान्तं तज्जन्यवृत्तिं चापेक्षते ब्रह्म, तथापि स्वसिद्धौ नापेक्षते, अप्रतिबद्धस्वप्रकाशसाक्षिणस्तदनपेक्षत्वाज्जड़ं च सर्वं तद्भास्यमिति वेदान्ताद्यपि तेनैवावगन्तव्यमित्यर्थः।।४८७।।

मानेनेति= श्रुत्यादि प्रमाणों से। मेयस्य= धर्म का बोध। या धर्म की प्राप्ति, च= अवधारणार्थक है। मानेन= प्रमाण से धर्मादिक का बोध हो जाता है। इसमें हेतु क्या है? तो बताते हैं। धर्मस्य जाड्यादिति- धर्म जड है, इसलिये उसके बोध के लिये प्रमाण

की अपेक्षा है। लेकिन वेदान्त में उसके विपरीत है, मेय जो ब्रह्म वह स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप होने से और वही वेदान्त का प्रतिपाद्य है उससे प्रमाण की अर्थात् वेदान्त तज्जन्य वृत्यादिक की प्राप्ति होती है, क्योंकि चैतन्य से ही जड वृत्ति की प्राप्ति घटादि पदार्थ में देखी गई है। तो प्रमेय ब्रह्म से श्रुत्यादि प्रमाण की प्राप्ति होती है इस बात को मन में धारण करके कह रहे हैं। वेदान्तेति= यद्यपि ब्रह्मविषय अविद्यानिवृत्ति के लिये वेदान्त तथा वेदान्त जन्य वृत्ति की अपेक्षा ब्रह्म करता है तथापि ब्रह्म सिद्धि के लिये वेदान्त तथा वेदान्त जन्य वृत्ति की अपेक्षा ब्रह्म नहीं करता है। क्योंकि ब्रह्म का अपना स्वरूप जो कि अप्रतिबद्ध स्वप्रकाश साक्षी स्वरूप होने से उसके लिये और किसी की आवश्यकता नहीं है। बल्कि सब जडपदार्थ उसी से भास्य है, प्रकाशित है (प्रकाश्य है) इति, इसलिये वेदान्तादि भी उससे ही जानने योग्य है।

ननु "अस्तिर्भवन्तीपरः प्रयोक्तव्यः" इतिकात्यायनवचनात् क्रियापदनिमित्तैव पदानामेकवाक्यता, वेदान्ते च न क्रियापदं भवद्भिरिष्यते, अतो वेदान्तवाक्येष्वजड़ं हि मेयमित्यनुपपन्नमित्याद्याशङ्कां निराकृतामपि विस्मरणशीलं प्रति पुनर्निराकरोति–

आशंका= "अस्तिर्भवन्तीपरः प्रयोक्तव्यः" अस्ति भवति परक ही शब्द का प्रयोग करना चाहिये कात्यायन (प्रकार विशेष को ही बताना हो वहां क्रियापद की जरूरत नहीं है। जैसे देवदत्त) "इति इस कात्यायन वचन से क्रियापदनिमित्तक ही पदों की एक वाक्यता होती है। और वेदान्त में तो आप क्रिया पद का स्वीकार करते है नहीं। इसलिये वेदान्त वाक्यों में अजड (चैतन्य) ही प्रमेय है यह अनुपन्न है, ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर यद्यपि इस विषय का निराकरण पहिले कर चुके हैं तथापि जो इस निराकरण को भूल चुके हैं उन्हें फिर याद दिलाकर उक्त शंका का निराकरण किया जा रहा है।

कर्मप्रधानेऽतिगते च काण्डे
वाक्यत्वमाख्यातपदप्रयुक्तम्।।
ब्रह्मप्रधाने श्रुतिमस्तकेऽस्मि-
न्नामप्रधानं वचनं समस्तम्।।४८८।।

अन्वयः= अतिगते कर्मप्रधाने काण्डे आख्यातपदप्रयुक्तं वाक्यत्वम्। ब्रह्म प्रधाने अस्मिन् श्रुतिमस्तके समस्तं वचनं नामप्रधानम्।।४८८

अन्वयार्थः= अतीत कर्मकाण्ड में आख्यात प्रधान वाक्य होता है और इस ब्रह्म प्रधान वेदान्त काण्ड में समस्त वाक्य नाम प्रधान होते हैं।।४८८।

कर्मप्रधान इति। अतिगते अतिक्रान्ते। नामप्रधानं ब्रह्मात्मादि सुबन्तपदप्रधानम्। कात्यायनवाक्यं हि वृद्धव्यवहारमूलम्, वृद्धाश्च यत्र क्रियां तत्संसृष्टं वा प्रतिपिपादयिषन्ति तत्रैव चाख्यातपदं प्रयुञ्जते, यत्र तु नैवं किं तु संबन्धिविशेषं प्रकारविशेषं वा विजिज्ञापयिषन्ति तत्र देवदत्तस्येदं गृहं कुसुमितं वनमिति च तेन विनैव प्रयुञ्जतेऽतः कर्मकाण्डस्य क्रियाप्राधान्यात्तत्रैव वाक्यत्वं क्रियापदनिमित्तमिति कात्यायनस्याप्याशयः। ब्राह्मे काण्डेतु नामार्थप्राधान्यान्नामपदमेवैकवाक्यतायां निमित्तमित्याशयः।।४८८।।

कर्मप्रधान= अतिगते= कर्मप्रधान का अतिक्रमण होने के बाद। नाम प्राधानम्— ब्रह्म आत्मादि सुबन्त प्रधान में। कात्यायन वाक्य तो वृद्धों के व्यवहार के अनुसार है। वृद्ध तो जहां क्रिया अथवा क्रिया से सम्बन्धित का भेद या प्रकार विशेष जानकारी प्राप्त करानी हो वहाँ वहां क्रियापद का प्रयोग आवश्यक है। किन्तु सम्बन्ध विशेष अथवा प्रकार विशेष को ही बताना हो वहां क्रियापद की अपेक्षा नहीं है। जैसे देवदत्तरस्येदं गृहम्, कुसुमितं वनम्, यह देवदत्त का घर, कुसुमितवनम् इन प्रयोगों में क्रिया अथवा क्रिया सम्बन्धित्व का कोई उल्लेख नहीं है। अर्थात् इन वाक्यों का क्रियापद के बिना ही प्रयोग किया गया है। इसलिये कर्मकाण्ड तो क्रिया प्रधान होने के कारण वहां ही वाक्य क्रियापद निमित्त से माना जाता है ऐसा कात्यायन का अभिप्राय है। बाकी ब्रह्मकाण्ड नाम प्रधान है न कि क्रियाप्रधान, अतः ब्रह्मकाण्ड में नाम पद ही एक वाक्यता करने में सक्षम है, यह आशय है।

ननु वेदान्तेऽप्यस्तादिक्रियाश्रवणात्सर्वत्र क्रियापदनिमित्तमेव वाक्यत्वमस्त्वित्याशङ्क्य यथा कर्मकाण्डे सुबन्तमपि पदं भव्यार्थं फलत आख्यातव्यवहारार्हमेव भवति एवमत्र तिङन्तमपि फलतो नामैवातः साध्यार्थक्रियापदाभावान्नामप्रधानमेव वेदान्तवाक्यमित्याशयेनाह—

आशंका= वेदान्त में भी अस्ति आदि क्रिया का श्रवण किया जाता है। अतः सर्वत्र क्रियापद के निमित्त से ही वाक्यत्व होना चाहिये, ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर।

समाधान= जिस प्रकार से कर्मकाण्ड में सुबन्त पद भी भव्यार्थक होकर फलतः (आखिर में) वह सुबन्त पद आख्यात व्यवहार के योग्य बन जाता है इसी प्रकार यहां वेदान्त में भी तिङन्त पद भी फलतः नाम रूप ही माना जाता है, अतः साध्य ब्रह्मादि वही अर्थ है, उसे प्राप्त करने के लिये कोई क्रिया पद न होने के कारण नाम प्रधान ही वेदान्त वाक्य हैं, इस आशय से कहा जा रहा है।

कार्यप्रधानमखिलं च पदं सुबन्त-
माख्यातमेव फलतः खलु कर्मकाण्डे।।
तद्वत्तिङन्तमपि वेदशिरःसु सर्वं
नामैव तद्धि परिनिष्ठितवस्तुनिष्ठम्।।४८६।।

अन्वयः= कर्मकाण्डे अखिलं कर्मप्रधानं सुबन्तं फलतः आख्यातमेव, तद्वत् वेदशिरस्सु सर्वं परिनिष्ठत वस्तुनिष्ठं तत् तिङन्तमपि नामैव।।४८६।।

अन्वयार्थः= जैसे कर्मकाण्ड में निखिल कर्म प्रधान सुबन्त (आख्यात) ही माने जाते हैं। वैसे ही वेदान्त में समस्त सिद्धार्थक तिङन्त (नाम) ही माने जाते हैं। ।।४८६।।

कार्यप्रधानमिति। अनुष्ठेयार्थप्रधानं सुबन्तमप्याख्यातम् आख्यातव्यवहारार्हम्, फलतोऽनुष्ठेयार्थप्रतीतेः। तिङन्तं तिङन्ततया प्रतीयमानम्। नाम नामव्यवहारार्हम्। अत्र हेतुः तद्धीति।।४८६।।

कार्यप्रधानमिति= अनुष्ठेयार्थ प्रधान सुबन्त से युक्त होने पर भी उसे, आख्यातम्-आख्यात व्यवहार के योग्य माना जाता है, क्योंकि फल की दृष्टि से आखिर में अनुष्ठेय अर्थ की प्रतीति होने से सुबन्त को आख्यातपरक मानना पडता है। इसीप्रकार वेदान्त में तिङन्त पद भी प्रतीयमान होने पर भी। नाम– उसे नाम व्यवहार के योग्य माना जाता है। इस में हेतु यह है कि, तद्धीति= वह परिनिष्ठित (सिद्ध वस्तु) वस्तु निष्ठ होने से।

किं नामपदं भव्यार्थं सदाख्यातं दृष्टान्ते विवक्षितमिति जिज्ञासायामाह–

इस प्रकरण को स्पष्ट कर रहे हैं। क्या सुबन्त नामपद भव्यार्थपरक आख्यात रूप से दृष्टान्त में विवक्षित है। ऐसी जिज्ञासा होने पर समझाते हैं–

आग्नेयमाश्विनमथैन्द्रमितीदृशं हि
सर्वं सुबन्तमपि भव्यपरं प्रसिद्धम्।।
साऽस्येति तद्धितसमन्वितसन्निधाने
नामैव तद्भवति यद्भवतीति तद्वत्।।४९०।।

अन्वयः= आग्नेयम्, आश्विनम् अथ ऐन्द्रम, इतीदृशं हि सर्वं सुबन्तमपि भव्यपदं प्रसिद्धम्। साऽस्य इति तद्धित समन्वितसन्निधाने यद् भवति इति तद् नामैव भवति तद्वत्।।४९०

अन्वयार्थः= आग्नेयो अष्टकपालो भवति में आग्नेय पद आश्विनं गृह्णाति में आश्विनपद, ऐन्द्रम दधि में ऐन्द्रपद ये सब सुबन्त होने पर भी साध्यार्थक होते हैं। इसी प्रकार "सा अस्य देवता" इस सूत्र से विहित तद्धित प्रत्यय युक्त आग्नेय पद की सन्निधि में जो "भवति" पद पढ़ा है वह भी अर्थात् नाम ही है।।

आग्नेयमिति। अग्निर्देवताऽस्येत्याग्नेयः पुरोडाशः। एवमाश्विनादावपि। तथा च सुबन्तेनापि तेन द्रव्यदेवतासंबन्धद्वाराऽनुष्ठेययागप्रतीतेस्तदाख्यातवद्भव्यपरमित्यर्थः। इदानीमाख्यातपदस्यापि नामत्वे दृष्टान्तमाह-साऽस्येतीति। "साऽस्य देवता" इति सूत्रेण विहितो यस्तद्धितस्तत्समन्वितं यदाग्नेयादिपदं तत्सन्निधाने भवतीति यत्पदं तन्नामैव भवति। तदर्थस्यान्यव्यापारत्वेनाननुष्ठेयत्वादिति यद्वत्तद्वदित्यर्थः।।४६०।।

आग्नेयमिति= अग्नि है देवता जिसका उसे आग्नेय पुरोडाश कहते हैं वैसा पदार्थ है पुरोडाश। इसी प्रकार आश्विन् है देवता जिसका उसे आश्विन् कहते हैं औषधी इत्यादि। तो सुबन्त से भी द्रव्य और देवता के सम्बन्ध द्वारा अनुष्ठेय याग की प्रतीति होने से उस सुबन्त को आख्यात के समान भव्य परक मानना पडता है। अब आख्यात पद को भी नाम के समान माना जाता है, इसमें दृष्टान्त दे रहे हैं। सा ऽस्येतीति= "साऽस्य देवता" इस सूत्र से विहित जो तद्धित है आग्नेपद उससे समन्वित जो आग्नेयादिक पद है, उसके सन्निधि में जो भी पद (भवति) ड़ोता है वह नाम ही होता है। नामार्थ का अन्य ही व्यापार होने के कारण अनुष्ठान के योग्य नहीं हो सकता यह बताने के लिये यद्वत्तद्वदिति प्रयोग किया क्योंकि अनुष्ठान का विधायक आग्नेय ही है। भवति का तो अर्थ केवल सत्तापरक है।।

तद्वदिति सूचितं दार्ष्टान्तिकमाह—

तद्वदिति सूचित दार्ष्टान्त में कहा जा रहा है।

अस्त्यस्म्यसीति च तिङन्तपदानि सन्ति
वेदान्तवाक्यनिलयानि तथापि तानि।।
नाख्यातशब्दनिजशक्तिधुरं वहेयु-
रस्तित्वमात्रविषया हि निषक्तिरेषाम्।।४६१।।

अन्वयः= वेदान्त वाक्यनिलयानि अस्त्यस्म्यसीति लिङन्तपदानि सन्ति, तथापि तानि आख्यातशब्द निजशक्तिधुरं न वहेयुः, हि एषाम् अस्तिमात्रविषयानिषक्तिः।।४६१।।

अन्वयार्थः= वेदान्त वाक्यों के अन्तर्गत अस्ति, अस्मि असि ये स्वरूपतः तिङन्त पद है, तथापि वे आख्यात शब्द की असाधारण शक्ति का विषय (भव्यार्थ) का बोध नहीं करा सकते। क्योंकि इन पदों का सत्तामात्र के साथ सम्बन्ध है। अर्थात् प्रतिपदिकार्थ मात्र के बोधन में पर्यवसान है।।४६१।।

अस्त्यस्म्यसीति। आख्यातशब्दस्य या निजा शक्तिस्तस्या धुरं भव्यार्थप्रकाशं न वहेयुरित्यर्थः।। कुतो न वहेयुस्तत्राह- अस्तित्वमात्रेति। अस्तिप्रकृत्यर्थमात्रनिष्ठा ह्येषां पदानां निषक्तिः संबन्ध इत्यर्थः।।४६१।।

अस्त्यस्म्यसीति= अस्ति, अस्मि इत्यादि जो तिङन्तपद है लेकिन ये पद आख्यात शब्द की जो निज शक्ति है उसके धुरम्= भव्यार्थ प्रकाश को वहन नहीं कर सकते। क्यों न वहन करेंगें? तो समाधान देते हैं अस्तित्वमात्रेति– अस्ति जो प्रकृत्यर्थ है तन्मात्र निष्ठ ही इन पदों की शक्ति है, इससे अतिरिक्त नहीं।

कस्तर्हि आख्यातपदस्य मुख्योऽर्थे यस्य "नाख्यातशब्दनिजशक्तिधुरं वहेयुः" इत्यनेनास्त्यादिशब्दात्प्रतीतिर्निषिध्यते इत्याकाङ्क्षायामाह–

आशंका= तो फिर आख्यातपद का मुख्यार्थ क्या है? जिससे यह सिद्ध हो सके कि आख्यात शब्द की जो निज शक्ति है उसके धुरम्- भत्वार्थ प्रकाश को वहन नहीं कर सकते अस्ति तिङन्त आदिपद। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते

पूर्वापरीभूतपदार्थनिष्ठ-
माख्यातमाख्यातविदो वदन्ति।।
कूटस्थसत्तावगतिप्रधान
माख्यातवत्साधु तिङन्तमाहुः।।४६२।।

अन्वयः= आख्यातविदः आख्यातं पूर्वापरीभूतपदार्थनिष्ठं वदन्ति। कूटस्थसत्तावगतिप्रधानं तिङन्तं आख्यातवत् साधु आहुः।।४६२।।

अन्वयार्थः= आख्यात तत्त्ववेत्ता "आख्यात" पद को पूर्वापरी भूत अर्थ का वाचक कहा करते हैं। कूटस्थ स्वरूप सत्ता के बोधक तिङन्त पद को आख्यात के सदृश ही कहते हैं।।४६२।।

पूर्वापरीभूतेति। गच्छति पचतीत्यादिना हि गम्यादिधात्वर्थः पूर्वापरीभूतानेकक्षणनिचयरूपः प्रतीयत इति स एवाख्यातान्तपदस्य मुख्योऽर्थ इत्याख्यातविदो वैयाकरणा वदन्तीत्यर्थः। एवं चात्मस्वरूपसत्तापर्य्यवसाय्यस्त्याद्यपि आख्यातवत्साधु शब्ददोष रहितं तिङन्तमात्रं भवति न तु पचत्यादिरिव मुख्यार्थमित्याह कूटस्थसत्तेति।।४६२।।

पूर्वापरीभूतेति= गच्छति पचति, इत्यादि से हि गम, पच जो धात्वर्थ है, वह पूर्व तथा अपरीभूत (पहिले तथा बाद में भी) अनेक क्षणों का निचय रूप (समूहरूप) प्रतीयमान होता है वही आख्यातान्त पद का मुख्य अर्थ है। ऐसा आख्यातविद् वैय्याकरणी कहते हैं। इस प्रकार आत्मस्वरूप सत्ता को पर्यवसित करने के लिये "अस्ति" असि" है, और ये आख्यात के समान बडे अच्छे शब्द दोष से रहित तिङन्तपद है, लेकिन ये पद पचति इत्यादि के समान नहीं है। क्योंकि पचति इत्यादि तिङन्तपद पूर्वापरिभावापन्नार्थ मुख्यार्थपरक है। अर्थात् अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले हैं। लेकिन असि, अस्मि, इत्यादि तिङन्तपद सत्तापर्यवसायी मात्र है। इसे स्पष्ट कर रहे हैं। कूटस्थ सत्तेति– आत्मा की, ब्रह्म की जो कूटस्थ सत्ता ऐसी सत्ता में ही ये असि, अस्ति इत्यादि पद पर्यवसित होते हैं। अर्थात् ये आख्यात होते हुये भी ये आख्यातपद भार पूर्वापरिभाव सम्बन्ध नहीं बता सकते।।

कूटस्थसत्तावगतिमात्रनिष्ठमस्त्यादिसमभिव्याहृतमपि वेदान्तवाक्यमित्युक्तमाक्षिपति–

कूटस्थ सत्तावगतिमात्रनिष्ठ अस्ति इत्यादि पद है, इस पद से समभिव्याहृत भी वेदान्त वाक्य है इस बात पर आक्षेप कर रहे हैं–

अस्तित्ववस्तुविषयोपनिषन्निषक्ति-
राश्रीयते यदि तदा प्रमितं प्रमेयम्।।
तस्यास्तवापतति मानमितत्वमेव
ह्यस्तित्वमात्मगतमभ्युपयन्ति धीराः।।४६३।।

अन्वयः= यदि उपन्निषन्निषक्तिः अस्तित्ववस्तुविषया आश्रीयते, तदा तव अस्याः प्रमेयं प्रमितं आपतति, धीराः हि मानमितत्वमेव आत्मगतं अस्तित्वं उपयन्ति।।४६३।।

अन्वयार्थः= यदि उपनिषद् (के आख्यात पदों) का सम्बन्ध सत्तारूप विषय के साथ स्थापित किया जाय तब वेदान्ती के मत में उपनिषद का प्रमेय प्रमित हो जायगा। क्योंकि धीरगण (प्राभाकर) प्रमाण विषयत्व को ही आत्मगत अस्तित्व मानते हैं।।४६३।।

अस्तित्वेति। अस्तित्ववस्तु सत्ता, वेदान्तानां तन्निष्ठत्वे मानान्तरप्रमितप्रमेयता तत्सिद्धानुवादता तव प्रसज्येत। कुतस्तत्राह-मानमितत्वेति। मानविषयत्वमेव हि सर्वत्रास्तित्व-मिति धीरा धृष्टाः प्राभाकरा अङ्गीकुर्वन्तीत्यर्थः। आत्मगतमिति तु प्रस्तुताभिप्रायम्।।४६३।।

आस्तित्वेति= अस्तित्ववस्तुसत्ता ही तो है। वेदान्त मन्त्रों को ऐसे सत्तापरक मानने से मानान्तर से जो प्रमित है वही प्रमेय होने लग जायेगा इसका तात्पर्य सिद्धपदार्थ का

अनुवादमात्र ही वेदान्त वाक्य में प्रसक्त होगा। यह कैसे? तो कहते हैं। मानमितत्वेति= प्रमाण की विषयता हि सर्वत्र अस्तित्व मेयत्व है ऐसे धीराः= प्राभाकर अङ्गीकृत करते हैं। आत्मगतम्– तो आत्मा में भी प्रमाण की विषयता रूप अस्तित्व है। ऐसा आक्षेप है।

ननु मानविषयत्वस्यास्तित्वे सुषुप्त्यादावात्मादेरसत्त्वापत्तिरित्यरुचेराह–

आक्षेप में भी पूर्वपक्ष आशंका कर रहा है= प्रमाणविषयता को अस्तित्व रूप मान लेने से सुषुप्ति में आत्मा की असत्वापत्ति होगी क्योंकि उस अवस्था में आत्मा में प्रमाण की विषयता होती नहीं है। ऐसी आशंका होने पर अरूचि को बता रहे हैं–

अथवा मितियोग्यताऽस्तिता
निरवद्याऽस्तु समस्तवस्तुषु।।
परमात्मनि तत्प्रतीतये
सकलं वेदशिरः प्रवर्त्तताम्।।४६४।।

अन्वयः= अथवा समस्त वस्तुषु मितियोग्यता निरवद्या अस्तिता अस्तु। परमात्मनि तत्प्रतीतये सकलं वेदशिरः प्रवर्ततताम्।।४६४।।

अन्वयार्थः= अथवा समस्त वस्तुओं में वर्तमान मितियोग्यता को निर्दुष्ट अस्तिता मान लें, तब भी परमात्मगत सत्ता प्रमित ही रहती है, उसकी पुनः प्रतीति के लिये आपके वेदान्त वाक्य भले ही प्रवृत हो।।४६४।।

अथ वेति। निरवद्या निर्दुष्टा, सुषुप्त्यादावात्मादेः सत्त्वोपपत्तेरित्यर्थः। एवं चास्त्यर्थनिष्ठत्वे वेदान्तानां परमात्मनि तदनुवादायैव सकलं वेदशिरः प्रवर्त्ततां प्रवर्तेत तच्चानुपपन्नम्, अप्रामाण्यप्रसङ्गात्। अस्त्यर्थनिष्ठा वा तेषां मा भवत्विति क्रिया-निष्ठैवास्त्वित्याशयः।।४६४।।

अथवेति= निरवद्या= निर्दुष्ट, सुषुप्ति आदि अवस्था में आत्मा की सत्त्वोपत्ति निर्दुष्ट ही रहने दो। तो तात्पर्य यह हुवा कि असि, अस्ति ये तिङन्तपद सिद्ध अर्थ निष्ठ ही हैं। तो वेदान्त के वाक्यों को परमात्मा में अनुवाद करने के लिये ही प्रवृत्त होने दो। तो सम्पूर्ण वेदशीरः– वेदान्त ऐसा ही प्रवृत्त होने दो लेकिन यह अनुचित है। क्योंकि वेदान्त वाक्यों को फिर अप्रामाण्य प्रसङ्ग आयेगा। इसलिये असि, अस्ति इत्यादि पदों को सिद्ध अर्थ निष्ठता न मानकर उनको क्रिया निष्ठापरक ही मानना चाहिये ऐसा आक्षेप हुवा।

सिद्धान्ती तद् दूषयति–

सिद्धान्ती इस मत का खण्डन कर रहे हैं–

तदसुन्दरमात्मसंविदो-
रपि सत्ता भवताऽभ्युपेयते।।
न तयोर्विषयत्वहीनयो-
र्मितियोग्यत्वमितित्वसंभवः।।४६५।।

अन्वयः= तद् असुन्दरम् भवता अपि आत्मसंविदो सत्ता अभ्युपेयते। तथा विषयत्वहीनयोः तयोः मितियोग्यत्वमितत्वसम्भवः न।।

अन्वयार्थः= उक्त आक्षेप ठीक नहीं क्योंकि आप प्राभाकर भी आत्मा और ज्ञान में सत्ता मानते है। किन्तु उनमें विषयत्व न रहने के कारण मितियोग्यत्व तथा मितित्व सम्भव नहीं है।।

तदसुन्दरमिति। एवं वदता प्राभाकरेणाप्यात्मनस्तत्समवायिज्ञानस्य च सत्ताभ्युपयेतैव। सैवं सति न सिद्धयेत्तयोरविषयत्वात्। अत एव तद्योग्यताभावाज्ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वादात्मनस्तदाश्रयतया त्वया भानस्याभ्युपेयत्वादित्यर्थः।।४६५।।

तदसुन्दरमिति= प्रभाकर ने असि अस्ति आदि तिङन्त पद को लेकर दोष दिया था। क्रिया को इनको असि, अस्ति आदि को अनुवादकपरक माना जाय या क्रियानिष्ठ परक माना जाय। तो अनुवाद परक मानने से प्रभाकर मत में भी आत्मा की तथा आत्मसमवायी (आत्मा में रहने वाली ज्ञान की) ज्ञान की सत्ता स्वीकृत करनी ही पडेगी। साथ में असि और अस्ति को अनुवादपरक मानने पर पहिले तो आत्मा की तथा आत्मज्ञान की सत्ता स्वीकृत तो होनी ही चाहिये बाद में अनुवाद की बात सोचेंगे। लेकिन आत्मा तथा आत्मसमवायीज्ञान दोनों सिद्ध नहीं हो पायेंगे क्योंकि ये दोनों भी किसी के विषय तो है नहीं। और आत्मज्ञान तथा आत्मा में विषय बनने की योग्यता भी नहीं होने के कारण प्रभाकर जी आप को आत्मज्ञान का भान स्वप्रकाशता से करना पडेगा तथा आत्मा का भान ज्ञान का आश्रयभूत आत्मा है इसप्रकार से स्वीकृत करना पडेगा। इससे असि तथा अस्ति को अनुवादकता नहीं आ सकती।

नन्विदं समन्वयनिरूपणं निरालम्बनं कर्तुं कथं शक्यम्। न च ब्रह्मैवालम्बनमिति वाच्यम्। तस्याप्रसिद्धत्वात्, न हि गवादिवत्तत्प्रसिद्धमस्ति। न च समन्वयनिरूपणात्प्राक् शब्दतोऽपि तत्सिद्धम्। न चासंभावितं प्रमाणेन निश्चेतुं शक्यम्, तदुक्तम्–

संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना।।

न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः। इति।

न च जगत्कार्यतल्लिङ्गानुमानात्तत्सिद्धिः। समन्वयनिरूपणवैयर्थ्यात्, महापृथिव्यादेः कार्यत्वासिद्धेश्चेति। मैवम्। प्रपञ्चाख्यकार्यलिङ्गतर्कसंभावितचेतनकारणस्यैवाद्वयनित्य-शुद्धज्ञानानन्दादिस्वरूपेण वेदान्तैः प्रतिपाद्यमानत्वान्नोक्तदोष इत्याशयेन "जन्माद्यस्य यतः" इति सूत्रन्यायं व्युत्पादयितुमुपक्रमते। तत्र श्रोतृजिज्ञासानुरोधेन साक्षात्पुरुषार्थतया च प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि तत्त्वमादिवाक्यार्थे न्यायतो निरूपिते तस्यैव तदर्थं तत्पदवाच्यतल्लक्ष्यस्वरूपन्याय-जिज्ञासानुसारेण व्युत्क्रममाश्रित्य द्वितीयसूत्रन्यायमवतारयन् प्रथमं चेतनं जगत्कारणमनुमातुं कार्यत्वलिङ्गस्य वियदादिपक्षधर्मत्वसिद्ध्यर्थं वियदादेः कार्यत्वं साधयति–

आशंका= यह समन्वयनिरूपण निरालम्बनात्मक कैसे शक्य हो सकेगा। यदि कहो कि ब्रह्म ही आलम्वन है इसी से समन्वय निरूपण हो सकेगा सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि ब्रह्म तो अप्रसिद्ध है। गवादि के समान वह प्रसिद्ध तो है नहीं समन्वय के निरूपण से पहिले शब्द से भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। जो वस्तु असंभावित है उसकी सिद्धि प्रमाण से नहीं हो सकती, इसीलिये कहा है।

संभावितः प्रतिज्ञायां पक्ष साध्येत हेतुना। न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पन्नेव योहतः।।इति।। संभावित प्रतिज्ञा में साध्यवत्त्वे- संभावित पक्ष ही हेतु से प्रतिज्ञावाक्य में साध्य वस्तु की सिद्धि की जाती है। तो उस वस्तु का निर्वाह हेतु से नहीं हो सकता। क्योंकि उत्पन्न होते ही ऐसी वस्तु की. पक्ष की समाप्ति हो जाया करती है। क्योंकि जिस हेतु के आधार पर वस्तु की सिद्धि हो रही है यदि वह पक्ष ब्रह्म है ही नहीं अप्रसिद्ध होने से, तब तो वह वस्तु कहां से सिद्ध होगी, यह भाव है। अनुमानाकार (पक्ष) ब्रह्म (साध्य) वेदान्तसिद्धम् (हेतु) समन्वयात् धर्मवत्।

आशंका= यदि कहो कि जगत् जो कार्य स्वरूप है तो कार्यलिङ्ग से (हेतु से) अनुमान द्वारा ब्रह्म की सिद्धि होगी, सो भी ठीक नहीं है। यदि इसी से ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। तब तो समन्वय निरूपण व्यर्थ हो जायेगा। दूसरी बात जगत् कार्य लिङ्ग के आधार पर ब्रह्म सिद्धि कैसी हो सकेगी?

समाधान= यहं आप का पूर्वपक्षी का कहना अनुचित है, क्योंकि प्रपञ्चाख्य कार्यलिङ्ग को लेकर अनुमान के आधार पर (तर्क के द्वारा) चेतन कारण का ही जो नित्य, शुद्ध, ज्ञान आनन्दादिस्वरूप. है, ऐसे का विवेचन वेदान्त में किया है। इसलिये उपरोक्त दोष नहीं आता हैं। एव समन्वय निरूपण भी व्यर्थ नहीं है। अर्थात् महापृथिव्यादि तथा परमाणु

रूप पृथ्वी भी कार्य कोटी में ही आती है। इसी आशय से कहा है "जन्माद्यस्य यतः इस सूत्र के न्याय को स्पष्ट करने के लिये प्रारम्भ किया जाता है। तो वहां श्रोता के जिज्ञासा के अनुरूप (अनुरोध से) साक्षात् पुरुषार्थ रूप से प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थ का निरूपण करने के बाद, तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थ को चेतन अर्थपरक मानना उचित है। तो तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थ इसमें तत् पद वाच्य या तत् पद लक्ष्य चेतन ब्रह्म है ऐसी न्याय की जिज्ञासा के अनुरोध से उलटे क्रम का सहारा ले लिया, इससे पहिले दूसरे सूत्र के न्याय का सहारा लेने से पहिले ही "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र के प्रथम ही पहिले चेतन ब्रह्म जगत् का कारण है इसकी अनुमिति कराने के लिये कार्यत्व हेतु को (लिङ्ग को) वियदादि पक्ष की धर्मता सिद्ध करने के लिये वियदादिक में कार्यत्व को सिद्ध कर रहे हैं–

क्षितिजलदहनानिलाम्बराणां
जनिमनुमाय विभक्ततबलेन।।
जगति हि जनिमद्विभज्यमानं
घटघटिकादि समीक्ष्यते समस्तम्।।४६६।।

अन्वयः= जगति दि समस्तं जनिमद् घटघटिकादि विभज्यमानं समीक्ष्यते, अतः क्षितिजल–दहनानिलाम्बराणां विभक्ततबलेन जनिम् अनुमाय (तत्र कारणं तर्क्यते)

अन्वयार्थः= लोक में समस्त उत्पत्ति शील घट घटिकादि विभक्त होते देखे जाते है। अतः पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पाँचों में विभक्तरूप हेतु के द्वारा कार्यत्व का अनुमान करके उनके कारण का तर्क करते हैं।। (अनुमिति करते हैं)

क्षितिजलदहनेति। जनिमुत्पत्तिम्। विभक्ततया भिन्नत्वस्य बलं जनिव्याप्तिपक्ष-पधर्मत्वयोर्ज्ञानं तेन। तत्र तस्य पक्षधर्मत्वं सिद्धमिति व्याप्तिं दर्शयति–जगतीति। हिर्हेतौ। यस्माज्जगति विभज्यमानं घटघटिकादि समस्तं जनिमत्समीक्ष्यते ततो विभक्ततबलेन क्षितिजलादीनां जनिमनुमाय, तर्कयन्त्यधिकारिणश्चेतनकारणमित्यग्रिमेण सम्बन्धः। क्षित्यादि-महाभूतानि जायन्ते विभक्तत्वाद् घटादिवत्। ननु ब्रह्मणि व्यभिचारस्तस्यापि प्रपञ्चाद्वि-भक्तत्वात्। न च परमार्थतो विभक्तत्वं हेतुस्तत्र नास्तीति वाच्यम्। पक्षदृष्टान्तयोरपि सिद्धान्ते तदभावादिति चेत्, न। स्वसमानसत्ताकविभक्तत्वस्य हेतुत्वात्। प्रपञ्चे तस्य सत्त्वाद् ब्रह्मणि च तन्नास्तीति नोक्तदोषः। न चैवमप्यविद्यादौ व्यभिचार इति वाच्यम्। साध्यस्यापि तत्र सत्त्वात्। अध्यस्तता हि जन्म वियदादेः साध्यम्, न तु प्रागसतः सत्तायोगित्वम्, तस्य

क्वाप्यभावात्। न चाध्यस्तत्वमपि घटादौ परस्यासंप्रतिपन्नमिति वाच्यम्, स्वार्थानुमान-स्यैवमप्यविरोघात्। प्रसिद्धभ्रमस्य परं प्रति दृष्टान्तत्वसंभवाच्च। न चैवं वियदादेरप्यज्ञान-वदध्यस्तत्वसंभवेन ततश्चेतनकारणानुमानं वक्ष्यमाणं न स्यादिति वाच्यम्। चेतनाधिष्ठानत्वस्यैव वक्ष्यमाणप्रतिज्ञयाऽभिप्रेतत्वात्। न चाप्रयोजकताऽस्य हेतोरिति वाच्यम्। श्रुत्यवधृताद्वितीयत्वस्य विपक्षे बाधप्रसङ्गात्। अथ वा वियदादिमहाभूतानि भूतत्वे सत्यनादीनि न भवन्ति विभक्तत्वाद् घटादिवत्। इदं च साध्यं ब्रह्मण्यज्ञाने च विशेषणाभावकृतमस्त्येव, परप्रसिद्धं च निषेध्यमिति न कोऽपि दोषः। विपक्षे बाधकं चोक्तमेवात्राप्यनुसन्धेयमिति भावः।।४६६।।

क्षितिजलदहनेति= जनिमत् उत्पत्तिवाला है। विभक्तायाः= भिन्न भिन्न का, बलेन= बल उत्पन्न होना ही बल है। इससे व्याप्ति तथा पक्षधर्मता का ज्ञान हो जाता है। तेन बलेन ऐसा भाव है। यहां पक्षधर्मत्व तो सिद्ध ही है अब व्याप्ति को बता रहे है जगतीति हि-हेतु से। जबकि जगत में विभक्त (भिन्नभिन्न) घट, घटिकादि समस्त वस्तुजात उत्पन्न होने वाले हैं ऐसा देखते हैं। अतः विभक्तता के बल से (भिन्नभिन्न रूपी बल से।) पृथिवी जलादिक में उत्पत्तिमत्त्व की सिद्धि करने के बाद, अधिकारिविद्वान् फिर तर्क करते हैं कि इसका कारण चेतन है ऐसा अग्रिम सम्बन्ध है। तो अब अनुमान का आकार बता रहे हैं। क्षित्यादिमहाभूत (पक्ष) उत्पन्न होते हैं। (साध्य) विभक्तत्वात् भिन्नभिन्न होने के कारण सावयवत्वात यह हेतु है। घटादिवत् यह उदाहरण है।

आशंका= ब्रह्म में तो व्यभिचार होगा हेतु विभक्तत्व है। और साध्य जनिमत्व नहीं है। क्योंकि ब्रह्म भी तो प्रपञ्च से भिन्न है ही।

समाधान= ब्रह्म में वास्तविक परमार्थ रूप से विभक्तत्व नहीं है अतः व्यभिचार भी नहीं है इति वाच्यम्। न च वाच्यम्।।

आशंका= फिर तो पक्ष वियदादि और दृष्टान्त घटादि ये भी तो परमार्थतः सिद्धान्त में है नहीं।

समाधान= स्वसमान विभक्तत्व को ही हेतु माना जाय। स्वपद से ब्रह्म उसके समान सत्ता का विभक्तत्व तो है नहीं। अतः व्यभिचार दोष नही लगेगा। प्रपञ्च में स्वपद से प्रपञ्च तत् समानसत्ताक विभक्तत्व है और जनिमत्व भी है ब्रह्म में हेतु भी नहीं और साध्य भी नहीं, व्यभिचार दोष नहीं है।

आशंका= अविद्या में व्यभिव्यार दोष होगा क्योंकि हेतु विभक्तत्व अविद्या में है, और जनिमत्व नहीं है।

समाधान— जनिमत्त्व अविद्या में है। अविद्या में जनिमत्व यह कि वह अध्यस्त है। अध्यस्तस्ता ही जनिमत्व (जन्म) है। वियदादिक में सबसे अध्यस्तता रूप जन्म है। जन्म का नात्पर्य यह नहीं कि प्राक् जो असत् हो (प्रागभाव हो) बाद में सत्तायोगित्व हो ऐसा जनिमत्व जन्म अभिमत नहीं है। क्योंकि ऐसा जन्म कहीं भी नहीं देखा गया है।

आशंका= घटादि में अध्यस्तत्व है यह बात तो नैय्यादिक आदि को अभिमत नहीं है।

समाधान= यह मेरा अनुमान स्वार्थानुमान है अपने लिये है दूसरे के लिये नहीं है। अतः विरोध नहीं होगा। और शुक्तिरजतादि जो प्रसिद्ध भ्रम है वह नैय्यायिकों के प्रति दृष्टान्त रूप से हम प्रदान करेंगे।

आशंका= इसका मतलब तो यह हुवा कि आकाशादि भी अविद्या या अज्ञान के समान अध्यस्त होने के कारण आगे कहा जाने वाला चेतन ही सबका कारण है यह बात सिद्ध तो नहीं हो पायेगी। अधिष्ठान की सिद्धि हो सकती है न कि कारणता की यह तात्पर्य है।

समाधान= कारणता का तात्पर्य चेतन जो अधिष्ठान स्वरूप है तदर्थ परक ही है।

आशंका= यहां अप्रयोजकता दोष आयेगा। हेतुरस्तु साध्यं मास्तु। हेतु अध्यस्तत्व रहने दो और कारणत्व रूप अधिष्ठानत्व मत रहने दो।

समाधान= श्रुति से गृहीत अद्वितीयत्व का विपक्षी के यहां (वेदान्ती के यहां) बाध प्रसङ्ग होगा। तात्पर्य यह कि यदि अध्यस्तत्व तो रह गया और कारणत्व नहीं रहा तो अद्वितीय ब्रह्म का ही बाध होने लगेगा। इसलिये यह कहना ठीक नहीं अथवा एक तो अद्वितीय ब्रह्म हुवा और साथ में अध्यस्तता की सत्तास्वीकृत की गई तो अद्वितीयत्व का बाध प्रसङ्ग विपक्ष में होगा। पहिले पक्ष में क्षित्यादि महाभूतानि जायन्ते, विभक्तत्वात् घटादिवत् अस्वरस होने के कारण (सर्वमत सम्मत नहीं होने से) अब दूसरे प्रकार से बोलते हैं।

वियदादिमहाभूतानि (पक्ष) भूतत्वे सति अनादीनि न भवन्ति (साध्य) विभक्तत्वात् (हेतु) घटादिवत् (उदाहरण) ऐसा अनुमान का आकार करेंगें। अब यहां साध्य हुवा भूतत्वे सति अनादीनि न भवन्ति तो यह साध्य ब्रह्म में तथा अज्ञान में इनमें अनादित्व तो है ही, लेकिन भूतत्वे सति यह विशेषण पद न होने से विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव होगा तो

भूतत्वे सति अनादीनि न भवन्ति यह साध्य दोनों में ही अज्ञान तथा वियदादि प्रपञ्च में आ जायेगा। इसमें हमने जन्म को साध्य नहीं बनाया या जनिमत्व को साध्य नहीं बनाया किन्तु पर प्रसिद्ध नैय्यायिक तथा मीमांसक प्रभाकरादि के यहां प्रसिद्ध जो अनादिभाव उसी को निषेध्य मानकर भूतत्वे सति अनादीनि न भवन्ति ऐसा साध्य मान लिया अब कोई दोष नहीं है। इस प्रकार प्रभाकर को भी ज्ञान को तथा आत्मा को क्रमशः प्रकाशस्वरूप तथा आश्रय स्वरूप मानना ही पडेगा। अतः असि, अस्ति इत्यादि तिङन्त पद इनमें अस्तित्व मात्र विषय "निषक्तिरेषाम्" श्लोक ४६१यह बात सिद्ध हो जाती है।।४६६।।

किं च महापृथिवी जन्मवती क्षितित्वात् खातपूरितक्षित्येकदेशवत्। एवं महज्जलं जन्मवत् जलत्वाच्चन्द्रकान्तान्निःसृतजलवत्। एवं मथनादुद्भूतदहनादिदृष्टान्तेन महतस्तेज-प्रभृतेरपि तदनुमेयमित्याह–

इसी प्रकार महापृथिवी जन्मवती है, क्षितित्वात् रवातपूरितक्षित्येकदेशवत् (खाद से परिपूरित खेत के एक देश के समान) इसी प्रकार महज्जल वह भी जन्म युक्त है, जलत्वात्, जैसे चन्द्रकान्त मणि से जल निःसृत होता है वैसे महज्जल भी जन्मयुक्त है, इसी प्रकार अरणी मन्थन से जैसे अग्नि उत्पन्न होती है इसी दृष्टान्त से महत् तेज भी जन्मयुक्त है ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इस बात को कह रहे हैं–

क्षितिजलदहनेषु तत्प्रदेशान्
जनिसहितानुपलभ्य तद्बलेन।।
क्षितिजलदहनत्वलिङ्गमार्गा-
दपि जनिमेष्वनुमाय तर्कयन्ति।।४६७।।

अन्वयः= क्षितिजलदहनेषु तत्प्रदेशान् जनिसहितान् उपलभ्य तद्बलेन क्षितिजलदहनत्वलिङ्गमार्गाद् अपि एषु जनिं अनुमाय तर्कयन्ति।।४६७।।

अन्वयार्थः= पृथिवी, जल, तेज में प्रत्यक्षभूत घटादि पदार्थों की उत्पत्तिशीलता देखकर, उसके बल पर पृथवीत्व जलत्व, तथा दहनत्व रूप लिङ्गों से सम्पूर्ण पृथिवी आदि में उत्पत्तिमत्त्व का अनुमान करके पृथिवी के भी कारण का अनुमान किया जाता है (अनुमिति होती है)।।४६७।।

क्षितिजलदहनेष्विति। स्पष्टम्।४६७।।

क्षितिजलदहनेष्वति= इसका अर्थ स्पष्ट है।

एवं कार्यत्वहेतोः पक्षधर्मत्वे सिद्धे तद्धेतुकं तर्कयन्तीति सूचितं चेतनकारणानुमानं

दर्शयति—

इस प्रकार कार्यत्व हेतु को पक्षधर्मतासिद्ध होने पर कार्यत्व हेतु से चेतन कारणानुमान को सूचित करते हैं—

जनिमदभवदेतच्चेतनादेव हेतो-
घटवदिति पुनस्तत्कारणे चेतनत्वम्।।
अनुमिमत उदर्के कार्यतालिङ्गतोऽमी
जगति हि परिदृष्टं चेतनादेव कार्यम्।।४६८।।

अन्वयः= उदर्के पुनः अमी "एतत् जनिमत् चेतनादेव हेतोः घटवत्" इति तत्कारणे चेतनत्वं कार्यतालिङ्गतः अनुमिमते, जगति हि कार्यं चेतनादेव परिदृष्टम्।।४६८।।

अन्वयार्थः= उदर्के (जगत में कार्यत्व निश्चय होने के) उत्तरकाल में, कार्यत्वनिश्चयानन्तर) मुमुक्षगण, यह जगत् जन्य है, चेतन रूप कारण होने से, जैसे घट जन्य है (क्योंकि कुलालादिकारण होने से) तो इस प्रकार जगत् के कारण में चेतनत्व को कार्यतालिङ्ग के द्वारा अनुमित कर लेते हैं। क्योंकि लोक में सभी कार्य चेतनकृत ही देखे जाते हैं।।४६८।।

जनिमदिति। एतन्महापृथिव्यादीति पक्षनिर्देशः। जनिमदिति तत्र सिद्धे हेतुनिर्देशः। पुनःशब्दः सिद्धान्ते विशेषद्योती। तमेव विशेषमाह—चेतनादेवेति। विमतमुपादानाभिन्नचेतनप्रभवं कार्यत्वात्सम्मतवत्। घटादेरपि सिद्धान्ते तथात्वान्न साध्यवैकल्यम्। सुखादिकं वा परं प्रति दृष्टान्तोऽस्त्विति तत्कारणे चेतनत्वं तस्य पृथिव्यादेश्चेतनकारणकत्वम्। उदर्के पक्षे। हेतुसिद्ध्यनन्तरं मुमुक्षवोऽनुमिमत इत्यर्थः। तत्रापि घटादौ कुलालादिजन्ये उक्त-साध्यव्याप्तिरस्तीत्याशयेनाह- जगतीति। हिः प्रसिद्धौ। कार्यलिङ्गमनुमानमपि चेतनकारण-स्वरूपनिर्धारणे न निरपेक्षं समर्थम्, अपि तु तत्स्वरूपं प्रसाधयन्त्याः श्रुतेरुक्तविधया चेतनकारणमुपस्थापयदर्थं सम्भावयतीति तत्र तर्क एवेति तर्कयन्तीति सूचितम्।।४६८।।

जनिमदिति= जो उपरोक्त महापृथिवी आदि इनको पक्ष बनाया है। जनिमदिति= जन्मवाला है (कार्यरूप है) यह सिद्ध होने पर इसे ही हेतु बनाकर। पुनः— शब्द सिद्धान्त में विशेष प्रकार का काम करता है। उसी विशेष प्रकार के काम को बताया जा रहा है। चेतानादेवेति= (पक्ष) महापृथिव्यादि (साध्य) उपादानाभिन्न चेतन से उत्पन्न होता है (हेतु) कार्यत्वात् है। सम्मतवत् घटादि के समान इत्यादि। घटादिपदार्थ भी उपादानाभिन्न चेतन से उत्पन्न होने के कारण साध्य वैकल्य नहीं है। (घट का उपादान कारण हुवा मृत्तिका उससे अभिन्न

चेतन है ही अतः साध्य वैकल्य नहीं है।) यदि प्रभाकर तथा नैय्यायिकादिक जो पर है इन को लेकर चलें तो- सुखादिक दृष्टान्त लेते हैं।, इन सुखादिक का करण चैतन्य ही है, क्योंकि "बुद्ध्यादिषटकं संख्यादि पञ्चकं भावना तथा। धर्माधमौ च एते स्युः आत्मनः चतुर्दश गुणाः।।" न्या० सि० मु० तो जैसे सुखादिक का कारण चेतन आत्मा है। इसी प्रकार महापृथिव्यादिक का भी कारण चेतन ही है। उदर्के= पक्ष में। अर्थात् कार्यत्व हेतु की सिद्धि होने पर मुमुक्षजन चेतन में कारणत्व की अनुमिति करते हैं। यह भाव है, इसमें भी घटादि पदार्थो में तो जो कुम्हार से (कुलाल से) जन्य है तो यह उपरोक्त व्याप्ति उसमें घट और कुलाल में भी है। इस आशय से कहते हैं। जगतीति= हि प्रसिद्ध ही है।

कार्य लिङ्गक अनुमान भी चेतन में कारणत्व स्वरूप का निर्धारण करने के लिये निरपेक्ष समर्थ नहीं है। किन्तु चेतन स्वरूप कारण को साधित करने वाली जो श्रुतिभगवती है उसके इस (अर्थ को) भाव को उक्तविधि के अनुसार तर्क चेतनकारणत्व अर्थ का उपस्थापन सम्भावित करता है। एवेति= तर्क के द्वारा, श्रुत्यर्थ सम्भावित हो जाता है। निश्चय तो श्रुति से ही माना जाता है।

नन्वुमानाच्चेतनकारणसिद्धौ वैशेषिकादिमत इव तदेव सर्वज्ञसाधकं तत्र प्रमाणमस्तु किं तस्य तर्कताभ्युपगमेन। ततश्च वेदान्तवैयर्थ्यमित्याशङ्क्य यद्यप्युक्तविधया तेन सामान्यतश्चेतनरूपं किं चिज्जगतो निदानं सिद्ध्यति तथापि तस्मिन्नेकत्वनानात्वसंशया-निवृत्तेस्तत्सर्ववित्सर्वशक्ति किं वा विपरीतमित्यादिसंशयो न निवर्तेत तन्निदानस्य तदेकत्वाज्ञानस्यानिवर्तितत्वात्। एवं जगदुपादानस्य निर्विशेषत्वादिसिद्धिरपि ततो न स्यादिति तर्क एव तदित्याशयेनाह–

आशंका= अनुमान से ही चेतन में कारणत्व की सिद्धि होने पर वैशेषिक मत के समान अपना भी वेदान्त मत हुवा। फिर वैशेषिक मत को ही प्रमाण रूप से रहने दो और उसी के आधार पर सर्वज्ञता की सिद्धि के लिये तर्क करने की जरूरत ही नहीं है। इस प्रकार करने से वेदान्त अपने आप में ही व्यर्थ हो जाता है, ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर।

समाधान= यद्यपि क्षित्यङ्कुरादिकं, कर्तृजन्यं, कार्यत्वात्, घटवत् इत्यादि अनुमान से सामान्यतः चेतन रूप कोई न कोई जगत् का कारण सिद्ध होता है तथापि उस चेतन कारण में एकत्व, नानात्व आदि की संशय की निवृत्ति नहीं हो पायेगी। इसीप्रकार से वह जो चेतन कोई कारण है क्या वह सर्ववित् तथा सर्वशक्ति संपन्न है कि नहीं अथवा इसके विपरीत है, इत्यादि अनेक संशयों की निवृत्ति नहीं हो पायेगी। केवल चेतन में

कारणत्व वैशेषिक भले ही सिद्ध करें लेकिन इतने मात्र से उसमें एकत्व, अज्ञानत्व आदि की निवृत्ति वैशेषिक मत नहीं कर पायेगा। इसप्रकार जगत् का उपादान कारणीभूत निर्विशेष वह ब्रह्म है इसकी भी सिद्धि वैशेषिक मत से नहीं हो पायेगी। क्योंकि आखिर में वैशेषिक शास्त्र है तो तर्क रूप ही। अतः कहा है "तर्काऽप्रतिष्ठानात्" इस आशय से कहा जा रहा है–

जगदुदयनिमित्तं किं नु नाना
किमु भवतु तदेकं सर्ववित् सर्वशक्ति।।
इति भवति तु पश्चात् कारणे चेतनेऽस्मि-
न्ननवगतिनिमित्तः संशयो दुर्निवारः।।४६६।।

अन्वयः= पश्चात् अस्मिन्, जगदुदयनिमित्तं चेतनं किन्नु नाना। किमु तद् सर्ववित् सर्वशक्ति एकं भवतु? इति अनवगतिनिमित्तः संशयो दुर्निवारः।।४६६।।

अन्वयार्थः= उक्त अनुमानन्तर इस जगत के उत्पत्ति का हेतु जो चेतन है क्या वह अनेक है? या वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् समन्वित् एक ही है? इसप्रकार का अज्ञान निमित्तक संशय अवश्यम्भावी है।।४६६।।

जगदुदयेति। जगत्कारणे चेतने अनुमानात्सिद्धेऽपि तस्मिन्पश्चात्तत्स्वरूपानवगतिनिमित्त इतीत्थं संशयो दुर्निवारो भवत्येवेत्युक्तं संशयप्रकारमभिनयेनाह–जगदुदयनिमित्तमिति। यदि तदेकं भवेत्तदा फलितं सिद्धान्तलाभमाह-सर्ववित्सर्वशक्तीति। ननूक्तानुमानादेव लाघवसहकृतात्कारणैकत्वसिद्धेस्तत्सर्वज्ञं सर्वशक्तिचेति सिद्धयतीति कथमनुमानानन्तरं तदेकत्वादिसंशय इति चेत्। सत्यम्। यद्यनुमानात्तदेकत्वं निश्चीयेत, स न सम्भवति, लोके च विचित्रप्रासादादेर्बहुकर्तृकत्वदर्शनेन तदनुसारिलिङ्गेन तद्विपरीतनिश्चयासम्भवात्। सम्भवल्लघुविषये हि लाघवतर्कोऽपि प्रवर्त्तेत। न च लोके कर्त्तृणामसर्वज्ञासर्वशक्तितया विचित्रकार्य एकस्य कर्तुरसम्भवेऽपि सर्वज्ञेश्वरस्य तत्सम्भवाल्लाघवावकाशोऽस्तीति वाच्यम्। एवं सत्यन्योऽन्याश्रयात्कथमपि लाघवप्रवृत्तेः प्राक् तस्मिन्सर्वज्ञत्वादिसम्भावनातुषस्याप्यभावात्। किं च कर्त्रेकत्वं यद्येकत्वसंख्या तर्हि तन्नानात्वेऽपि सा सिद्धयतीति कुतस्ततः सर्वज्ञत्वादिसिद्धिः। यदि च कर्त्रभेदस्तदेकता तर्ह्यस्मादनुमानात्प्राक् क्षितिजलादीनां कर्त्रसिद्धेस्तत्प्रतियोगिकभेदस्यानुपस्थितस्याभावो नानुमितिविषयः स्यात्। न हि प्रतियोगिज्ञानं विना भेदस्तदभावो वा सिद्धयेत्। तस्मादनुमानात्कर्त्रेकत्वानिश्चयात्संशय एवेति सर्वज्ञत्वादिसिद्धिः कथमपि ततो न भवेदिति भावः।।४६६।।

जगदुदयेति= जगत की कारणता चेतन में अनुमान से सिद्ध होने पर भी, उसके पश्चात्– ऐसा निर्णय होने पर भी, अनवगतिनिमित्तः= इत्थं भूत यह वस्तु है ऐसा निश्चय न होने के कारण संशय का होना अनिवार्य ही है। अब संशय के प्रकार को हाव भाव पूर्वक बता रहे हैं। जगदुदयनिमित्तमिति= जगत् का कारण चेतन क्या वह एक है अथवा नाना है, क्या वह सर्ववित् एवं सर्वशक्ति युक्त है अथवा नहीं इत्यादि। यदि वह एक हो तब तो फलित सिद्धान्त का लाभ कह रहे हैं– सर्ववित् सर्वशक्तीति=

आशंका= कार्यत्व हेतु के द्वारा अनुमान से लाधव से कारण एकत्व की सिद्धि होने पर अपने आप उसी में सर्वज्ञत्व की तथा सर्वशक्तिमत्ता की सिद्धि हो जायेगी। फिर कार्यत्व हेतु पुरःसर अनुमान के बाद एकत्वादि का संशय ही करना होगा।

समाधान= बात तो आप की सत्य है। यद्यपि अनुमान से कारण ईश्वर में एकत्व की सिद्धि हो जाती है लेकिन एकत्व का निश्चय संभव नहीं हो सकता। क्योंकि लोक में विशालकाय चित्रविचित्र ऐसे मकान जिनके निर्माण करने में अनेक कारीगर हुवा करते हैं, अतः ऐसे के अनुसार जहां अनेक कारीगर या इन्जीनियर हो।

जहां अनेक कारीगरों की सिद्धि होती हो वहां इसके विपरीत निश्चय तो नहीं हो सकता। अर्थात् कारण में एकत्व का निश्चय नहीं हो सकता? लघुविषय में लघुतर्क प्रवृत्त होता है तो होने दो।

आशंका= लोक में कर्ता असर्वज्ञ तथा असर्वशक्तिमान् होने के कारण एक कर्ता के द्वारा विचित्र कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। तो भी सर्वज्ञेश्वर की विचित्र कार्य की कारणता तो सम्भव हो सकती है। इति वाच्यम्। न च वाच्यम्।

समाधान= ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष आयेगा। क्योंकि लाघव= छोटे से छोटे प्रवृत्ति के पहिले कारण में सर्वज्ञत्वादि सम्भावना का तुषार का भी (एक छोटे से जलकण के समान भी) अस्तित्व नहीं है। और प्रवृत्ति बिना सर्वज्ञत्व नहीं, और सर्वज्ञत्व बिना प्रवृत्ति नहीं। ऐसा अन्योयाश्रय दोष आयेगा। और भी बात यह कि कर्ता में जो एकत्व है वह तो एकत्व संख्या है तब तो नानात्व में भी एकत्व संख्या की सिद्धि होगी। अयं एकः, अयं एक इमौ द्वौ, एकभिन्नत्वं नानात्वं तो इसमें भी एकत्व संख्या आ ही गई है। तो नानात्व लेकर चलने से सर्वज्ञत्वादिक की सिद्धि नहीं हो सकती।

आशंका= कर्ता का अभेद ही कर्तागत एकत्व है।

समाधान= इसका मतलब यह हुवा कि अनुमान से पहिले क्षिति जलादि का कर्ता

सिद्ध नहीं हो पायेगा। यदि कर्ता उपस्थित नहीं हो तो तत्प्रतियोगिक भेद– कर्ता का भेद अर्थात् अनुपस्थित का अभाव अनुमिति का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि प्रतियोगिके ज्ञान बिना अन्योन्याभाव (भेद) तथा अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये अनुमान से कर्ता के एकत्व का निश्चय न होने से संशय बना ही रहेगा। और जब संशय हो जायेगा तो फिर सर्वज्ञत्वादि सिद्धि कैसी हो सकती है?

कथं तर्हि भवन्मतेऽपि कारणैकत्वं सिद्ध्येदित्याशङ्क्य "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रत्यभिसंविशन्ति" इति जगत्कारणवाक्यगताद्यत इति यच्छब्दैकवचनादनुमानसिद्धकारणानुवादगतात्तत्सिद्धिरित्यभिप्रेत्याह–

आशंका= यदि ऐसी ही बात है तो फिर आपके वेदान्ती के मत में भी कारण की एकता कैसी सिद्ध होगी? ऐसी आशंका होने पर,

समाधान= "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रत्यसंविशन्ति" इति, जगत का कारण बताने वाले जो वाक्य है उस वाक्य गत "यत" ऐसा पद है तो यच्छब्द एकवचन परक हो जैसे अनुमानसिद्ध कारणता जो अनुमान वह तो श्रुति सिद्ध कारणता का अनुवाद मात्र करत है। ऐसे अनुवादमात्र परक अनुमान से कारणगत एकत्व की सिद्धि हो जाती है। इस अभिप्राय से कहा जा रहा है।

श्रुतिवचनविशेषाच्चेतने कारणेऽस्मिन्
यत इति निरवद्यादेकताधीरथागात्।।
प्रकृतिरिति च तस्मिन् कारणे पञ्चमीयं
जनयति दृढबुद्धिं तद्विधानादिहैव।।५००।।

अन्वयः= "अस्मिन् चेतने कारणे यतः" इति निरवद्यात् श्रुतिवचनविशेषात् एकताधीः आगात् अथ इयं पञ्चमी तस्मिन् कारणे प्रकृतिरिति दृढबुद्धिं जनयति, इहैव तद्विधानात्।।५००।।

अन्वयार्थः= इस चेतन कारण में "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इस निर्दुष्ट श्रुति वचन से एकत्व निश्चय होता है। बाद में यह (यतः) पञ्चमी विभक्ति उसी चेतन कारण में "प्रकृति" इस प्रकार की दृढ बुद्धि उत्पन्न करा देती है। क्योंकि इसी (प्रकृतिरूप) अर्थ में पञ्चमी विभक्ति का योजन किया है।।५००।।

श्रुतिवचनेति। अथोक्तानुमानानन्तरं यत इति श्रुतिवचनविशेषादेकवचनरूपान्निरवद्यादनुमानोक्तशङ्काकलङ्कशून्यादस्मिन् चेतने जगत्कारणे एकताधीरगादागच्छेत्। यद्यपि यत

इति बहुत्वसाधारणम्। तथापि येन जातानीत्युपरितनैकवचनेन तस्याप्येकवचनत्वं निर्णीतमिति भावः। नन्वनुमानसिद्धचेतनकारणानुवादियच्छब्दैकवचनाज्जगत्कर्त्तुरेकत्वं सिद्ध्येन्न तु भवदभिमतं तस्य तदुपादानैक्यमपीताशङ्क्याह– प्रकृतिरिति। चकारेणैकताधियं समुच्चिनोति। तस्मिन्कारणे इयं पञ्चमी प्रकृतिरिति च दृढबुद्धिं जनयतीति संबन्धः। तत्र हेतुमाह- तद्विधानादिति। "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इति सूत्रेणेह प्रकृतित्वे पञ्चमीविधानादेवेत्यर्थः। यद्यपि पुत्रात्प्रमोदो जायत इत्यादिप्रयोगानुरोधेन निमित्तोपादानसाधारणीह प्रकृतिः, तथापि प्रकृतेऽपेक्षितस्य जगदुपादानत्वस्य ततः प्रतीतिसंभवान्न कश्चिद्दोषः। प्रत्युतापेक्षितनिमित्तत्वमपि ततः सिद्ध्यतीति गुण एव। श्रुत्यन्तरे च तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेत्येकस्यैव चेतनस्योभय-विधं कारणत्वं स्पष्टं श्रूयते। ननूपादानस्य नानात्वनियमादुपादानकर्त्त्रोश्च तथात्वादेतद्-बाधितमिति चेत्। न तावदुपादानत्वं नानात्वनियतं रूपोपादाने घटादौ व्यभिचारात्। न च द्रव्योपादानेऽयं नियमः, एकस्या एव रज्ज्वाः सर्पाद्यधिष्ठानत्वात्। रज्जुसर्पादेरिव वियदादेरप्यज्ञातब्रह्मविवर्त्तत्वेनाविशेषात्। एवमेकस्मादात्मन उपादानाद्विविधस्वप्नप्रपञ्चोदयादपि नास्ति सिद्धान्तेऽयं नियमः। अत एवोपादानकर्तृभेदोऽपि न नियतः। किं च सर्वत्र कार्ये चैतन्यस्यैकस्यैव कुलालादिशरीरावच्छेदेन निमित्तत्वं मृदाद्यवच्छेदेनोपादानत्वमिति तद्भदे नास्त्येवोदाहरणं परमतेऽपि देवदत्तो जानातीच्छतीत्यादि- प्रतीत्यनुरोधेन ज्ञानाद्युपादानस्यैव कर्त्तृत्वम्। एवमीश्वरात्मघटसंयोग एकस्यैव तदुभयमिति नैव पराप्रसिद्धमस्माभिरुच्यत इति जगत्प्रकृतिरेका तदधिष्ठात्री चेति सिद्धम्।।५००।।

श्रुतिवचनेति= "यतो वा इमानि भूतानि" यथोक्त अनुमान के बाद यत इति श्रुतिवचनविशेषात्-श्रुतिवचन से विशेष रूप से एकवचन रूप होने से, निरवद्यात्–अनुमान से उक्त शङ्काशून्य कलङ्कशून्य ऐसा जो चेतन, जो जगत का कारण है उसमें एकता, धीगात्= बुद्धि का अवगमन हो जाता है।

यद्यपि यत इति बहुत्वसाधारण भी है। तथापि "येन जातानि" इत्यादि ऊपर के मंत्र चले आ रहे हैं, उनमें सब में एक वचन होने के कारण प्रकृत कारणत्व परक श्रुति में यत् पद का अर्थ एक वचनत्व परक कहना ही निश्चित किया गया है।"

आशंका= अनुमान से सिद्ध चेतन में कारणत्व उसका अनुवाद करने वाला यत् शब्द जो एकवचन का प्रतिपादक है इससे जगत्कर्ता में एकत्व की सिद्धि होगी लेकिन यह तो सिद्ध नही होगा। कि वह उपादान भी है। अर्थात् जो कर्त्ता है वह उपादान भी है यह बात तो सिद्ध नहीं हो पायेगी। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते है–

समाधान= प्रकृतिरिति= च= चकार से एकता बुद्धि का भी समुच्चय अभिमत है। तो वही कारण भी है इसलिये यतः यहां पञ्चमी का प्रयोग प्रकृति को लेकर (उपादान कारण को लेकर) किया है, तो पञ्चमी विभक्ति ऐसी द्दढ बुद्धि कराती है। इसमें हेतु बता रहे हैं। तद्विधानादिति "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इस सूत्र से यहां प्रकृति होने के कारण पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया है।

यद्यपि "पुत्रात् प्रमोदो जायते" पुत्र से प्रमोद उत्पन्न होता है इत्यादि प्रयोग के अनुरोध से निमित्त तथा उपादान साधारण ही कारण या प्रकृत्ति यहां अभिमत है, तथापि प्रकृत में जो हमें जगत के उपादान कारणत्व की अपेक्षा है तो उसकी भी प्रतीति "यत्" पद से हो जाती है अतः कोई दोष नहीं है।

इसके विपरीत अपेक्षित जो निमित्त कारणत्व वह भी "यतः" पद से सिद्ध हो रहा है वह तो हमारे लिये एक महान् भूषण (गुण) ही है।

अन्य श्रुतियों में "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" इसमें एक ही चेतन में निमित्त कारणत्व तथा उपादान कारणत्व दोनों स्पष्ट रूप से दर्शायें है।

आशंका= उपादान कारण में नानात्व नियम से होता है, और कर्ता और उपादान दोनों को एक मानने पर कर्ता में एकत्व है यह तो बाधित होगा।

समाधान= यह कहना अनुचित है। क्योंकि उपादान कारणत्व में नानात्व नियम से रहता है यह बात नहीं है। जैसे रूप का उपादान कारण घट है तो घट में नानात्व नहीं है। किन्तु एकत्व ही है। अतः उपादानत्व में नानात्व नियम से रहता है यह कहना गलत है।

आशंका= उत्पन्न होने वाले द्रव्य का जो उपादान कारण होगा उसमें नानात्व नियम से रहता है।

समाधान= रज्जु में नानात्व नहीं है किन्तु एकत्व है और वह सर्प का अधिष्ठान भी है तो सर्वरूप द्रव्य का उपादान रज्जु उसमें भी नानात्व नियम से नहीं है। रज्जुसर्प के समान वियदादि प्रपञ्च का अधिष्ठान अज्ञात रूप से ब्रह्म ही है, दोनों में समानता है। प्रपञ्च का उपादान एक ही आत्मा होता है अतः यह कोई नियम नहीं है कि जो द्रव्य उपादान होवे उसमें नानात्व नियम से रहना चाहिये। इसीप्रकार से उपादान कारण एवं कर्ता दोनों का भेद होना चाहिये यह भी नियम नहीं है। और भी सर्वत्र कार्य में एकचैतन्य को ही कुलालादिशरीरावच्छेदेन निमित्तकारणत्व है तथा मृदाद्यवच्छेदेन उपादानत्व

है, इनका भेद होने में कोई उदाहरण है नहीं न्याय मत में भी देवदत्तो जानाति, इच्छति इत्यादिप्रयोग के अनुरोध से जो आत्मा ज्ञान का उपादान है वही आत्मा इच्छा का कर्ता भी है। इसीप्रकार से ईश्वर का आत्मा के साथ संयोग तथा घट के साथ ईश्वर का संयोग एक ही ईश्वर में दोनों संयोग सम्भव है। इसलिये न्याय मत के लिये भी यह अप्रसिद्ध नहीं है। जो हमने कहा है। वह दूसरे को भी अभिमत है। इति। इस प्रकार से जगत् का उपादान कारण (अधिष्ठानत्वेन) रूप से है तथा (जगदुत्पत्त्यनुकुलज्ञानद्वारा) निमित्त कारण दोनों एक ही है यह सिद्ध हुवा।

एका प्रकृतिरित्येतदाक्षिपति–

एक प्रकृति इस पर आक्षेप करते हैं

एकत्वमेकवचनादवगम्यमानं
यच्छब्दवाच्यनिलयं यत इत्यमुष्मिन्।।
वाक्ये जगत्प्रकृतिगामितया न विद्मः
संख्या विभक्त्यभिहिते वचनं हि नाह।।५०१।।

अन्वयः= यतः इत्यमुष्मिन् वाक्ये एकवचनाद् अवगम्यमानं एकत्वं, यच्छब्दवाच्यनिलयं। हि वचनं विभक्त्यभिहिते जगत्प्रकृतिगामितया निविष्टां संख्यां नाह।।५०१।।

अन्वयार्थः= "यतो वा इमानि" इस वाक्य में एक वचन से बोधित एकत्व, यत शब्द के वाच्यार्थ में ही अन्वित होता है। (कि प्रत्ययार्थ प्रकृतित्वान्वित नहीं होता है।) क्योंकि वचन, विभक्ति के वाच्य प्रकृतित्वगत संख्या को नहीं कहता।। (अर्थात् प्रातिपदिकार्थ में अन्वित है)।।५०१।।

एकत्वमिति। यत इत्यमुष्मिन्वाक्ये एकवचनादवगम्यमानमेकत्वं यच्छब्दवाच्यनिलयं यच्छब्दप्रकृत्यर्थमात्राश्रयं जगत्प्रकृतिगामितया विभक्त्यर्थजगत्प्रकृतित्वविशिष्टाश्रयतया न विद्मः। कुतः? वचनं विभक्त्यभिहिते स्वाभिधेयां संख्यां नाह न वदेद्यत इत्येकवचनस्य पञ्चमीविभक्तिप्रतिपाद्यप्रकृतित्वविशिष्टे स्वाभिधेयसंख्यां वक्तुमसामर्थ्यादेका प्रकृतिरिति धीः कुतो भवेदिति भावः।।५०१।।

एकत्वमिति= "यतो वा इमानि भूतानि" इस वाक्यान्तर्गत यतः एकवचन से अवगम्यमान एकत्व, जिसका मूल है यच्छशब्द वाच्य प्रकृति और एकत्व है इस शब्दका वाच्यार्थ। तो यत् शब्द जो प्रकृत्यर्थ मात्र का आश्रय जो जगत् प्रकृतिगामी है, यह तो ठीक है। लेकिन यतो= इसमें यत् प्रकृति है। और आगे ङस विभक्ति है। तो प्रकृति के बारे में तो कह

चुके हैं, अब रह गयी विभक्ति ङस् उसका अर्थ वह भी जगत् प्रकृतित्व विशिष्ट का आश्रय है यह समझ में नहीं आता। क्यां? तो वचन (एक वचन, द्विवचन, बहुवचन) विभक्त्यभिहिते विभक्ति से (अभिहित) बताई हुई संख्या को नाह= बताता नहीं है। तो प्रकृत में यतः इत्येक वचन परक पञ्चमी विभक्ति प्रतिपाद्य प्रकृतित्व से विशिष्ट का वचन के द्वारा स्वाभिधेय संख्या को (वचनाभिधेय संख्या को) बताने का सामर्थ्य नहीं होने से एका प्रकृति ऐसी बुद्धि कैसी उत्पन्न होगी।

वचनस्य विभक्त्यर्थविशिष्टस्वार्थाभिधायित्वं न क्वापि दृष्टमिति न प्रकृतिरेकेति धीः सम्भवतीत्याह—

वचन में विभक्त्यर्थविशिष्टार्थभिधायित्व कहीं भी नहीं देखा गया है, अतः प्रकृति एका है यह बुद्धि सम्भव नहीं यह बता रहे हैं।

न हि विभक्त्यभिधेयपदार्थगं
वचनमाह निजं विषयं क्वचित्।।
वचनवाच्यगतं न वदन्ति
च स्वमभिधेयमशेषविभक्तयः।।५०२।।

अन्वयः= वचनं हि क्वचित् विभक्त्यभिधेयपदार्थगं विषयं न आह। अशेषविभक्तयश्च वचनवाच्यगतं स्वं अभिधेयं न वदन्ति।।५०२।।

अन्वयार्थः= वचन कहीं भी विभक्त्यर्थ से अन्वित अपने वाक्यार्थ को नही कहते। एवं समस्तविभक्तियां वचनार्थ से अन्वित स्वार्थ को नहीं कहती।।५०२।।

न हि विभक्तीति। अस्तु तर्हि विभक्तेर्वचनार्थविशिष्टान्वितस्वार्थ जगत्कारणत्वाभिधायित्वं, तथा चैका प्रकृतिरिति धीर्युक्तैवेत्याशङ्क्याह—वचनवाच्येति। एवं चैकवचनस्य यद्वाच्यमेकत्वं तद्विशिष्टगतं विभक्त्यर्थप्रकृतित्वं प्रस्तुते न सिद्ध्येदित्यर्थः।।५०२।।

न हि विभक्तीति= आशंका= तो फिर विभक्ति और इन दोनों के अर्थ विशिष्ट को अन्वित (सम्बन्धित) होकर जगत् कारणत्वाभिधायित्वरूप स्वार्थ मत रहने दो। तो फिर एका प्रकृति ऐसी बुद्धि नहीं होगी ऐसी आशंका को लेकर कहते हैं। वचनवाच्येति- यदि ऐसा मानते है तब तो एकवचन का जो वाच्य एकत्व है, उससे विशिष्ट विभक्त्यर्थ प्रकृतित्व है ऐसा प्रस्तुत सिद्ध नहीं हो पायेगा। दोनों का अपना अपना अलग अलग मार्ग हैं, यह भाव है।

ननु किमिति विभक्तिवचनाभ्यां परस्परार्थान्वितस्वार्थाभिधानं न कर्त्तव्यमित्याकाङ्क्षाया-माह—

आशंका= तो क्या विभक्ति और वचन दोनों से परस्पर अन्वित स्वार्थाभिधान नहीं करना चाहिये। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं—

प्रातिपदिकार्थगतमेव वचनानि
स्वं स्वमभिधेयमभिधातुमलमर्थम्।।
प्रातिपदिकार्थगतमेव निजमर्थं
वक्ति च विभक्तिरपि नेह वचनार्थे।।५०३।।

अन्वयः= वचनादि प्रातिपदिकार्थगतमेव स्वं स्वमभिधेयं अर्थं अभिधातुं अलम्, विभक्तिरपि प्रातिपदिकार्थ—गतमेव निजं अर्थं वक्ति, न च इह वचनार्थे।।५०३।।

अन्वयार्थः= एकवचनादि (वचन) प्रातिपदिकार्थान्वित स्वार्थ को कहने में समर्थ होते हैं। विभक्ति भी प्रातिपदिकार्थान्वित अपने अपने अर्थ को कहती है, न कि वचनार्थान्वित स्वार्थ को।।५०३।।

प्रातिपदिकार्थेति। प्रत्ययस्य प्रकृत्यर्थान्वित स्वार्थबोधकत्वनियमस्य व्युत्पत्ति-सिद्धत्वाद्वचनविभक्त्योः प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थाभिधान एव सामर्थ्यं न तु वचनस्य विभक्त्यर्थान्वितार्थाभिधानेऽपि। एवं विभक्तेरपि न वचनार्थान्विताभिधानेऽपि, तयोः प्रत्ययत्वाविशेषादिति भावः।।५०३।।

प्रातिपदिकार्येति= प्रत्यय चाहे वचन वाला हो चाहे विभक्तिवाला हो, ये दोनों ही प्रत्यय प्रकृत्यर्थ अन्वित स्वार्थ बोधकत्व नियम से है। यह व्युत्पत्ति सिद्ध है। तो वचन और विभक्ति दोनों में प्रकृत्यर्थ अन्वित स्वार्थाभिधान का सामर्थ्य है, लेकिन यह नहीं कि वचन में विभक्त्यर्थ अन्वित अर्थ अभिधानत्व (स्वार्थाभिधानत्व) हो अथवा विभक्ति में वचनार्थ (प्रत्ययाभिधनता) अन्वित (अर्थाभिधानता) स्वार्थाभिधानत्व हो। क्योंकि दोनों भी तो प्रत्यय रूप से समान ही है। प्रत्ययस्य स्वप्रकृत्यार्थान्वितार्थाभिधायित्व नियमः।।

ननु "पशुना यजेत" इति वाक्यात्पशुरेकः करणमिति प्रतीयते, तद्वदेका जगत्प्रकृति-रिति शाब्दी प्रतीतिः किमिति न भवेदित्याशङ्क्य दृष्टान्तासंमत्योत्तरमाह—

आशंका= "पशुना यजेत" पशु के द्वारा यजन करें। इस वाक्य से पशु एक करण रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार से एका जगत् प्रकृति (इति) ऐसी शाब्दिक प्रतीति क्यों नहीं मानी जाय। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर विषम दृष्टान्त है इस प्रकार से

उत्तर दे रहे है।

पशुनेति पदे तृतीयया
करणत्वं हि पशोर्निवेद्यते।।
वचनेन पशोरिहैकता न
पुनः सा करणस्य कथ्यते।।५०४।।

अन्वयः= पशुना इति पदे तृतीयया पशोः करणत्वं निवेद्यते, इह वचनेन पशोः एकता, कस्य पुनः सा न कथ्यते।।५०४।।

अन्वयार्थः= "पशुना यजेत" के पशुना पद में तृतीया विभक्ति से पशुगत करणत्व कहा जाता है, और एकवचन के द्वारा पशुगत एकता ही कही जाती है। कारक निष्ठ एकत्व नहीं कहा जाता।।५०४।।

पशुनेतीति। पशुनेति पदे या तृतीया तयेत्यर्थः। इह पशुनेतिपदे। सा एकता। करणस्य तृतीयार्थकरणत्वविशिष्टस्य। इदमपि प्रागुक्तप्रत्ययाश्रितन्यायबलादेवेति द्रष्टव्यम्।।५०४।।

पशुनेति= यहां "पशुना" तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया है। इसलिये करणत्व की प्रतीति तृतीया विभक्ति से हो जाती है। इह= पशुना इस पद में। सा एकता। करणस्य- तृतीयार्थकरणत्व विशिष्ट का पशु में बोध होता है। यह भी पहिला कहा हुवा प्रत्ययाश्रित न्याय बल से ही है। (५०३) प्रत्यय का आश्रय पशु हुवा उसके बल से ही तृतीयार्थकरणत्व विशिष्ट पशु है यह बोध हुवा

कथं तर्हि पशुरेकः करणमिति धीरित्याशङ्क्याह–

आशंका= तो फिर पशु एक भी है और करण भी ऐसी बुद्धि कैसी उत्पन्न होगी ऐसी आशंका उत्पन्न होने पंर कह रहे हैं–

अनुपपत्तिबलेन विधेस्तयोः
करणतैकतयोरवगम्यते।।
करणतैकपशोरिति संगति-
र्न घटते हि विधिर्विरहय्य ताम्।।५०५।।

अन्वयः= विधेः अनुपत्तिबलेन एकपशोः करणतेति तयोः करणतैकतयोः संगतिः अवगम्यते, तां विरहय्य विधिर्न घटते।।५०५।।

अन्वयार्थः= विधि की अन्यथानुपपत्ति केवल पद एक पशुनिष्ठ करणता इस प्रकार करणता तथा एकता भी संगति प्रतीति हो जाती है। क्योंकि उस संगति के बिना विधि की उपपत्ति नहीं हो सकती।।५०५।।

अनुपपत्तीति। पशुविशिष्टयागविद्ध्यनुपपत्तिबलेनेत्यर्थः। विधेरनुपपत्तिबलेन तयोः करणतैकतयोः करणतैकपशोरित्येवंरूपेण संगतिरवगम्यते हि यस्मात्तां संगतिं विरहय्य विधिर्न घटते तस्माद्विधेरनुपपत्तिबलेनेत्यधस्तनेन संबन्धः।।५०५।।

अनुपपत्तीति= पशु से विशिष्ट यागविधि है, यदि ऐसा नहीं करते हैं तो अनुपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् विधि की उपपत्ति लग जाय, अनुपपत्ति न लगे इस कारण तयोः= करणता तथा एकता (करणता तथा पशु निष्ठ एकता) इस रूप से संगति प्राप्त होती है। जबकि ऐसे संगति को छोडकर विधि भी घटित नहीं होती है। इसलिये विधि के अनुपपत्ति के बल से ऐसे संगति को लगाना पडता है। यह भाव है।

ननु नियोगस्य तां विना काऽनुपपत्तिरित्याकाङ्क्षायां विद्ध्यनुपपत्तिनिमित्तां तदुभय-संगतिमुपपादयति—

आशंका= नियोग की संगति के बिना कौन सी अनुपपत्ति है ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर विधि के अनुपपत्तिनिमित्तक पशु और एकत्व संख्या की संगति को बता रहे हैं—

उपादानतः संख्यया संगतिः स्या-
दवच्छेदकत्वेन संख्यानिवेशात्।।
पशोरेतयोस्तेन मार्गेण कार्ये
निवेशोपपत्तेरुपादानमानात्।।५०६।।

अन्वयः= उपादानतः संख्या (करणत्वस्य) संगतिः स्यात्, पशोः अवच्छेदकत्वेन संख्यानिवेशात्। तेन मार्गेण उपादानमानात् एतयोः कार्ये निवेशोपपत्तेः।।५०६।।

अन्वयार्थः= विधि के अनुपपत्ति के बल से (अर्थापत्ति) प्रमाण से एकत्व संख्या के साथ (कारणत्व का) पशु का अन्वय होता है, क्योंकि पशु को अवच्छदेक मानकर यहां संख्या निविष्ट हुई है। उस मार्ग से (स्वाश्रय पशु के) द्वारा अर्थापत्ति प्रमाण से इन दोनों (करणत्व और एकत्व) का कार्यनियोग विधि में निवेश बन जाता है।।५०६।।

उपादानत इति। विध्द्यनुपपत्तिबलात्पशोः संख्यया संगतिः स्यात्। तत्संगतिविशेषमेव दर्शयन्सामर्थ्यरूपलिङ्गसिद्धं संख्या स्वभाव तत्र हेतुत्वेनाह अवच्छेदकत्वेन संख्यानिवेशादिति। स्वाश्रयद्रव्यावच्छेदकत्वेन हि सर्वत्र संख्या द्रव्ये निविशते तेनात्र सा पशोरेवच्छेदकत्वेना-

न्वेतीत्यर्थः। ततः किं तत्राह एतयोरिति। करणत्वैकत्वयोरित्यर्थः। तेन पश्वन्वयेन। मार्गेण द्वारेण। कार्ये पशुयागकार्ये। निवेशोपपत्तेरित्यनन्तरं पशुरेकः करणमिति धीरुपपन्नेति शेषः।

एतदुक्तं भवति। "पशुना यजेत" इत्यत्र पशुप्रातिपदिकेन पशुः, विभक्तिवचनाभ्यां करणत्वमेकत्वं चावगम्यते, तेषां च विधिनैव संबन्धः। सर्वस्यापि तत्प्रकरणेऽवगतस्य तेनैवान्वयात्, संख्या चोपादेयविशेषणतया विवक्षिता। तत्र साक्षात्तेषां नियोगान्वयानुपपत्ते-र्नियोगस्य च स्वविषयधात्वर्थकरणमन्तरेण कार्यत्वावगमापर्यवसानात्पशुं धात्वर्थकरणतया योजयति। करणीभूतपशोश्चावच्छेदकसंख्याविशेषमन्तरेण विधेः पुनरपि साऽनुपपत्तिस्तदवस्थेति तत्सामर्थ्यानुसारेण करणपशोरवच्छेदकत्वेन संख्यां गृह्णातीति सिद्धं वचनविभक्त्यर्थयो-रुपादानमानात्पशुना परस्परं च संसर्गः पशुत्वकरणत्वयोश्च कार्येण संबन्ध इति।।५०६।।

उपादानत इति= विधि के अनुपपत्ति के बल से पशु और संख्या की संगति होनी चाहिये। उस संगति विशेष को बताते हुये सामर्थ्य रूप लिङ्गसिद्ध संख्या स्वभाव है, उसके हेतु को (संख्या के हेतु को) बता रहे हैं। अवच्छेदकत्वेन संख्यानिवेशादिति= स्वाश्रयद्रव्यावच्छेदेन= स्वपद से संख्या, तदाश्रय द्रव्य उससे अवच्छिन्न होकर, हि सर्वत्र संख्या द्रव्य में निवेशित होने से, इसीकारण से प्रकृत में वह एकत्व संख्या पशु से अवच्छिन्न है अर्थात् पशुअवच्छदेक है। तो पशुअवच्छेदेन संख्या स्वाश्रय द्रव्यावच्छेदेन सम्बन्धेन रहती है, यह भाव है। इससे क्या लाभ है? इस पर कहते हैं एतयोरिति= करणत्व और एकत्व दोनों का। तेन पशु के साथ अन्वय होने से। मार्गेण द्वार से। कार्ये– पशुरूप याग में। निवेशोपपत्तेरिति= ऐसा होने पर पशु एक जो करण है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है।

इस पर यह कहना है– "पशुना यजेत" इस वाक्य में पशु प्रातिपदिक से पशु का, तथा विभक्ति और वचन के द्वारा करणत्व तथा एकत्व का अवगमन होता है। बाकी इनका सम्बन्ध विधि के बल से ही है। इस प्रकरण में सबका विधि के बल से ही सम्बन्ध है, (अन्वय है) यह भाव है। संख्या तो उपादेय जो पशु उसके विशेषण रूप से स्वीकृत है।

यहां साक्षात् रूप से करणत्व तथा संख्या का नियोग अन्वय नहीं हो सकता नियोग को तो स्वविषय धात्वर्थ करण के बिना कार्यत्वागमत्व को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये पशु को यजेत् रूप धात्वर्थ करण से मानना पडता है। करणीभूत पशु की पशु से अवच्छिन्न संख्या विशेष के बिना विधि की पुनः अनुपपत्ति बनी ही रहेगी। विधि के सामर्थ्य के अनुसार करणपशु का संख्या के अवच्छेदक रूप से ग्रहण किया जाता है, यह सिद्ध

हुवा। तो वचन और विभक्ति इन दोनों का उपादान के कारण अस्तित्व होने से दोनों का पशु के साथ परस्पर सम्बन्ध हो जाता है, एकत्व और करणत्व का कार्य के साथ विधि के साथ सम्बन्ध है। अर्थात् एकत्वेन पशुना यजेत् तथा करणत्वेन पशुना यजेत् ऐसा बोध होगा।।

नन्वेवं "यतो वा इमानि" इति वाक्येऽपि वचनविभक्त्यर्थयोरेवमेवान्वयोऽस्त्वित्याशङ्क्य नैवं युक्तम् अत्र विधेरभावादित्याह—

आशंका= जिस प्रकार वचन और विभक्ति का पशु के साथ अन्वय है इसी प्रकार से वचन और विभक्ति का यतो वा इमानि इस वाक्य में अन्वय ब्रह्म के साथ रहने दो, ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर।

समाधान यह है कि उपरोक्त क्रम रह नहीं सकता क्योंकि प्रकृत में विधि नहीं है। इसी अभिप्राय से कहा जा रहा है—

न चैवं विधिः कश्चिदत्रेति न स्या-
दुपादानतः संगतिर्यत्पदार्थे।।
विभक्त्यर्थसंख्यार्थयोर्नेह कश्चि-
द्यतो वा इमानीति वाक्ये विधिर्नः।।५०७।।

अन्वयः= अत्र च एवं कश्चित् विधिः नेति उपादानतः विभक्त्यर्थसंख्यार्थयोः संगतिः न स्यात्। यतो वा इमानि" इति वाक्ये न कश्चित् विधिर्नः।।५०७।।

अन्वयार्थः= "यतो वा इमानि" तै. १/१/१ इस वाक्य में वैसी विधि नहीं है। अतः उपादान (अर्थापत्ति) प्रमाण से विभक्त्यर्थ और संख्यार्थ का यत् पदार्थ में अन्वय नहीं होगा। इसलिये "यतो वा इमानि" वाक्य में हमारे मत से कोई विधि नहीं मानी जाती है।।५०७।।

न चैवमिति। यथा पशुनेति वाक्ये विधिः, एवमत्र यत इत्यादिवाक्ये कश्चिदुत्पत्ति-विनियोगादिविषयः कोऽपि विधिर्न, भावार्थविषयस्य तस्य शुद्धसिद्धार्थेऽसंभवादित्यर्थः। विद्ध्यसंभवे फलितमाह— न स्यादित्यादिना। संख्याऽत्र तद्वाचकं वचनम्। नन्वत्रापि तद्विजिज्ञासस्वेति विधिः श्रूयत इत्याशङ्क्य ब्रह्मस्वरूपवाक्यात्तस्यावान्तरवाक्यभेदान्न तदाकाङ्क्षया स्वरूपवाक्यस्थपदार्थान्वयो युक्त इत्याशयेनाह-नेह कश्चिदिति। स्वस्याव्युत्थितत्वद्योतनाय न इति शिष्यस्योक्तिः। तस्मादेतस्माद्वाक्यादेका प्रकृतिरिति धीर्न संभवतीति भावः।।५०७।।

न चैवमिति= यथा पशुना यजेत्, जैसे पशुना यजेत इस वाक्य में विधि है, इसी प्रकार से "यतो" इत्यादि वाक्य में कोई उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि आदि कोई भी विधि नहीं है। (विधि चार प्रकार की है १) उत्पत्ति विधि २) विनियोगविधि ३)अधिकार विधि तथा ४) प्रयोग विधि) इसमें से कोई भी विधि इस वाक्य में नहीं है। क्रियापरक भावार्थ के विषय की विधि की शुद्ध सिद्ध ब्रह्म रूप अर्थ में कोई संभावना नहीं है, यह भाव है। तो विधि के न होने से फलितार्थ बता रहे है न स्यादित्यादिना। संख्या का तात्पर्य संख्यावाचक वचन से है। ब्रह्म कारण के साथ विभक्ति तथा प्रत्यय की अन्वय सम्भावना नहीं है क्योंकि वहां कोई विधि नहीं है।

आशंका= यतो वा इमानि इस वाक्य में भी तद्विजिज्ञासस्वेति ऐसी विधि सुनी जाती है। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कह रहे हैं—

समाधान= ब्रह्म स्वरूप वाक्य से यह अवान्तर वाक्य होने से ब्रह्म स्वरूप वाक्य से भिन्न यह वाक्य होने से, ऐसे अवान्तर वाक्य की आकांक्षा के कारण स्वरूप वाक्यस्थ पदार्थ के साथ अन्वय सम्भव नहीं होगा। इस आशय से कहा जा रहा है। नेह कश्चिदिति एकत्व, कारणत्वादि में स्वतः अव्युत्थित्त्व द्योतित कराने के लिये "न" ऐसी शिष्य की उक्ति है। इसलिये "यतो वा इमानि" इस वाक्य में एका प्रकृति ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती।

इदानीं सिद्धान्ती पश्वेकत्वकरणत्वयोरिव प्रकृतेऽपि यत्पदार्थे वचनविभक्त्यर्थान्वयो युज्यते इति तदुक्तं विद्ध्यभावमङ्गीकुर्वन्नाह—

प्रकृत में सिद्धान्ती पशुनिष्ठ एकत्व तथा करणत्व दोनों का प्रकृत में भी "यत्" पदार्थ में वचन तथा विभक्त्यर्थ का अन्वय हो जाता है, इति। इस बात को विधि का अभाव अङ्गीकृत करते हुये कह रहे हैं—

अवितथमिदमेवमेतदस्मिन्न
खलु विधेर्वचनं पठन्ति वाक्ये।।
यत इति घटते तथापि योगो
वचनविभक्तिनिगद्ययोरिहापि।।५०८।।

अन्वयः= अवितथमिदं "यत" इति अस्मिन् वाक्यविधेर्वचनं न खलु पठन्तीति एवमेवेतत् तथापि इहापि वचनविभक्तिनिगद्ययोः योगो घटते।।५०८।।

अन्वयार्थः= यह जो कहा (अर्थापत्ति प्रमाण से पशुगत एकत्व तथा करणत्व का अन्वय) वह सही है। और यतो वा इमानि इस वाक्य में विधि नहीं है, यह भी सही है। तथापि यहां भी वचनार्थ तथा विभक्त्यर्थ का अन्वय हो जाता है।।५०८।।

अवितथमिति। सत्यमित्यर्थः। पश्वेकत्वकरणत्वयोर्विधिसामर्थ्यादेव परस्परं संसर्ग इत्येतदिदमा परामृशति– यत इति। वाक्ये विद्ध्यभाव इत्येतदप्यङ्गीकरोति– एवमेतदिति। एतदप्यवितथमित्यर्थः। अङ्गीकृतमेतदेवाह अस्मिन्निति। यत इत्यस्मिन्वाक्य इति संबन्धः। कथं तर्हि तयोरन्वयः स्यादित्याशङ्क्याह घटत इति। यद्यपीह विधेर्वचनं न पठन्ति तथापि वचनविभक्तिनिगद्ययोर्वाच्ययोरेकत्वप्रकृतित्वयोरिहापि योगो घटत इति संबन्धः।।५०८।।

अवितथमिति– सत्य ही। पशुनिष्ठ एकत्व (संख्या का) तथा करणत्व का विधिसामर्थ्य से ही परस्पर संसर्ग है इसी बात को इदमा शब्द से परामर्शित करते हैं। यत इति= यतो वा इमानि इस वाक्य में विधि के अभाव को अङ्गीकृत करते हैं। एवमेतदिति= यह बात भी सत्य ही है। अङ्गीकृत जो यह किया है उसे कह रहे हैं।

अस्मिन्निति= "यतो वा इमानि" इस वाक्य में। यह सम्बन्ध है।

आशंका= तो फिर एकत्व तथा करणत्व का अन्वय कैसे संभव होगा?

समाधान= घटत इति= यद्यपि यहां यतो वा इमानि वाक्य में विधि वचन पठन में नहीं है तथापि वचन और विभक्ति इनसे, निगद्ययोः– वाच्य रूप से, एकत्व और प्रकृतित्व का यहां भी सम्बन्ध घटित हो जाता है।

ननु प्रतिज्ञामात्रेण न वस्तुसिद्धिः, न चात्र तयोरन्वयप्रापकं हेतुं कं चित्पश्याम इत्याशङ्क्याह–

आशंका= प्रतिज्ञामात्र से वस्तु की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि वचन और विभक्ति के अन्वय को प्राप्त कराने के लिये कोई भी हेतु हमको दिखाई नहीं देता है। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं–

एकत्वमेकवचनेन समर्पितं य-
द्यच्छब्दवाच्यनिलयं यत इत्यमुष्मिन्।।
पञ्चम्युपात्तमपि यत्प्रकृतित्वमस्मिन्
सङ्गच्छते तदुभयं पशुवस्तुनीव।।५०६।।

अन्वयः= "यतः" इत्यमुस्मिन् वाक्ये यच्छब्दवाच्यनिलयं एकवचने समर्पितं एकत्वं, पञ्चम्युपात्तमपि प्रकृतित्वं,

तदुभमं अस्मिन् पशुवस्तुनीव सङ्गच्छते।।५०६।।

अन्वयार्थः= "यतो वा" इस वाक्ये में "यत्" शब्द वाच्यगत जो एकवचन से समर्पित एकत्व और पञ्चम्यर्थ (जगत् कारण में चेतन में) पशु वस्तु के समान् अन्वित होते हैं। पञ्चम्यर्थ प्रकृतित्व है, वे दोनों इस (चेतन वस्तु) में पशु वस्तु के समान अन्वित होते हैं।।

एकत्वमिति। यत इत्यमुष्मिन्वाक्य एकवचनेन यच्छब्दवाच्यनिलयं यच्छब्दार्थजगत्कारणाश्रयं यदेकत्वं समर्पितम्। एवं यत इति पञ्चम्योपात्तं तद्गतं यत्प्रकृतित्वं तदुभयमप्यस्मिन् जगत्कारणे परस्परं संगच्छते। तत्र दृष्टान्तः पशुवस्तुनीति। संख्याकरणत्वयोरिति शेषः। इदं हि वाक्यं वाक्यशेषावगतब्रह्मणो लक्षणं बोधयति, तच्च जगत्प्रकृतित्वमात्रेण न सिद्ध्यति। जगत्प्रकृतीनामनेकत्वे एकस्य ब्रह्मणस्तदात्मत्वायोगादिति जगत्प्रकृतित्वविशिष्टस्य वचनार्थैकत्वेन संबन्धो लक्ष्यब्रह्मणाऽपेक्षित इत्येका प्रकृतिरिति सिद्ध्यतीति भावः।।५०६।।

एकत्वमिति= यतो वा इस प्रकृत वाक्य में एक वचन से यत् शब्द वाच्य निलयम् यच्छब्दार्थ जो जगत् का कारण (आश्रय) रूप है तन्निष्ठ एकत्व एकवचन से समर्पित हुवा। इसी प्रकार से "यतो" इस पञ्चमी से प्राप्त यत् शब्द गत प्रकृतित्वं ये दोनों ही जगत् कारण में परस्पर सम्बन्धित होते हैं। इसमें दृष्टान्त बता रहे हैं। पशुवस्तुनीति= संख्या और करणत्व का, "यतो वा इमानि" यह तो वाक्य वेदान्त वाक्यों का शेष भूत सिद्धब्रह्म का लक्षण बताता है। वह लक्षण जगत् प्रकृतित्व मात्र से सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि जगत् की प्रकृति या उपादान कारण तो अनेक हैं, एक ब्रह्म में जगत् प्रकृतित्व सम्भव नहीं हो पायेगा। इस बात का खण्डन करने के लिये जगत् प्रकृतित्व विशिष्ट को वचनगत एकार्थ के साथ सम्बन्ध लक्ष्यीभूत ब्रह्म को अपेक्षित है इसप्रकार एका प्रकृतिरिति यह प्रयोग सिद्ध हो गया है।

ननु ब्रह्मणो लक्ष्यताबलाद्विभक्तिवचनार्थयोः संगतिरित्युक्तमयुक्तम्। सिद्धान्ते हि जगत्कारणत्वं वक्ष्यमाणरीत्या तटस्थलक्षणं गृहस्येव काकः। तत्त्वं च तद्वज्ज्ञातस्यैवेति वाच्यम्। न च जगत एकप्रकृतित्वमन्यतोऽवगतम्। न चास्मादेव वाक्यात्तदवगमः। एकस्य वाक्यस्य कारणैकत्वतदभिन्नब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायोगात्। अत एव तस्य लक्षणत्वायोगात्कथं तदनुपपत्त्या तत्सिद्धिरित्याशङ्क्य, अवान्तरतात्पर्य्यभेदेन यत इत्यादिवाक्यं जगत्प्रकृतावेकत्वं प्रसाध्य तदनुवादेन तद्ब्रह्मेति वाक्येनैकत्वं गच्छद्ब्रह्मस्वरूपपरमिति नोक्तदोष इत्याशयेनाह—

आशंका= ब्रह्म को लक्ष्यता के बल से, विभक्ति और वचनार्थ दोनों की संगति

है ऐसा जो आपने कहा वह ठीक नहीं है।

समाधान= सिद्धान्त में जगत् कारणत्व तो ब्रह्म का तटस्य लक्षण ही माना गया है। जैसे काकवन्तं देवदत्तस्य गृहम्= कौवे वाला घर देवदत्त का है। इत्यादि। तटस्थ लक्षणता तो उसी प्रकार से उस ब्रह्म को जानने में ही है।

आशंका= जगत् की एक प्रकृतित्व तो हमें अन्य वाक्य से भी प्राप्त हो जाती है। यह तो कोई बात नहीं है कि इसी वाक्य से एक प्रकृतित्व का बोध प्राप्त होता है। एक बात और भी है कि एक ही वाक्य को ब्रह्म प्रकृति गत (ब्रह्मगत) एकत्व, और उससे अभिन्न ब्रह्म स्वरूप में कारणत्व रूप प्रकृतित्व प्रतिपादकत्व दोनों एक वाक्य में सम्भव नहीं हो सकते हैं। इसीलिये "यतो वा" इस वाक्य को लक्षण परक नहीं मानेंगे। तो फिर लक्षण की अनुपत्ति से कैसी (वचन और विभक्तित्व एकत्व तथा करणत्व की सिद्धि होगी। ऐसी आशंका प्राप्त होने पर-

समाधान= यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो "यतो वा इमानि" इस वाक्य से और ही अवान्तर तात्पर्य भेद उत्पन्न होगा। इसलिये यतो वा इमानि इत्यादि वाक्य जगत् प्रकृति में एकत्व को सिद्ध करने के बाद उसी का अनुवाद करके तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ऐसे वाक्य से एकत्व को प्राप्त कराता हुवा "यतो वा" वाक्य ब्रह्मस्वरूपपरक है, इसलिये उक्त दोष नहीं है। इस आशय से कहा जा रहा है-

एका या प्रकृतिः समस्तजननी तद्ब्रह्म जिज्ञास्यता-
मित्यत्रापि हि वस्तुनिष्ठवचने शक्यैव तत्संगतिः।।
विज्ञातुं विधिमन्तरेण च तथाऽऽनर्थक्यभीत्या न हि
स्वाध्यायाध्ययनैकगोचरविधेरायातमर्थं विना।।५१०।।

अन्वयः= समस्तजननी या एकाप्रकृतिः "तद् ब्रह्म जिज्ञास्यताम्" इत्यत्र वस्तुनिष्ठवचनेऽपि विधिमन्तरेणैव तत्संगतिः विज्ञातुं शक्या। तया आनर्थक्यभीत्या च आयातं अर्थं विना स्वाध्याया-ध्ययनैकगोचर विधेः (सार्थक्यं) न सम्भवति।।५१०।

अन्वयार्थः= समस्त प्रपञ्च की जननी जो एक प्रकृति है, वही ब्रह्म है, इस वस्तुपरक वचन में भी निधि के बिना ही उस (वचनार्थ) तथा (विभक्त्यर्थ) की संगति जानी जा सकती है, वैसे ही आनर्थक्य के भय से भी, क्योंकि लब्धार्थ के बिना स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधि का सार्थकत्व सम्भव नहीं है।।५१०।।

एका या प्रकृतिरिति। जिज्ञास्यतामिति "विजिज्ञासस्व" इति पदार्थो दर्शितः,

विचार्यतामित्यर्थः। विचारविधेरपि ब्रह्मण्येव महातात्पर्यमिति वस्तुनिष्ठवचन इत्युक्तम्। तयोर्वचनविभक्त्यर्थयोः संगतिर्यथा विधिना ज्ञायते तथा तं विनाऽप्यानर्थक्यभीत्या प्रयोजनाभावप्रसङ्गभीत्या विज्ञातुं शक्यैवेति संबन्धः। ननु न प्रमाणं प्रयोजनानुसारेण स्वार्थं साधयति येन तदभावप्रसङ्गभयेनालौकिकोर्थस्तस्य कल्प्येतेत्याशङ्क्याह— नहि स्वाध्यायेति। न हि यतो वा इत्यादिवचनमर्थं विना स्वस्य श्रोतृसमीहितार्थपर्य्यवसानं विना स्वाध्यायाध्ययनविधेः- प्रापकादायातं प्राप्तं स्यात्। अध्ययनविधिर्ह्यध्येतुः फलवदर्थप्रतीतिप्रयोजनमेव वाक्यमध्यापयतीति तद्रहितं वाक्यं नाध्ययनविधिना प्राप्येत। यतो वा इत्यादिवाक्यं चाद्वैतब्रह्मलक्षणज्ञानायैवाध्ययनविधिनाऽधीतमिति तदभावे तदध्ययनं न फलवद्भवेदतस्तत्परिहाराय तस्य विवक्षितलक्षणतात्पर्य्यसिद्ध्यर्थं तदुभयसंगतिर्द्रष्टव्येति भावः।

अथवा स्वाध्यायाध्ययनविधेरायातो योऽर्थस्तं विना तदभावे आनर्थक्यभीत्या तत्संगतिर्विज्ञातुं न हि शक्या? शक्यैवेति काक्वा दर्शयतीति योजनीयम्।।५१०।।

एका या प्रकृतिरिति= जिज्ञास्यतामिति= विजिज्ञासस्व, उसे जानो, ब्रह्म की जिज्ञासा करो, इत्यादि वाक्यों में पदार्थ का दर्शन करा दिया। अर्थात् इसका विचार करो ऐसा बता दिया। तो विचार विधि को भी ब्रह्म में ही महातात्पर्य है, इसलिये कहा वस्तुनिष्ठवचने। तो वचनार्थ और विभक्त्यर्थ इन दोनों की संगति जिस विधि से जानी जा सके ऐसा। और विधि के बिना भी आनर्थक्य का भय होने से प्रयोजनाभाव का प्रसङ्ग होने से, ब्रह्म को जानना जरूरी ही है। ऐसा सम्बन्ध है।

आशंका= प्रमाण कोई प्रयोजन के अनुसार थोडा ही स्वार्थ को साधित करता है। जिससे कि प्रयोजनाभाव के भय से अलौकिक अर्थ की कल्पना की जा सकें। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं। नहि स्वाध्यायेति। "यतो वा इमानि" इत्यादि वचन अर्थ बिना अपने आप के जो श्रोता है, उनके समीहितार्थ पर्यवसान के बिना, स्वाध्यायाध्ययनविधेः= स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इति इस अध्ययन विधि को भी स्थान प्राप्त होना चाहिये। लेकिन वैसा होता नहीं है। अध्ययन विधि तो अध्येता का फलवदर्थ की प्रतीति (ज्ञान) रूप प्रयोजन रूपा है, इसी उद्देश्य से वाक्य को पढाया जाता है, और अध्येता का फलवदर्थ की प्रतीति रूप प्रयोजन न हो तो अध्ययन विधि से प्राप्त नहीं होता हैं। तो, प्रकृत में "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य अद्वैत ब्रह्म के लक्षण के ज्ञान के लिये अध्ययन विधि के अनुसार ही अधीत हो चुका है लेकिन इस अध्ययन विधि के अन्दर तो प्रयोजन है। अध्येता के फलवदर्थ प्रतीति, न कि अद्वैत ब्रह्म लक्षण ज्ञान, इसलिये कहीं ऐसा न हो कि यतो

वा इमानि इस वाक्य का अध्ययन अध्ययन विधि के अनुसार फल न होने के कारण निष्फल हो जाय। इसका परिहार कराने के लिये "यतो वा इमानि" इस वाक्य का प्रयोजन है विवक्षित लक्षण का तात्पर्य सिद्ध कराने के लिये है, इसमें उभय संगति का ग्रहण आवश्यक है अर्थात् वचन और विभक्ति दोनों की संगति जरूरी है।

अथवा स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस स्वाध्याय अध्ययन विधि का जो प्राप्त अर्थ है उस अर्थ के बिना विधि का अभाव हो जाता है। और विधि के अभाव में प्रयोजनाभाव रूप अनर्थ की संभावना है। तो प्रयोजनाभाव के भय से विधि भी संभव नहीं है। तो फिर विधि और प्रयोजन इनकी संगति भी न ही हो सकेगी। और यदि विधि विहिन वाक्यों की संगति है, तो वह कहा है? कौन सी है यह बताते हैं। ऐसी अर्थ योजना करना। तो यतो वा इमानि। ऐसा स्थान है यह स्पष्ट हो जाता है।

तथेति सूचितं दृष्टान्तं दार्ष्टान्तिकं च विशदयन्नुक्तमार्गेण तदुभयसंबन्धसिद्धिमाह–

वचन और विभक्ति का अन्वय है, यह सूचित करने के लिये दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त दोनों को स्पष्ट करते हुये उक्तमार्ग से वचन और विभक्ति उभय का सम्बन्ध सिद्ध ही है यह बताते हैं।

वचनार्थविभक्तिवाच्ययो-
रुपपन्नाऽन्वयबुद्धिरर्थतः।।
पशुनेति पदे यथा तथा
यत इत्यादिपदेऽपि लक्षणे।।५११।।

अन्वयः= यथा अर्थतः पशुनेति पदे वचनार्थविभक्तिवाच्ययोः अन्वयबुद्धिः उपपन्ना, तथा लक्षणे यतः इत्यादिपदेऽपि।।५११।।

अन्वयार्थ= जैसे अर्थापत्तिप्रमाण से पशुना यजेत वाक्य के पशुना इसमें वचनार्थ (एकत्व) और विभक्त्यर्थ (करणत्व) का अन्वयबोध उपपन्न हो जाता है। वैसे ही यतो वा इमानि इस ब्रह्म लक्षण वाक्य के "यतः" इस पद में भी एकत्व रूप वचनार्थ तथा प्रकृतित्व रूप विभक्त्यर्थ का अन्वय बोध हो जाता है।।५११।।

वचनार्थेति। वचनार्थश्च विभक्तिवाच्यं च तयोरित्यर्थः। अर्थतः अनुपपत्तितः। पशुनेतिपदे यथा वचनार्थेत्यादिसंबन्धः। लक्षणे अद्वैतब्रह्मलक्षणवाक्ये।।५११।।

वचनार्थेति= वचनार्थ तथा विभक्ति का वाच्य (अर्थ) इन दोनों का अर्थतः= अनुपपत्ति होने से। ५०५ श्लोक। तो पशुना इस पद में जैसा वचनार्थ का सम्बन्ध हो जाता है, इसी प्रकार अद्वैत ब्रह्म लक्षण वाक्य में (लक्षण में) वचन विभक्ति का सम्बन्ध हो जाता है।

ननु सिद्धार्थवाक्यस्य कथं विधिवाक्येन तुल्यता, विधिर्हि स्वसामर्थ्यादलौकिकमर्थराशिं प्रतिपादयेत्। तदुक्तं शबरस्वामिभिः- "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तम्" इत्यादीत्याशङ्क्य सिद्धवाक्यमपि तात्पर्य्येण यमर्थं प्रतिपादयेत्तदपेक्षितमर्थान्तरमपि कथं न प्रतिपादयेत्। अन्यथा तत्तात्पर्य्यानिर्वाहात्। विधिवाक्यस्यापि तद्बलादेव तथा सामर्थ्यम्। अन्यथा "वसन्ते ज्योतिषा यजेत" इत्यत्रापि कर्मान्तरं, ग्रहं संमार्ष्टीत्यत्राप्येकत्वं विशेषणं किमिति न कल्प्येतेत्याशयेनाह—

आशंका= सिद्धार्थवाक्य की विधि वाक्य से साथ कैसी तुलना हो सकती है? क्योंकि विधि तो अपने सामर्थ्य के अनुसार अलौकिक अर्थ राशि का प्रतिपादन करेगी, इस विषय में शबर स्वामी ने कहा भी है "चोदना हि भूत भवन्तं भविष्यन्तम्" चोदना विधि वाक्य तो भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालीन अर्थ को बताता है। ऐसी आशङ्का उत्पन्न होने पर कहते हैं—

समाधान= सिद्ध वाक्य भी तात्पर्य से जिस अर्थ का प्रतिपादन करेगा तो इस अर्थ को अपेक्षित अर्थान्तर का भी क्यों नहीं प्रतिपादन करेगा। अर्थात् प्रतिपादन करेगा नहीं तो सिद्ध वाक्य का तात्पर्य निर्वाह ही नहीं हो पायेगा। विधि वाक्य में भी तात्पर्य निर्वाह रूप बल के कारण वैसा सामर्थ्य है। नहीं तो वसन्ते ज्योतिषा यजेत्" वसन्त में ज्योतिष्टोम यज्ञ करें यहां भी और कर्मान्तर आना चाहिये, इसी प्रकार से ग्रहं संमार्ष्टीत्यत्र यज्ञपात्र विशेष को साफ करें, यहां यज्ञपात्रनिष्ठ एकत्व विशेषण क्यों नहीं कल्पित किया इसी आशय से कहा जा रहा है—

विधिनिष्ठवाक्यमपि बोधयति
स्वमपेक्षितं विषयमर्थवशात्।।
परमात्मनिष्ठमपि तुल्यमिदं
वचसोर्द्वयोरपि तु रूपमतः।।५१२।।

अन्वयः=विधिनिष्ठवाक्यमपि स्वमेपक्षितं विषयमर्थवशात् बोधयति, एवं परमात्मनिष्ठमपि (वाक्यं) तुल्यं इदं रूपम् (स्वमपेक्षितं विषयमर्थवशात् बोधयति) अतः द्वयोरपि वचसोः तु (साम्यत्वम्)।।५१२।।

अन्वयार्थः= विधि वाक्य भी अपने में अपेक्षित अर्थान्तर को प्रतिपादित करता है इस प्रकार सिद्धार्थ परक वाक्य भी अपने में अपेक्षित अर्थान्तर को प्रतिपादित करता है। तो विधि वाक्य तथा सिद्ध वाक्य दोनों ये निर्वाह बल के कारण अर्थान्तरप्रतिपादकत्व रूप समान सामर्थ्य है।।५१२।।

विधिनिष्ठवाक्यमिति। स्वं स्वीयं परमात्मनिष्ठमपि स्वमपेक्षितं विषयमर्थवशाद्-बोधयतीत्यनुषङ्गः। फलितमाह- तुल्यमिति। यत एवमतः सिद्धार्थविधिनिष्ठवचसोर्द्वयोरपीद-मर्थान्तरप्रतिपादकत्वं रूपं तुल्यमेवेत्यर्थः।।५१२।।

विधिनिष्ठवाक्यमिति= स्वं= स्वकीय का, परमात्मानिष्ठमपि स्व को अपेक्षित अर्थ को जबरन बोधित कराता है। फलितार्थ बता रहे हैं तुल्यमिति—जब ऐसी स्थिति है अतः सिद्धार्थ वचन तथा विधिनिष्ठ वचन दोनों में भी अर्थान्तर प्रतिपादकत्व तुल्यरूप से है। तात्पर्य भेद से कर्मकाण्ड कार्यपरक है इसी प्रकार से ज्ञानकाण्ड सिद्धपरक बोध करा सकता है।

वस्तुतस्तु जगत्कारणे प्रकृतित्वं विभक्तिर्न प्रतिपादयति तस्यानुमानादेव सिद्धत्वा-त्प्राप्तानुवादेनानेकार्थविधानासंभवाच्च। किं तु वचनार्थमेकत्वमेव तद्वाक्यं प्रतिपादयति। तत्र चेतनमात्रोद्देशेनेकत्वविधानासंभवाज्जगत्कारणत्वेन तदधिष्ठानमेवोद्दिश्य वचनार्थः। प्रतिपाद्यत इति नात्र कश्चिद् दोषतुषोऽपीत्याशयेनाह—

वस्तुतः जगत्कारण में प्रकृतित्व का प्रतिपादन विभक्ति नहीं कराती है। प्रकृतित्व का बोध तो अनुमान से ही हो जाता है। यदि उसका अनुवाद वाक्य करता है। एक ही वाक्य अनेकार्थ का विधान कैसे करेगा। और यह उचित भी नहीं है। किन्तु "यतो वा इमानि" वाक्य वचनार्थ एकत्व का ही प्रतिपादन करता है। अब यह जो एकत्व का विधान है वह चेतनमात्र को लेकर है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु जगत्कारणत्वेन रूपेण जगत का अधिष्ठान रूप वह कारण होने से एकत्वरूप वचनार्थ प्रतिपादित किया जाता है। इसलिये किञ्चित भी दोष नहीं है। इस आशय से कहा जा रहा है—

एकं चेतनमस्य यत्प्रकृतितामापन्नमुत्प्रेक्षते
तद्ब्रह्मेति निशामयेति निपुणं ब्रूते परब्रह्मणः।।
सिद्धं लक्षणमादरेण महता व्यावर्त्तयद्ब्रह्मण-
स्तत्त्वं तत्त्वमसीति वाक्यनिलयं तच्छब्दलक्ष्यं वचः।।५१३।।

अन्वयः= अस्य जगतः प्रकृतितां आपन्नं यदेकं चेतनं उत्प्रेक्ष्यते, तद् ब्रह्मेति निशामय इति वचः तच्छब्दलक्ष्यं ब्रह्मणः तत्त्वं महता आदरेण व्यावर्तयत्, परब्रह्मणः सिद्धं लक्षणं ब्रूते।।५१३।।

अन्वयार्थः= इस जगत् का उपादान कारणता का आश्रय जो एक चेतन ब्रह्म (उत्प्रेक्षित) अनुमानित किया जाता है, उस ब्रह्म का श्रवण कर यह वचन महावाक्य गम्य, तत् शब्द से भूत, ब्रह्मतत्त्व का पूर्ण रूप से आदरता के साथ (प्रधानादि के अनात्म जगत से) व्यावृत्ति करते हुये पर ब्रह्म का पूर्ण

रूप से आदरता के साथ (प्रधानादि के सहित अनात्म जगत से) व्यावृत्ति करते हुये परब्रह्म का सिद्ध लक्षण ही कहता है।।५१३।।

एकं चेतनमिति। अस्य वियदादिप्रपञ्चस्य यत् चेतनं प्रकृतितामापन्नमुत्प्रेक्षतेऽनुमिनोति तदेकमिति प्रथममन्वयः। पश्चात्तदप्यनुवाद्यकोटौ निक्षिप्याह-तद्ब्रह्मेति। निशामय शृणु विचारयेत्यर्थतस्तद्विजिज्ञासस्वेत्यस्य ग्रहणम्। एवमादिवचोऽत्र प्रागुक्तशङ्काऽभावान्निपुणं यथा स्यात्तथा परब्रह्मणोऽनुमानसिद्धं जगत्कारणत्वरूपं लक्षणं महताऽऽदरेण ब्रूत इति संबन्धः। लक्षणमिति तद् ब्रह्मेत्यादेरुपलक्षणम्। अत एव महताऽऽदरेणेत्युक्तम्। यदेकं जगत्कारणं तद् ब्रह्मेति तद्विजिज्ञासस्वेति डित्थमेनं विजानीहीतिवत् तस्य ब्रह्मसंज्ञापरमिदं न लक्षणपरमित्याशङ्क्य तस्योपरिष्टान्निरसिष्यमाणत्वाज्जगत्कारणतया सांख्यादिकल्पित-प्रधानादिव्यावृत्तये ब्रह्मलक्षणमेवेह श्रुत्यभिप्रेतमित्याशयेनाह—व्यावर्त्तयदिति। तच्छब्दलक्ष्यं ब्रह्मणस्तत्त्वमद्वयानन्दं प्रधानादिभ्यो व्यावर्त्तयदिति संबन्धः। तटस्थेश्वरस्यैवेदं लक्षणमिति भ्रमापनोदनाय तत्त्वमसीति वाक्यनिलयं तदेकवाक्यमिति वचसो विशेषणमुक्तम्।।५१३।।

एकं चेतनमिति= इस वियदादि प्रपञ्च का जो चेतन प्रकृतिभाव को प्राप्त (उपादान कारण भाव को प्राप्त) अपेक्षित है, उत्प्रेक्षते— उसका अनुमान किया जाता है कि वह एक है। यह प्रथम अन्वय है। बाद में अनुवाद्यकोटि में निक्षेप करते हैं कि वह तद्ब्रह्मेति= वह ब्रह्म है। निशामय= सुनो विचार करो। तद्विजिज्ञासस्व— उसको जानो इसी प्रकरण का ग्रहण है। इस प्रकार ऐसे वचन होने के कारण वाक्य की संगति होने के कारण पहली जितनी भी शंकायें हैं उनके लिये यहां कोई अवसर ही नहीं है। तो निपुण भाव से जैसे हो वैसे परब्रह्म का अनुमान सिद्ध जगत्कारणत्व रूप लक्षण बडे आदर के साथ बोला जाता है, ऐसा सम्बन्ध है। तथा श्रुतिवाक्य से ब्रह्मत्व का बोध होता है लक्षणमिति= तद्ब्रह्म इत्यादिक का भी उपलक्षण है। इसी कारण से, महता आदरेण= महान् आदर से ऐसा शब्द का प्रयोग किया गया है। जो एक जगत् का कारण है वह ब्रह्म है इति, तद् विजिज्ञासस्व- उसे जानो, डित्थमेनं विजानीहीतिवत्= यह लकडी का हाथी है इसे ऐसा जानो। इस प्रकार यहां भी सम्बन्ध है ऐसे ब्रह्म को जानो इत्यादि।

आशंका= यतो वा इमानि तद् ब्रह्म, तद् विजिज्ञासस्व यह वाक्य तो ब्रह्म संज्ञा परक है न कि लक्षण परक।

समाधान= इसका निराकरण तो हम आगे करेंगे, लेकिन जगत् कारण रूप से सांख्यादि कल्पित प्रधानादि बीच में नहीं आवे इसलिये पहिले उनको हटाना बहुत अनिवार्य

होने से ब्रह्म का लक्षण ही श्रुति भगवती को अभिप्रेत है इस आशय से कहा जा रहा है व्यावर्त्तयदिति= यतो वा इमानि तद्ब्रह्म इस वाक्य में तत् शब्द का लक्ष्य जो ब्रह्म है वह अद्वय आनन्द स्वरूप तत्त्व स्वरूप है, और वह सांख्याभिमत प्रधानादिक से अतिरिक्त है यह सम्बन्ध है। यह ईश्वर का ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है इति। भ्रम को हटाना भी अनिवार्य होने से "तत्त्वमसीति" वह तू ही है ऐसे महावाक्य का सहारा लेकर उसी वाक्य के साथ एक वाक्यता को यह "यतो वा वाक्य भी प्राप्त हो जाता है इसलिये तद् ब्रह्म इसमें ब्रह्म का तत् (जगत् कारणात्वरूप) यह विशेषण दिया। जो पहिले तत्त्वमसि में अभिमत है, यह भाव है।

नन्वेकस्य वस्तुन एकेनैव लक्षणेनेदं प्रयोजनं सिद्ध्यति, अस्ति चात्र श्रुतिप्रसिद्धं तत्सत्यज्ञानादीति किमनेनापि लक्षणेनेत्याशङ्क्यैकस्यैव लोके लक्षणत्रैविध्यप्रसिद्धेरिहाप्यनेकलक्षणं न दोषाय प्रत्युतानेन बिना सत्यादिलक्षणमेव दुर्ज्ञानमित्याशयेनाह—

आशंका= एक वस्तु का एक ही लक्षण से यह प्रयोजन सिद्ध होता है। और यहां तो श्रुति प्रसिद्ध "तत् सत्," सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि अनेक लक्षण वाक्य है, तो फिर क्या जरूरत है इस लक्षण वाक्य की?

समाधान= एक ही वस्तु के लोक में तीन लक्षण प्रसिद्ध होने से यहां भी अनेक लक्षण होने से कोई दोष नहीं है। इसके विपरीत तो यह है कि "यतो का इमानि" इस लक्षण वाक्य के बिना सत्यादि लक्षण वाक्य भी समझ में नहीं आ सकते। इसी आशय से कहा जा रहा है। (त्रिविधलक्षण निरुपणम्)

लक्ष्यस्य लक्षणमिह त्रिविधं प्रसिद्धं
लोके स्वलक्षणममुष्य विशेषणं वा।।
यद्वोपलक्षणमिमानि च लक्षणेन
व्यावर्णयामि पृथगेव तु तत्प्रतीहि।।५१४।।

अन्वयः= इह लोके लक्ष्यस्य त्रिविधं लक्षणं प्रसिद्धं, स्वलक्षणं, अमुष्य विशेषंण वा यद्वा उपलक्षणम्, इमानि पृथगेव तु लक्षणेन व्यावर्णयामि, तत् प्रतीति।।५१४।।

अन्वयार्थः= इस लोक में लक्ष्य में त्रिविध लक्षण प्रसिद्ध है। १) स्वलक्षण (स्वरूपलक्षण) २) इस लक्ष्य का विशेषण (विशेषण लक्षण) ३) उपलक्षण। इनका पृथक् पृथक् लक्षणों के द्वारा विशेष वर्णन करता हूँ। हे शिष्य तू उसे जानने का प्रयत्न कर।।५१४।।

लक्ष्यस्येति। त्रैविध्यमेवाह—स्वलक्षणमिति। स्वरूपभूतं लक्षणमित्यर्थः। अमुष्य

लक्ष्यस्य। वेति चार्थे। यद्वेति यच्चेत्यर्थः।लक्ष्यस्य किं चित्स्वरूपभूतं लक्षणं किंचिच्च तस्य विशेषणमन्यच्चोपलक्षणमितीह लोके लक्ष्यस्य त्रिविधं लक्षणं प्रसिद्धमिति सम्बन्धः। नन्वेषां किमन्योऽन्यं भेदकमित्याकाङ्क्षायामाह— इमानीति। स्वरूपलक्षणादीनीत्यर्थः। व्यावर्णयामि विशेषतो वर्णयामि तत् त्वं प्रतीहि जानीहीत्यर्थः।।५१४।।

लक्ष्यस्येति= त्रिविधलक्षण को कहते है स्वलक्षणमिति— स्वरूप भूत लक्षण, अमुष्य= लक्ष्यका, वेति= तथा अर्थ में। यद्वेति= जो वह है वह। तो लक्ष्य का कोई तो स्वरूपलक्षण है, कोई तो उस लक्ष्य का विशेषण है, और कोई तो उस लक्ष्य का उपलक्षण है, इस प्रकार लोक में लक्ष्य के तीन प्रकार के लक्षण प्रसिद्ध है। यह सम्बन्ध है। स्वरूप लक्षण, विशेषण लक्षण और तटस्थ लक्षण।

आशंका= क्यों ये तीनों लक्षण परस्पर में भेद को सिद्ध करते हैं। क्या?

समाधान= इमानीति= स्वरूप लक्षण आदि तीनों भी। व्यावर्णयामि= विशेष रूप से लक्ष्य का वर्णन करते हैं। ऐसे "तत्" को, त्वं= तू, प्रतीहि= जान ले, जानीहि, इति।।

प्रथममेतेषां साधारणं लक्षणमाह—

अब सब से पहिले इन तीनों लक्षणों का साधरण लक्षण स्वरूप बताते हैं—

लक्ष्यार्थनिष्ठमुपलब्धमतोऽन्यतोऽर्था-
न्निःशेषतो यदतिरिच्य तदर्थवस्तु।।
लक्ष्यं निवेदयति लक्षणमेतदाहुः
सामान्यलक्षणमिदं त्रिषु लक्षणेषु।।५१५।।

अन्वयः= यद् अर्थवस्तु लक्ष्यार्थनिष्ठमुपलब्धं अन्यतोऽर्थात् निःशेषतोऽतिरिच्य लक्ष्यं निवेदयति एतत् लक्षणमाहुः। इदं त्रिषु लक्षणेषु सामान्यलक्षणम्।।५१५।।

अन्वयार्थः=जो पदार्थ लक्ष्य वस्तु में उपलब्ध होता है और अलक्ष्य पदार्थों से निःशेषतः लक्ष्य को पृथक् पृथक् करके बताता है, उस पदार्थ को लक्षण कहते हैं। यह लक्षण तीनों लक्षणो का साधारण लक्षण है।।५१५।।

लक्ष्यार्थनिष्ठमिति। लक्ष्यार्थनिष्ठमुपलब्धं सदन्यतः सजातीयादेर्निःशेषार्थादतिरिच्य व्यावर्त्त्य लक्ष्यं स्वाश्रयमर्थवस्तुनि वेदयति तदेतल्लक्षणमित्याहुः। इदं च त्रिष्वपि लक्षणेषु लक्षणत्वसामान्यलक्षणमिति सम्बन्धः। असम्भवाव्याप्तिदोषदुष्टेऽतिव्याप्तिपरिहाराय लक्ष्यार्थ-

निष्ठमुपलब्धमिति। यावल्लक्ष्ये प्रतीतमित्यर्थः। निःशेषतो व्यतिरिच्येति विशेषणान्नाति-व्याप्तिदुष्टेऽप्यतिप्रसङ्गः। नन्विदं स्वरूपलक्षणे नास्ति तस्य स्ववृत्तित्वासम्भवादिति चेत्सत्यम्। यत्प्रमितं सद् यस्यतत्सजातीयादिभ्यः सर्वेभ्यो व्यावर्त्तकं तत्तल्लक्षणमिति विवक्षितत्वान्न कोऽपि दोष इत्याशयः।।५१५।।

लक्ष्यार्थ निष्ठमिति= लक्ष्यार्थ में उपलब्ध जो है, वह दूसरों से सजातियों से, निःशेषात् अतिरिच्य= सम्पूर्ण रूप से व्यावृत्त कराता है, लक्ष्यं= वह तत्त्व अपने आश्रय की वेदयति= पहचान कराता है, वह एतादृश लक्ष्यपदार्थ का लक्षण है। यह जो तीनों लक्षणों का समान्य लक्षण किया है।

लक्ष्यार्थ निष्ठमुपलब्धमिति= लक्षण वाले धर्म को लक्ष्यार्थ निष्ठ परक तथा लक्ष्यार्थनिष्ठ उपलब्ध नहीं माना जाय तो "एष बन्ध्यापुत्रो याति," ऐसा भी लक्षण होने लग जायेगा। अतः असम्भावाना भी नहीं, तथा सास्नादिमत्त्वं गोर्लक्षण कह देने से गौ के लक्षण में अव्याप्ति भी नहीं होगी। क्योंकि लक्ष्यार्थ गौवों में सब में वह सास्नादिमत्व उपलब्ध भी है और गौ निष्ठ भी है। इसी प्रकार से प्रकृत में भी समझ लेना। जहां तक लक्ष्य है वहां तक सबकी प्रतीति हो जाती है। निशेषतो व्यतिरिच्चेति- यदि यह पद नहीं देते हैं तो अतिव्याप्ति तथा अलक्ष्य में भी लक्षण जायेगा। जैसे शृङ्गीत्वं गोत्वम्= सींग वाली गौ वह तो भैस में भी लक्षण जायेगा इसे हटाने के लिये सजातीय से निशेष रूप से हटाकर अपने आश्रयीभूत लक्ष्य को सिद्ध करने वाला ऐसा सास्नादिमत्त्वं गोत्वम् यह लक्षण ठीक है। इसीलिये निःशेषतो व्यतिरिच्येति यह विशेषण भी लक्षण में देना पडा।

इदानीं स्वरूपलक्षणस्य स्वरूपमाह—

अब स्वरूप लक्षण का स्वरूप बता रहे हैं—

लक्ष्यस्वरूपमपि सद्यदमुष्य साक्षा-
दर्थान्तराद्भवति भेदकमेतदाहुः।।
अस्य स्वलक्षणतयैव तु लक्षणं खं
छिद्रं द्रवं जलमितीदृशमत्र लोके।।५१६।।

अन्वयः= यत् लक्ष्यस्वरूपं सदपि अमुष्य अर्थान्तरात् साक्षात् भेदकं भवति, एतत् अस्य स्वलक्षणतयैव लक्षणं आहुः। अत्र लोके खं छिद्रं जलं द्रवं, इतीदृशम्।।५१६।।

अन्वयार्थः= जो लक्ष्य का स्वरूप होने पर भी इस (लक्ष्य) का लक्ष्येतर सम्पूर्ण पदार्थों के साक्षात्

भेदक होता है, उसे इस लक्ष्य का स्वरूप भूत लक्षण कहते हैं। जैसे कि लोक में खं छिद्र आदि आकाश का स्वरूप लक्षण है। जल का द्रवत्व स्वरूप लक्षण है।।५१६।।

लक्ष्यस्वरूपमिति। साक्षात्स्वभावतो लक्ष्यस्वरूपमपि सद्यदमुष्य लक्ष्यस्यार्थान्तराद्भवति भेदकमेतत्तु लक्षणमस्य लक्ष्यस्य स्वलक्षणतयैवाहुः। तत्रोदारणमाह-खं छिद्रमिति। लोकप्रतीतिमनुसृत्येदमुदाहृतमिति द्रष्टव्यम्।५१६।।

लक्ष्यस्वरूपमिति= साक्षात्= स्वभाव से। लक्ष्यस्वरूपमपि= लक्ष्य का स्वरूप होने पर ही। सद्यदमुष्य= लक्ष्य को, अर्थान्तरात् भवति भेदकमेतत्= अन्य पदार्थों को व्यावृत्त करा देता है। लक्ष्य का स्वरूप लक्षण कहते हैं। इसमें उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। छिद्रमिति= आकाश छिद्र वाला है। लोक प्रसिद्धि के अनुसार ही उदाहरण दिया गया। छिद्र ही आकाश है। छिद्र तो आकाश का स्वरूप ही है। वह छिद्र आकाश का स्वरूपलक्षण है। जो इतर पदार्थो से आकाश को व्यावृत्त करता है।

इदानीं विशेषणलक्षणस्य स्वरूपं कीर्त्तयति—

अब विशेष लक्षण का स्वरूप बताते हैं।

स्वानुरक्तमतिजन्मकारणं
यत्पुनर्भवति लक्ष्यवस्तुनि।।
तद्विशेषणतयाऽस्य लक्षणं
केसरादिकमिवाववस्तुनः।।५१७।।

अन्वयः= यत् लक्ष्यवस्तुनि स्वानुरक्तमतिजन्मकारणं भवति, तत् अस्य विशेषणतया लक्षणम्, अश्ववस्तुनः केशरादिकमिव।।५१७।।

अन्वयार्थः= जो लक्ष्यवस्तु में सविशिष्टबुद्धि का (विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही बुद्धि का) जनक होता है। उसे विशेषण लक्षण कहते हैं। जैसे अश्व का केसरादि (लालरंग इत्यादि)।।५१७।।

स्वानुरक्तेति। यत्पुनर्लक्षणं, सल्लक्ष्यवस्तुनि स्वविशिष्टबुद्धिजन्मकारणं भवति तदस्य विशेषणतया लक्षणमाहुरित्यनुषङ्गः। स्वरूपं तटस्थं च लक्षणं व्यावर्त्तयितुं स्वानुरक्तेति, लक्ष्यविशेषणतया प्रतीयमानिमित्यर्थः। अलक्षणं दण्डादि व्यावर्त्तयितुं लक्षणमिति। उदाहरति। केसरादीति।।५१७।।

स्वानुरक्तेति= जो लक्षण पुनः लक्ष्यवस्तु को साथ में स्वविशिष्ट बुद्धि के (विशेषण विशिष्ट बुद्धि को) जन्म देने वाला होता है वह लक्षण उस लक्ष्य वस्तु का विशेषण लक्षण

स्वरूप कहलाता है। स्वरूप और तटस्य लक्षणों से अपने अस्तित्व अलग रखने के लिये स्वानुरक्तेति ऐसा कहा। अर्थात् इस लक्षण में विशेषण रक्त ही रहेगा (लगा ही रहेगा) यह भाव है। जबकि स्वरूप तथा तटस्थलक्षण में यह व्यवस्था नहीं है। तद्विशेषणतया= लक्ष्य का विशेषण रूप बनकर प्रतीयमान ऐसा जो लक्षण उसे विशेषण लक्षण कहते हैं। लक्षणम्- अलक्ष्य जो दण्डादि है उन्हें हटाने के लिये "लक्षणमिति" शब्द का प्रयोग किया। उदाहरण केसरादि= लालघोडा, इसमें लाल रंग घोड़े का विशेषण है। तो घोडे की प्रतीति लाल रंग विशिष्ट ही होगी। लालरंग विशिष्ट घोडा। यह विशेषण लक्षण है।

तटस्थलक्षण स्वरूपमाह—

अब तटस्य लक्षण का स्वरूप बता रहे हैं—

स्वानुरक्तमतिजन्महेतुतां लक्ष्यवस्तुनि निरस्य लक्षणम्।।
अस्वरूपमपि तस्य यद्भवेत्काकवत्तदुपलक्षणं विदुः।।५१८।।

अन्वयः= यत् लक्ष्यवस्तुनि स्वानुरक्तमतिजन्महेतुतां निरस्य तस्य अस्वरूपमपि लक्षणम् तत् उपलक्षणं विदुः काकवत्।।५१८।।

अन्वयार्थ= लक्ष्य वस्तु में स्वविशिष्टबुद्धि हेतुता को छोडकर स्वरूप न होने पर भी जो लक्ष्य का व्यावर्तक होता है, उसे उपलक्षण लक्षण कहते हैं। जैसे काकादि है।।५१८।।

स्वानुरक्तेति। विशेषणलक्षणेऽतिव्याप्तिवारणाय निरस्येत्यन्तम्। स्वरूपेऽतिव्याप्तिपरिहाराय अस्वरूपमिति। लक्ष्याविशेषणं सद्यदस्वरूपं लक्षणं तदुपलक्षणं विदुः। तद्देशीयतत्कालीन-गृहवृत्तिकाकसंबन्धस्यानतिप्रसक्तस्य लक्षणतया काकवदित्युदाहरणम्।।४१८।।

स्वानुरक्तेति= लक्ष्य वस्तु में अपना स्थान न रखते हुये लक्ष्य वस्तु का बोध कराना यह तटस्थ लक्षण का स्वरूप है। विशेषण लक्षण में अतिव्याप्ति हटाने के लिये निरस्य पद तक बोला। निरस्य= तटस्थ लक्षण लक्ष्य वस्तु में विशेषण लक्षण के समान कोई स्थान नहीं रखता। इसी प्रकार से स्वरूप लक्षण में तटस्थ भाव की अतिव्याप्ति न हो एतदर्थ अस्वरूपमिति— अर्थात् जो लक्ष्य का विशेषण भी नहो और जो लक्ष्य का अस्वरूप हो और लक्षण भी हो इसे तटस्थ लक्षण कहते हैं। अथवा इसे ही उपलक्षण भी कहते है। तद्देश में तथा तत्काल में देवदत्त के घर पर रहने वाला कौवा अतिप्रसक्त नहीं होने से (अनति प्रसक्त होने से) लक्षण रूप से प्रवेश हुवा यही कारण है कि "काकवन्तं देवदत्तस्य गृहम्" कोवे वाला घर देवदत्त का है। ऐसा उदारण प्रस्तुत किया।

एवं त्रिविधं लक्षणमुक्त्वा तर्हि जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणः किं लक्षणमित्याकाङ्क्षाया-माह—

इस प्रकार तीन प्रकार के लक्षणों को कहने के बाद, अब प्रश्न यह है कि जन्मादि कारणत्व ब्रह्म को है, तो यह कौन सा लक्षण है ? ऐसी आकाङ्क्षा उत्पन्न होने पर कहते हैं—

विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्वमस्य
चिद्वस्तुनो यदसहायपरिग्रहस्य।।
तद्वर्णनीयमुपलक्षणमेव कस्माद्
ब्रह्मेति लक्ष्यपदशक्त्यविरोधहेतोः।।५१६।।

अन्वयः= यस्य असहायपरिग्रहस्य चिद्वस्तुनो यद् विश्वोद्भवस्थितिप्रलयप्रकृतित्वं लक्षणम्, तदुपलक्षणमेव वर्णनीयम्। कस्मात्? ब्रह्मेति लक्ष्यपदशक्त्यविरोधहेतोः।।५१६।।

अन्वयार्थ= अद्वितीय चिद्वस्तु का जो विश्व की उत्पत्ति स्थिति प्रलय कारणत्व लक्षण है, उसे उपलक्षण ही कहना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार ब्रह्म रूप लक्ष्यपद की शक्ति का विरोध नहीं होता है।।५१६।।

विश्वोद्भवेति। प्रकृतित्वमिति कर्त्तृत्वस्याप्युपलक्षणम्। अत एवासहायपरिग्रहस्यातिरिक्त-सहायापेक्षाशून्यस्यैकस्येति यावत्। अस्य चिद्वस्तुनो विश्वोद्भवादिप्रकृतित्वं यत्तदुपलक्षणमेव वर्णनीयम्। नन्वस्वरूपस्य तस्य विशेषणत्वसंभवात्कस्मादुपलक्षणत्वमुच्यत इत्याशङ्कते-कस्मादिति। यावल्लक्ष्यस्वरूपं तद्धर्मो भूत्वा यल्लक्षयति तदेव विशेषणलक्षणम्। जगत्कारणत्वमपि यावल्लक्ष्यभावि चेद् ब्रह्म परिच्छिन्नं स्यादिति तत्पदशक्तिर्वक्ष्यमाणा बाध्येत तत्परिहारायोपलक्षणत्वमेवास्य युक्तम्। एवं च तल्लक्ष्यमखण्डं सिद्ध्यतीत्याशयेनाह-ब्रह्मेति।।५१६।।

विश्वोद्भवेति= प्रकृतित्व यह कर्तृत्व का भी उपलक्षण है। (अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों कारण ब्रह्म है) इसी कारण असहाय परिग्रहस्य— अतिरिक्त किसी भी प्रकार की सहायता की अपेक्षा एक को नहीं है, यह भाव है। अस्य चिद्वस्तुनो= विश्व का उद्भवादि जो है वह सब, उपलक्षणमेव= उपलक्षण स्वरूप ही है। अर्थात् विश्व का जो भी कुछ हो रहा है वह एक में ही हो रहा है, एक से हो रहा है, यह भाव है।

आशंका= ब्रह्म तो स्वरूप रहित होने के कारण प्रकृतिमत्व उसका विशेषण ही रहने दो, उसे उपलक्षणत्व परक मानना उचित नहीं है। ऐसी आशंका की जाती है। कस्मादिति=

जब तक लक्ष्य का स्वरूप है उसका धर्म बनकर उस लक्ष्य को जो बताता है वही विशेषण लक्षण होता है। इसी प्रकार से जगत् कारणत्व (प्रकृतिमत्व) भी जबतक लक्ष्य ब्रह्म है तब तक रहेगा?

समाधान= फिर तो ब्रह्म परिछिन्न होगा। इसी प्रकार से ब्रह्म पद की आगे कही जाने वाली पद शक्ति बाधित होगी। उसका परिहार कराने के लिये जगत् कारणत्व को उपलक्षणत्व परक ही मानना उचित है। इस प्रकार इसका लक्षण का लक्ष्य वह अखण्ड ब्रह्म सिद्ध होगा इस आशय से कहा है ब्रह्मेति- लक्ष्य और पदशक्ति दोनों का विरोध न होने के कारण जगत् कारणत्व उपलक्षण ही है।

ननु यत इत्याद्यनेकपदमुख्यार्थानुरोधेन ब्रह्मपदमात्रशक्तिविरोधोऽपि न दोषः स्यादिति तद्विशेषणत्वमेव न्याय्यम्। अन्यथा काकतत्पदयोरिव बहुषु पदेषु लक्षणैव स्यादित्याशङ्क्य लक्ष्यपदानुरोधेनोपलक्षणत्वमेव न्याय्यमित्याह–

आशंका= "यतो वा इमानि" इत्यादि अनेक पदों का मुख्यार्थ तो ब्रह्म ही है, इसके अनुसार ब्रह्म पद मात्र की शक्ति की कहीं विरोध भी होवे ब्रह्म शब्द प्रकृति, आकाशादि हिरण्यगर्भादिपरक होने पर भी दोषावह नहीं होगा इसलिये जगत्कारणत्व को ब्रह्म का विशेषण लक्षण ही न्यायोचित है। नहीं तो काक (कौवा) तथा काक पद दोनों के समान अनेक पदों में भी लक्षणा ही लक्षणा होगी अर्थात जितने भी ब्रह्म के लक्षण है सभी काकवत् उपलक्षण परक ही माने जा सकते है, स्वरूप लक्षण तथा विशेष लक्षण भी।। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर लक्ष्यपद के अनुसार जगत् कारणत्व को उपलक्षण मानना ही उचित है। न्याय योग्य है, इसे कह रहे हैं–

विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्वरूप-
मेकाकिनो यदिह लक्षणमुच्यमानम्।।
तद् ब्रह्मणो यदि विशेषणरूपमिष्टं
ब्रह्मेति लक्ष्यविषयस्य पदस्य भङ्गः।।५२०।।

अन्वयः= यद् इह एकाकिनो विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्वरूपं लक्षणं उच्यमानम्। तद् यदि ब्रह्मण विशेषणं इष्टम्, ब्रह्मेति लक्ष्यविषयस्य पदस्य भङ्ग।।५२०।।

अन्वायार्थ= जो यहां अद्वितीय ब्रह्म का विश्वप्रकृतित्व लक्षण किया जाता है। वह यदि ब्रह्म का विशेषण माना जायेगा, तब ब्रह्म इस लक्ष्य विषयक पद का विरोध होगा।।५२०।।

विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्वरूपमिति= ब्रह्मेति– केवल ब्रह्म को ही लक्ष्य माना है न कि विशेषण विशिष्ट ब्रह्म को। अतः जगत्कारणत्वादिक का उपलक्षण ही मानना उचित है न कि विशेषण परक, यह भाव है, अर्थ स्पष्ट है।

यदर्थप्रमित्यर्थं लक्षणं मृग्यते तद्धि प्रधानम्। प्रधानानुरोधेन चाप्रधानेषु लक्षणा न्याय्या, गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति न्यायात्। न त्वप्रधानानेकानुरोधेनापि प्रधानभङ्ग इत्याशयेन सामान्य-न्यायपूर्वकमुक्तमेवोपपादयति–

जिस अर्थ के लिये प्रमित अर्थ के लिये लक्षण ढूंढा जाता है वही प्रधान होता है। प्रधान के अनुसार (अनुरोध से) ही अप्रधान में लक्षणा करना न्यायोचित है। गुणी में लक्षणा करना न्यायोचित नहीं है, यह न्याय है। यह भी नहीं कि अनेक अप्रधानों के कारण भी प्रधान का भङ्ग माना जाता है, इसी आशय को लेकर सामान्य न्यायपूर्वक ही उक्त बात का उपपादन करते हैं–

लक्ष्यार्थवाचि पदमत्र हि लक्षणार्थे
वाक्ये प्रधानमितरद् गुणभूतमाहुः।।
ब्रह्मेति लक्ष्यविषयं च पदं समर्थं
भूमानमेव वदितुं न तु मर्त्यमल्पम्।।५२१।।

अन्वयः= अत्र लक्षणार्थे वाक्यं हि लक्ष्यार्थ वाचि पदं प्रधानं इतरद् गुणभूतमाहुः। ब्रह्मेति लक्ष्यविषयं पदं भूमानमेव वदितुं समर्थं न तु मर्त्यं अल्पम्।।५२१।।

अन्वयार्थः= इस लक्षण वाक्य में लक्ष्यार्थ वाचक पद को प्रधान और दूसरे (लक्षणार्थक) पद को गौण कहते हैं। "ब्रह्म" यह लक्ष्यार्थपद अपरिच्छिन्न भूमातत्त्व को ही कहने के समर्थ है न कि मर्त्य परिच्छिन्न विनश्वर स्वरूप को।।५२१।।

लक्ष्यार्थेति। लक्षणमर्थोऽभिधेयं यस्य तस्मिन्। इतरल्लक्षणपदम्। सामान्यन्यायं प्रस्तुते योजयति–ब्रह्मेति। ततः किमित्याशङ्क्य ब्रह्मपदं मुख्यार्थमाहेत्याह भूमानमिति। त्रिविध-परिच्छेदशून्यम्, तद्धात्वर्थस्य बृहत्त्वस्य तत्रैव पर्य्यवसानात्। मर्त्यं कालतः परिच्छिन्नम्। मर्त्यं वदितुं न समर्थमित्यत्र हेतुतया मर्त्यस्वरूपमाह-अल्पमिति। श्रुतिर्हि "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" इति भूमानं निरुच्य तद्दार्ढ्याय तदन्यदल्पमनित्यं चेति निन्दति। "अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" इति। एवं च ब्रह्मणि तदतिरिक्तसंसर्गाभ्युपगमे भूमवाचिब्रह्मपदशक्तिर्बाध्येत, कथं वा

ब्रह्मपदमल्पं वदितुं समर्थं स्यादत इदं विशेषणलक्षणं न भवतीत्युपलक्षणमेवेत्यर्थः।।५२१।।

लक्ष्यार्थेति= लक्षण का अर्थ अभिधेय है जिसका उसमें इतरद्– इतर जो लक्षण पद वह। सामान्य न्याय प्रस्तुत को योजित करते हैं। ब्रह्मेति। ब्रह्म ही लक्ष्य का विषय है। इससे क्या लाभ? तो बताते हैं कि ब्रह्म पद मुख्यार्थपरक है यह बताते हैं भूमानमिति= स्वगत, स्वजातीय, विजातीय त्रिविध भेद शून्य ऐसा ब्रह्म जो बृह धातु का व्यापकत्व अर्थ वह भी इसी ब्रह्म में पर्यवसित है। मर्त्यं- जिसका काल से परिच्छेद होवे उसे मर्त्य कहते हैं। इस ब्रह्म को मर्त्य नहीं कहा जा सकता इसमें हेतु रूप से मर्त्य स्वरूप को बताते है अल्पमिति–जो मर्त्य होता है "वह अल्प होता है। व्यापक नहीं होता है। श्रुति भी "यत्र अन्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् इति" जहां दूसरा देखा जाता है, दूसरा सुना जाता है, दूसरा जाना जाता है। वह अल्प है इसके विपरीत ब्रह्म अनल्प, अमर्त्य स्वरूप है। इस प्रकार से ब्रह्म उसके अतिरिक्त संसर्ग का स्वीकार करने पर भूमा वाचि ब्रह्म पद शक्ति का बाध हो जायेगा। और ब्रह्म पद किस प्रकार से अल्प का निरूपण करेगा? इसलिये जगत् कारणत्व यह विशेषण लक्षण न होकर उपलक्षण लक्षण परक ही है, यह निश्चित हुवा।।

उक्तमर्थं न्यायपूर्वकमुपसंहरति–

इसी बात को न्याय पूर्वक उपसंहरित करते हैं–

तस्मात्प्रधानपदभङ्गभयाद् गुणानां
युक्तं ग्रहीतुमुपलक्षणगोचरत्वम्।।
ब्रह्मेति चैतदुपलक्ष्यसमर्पणार्थ-
मेवं समञ्जसमिदं पदजातमस्मिन्।।५२२।।

अन्वयः= तस्मात् ब्रह्मेति चैतदुपलक्ष्यसमर्पणार्थं प्रधानपदभङ्गभयाद् गुणानाम् उपलक्षणगोचरत्वं ग्रहीतुं युक्तम्। एवं इदं पदजातं अस्मिन् समञ्जसम्।।५२२।।

अन्वयार्थः= अतः "ब्रह्म" इस पद के लक्ष्यार्थ का समर्पण करने के लिये तथा प्रधान पद के भङ्ग भय से गुणभूत पदों को (लक्षण पदों को) उपलक्षणार्थ ही मानना युक्ति युक्त है। इस प्रकार से सभी पद इस ब्रह्म वस्तु में समञ्जस हो जाते हैं।।५२२।।

तस्मादिति। उक्तन्यायात्प्रधानपदं ब्रह्मपदं तस्य भङ्गभयात्तच्छक्तिभङ्गप्रसङ्गेन गुण-भूतानां लक्षणपदानामुपलक्षणगोचरत्वमेव ग्रहीतुं युक्तम्, एवं ब्रह्मेत्येतत्पदं चोपलक्ष्यसमर्पण-

प्रयोजनकं ग्रहीतुं युक्तमिति संबन्धः। एवं च सति न शेषिपदभङ्गप्रसङ्ग इत्याह-एवं समञ्जसमिति। अस्मिन् यत इत्यादिलक्षणवाक्ये।।५२२।।

तस्मादिति= उक्तन्याय से प्रधान पदम्= ब्रह्मपदं, उसके भंगभयात्= शक्ति भङ्ग के भय से, गुणभूतानां= लक्षण वाचकपद् को उपलक्षण मानना ही उचित है इस प्रकार से तद् ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व यतो वा इमानि इत्यादि वाक्यान्तर्गत ब्रह्मेतिपद– एतद्पद ये पद उपलक्ष्य भूत ब्रह्म, तत्समर्पण प्रयोजन वाले होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था करने से ब्रह्महुवा शेषि तथा एतद्, तद् इत्यादि पदशेष हो जाते है अतः शेषिपद भङ्ग भी नहीं होता है, ऐसा कह रहे है। एवं समञ्जसमिति= यतो वा इमानि इस वाक्यान्तर्गत लक्षण वाक्य में जगत्कारणत्व को उपलक्षण मानना ही उचित है।

एवं जन्मादिकारणत्वस्य तटस्थलक्षणत्वमुपपाद्य तस्य व्यावृत्तिप्रयोजनकत्वं पराभिमतं व्यावर्त्तयद्ब्रह्मणस्तत्त्वमित्यत्राभ्युपेतमुपपादयितुमुपक्रमते। ननु व्यावर्त्तयद्ब्रह्मणस्तत्त्वमित्युक्तमयुक्तं, लोके लक्षणवाक्यानां लक्ष्यस्वरूपज्ञानाय गवादिपदेन व्यवहारसिद्धये वा प्रयोगदर्शनादित्या-शङ्क्यासिद्धो हेतुरित्याह–

इस प्रकार जन्मादिकारणत्व को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण प्रतिपादित करने के बाद तदस्थ लक्षण का प्रयोजन नैय्यायिकाभिमत इतर से व्यावृत्ति रूप है "व्यावर्त्तयद् ब्रह्मणस्तत्त्वमिति" यहां इसको स्वीकृत करते हुये प्रतिपादित किया आ रहा है।

आशंका= "व्यावर्त्तयद् ब्रह्मणस्तत्त्वमिति" ब्रह्म का यह तटस्थ लक्षण इतर से व्यावृत्त कराता है यह ठीक नहीं है। क्योंकि लोक में लक्षण वाक्यों को लक्ष्यस्वरूप के ज्ञान के लिये अथवा गवादिपद से व्यवहार सिद्धि के लिये नियोजित करते ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर असिद्ध हेतु है। स्वरूपासिद्धि कहा जा रहा है अर्थात् लक्षण वाक्य में लक्ष्य स्वरूप ज्ञान अथवा व्यवहार सिद्धि रूप प्रयोजकत्व नहीं है (पक्ष) जन्मादिवाक्यं लक्ष्य स्वरूप ज्ञापकं (साध्य) (हेतु) कारण वाक्यत्वात् ऐसे अनुमान में हेतु ही पक्ष में नहीं है।

लक्ष्यस्वरूपकथनाय न लक्षणानि
नाप्यस्य वाचकमिदं पदमित्यमुष्मै।।
व्यावृत्तमेतदखिलादितरार्थजाता-
दित्येतदेव वदितुं ननु लक्षणानि।।५२३।।

अन्वयः= लक्षणानि न लक्ष्यस्वरूपकथनाम्, नापि इदं पदं अस्य वाचकम् इत्यमुष्मै। एतत् अखिलात्

इतरार्थजातात् व्यावृत्तं इत्येतदेव वदितुं लक्षणानि ननु।।५२३।।

अन्वयार्थ= लक्षण न तो लक्ष्य स्वरूप कथन करने के लिये है और न तो यह लक्ष्यार्थ का वाचक ही है। यह तो लक्ष्य वस्तु को सम्पूर्ण इतर अलक्ष्य पदार्थ से व्यावृत्त करने के लिये ही लक्षण होते हैं।।५२३।।

लक्ष्यस्वरूपेति। लक्षणानि तद्वाक्यानि। अस्य लक्ष्यस्येदं गवादिपदं वाचकपदमित्यमुष्मै ज्ञापनायेत्यर्थः। "सास्नादिमती गौर्गन्धवती पृथ्वी" इत्यादिलक्षणेन न गवादिस्वरूपं प्रतिपाद्यते, गवादेः प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तद्वाक्यवैयर्थ्यात्। नापि सास्नादिमती व्यक्तिर्गवादिशब्दवाच्येत्यपि प्रतिपाद्यम्, सास्नादेस्तदर्थत्वाभावात्। न वा तदा सास्नादिमती गौरिति प्रतीतिः स्यादतो नेदमुभयं लक्षणवाक्य प्रयोजनमिति व्यावृत्ति व्यावृत्तिबोध एव तत्प्रयोजनं वक्तव्य मित्याशयेनाह-व्यावृत्तमिति। नन्विति निश्चये।।५२३।।

लक्ष्यस्वरूपेति= लक्षण पर वाक्य। इस गौरूप लक्ष्य का यह गौ पद वाचक है। इस प्रकार के ज्ञापन के लिये नहीं है। "सास्नादिमती गौर्गन्धवती पृथ्वी" इत्यादि लक्षण से न गवादि के स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है क्योंकि गावादि तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है, अतः उसका प्रतिपादक वाक्य तो व्यर्थ ही माना जायेगा। और न तो सास्नादिमती व्यक्ति गवादि शब्द की वाच्य है यह भी लक्षण वाक्य प्रतिपाद्य है। क्योंकि सास्नादिका यह अर्थ ही नहीं है जो कि प्रतिपाद्य हो सकें। इसलिये न तो इससे है। और न तो सास्नादिमती गौ, गौ शब्द की (वाच्य है) प्रतिपाद्य है। किन्तु व्यावृत्ति बोध ही लक्षण वाक्य का प्रयोजन है यही कहना चहिये। इसी आशय से कहा है। व्यावृत्तमिति। ननु-निश्चित रूप से। तो इतर से व्यावृत्ति करना यही लक्षण वाक्य का प्रयोजन है। और न तो ऐसे अर्थ का बोध लक्षण वाक्य से होता है।

किं च चक्षुषः सास्नादिवैशिष्ट्यं बोधयतस्तद्द्वारा व्यावृत्तिबोधः प्रयोजनं दृष्टम्, एवं लक्षणवाक्यस्यापि तदेव युक्तमित्याशयेन प्रथमं दृष्टान्तमाह-

दूसरी बात और भी यह है कि नेत्र के द्वारा सास्नादिविशिष्ट गौ का बोध होता है, अतः नेत्र द्वारा व्यावृत्ति बोध रूप प्रयोजन तो देखा ही है। इसलिये लक्षण वाक्य का भी वहीं प्रयोजन मानना उचित है इसी आशय से प्रथम दृष्टान्त को कह रहे हैं—

लक्ष्यस्वरूपमुपलभ्य तदेकनिष्ठं
दृष्ट्वा च लक्षणमनेन तदेव लक्ष्यम्।।

व्यावर्त्य बोधयितुमुत्सहते जनोऽयं
तत्त्वान्तरादिति यतः प्रतिपन्नमेतत्।।५२४।।

अन्वयः= लक्ष्यस्वरूपं उपलक्ष्य, तदेकनिष्ठ लक्षणं दृष्ट्वा च अनेन तदेव लक्ष्यं तत्त्वान्तरात् व्यावर्त्य बोधयितुं अयं जनः उत्सहते। यतः एतत्प्रतिपन्नम् (अतो नाज्ञात ज्ञापनं लक्षणकृत्यम्)।।५२४।।

अन्वयार्थः= किसी प्रमाण से लक्ष्य के स्वरूप का निश्चय करके तथा उस लक्ष्यमात्र में वृत्ति लक्षण के द्वारा उसी लक्ष्य को इतरपदार्थों से पृथक् करके दूसरे को जनाने के लिये पुरुष प्रवृत्त होता है, यदि निश्चित हे। अतः अज्ञात ज्ञापन लक्षण का प्रयोजन नहीं है।।५२४।।

लक्ष्यस्वरूपमिति। उपलभ्य चक्षुषेति शेषः। अयं व्यवहर्ता।।५२४।।

लक्ष्यस्वरूपमिति= उपलभ्य चक्षुके द्वारा अयं= व्यवहार अर्थ स्पष्ट है।लक्षण के ज्ञान के पहले लक्ष्य का ज्ञान आवश्यक है। धर्मि के ज्ञान बिना लक्षण धर्म का ज्ञान नहीं हो सकेगा। अतः लक्ष्य का स्वरूप ज्ञान लक्षण का कृत्य (साध्य) नहीं हो सकता।

उक्तनिषेधानुवादपूर्वकं दार्ष्टान्तिकमाह–

उक्त बात का अनुवाद पूर्वक दार्ष्टान्त में कह रहे है–

संज्ञासंज्ञिसमन्वयावगतये नेष्टं क्वचिल्लक्षणं
व्यावृत्तिप्रत्तिमात्रजनकं लक्ष्ये भवेदन्यतः।।
लक्ष्यं लक्षणवर्त्मना हि जगति व्यावर्त्तयन्तोऽन्यत-
स्तत्तल्लक्षणमादरेण महता संगृह्णते वादिनः।।५२५।।

अन्वयः= क्वचित् संज्ञासंज्ञिसमन्वयावगतये लक्षणं इष्टं न। (लक्षणं) लक्ष्ये अन्यतः व्यावृत्तिप्रतिमात्रजनकं भवेत्। जगति हि वादिनः लक्षणवर्त्मना अन्यतः लक्ष्यं व्यावर्तयन्त, तत्तल्लक्षणं महता आदेरण संगृह्णते।।५२५।।

अन्वयार्थः= कहीं भी संज्ञा संज्ञी का सम्बन्ध ज्ञान कराने के लिये से लक्षण नहीं माना जाता। किन्तु लक्षण अपने लक्ष्य की इतर पदार्थो में व्यावृत्तिमात्र का ज्ञान करता है। लोक में वादिगण लक्षण के द्वारा इतर पदार्थों से व्यावृत्ति करने के लिये ही तत्तत् लक्षणों का आदरपूवक संग्रह करते हैं।।५२५।।

संज्ञासंज्ञीति। गवादिपंदस्य लक्ष्यस्य च वाच्यवाचकरूपो यः समन्वयस्तदवगतय इत्यर्थः। एतच्च प्रागुक्तस्वरूपकथनाय नेत्यस्योपलक्षणम्। किं च संज्ञासंज्ञिसमन्वयाय लक्षणवाक्यं वदन्नपि व्यावृत्तिप्रतिपत्तिप्रयोजनं तस्याङ्गीकुर्यादेवान्यथाऽनतिप्रसक्तस्वरूपेण संज्ञिनोऽनवगमे तत्रैव संज्ञासंबन्धस्य दुरवगमत्वात्। अतस्तदेव प्रयोजनमित्याशयेनाह– व्यावृत्तिप्रतिपत्तीति। तस्माल्लोके गवादिलक्षणानामेतदेव प्रयोजनं वृद्धसंमतमित्युपसंहरति–

लक्ष्यं लक्षणवर्त्मनेति। लक्षणवर्त्मनेत्यनेन लक्षणवाक्यस्य लक्षणया व्यावृत्तिबोधप्रयोजनकत्वं सूचितम्। तत्तल्लक्षणं तस्य तस्य गोघटादेर्लक्षणम्।।५२५।।

संज्ञासंज्ञि इति= गवादिपद तथा लक्ष्य का वाच्यवाचकरूप सम्बन्ध है इसके बोध के लिये कहीं भी लक्षण वाक्य उपयुक्त नहीं है। क्योंकि यह तो स्वरूप पहिले ही सिद्ध है उसके कथन के लिये भी उपयुक्त नहीं है। तो बात यह है कि संज्ञासंज्ञि समन्वय के लिये लक्षण वाक्य कहता हुवा भी मुख्य रूप से व्यावृत्ति का बोध रूप ही प्रयोजन उसमें अङ्गीकृत करना चाहिये। अन्यथा अनतिप्रसक्त स्वरूप से संज्ञि का अवगमन न होने से वहाँ ही संज्ञा का सम्बन्ध है इसका ज्ञान बडा ही कठिन हो जायेगा। असंज्ञि में संज्ञा का जाना यह अतिप्रसक्ति का वारण करना कठिन होगा। इसलिये व्यावृत्ति प्रतिपत्ति को मुख्य प्रयोजन मानना उचित है। इस आशय से कहा है व्यावृत्तिप्रतितीति इसलिये लोक में गवादिलक्षणों का यही प्रयोजन वृद्ध सम्मत है, ऐसा उपसंहार करते हैं। लक्ष्यलक्षणवर्त्मनेति-लक्षणवर्त्मना इस से लक्षणवाक्य को लक्षण के द्वारा व्यावृत्ति बोध प्रयोजकत्व है यह सूचित होता है। ऐसा जो तत्तल्लक्षण है वह वह गो घटादि पदार्थ का लक्षण है। यह बात सिद्ध हुई।।

एवं लोकेऽस्वरूपलक्षणानां व्यावृत्तिमात्रप्रयोजनकत्वमुक्तम्। एवं सृष्टिवाक्यार्थजगत्कारणत्वमपि ब्रह्मणस्तदितरव्यावृत्तय एव श्रुत्याऽनूद्यते। किं चाश्रुतव्यवहारादिकल्पनाप्रसङ्गान्न वाच्यवाचकसंबन्धसिद्धिस्तत्प्रयोजनं, नापि ब्रह्मस्वरूपसिद्धिस्तस्याखण्डैकरसस्य जगत्कारणत्ववैशिष्ट्यविषयवाक्यप्रतिपाद्यत्वायोगादित्याशयेनोपसंहरति—

इसप्रकार लोक में जो लक्षण स्वरूप परक नहीं है (उपलक्षणपरक है अर्थात् तटस्थलक्षणपरक है।) उनको व्यावृत्ति मात्र प्रयोजनकत्व है, यह कह दिया। इस प्रकार सृष्टि वाक्यार्थ जगत् कारणत्व भी ब्रह्म को है, उससे इतर को हटाने के लिये ही श्रुति ने अनुवादित किया है। और भी अश्रुत व्यावहारिक कल्पना प्रसंङ्ग के भय से वाच्य वाचक सम्बन्ध प्रयोजन लक्षण का नहीं है। और नहीं ब्रह्मस्वरूप की सिद्धि ही प्रयोजन है, क्योंकि अखण्ड एक रस में जगत् कारणत्व विशिष्ट विषय वाक्य प्रतिपाद्यत्व हो नहीं सकता। इसी आशय से उपसंहार कर रहे हैं—

तस्माद् ब्रह्मणि वाच्यवाचकयुजासिध्द्यै श्रुतिर्नाभ्यधा-
ज्जन्माद्यस्य समीक्षितस्य जगतो यद् ब्रह्मणो लक्षणम्।।

नापीदं स्वकरूपबोधनपरं संकीर्तितं ब्रह्मणः।
किं त्वब्रह्मपदार्थतोऽस्य सकलाद् व्यावृत्ततासिद्धये।।५२६।।

अन्वयः= तस्मात् श्रुतिः यद् ब्रह्मणो लक्षणं अभ्यदात् "समीक्षितस्य अस्य जगतः जन्मादि। तत् ब्रह्मणि वाच्यवाचक युजासिद्धयै न। नापि इदं ब्रह्मणः स्वरूपबोधनपरं संकीर्तितम्, किन्तु सकलात् अब्रह्मपदार्थतो अस्य व्यावृत्तता सिद्धये।।५२६।।

अन्वयार्थः= इसलिये जो श्रुति भगवती ने ब्रह्म का लक्षण किया है, इस प्रत्यक्षभूत जगत का जन्मादि वह ब्रह्म में वाच्य वाचक सम्बन्ध की सिद्धि के लिये नहीं और न ब्रह्म का स्वरूप बोधन करने के लिये ही लक्षण किया है। किन्तु सकल ब्रह्मेतर पदार्थों से इस (ब्रह्म) की व्यावृत्ति सिद्ध करने के लिये है।।५२६।।

तस्मादिति। अस्य समीक्षितस्य जगतो जन्मादि जन्मस्थितिभङ्गं तत्कारणत्वं यद्ब्रह्मणो वाच्यवाचकयुजासिद्धयै नाभ्यधात्। नापीदं लक्षणवाक्यं ब्रह्मणः स्वरूपबोधनपरं तदर्थं सत्संकीर्तितं किं त्वस्य ब्रह्मणः सर्वस्मादब्रह्मपदार्थतो व्यावृत्ततासिद्धये इति संबन्धः। एतच्च ग्रन्थकारेण "व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्" इति परोक्तमेकं पक्षमाश्रित्योक्तं न तु स्वमतम्। प्रकृष्टप्रकाशादिलक्षणवाक्यस्य चन्द्रस्वरूपार्थतायाः प्रागुक्तत्वाल्लक्षणवाक्यमात्रस्य सिद्धान्तिभिरखण्डार्थताभ्युपगमाच्च। किं च लक्षणवाक्यं मुख्यवृत्त्या न व्यावृत्तिं प्रतिपादयितुं शक्नोति, नापि लक्षणया, तद्बीजानुपपत्तेरभावात्। लक्षणयापि लक्ष्यस्वरूपमप्रतिपाद्य कस्येतरव्यावृत्तिं प्रतिपादयेद्धर्मिविशेषविशिष्टतयैव तस्या ज्ञातुं शक्यत्वात् स्वरूप बोध। न च लक्षणवाक्यं गवादिकं बोधयदेव तस्येतरव्यावृत्तिं बोधयतीति वाच्यम्। आवश्यकत्वाच्छब्दस्य विरम्य व्यापाराभावाच्च तस्य तत्रैव व्यापारो न तु व्यावृत्तावपि। न च लक्षणवाक्येन लक्षणसंसर्गे प्रतिपादिते लिङ्गादितरव्यावृत्तिसिद्धिरिति वाच्यम्। विशिष्टस्वरूपाभिधानमात्रस्यैव शब्दव्यापारतया व्यावृत्तेः प्रमाणान्तरव्यापारसाध्यत्वप्रसङ्गेन "व्यावृत्तमेतदखिलात्" इत्यादिना प्रक्रान्तविरोधात्। अर्थादपि सिद्धयन्त्यास्तस्याः शब्दव्यापारगोचरत्वायोगाच्च। संज्ञासंज्ञि-संबन्धार्थत्वनिराकरणं तु युक्तमेव। एतच्च सर्वं प्रागुपपादितमप्याचार्याणामेतत्संमतमिति भ्रमापनोदनायास्माभिरुक्तम्।।५२६।।

तस्मादिति= अस्य समीक्षितस्य जगतो= जन्मादि आदि पद से जन्म स्थिति तथा प्रलय इसका कारणत्व जो ब्रह्म में है जो उनमें वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध है यह बताने के लिये लक्षण नहीं कहा गया है। न तो लक्षण वाक्य ब्रह्म के स्वरूप बोधपरक ही है। और नहीं उसके अर्थ के लिये लक्षण संकीर्तित है। किन्तु ब्रह्म को सभी अब्रह्म पदार्थों से अलग कराने के लिये (व्यावृत्तिसिद्धि के लिये) है यह सम्बन्ध है। इस बात को ग्रन्थकार ने "तथा व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्" व्यावृत्ति अथवा व्यवहार ही लक्षण का प्रयोजन है। यह नैय्यायिकाभिमत

पक्ष का सहारा लेकर ही हमने कहा है न कि अपना हमने मत अभिव्यक्त किया है। प्रकृष्ट प्रकाशादि लक्षण वाक्य को चन्द्रस्वरूप अर्थत्व है यह पहिले ही हम कह चुके हैं। लक्षण वाक्य को सिद्धान्ती ने अखण्डार्थत्व स्वीकृत किया भी है। और भी लक्षण वाक्य मुख्य वृत्ति से न व्यावृत्ति को प्रतिपादित करता है, न लक्षणा वृत्ति से ही व्यावृत्ति को प्रतिपादित करता है। क्योंकि इसका कोई बीज ही दिखाई नहीं देता है जिससे हम उक्त बात को स्वीकृत करें। लक्षणा से भी लक्ष्य स्वरूप का प्रतिपादन न करते हुये और किससे इतर से व्यावृत्ति हो सकती है इसलिये स्वरूपबोध में विशिष्टधर्मि विशेष को ही इतर व्यावृत्ति रूप से जानना योग्य है। अर्थात् मायाविशिष्ट ब्रह्म जगत् कारण है, वही इतर से व्यावृत्ति करेगा। न तो लक्षण वाक्य गवादिक का बोध कराके गवादिरूप अर्थ को इतर व्यावृत्ति का बोध भी कराता है क्योंकि लक्षण वाक्य तो स्वरूप मात्र का बोध कराता है, वहां उसकी आवश्यकता है, शब्द में यह कोई विशेषता नहीं कि वह विश्राम करके अन्य व्यापार करें। शब्द का तो स्वरूप बोध में ही व्यापार है न कि इतर व्यावृत्ति कराने में व्यापार है।

यह भी नहीं कि लक्षणवाक्य से लक्षण सम्बन्ध का प्रतिपादन करने से इसी लिङ्ग से हेतु से इतर व्यावृत्ति की सिद्धि हो, क्योंकि शब्द तो विशेष्य, विशेषण और दोनों के सम्बन्ध को अर्थात् विशिष्ट का ही अभिधान करता है न कि सम्बन्ध का अलग, विशेष्य का अलग। अन्यथा इतर व्यावृत्ति प्रमाणान्तर साध्य होगी। क्योंकि ऐसे संसर्ग का प्रतिपादन तो फिर शब्द से मानना नहीं होगा। अलग अलग होने से (विशिष्ट स्वरूप बोध ही व्यावृत्ति परक हो गया) दूसरी बात व्यावृत्तमेतदखिलात् इतर से व्यावृत्ति विशिष्ट से होती है न कि केवल सम्बन्धादि मात्र से, तो ऐसा मानने से व्यावृत्तमेतद् अखिलात् इस कथन का विरोध भी हो जायेगा। अन्य किसी भी प्रकार से यदि व्यावृत्ति की सिद्धि होती है तो वह शब्द व्यापार का विषय भी नहीं होगी। यह भी दोष आयेगा। तो लक्षण वाक्य संज्ञासंज्ञि सम्बन्धार्थ का प्रतिपादक है यह तो पहिले ही निराकृत कर चुके हैं। ये सब बातें पहिले ही उपपादित की है तथापि कई एक आचार्यों की इसमें सम्मति तो है नहीं अर्थात् सम्मति है ऐसा भ्रम भी हो सकता है।, उस भ्रम को हटाने के लिये हमने यह सब कह दिया है।

एवं च ब्रह्मतटस्थलक्षणवाक्यं सांख्यादिकल्पितपरिच्छिन्नप्रधानाद्यसंभविलक्षण-कथनमुखेन तल्लक्षितस्य सत्यादिवाक्यसिद्धाखण्डस्वरूपे पर्यवस्यति। न हि प्रपञ्चस्यो-पादानाभिन्नचेतनकारणे बुद्ध्यसन्निहिते सति सत्यादिविधिनिषेधवाक्यानां तत्त्वमस्यादिवाक्यानां

च समन्वयनिरूपणं संभवति निरालम्बनतन्निरूपणायोगात्, तत्र चार्थात्परभ्रमविषयपरिच्छिन्न-प्रधानादिव्यावृत्तिरपि सिद्ध्यति न तु सा लक्षणवाक्यस्य साक्षात्प्रयोजनमित्याशयेनाह–

इसप्रकार से "यतो वा इमानि" यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण वाक्य सांख्यादि द्वारा कल्पित परिच्छिन्न "प्रधानादि परक बिलकुल नहीं है, इसके विपरीत कथन मुख से इस वाक्य का लक्ष्य तथा जो सत्यादि वाक्य से सिद्ध ऐसा अखण्ड स्वरूप उसमें ही पर्यवसित होता है। क्योंकि प्रपञ्च का उपादान भूत उससे अभिन्न चेतन कारण में जो बुद्धि से सन्निहित न हो उसमें सत्यादि विधि निषेध वाक्यों का एवं तत्त्वम स्यादि महावाक्यों का समन्वय निरूपण नहीं हो सकता। जो निरालम्बन स्वरूप है उस का निरूपण कैसे हो। वहां अन्य प्रकार से (लक्षण से अतिरिक्त साधन से) सांख्यादि अभिमत परिच्छिन्न प्रधानादिक की व्यावृत्ति भी हो, लेकिन यह लक्षण वाक्य का साक्षात् प्रयोजन नहीं है इस आशय से कहा जा रहा है–

परिच्छिन्नवस्तुव्यवच्छेदसिध्यै
जगाद श्रुतिर्लक्षणं ब्रह्मणस्तत्।।
परिच्छिन्नता प्रापिता पूर्वपक्षे
परब्रह्मणस्तन्निषेधार्थमेतत्।।५२७।।

अन्वयः= श्रुतिः ब्रह्मणः तल्लक्षणं परिच्छिन्नवस्तुव्यवच्छेदसिध्यै जगाद। पूर्वपक्षे परब्रह्मणः परिच्छिन्नता प्रापिता तन्निषेधार्थं एतत्।।५२७।।

अन्वयार्थः= श्रुति ने ब्रह्म का लक्षण ब्रह्मेतर परिच्छिन्नवस्तुओं से हटाने के लिये कहा है। सांख्य आदि पूर्वपक्षियों ने ब्रह्म में जगत् कारणत्व मानकर उसमें परिच्छिन्नता आई है। उसके निवृत्ति के लिये यह लक्षण है।।५२७।।

परिच्छिन्नेति। वस्तुतः परिच्छिन्नं यज्जगत्कारणं सांख्याद्यभिमतं तद्व्यवच्छेदसिद्ध्यै इत्यर्थः। लक्षणमभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूपम्। न हीदं लक्षणं सांख्याद्यभिमते जगदुपादाने पातञ्जलाद्यभिमतेश्वरे वा संभवति। ब्रह्मणि तु तदबाधितमिति तल्लक्ष्यस्य ब्रह्मणः प्रधानादिव्यावृत्तिरर्थात्सिद्ध्यतीति भावः। नन्वर्थादपि परिच्छिन्नताव्यावृत्तिः कथं लक्षणवाक्यप्रयोजनं, न ह्यनादिसिद्धा श्रुतिरादिमत्पुरुषभ्रमसिद्धव्यावृत्तये स्वार्थं प्रतिपादयतीति युक्तमिति चेन्न। तेषामपि पक्षाणामसत्त्ववादपक्षस्येवानादिपूर्वपूर्वभ्रमसिद्धतयाऽनादित्वेन श्रुत्यैव निराकार्यत्वादित्याशये- नाह– परिच्छन्नतेति। परब्रह्मणो जगत्कारणस्य। एतदभिन्ननिमित्तोपादानत्वं लक्षणम्।।५२७।।

परिच्छिन्नेति= वस्तुतः परिच्छिन्न जो जगत् का कारण सांख्यादि को अभिमत है उसका व्यवच्छेद करने के लिये श्रुति ने यह ब्रह्म का लक्षण किया है। लक्षणम्= अभिन्न निमित्तोपादान कारणत्वरूप लक्षण श्रुति ने किया है। यह ऐसा लक्षण श्रुति ने किया है जो न तो सांख्यादि अभिमत जगदुपादन में जाता है, न तो पातञ्जल को अभिमत ईश्वर में ही जाता है। और ब्रह्म में तो यह लक्षण बिल्कुल अबाधित है, इसलिये ऐसे लक्षण का लक्ष्य ब्रह्म अपने आप प्रधानादिक से व्यावृत्त सिद्ध होता है, यह भाव है (न्याय मत में इतर व्यावृत्ति लक्षण को हेतु बनाकर अनुमान से की जाती है लेकिन वेदान्त में स्वयं लक्षण वाक्य का बोध ही इतर व्यावृत्तिपरक है।।)

आशंका= अपने आप ही परिच्छिन्नता की व्यावृत्ति हो गई फिर क्यों इसे लक्षण वाक्य का प्रयोजन माना जाय। क्योंकि अनादि सिद्ध श्रुति वह आदि वाले पुरुष निष्ठ भ्रम सिद्ध प्रधानादि को हटाने के लिये (व्यावृत्ति के लिये) अपने आप लक्षण वाक्य के अर्थ का प्रतिपादन करें। यह बात युक्तियुक्त नहीं लगती है।

समाधान= आदिवाले पुरुष निष्ठ भ्रमसिद्ध प्रधानादि भी ये जो आदिमत् पुरुष निष्ठ पक्ष, ये भी पक्ष असत्त्ववाद के पक्ष के समान अनादि कालीन पूर्वपूर्व भ्रमपूर्वक सिद्ध होने से अनादि ही है, इसीलिये इनका निराकरण अनादि सिद्ध श्रुति के द्वारा होना ही उचित है। इस आशय से कहा जा रहा है परिच्छिन्नेति= पर ब्रह्मणः= जगत् के कारणी भूत। एतत्=अभिन्ननिमित्तोपादानत्व लक्षण यह भाव है।

जगत्कारणे परिच्छिन्नत्वप्रसञ्जकं पूर्वपक्षं विवृण्वंस्तन्निवृत्त्यर्थत्वं श्रुत्यादेराह–

जगत् के कारणी भूत मे परिच्छिन्नत्व प्रापक जो पूर्वपक्ष है उनका विवेचन करते हुये उनके निवृत्ति के लिये श्रुति को कह रहे हैं–

कालस्वभावपरमाण्वसुभृत्प्रधान-
स्कन्धप्रतीत्यखिलशून्यकथाप्रसङ्गे।।
जन्मादिसूत्रमवतीर्णमियं श्रुतिश्च
तस्मादिदंपरमिदं द्वितियं प्रवृत्तम्।।५२८।।

अन्वयः= कालस्वभावपरमाण्वसुभृत्प्रधानस्कन्धप्रतीत्यखिलशून्यकथाप्रसंगे जन्मादिसूत्रं अवतीर्णम्, इयं श्रुतिश्च। तस्माद् इदं परं इदं द्वितयं प्रवृत्तम्।।५२८।।

अन्वयार्थः= काल, स्वभाव, परमाणु, जीव, प्रधान, पञ्चस्कन्ध, प्रतीति (विज्ञान), अखिलशून्य इन वादों के कथा प्रसङ्ग में जन्माद्यस्य यतः (ब्र० सू० १/१/३) यह सूत्र तथा यतो वा इमानि भूतानि यह श्रुति

प्रवृत्त हुई है।।५२८।।

कालस्वभावेति। वसन्तादिकाल एव नियमेन कार्यविशेषदर्शनात्काल एव कारणमिति केचित्।

कारणं विनैव कार्यं भवतीति स्वभाववादिनः।

सूक्ष्मेभ्यस्तन्त्वादिभ्यः स्थूलस्य पटादेरुत्पत्तिदर्शनात्सूक्ष्मं स्थूलस्य कारणम्। एवं तन्त्वादेरपि तदवयवाः सूक्ष्माः कारणमिति यतोऽन्यत्र सूक्ष्मं संभवति ते निरवयवाः परमाणवो जगन्मूलकारणमिति वैशेषिकादय आहुः।

असुभृज्जीवः स्वकर्मद्वारा कारणमिति मीमांसकाः।

त्रिगुणात्मकस्य जगतः कार्यस्य सदृशं त्रिगुणात्मकं प्रधानमेव कारणमिति सांख्याः।

स्कन्धवादी बाह्यार्थास्तित्ववादी सौत्रान्तिकादिर्बौद्धः। स हि परमाणुसङ्घातरूपं पृथिव्यादि रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारात्मक पञ्चस्कन्धात्मकमाध्यात्मिकं जगदित्याह।

प्रतीतिः क्षणिकविज्ञानम्। तत्र कल्पितमेव जगदिति विज्ञानमात्रतत्त्ववादी बौद्धः।

अखिलशून्यवादी सर्वं शून्यमिति वदति माध्यमिकः। स हि शून्यमेव पूर्वपूर्वालीकवासनावशाद्विचित्रप्रपञ्चाकारेण प्रथत इत्याह।

एतेषां कालादीनां या कथा चर्चा तत्प्रसङ्गे जगत्कारणस्य परिच्छिन्नत्वप्रसक्तौ तन्निवृत्तये जन्मादिसूत्रमियं श्रुतिश्च। तस्मादिदं श्रुतिसूत्रात्मकं द्वितयमिदंपरम् अर्थादेतत्प्रयोजनकं प्रवृत्तमिति संबन्धः। एतदुक्तं भवति। न हि कालादिः सर्वोऽपि प्रपञ्चस्य निरपेक्ष उपादानकारणं भवति। चेतनानधिष्ठितस्याचेतनस्य कारणत्वादर्शनात्। अस्तु तर्हीश्वरोऽधिष्ठाता तदधिष्ठिताः परमाणव उपादानमिति चेत्, न। कार्यस्य स्वापेक्षयाऽल्पपरिमाणजन्यत्वनियमाभावेन परमाण्वसिद्धेः। न हि दीर्घेभ्यस्तुन्तुभ्यो व्यङ्गुलः पटो न भवति, न चातिविस्तृतदीर्घदुकूलद्वयेनैका रज्जुर्न क्रियते, निरवयवसंयोगासंभवेन व्यणुकादिकार्यासंभवाच्च। न हि स्वाभावसमानदेशः संयोगो निष्प्रदेशे परमाणौ संभवति। तस्येश्वरसंबन्धासंभवेन तद धिष्ठानं चानुपपन्नम्। लाघवेनोपादानाधिष्ठात्रोरकत्वे संभवति तद्भेदायोगाच्च। लोकेऽपि तयोर्भेदो न संप्रतिपन्न इत्युक्तम्। लोके प्रेक्षावतां नियमेन कार्यविशेषमुद्दिश्य विशिष्टकारणोपादानदर्शनान्न स्वभाववादः प्रामाणिकः। सर्गाद्यकालेऽशरीरिणो जीवस्य ज्ञानासंभवेन विश्वनिर्माणायोगात्। किं बहुना यद्यत्परिच्छिन्नं तत्तत्कार्यमेवेति न

कस्यापि कारणम्। अतः सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्मैव सर्वजगदुपादानं कर्तृ चेति जन्मादिसूत्रन्यायतो यत इत्यादि- श्रुतिप्रतिपाद्यं सिद्धमिति।।५२८।।

कालस्वभावेति= १) वसन्तादिऋतुकाल ही नियम से कार्य विशेष में कारण है अतः काल ही जगत का कारण है ऐसे कुछ लोग कहते हैं। "कालो हि जगदाधारो," "जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।।"

२) दूसरे स्वभावादि जो कारण के बिना ही कार्य होता है ऐसा कहते हैं।

३) सूक्ष्म तन्तुओं से स्थूल पट की उत्पत्ति देखने में आती है अतः सूक्ष्म स्थूल- का कारण है। इसीप्रकार तन्तुओं के भी अवयव सूक्ष्म होने के से कारण है। जो आखिर में परमाणु स्वरूप ही है। तो ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु होते हैं, वे निरवयव हैं, वे ही जगत् के मूलकारण हैं, यह वैशेषिक का मत है।

४) असुभृत्जीव (प्राणधारी जीव) अपने अपने कर्म द्वारा सृष्टि का कारण हैं ऐसे मीमांसक कहते हैं।

५) त्रिगुणात्मक जगत का कार्य का कारण इसके समान त्रिगुणात्मक प्रधान कारण होना चाहिये यह सांख्य का मत है।

६) स्कन्धवादी- जो बाह्य पदार्थों का स्वीकार करते हैं ऐसे सौन्त्रान्तिक बौद्ध हैं। सौन्त्रान्तिकादि बौद्ध परमाणुओं का संघातरूप पृथित्वादि जो रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार रूप पांच स्कन्धात्मक अध्यात्मिक जगत् को मानते हैं।

७) प्रतीति क्षणिक मात्र होती है, इसे क्षणिक विज्ञान भी कहते हैं। विज्ञानवादी मत से सारा जगत् कल्पित ही है, विज्ञान मात्र तत्त्ववादी ऐसे कहते हैं।

८) सब शून्य ही है, ऐसा शून्यवादी सब शून्य है ऐसा माध्यमिक कहता है। वह श्रीमान् जी शून्य यह जगत् पूर्वपूर्व कालीन वासनावश होकर विचित्र प्रपञ्चाकार से परिणत होता है ऐसा कहते हैं।

९) तो इन कालादिक वादियों की जो चर्चा, इस प्रसङ्ग में जगत् कारणत्व कहीं परिच्छिन्न में प्रसक्त न हो, उसको हटाने के लिये "जन्माद्यस्य यतः" "यतो वा इमानि" यह श्रुति वाक्य प्रवृत्त हुवा। इसलिये यह श्रुति सूत्रात्मक जो द्वितीय सूत्र ब्रह्मपरक, अर्थात् इतर ख्यावृत्ति प्रयोजन पूरःसर प्रवृत्त हुवा यह सम्बन्ध है। इस पर यह कहना है। कालादि कोई भी निरपेक्ष भाव से प्रपञ्च का उपादान कारण नहीं हो सकता। चेतानाप्रयुक्तत्व रूप जो न हो वह वह कारण बन ही नहीं सकता। प्रेरक चेतन ही कारण होगा।

आशंका= फिर तो ईश्वर ही अधिष्ठान रहने दो और उससे अधिष्ठित परमाणु उपादान मान लेवो। ऐसा नैय्यायिक और वैशेषिक ने कहा।

समाधन= कार्य अपनी अपेक्षा से छोटे परिमाण से उत्पन्न नहीं होता है यह नियम है। इसलिये परमाणु कारण नहीं बन सकते। जैसे द्व्यणुक है इसका कारण छोटा परिमाणवाला परमाणु नहीं बन सकता, अतः परमाणु उपादान कारण नहीं है, यह भाव है। "पारिमाण्डल्य भिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्।।"

आशंका= दीर्घ तन्तुओं से क्या दो अंगुल वाला पट नहीं बन सकता? जरूर बनता है, इसी प्रकार से क्या अति विस्तृत लम्बे दो वस्त्रों से एक रस्सी नहीं बन सकती? जरूर बनती है।

समाधान= ये सारे दृष्टान्त श्रीमान् वैशेषिक जीं आपने सावयव पदार्थों के दिये हैं, लेकिन परमाणु तो निरवयव होने से उनका संयोग न होने से द्व्यणुकादि कार्य नहीं सम्पन्न हो सकता।

आशंका= स्वभाव से समान देश में परमाणु का संयोग होगा।

समाधान= निष्प्रदेश वाले परमाणुओं को समान देश, स्वभाव से संम्भव नहीं है। दूसरी बात निष्प्रदेश परमाणु में ईश्वर का सम्बन्ध न होने से ईश्वर उस परमाणु का अधिष्ठान संचालक है यह भी अनुपपन्न ही है।

इसलिये लाघव से उपादान तथा अधिष्ठान दोनों को एक मानना उचित है, उनका भेद हो ही नहीं सकता। लोक में भी इनका भेद नहीं हो सकता, वह कह दिया है। (मकडी ये उदाहरण से)।

लोक में देखा गया है कि प्रेक्षक नियम से कार्य विशेष को उद्‌देश बनाकर विशिष्ट कारण को उपादान बनाता है अतः स्वभाववाद भी प्रामाणिक नहीं है। क्या अधिक कहे जो जो परिच्छिन्न है वह वह कार्य है, वह किसी का कारण नहीं हो सकता। अतः सर्व निश्चित रूप से सर्वशक्तिशाली ब्रह्म ही सब जगत् का उपादान कारण तथा (कर्ता) निमित्त कारण है। "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र से तथा "यतो वा इमानि" इस श्रुति से निश्चित रूप से प्रतिपादित होता है, यह बात सिद्ध हुई।

ननु श्रुतिसूत्राभ्यामेवंविधकारणे सिद्धेऽपि तस्य जडप्रपञ्चपरिच्छेद एव वारितः स्यान्न त्वात्मनानात्वमपि, सम्भवति हि तादृशस्यापि कारणस्य परैरुच्यमानो जीवाद्भेद इत्याशङ्कते—

आशंका= श्रुति और सूत्र इन दोनों ने इसप्रकार के कारण को सिद्ध किया तो

भी ऐसे कारण से जडप्रपञ्च परिच्छेद से रहित वह ब्रह्म हो गया लेकिन आत्मगत नानात्व से रहित तो वह नहीं हुवा। क्योंकि इस प्रकार के कारणतापन्न तत्त्व को नैय्यायिक (वैशेषिक) जीव से भेद मानते हैं। ऐसी आशंका कहते हैं।

अधिष्ठात्रधिष्ठेयभावेन योनि-
निमित्तं च यत्कारणं जन्मभाजाम्।।
परिच्छिन्नतास्यापि सम्भावितैव
प्रतीचोऽस्य भेदे परैरुच्यमाने।।५२६।।

अन्वयः= जन्मभाजां योनिः निमित्तं च यत्कारणं अस्यापि अधिष्ठात्रधिष्ठेयभावेन अस्य प्रतीचो भेदे परैरुच्यमाने परिच्छिन्नता सम्भावितैव।।५२६।।

अन्वयार्थः= प्रपञ्च के उत्पत्ति का जो उपादान कारण तथा निमित्त कारण है। अधिष्ठेय उपादान कारण है और अधिष्ठान निमित्त कारण है। इनका नैय्यायिक भेद मानते हैं। जीवों का ब्रह्म से भेद है अतः पुनः इसमें परिच्छिन्नता सम्भावित है।

अधिष्ठात्रधिष्ठेयेति। अधिष्ठात्रधिष्ठानम् अधिष्ठेयमध्यस्तं तद्भावेन विवर्ताधिष्ठानत्वेनेत्यर्थः। योनिरुपादानं निमित्तं कर्तृ च। अथ वा तदात्मानं स्वयमकुरुतेति स्वस्यैव स्वगोचरकृतिशालित्वं स्वाश्रितकृतिविषयत्वं च यच्छ्रुतं तदधिष्ठात्रष्ठेयभावः तेन, इत्थंभावे तृतीया, अधिष्ठातृभावेन निमित्तमधिष्ठेयभावेन योनिश्चेत्यर्थः। शेषं स्पष्टम्।।५२६।।

अधिष्ठातृ= अधिष्ठान, अधिष्ठेयम्= अध्यस्त। भावेन- विवर्त के अधिष्ठान रूप से। योनिः= उपादान, निमित्तं= कर्तापन अथवा वह अपने आपको "स्वयमकुरुतेति" कृति का खुद में ही, स्वगोचर कृतिशालित्व- स्वपर से कार्य प्रपञ्चादि तद्गोचर कृतिशालित्व (निमित्तमित्यर्थ) इसीप्रकार से खुद में ही स्वाश्रित कृतिविषयत्व- स्वपद से कारण तदाश्रित कार्य, तादृश कार्यविषयत्व उपादानत्व में है। तो जो यह सुना है कि अधिष्ठाता भी वही है और अधिष्ठेय भी वही है। तेन- इस कारण से। इत्थं भाव में तृतीया विभक्ति है। अधिष्ठातृ भाव से (विवर्तोपादानतया) निमित्तकारण है और अधिष्ठेय भाव से (परिणामी उपादानतया) उपादान कारण है। उसका भेद जीवों के साथ में है इत्यादि

तद् दूषयति-

इसका खण्डन कर रहे हैं-

ततस्तन्निषेधार्थमेतद्बभाषे
श्रुतिर्ब्रह्म तद्भिन्नता तस्य कस्मात्।।
प्रतीचोऽपि हि ब्रह्मता नित्यसिद्धा
दृशो भेदसिद्धिर्निरालम्बनैव।।५३०।।

अन्वयः= ततस्तन्निन्निषेधार्थं श्रुति एतद् ब्रह्मबभाषे। तस्य तद्भिन्नता यस्मात्? हि प्रतीचोऽपि ब्रह्मता नित्यसिद्धा। दृशोभेदसिद्धिः निरालम्बनेति।।५३०।।

अन्वयार्थः= अतः परिच्छिन्नता का निषेध करने के न लिये यतो वा इमानि ऐसा श्रुति ने ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। उसी ब्रह्म का (चेतन स्वरूप जीवरूप में) ब्रह्म से भेद कैसे होगा? क्योंकि जीव की ब्रह्मरूपता नित्यसिद्ध है। स्वयम्प्रकाश ज्ञानस्वरूप दृगात्मा में भेद बुद्धि निरालम्बन है।।५३०।।

तत इति। यत एवं कारणस्य जीवात्परिच्छेदः परोक्तः सम्भावितस्तत इत्यर्थः। एतत्प्रपञ्चस्याभिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्म। फलितमाह-तदिति। तस्मादित्यर्थः। तस्य ब्रह्मणः। कस्माद्भिन्नता न कस्मादपीत्यर्थः। एतदेवोपपादयति-प्रतीचोऽपीति। प्रपञ्चोपादानस्यैकवचनेक्षणश्रुतिभ्यां तत्कर्तृचेतनाभेदे सिद्धे तदुपादानब्रह्मणश्चेतनस्य जीवादपि चेतनाद्भेदो निरस्त एव। दृशो दृगन्तरप्रतियोगिकभेदसिद्धेर्मिथ्याभेदविषयत्वात्। न हि ज्ञानं ज्ञानान्तरमविषयीकृत्य ततः स्वस्य भेदं विषयीकर्तुं शक्नोति, न वा ज्ञानं ज्ञानान्तरं विषयीकर्तुं, विषयस्य जड़त्वापत्तेर्विषयविषयिणोर्वस्तुतः सम्बन्धासम्भवाच्च। विषयिणि तस्य कल्पितत्वे च विषय्येव ज्ञानमिति न ज्ञानभेदसिद्धिरतश्चिद्रूपस्य प्रतीचश्चिद्रूपब्रह्मता नित्यसिद्धेत्याशयः।।५३०।।

तत इति= "यतो वा इमानि" जब कि इसप्रकार कारण रूप ब्रह्म को जीव से भिन्नता (परिच्छेद) वैशेषिक ने कहा है इसलिये इत्यर्थ। अतः ब्रह्म प्रपञ्च का अभिन्ननिमित्त उपादन कारण है। फलितार्थ बताते है तदिति। तस्मात् इसलिये। तस्य- ब्रह्म की। कस्माद् भिन्नता? किसी से भी भिन्नता नहीं हो सकती। इसी बात का उपपादन कर रहे हैं। प्रतीचोऽपीति। प्रपञ्च के उपादान का एक वचन "तथा ईक्षण श्रुति से जगत् कर्ता का चेतन के साथ अभेद सिद्ध होने पर, जगत का उपादान ब्रह्म जो चेतन स्वरूप होने से, चेतन जीव से उसका भेद नहीं हो सकता। चेतन में अन्य जडप्रतियोगिक भेद सिद्ध मानना मिथ्या भेद विषय रूप ही है। क्योंकि एकज्ञान ज्ञानान्तर की विषयी न होकर अपने भेद का विषयी नहीं हो सकता। न तो एक ज्ञान दूसरे ज्ञानान्तर को विषयी बना सकता हैं क्योंकि जो विषय बनेगा, वह जड होगा। वास्तविकता तो यह है कि विषय और विषयि इनका सम्बन्ध ही नहीं है। यदि विषयि में भेद कल्पित है तब तो जो विषयि है वही ज्ञान है,

इस से ज्ञान भेद की सिद्धि नहीं होती है। अतः चिद्रूप का, प्रतीचः= चिद्रूप ब्रह्मता नित्य सिद्ध है यह आशय है।

एवं लक्षणवाक्यं विशिष्टलक्षणाभिधानद्वारा समन्वयनिरूपणालम्बनार्पणेन सत्यादि-वाक्यार्थे पर्यवस्यति। अर्थाच्च जगत्कारणस्य परिच्छेदव्यावृत्तिरित्युक्तम्। नन्वस्त्वेवमितरव्या-वृत्तेरार्थिकत्वं तथापि जगत्कारणत्वं यस्य धर्मस्तत्सिद्ध्यर्थमेवेदं लक्षणमस्तु न तु सत्यादिवाक्यैक्येन तदर्थाखण्डवस्तुसिद्धय इत्याशङ्क्याह—

इसप्रकार लक्षण वाक्य विशिष्ट लक्षण के कथन के माध्यम से समन्वय निरूपण आलम्बन को समर्पण करता हुवा सत्यादि वाक्यार्थ में पर्यवसित होगी। इसका तात्पर्य यही कि जगत्कारण को परिच्छेदव्यावृत्तिफल है।

आशंका= इतर व्यावृत्ति तो अपने आप ही हो जायेगी, तो भी जगत्कारणत्व जिसका धर्म (ब्रह्म का धर्म है) है, उसी के सिद्धि के लिये जगत्कारणत्व लक्षण रहने दो। न कि सत्यादि वाक्यों के साथ उसकी अखण्डार्थता सिद्धि है ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं—

जगत्कारणत्वं पुनर्यत्र दृष्टं
न तल्लक्षणं तत्स्वरूपप्रसिध्द्यै।।
स्वरूपे यतो लक्षणे दृश्यमाने
प्रसिद्धं ततो लक्ष्यवस्तुस्वरूपम्।।५३१।।

अन्वयः= यत्र जगत् कारणत्वं लक्षणं दृष्टम्। तल्लक्षणं स्वरूपसिध्द्यै न भवति। यतः स्वरूपे दृश्यमाने लक्षणम्। ततः लक्ष्यवस्तुस्वरूपं प्रसिद्धम्।।५३१।।

अन्वयार्थः= जिस लक्ष्य में जगत् कारणत्व लक्षण देखा है, वह लक्षण के स्वरूपसिद्धि के लिये नहीं होता है। क्योंकि जो लक्ष्य दृश्यमान् है उसी का लक्षण ज्ञात होगा। अतः लक्ष्य काल में ही लक्ष्यस्वरूप का निश्चय हो जाता है।।५३१।।

जगत्कारणत्वमिति। यत्र चेतनसामान्ये। दृष्टमुक्तानुमानेन तच्छ्रुतेश्चावगतम्। तत्स्वरूपप्रसिद्ध्यै तस्य चेतनसामान्यस्य कारणत्वविशिष्टस्वरूपनिश्चयाय। कुतो नेत्यत आह-स्वरूप इति। धर्मिण्यवगत एव हि तस्यैवं लक्षणमित्यवगन्तुं शक्यम्, एवं च यतः स्वरूपे दृश्यमाने लक्षणं तदीयतया प्रसिद्धं भवति, लक्षणाच्च लक्ष्यवस्तुरूपसिद्धावन्योन्याश्रयः। न चानुमानादेव तत्सिद्धमिति वाच्यम्। तत्सिद्धये लक्षणानुपयोगप्रसङ्गात्, श्रुतिश्चात्र

केवलानुवादिनी स्यःदिति।।५३१।।

जगत्कारणमिति= जहां चैतन्य सामान्य में। दृष्टम्= उक्तानुमान से तथा श्रुति से भी जगत्कारणत्व निश्चित हो चुका है। तत्स्वरूपसिध्द्यै= यह जगत्कारणत्व, तस्य= चेतनसामान्य का कारणत्व विशिष्ट स्वरूप निश्चय कराने के लिये नहीं है। क्यों नहीं? इस पर कहते हैं स्वरूप इति। धर्मि (ब्रह्म) उसके अवगम के बाद ही उसके इसप्रकार के लक्षण को स्वीकृत किया जा सकता है। तो फिर स्वरूप के धर्मि के दृश्यमान् होने पर लक्षण उसी का है यह प्रसिद्ध होता है, और लक्षण के द्वारा लक्ष्य वस्तु (धर्मि की) स्वरूप सिद्धि हो जाती है इसप्रकार से यह अन्योन्याश्रय दोष होगा। यह भी नहीं कि अनुमान से ही लक्ष्य वस्तु की स्वरूपसिद्धि होती है। ऐसा होने पर लक्ष्यवस्तु की स्वरूप सिद्धि के लिये लक्षण की उपयोगिता ही समाप्त हो जायेगी। और श्रुति भी फिर तो केवल अनुवादक मात्र बनकर रह जायेगी, यदि अनुमान से लक्ष्य वस्तु की स्वरूप सिद्धि मानी जाय तो।

एवं प्रपञ्चस्याभिन्ननिमित्तोपादानत्वं ब्रह्मलक्षणमित्युक्तम्। ननु लक्षणमन्यतः प्रसिद्धमेव श्रूत्याऽनूद्यत इति वाच्यम्। अन्यथा तस्यापि श्रुतिप्रतिपाद्यत्वप्रसङ्गेनाखण्डार्थत्वक्षतेः। न चैकस्योभयरूपं कारणत्वं लोके प्रसिद्धमस्तीति शङ्कते—

इसप्रकार प्रपञ्च का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म है यह उसका लक्षण बना। यह कह दिया।

आशंका= लक्षण तो अन्य प्रकार से भी सिद्ध हो सकता है, श्रुति तो ऐसे लक्षण का केवल अनुवाद मात्र ही करती है, यदि श्रुति भी ऐसे लक्षण का प्रतिपादन करें तब तो अखण्डार्थत्व की क्षति हो जायेगी। क्योंकि एक ही वस्तु में दो प्रकार की कारणता कहीं लोक में देखने में नहीं आती है, ऐसी आशंका करते हैं—

निमित्तं च योनिश्च यत्कारणं त-
त्परं ब्रह्म सर्वस्य जन्मादिभाजः।।
इति स्पष्टमाचष्ट एषा श्रुतिर्नः
कथं सिद्धवल्लक्षणं सिद्धिबाह्यम्।।५३२।।

अन्वयः= सर्वस्य जन्मादिभाजः' यत् निमित्तं कारणं योनिश्च, तत् परं ब्रह्म इति सिद्धवत् लक्षणं नः एषः श्रुतिः स्पष्टं आचष्टे।। सिद्धिबाह्यं कथम्।।५३२।।

अन्वयार्थः= समस्त कार्य प्रपञ्च का जो निमित्त कारण तथा उपादान कारण भी है, वह पर ब्रह्म है। इस प्रकार प्रमाणान्तर सिद्ध जैसा लक्षण यह श्रुति हमारे लिये स्पष्ट रूप से कह रही है, अतः यह लक्षण कैसे लोक प्रसिद्ध हो सकेगा?।।५३२।।

निमित्तं चेति। नोऽस्मान्प्रत्येषा यतो वेत्यादिरूपा श्रुतिः सर्वस्य जन्मादिभाजो यत्कारणं निमित्तं योनिश्च भवति तत्परं ब्रह्मेति सिद्धिबाह्यं लोकाप्रसिद्धं लक्षणं सिद्धवत् प्रमाणसिद्धमिव कथं स्पष्टमाचष्टेति सम्बन्धः।।५३२।।

निमित्तं चेति= नो= हम लोगों के लिये, एषा= "यतो वा इमानि" रूपा श्रुति, सर्वस्य जन्मादिभाजो- सब जगत का जो निमित्त तथा उपादान कारण, तत्परक परब्रह्म है, इति। सिद्धिबाह्यं= लोक में यह प्रसिद्ध नहीं है। सिद्धवत्= प्रमाणप्रसिद्ध के समान, कथं= स्पष्ट रूप से कैसे कहा जा सकता है।

सिद्धिबाह्यमित्येतदेव प्रपञ्चयन्नाह—

सिद्धिबाह्य इसी को स्पष्ट कर रहे हैं

न खल्वीदृशं कारणं लोकसिद्धं
यतोऽनूद्य तल्लक्षणं तेन लक्ष्यम्।।
व्यवस्थापयन्ती प्रवृत्तैवमेषा
विधत्तेऽनु वक्तीति चैतद्विरुद्धम्।।५३३।।

अन्वयः= ईदृशं कारणं न खलु लोकप्रसिद्धम्, यतः तल्लक्षणं अनूद्य तेन लक्ष्यं व्यवस्थापयन्ती एषा एवं प्रवृत्ता। विधत्ते अनुवक्ति च एतद्विरूद्धम्।।५३३।।

अन्वयार्थः= ऐसा कोई प्रमाण निश्चित लोक में प्रसिद्ध नहीं है कि जिससे ज्ञात लक्षण का अनुवाद करके उस लक्षण से लक्ष्य की व्यवस्थापना करती हुई यह श्रुति प्रवृत्त हुई है। श्रुति ही लक्षण का विधान करें तथा वही अनुवाद करें ये दोनों विरुद्ध बाते हैं।।५३३।।

न खल्विति। नन्वियमेव श्रुतिरवान्तरतात्पर्येणोभयविधं कारणत्वं ब्रह्मणो वदत्विति चेत्त्राह यतोऽनूद्येति। यत इति यच्छब्दयुक्तेयं श्रुतिस्तादृशं कारणत्वमनूद्याद्वैतं ब्रह्म व्यवस्थापयन्ती प्रवृत्तेति तत्प्रागेव तत्सिद्धिर्वाच्येत्यर्थः। तर्हीयं स्वसामर्थ्यसिद्धमेवार्थमनुवदत्वित्याशङ्क्याह—विधत्त इति। अज्ञातमर्थं प्रतिपादयति। अनुवक्ति ज्ञातमर्थं बोधयतीति चैतदुभयमेकस्य विरुद्धम्, अन्योन्याश्रयप्रसङ्गादित्यर्थः।।५३३।।

न खल्विति= आशंका= "यतो वा इमानि" यही श्रुति अवान्तर तात्पर्य से उभयविध ब्रह्म में कारणता बताने दो, तो क्या दोष है तो उत्तर देते हैं। यतोऽनुद्येति यत इति- इसमें यत् शब्द से युक्त जो श्रुति है वह उभयविध कारण का अनुवाद ब्रह्म में

करके ही ब्रह्म की स्थापना करने के लिये प्रवृत्त हुई है। इसका मतलब इसके पूर्व ब्रह्म में उभयविधिकारणता सिद्ध है, यह कहना पडेगा। तभी तो "यतो वा" इस शब्द का प्रयोग श्रुति ने किया है। अब इस श्रुति के पहिले यह सामर्थ्य ब्रह्म में कौन सिद्ध करेगा। यह भी संभव नहीं है। अतः यही कहना पडेगा कि श्रुति अपने सामर्थ्य से सिद्ध ही अर्थ का अनुवाद करती हैं ऐसी आशंका होने पर कहते हैं विधत्त इति= श्रुति तो अज्ञात अर्थ का प्रतिपादन करती है तथा अनुवक्तीति= ज्ञात अर्थ को बोधित कराती है यह दोनों बाते विरूद्ध हैं अन्योन्याश्रय दोष प्रसङ्ग प्राप्त हो जायेगा, यह भाव है।

सिद्धान्ती यत इति वाक्यस्य यच्छब्दप्रयोगादनुवादत्वे स्थिते तत्सामर्थ्यादेव तादृशं कारणत्वमपि तद्विधास्यति। अन्यथाऽनुवादत्वायोगात्, न चैवमन्योन्याश्रयः। अनाद्यनुवादसामर्थ्यलब्धविधानस्याप्यनादित्वादित्याशयेनाह–

इस पर सिद्धान्ती अपना उत्तर प्रदान करते हैं। "यतो वा" इस वाक्यान्तर्गत यत् शब्द प्रयोग के आधार पर इस वाक्य को अनुवाद परक मानना चाहिये, तो इसी के आधार पर इस वाक्य को उभयविधकारणत्व परक भी मानना चाहिये। अन्यथा श्रुति वाक्य में अनुवादकत्व नहीं आयेगा। अब इसमें अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं आयेगा। क्योंकि श्रुत्युक्त अनुवाद्य और अनुवाद सामर्थ्य अनादि कालीन हैं, और एतादृश लब्धविधान भी अनादिकालीन ही है इस आशय से कहा जा रहा है–

अनुवददिदमेव वाक्यमर्था-
दुपनयतीदृशकारणं प्रसिद्धम्।।
अनुवदनमशक्यमन्यथा स्या-
दवगतगोचरमेव हीदमिष्टम्।।५३४।।

अन्वयः= इदमेव वाक्यं ईदृशकारणं प्रसिद्धं अनुवदत् अर्थात् उपनयति। अन्यथा अनुवदनं अशक्यं स्यात्, हि अवगतगोचरमेव इदं इष्टम्।

अन्वयार्थः= "यतो व इमानि" वाक्य ऐसे प्रसिद्ध कारण का अनुवाद करता हुवा अर्थात् उसका विधान भी कर देता है। अन्यथानुवाद नहीं हो सकेगा। क्योंकि विहित विषय का ही अनुवाद माना जाता है।।

अनुवददिति। प्रसिद्धमिति। स्वसामर्थ्यप्रसिद्धमित्यर्थः। इदमेव वाक्यं प्रसिद्धमीदृशं कारणमनुवददर्थादुपनयति विधत्ते। तत्सामर्थ्यमेव व्यनक्ति- अनुवदनमिति। अन्यथा तद्विध्यभावे अनुवदनमशक्यमेव स्यात्। कुतः यत इदमनुवदनमवगतगोचरमेवेष्टम् अन्यथा

सर्वस्यानुवादत्वापत्तेः। न चैवमुक्तरीत्याऽप्ययं दोषः समान इति वाच्यम्। निर्णीतानुवादत्व एव वाक्यस्यैवंविधत्वादिति भावः।।५३४।।

अनुवददिति= प्रसिद्ध है। स्वसामर्थ्य प्रसिद्ध यह भाव है। यही "यतो वा" वाक्य प्रसिद्ध उभयविधकारणत्व का अनुवाद करता हुवा उसका। उपनयति- (परामर्श) करता है। वही वाक्य का सामर्थ्य अभिव्यक्त करते हैं- अनुवदनमिति। उभय प्रकार के कारण के बारे में यदि विधि न हो तो उसका अनुवाद करना ही अशक्य हो जायेगा।

आशंका= "यतो वा" इसी का ही अनुवाद क्यों अवगत गोचर माना जाय?

समाधान= अन्यथा तो सभी बातों का श्रुति तो फिर अनुवादक ही बन कर रह जायेगी। इसलिये केवल इसी विषय के बारे में कहा।

आशंका= अवगत गोचरत्व रूप अनुवादत्व तो जैसे यतो वा इस वाक्य में है इसी प्रकार से अन्य वाक्यों में भी आयेगा। इति वाच्यम् इति न च।

समाधान= निर्णीत अनुवादत्व ही इस वाक्य में अभिमत है, और वाक्यों में यह बात नहीं है।

श्रुतिः स्वाभिधानसामर्थ्यसिद्धमेवार्थमाश्रित्य प्रवृत्तेत्येतन्मीमांसकानामपि सम्मतमिति दृष्टान्तेनाह—

श्रुति स्वाभिधान सामर्थ्य से सिद्ध ही अर्थ का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है ऐसा मीमांसकों को अभिमत है इसे दृष्टान्त से कहते है—

यथा विशिष्टस्य विधानतोऽर्था
द्विशेषणानां घटते विधानम्।।
स्थितेऽनुवादेऽपि तथेह योज्य-
मनूद्यमानेऽपि जगन्निदाने।।५३५।।

अन्वयः= यथा विशिष्टिस्य विधानतः अर्थात् विशेषणानां विधानं घटते, तथा इहापि अनुवादे स्थिते अनूद्यमाने जगन्निधाने विधानं योज्यम्।

अन्वयार्थः= जैसे विशिष्ट विधि को देखकर अर्थात् विशेषण का विधान माना जाता है। वैसे ही यहां भी अनुवाद के विद्यमान होने पर अनूद्यमान जगत् कारण का विधान मानना होगा।।

यथा विशिष्टस्येति। यथा सोमेन यजेतेत्यादिसोमादिविशिष्टयागविधानस्य सामर्थ्याद्विशेषणानां सोमादीनामपि विधानं घटते। श्रूयमाणशब्दस्यैव तत्रापि तात्पर्ये वाक्यभेदप्रसङ्गात्। विशेषणाधीनसिद्धेर्विशिष्टस्य, तद्विधानं विना विध्यसम्भवात्। एवमिह यतो वेत्यादि-

वाक्येऽनुवादत्वे स्थितेऽनूद्यमाने जगन्निदाने जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानेऽर्थाद्विधानं योज्यमिति सम्बन्धः।।५३५।।

यथा विशिष्टस्येति- जैसे "सोमेन यजेत्" इत्यादि स्थल में सोमादिविशेषण विशिष्ट याग का विधान बताया है, इस याग के सामर्थ्य बल से सोमादि जो विशेषण कोटि में है उनका भी विधान प्राप्त हो जाता है। श्रूयमाण शब्द का सोमेन यजेत् इस श्रवणापन्न शब्द का सोम में तात्पर्य मानेंगे, विधान नहीं मानेंगे तो वाक्य भेद प्रसंग होगा। क्योंकि विशिष्ट की सिद्धि विशेषण के अधीन ही होती है। विशेषण के विधान के बिना विशिष्ट विधि सम्भव नहीं हो सकती। इसी प्रकार से यतो वा इत्यादिवाक्य को अनुवाद परक मानने पर अनुद्यमाने जगन्निदाने जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारणत्व इसका अर्थात् अपने आप विधान मानना ही पडेगा मानना ही चाहिये, यह सम्बन्ध है।

इदानीं दार्ष्टान्तिके प्रागुक्तानुमानसिद्धमेवार्थं श्रुतिरनुवदतीत्याशयेनाह—

अब प्रस्तुत में दार्ष्टान्त में पहिले कहे हुये अनुमान के अनुसार अर्थ को श्रुति अनुवादित करती है। इस आशय से कहा जा रहा है—

अथ वाऽनुवादमुपलभ्य ततो-
ऽनुपपद्यमानवपुषः प्रमितेः।।
अपरं निमित्तमिह कल्प्यमिति
प्रवदन्ति केचिदभियुक्ततराः।।५३६।।

अन्वयः= अथवा अनुवादं उपलभ्य ततः अनुपपद्यमानवपुषः प्रमितेः अपरं निमित्तं इह कल्प्यम्, इति केचित् अभियुक्ततराः प्रवदन्ति।।५३६।।

अन्वयार्थः= अथवा अनुवाद को देखकर उससे जो अर्थ प्रमिति उपद्यमान नहीं है, तदर्थ दूसरे वाक्यार्थ कल्पना यहां कर लेनी चाहिये। ऐसा भी कुछ अतिप्रवीण विद्वान् आचार्य कहते हैं।

अथ वेति। ततोऽनुवादात्। अनुपपद्यमानवपुषः पूर्वसिद्धिं विनाऽनुपपद्यमानस्वरूपात्। पूर्वप्रमितेरपरमनुमानम्। अभियुक्ततरा उक्तानुमानेऽतिप्रवीणाः।।५३६।।

अथ वेति= ततो= अनुवादक के कारण। अनुपपद्यमानवपुषः= पहिले सिद्धि नहीं हुई है, तो भी, अनुपपद्यस्वरूप से अर्थापत्ति से पूर्व प्रमिति का दूसरा अनुमान है। पूर्वपूर्व प्रमिति का दूसरा दूसरा अनुमान है ऐसा, अभियुक्ततरा- अतिप्रवीण लोग उक्तानुमान में अपनी बुद्धिमत्ता बताते हैं। यह भाव है। सापेक्षता श्रुति प्रमाण में आने के कारण केचित् कहा।

इसमें अरूची है।।

दृष्टान्तेऽपि विशेषणं लैङ्गिकविनियोगवन्नित्यानुमेयश्रुतित एव सिद्ध्यति न तु विशिष्ट-विधिसामर्थ्यात्, अन्यतः सिद्धेऽर्थे विधिव्यापारान्तरकल्पनागौरवायोगादित्याह—

दृष्टान्त में भी विशेषण की सिद्धि जैसे लिङ्गादि युक्त विनियोग से होती है, इसी प्रकार नित्यानुमेय श्रुति से विशेषण की सिद्धि हो जाती है, इसके लिये विशिष्ट विधि सामर्थ्य की आवश्यकता नहीं है। नहीं तो सिद्धार्थ में विधि के व्यापारान्तर की कल्पना रूप गौरव करना पडेगा। इस आशय से कहा जा रहा है। (अर्थात् सोमेन यजेत् (सोमवता यागेन) वह विशिष्ट न मानकर पूर्वपक्ष किया है।

अपि विशिष्टविधौ वचनान्तरा-
दनुपपत्तिबलानुमितादिह।।
विधिरशेषविशेषणगोचरो
न तु पुनस्तत एव विधानतः।।५३७।।

अन्वयः= विशिष्टविधौ अपि अनुपत्तिबलात् अनुमितात् वचनान्तरात् अशेषगुणगोचरो विधिः, न तु पुनः ततः विधानतः एव।

अन्वयार्थः= सोमेन यजेत आदि विशिष्ट विधि स्थल की विशिष्ट विधि की अन्यथाअनुपत्ति के कारण अन्य कल्पित वाक्यान्तर से निखिल सोमादि गुणों का विधान होता है, न कि इसी श्रुत वाक्य से पूर्ण गुणों का विधान होता है।।

अपि विशिष्टेति। सर्वत्र विशिष्टविधावप्यनुपपत्तिबलानुमिताद्विशेषणसिद्धिं विना विशिष्टविधानानुपपत्तिकल्पिताद्वचनान्तरादशेषविशेषणगोचरो विधिः सिध्यतीत्यर्थः।।५३७।।

अपि विशिष्टेति= सर्वत्र विशिष्ट विधि में भी, अनुपपत्तिबलात्= अनुमिति से विशेषण सिद्धि के बिना ही विशिष्ट विधि का विधान वह भी अनुपपत्ति कल्पित वचनान्तर से है। (एक वाक्यत्वानुपपत्ति अर्थात् एक वाक्यभेद के भय से) है। अशेष विशेषण गोचर परक विधि सिद्ध होती है।

एवं कार्यलिङ्गसम्भाविताभिन्ननिमित्तचेतनकारणानुवादेन वादिप्रसिद्धकारणविलक्षणे ब्रह्मणि यतो वेत्यादिश्रुतिः पर्यवस्यतीत्युक्तम्। सम्प्रति उक्तमर्थमनुवदन् कार्यलिङ्गकमनुमान-

मेवेश्वरे प्रमाणमिति मतमनूद्य दूषयति–।

इस प्रकार कार्य लिङ्ग से (हेतु से) सम्भावित अभिन्ननिमित्त चेतन कारणानुवाद से वादि प्रसिद्ध कारण (प्रधानादि) इससे विलक्षण ब्रह्म में "यतो वा" इत्यादिश्रुति पर्यवसित होती है, यह कह दिया है। सम्प्रति उक्त अर्थ का अनुवाद करते हुये कार्यलिङ्ग से उक्त अनुमान ईश्वर में प्रमाण है, इस मत का समर्थन करके बाद में उसका खण्डन करते हैं–

जन्मादिलक्षणमिदं जगतो यदुक्तं
सद्ब्रह्मणस्तदिह चिह्नतयोपदिष्टम्।।
नास्मिन् प्रमाणमपरे पुनरेतदेव
ब्रह्मप्रमाणमनुमानमुदीरयन्ति।।५३८।।

अन्वयः= इदं जगतो जन्मादि सद्ब्रह्मणो यत् लक्षणं उक्तम्। तत् इदं चिह्नतया उपदिष्टम्। न अस्मिन् प्रमाणम्। अपरे पुनः एतदेव अनुमानं ब्रह्मप्रमाणं उदीरयन्ति।।

अन्वयार्थः= यह जो (यतो वा) जगत् जन्मादि सत् ब्रह्म का लक्षण कहा है, वही भी इस ब्रह्म का लक्षण मात्र है न कि ब्रह्म में वह प्रमाण है। जैसा कि कणाद, नैय्यायिकादि इसी वाक्य को ब्रह्म में अनुमान प्रमाणपरक मानते हैं।।

जन्मादिलक्षणमिति। जगतो यदिदं जन्मादि तत्कारणत्वरूपं सन्निर्दुष्टं ब्रह्मणो लक्षणमुक्तं तदिह ब्रह्मणि चिह्नतया परसिद्धकारणविलक्षणब्रह्मोपस्थितये उपलक्षणतयोपदिष्टं तदस्मिन् ब्रह्मणि न प्रमाणं ततः सर्वज्ञाद्यसिद्धेरित्युक्तम्। अपरे वैशेषिकादयः पुनरेतदेव वर्णितसम्भावनामात्रहेतुं कार्याख्यं लिङ्गमेव ब्रह्मप्रमाणमनुमानमुदीरयन्ति। क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदितिकार्यलिङ्गकमनुमानं मानमीश्वरे वदन्तीत्यर्थः।।५३८।।

जन्मादिलक्षणमिति= जगत् का जो यह जन्मादि उसका कारणत्वरूप जो निर्दुष्ट ब्रह्म कां लक्षण कहा है वह यहां ब्रह्म में चिह्न रूप से वैशेषिकादिक के मत में सिद्ध कारणत्व ब्रह्मोपस्थिति में वह विलक्षण ही कारण होने के कारण ऐसे ब्रह्म का उपलक्षणता से निर्देश होना ही उचित है। इसलिये ऐसा जो कारणत्व लक्षण- ब्रह्म में प्रमाण नहीं होगा और न तो इस लक्षण से सर्वज्ञत्वादिक की सिद्धि ही होगी।

दूसरे ये ही वैशषिकादि पुनः यही वर्णित सम्भावना मात्र हेतु कार्य उसे हेतु मानकर ब्रह्म में अनुमान प्रमाण मानते हैं। जैसे क्षित्यङ्कुरादिकम् सकर्तृकं कार्यत्वात्, घटवदिति,

कार्य लिङ्गक अनुमान प्रमाण ईश्वर में मानते हैं।

ननूदाहृतश्रुतिप्रमुखवाक्येषु सत्सु तदर्थसम्भावकतया तदुपकरणमनुमानमेव तत्र प्रमाणमिति कथं वदन्तीत्याशङ्क्याह—

आशंका= अभी तक उधृत श्रुति के प्रमुख वाक्यों के होते हुये उसी के श्रुति के अर्थ को सम्भावित करने के लिये उसी अर्थ की उपकरणी भूत अनुमान को ही वहां श्रुत्यर्थ में प्रमाण क्यों माना जाता है? ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं—

कार्यानुमानपरतन्त्रमिदं हि शास्त्रं
शास्त्रस्य नोपकरणं तदितीक्षमाणाः।।
तद् दुर्घटं न खलु कारणमद्वितीयं
चैतन्ययुक्तमिति कार्यवशात् प्रतीमः।।५३६।।

अन्वयः= इदं दि शास्त्रं कार्यानुमानपरतन्त्रम्, तत् शास्त्रस्य उपकरणं न, इतीक्षणाः। तत् दुर्घटम्। अद्वितीयं चैतन्ययुक्तं कारणं कार्यवशात् नहि प्रतीमः।।५३६।।

अन्वयार्थ= यतो इमानि यह शास्त्र कार्यानुमान के अधीन है, वह अनुमान शास्त्र का उपकरण नहीं, ऐसा मानकर नैय्यायिकादि अनुमान करते हैं। वह दुर्घट है क्योंकि इस अद्वितीय तत्त्व को अनुमान से नहीं जाना जाता है।।

कार्यानुमानेति। श्रुतिर्हि कार्यलिङ्गकानुमाननिर्णेयतात्पर्यकतया तत्परतन्त्रेति तेषामभिमानः। शास्त्रस्य नोपकरणमिति। व्याप्तिपक्षधर्मतायुक्तत्वेन धूमादि लिङ्गवद्वह्न्यादौ कार्यत्वमपीश्वरे स्वतन्त्रमेव प्रमाणं न तु तत् प्रमाणश्रुतेरुपकरणमित्यर्थः। दूषयति तद् दुर्घटमिति। कुतस्तत्राह—न खल्विति। श्रुतिः खल्वद्वितीयं सर्वज्ञं जगत्कारणं प्रतिपादयति, न हि तत् कथमपि कार्यलिङ्गवशाद् वयमवगच्छामः, तस्य तत्रासमर्थत्वादिति भावः।।५३६।।

कार्यानुमानेति= श्रुति तो कार्यलिङ्गक अनुमान से निर्णेय तात्पर्य अर्थक होने के कारण वह श्रुति परतन्त्र है, ऐसा वैशेषिक का अभिप्राय है। शास्त्रस्य नोपकरणमिति- व्याप्ति पक्ष धर्मता युक्त होकर अनुमान प्रमाण जैसे धुमादि लिङ्ग से वह्नि विषयक स्वतन्त्र प्रमाण है, इसी प्रकार कार्यत्व लिङ्ग से ईश्वर में अनुमान प्रमाण स्वतन्त्र रूप से है ऐसा उनका अभिमान है लेकिन यह नहीं कि व्याप्ति पक्ष धर्मता युक्त अनुमान प्रमाण श्रुति का उपकरण है। इसका खण्डन करते हैं। तद् दुर्घटमिति= क्यों? तो इस पर कहते हैं। न खल्विति श्रुति तो वास्तविक अद्वितीय सर्वज्ञ को जगत् कारण कहती है अब वह कारणता हम

किसी भी प्रकार से कार्य लिङ्ग से (हेतु से) मानने वाले हैं नहीं। क्योंकि कार्य लिङ्ग (हेतु) अद्वितीय सर्वज्ञ को बता नहीं सकता, यह भाव है।

ननु कार्यलिङ्गतोऽपि लाघवाद् विश्वकर्तर्येकस्मिन् सिद्धे तत्सार्वज्ञ्यप्यधिकरण-सिद्धान्ततया सिद्ध्यति। अद्वितीयत्वं तु स्वोपजीव्यानुमानविरोधाच्छुत्याऽपि न स्पृश्यत इति कथं कार्यवशान्नेश्वरं प्रतीम इत्युक्तं तत्राह--

आशंका= कार्यलिङ्ग से लाघव से विश्व का कर्ता जो एक रूप में सिद्ध हो गया तो उसी में सर्वज्ञत्व भी अधिकरण सिद्धान्त रूप से (प्रकरणसिद्धान्त रूप से) सिद्ध हो जायेगा।

समाधान= अद्वितीयत्व तो स्वोपजीव्य अनुमान का विरोधी होने के कारण श्रुति का भी वहां प्रवेश नहीं है तो फिर कैसे कार्यवशात् ईश्वर की प्रतीति मानें अर्थात् यह ठीक नहीं है। इस बात को कह रहे हैं।

वेदान्तवाक्यमिह येन पथा प्रवृत्तं
लोकप्रसिद्धपदशक्तिमुपाददानम्।।
विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतौ निमित्ते
सच्चित्सुखात्मनि परात्मनि नैवमन्यत्।।५४०।।

अन्वयः= लोकप्रसिद्धपदशक्तिं उपाददानं वेदान्तवाक्यं इह येन पथा विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतौ निमित्ते सच्चित्सुखात्मनि परमात्मनि प्रवृत्तम्, एवं अन्यत् न।।

अन्वयार्थः= लोक प्रसिद्ध पद शक्ति का ग्रहण करके वेदान्त वाक्य यहां जिस मार्ग से ब्रह्म में जगत् की उत्पत्ति लयादि बताकर उपादान तथा निमित्त दोनों कारण सच्चित सुखस्वरूप परब्रह्म में बताता है वैसे अन्य कोई प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो सकता।।५४०।।

वेदान्तवाक्यमिति। न हि कार्यलिङ्गमनुगानं वेदान्तैः शक्तिनिर्णयायापेक्ष्यते, प्रागुक्तन्यायेन लोकत एव तत्सिद्धेः। नापि तात्पर्यनिश्चयाय, तस्याप्युपक्रमोपसंहारादि-परामर्शादेव सिद्धेः। अतः कथमपि तन्न वेदान्तोपजीव्यम्। कार्यलिङ्गतोऽपि जगत्कर्त्रेक-त्वासिद्धेरुक्तत्वान्न तत्सार्वज्ञ्यं सिद्ध्यति, ततस्तदेकत्वसिद्धावपीश्वरस्य नित्यकृतिपक्षे तदनुपयोगाज् ज्ञानमेव न सिध्येत् कुतः सार्वज्ञ्यम्। कृतेर्ज्ञानसमानाश्रयत्वनियमेन तत्सिद्धौ च तद्वन्नित्यदुःखादिकमपि प्रसज्येत ततो नानुमानादीश्वरसिद्ध्याशा कर्तव्या। किं च वेदान्त वाक्यं सृष्ट्यादिकारणानुवादेन लोकप्रसिद्धपदशक्त्यनुसारिलक्षणमार्गेण तत्सच्चित्सुखात्म-

कमद्वयं प्रत्यगभिन्नमिति प्रतिपादयति, न चैवमनुमानं किमपि साधयितुं शक्नोतीति श्रुतिरेव तत्र प्रमाणं नान्यदनुमानम्। तथा च श्रुतिः, नैषा तर्केण मतिरापनेयेत्याशयेनोक्तम्— येन पथेत्यादिना।।५४०।।

वेदान्तवाक्यमिति= कार्य लिङ्गक अनुमान वेदान्तियों ने शक्ति निर्णय के अपेक्षा से नहीं माना है। शक्ति निर्णय तो पहिले कह हुये न्याय से लोक से ही वह सिद्ध है और न तो तात्पर्य निश्चय के लिये ही कार्य लिङ्गकानुमान का स्वीकार वेदान्तियों ने किया है। तात्पर्य निश्चय तो उपक्रम उपसंहारादि परामर्श से ही संभव होने के कारण कार्य लिङ्ग को स्वीकृत नहीं करते हैं। अतः किसी भी प्रकार से कार्य लिङ्ग का अनुमान वेदान्त का उपजीव्य नहीं है।

कार्यलिङ्ग से भी जगत्कर्ता एक सिद्ध नहीं होता है यह पहिले कह चुके हैं। अनेक कर्ता एक विचित्र कार्य के हो सकते हैं। इसलिये इसके आधार पर सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। कदाचित् मान भी लेवो कि कर्ता में एकत्व की सिद्धि हो गई तो भी उस ईश्वर को नित्यकृति करनी पडेगी जबकि वह अनुपयोगि है (नहीं तो एक के सिरपर दूसरी सृष्टि आती जायेगी) अतः उस ईश्वर में ज्ञान ही सिद्ध नहीं हो पा रहा है फिर सर्वज्ञत्व कहां से सिद्ध होगा।

कृति और ज्ञान दोनों का एक ही समान आश्रय का नियम है, जब यह सिद्ध हो जाता है तब तो उस ईश्वर में नित्य दुःखादिक भी आ जायेंगे इसलिये अनुमान से ईश्वर की सिद्धि नहीं करनी चाहिये।

और भी वेदान्त वाक्य सृष्टि के कारण का यदि अनुवाद करता है तो वह लोक प्रसिद्ध पद शक्त्यनुसार लक्षण मार्ग से करता है, वही ब्रह्म सत् चित् सुखात्मक अद्वय प्रत्यगभिन्न है, ऐसा प्रतिपादित करता है। लेकिन इस विषय में अनुमानादि प्रमाण नहीं है। इसलिये इस पर श्रुति भी है "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इत्यादि के आशय से यह कहा गया है। कि येन पथा इत्यादि।।

यत्पुनरुक्तं "कार्यानुमानपरतन्त्रमिदं हि शास्त्रम्" इत्यनेन श्रुतेरनुमानसापेक्ष्यं स्वार्थप्रतिपादनमिति न तद्विरुद्धोपक्रमादिशब्दन्यायावगताद्वयादिस्पृक्शास्त्रमिति तदप्येवं सति निरस्तम्। विपक्षे वेदाप्रामाण्यप्रसङ्गश्चेत्याशयेनाह—

और जो पहिले कहा था कि कार्यानुमान परतन्त्रमिदं हि शास्त्रम् इससे श्रुति को अनुमान प्रमाण की अपेक्षा रखकर ही अपने अर्थ में प्रतिपादन क्षमता है, इसलिये श्रुति

भी अनुमानादिक के विरूद्ध उपक्रम उपसंहारादि शब्द न्यायसे अवगत अद्वयादिपरत्व श्रुति, में है, यह भी निरस्त हो जाता है। और विपक्ष वेदान्त में वेद की अप्रामाण्यता प्रसङ्ग हो जायेगा। इस आशय से कहा जा रहा है–

भङ्क्त्वा कथंचिदनुमानवशेन सिद्धे
सर्वेश्वरे कणभुगादिभिरुच्यमाने।।
वेदान्तवाक्यमपि योज्यमतोऽनुमाने
सापेक्षतोपनिषदां यदि साहसं तत्।।५४१।।

अन्वयः= अनुमानवशेन सिद्धे कणभुगादिभिः उच्यमाने परमेश्वरे वेदान्तवाक्यं भङ्क्त्वा कथञ्चित् योज्यम्। अतः उपनिषदां अनुमाने सापेक्षतेति यदि, यत् साहसम्।।

अन्वयार्थः= अनुमान प्रमाण से अनुमित कणाद कथित परमेश्वर में किसी भी प्रकार से वेदान्त वाक्य को जोड देना चाहिये क्योंकि वेदान्त वाक्यों को अनुमान की सापेक्षतता है यह कहना तो साहस मात्र ही है।।

भङ्क्त्वेति। उपक्रमादिनाऽद्वये निर्णीततात्पर्यमपि वेदान्तवाक्यं कथं चिद्भङ्क्त्वा लोकवत्प्राधान्यमात्रपरत्वकल्पनेन स्वार्थात्प्रच्याव्यानुमानसिद्धे कणभुगादिभिरुच्यमाने सद्वितीये सर्वेश्वरे विषये योज्यम्, अतोऽनुमानसापेक्षतैवोपनिषदामिति यदि तत्साहसम्। तथात्वे वेदान्तानामप्रामाण्यप्रसङ्गादित्यर्थः।।५४१।।

भङ्क्त्वेति= उपक्रमादिक से अद्वय का तात्पर्य निर्णीत होने पर भी वेदान्त वाक्य किसी भी प्रकार से, भङ्क्त्वा= लोकवत् प्राधान्य मात्र पदत्व की कल्पना करके शक्ति का सहारा लेकर, श्रुति अपने अर्थ से हटकर अनुमान से सिद्ध कणाद से बोला हुवा सत् और द्वितीय सर्वेश्वर विषय में इसे श्रुति वाक्य को योजित करना चाहिये, अतः अनुमान सापेक्ष ही उपनिषद् है। यदि कोई ऐसा कहता है तो वह साहस ही है, मूर्खता है, क्योंकि यह ऐसा माना जाता है। तब तो वह वेदान्त की अप्रमाणता सिद्ध होगी।

साहसमित्येतदेव प्रकटयति–

अब वह साहस कैसे है ? इसे प्रगटित करते हैं–

निष्कारणं श्रुतिशिरोवचनस्य भङ्ग-
ये वर्णयन्ति सहसा स्वमनोरथेन।।

दीप्तस्य दावदहनस्य न ते किमर्थं
ज्वालां पिबन्ति कथनीयमिदं बहुज्ञैः।।५४२।।

अन्वयः=ये स्वमनोरथेन श्रुतिशिरोवचनस्य निष्कारणं भङ्गं सहसा वर्णयन्ति, ते दीप्तस्य दावदहनस्य ज्वालां किमर्थं न पिबन्ति। इदं बहुज्ञैः कथनीयम्।।

अन्वयार्थः= जो लोग अपने मनोरथ के पूर्णता के लिये वेदान्त वाक्यों का कारण के बिना ही भङ्ग सहसा कर देते हैं। वे प्रदीप्त जंगल अग्नि की ज्वाला को प्यास बुझाने के लिये क्यों नहीं पीते। यह कणादमतानुयायी बता दें।

निष्कारणमिति। श्रुतिसिद्धाद्वये बाधकाभावेऽपि तत्त्यागो निष्कारण एवेत्यर्थः। यदि श्रुतिसिद्धमर्थमबाधितमपि स्वाभ्युपगतसिद्धान्तानुरोधेन त्यक्त्वा तस्यार्थान्तरं वर्णयन्ति, तेषां तर्ह्यशक्यसाहसं किमपि नेति वह्निज्वालामपि दीप्तां कथं न ते पिबेयुरत्र बहुज्ञैर्वैशेषिकैः कारणं किंचिद्वक्तव्यमिति।।५४२।।

निष्कारणमिति= श्रुति सिद्ध अद्वय में बाधक न होने पर भी उसका त्याग निष्कारण ही होगा। यदि श्रुति सिद्ध अर्थ जो अबाधित भी है तो भी अपने अपने मति के अनुसार स्वीकृत किये गये सिद्धान्तानुसार ऐसे श्रौत अर्थ का परित्याग करके उसे अन्य रूप से वर्णित करते हैं, तो ऐसे लोगों के प्रति अशक्य ऐसा साहस कुछ भी बाकी नहीं रहता। ऐसे लोग तो प्रदीप्त वह्नि ज्वालाओं को भी पी सकते हैं, (इसीलिये कहा है (जीह्व अस्ति इति वक्तव्यं) दस हस्ता हरीतकी जीह्वा है सो बोलना चाहिये, दस हाथ की हिरड है।) तो इस विषय में बहुज्ञवैशेषिक को ऐसा कोई कारण कहना चाहिये जो हास्यास्पद नहीं हो।

ननु श्रुतिरपि जगत्प्रकृतित्वेन सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म कथं प्रतिपादयेत्तस्य तदसम्भवादिति शङ्कते—

आशंका= यदि जगत् प्रकृतित्व रूप से एक ईश्वर में सर्वज्ञत्वादि, अद्वितीयत्वादिसिद्ध नहीं होता है तब तो श्रुति भी जगत् प्रकृति स्वरूप से सच्चित् सुखात्मक ब्रह्म है यह कैसे सिद्ध करेगी? यह तो सब असंभव ही है,। ऐसी आशंका करते हैं—

ननु सच्चिदादिवपुषो जगतः
प्रकृतित्वबोधनमकारणकम्।।
परमात्मनो न हि पदार्थयुजा

रहितेह सम्भवति योग्यतया।।५४३।।

अन्वयः= ननु सच्चिदादिवपुषः परमात्मनः जगतः प्रकृत्तित्वबोधनम् अकारणम्। इदं योग्यतया रहिता पदार्थयुजा न हि सम्भवति।।

अन्वयार्थः= सच्चिदानन्द रूप परमात्मा में जगत् उपादानकारता को बोधित करना अयुक्त है। क्यों? योग्यतासे रहित पदार्थ में ऐसी योजना सम्भव नहीं हो सकती।

नन्विति। अकारणकं प्रमाणरूपकारणशून्यम्। न च शब्द प्रमाणमेव तज्जनकमित्याह- न हीति। उक्तरूपे परमात्मनि योग्यतया रहिता पदार्थयुजा सृष्टिवाक्यस्थपदार्थानां सम्बन्धो न हि सम्भवतीति भावः।।५४३।।

नन्विति= अकारणकम्= प्रमाणरूप कारण शून्य।

आशंका= शब्द ही प्रमाणरूप से परमात्मा में जगत्जनकत्व स्थापित करेगा।

समाधान= न हीति= उक्त रूप से परमात्मा में, योग्यतया रहिता=योग्यता, आकाङ्क्षा, सन्निधि आदि रहित होने के कारण, पदार्थ युजा=सृष्टि वाक्यस्थ पदार्थों का सम्बन्ध नहीं बन पायेगा। जिससे शाब्द बोध भी संभव नहीं हो सकेगा।

तस्य तदयोग्यत्वमेव विवृणोति—

(परमात्मा में) ब्रह्म में उपादानता की अयोग्यता कैसी है इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

उपादानता सच्चिदानन्दमूर्ते-
र्विरुद्धा जड़ेष्वेव सा दृश्यते हि।।
विरुद्धैः पदार्थैर्न वाक्यार्थसिद्धि-
र्न खल्विग्ननोक्षेदितीहान्वयोऽस्ति।।५४४।।

अन्वयः= सच्चिदानन्दमूर्तेः उपादानता विरूद्धा सा हि जडेष्वेव दृश्यते। विरूद्धे पदार्थे वाक्यार्थ सिद्धिः न। अग्निना उक्षेत् इतीह अन्वयो नास्ति।

अन्वयार्थः= सच्चिदानन्द स्वरुप आत्मा में, उपादानता विरुद्ध है। क्योंकि वह सदैव जड़ पदार्थों में ही देखी जाती है। विरुद्ध पदार्थों से वाक्यार्थ बोध नहीं होता। जैसे कि वह्निना उक्षेत् (सिञ्चेत्) यहां पर अन्वय बोध नहीं होता है।।

उपादानतेति। विरोधमेवाह—जड़ेष्वेवति। यज्जड़ं मृदादि तदेवोपादानं दृश्यत इति चेतनस्योपादानत्वं विरुद्धमित्यर्थः। तद्विरोधप्रतिपादनफलमाह- विरुद्धैरिति। तत्र दृष्टान्तो

न खल्विति। उक्षेत् सिञ्चेत्।।५४४।।

उपादानतेति। विरोध को स्पष्ट कर रहे हैं। जडेष्वेति= जो जड होता जैसा मिट्टी आदि वही उपादान कारण होता है, ऐसा ही देखने में आता है। चेतन में उपादान कारणता, यह तो विरूद्ध है। ऐसा यह विरोध होने से उसका जो प्रतिपादन करेगा उसका फल बता रहे हैं विरूद्धैरिति= विरुद्ध पदार्थो से वाक्यार्थ बोध नहीं हुवा करता है। इसमें दृष्टान्त बताते हैं-

न खल्विति "अग्निना सिञ्च" अग्नि से सिञ्चन करो कहने से बगीचे में पानी नहीं दिया जाता। इसी प्रकार से यहां भी हैं। उक्षेत्- सिञ्चना

किं चेतनस्य द्रव्योपादानत्वं विरुद्धमुतोपादनत्वमात्रम्। नोभयमपि। सिद्धान्ते हि विवर्त्ताधिष्ठानत्वमेवोपादानत्वम्। तच्च मृदाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य घटादिकं प्रत्यस्त्येव। एवं पुरुषादौ स्थाण्वाद्यारोपेऽपि चेतनस्य द्रव्योपादानत्वम्। तथा स्वप्न आत्मनो विचित्रप्रपञ्चोपादानत्वं प्रतीत्यनुरोधेन वक्तव्यमित्याशयेनोपसंहरति-

वेदान्ती= क्या है वैशेषिक जी महाराज- चेतन में द्रव्य की उपादानता नहीं है चेतन में द्रव्य की उपादनता विरूद्ध है, या चेतन में उपादानता नहीं है चेतन में उपादानता विरूद्ध है? ये दोनों भी विकल्प ठीक नहीं है। क्योंकि हमारे वेदान्त सिद्धान्त में विवर्ताधिष्ठानत्व को ही उपादानत्व माना गया है। और वह मिट्टी अवच्छिन्न चैतन्य में घटादिकार्य को लेकर है ही उपादानता है। इसी प्रकार से स्थाणु में प्रतीयमान पुरुष को लेकर उसकी उपादानता स्थाणु अवच्छिन्न चैतन्य में है ही। तो द्रव्य के प्रति उपादानता सिद्ध होती है, और स्वप्न के प्रतीयमान पदार्थो की प्रति एवं विचित्र प्रपञ्च रचना के प्रति आत्मा की उपादानता प्रतीति के अनुसार कहनी ही पडेगी। इसी आशय से उपसंहार करते हैं-

उपादानता चेतनस्यापि दृष्टा
यथा स्वप्नसर्गे विचित्रे प्रतीचः।।
यथा चोर्णनाभस्य सूत्रेषु पुंसां
यथा केशलोमादिसृष्टौ च दृष्टा।।५४५।।

अन्वयः= यथा विचित्रे स्वप्नसर्गे प्रतीचः चेतनस्यापि उपादानता दृष्टा, यथा च सूत्रेषु उर्णनाभस्य, यथा च केशलोमादिसृष्टौ पुसां दृष्टा।।

अन्वयार्थः= जैसे विचित्र स्वप्न सृष्टि की उपादनता प्रत्यगात्मा में, जाल की उपादानता मकडी में, और केश लोमादि सृष्टि की उपादानता मुनष्य में देखी गई है। वैसे ही यहां प्रकृत्त में चेतन में है।

उपादानता चेतनस्येति। सिद्धान्ते समुच्चयासम्भवादपिरवधारणे। मृदादेरपि घटादिपरिणाममाश्रित्य तत्समुच्चयार्थो वा। एवं परिणामवादेऽपि नायं नियम इत्यभिप्रेत्य दृष्टान्तान्तरमाह-यथा चेति। ऊर्णनाभो लूताकीटस्तस्योपादानता दृष्टेत्यनुषङ्गः। ननु तत्सूत्रं तल्लालापरिणाम एव, सा च न चेतनेत्याशङ्क्य तत्रान्यं दृष्टान्तमाह-पुंसामिति। जीवनामित्यर्थः। ननु जीवच्छरीरस्यैव केशलोमाद्युपादानत्वं न तु जीवस्येति चेन्न। मृतशरीरे केशादिवृद्ध्यदर्शनेन परस्परं तादात्म्येनाध्यस्तयोप्यविनिगमेन तत्रोपादानत्वात। अत एव श्रुतिः "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्" इतिदृष्टान्तेन ब्रह्मणः प्रपञ्चोपादानत्वमाहेति।।५४५।।

उपादनता चेतनस्येति= सिद्धान्त में जड में तथा चेतन में उपादनता का समुच्चय न होने के कारण "अपि" चेतनस्यापि शब्द का प्रयोग अवधारणार्थ किया। अर्थात् चेतन में ही उपादनता है। अथवा अपि का प्रयोग इसलिये किया कि जिस प्रकार घटादि को लेकर मिट्टी में उपादानता है इसी प्रकार जगत् को लेकर ब्रह्म में उपादानता है इस समुच्चयार्थ अपि शब्द का प्रयोग किया।

परिणामवाद में भी यह नियम नहीं है, इस अभिप्राय से दृष्टान्तर को दे रहे हैं—

यथाचेति=उर्णनाभी= मकडी, अपने बुने हुये जाल के प्रति उपादान कारण है, यह देखा गया है ऐसा अनुषङ्ग करा लेना।

आशंका= मकडी का बुना हुवा जाल तो उसके लार का परिणाम ही है? और वह लार भी जड ही तो है, चेतन तो है नहीं। इसके लिये चेतन दृष्टान्त देते हैं। पुंसामिति= जीवों को।

आशंका= जीवित शरीर में ही केशलोमादिक की उपादानता है न कि जीव की?

समाधान= मरे हुये शरीर में केशलोमादिक की वृद्धि देखने में नहीं आती है, तो शरीर और जीव का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध को या तादात्म्याध्यास को लेकर अविनिगमक से (शरीर को लेकर जीव में उपादानता है या जीव को लेकर शरीर में उपादानता है, इसमें कोई एक पक्ष की बलवान् युक्ति नहीं होने के कारण) (अथवा जीव के बिना शरीर, और शरीर के बिना जीव दोनों का भेदाभेद सहिष्णुता तादात्म्यसम्बन्ध होने से) उपादानत्व शब्द का प्रयोग किया गया। इसीलिये श्रुति भी कहती है "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति" यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा पुरुषात् सम्भवतीह विश्वम् इस दृष्टान्त से ब्रह्म में प्रपञ्चोपादानता सिद्ध होती है।

वैशेषिकादीनामपि यदुपादानं तज्जड़मेवेति न नियमः, बुद्ध्याद्युपादाने चेतने व्यभिचारात्। न च द्रव्योपादानस्यैव तथात्वनियम इति वाच्यम्। गुणोपादानेष्वपि पृथिव्याद्यष्टसु चेतनत्वादर्शनादात्मनो गुणोपादानत्वमपि न स्यात्। न चानुभवाच्चेतनस्यापि गुणोपादानत्वमिति वाच्यम्। घटादावपि सत्तास्फूर्त्यनुभवात्सतश्चेतनस्य तदभ्युपगम्यताम्। न च तत्र सत्तास्फूर्त्योस्तदुपादानादन्यता सम्भवति। न च घटः सन्निति सत्तादात्म्यानुभवो वैशेषिककल्पितसत्ताजातिविषयः, तज्जातौ मानाभावात्। न च सदनुगतधीरेव तन्मानम्। तस्याः सत्संबन्धमात्रविषयतया मृद् घट इतिवद्धर्मिविषयत्वेनाप्युपपन्नत्वेन धर्मासाधकत्वात्। न च घटनिष्ठत्वेन प्रतीतेः सा धर्मः। तस्या बाधायोग्यत्वरूपाया घटेऽवृत्तेः। न हि घटस्याबाध्यत्वे मानमस्ति। तस्मात् कालतयाबाध्यश्चिदात्मैव सर्वत्रोपादनतयाऽनुस्यूतः सद्बुद्धिविषयः। जाड्यबुद्धिस्त्वविद्याकृतेति द्रष्टव्यम्। एवं श्रुतिबलादपि चेतनस्य तव मते बुद्ध्याद्युपादानतावद्वियदाद्युपादानत्वमविरुद्धमित्याशयेनाह—

वैशेषिकों के मत में भी जो उपादान होता है वह जड ही होता है ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि बुद्धि का उपादान तो चेतन आत्मा है उसमें यह नियम व्यभिचरित होता है। यदि कहो कि द्रव्य का जो उपादान हो वह जड होता है ऐसा नियम मानें तो भी ठीक नहीं है, (इति न वाच्यम्) क्योंकि गुण का उपादान जो पृथिव्यादि अष्ट है पञ्चमहाभूत काल दिशा तथा मन ये अष्ट हैं। नौ द्रव्योंमें से केवल आत्माको छोड़ दिया है। उनमें चेतनत्व नहीं है, यदि द्रव्य को उपादान की बात करोगे तो आत्मा में जो गुणोपादानत्व है वह भी नहीं बन पायेगा। यदि कहो कि अनुभव से हम कहेंगे कि चेतन आत्मा में गुणोपादनत्व है, इति वाच्यम्, ऐसा भी आप नहीं कह सकते क्योंकि घटादि कार्यों में सत्ता और स्फूर्ति का अनुभव होता है। तो सत् और चेतन को घट का उपादान क्यों न माना जाय। क्योंकि घटादिस्थल में सत्ता और स्फूर्ति की घट के उपादानता से भिन्नता नहीं है।

आशंका= घटः सन्निति जो प्रतीति है वह सत्ता का तादात्म्य का अनुभव घट के साथ होने के कारण वह सत्ता का अनुभव हम वैशेषिक के कल्पित सत्ता जाति विषयक मानेंगे।

समधान= सत्ता जाति को मानने में कोई प्रमाण नहीं है

आशंका= घटः सन् पटः सत् ऐसी सत की अनुगत बुद्धि इन धर्मियों में होने से प्रमाण मानेंगे।।

समाधान= ऐसी अनुगत बुद्धि तो सत् सम्बन्ध मात्र विषयक है, और यह बुद्धि तो मृद् घट इसमें धर्मि मिट्टी है और धर्म घट है तो धर्मि विषयक भी यह सत् बुद्धि होने से वह सत्तारूप जाति धर्म का साधक नहीं है।

आशंका= सन् घटः यह बुद्धि घटनिष्ठ होने से सत्ता इस प्रतीति का धर्म मानेंगे।

समाधान= सत्ता का तो बाध नहीं होता है, तो जिस सत्ता का बाध नहीं होता है वह घट में कैसे रहेगी क्योंकि घट का तो बाध हो जाता है। (सत्ता उसे कहते हैं जो द्रव्य गुण कर्म तीनों में रहने वाली एक विशेष पराजाति उसे सत्ता कहते हैं)। सामान्य द्विविधं प्रोक्त परं चापरमेवच= (न्या०सि० मुक्तावली)

आशंका= घट भी अबाधित है।

समाधान= इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये तीनों काल में जिसका बाध न हो सकें ऐसा केवल आत्मा ही है वही सर्वत्र उपादान रूप से अनुस्यूत है और सद् बुद्धि का विषय है। जाड्य बुद्धि तो अविद्याकृत है। यह देख लेना। इस प्रकार श्रुति बल से भी चेतन को तुम्हारे वैशेषिक मतानुसार भी बुद्ध्यादिक की उपादानता है इसी प्रकार आकाशादिक उपादानता मेरे मत से अविरुद्ध ही है। इस आशय से कहा है—

बुध्द्यादिकार्येष्वपि चेतनोऽयं
भवेदुपादानमितीष्यते च।।
आत्मा गुणी ते च गुणाः प्रसिद्धा
गुणी गुणानां प्रकृतिश्च सिद्धा।।५४६।।

अन्वयः= बुद्ध्यादिकार्येष्वपि अयं चेतनः उपादानं भवेत् इतीष्यते च आत्मा गुणी, ते च गुणाः प्रसिद्धाः गुणानां गुणी प्रकृतिः सिद्धा।

अन्वयार्थः= बुद्ध्यादि कार्यों का उपादान कारण आत्मा को कणाद मानता है क्योंकि आत्मा गुणी और बुद्ध्यादि गुण है। और गुणों का उपादान कारण गुणी होता है।।

बुद्ध्यादिकार्येष्वपीति। आदिशब्देनेच्छादिर्गृह्यते। इष्यते परैरिति शेषः। तेषामङ्गीकार-मेवोपपत्तिपूर्वकमाह— आत्मेति। ते बुद्ध्यादयः। ततः किं तत्राह— गुणीति। अनित्यगुणाश्रय इत्यर्थः। अन्यथा गुणगुणिभावो बुद्ध्यादेरात्मनश्च न स्यादिति भावः।।५४६।।

बुध्द्यादिकार्येष्वपीति= आदि शब्द से इच्छादिक का भी ग्रहण कर लेना। इष्यते= वैशेषिक इसका ग्रहण करते हैं। बुद्धि, आदि। इससे क्या होगा तो कहते हैं। गुणीति। अनित्य गुणों का आश्रय आत्मा है। नहीं तो गुणगुणिभाव बुद्धि और आत्मा का नहीं हो सकेगा। और वह है अतः आत्मा में बुद्ध्यादिक की उपादानता है इसी प्रकार मेरे मत में वियदादिक की उपादनता ब्रह्म में है, यह भाव है।

एवमात्मनोऽपि द्रव्योपादानत्वं दृष्टान्तत उपपाद्य तत्र यदुक्तं पूर्ववादिना चेतनो द्रव्योपादानमिति वाक्यं योग्यताविरहान्न बाधकमिति तदेवं सति न युक्तमित्याह–

इसप्रकार से आत्मा को भी द्रव्योपादानत्व दृष्टान्त सहित प्रतिपादित करने के बाद, इस प्रसङ्ग में पूर्ववादी ने शंका की थी ''चेतन में द्रव्योपादानत्व'' इस वाक्य में योग्यता नहीं होने के कारण बाधक नहीं है। यही उपरोक्त रूप से कहने के बाद यह ''उपादानता बाधक'' कहना बिल्कुल ठीक नहीं है। अर्थात् चेतन में उपादन कारणता की योग्यता है यह सिद्ध है–

आकाङ्क्षादिर्विद्यते योग्यतान्ता
यस्मादस्मिन्नागमाज्जायमाने।।
सामग्री या वैदिकैरस्य दृष्टा
तस्माद् युक्ता योनिता चेतनस्य।।५४७।।

अन्वयः= यस्मात् आगमे वैदिकैः या सामग्री दृष्टा सा आकाङ्क्षादिः योग्यतान्ता अस्मिन् जायमाने विद्यते, तस्मात् चेतनस्य योनिता (अस्ति)।

अन्वार्थः= वेद में वैदिकों ने जो सामग्री देखी है वह आकाङ्क्षादि योग्यतान्त इस जायमान जगत् में विद्यमान है। अतः चेतन में उपादानता निश्चित है।

आकाङ्क्षादिरिति। योग्यता अन्ते यस्या आकाङ्क्षादित्रय्याः। आकाङ्क्षा आदिर्यस्याः योग्यतान्तायाः सा तथा। अस्मिन्निति बुद्धिस्थं ब्रह्म प्रपञ्चोपादानमिति ज्ञानं परामृशति। अन्यत्रागमाद्वाक्याज्ज़ायमाने ज्ञाने वैदिकैर्मीमांसकैर्लौकिकैश्च या सामग्री दृष्टा आकाङ्क्षादि-योग्यतान्ता सा अस्मिन् जनयितव्ये यतो वा इत्यादिपदानामपि यस्माद्विद्यते तस्माद्युक्ताऽस्य चेतनस्य योनितेति सम्बन्धः। उक्तरीत्या चेतनस्य द्रव्योपादानत्वे बाधकाभावात्तत्प्रतिपादक वाक्यस्य सहकारिभूता आकाङ्क्षासन्निधानयोग्यताः सन्तीति ब्रह्मणस्तत् सिध्यतीति भावः।।५४७।।

आकाङ्क्षादिरिति= आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि आदि आकाङ्क्षादि त्रय लेना है। अस्मिन्निति= बुद्धिस्थ ब्रह्म प्रपञ्च का उपादान है इस ज्ञान का परामर्श करते हैं। क्योंकि अन्यत्र आगम के वाक्य के द्वारा ज्ञान के उत्पन्न होने से। वैदिकैः= मीमांसकों ने, लौकिकादिभि= लोगों के द्वारा जो, सामग्री दृष्टा–आकाङ्क्षादियोग्यतान्ता तक जो सामग्री इस "यतो वा इमानि"

इन पदों के लिये जब विद्यमान है तो स्पष्ट है कि चेतन को योनिता–उपादानता है यह सम्बन्ध है। इस प्रकार चेतन को द्रव्योपादानता में कोई बाधक नहीं है, इसलिये उपादानता के प्रतिपादक वाक्य की सहकारिभूत आकाङ्क्षा, सन्निधि, योग्यतादि है, इस प्रकार ब्रह्म में उपादानता है, यह बात सिद्ध हो गयी है।

एवं सृष्टिवाक्यैर्ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वं यदुक्तं तत्तस्य चिह्नमेव न तस्मिन् प्रमाणम्। प्रमाणं तु तत्र स्वतः प्रमाणवेदान्तवाक्यमेव। कार्यलिङ्गमपि तदर्थोपपादकतया तत्साहाय्यमाचरंस्तत्र तर्कभावं प्राप्नोतीति स्वाभिमतमुपसंहरति–

इसप्रकार ब्रह्म में सृष्टि वाक्यों के द्वारा अभिन्न निमित्तोपादानत्व जो पहिले कहा है, उसका कोई चिह्न या हेतु ही इसमें प्रमाण नहीं है किन्तु स्वतः प्रमाण वेदान्त वाक्य ही इसमें प्रमाण है। कार्यलिङ्ग भी इसी अर्थ को प्रतिपादित करता है इसलिये वह वेदान्त वाक्य का सहाय्यक है, अतः तर्कभाव की प्राप्ति होती है इति। अब अपना अभिप्राय कह रहे हैं–

तस्मादेतल्लक्षणं चिह्नमाहु-
नैतत्तस्मिन् ब्रह्मणि स्यात् प्रमाणम्।।
आम्नायस्य स्वप्रधानत्वहेतो-
लिङ्गस्यास्मिन् शेषभावाच्च नित्यम्।।५४८।।

अन्वयः= तस्मात् एतत् लक्षणं चिह्नं आहुः, एतत् ब्रह्मणि प्रमाणं न स्यात्। आम्नायस्य स्वप्रधात्वहेतोः अस्मिन् लिङ्गस्य नित्यशेषभावात् च।।

अन्वयार्थः= "यतो वा इमानि" यह ब्रह्म का लक्षण अर्थात् चिह्न मात्र है, यह ब्रह्म में अनुमान प्रमाण नहीं, क्योंकि ये स्वतः प्रमाण है। लिङ्गादि (हेतु आदि अनुमानादि) इसके अङ्ग माने जाते हैं और यह ब्रह्म अङ्गी है।

तस्मादेतदिति। स्पष्टम्।।५४८।।

तस्मादेतदिति= अर्थ स्पष्ट ही है।

एवं सृष्टिवाक्यस्य ब्रह्मणि तत्त्वमसिवाक्यस्थतत्पदार्थे निरूपिते परमप्रकृतं समन्वयमुपसंहरति–

इस प्रकार सृष्टि वाक्य को ब्रह्म में तत्त्वमसि वाक्य के तत् पदार्थ को समान निरूपण करने के बाद उत्कृष्ट प्रकृत समन्वय का उपसंहार कर रहे हैं–

इत्थं जगत्कारणवादिवाक्यं
समन्वितं ब्रह्मणि तत्पदार्थे।।
तल्लक्षणं तस्य तटस्थभूत-
मानन्त्यसिध्द्यै कथयद् यथोक्तम्।।५४६।।

अन्वयः= इत्थं जगत्कारणवादिवाक्यं तस्य आनन्त्यसिद्ध्यै तटस्थभूतं तल्लक्षणं कथयत् तत्पदार्थे ब्रह्मणि समन्वितम्।।५४६।।

अन्वयार्थः= यतो वा इमानि जो जगत् कारण प्रतिपादक वाक्य है। वह ब्रह्म का आनन्त्यसिद्ध करने के लिये उक्त परिच्छिन्नादिक की व्यावृत्ति करता हुवा ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है तथा यह तत् पद के लक्ष्यभूत ब्रह्म में समन्वित होता है।।५४६।।

इत्थमिति। जगत्कारणवादिवाक्यं तस्य ब्रह्मणः सजातीयादिपरिच्छेदराहित्यरूपानन्त्यसिद्ध्यै तटस्थभूतं कल्पिततया तत्स्वरूपात् पृथग्भूतं यथोक्तमभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूपं तल्लक्षणं कथयत् तत्पदार्थे ब्रह्मणीत्थं समन्वितमिति सम्बन्धः।।५४६।।

इत्थमिति= जगत्कारणादि वाक्य तटस्थ लक्षण के द्वारा जो उस ब्रह्म को सजातीय, विजातीय, स्वगतादिभेद रहित तथा उस ब्रह्म को स्वरूप से अनन्त रूप में सिद्ध करता है, इसीप्रकार कल्पित रूप से ब्रह्म स्वरूप से पृथग् भूत अभिन्न निमित्तोपादानत्व भी, यही तटस्थ लक्षण ब्रह्म को निरूपित करता है, इस प्रकार ये ब्रह्म में समन्वय है यह सम्बन्ध ा है।।

ननु ब्रह्मैकमेवोपादानं निमित्तं च चेत् कथमस्य प्रपञ्चस्य क्रमेण सृष्टिवैचित्र्यं वा, वैषम्यं नैर्घृण्यं वा भगवतः कथं न प्रसज्येतेत्याशङ्क्योपादानकर्त्रोरेव श्रुतिबलादेकत्वमवगच्छामो, न तु सृज्यमानप्राणिनां विचित्रं कर्म तद्वासनास्तेषां भोगवासना वा नेति वदाम इति तदभिव्यक्तिक्रमवैचित्र्याभ्यामेव क्रमवद्विचित्रसृष्टिरुपपन्ना। अत एवेश्वरस्य न वैषम्यादिकमपि। तथा च श्रुतिः "तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् कपूयचरणाः कपूयां योनिम्" इत्याद्या विचित्रां संसारगतिमनुवदतीत्याशयेनाह—

आशंका= एक ही ब्रह्म उपादान भी है और निमित्त भी है, तो फिर क्रम से प्रपञ्च में सृष्टि की विचित्रता, वैषम्य, नैर्घुण्य आदि ये सारे दोष भगवान् को क्यों नहीं लगेंगे? जरूर ये दोष लगेंगे।

समाधान= उपादानता तथा कर्तृत्व ये दोनों ही बातें श्रुति के बल से हम स्वीकृत

करते है न कि उत्पन्न होने वाले प्राणियों का विचित्र कर्म, उनकी वासनायें, उनकी भोग वासनायें इनको हम नहीं कहने जा रहे हैं। इसलिये उनके अभिव्यक्ति का क्रम वैचित्र्य उसी को आधार बनाकर क्रमयुक्त विचित्र सुष्टि रचना उत्पन्न होती है। इसीप्रकार से ईश्वर में वैषभ्यादिदोष की प्रसक्ति भी नहीं है। इस पर श्रुति भी प्रमाण है "तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्देरन् कपूयचरणाः कपूयां योनिम् इत्यादि, विचित्र संसारगति का अनुवाद ऐसी ऐसी श्रुतियां करती है। इस आशय से कहा जा रहा है–

स्वात्मानमेव जगतः प्रकृतिं यदेकं-
सर्गे विवर्तयति तत्र निमित्तभूतम्।।
कर्माकलय्य रमणीयकपूयमिश्रं
पश्यन् नृणां परिवृढं तदितीर्यमाणम्।।५५०।।

अन्वयः= यदेकं सर्गे तत्र निमित्तभूतं नृणां रमणीयकपूयमिश्रं कर्म पश्यन् आकलय्य स्वात्मानमेव जगतः प्रकृतिः (कृत्वा) विवर्तयति। तत् परिवृढम्, इतीर्यमाणम्।।५५०।।

अन्वयार्थः= जो ब्रह्म तत्त्व सुष्टि के प्रारम्भ में सृष्टि का निमित्त ऐसा जो प्रणियों का शुभ अशुम तथा मिश्रित कर्म इनका संग्रह करके जो अपने आप को जगत् का उपादान कारण बनकर विश्व विवर्त की (निमित्तकारण रूप से) रचना करता है। वही ब्रह्म सर्व शक्ति युक्त है। ऐसा प्रतिपादन करता हुवा यह वाक्य (यतो वा इमानि) ब्रह्म में समन्वित होता है।।५५०।।

स्वात्मानमिति। यत्तदितीर्यमाणं तत्त्वमसिवाक्ये तत्पदोपात्तं परिवृढं ब्रह्म तत् नृणां रमणीयं पुण्यं कपूयं पापं मिश्रं मिलितं तदुभयं कर्म पश्यज्जानत् सर्गे कर्त्तव्ये तत्र निमित्तभूतमाकलय्येदं विचित्र सर्गनिमित्तमिति निश्चित्य एकमपि जगतः प्रकृतिं स्वात्मानमेव विवर्त्तयति अवस्तुतोऽन्यथाभावमापादयतीति संवन्धः। एवं सृज्यमानप्राणिकर्मवशान्नोक्तदोष-तुषोऽपीति भावः। एवं सृष्टिवाक्यानां तटस्थब्रह्मलक्षणानुवादद्वारा तत्पदलक्ष्ये ब्रह्मणि समन्वयो निरूपितः। ततः स्वरूपलक्षणमपि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिवाक्यसिद्धं यत इति यच्छब्दप्रकृत्यंशेन चेतनानुवादेनाखण्डज्ञप्तिमात्रमित्यर्थाद् दर्शितमिति द्वितीयसूत्रेण लक्षणद्वयमपि सिद्धम्।।५५०।।

स्वात्मानमिति= यत्तदितीर्यमाणम्= तत्त्वमसि महावाक्य में तत्पद से जिसका ग्रहण किया गया है, ऐसा ब्रह्म वही मनुष्य के जीव के रमणीय पुण्य को देखकर या दुष्ट पाप को देखकर अथवा दोनों के सम्मिश्रण के मिलित रूप को देखकर इसे जानकर, सर्गे-कर्त्तव्य रूप से यह सर्ग कर्तव्य रूप से- बनाना है- भोगप्रदान करने के लिये, तो वहां

इसका कर्म भोग का स्थान सृष्टि उसका कारण विचित्र जीवों के कर्म ही है। ऐसा निश्चय करके वह एक ही ब्रह्म जगत् का उपादान कारण तथा वही ब्रह्म निमित्तकारण बनकर अपने को वही ब्रह्म जगत् रूप में विवर्तित करता है। ब्रह्म अपने को अवास्तविक अन्यथा भाव रूप में परिणत कर देता है। यह सम्बन्ध है।

इस प्रकार सृज्यमान प्राणियों के कर्मवश होकर उक्तदोष का थोडा सा कण भी भगवान् पर नहीं आता है, यह भाव है।

इस प्रकार सृष्टिवाक्यों का ब्रह्म के तटस्य लक्षण के अनुवाद द्वारा तत् पद का लक्ष्य ब्रह्म उसमें समन्वय निरूपित किया। इसके बाद स्वरूप लक्षण भी "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्यसिद्ध जो "यत्" यतो वा इमानि इसका प्रकृत्यंश यत् है वह चेतन का ब्रह्म का अनुवाद है। जो अखंडज्ञप्तिमात्रस्वरूप है। उसका भी निरूपण अपने आप ही हो गया है। इस प्रकार से "जन्माद्यस्य यतः इस द्वितीय सूत्र से तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण दोनों लक्षण सिद्ध हो जाते हैं।

ननु समन्वयसूत्रेणैव वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयो विचारित इति किमनेन सूत्रेणापि तन्निरूपणेनेत्याशङ्क्य तेन तत्त्वमस्यादिसमस्तवाक्यानां महातात्पर्यं निरूप्यम्। द्वितीयसूत्रे तु तत्पदवृत्तिर्निरूपितेति नैतद्व्यर्थं, न हि तत्पदतात्पर्यनिश्चयं विना वाक्यार्थपरिच्छेदः संभवतीत्याशयेनाह-

आशंका= "ततुसमन्वयात्" इस चौथे समन्वय सूत्र से ही वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय विचारणीय है, क्या इस दूसरे सूत्र से जन्माद्यस्य यतः से भी समन्वय कराने की उपयोगिता है?

समाधान= इससे तत्त्वमस्यादि समस्त वाक्यों का महातात्पर्य ही निरूपित हो जायेगा यही इसमें उपयोगिता है। क्योंकि द्वितीय सूत्र में तत्पदवृत्ति का निरूपण किया है अतः द्वितीय सूत्र इस विषय में समन्वय निरूपण में व्यर्थ नहीं है। और जब तक तत्पद का तात्पर्य निश्चय नहीं होता है तब तक वाक्यार्थ का परिच्छेद भी संभव नहीं हो सकता। इस आशय से कहा है-

पदवृत्तिसमन्वयावुभौ
प्रतिपाद्यौ प्रथमे हि लक्षणे।।

तदवान्तरवाक्यवर्त्मना

पदवृत्तिः प्रथमं प्रकीर्तिता।।५५१।।

अन्वयः= प्रथमेहि लक्षणे उभौ पदवृत्तिसमन्वयौ प्रतिपाद्यौ तत् अवान्तरवाक्यवर्त्मना पदवृत्तिः, प्रथमं प्रकीर्तिता।।

अन्वयार्थः= प्रथम अध्याय में दोनों पद वृत्तियों के समन्वय प्रतिपादनीय है। इसलिये अवान्तर वाक्य के द्वारा पद वृत्ति का पहले निरूपण "जन्माद्यस्य यतः" से किया है।

पदवृत्तीति। लक्षणे अध्याये। यस्मादेवं तस्मादवान्तरवाक्यवर्त्मना तत्त्वमसिवाक्यं, तत्पदार्थनिष्ठं वाक्यं तदर्थकथनमार्गेण प्रथमं समन्वयविचारात्पूर्वम्।।५५१।।

पदवृत्तीति= लक्षणे- प्रथम अध्याय में। जब की ऐसा नियम है इसी कारण से अवान्तर वाक्य मार्ग का अङ्गीकार करके तत्त्वमसि वाक्य जो तत्पदार्थ निष्ठ वाक्य है, उसका अर्थ- तत्पद का अर्थ उसके कथन मार्ग से प्रथम (पहिले) समन्वय विचार के पहिले करना पडेगा। अर्थात् चतुर्थ सूत्र समन्वय निरूपण परक होने पर भी अवान्तर वाक्य से जन्माद्यस्य यतः से तत्पद का निरूपण पहिले करना पडेगा, यह भाव है।

नन्वेवं त्वंपदस्यापि वृत्तिर्निरूपणीया स्यादन्यथा वाक्यार्थापरिच्छेदादित्याशङ्क्य प्रथमसूत्रे सा निरूपितैवेति द्वितीयसूत्रे तत्पदवृत्तिरेव निरूप्यत इत्याशयेनाह—

आशंका= त्वं पद की भी वृत्ति निरूपित करनी चाहिये, अन्यथा वाक्यार्थ का परिच्छेद नहीं होगा।

समाधान= पहले सूत्र में ही त्वं पद के वृत्ति का निरूपण किया है। और इसीलिये द्वितीय सूत्र में तत् पद के वृत्ति का निरूपण करते हैं। इस आशय से कहा जा रहा है—

आद्ये सूत्रे त्वंपदस्योदितत्वाद्

वृत्तेरस्मिंस्तत्पदस्योच्यमाना।।

वृत्तिर्ज्ञेया तत्पदार्थेऽद्वितीये

प्रत्यङ्मात्रे त्वंपदस्योदितैव।।५५२।।

अन्वयः= आद्ये सूत्रे त्वम्पदस्य वृत्तेः उदितत्वात् तत्पदस्य अस्मिन् वृत्तिः उच्यमाना ज्ञेया। त्वंपदस्य प्रत्यङ्मात्रे उदितैव।।

अन्वयार्थः= प्रथम सूत्र में त्वं पद की वृत्ति कही है, और तत् पद की वृत्ति अद्वैत तत्पदार्थ में (जन्याद्यस्ययतः से समझना चाहिये) त्वं पद की तो प्रत्यगात्मा में ही वृत्ति कही है।।

आद्ये सूत्रे इति। "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इतिसूत्र इत्यर्थः। अस्मिन् द्वितीयसूत्र इत्यर्थः। ननु द्वितीयसूत्रे तत्पदस्य कस्मिन्नर्थे तात्पर्यं निरूप्यते प्रथमसूत्रे– वा कीदृशि त्वंपदस्येत्यपेक्षायामाह– तत्पदार्थ इति। अद्वितीये इति छेदः। अद्वितीये नित्यशुद्धादिस्वरूपे ब्रह्मणि तत्पदार्थे। द्वितीयेन तत्पदस्य वृत्तिर्निरूप्यते प्रथमेन तु प्रमात्रादिविलक्षणापरोक्ष-साक्षिचैतन्यमात्रे त्वंपदस्य सा निरूपितेत्यर्थः।।५५२।।

आद्ये सूत्रे इति= "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" इस सूत्र में। अस्मिन्- जन्माद्यस्य यतः इस द्वितीय सूत्र में।

आशंका= द्वितीय सूत्र में तत्पद का किस अर्थ में तात्पर्य है तथा प्रथम सूत्र में त्वं पद का किस अर्थ में तात्पर्य है? ऐसी अपेक्षा है?

समाधान= तत्पपदार्थ इति= अद्वितीय अर्थ में तात्पर्य है। अद्वितीये- नित्यशुद्धादि स्वरूपपरक ब्रह्म में तत्पदार्थ परक तात्पर्य है। द्वितीय सूत्र से तत्पद के वृत्ति का निरूपण किया जाता है। और पहले सूत्र से प्रमातादि से विलक्षण अपरोक्ष साक्षि चैतन्य मात्र में त्वं पद की वृत्ति निरूपित की जाती है। यह भाव है।

ननु प्रथमसूत्रमधिकारिणी ब्रह्मज्ञानाय श्रवणकर्तव्यतां प्रतिपादयति न तु कस्मिंश्चिदर्थे त्वंपदवृत्तिमिति चेत्, न। तत्त्वमसिवाक्ये ह्यधिकारिणि प्रयुज्यमानं त्वंपदं तस्य ब्रह्माभेदयोग्यं रूपं दर्शयति। प्रथमसूत्रं च मुक्त्यधिकारिविषयमिति तेन तन्निरूपितमेव। ननु वैराग्यशमद-मादिविशिष्टस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मविचाराधिकारः तस्य कथं ब्रह्माभेदयोग्यतेति चेत्, सत्यम्। शान्त्यादिमत एवाधिकारः। स च तत्त्वमसिवाक्यसामर्थ्यान्नित्यमुक्तं ब्रह्मैवेति स्वतो नाधिकारी किन्त्वीदृशेऽपि तस्मिन् दृग्रूपस्यात्मनोऽदृग्रूपस्याविद्यकाहङ्कारादेश्चेतरेतरात्मता-ध्यासात्संसारवत्तद्धर्मविवेकवैराग्यशमदमादिमत्तेष्यते तेन चिदेकरसस्याप्यधिकारिता भवतीति महावाक्ये त्वंपदसामर्थ्यात्सिद्ध्यति। ततश्चाधिकारिनिरूपके प्रथमसूत्रे त्वंपदस्य चिन्मात्रे वृत्तिर्निरूपितेत्याशयेनाह–

आशंका= प्रथम सूत्र में तो ब्रह्म ज्ञान के अधिकारी को श्रवणादि में कर्तव्यता प्रतिपादित की है। न कि किसी भी अर्थ में त्वंपद के वृत्ति का निरूपण किया है?

समाधान= यह कहना अनुचित है। तत्त्वमसि वाक्य में अधिकारी पुरुष के लिये

प्रवृत्त त्वं पद यह ब्रह्म से अभेद योग्यता को प्रतिपादित करता है। और प्रथम सूत्र तो मुक्ति के अधिकारि के विषयपरक होने से इसमें त्वं पद का निरूपण होना तो निश्चित ही है।

आशंका= वैराग्यशमदमादि विशिष्ट मुमुक्षु का ब्रह्म विचार में अधिकार है, तो उसकी बेचारे की ब्रह्म के साथ अभेद योग्यता कहां से आयेगी।

समाधान= बिलकुल सत्य है। वैराग्य, शान्तिदान्तवाला ही अधिकारी होता है। यद्यपि वह तत्त्वमसि वाक्य सामर्थ्य से नित्यमुक्त ही ब्रह्मस्वरूप ही वह होने से स्वतः वह अधिकारी तो नहीं बन सकता। तथापि उसमें (अधिकारी में या मुमुक्षु में) प्रकाश स्वरूप आत्मा को अप्रकाश स्वरूप अविद्या अहङ्कारादि इनका आपस के इतरेतरात्मभाव रूप अध्यास होने के कारण संसार में फंसा हुवा समान लगता है, उससे छूटने के लिये वैराग्य शमदमादिमत्ता की आवश्यकता है। इस कारण से चिदेकरस रूप की भी अधिकारिता हो जाती है। अतः महावाक्य में यह बात सिद्ध हो जाती है। इसी कारण अधिकारी निरूपक प्रथम सूत्र में त्वं पद की चिन्मात्र में वृत्ति निरूपित की गई है। यह बात सिद्ध हो गई—

अनधिकारिणि शुद्धचिदात्मके
दृगदृशोरितरेतरविभ्रमात्।।
शमदमादिसमन्विततेष्यते
भवति तेन चितोऽप्यधिकारिता।।५५३।।

अन्वयः—अनधिकारिणि शुद्धचिदात्मके दृगदृशोः इतरेतरविभ्रमात् शमदमादिसमन्वितता इष्यतें, तेन चितोऽपि अधिकारिता भवति।।५५३।।

अन्वयार्थः= स्वतः अनधिकारी शुद्धआत्मा में चित् और जड का अन्योन्याध्यास हो जाने के कारण शमदमादि का समन्वय माना जाता है अतः शुद्ध चिदात्मा ही अधिकारी बन जाता है

अनधिकारिणीति।।५५३।।

अनाधिकरिणीति= स्पष्ट अर्थ है।

नन्वधिकारिण एव मुक्त्यन्वयित्वात्तस्य केवलस्यैवात्मनः शमादिः श्रवणाद्यधिकारश्चेति दृगदृशोरित्याद्यनुपपन्नमिति चेत्तत्राह—

आशंका= अधिकारी का ही मुक्ति में अन्वय है, उसके बल पर (शुद्ध) आत्मा का शमदमादि तथा श्रवणादि कर्म में अधिकार है, तो फिर द्रष्टा और दृश्य (चेतन और जड) इन दोनों का इतरेतराध्यास अनुपपन्न होगा। इस पर समाधान देते हैं-

अनधिकारितया दृगवस्थिता
स्वरसतः परमेश्वरविग्रहः।।
घनतमःपटलावरणान्वया-
दुपगता श्रवणाद्यधिकारिताम्।।५५४।।

अन्वयः= स्वरसतः परमेश्वरविग्रहः दृक् अनधिकारितया अवस्थिता घनतमः पटलावरणान्वयात् श्रवणाद्यधिकारितां उपगता।

अन्वयार्थः= स्वभाविक। परमेश्वर स्वरूप प्रत्यगात्मा अनधिकारी ही है। धनीभूत अन्धःकार परदे के समान आवरकअज्ञान के कारण श्रवणादि में यह आत्मा अधिकारी बनता है।

अनधिकारितयेति। पूर्वोक्तन्यायेन परमेश्वरस्वरूपत्वादधिकारिस्वरूपभूता दृक् स्वतोऽनधिकारितया स्थितेति प्रागुक्ताध्यासादेव तदधिकार इति भावः। ननु स्वप्रकाशदृश्यध्यास एव कथमित्याशङ्क्य तस्या अप्यज्ञानावरणस्योपपादितत्वात् स उपपन्न इत्याशयेनाह- घनतम इति।।५५४।।

अनधिकारितयेति= इतरेतराध्यास न्याय से परमेश्वर स्वरूप से अतिरिक्त अधिकारी स्वरूप भूत चेतन स्वतः ही अनधिकारी रूप से स्थित है, इसलिये पहिले कहे अध्यास के अनुसार ही चेतन का अधिकार है यह भाव है।

आशंका= स्वप्रकाश दृशि स्वरूप में अध्यास ही कैसे संभव होगा?

समाधान= स्वप्रकाश दृशि स्वरूप आत्मा में अज्ञान, तथा आवरण का उपपादन पहिले ही कर चुके हैं। और वह बिलकुल ठीक ही है। इस आशय से कहा है घनतम इति। बादलों से ढका हुवा सूर्य आदि।।

नन्वेवमहङ्कारादिविशिष्टस्य श्रवणाद्यधिकारे तस्यैव मोक्षोऽपि वाच्य इति न केवलात्मनि त्वंपदवृत्तिरित्याशङ्क्य यथा देहादिद्वारा स्वर्गसाधने कर्मण्यात्मनोऽधिकारो न तु तेन विनैवमहङ्कारादिद्वारा मुक्तस्यैवात्मनोऽमुक्तताभ्रान्त्या मुक्तिसाधनेऽधिकारो न तु तेन विना न वा तस्य मुक्त्यन्वय इत्याशयेनाह-

आशंका= अहंकारादिं विशिष्ट का श्रवण में अधिकार है तो मोक्ष भी उसी का होना चाहिये? इसलिये त्वं पद की वृत्ति केवल आत्मा में नहीं मानी जाय।

समाधान= जिस प्रकार देहादि के द्वारा ही स्वर्ग का साधनी भूत कर्म में आत्मा का अधिकार होता है, न कि उसके बिना, इसी प्रकार अहङ्कारादि द्वारा ही मुक्तात्मा का अमुक्ति के भ्रान्ति से (मै मुक्त नहीं हूँ इस भ्रान्ति से) मुक्ति का साधन श्रवणादि में अधिकार है, न कि अहंकारादि बिना अधिकार सम्भव है। और न केवल आत्मा का ही मुक्ति में अन्वय सम्भव। इस आशय से कहा जा रहा है–

अज्ञानतज्जघटना चिदधिक्रियायां
द्वारं परं भवति नाधिकृतत्वमस्याः।।
नाचेतनस्य घटतेऽधिकृतिः कदाचित्
कर्तृत्वशक्तिविरहादिति वक्ष्यते हि।।५५५।।

अन्वयः= चिदधिक्रियायां अज्ञानतज्जघटना परं द्वारं भवति, अस्याः अधिकृतत्वं न। अचेतनस्य कदाचित् अधिकृतिः न घटते। कर्तृत्वशक्तिविरहात् इति हि वक्ष्यते।।

अन्वयार्थः= चिन्मात्र को अधिकारी बनाने में अज्ञान तथा अज्ञान प्रयुक्त अध्यासिक सम्बन्ध केवल द्वार मात्र है उक्त अज्ञानादि से अधिकारी नहीं माना जा सकता। जड कभी भी अधिकारी नहीं बनता। उसमें कर्तृत्व शक्ति का अभाव है। रचनानुपपत्तेश्च२/२/१

अज्ञानतज्जेति। अज्ञानतज्जाभ्यां घटना सम्बन्धः, चितोऽधिक्रिया तस्यां द्वारं घटकमुपाधिरिति यावत्। अस्या घटनाया अधिकाराभावे हेतुमाह-नाचेतनस्येति। अचेतनत्वात्तस्या अधिकृतिर्न युज्यत इत्यर्थः। अचेतनस्यापि सा किं न स्यादित्यत आह-कर्तृत्वेति। अचेतनस्य चेतनधर्मश्रवणादिकर्तुत्वायोगाच्चेतनानधिष्ठितस्य तस्य स्वातन्त्र्येण व्यापारासम्भवेन च कर्तृत्वशक्तिर्नेति साङ्ख्यनिराकरणावसरे सूत्रकृता वक्ष्यत इत्यर्थः। एवं नित्यमुक्तात्मैव स्वाध्यस्तदेहद्वयतद्धर्मवैराग्यादिसम्पन्नस्तद्द्वारा ब्रह्मविचारेऽधिकारीति तन्निष्ठत्वं पदस्याद्यसूत्रे तत्र वृत्तिर्निरूपितेति भावः।।५५५।।

अज्ञानतज्जेति= अज्ञान तथा उससे उत्पन्न होने वाली, इन दोनों की घटना (सम्बन्ध) स्वीकृत है। अर्थात् चेतन में, अधिक्रियायां- ये दोनों द्वार अर्थात् उपाधि बनते हैं। यह भाव है। अस्याः= घटना को इन दोनों की घटना को (सम्बन्ध को) या उपाधि को अधिकार क्यों नही है उसमें कारण बताते है नाचेतनस्येति= यह उपाधि घटना या

सम्बन्ध जो भी कहो वह जड होने के कारण अधिकारी नहीं हो सकती।

आशंका= अधिकृति अचेतन की क्यों नही?

समाधान= कर्तृत्वेति= अचेतन को चेतन धर्म श्रवणादि वह करने की (कर्तृत्व की) योग्यता नहीं है और चेतन से अनधिष्ठित होकर उसको स्वतन्त्र रूप से व्यापार करने की क्षमता नहीं होने से उसमें कर्तृत्व शक्ति नहीं है यह बात हम सांख्य के निराकरण प्रसंङ्ग में सूत्रकार आगे स्वयं करेंगे। रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम् इस सूत्र से इसप्रकार नित्यमुक्त आत्मा ही अपने में ही अध्यस्त देह द्वय (स्थूलशरीर तथा सूक्ष्म शरीर के। धर्म स्थूलता, कृषता, काणत्व, बधिरत्वादि) इससे युक्त आत्मा ही वैराग्यादिसंम्पन्न होकर ब्रह्म विचार में अधिकारी होता है, अतः त्वं पद की वृत्ति पहिले सूत्र में केवल आत्मा में ही शुद्धआत्मा में ही निरूपित है, यह बात सिद्ध हुई।।

ननु शुद्धचिदात्मन एवोक्तरीत्याऽधिकार इति त्वंपदस्य तत्रैव वृत्तिश्चेत् "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" इत्यादिश्रुत्यर्थतया "उपससाद चतुष्टयसाधनः" इत्यादिनाऽधिकारि-निरूपणप्रस्तावे भवताऽयमर्थः कथं नोक्त इत्याशङ्क्य सूत्रार्थत्वादस्य तत्र ममायमभिप्रेत एवेत्याशयेनाह—

आशंका= शुद्ध चिदात्मा का उक्त प्रकार से अधिकार होने से और त्वं पद की भी वहां वृत्ति निरूपित होने से "तद्विज्ञानार्थं सगुरूमेवाभिगच्छेत्" वह मुमुक्षु ब्रह्म ज्ञान के प्राप्ति के लिये सद्‌गुरू की शरण में जावे।। इत्यादिक में श्रुत्यर्थ करते समय तथा "उपससाद चतुष्टय साधनः" साधन चतुष्टय होकर सद्‌गुरू के पास पहुँचे" इत्यादि मंत्र से अधिकारी के निरूपण प्रसङ्ग में आपने यह बात क्यों नहीं कही। कि त्वं पद की वृत्ति केवल शुद्धात्मा में निरूपित है।

उपसत्तिवाक्यमधिकारिणि यत्
कथितं समन्वितया प्रथमम्।।
इदमेव चेतसि निधाय तु तत्
मुनिना प्रकीर्तितमुदारधिया।।५५६।।

अन्वयः= प्रथमं यत् उपसत्तिवाक्यं अधिकारिणि समन्विततया कथितं तदिदमेव चेतसि निधाय उदारधिया मुनिना प्रकीर्तितम्।।५५६।।

अन्वयार्थः= प्रथम सूत्र में जो उपसत्ति वाक्य (तद्विजिज्ञासस्व तै ३/१/१) अधिकारी में समन्वित

किया है वह यही (त्वंपदार्थ ही अधिकारी है यह) अपने मन में रखकर उदारचित्तवाले मुनवर्य जी ने कहा है।।५५६।।

उपसत्तिवाक्यमिति। तुरवधारणे। यतो मुनिना तत् कीर्तितमेवेत्यर्थः।।५५६।।

उपसत्ति वाक्यमिति=तु= निश्चितरूपार्थ में है। जब कि व्यास जी मुनिजी ने यह कह दिया है फिर मुझे इस बात को कहने की आवश्यकता ही नहीं है। यह भाव है।

ननूदाहृतवाक्येऽयमर्थो न प्रतीयत इति कथं मुनिनाऽपि संकीर्तित इत्याशङ्क्योक्तन्यायसिद्धमर्थं स्मारयति—

आशंका= "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस वाक्य में यह अर्थ तो प्रतीयमान् नहीं हो रहा है फिर कैसे आप ने कह दिया कि मुनि ने इसका संकीर्तन किया।

समाधान= इस बात को सिद्ध अर्थ को ही स्मरण दिलाकर समझा रहे हैं—

शिष्योपसत्तिवचनानि समन्वितानि
शिष्ये चिदात्मनि परात्मनि नित्यमुक्ते।।
इत्येतदत्र कथितं मुनिना त्वमर्थे
त्वंशब्दवृत्तिकथनाय परे प्रतीचि।।५५७।।

अन्वयः= परे प्रतीचि त्वंशब्दवृत्तिकथनाय अत्र नित्यमुक्ते चिदात्मनि परात्मनि शिष्ये शिष्योपसत्तिवचनानि समन्वितानि इत्येतत् मुनिना कथितम्।।५५७।।

अन्वयार्थः= त्वमर्थ रूप प्रत्यगात्मा में त्वं पद की वृत्ति का कथन करने के लिये इस नित्यमुक्त रूप चैतन्यात्मक शिष्य में उपससाद आदि वचन समन्वित है यह मुनीश्वर व्यासजी ने कहा है।।५५७।।

शिष्योपसत्तीति। स्पष्टम्।।५५७।।

शिष्योपसत्तीति= "तद्विज्ञानार्थं" उपससाद ये सारे वचन त्वं पद की वृत्ति नित्यमुक्ते—चिदात्मपरक है यह बात निश्चित करके ही ये सारे वचन हैं। और यह सारा प्रसंग तभी संपन्न होता है जबकि मुनिव्यासजी ने पहले सूत्र में ही यह बात कह दी है। यह भात है।

एवं प्रथमद्वितीयसूत्राभ्यामद्वये प्रतीचि तत्त्वंपदवृत्तिनिरूपणसमर्थनमुपसंहरति—

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय सूत्र से अद्वय ब्रह्म में तथा प्रतीचि आत्मा में तत्त्वंपद वृत्ति का निरूपण समर्थित है इसका उपसंहार करते हैं—

उपसदनवचो विचारमार्गात्
त्वमितिपदस्य परात्मनीह वृत्तिम्।।
कथयति भगवान् द्वितीयसूत्रे
तदितिपदस्य परात्मनीति भेदः।।५५८।।

अन्वयः= इह उपसदनवचोविचारमार्गात् त्वमिति पदस्य परात्मनि, द्वितीयसूत्रे तदिति पदस्य परात्मनि वृत्तिं भगवान् कथयतीति भेदः।।५५८।।

अन्वयार्थः= इस "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" (ब्र० सू० २/१/१) सूत्र मे शरणागति आदि वाक्य विचार के द्वारा त्वं पद की परात्मा में तथा द्वितीय सूत्र में तत् पद की परात्मा में वृत्ति भगवान् सूत्रकार व्यासजी बताते हैं।।५५८।।

उपसदनेति। परात्मनि देहेन्द्रियाहंकारादिविलक्षणे साक्षिणि। इह प्रथमे सूत्रे। परात्मनि जगत्कारणेऽधिष्ठानेऽद्वितीये।।५५८।।

उपसदनेति= परात्मनि= देहेन्द्रिय अहंकारादि से विलक्षण साक्षी में त्वं पद की वृत्ति है यह बात, इह= प्रथम सूत्र से स्पष्ट है। और द्वितीय सूत्र से परात्मनि जगत्कारण अधिष्ठान ऐसा जो अद्वय तत्त्व उसमें तत् पद की वृत्ति है यह द्वितीय सूत्र से स्पष्ट है।

ननु यदि द्वितीसूत्रं यतो वेत्यादिसृष्टिवाक्यं सूचयत्तदर्थेऽद्वये तत्पदवृत्तिनिरूपणपरं तर्हि तदर्थाद्वयसंभावकयुक्तेरसूत्रित्वात् कथं तत् सिद्ध्येदित्याशङ्क्य तदसूत्रणमसिद्धमित्याशयेनाह—

आशंका= यदि द्वितीय सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" यह तो "यतो वा इमानि" यह सृष्टिवाक्य सूचक वाक्य, तत् पद के अर्थ में अद्वय में तत्पद की वृत्ति के निरूपणपरक यदि यह सृष्टि वाक्य है तब तो तत् का अर्थ अद्वय है इसकी संभावक युक्ति तो सूत्र से पहिले बताई नहीं तो फिर अद्वय अर्थ कैसे तत् से सिद्ध होगा? ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर

समाधान= अद्वय के अर्थ के सूत्र नहीं है या सूचना नहीं है यह बात ही असिद्ध है इस आशय से कहा जा रहा है।

आवृत्त्या वा तन्त्रवृत्त्याऽथवेदं

सूत्रं युक्तिं वेदवाक्योपयुक्ताम्।।
अप्याचष्टे बृंहणीमन्तरेण
स्वार्थे युक्तिं वेदवाक्यं न पुष्टम्।।५५६।।

अन्वयः=इदं सूत्रं आवृत्या वा, अथवा तन्त्रवृत्या वेदवाक्योपयुक्तां युक्तिं अपि आचष्टे। वेदवाक्यं स्वार्थे बृंहणीं युक्तिं अन्तरेण पुष्टं न।।५५६।।

अन्वयार्थः= जन्माद्यस्य यतः १/१/२ यह सूत्र आवृत्ति अथवा तन्त्र वृत्ति से वेदवाक्य में उपयुक्त युक्ति को ही बताता है, क्योंकि वेद वाक्य भी स्वार्थ विस्तारिणी युक्ति के अभाव में स्वार्थ बोधन नहीं कर सकता।

आवृत्त्येति। इदं द्वितीयं सूत्रं ह्येकया वृत्त्योक्तां श्रुतिं सूचयत्यन्यया वृत्त्या जन्माद्यस्य यतः सम्भवतीत्यध्याहारेण च वेदवाक्यार्थनिर्णयोपयुक्तां युक्तिमपि सूचयति।

अथ वा तन्त्रवृत्त्या तामाचष्टे, युगपदनेकार्थविवक्षयोच्चारणं तन्त्रम्। सूत्रत्वादेवानेकार्थत्वमपि नान्याय्यमिति भावः। ननु वेदवाक्यस्यानपेक्षस्य किं युक्त्या सहायेनेत्याशङ्क्याचेतनप्रपञ्चस्य चेतनोपादानत्ववत्तत्कर्त्रभेदतत्सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादीनां लोकाप्रसिद्धानां श्रुतीनामप्युपपादकयुक्तिमन्तरेण विपरीतन्यायबाध्यत्वशङ्क्या श्रुतिमात्रादसिद्धेः साऽप्यपेक्षितेत्याशयेनाह- बृंहणीमिति। स्वार्थे सम्भावनाहेतुं युक्तिं विना वेदवाक्यं न पुष्टं न स्वार्थनिश्चायकमित्यर्थः।।५५६।।

आवृत्त्येति= यह दूसरा सूत्र जन्याद्यस्य पहिले एक वृत्ति से तो श्रुति के उक्त अर्थ को स्पष्ट करता हुवा दूसरे वृत्ति से जन्याद्यस्य यतः उसी से यह सब जगत् सम्भव है इस अध्याहार को करता हुवा वेदवाक्यार्थ का निर्णय कराने के लिये उपयुक्त युक्ति को भी बताता है। यह भाव है।

अथवा तन्त्रवृत्ति से उपयुक्त युक्ति को भी बताता है। क्यों कि तन्त्र उसे कहते है "युगपदनेकार्थविवक्षयोच्चारणम् एक साथ में अनेकार्थ की विवक्षा को लेकर वक्ता के एकाकार उच्चारण को तन्त्र कहते हैं। सूत्र से ही अनेकार्थत्व कोई अन्याय नहीं है किन्तु न्यायोचित ही है।

आशंका= वेद वाक्य तो किसी की अपेक्षा ही नहीं करता है, फिर उसको युक्ति की सहायता से क्या लेना है?

समाधान= अचेतन जड प्रपञ्च का चेतन उपादान है, इसीप्रकार उसका कर्त्ता भी

चेतन ही है दोनों अभिन्न है, तो वही चेतन सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत् है यह बात तो लोक में प्रसिद्ध नहीं होने से, श्रुति को भी उपपादक युक्ति के बिना उलटा ही कहीं बाधित न होना पडे, इस आशंका को लेकर केवल श्रुति मात्र से ही यह बात सर्वज्ञत्वादि सिद्ध नहीं हो सकती अतः युक्ति भी अपेक्षित ही है, इस आशय से कहा जा रहा है। बृंहणीमिति-समर्थक युक्ति श्रुति वाक्य भी अपने अर्थ में सम्भावना हेतु युक्ति के बिना पुष्ट नहीं माना जाता, (पुष्ट नहीं हो सकता) अर्थात् अपने अर्थ का युक्ति के बिना निर्णय नहीं करा सकता। अतः युक्ति की आवश्यकता है।

ननु यदि प्रथमद्वितीयसूत्राभ्यां तत्त्वम्पदवृत्ती निरूपिते, समन्वयसूत्रेण च समस्तवेदान्तवाक्यतात्पर्यं, तर्हि वाक्यार्थविषयत्वेन प्रधानत्वात् सूत्रकारेणापि भवतेव तदेवादौ निरूपणीयमित्याशङ्क्य शास्त्रारम्भाय साधिकारिविचारविधौ प्रथमसूत्रेण निरूपिते विचार्यमाणब्रह्मलक्षणासम्भवेन तदाक्षेपे तत्समाधानार्थं द्वितीयं प्रवृत्तमिति ताभ्यां पदार्थद्वये सिद्धे तदुभयाभेदे वाक्यार्थे तृतीयसूत्रेण श्रुतेरपौरुषेयतया स्वतः प्रामाण्ये सिद्धे तदाक्षेप-समाधानपरसमन्वयसूत्रावकाश इति क्रमेण मुनेः सूत्रप्रणयनं युक्तमित्यभिप्रेत्याह–

आशंका= यदि प्रथम और द्वितीय सूत्र में त्वं तथा तत् पदवृत्ति का निरूपण हो गया, समन्वय सूत्र से (तत्तु समन्वयात् से) समस्त वेदान्त वाक्य के तात्पर्य का निर्णय हो गया, तब तो वाक्यार्थ विषय की प्रधानता होने के कारण सूत्रकार ने भी (व्यास जी महाराज जी ने भी) आप के जैसे समन्वय सूत्र का निरूपण पहिले करना चाहिये था। ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर उत्तर देते हैं कि–

समाधान= शास्त्र के आरम्भ करने के अधिकारी विधि के साथ विचार विधि दोनों ही प्रथम सूत्र से निरूपित किया, लेकिन विचार्यमाण ब्रह्म का लक्षण न होने से वहां ब्रह्म का क्या लक्षण होगा? ऐसा आक्षेप करना पडता है तो इसका उत्तर है द्वितीय सूत्र। इन दोनों सूत्रो से दो पदार्थों का स्वरूप सिद्ध तो हुवा, लेकिन दोनों का अभेद है यह वाक्यार्थ तृतीय सूत्र से शास्त्रायोनित्वात्, जो श्रुति अपौरुषेय होने के कारण स्वतः प्रमाण भूत है, तो ऐसे श्रुति के द्वारा अभेद सिद्ध होता है। इसमें भी अभेद में भी आक्षेप हो सकते हैं उनका समाधान होना भी जरूरी है इसलिये "तत्तु समन्वयात्" यह सूत्र प्रविष्ट हुवा, इस क्रम से व्यासजी ने सूत्र का प्रणयन किया। इस अभिप्राय से कहा जा रहा है–

त्वम्पदार्थविषयं समन्वयं

तत्पदार्थविषयं ततः क्रमात्।।

तस्य शेषमपरं च वर्णय

न्नुक्तवानथ महावचोगतम्।।५६०।।

अन्वयः— त्वंपदार्थविषयं समन्वयं, ततः क्रमात् तत्पदार्थविषयं, तस्य अपरं शेषं च वर्णयन्, अथ महावचोगतम् उक्तवान्।।५६०।।

अन्वयार्थः= प्रधान सूत्र में त्वं पदार्थ का समन्वय, द्वितीय सूत्र में तत् पदार्थ का समन्वय तृतीय सूत्र में तत् पदान्वय में अपेक्षित सर्वज्ञत्वादि साधकतर्क का वर्णन, एवं चतुर्थ सूत्र में महावाक्य गत तत् और त्वं का समन्वय बताते हैं।

त्वम्पदार्थेति। समन्वयं जीवस्वरूपपरवाक्यानामिति शेषः। तत्पदार्थविषयं सत्यादि-वाक्यानामिति शेषः। समन्वयमिति चानुषञ्जनीयम्। तस्य समन्वयस्य शेषमनुकूलमपौरुषेयत्वम्, महावचोगतं महावाक्यगतं समन्वयमित्यनुषङ्गः। पदार्थनिश्चयं विना वाक्यार्थावगमायोगा-दधिकार्यादिनिरूपणव्याजेन पदार्थद्वयनिरूपणपूर्वकं सूत्रकारो वाक्यार्थं न्यरूपयदिति सिद्ध एव क्रमः साधुरिति भावः।।५६०।।

त्वम्पदार्थेति= समन्वयं= जीवस्वरूप वाक्यों का। तत्पदार्थ विषयं— सत्यादिवाक्यों का। समन्वयमिति= दोनों का समन्वय करना जरूरी है। तस्य= समन्वय का, शेषम्= अनुकुल तो अपौरूषेय वाक्य ही है। महावचोगतम्= महावाक्यगत समन्वय— इसका अनुषङ्ग करा लेना। पदार्थ निश्चय के बिना वाक्यार्थ बोध नहीं हो सकता, अधिकारि आदि के निरूपण के सहारे तत् और त्वं दोनों पदार्थों का निरूपण हुवा, इस प्रकार सूत्रकार ने वाक्यार्थ का निरूपण किया। इसलिये जो क्रम सिद्ध है वह ठीक ही है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन उचित नहीं है, यह भाव है।।

एवं सूत्रचतुष्टयेन तत्तद्वर्णितार्थे पदद्वयवाक्यवृत्तिनिरूपणसमर्थनमुपसंहरति—

इस प्रकार सूत्रों से तत्तदर्थ का वर्णन किया, और तत् तथा त्वं दोनों पदों के वाक्य वृत्ति का निरूपण समर्थन किया। उसका उपसंहार कर रहे हैं—

त्वम्पदस्य दृशि वृत्तिमद्वये

तत्पदस्य च निवेदयन् मुनिः।।

प्रत्यगद्वयपरं समन्वयं

शेषिणं पुनरथाब्रवीत्तयोः।।५६१।।

अन्वयः= दृशि त्वंपदस्य, अद्वये तत्पदस्य वृत्तिं निवेदयन् मुनिः अथ पुनः तयोः शेषिणं प्रत्यगद्वयपरं समन्वयं अब्रवीत्।।

अन्वयार्थः= दृगात्मा में त्वं पद की, अद्वय ब्रह्म तत्त्व में तत्पद की वृत्ति कहने पर व्यास जी महाराज उनके प्रधान भूत प्रत्यगद्वय परक समन्वय को कहते हैं।

त्वम्पदस्येति। दृशि प्रत्यगात्मनि त्वंपदस्य वृत्तिम्। अद्वये ब्रह्मणि तत्पदस्य वृत्तिम्। मुनिर्व्यासः। अथानन्तरं तयोस्तत्त्वंपदवृत्त्योः शेषिणं समन्वयं प्रत्यगद्वयपरं प्रत्यगद्वये ब्रह्मणि ऐक्यरूपेणाब्रवीत् वाक्यस्येति शेषः।।५६१।।

त्वम्पदस्येति= दृशि प्रत्यगात्मा में त्वंपद की वृत्ति है। अद्वये= ब्रह्म में तत्पद की वृत्ति है। मुनिः= व्यास जी महाराज इसके अनन्तर प्रत्यगात्मा तथा– ब्रह्म का दोनों में तत् और त्वं पद के वृत्ति का, शेषिणम्= शास्त्रयोनित्वात् समन्वय बताने के बाद तत्तु समन्वयात् प्रत्यगद्वयपरं– प्रत्यग् अद्वय ब्रह्म में, प्रत्यगात्मा का अभेद है ऐसा चतुर्थ सूत्र में कह दिया है। यही वाक्य का शेष भाव है।

समन्वयाध्यायेऽस्मिन् प्रतिपादितमर्थमुपसंहरति–

समन्वय अध्याय में इसमें प्रतिपादित अर्थ का उपसंहार कर रहे हैं–

शक्नोति सिद्धमवबोधयितुं च वाक्यं
शक्नोति कार्यरहितं वदितुं च वाक्यम्।।
शक्नोत्यखण्डमवबोधयितुं च वाक्यं
शक्नोति मुक्तिफलमर्पयितुं च वाक्यम्।।५६२।।

अन्वयः= वाक्यं सिद्धं अवबोधयितुं शक्नोति। वाक्यं कार्यरहितं च वदितुं शुक्नोति। वाक्यं अखण्डं च अवबोधसितुं शक्नोति। वाक्यं मुक्तिफलं अर्पयितुं च शक्नोति।।

अन्वयार्थः= वाक्य सिद्धार्थ को कह सकता है, वाक्य कार्य रहित अर्थ को कह सकता है। वाक्य अखण्ड अर्थ कह सकता है। वाक्य मुक्ति फल को देने वाले ज्ञान को समर्पित कर सकता है।

शक्नोतीति। वाक्यं वेदान्तवाक्यं सिद्धं ब्रह्मात्मवस्तु मानान्तरनैरपेक्ष्येणावबोधयितुं शक्नोत्येवेत्युक्तमिति शेषः। सिद्धार्थव्युत्पत्तिसमर्थनादित्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि कार्यरहितं कार्यशेषत्वरहितं नियोगादिनिरासेन स्वप्रधानमेवेत्यर्थः। अत्र पूर्वार्धेन समन्वयसूत्रवर्णकद्वयार्थः

क्रमेण प्रदर्शितः। तत्फलमखण्डब्रह्मावबोधस्तत्फलं मुक्तिश्चोत्तरार्धेन। अर्पयितुं ज्ञानद्वारेति शेषः।।५६२।।

शक्नोतीति= वाक्यं= वेदान्त वाक्य, सिद्धम्- ब्रह्मात्मवस्तु। तो वेदान्त वाक्य किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न करता हुवा ब्रह्मात्मवस्तु का बोध कराने में समर्थ है यह, भाव है। सिद्धार्थ ब्रह्मात्मत्वस्तु की व्युत्पत्ति का समर्थन करने से वेदान्त वाक्य ऐसा सामर्थ्य संपन्न है। इसी प्रकार इसके बाद भी। कार्य रहितम्—कार्य शेषत्व रहित नियोगादि निरास करने से वेदान्त वाक्य स्वप्रधानपरक है।

इन चारों सूत्रों में से पहिले दो सूत्रों ने समन्वय सूत्र के त्वं और तत् दोनों के अर्थ को क्रम से पहिले सूत्र ने तथा दूसरे सूत्र ने बता दिया। इसका फल अखण्ड ब्रह्म का बोध और इसी का अखण्ड ब्रह्म बोध का फल मुक्ति ऐसा उत्तरार्ध से सम्बन्ध है। अर्पयितुं= वेदान्त वाक्य ज्ञान प्रदान कराके यह सब करने में समर्थ है। यह भाव है।

समन्वय उक्तातिरिक्तमपि किञ्चिन्निरूपणीयमस्ति किमित्याशङ्कां निवर्त्तयन्नेतावतैव समन्वयविषयाखिलाशङ्कानिवृत्तेर्नान्यन्निरूपणीयमित्याशयेनाह—

समन्वय अध्याय में जो कुछ भी कहा है, इसके अतिरिक्त भी क्या कोई थोडा फिर कहना है, ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर कहते हैं इस शंका के निवृत्ति के लिये कहते हैं कि इतने से ही समन्वय विषयक सम्पूर्ण शङ्काओं की निवृत्ति हो सकती है, अन्य निरूपण करने की आवश्यकता नहीं है। इस आशय से कहा जा रहा है—

एतत्समन्वयनिरूपणमेवमस्मिन्
बुद्धिस्थतामुपगते सति वाक्यजन्यम्।।
विज्ञानमद्वयगतं न ततोऽन्यदन्यत्
पुंसोऽपराधकृतमित्युदियात् प्रतीचि।।५६३।।

इति श्रीसुरेश्वरपूज्यपादशिष्यश्रीसर्वज्ञात्ममुनेः कृतौ शारीरक मीमांसाभाष्यप्रकरणवार्त्तिके संक्षेपशारीरके प्रथमोऽध्यायः।।१।।

अन्वयः= एतत् समन्वयनिरूपणं एवं अस्मिन् बुद्धिस्थतामुपगते सति वाक्यजन्यं विज्ञानं अद्वयगतम्।

ततोऽन्यत् पुरुषापराधकृतमिति प्रतीतिः उदियाद्।

अन्वयार्थः= समन्वय निरूपण सम्पन्न हुवा। उक्त विधि से इस (समन्वय) के बुद्धिस्थ हो जाने पर अद्वितीय विषयक विज्ञान ही वेदान्तवाक्यजन्य होता है। और इसके अतिरिक्त जो द्वैतविषयक ज्ञान है वह पुरुषगत भ्रमप्रमादादि अपराधात्मक दोष से जन्य है।

एतदिति। ननु निर्णीतपदार्थावगमस्य वाक्यात्तत्तदर्थावगमे लोके पृथङ् न्यायो नापेक्ष्यत इत्याशङ्क्य तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थस्यातिगहनतया वादिभिः स्वेच्छया पृथक्पृथगर्थकल्पना-त्तदर्थतदाभासविवेचनाय वर्णितरूपेण समन्वयोऽपि निरूपणीय एवेत्याशयेनाह—एवमस्मिन्निति। उक्तप्रकारेणास्मिन् समन्वये बुद्धिस्थे सति अद्वयब्रह्मविषयमेव विज्ञानं श्रुतिजन्यं न ततोऽप्यद्वय- ज्ञानादन्यच्छ्रुतिजन्यं किं तु पुंसोऽपराधकृतं पुरुषस्य वेदान्ततात्पर्याज्ञानादिदोषादुत्थितमिति प्रतीचि स्वात्मनि स्वयमेवोदियात् स्फुरेदित्यर्थः। तस्मादवश्यं समन्वयसूत्रन्यायेनाधिकारिणा- ऽखण्डैकरसे ब्रह्मणि सत्यज्ञानादिलक्षणे वेदान्तानां तात्पर्यं निरूपणीयं, तच्च निःशेषं निरूपितम्। तथा च वेदान्तवाक्यरूप-प्रमाणगतासम्भावनानिरासेन वाक्यार्थनिर्णयः समन्वनिरूपणफलं सिद्ध्यतीति भावः।।५६३।।

एतदिति= आशंका= निर्णित पदार्थ के ज्ञान होने के बाद वाक्य से तत्तद् अर्थ के ग्रहण करने के लिये स्वतन्त्र न्याय की आवश्यकता नहीं होती है।

समाधान= तत्त्वमस्यादि वाक्य बडा ही गहन होने के कारण वादियों के द्वारा अपनी अपनी इच्छा के अनुसार अलग अलग अर्थ कल्पना की जाती है, तो उनके ये सारे कल्पित अर्थ-अर्थ नहीं है, किन्तु अर्थावभास है इसका विवेचन करने के लिये वर्णित रूप से समन्वय का भी निरूपण आवश्यक है इस आशय से कहा है, एवमस्मिन्निति= तो उक्त प्रकार से इस समन्वय में बुद्धि स्थिर होने पर अद्वय ब्रह्म विषयक विज्ञान ही श्रुति जन्य है, इस अद्वय ज्ञान से अतिरिक्त श्रुति जन्य ज्ञान नहीं है। किंतु पुंसोऽपराधकृतम्= पुरुष जो वेदान्त के तात्पर्य ज्ञान से रहित है यही मानो दोष है, उससे उत्पन्न प्रतीचि= आत्मा में, स्वयमेव ही, ओदियात्- स्फुरित होता है। इसलिये अवश्य ही समन्वय सूत्र के न्याय का अनुसरण करके अधिकारी पुरुष को अखण्ड एकरस ब्रह्म में जो सत्यता ज्ञानादिलक्षण से संपन्न है इसमें ही वेदान्त का तात्पर्य निरूपित है और यह तो हमने सम्पूर्ण रूप से निरूपित किया है। तो इस प्रकार से वेदान्त वाक्यगत जो प्रमाणगत असम्भावना उसकी भी निवृत्ति हो जाने से वाक्यार्थ निर्णय रूप समन्वय निरूपण फल की सिद्धि होती है, यह भाव है।

इति श्रीमत्परहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीमत्मधुसूदन-सरस्वतीविरचितायां संक्षेपशारीरकटीकायां प्रथमोऽध्यायः।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसद्गुरुमहामण्डलेश्वरश्री स्वामी पूर्णानन्दगिरि पूज्यपाद शिष्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यमहामण्डलेश्वरन्यायवेदान्ताचार्यभूतपूर्वदर्शनविभागाध्यक्ष विद्यावाचस्पतिभारतसर्वकारसम्मानितश्रीस्वामीदिव्यानन्दगिरिकृतहिन्दीअनुवादात्मकः प्रथमोऽध्यायः।।

इस प्रकार श्रीमत् परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री विश्वेश्वरानन्द सरस्वती पूज्यपाद उनके शिष्य श्रीमत् मधुसूदन सरस्वती विरचित संक्षेपशारीरक टीका का हिन्दी अनुवाद श्रीमत् परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १००८ महामण्डलेश्वर स्वामी पूर्णानन्द गिरि जी महाराज के शिष्य श्रीमत् श्री १००८ महामण्डलेश्वर स्वामी दिव्यानन्द गिरि जी महाराज ने प्रस्तुत किया है। इति प्रथमोऽध्यायः।।

।।पहला अध्याय समाप्त हुवा।।





में न्यायशास्त्र के अन्तर्गत जाग
लक्षणम् तथा जागदीशी अवच्छेद
क्ति: दोनों ग्रन्थों पर अति सुगम तथा विवेच
क्ष्मी टीका तथा दिव्या टिप्पणी लिखी। 197
आपने ज्ञानेश्वरी को आधार बनाकर भगवद्गीत
12वें अध्याय पर दिव्यज्ञान भक्ति योग लिखा।
आपने वेदान्त शास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ संक्षेपशा
उसमें भी श्रीमधुसूदन सरस्वती कृत सारसंग्रह
इन दोनों का हिन्दी भाषा में विशेष रूप से अ
किया साथ में टिप्पणियाँ भी हैं जो अतु
ग्रन्थ है।

लेखक महोदय के प्रकाशन :-

1. जागदीशी सिद्धान्तलक्षणम्
2. जागदीशी अवच्छेदकत्वनिरुक्ति:
3. दिव्यज्ञानभक्तियोग
4. सारसंग्रह टीका समेत संक्षेपशारीरकम्
   अनुवाद 2 भागों में

आवागमन

पञ्च क्लेश

प्रपञ्च

स्थूल शरीर

सूक्ष्म शरीर

कारण शरीर

माया

ब्रह्म